मुद्रा की रूपरेखा

लेखक
मूलचन्द वैश्य, एम०, ए०
एल एल० बी०, पी-एच० डी०
अर्थशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।

रतन प्रकाशन मन्दिर
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता

प्रथम संस्करण १९६० ई०

पाँचवाँ संस्करण १९७२ ई०

मूल्य : अट्ठारह रुपये मात्र

प्रकाशक : रतन प्रकाशन मन्दिर

प्रधान कार्यालय : हॉस्पीटल रोड, आगरा-3

शाखाएँ : न्यू मार्केट, राजामण्डी, आगरा-2 ● 5693, नई सड़क, दिल्ली-6 ● गोराकुण्ड, इन्दौर ● धामानी मार्केट, चौड़ा रास्ता, जयपुर ● मैस्टन रोड, कानपुर ● गूंगे नवाब पार्क, अमीनाबाद, लखनऊ ● 136 कॉलेज रोड (छीपी तालाब) मेरठ ● खजांची रोड, पटना-4 ।

प्रेमचन्द जैन द्वारा
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, 1/11, महात्मा गाँधी मार्ग, आगरा-2 में मुद्रित

पाँचवें संस्करण की प्रस्तावना

पुस्तक का यह पूर्णतया संशोधित संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे सन्तोष का अनुभव हो रहा है। यद्यपि पुस्तक के मुद्रण में विलम्ब अवश्य हुआ है परन्तु पुस्तक में किये गये सुधारों तथा संशोधनों के आकार को ध्यान में रखते हुए ऐसा होना स्वाभाविक था। प्रस्तुत संस्करण में प्रत्येक अध्याय में व्यापक सुधार करने के हेतु लगभग सभी अध्यायों में मूल परिवर्तन हो गया है। पुराने चित्रों के स्थान पर नये चित्रों को दिया गया है। प्रत्येक अध्याय को नवीन सामग्री से सज्जित करने का प्रयास किया गया है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, अवमूल्यन विदेशी विनिमय दर, वाणिज्य बैंक, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया आदि अध्यायों को लगभग पुन: लिखा गया है। पुस्तक में वाणिज्य बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण पर नवीन अध्याय की रचना की गई है।

मेरा यह विश्वास है कि पुस्तक का मूल्यांकन करना पाठकों का अधिकार है। पुस्तक में विद्यमान त्रुटियों के प्रति मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ। परन्तु यदि पुस्तक में किसी नवीनता का चिह्न उपस्थित है तो निस्संदेह इसका श्रेय पुस्तक के उन पाठकों को है जिन्होंने मुझे सदा उनके समक्ष अपने प्रयासों को प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करके लेखनकार्य करने को प्रेरित किया है। मुझे आशा है कि विद्यार्थी तथा अध्यापक पुस्तक को उपयोगी अनुभव करेंगे तथा पुस्तक में सुधार करने सम्बन्धी सुझाव भेजकर मुझे अनुगृहित करेंगे।

अपने प्रकाशक रतन प्रकाशन मन्दिर के स्वत्वधारी श्री पदमचन्द जैन का मैं पुस्तक के प्रकाशन सम्बन्धी सहयोग के लिये आभारी हूँ।

जयपुर :

अगस्त १५, १९७२ **मूलचन्द वैश्य**

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

अर्थशास्त्र में मुद्रा का विषय काफी विस्तृत तथा कठिन है। यद्यपि अनेक पुस्तकों में इस विषय की विवेचना की गई है परन्तु कोई भी एक पुस्तक विषय की पूर्ण विवेचना करने में सफल नहीं हो पाई है और विषय के विस्तृत क्षेत्र को देखते हुए ऐसा करना सम्भव भी नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी में मेरा प्रथम प्रयास है। इस छोटी सी पुस्तक में मुद्रा का सैद्धान्तिक दृष्टि से संक्षेप रूप में वर्णन किया गया है। पुस्तक को पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में मुद्रा, इसके महत्त्व तथा व्यापार चक्र इत्यादि विषयों की व्याख्या की गई है। द्वितीय खण्ड में साख, विनिमय नियंत्रण तथा विदेशी विनिमय का सविस्तार वर्णन किया गया है। तृतीय खण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्व बैंक का वर्णन किया गया है।

यदि मेरा यह प्रयास अर्थशास्त्र तथा वाणिज्यशास्त्र के उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये हितकर सिद्ध हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल हुआ समझूँगा।

मैं अपने प्रकाशकों का आभारी हूँ जिन्होंने थोड़े से समय में ही पुस्तक को सुन्दर ढंग से छाप कर पाठकों के सम्मुख रखा है।

२४ नवम्बर, १९६० **मूलचन्द वैश्य**

विषय-सूची

प्रथम भाग

मुद्रा तथा कीमतें

अध्याय १ — पृष्ठ

मुद्रा का आविष्कार ३

अध्याय २

मुद्रा तथा अर्थव्यवस्था १५

अध्याय ३

मुद्रा के प्रकार तथा कार्य ३४

अध्याय ४

मुद्रा के मूल्य का वस्तु सिद्धान्त ४७

अध्याय ५

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त ५३

अध्याय ६

कीमतों का आय-व्यय सिद्धान्त ८७

अध्याय ७

कीन्स का द्रव्य तथा कीमतों का सिद्धान्त ९४

अध्याय ८

द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों की माप १०१

अध्याय ९

मुद्रामान ११२

अध्याय १०

स्वर्णमान १२६

अध्याय ११

कागजी मुद्रामान १६५

दूसरा भाग

उच्चावचन तथा स्थिरता

			पृष्ठ
अध्याय १२			
व्यापार चक्र	....	....	१७९
अध्याय १३			
स्फीति तथा अवस्फीति	....	....	२२६
अध्याय १४			
गुणक	....	....	२५३
अध्याय १५			
त्वरक	....	....	२८४
अध्याय १६			
मौद्रिक नीति	....	....	२९४
अध्याय १७			
राजकोषीय नीति	....	....	३०९

तीसरा भाग

बचत, निवेश तथा ब्याज

अध्याय १८			
बचत	....	....	३२१
अध्याय १९			
निवेश	....	....	३२९
अध्याय २०			
नकदी अधिमान	....		३४४
अध्याय २१			
ब्याज	....		३५९

चौथा भाग

साख मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

अध्याय २२			
साखमुद्रा	....	....	३८७

अध्याय २३			पृष्ट
बैंकिंग का विकास	....	....	४०७
अध्याय २४			
केन्द्रीय बैंकिंग	....	....	४१७
अध्याय २५			
विदेशी विनिमय दर	....	....	४३६
अध्याय २६			
विनिमय नियन्त्रण	....	....	४६०
अध्याय २७			
अवमूल्यन	....	....	४७५
अध्याय २८			
मुद्रा बाजार	....	....	४९१
अध्याय २९			
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परावादी सिद्धान्त	....	....	५०२
अध्याय ३०			
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त	....	....	५१५
पाँचवाँ भाग			
अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ			
अध्याय ३१			
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष	....	....	५३३
अध्याय ३२			
अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण तथा विकास बैंक	....	....	५४८
अध्याय ३३			
अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम	....	....	५६३
अध्याय ३४			
अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ	....	....	५७१
अध्याय ३५			
व्यापार तथा प्रशुल्क सामान्य समझौता गॉट	....	....	५७७
अध्याय ३६			
यूरोपीय आर्थिक समुदाय	....	....	५८५

छठा भाग

भारतीय मुद्रा तथा बैंकिंग

अध्याय ३७

भारतीय मुद्रा का इतिहास ....

अध्याय ३८

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ....

अध्याय ३९

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ....

अध्याय ४०

सहकारी तथा भूमि बन्धक बैंक ....

अध्याय ४१

वाणिज्य बैंक ....

अध्याय ४२

बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण ....

प्रथम भाग

मुद्रा तथा कीमतें

१

मुद्रा का आविष्कार
(Invention of Money)

मनुष्य सदैव उन वस्तुओं की खोज करने में व्यस्त में रहा है जो उसके जीवन को सुखी बना सकती हैं। मुद्रा के आविष्कार और विकास का इतिहास प्रारम्भिक मनुष्य की उन मानसिक शक्तियों का जिनकी सहायता से वह उन वस्तुओं का भी उपभोग करने में सफल सिद्ध हुआ था जो उसने स्वयं उत्पन्न नहीं की थीं, एक रोचक अध्ययन प्रस्तुत करता है। मुद्रा का आविष्कार मानव जाति के सम्पूर्ण आर्थिक इतिहास में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। वास्तव में मुद्रा के विकास का इतिहास 'मानव सभ्यता के इतिहास का संग्रह' है।

जॉन मेनार्ड कीन्स (John Maynard Keynes) के विश्वासानुसार मुद्रा का आरम्भ बहुत अधिक प्राचीन समय से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कीन्स ने अपनी A Treatise on Money शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि "मुद्रा की संस्था मानव-सभ्यता के अन्य सभी आवश्यक तत्त्वों के समान बहुत अधिक पुरानी है। मुद्रा का आरम्भ अतीत में निहित है। वास्तव में मुद्रा के आरम्भ का अध्ययन करते-करते मानव इतिहास भी समाप्त हो जाता है परन्तु इसका स्रोत प्राप्त नहीं होता है।"[1] कोई भी मनुष्य कभी भी उन सब वस्तुओं को, जिनकी उसे उपभोग करने की इच्छा हुई है, बनाने में सफल नहीं हुआ है। पुरातन मनुष्य भी जिसका जीवन सरल तथा आवश्यकताएँ सीमित थीं, अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए वे सब वस्तुएँ, जिनका वह स्वयं उत्पादन नहीं कर सकता था, दूसरों से बल-प्रयोग अथवा चोरी करके प्राप्त करता था।

---

1. According to Keynes the origin of money is deep rooted in antiquity. Elucidating this he remarks : "Money, like certain other essential elements in civilisation, is a far more ancient institution than we were brought to believe some few years ago. Its origins are lost in the mists when the ice was melting and may well stretch back into the paradisaic intervals in human history of the interglacial periods, when the weather was delightful and the mind free to be fertile of new ideas and in the islands of the Hesperides or Atlantis or some Eden of Central Asia." (*A Treatise on Money, Volume I, Chapter I, p, 3.*)

परन्तु मनुष्य को शीघ्र यह अनुभव हो गया कि जिन वस्तुओं का उत्पादन वह स्वयं नहीं कर सकता था उनको प्राप्त करने के उपर्युक्त उपाय (बल-प्रयोग तथा चोरी) अवांछनीय एवं अनिश्चित थे। ऐसे उपायों का प्रयोग करना सामाजिक व्यवस्था तथा सभ्य जीवन के निर्वाह के लिए लाभप्रद नहीं था। अतः उसने उन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए, जिनका वह स्वयं उत्पादन नहीं कर सकता था तथा जो उसके अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक थीं, कुछ अन्य उपाय खोजने आरम्भ किये। खोज के इस क्रम में उसे व्यापारिक लाभों का ज्ञान प्राप्त हुआ। आरम्भ में संयोग-वश तथा तत्पश्चात् जान-बूझकर मनुष्यों ने उन वस्तुओं को जिनके उत्पादन में उन्हें अधिक दक्षता प्राप्त थी, अपनी उपभोग आवश्यकता से अधिक मात्रा में उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में वह मनुष्य, जिसके पास किसी एक वस्तु (उदाहरणार्थ मछली) की उसकी आवश्यकता से अधिक मात्रा थी और उसे किसी अन्य वस्तु (उदाहरणार्थ चावल) की आवश्यकता थी, एक ऐसे अन्य व्यक्ति की खोज करता था जिसे मछली की आवश्यकता थी तथा जिसके पास चावल उसकी अपनी आवश्यकता की तुलना में अधिक मात्रा में था तथा वह इसको मछली द्वारा बदलने को तैयार था। **किसी एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु द्वारा इस प्रकार सीधा विनिमय करने की (मुद्रा के हस्तक्षेप के बिना) क्रिया को 'वस्तु-विनियम' कहते हैं।**

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ

मुद्रा के आविष्कार का प्रमुख कारण वे असुविधाएँ थीं जो वस्तु-विनिमय प्रणाली में समाज ने अनुभव की थीं। बहुत शीघ्र मनुष्य ने यह अनुभव किया कि वस्तु-विनिमय व्यापार करने के लिए अत्यन्त असुविधाजनक प्रणाली थी। वस्तुओं का वस्तुओं द्वारा प्रत्यक्ष विनिमय करने में मनुष्य का बहुत समय और शक्ति उस व्यक्ति को खोजने में नष्ट हो जाती थी जो वस्तु-विनिमय की सभी शर्तों को पूरा करने में समर्थ था। वास्तव में वस्तु-विनिमय व्यापार की एक अत्यधिक असुविधाजनक और समय नष्ट करने वाली रीति है क्योंकि इसमें माँग के दोहरे संयोग की आवश्यकता पड़ती है। वस्तु-विनिमय प्रणाली में जिस व्यक्ति के पास विनिमय करने के लिए कोई वस्तु होती है, उसे ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पड़ती है जिसे इस वस्तु की आवश्यकता है तथा जिसके पास इस वस्तु के बदले में देने के लिये ग्रहण करने योग्य दूसरी वस्तु भी है। इस कठिनाई के अतिरिक्त वस्तु-विनिमय में विनिमय की जाने वाली दोनों वस्तुओं का मूल्य भी असमान हो सकता था। ऐसी दशा में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को कुछ ऐसी वस्तु हर्जाने के रूप में देने के लिए बाध्य हो जाता था, जो दूसरे व्यक्ति को स्वीकार थी। इससे कठिनाई अधिक बढ़ जाती थी।

वस्तु-विनिमय प्रणाली में मनुष्य को कितनी अधिक असुविधाओं का अनुभव करना पड़ता था, इसे लेफ्टिनेण्ट केमेरोन (Lieutenant Cameron) की उस असुविधाओं के उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है जिनका उनको अफ्रीका में नदी पार करने के लिए नौका प्राप्त करने में अनुभव हुआ था। इस सम्बन्ध में अपनी All Across Africa शीर्षक पुस्तक में केमेरोन ने इस प्रकार लिखा है। "सईद के पास नौका तो थी परन्तु उसका कारिन्दा नौका का उपयोग करने का पारितोषिक हाथी दाँत में चाहता था जो मेरे पास नहीं था। शीघ्र ही मुझे यह ज्ञात हुआ कि मोहम्मद इब्न साहिब नाम के एक व्यक्ति के पास हाथी दाँत था। परन्तु वह इसके बदले में कपड़ा चाहता था जो मेरे पास नहीं था तथा इस कारण मोहम्मद इब्न साहिब का होना मेरे लिये कोई उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। कुछ समय पश्चात् मुझे यह पता लगा कि मोहम्मद इब्न गरीब नामक एक व्यक्ति के पास कपड़ा था तथा वह इसके बदले में तार (wire) चाहता था जो

सौभाग्यवश मेरे पास था। इब्न ग़रीब को पर्याप्त मात्रा में तार देने पर उसने मुझको कपड़ा दिया जिसको मैंने इब्न साहिब को देकर हाथी दाँत प्राप्त किया तथा इसको सईद के क़ारिन्दे को देकर नदी पार करने के लिए नौका प्राप्त की।"[2] इस अनुभव से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि लेफ्टिनेण्ट केमेरोन का कितना अधिक बहुमूल्य समय नदी पार करने के पूर्व सईद के कारिन्दे से नौका प्राप्त करने में बरबाद हुआ होगा। वस्तु-विनिमय प्रणाली में इस प्रकार के उदाहरण साधारण घटनाएँ थीं।

वस्तु-विनिमय में अनुभव की जाने वाली प्रमुख कठिनाइयों की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित प्रकार की जा सकती है।

(१) आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव

वस्तु-विनिमय प्रणाली में विनिमय को संभव बनाने के लिये आवश्यकताओं का दोहरा संयोग होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि आनन्द के पास भेड़ है और वह इसके बदले में गेहूँ चाहता है, तो वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में उसे ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पड़ेगी जिसके पास गेहूँ बेशी मात्रा में है और जो इसके बदले में भेड़ चाहता है। वस्तुविनिमय प्रणाली में आवश्यकताओं के इस दोहरे संयोग की कठिनाई ने समाज में बहुत असुविधा उत्पन्न कर दी थी। किसी ऐसे व्यक्ति देवेन्द्र, जिसके पास गेहूँ की बेशी मात्रा है और जो इसे भेड़ द्वारा विनिमय करने को तैयार है, के सम्पर्क में आने के पूर्व आनन्द को इस प्रकार के व्यक्ति की तलाश में दर-दर भटकना पड़ता था। बहुधा इस खोज में अत्यधिक समय तथा शक्ति नष्ट हो जाती थी। तलाश के इस क्रम में ऐसे व्यक्ति जिनके पास यद्यपि गेहूँ फालतू था परन्तु जो उसका विनिमय भेड़ से नहीं करना चाहते थे अथवा ऐसे व्यक्ति जिन्हें भेड़ की आवश्यकता थी लेकिन इसके विनिमय में देने के लिए उनके पास गेहूँ नहीं था, भी मिले होंगे। स्पष्ट है कि आनन्द इन व्यक्तियों से वस्तु-विनिमय करने में असमर्थ रहेगा और उसकी तलाश तब तक जारी रहेगी जब तक कि वह देवेन्द्र जैसे व्यक्ति के पास नहीं पहुँच जाता है जो उसे भेड़ के बदले में गेहूँ देने में समर्थ है। इस प्रकार वस्तु-विनिमय प्रणाली में बहुत अधिक अनिश्चितता और असुविधा अनुभव की जाती थी। वस्तु-विनिमय प्रणाली समाज के आर्थिक विकास में बाधक थी।

(२) सामान्य मूल्य-मापक का अभाव

वस्तु-विनिमय प्रणाली की दूसरी कठिनाई इस प्रणाली में सामान्य मूल्य-मापक के अभाव से सम्बन्धित थी। उपर्युक्त उदाहरण में आनन्द के लिए देवेन्द्र के मिल जाने पर भी समस्या का अन्त नहीं होता है। यद्यपि देवेन्द्र और आनन्द का, जिनकी आवश्यकताओं के मध्य परस्पर दोहरा संयोग है मिल जाना वस्तु-विनिमय के लिए आवश्यक है परन्तु वस्तु-विनिमय होने के लिए पर्याप्त नहीं है। आनन्द को देवेन्द्र से गेहूँ और देवेन्द्र को आनन्द से भेड़ प्राप्त होने के पूर्व यह प्रश्न तय होना आवश्यक है कि दोनों वस्तुओं का किस अनुपात में विनिमय किया जाये, अर्थात् आनन्द की भेड़ का गेहूँ के रूप में अथवा देवेन्द्र के गेहूँ का आनन्द की भेड़ के रूप में कितना मूल्य है। वस्तु-विनिमय प्रणाली में एक ऐसे सामान्य मूल्य मापक, जिसके द्वारा भिन्न वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों की माप की जा सकती थी, का अभाव होने के कारण विनिमय अनुपात मनमाने ढंग से निर्धारित किया जाता था। इसकी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता दोनों पक्षों की सौदा करने

---

2. Lt. Cameron : *All Across Africa* quoted by Foster and Catchings in their book entitled *Money* on page 35.

की शक्ति पर निर्भर होती थी। उपर्युक्त उदाहरण में विनिमय-अनुपात जिस बिन्दु पर निर्धारित होगा वह बिन्दु आनन्द तथा देवेन्द्र की परस्पर माँग की तीव्रता द्वारा निर्धारित होगा। यदि आनन्द की गेहूँ की माँग देवेन्द्र की भेड़ की माँग की तुलना में अधिक आवश्यक अथवा तीव्र है तो विनिमय-दर देवेन्द्र के पक्ष में निर्धारित होगी। इसके विपरीत स्थिति में विनिमय दर आनन्द के पक्ष में निर्धारित होगी। स्पष्ट है कि ऐसी स्थितियों में जबकि प्रत्येक विनिमय एक पृथक् लेनदेन है, दोनों में से किसी एक पक्ष को अवश्य हानि सहन करनी होगी।

इसके अतिरिक्त ऐसी स्थिति में प्रत्येक वस्तु का बाजार मूल्य किसी एक वस्तु के रूप में निर्धारित न होकर उतनी ही वस्तुओं के रूप में निर्धारित होगा जितनी वस्तुएँ बाजार में हैं। उदाहरणार्थ, यदि वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में १,००० वस्तुओं का बाजार में क्रय-विक्रय होता है तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य ९९९ अन्य वस्तुओं के रूप में व्यक्त करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में हिसाब-किताब रखना काफी कठिन कार्य होगा। बड़े-बड़े विक्रय-गृहों का (जहाँ लाखों वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है) तो कहना ही क्या, छोटी दुकानों पर भी द्रव्य इकाई के अभाव के कारण हिसाब रखना कठिन होगा। वस्तु-विनिमय में वर्तमान विकसित द्रव्य-प्रेरित अर्थव्यवस्था, जहाँ करोड़ों वस्तुओं का उत्पादन तथा उपभोग प्रतिदिन होता है, की कल्पना करना सम्भव नहीं है।

(३) कुछ वस्तुओं की अविभाज्यता

उपर्युक्त दो कठिनाइयों के अतिरिक्त वस्तु-विनिमय प्रणाली में तीसरी कठिनाई वस्तुओं में अविभाज्यता के कारण उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए, गाय को दो अथवा अधिक भागों में काटने से उसका मूल्य बहुत कम हो जाता है। लेकिन गेहूँ के ढेर को इसके मूल्य में कमी अनुभव किये बिना अनेक भागों में विभाजित किया जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में मान-लीजिए कि आनन्द अपनी भेड़ के केवल आधे मूल्य का गेहूँ खरीदना चाहता है तथा शेष आधी भेड़ के मूल्य का कपड़ा खरीदना चाहता है जो किसी अन्य व्यक्ति ईश्वर के पास है। ऐसी स्थिति में भेड़ के विभाजन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। यदि छुरे से भेड़ को दो भागों में काट दिया जाता है तो वह "भेड़" नहीं रहती है और आनन्द को उसके बदले में न तो कपड़ा मिल सकता है और न गेहूँ ही। अतः इस कठिनाई से मुक्ति पाने का मार्ग आनन्द के लिए यह है कि या तो वह अपनी भेड़ को केवल गेहूँ से विनिमय करे और कपड़े के बिना काम चलाये अथवा भेड़ को कपड़े से विनिमय करे तथा गेहूँ का उपभोग किये बिना रहे। वस्तु-विनिमय में इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयों की कल्पना की जा सकती है।

(४) धन को संचय करने में असुविधा

वस्तु-विनिमय में भविष्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए धन को संग्रह करने की कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं थी। साधारण प्रकार की अधिकांश वस्तुओं में पर्याप्त टिकाऊपन के गुण का अभाव था और कुछ समय पश्चात् उनमें भ्रष्टता आने लगती थी। इसलिए लोग इन वस्तुओं के रूप में अपनी भविष्य आकस्मिकताओं के लिए धन को संचय करने की कल्पना नहीं कर सकते थे। उदाहरणार्थ, गेहूँ के रूप में धन को संचय करना केवल एक अथवा दो वर्ष तक संभव हो सकता है। अधिक समय तक संचित रखने से गेहूँ खराब हो जावेगा तथा उसका मूल्य शून्य हो जावेगा। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में जीवन अस्थिर रहेगा और भविष्य के सम्बन्ध में अनिश्चितता अनुभव की जावेगी। इसके अतिरिक्त गेहूँ अथवा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के रूप में धन को संचित रखने की लागत भी बहुत अधिक थी।

वस्तु-विनिमय की उपर्युक्त चारों कठिनाइयों को निम्नलिखित चित्र द्वारा समझाया जा सकता है।

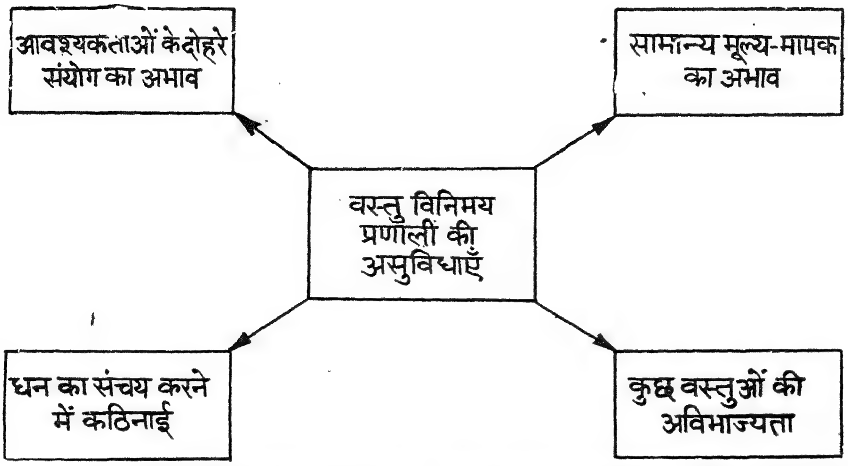

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों की एक रोचक झलक उस फ्रांसीसी गायिका के उदाहरण द्वारा प्राप्त होती है, जिसने एक ऐसे द्वीप में अपनी कला का प्रदर्शन किया था जहाँ मुद्रा प्रचलित नहीं थी। समुदाय में मुद्रा प्रयोग में न होने के कारण गायिका को अपनी कला के प्रदर्शन के मूल्य के रूप में दर्शकों ने फल और पशु दिये थे। इन पशुओं ने जब सब फलों को खा लिया तो गायिका इन्हें जीवित रखने के हेतु भोजन प्राप्त करने के लिए अपनी कला के और भी कई प्रदर्शन करने पर विवश हो गई। इस प्रकार उस गायिका को बड़ी असुविधा तथा आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

वस्तु-विनिमय प्रणाली का अस्तित्व केवल एक ऐसी सरल अथवा प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था में सम्भव है, जिसमें मनुष्यों की आवश्यकताएँ अत्याधिक सीमित और साधारण होती हैं। जैसे-जैसे सामाजिक संगठन जटिल होता गया, वैसे-वैसे श्रम-विभाजन के लाभों को समझा जाने लगा और जैसे-जैसे मानव की आवश्यकताओं का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ भी अधिकाधिक अनुभव की जाने लगीं। मनुष्य इस बात का अनुभव करने लगा कि वस्तु-विनिमय द्वारा व्यापार करना गत-प्रयोग की बात हो गई है और समाज में यह भावना घर करने लगी कि वस्तु-विनिमय की प्रथा समाप्त होनी चाहिए। यह प्रथा मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति में बाधक थी। मनुष्य वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था को, इसके स्थान पर किसी अन्य अधिक सुविधाजनक विनिमय प्रणाली को स्थापित करके समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हुआ। मनुष्य का मस्तिष्क किसी ऐसी नवीन प्रणाली की खोज में लग गया जो वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को दूर करके आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति को सम्भव बना सकती थी। इसी खोज के परिणामस्वरूप उसे मुद्रा का ज्ञान प्राप्त हुआ। वस्तु-निनिमय द्वारा केवल प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था में काम चल सकता था। लेकिन जब श्रम-विभाजन का बहुत विस्तार हो गया तो विनिमय की सुविधा के लिए मुद्रा का प्रयोग करना आवश्यक हो गया।

आधुनिक समाज तथा आर्थिक विकास मुद्रा के प्रयोग बिना कदापि सम्भव नहीं हुआ होता। वर्तमान औद्योगिक उत्पादकता काफी अंश तक श्रम-विभाजन का परिणाम है। हम एडम स्मिथ के इस कथन से भली प्रकार परिचित हैं कि श्रम-विभाजन बाजार के आकार द्वारा सीमित होता है। आधुनिक युग के बड़े आकार के बाजार, जहाँ बड़े उत्पादन पैमाने पर वस्तुओं का

क्रय-विक्रय होता है, द्रव्य को सामान्य मूल्य-मापक तथा विनिमय. माध्यम के रूप में प्रयोग किये बिना कदापि सम्भव नहीं हुए होते। वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में श्रम-विभाजन असम्भव होने के कारण वर्तमान विकसित औद्योगिक समाज का कभी श्रीगणेश नहीं हुआ होता।

आरम्भ में मुद्रा को समाज में हिसाब की इकाई अथवा सामान्य मूल्य-मापक के रूप में प्रयोग में लाया गया था। इसके द्वारा अन्य सभी वस्तुओं के मूल्यों की तुलना की जाती थी। आरम्भ में एक निश्चित भार तथा आकार की बकरी अथवा किसी अन्य वस्तु को मुद्रा के रूप में स्वीकार किया गया। तत्पश्चात् प्रत्येक अन्य वस्तु के मूल्य की माप इस बकरी में की जाने लगी और वस्तुओं के बीच विनिमय-अनुपात निर्धारित करना सरल हो गया। यदि एक स्त्री १० आदर्श बकरियों के बराबर थी और ५० आम १ बकरी के बराबर थे, तो स्त्री और आमों के बीच विनिमय-अनुपात को सरलता से निर्धारित किया जा सकता था ; अर्थात् एक स्त्री ५०० आमों के बराबर होगी। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल्य अन्य वस्तुओं के रूप में ज्ञात किया जा सकता था। यद्यपि व्यापार अब भी पहले के समान वस्तुओं के बदले वस्तुओं अर्थात् सरल विनिमय के रूप में होता है (उदाहरणार्थ आमों का विनिमय अब भी स्त्री अथवा अनाज इत्यादि के साथ होता है) परन्तु अब समाज की विनिमय-प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न हो गया है। इस परिवर्तन की प्रमुख विशेषता यह है कि विभिन्न वस्तुओं के मध्य विनिमय-अनुपात अब पहले के समान अनिश्चित नहीं हैं और न ही उन्हें मनमाने ढंग से निर्धारित किया जाता है। ये अब एक आदर्श वस्तु (बकरी) के माध्यम द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार समाज बकरी-मान (Goat Standard) को ग्रहण कर लेता है और यह बकरी-मान समाज में मुद्रा के जन्म का द्योतक है।

हिसाब की इकाई के रूप में मुद्रा की स्थापना वस्तु-विनिमय की असुविधा से मुक्ति प्राप्त करने के हेतु हुई थी। मनुष्य का किसी एक वस्तु को सामान्य मूल्यमापक के रूप में ग्रहण करना वास्तव में अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण खोज थी। इस सम्बन्ध में क्राउथर ने लिखा है कि "यद्यपि हमें यह आविष्कार आज बहुत साधारण मालूम होता है परन्तु जिस विचार से प्रेरित होकर लम्बाई की माप करने के लिए 'फुट' अथवा 'मीटर' का, भार को माप करने के लिए 'पाउण्ड' अथवा 'ग्राम' का तथा तापक्रम की माप करने के लिए 'डिग्री' का आविष्कार किया गया था, उसी विचार को मूल्य के क्षेत्र में भी कार्यान्वित किया गया था। उस समय निःसन्देह यह एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार था जो किसी ऐसे आलसी किन्तु चतुर व्यक्ति ने किया होगा जो स्वयं इस समस्या से परेशान था कि कितने बुशल (bushel) अनाज एक चीते की खाल के बदले में दिया जावे, यदि तीन बुशल अनाज ५ केलों के, २० केले एक बकरी के, और २० बकरियाँ एक चीते की खाल के बराबर हैं। निःसन्देह यह एक आविष्कार था, क्योंकि सरल वस्तु-विनिमय प्रणाली से मुद्रा प्रणाली की ओर गतिमान होने में मनुष्य को सजग रह कर अपनी तर्क-शक्ति का सहारा लेना पड़ा होगा।"[3]

---

3. "To us this invention seems very simple. It is merely the application to the sphere of value of the same idea that has produced the foot or the metre to measure length, the pound or gram to measure weight, the degree to measure temperature and so forth. But at the time it was doubtless radical—the invention, perhaps, of some lazy genius who found himself oppressed by the task of calculating how many bushels of corn should exchange for one tiger-skin, if three bushels of corn were equal to five bananas, twenty bananas to one goat and twenty goats to one tiger-skin. And it undoubtedly was an invention ; it needed the conscious reasoning power of Man to make the step from simple barter to money-accounting." (Geoffrey Crowther : *An Outline of Maney*, revised edition, pp. 2-3.)

परन्तु केवल सामान्य.मूल्य मापक की स्थापना से वस्तु-विनिमय की समस्त कठिनाइयाँ समाप्त नहीं हो गई थीं। दोनों मक्षों को सम्पर्क में लाने की समस्या अब भी विद्यमान थी। यह कठिनाई तब समाप्त हुई जब समाज में हिसाब की मुद्रा (बकरी) को विनिमय का माध्यम भी स्वीकार किया गया। तत्पश्चात् अनाज का माँस से प्रत्यक्ष विनिमय होना समाप्त हो गया। अब अनाज को बकरी के माध्यम द्वारा खरीदा तथा बेचा जाने लगा और बकरी के बदले में माँस प्राप्त किया जाने लगा। विनिमय-अनुपात निर्धारित करने के अतिरिक्त मुद्रा समाज में विनिमय माध्यम का कार्य भी करने लगी। फलस्वरूप अनाज तथा माँस के अकेले तथा प्रत्यक्ष विनिमय के स्थान पर अब अनाज तथा बकरियों तथा माँस का दोहरा और अप्रत्यक्ष विनिमय स्थापित हो गया। प्रत्यक्ष विनिमय करने के स्थान पर लोग अब समाज में अपने व्यवसायों को एक मध्यस्थ (मुद्रा) के द्वारा करने लगे।

विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों को सामान्य मूल्य-मापक के माध्यम द्वारा निर्धारित करना समाज के लिए अन्य प्रकार से भी वरदान सिद्ध हुआ। वस्तु-विनिमय प्रणाली में अत्यधिक पृथक् विनिमय-अनुपातों (मूल्यों) की समस्या उत्पन्न होती थी। साधारण मनुष्य के लिए इन घने विनिमय मूल्यों को याद रखना कठिन था। उदाहरणार्थ, यदि समाज में १०० वस्तुएँ थीं तो इन वस्तुओं के विनियम के लिए ४,९५०[4] पृथक् विनिमय-अनुपातों (कीमतों) की आवश्यकता होती थी। हिसाब की इकाई का कार्य सम्पन्न करके मुद्रा ने इन पृथक् विनिमय अनुपातों की संख्या में आश्चर्यजनक कमी की। मुद्रा के वस्तुओं के मूल्यों के सामान्य मूल्य-मापक का कार्य करने के कारण यह संख्या घटकर केवल ९९ हो गई। इससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक सभ्यता की अनेक सुविधाएँ, जो मनुष्य को करोड़ों वस्तुओं के उपभोग द्वारा प्राप्त होती है, मुद्रा के आविष्कार बिना कदापि संभव नहीं हुई होतीं।

हिसाब की इकाई और सामान्य मूल्य-मापक का कार्य करके वस्तुओं के विनिमय को सुविधाजनक बनाने के अतिरिक्त मुद्रा के आविष्कार ने मूल्य के संचक का कार्य सपन्न करके भी समाज में मनुष्य के लिए धन की प्राप्ति तथा संचय करने का कार्य बहुत सरल बना दिया। वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में केवल उस व्यक्ति को धनी समझा जाता था जिसके पास आवश्यक वस्तुओं का अत्यधिक संग्रह होता था। उदाहरणार्थ, जिस व्यक्ति के पास अनाज उत्पादन करने के लिए विस्तृत खेत, शिकार खेलने के लिए घने जंगल, भार ढोने तथा दूध देने के लिए पशुओं की विशाल संख्या थी, उसी को वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में धनी विचारा जाता था। परन्तु इन सब का रखना तथा प्रबन्धन करना अत्यधिक कठिन कार्य था। मुद्रा का आविष्कार होने पर मनुष्य को धनी बनने के लिए मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का संग्रह करने की आवश्यकता नहीं रही क्योंकि आवश्यकता अनुभव करने पर मनुष्य मुद्रा के द्वारा किसी भी उपभोग वस्तु को खरीद सकता था। मुद्रा में तरलता की विशेषता है। इस विशेषता के कारण मुद्रा अन्य वस्तुओं से भिन्न है। किसी वस्तु द्वारा समाज में हिसाब की इकाई, विनिमय माध्यम तथा मूल्य-संचक के तीन प्रमुख कार्यों का सम्पन्न किया जाना मुद्रा के आविष्कार का आरम्भ है। क्राऊथर के विचारानुसार "मुद्रा मनुष्य के मौलिक आविष्कारों में से एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा की एक मौलिक खोज होती है। जिस प्रकार यन्त्रशास्त्र में पहिया, विज्ञान में अग्नि तथा राजनीतिशास्त्र में मत विशेष

---

4. This calcuation is derived from the formula $\frac{a^2 - a}{2}$; where a stands for the total number of commodities exchanged in the market.

आविष्कारों के सूचक हैं, इसी प्रकार अर्थशास्त्र में भी मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व के सम्पूर्ण व्यापारिक क्षेत्र में मुद्रा वह महान् आवश्यक आविष्कार है जिस पर अन्य सब आविष्कार आधारित हैं।"[5]

आधुनिक युग में वस्तु-विनिमय का महत्व

यद्यपि आधुनिक युग में वस्तु-विनिमय का केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है परन्तु समाज में इसकी प्रथा अभी भी बिल्कुल समाप्त नहीं हुई है। कुछ क्षेत्रों में आज भी वस्तुओं का वस्तुओं के रूप में प्रत्यक्ष व्यापार एक सामान्य बात है। उदाहरण के लिए, अमरीका, जापान, जर्मनी आदि विकसित देशों में मूल्य के आंशिक भुगतान में पुरानी कारें लेकर नई कारें बेची जाती हैं। केवल नई तथा पुरानी कारों की कीमतों के अन्तर का भुगतान मुद्रा में किया जाता है। भारत के गाँवों में आज भी किसान उपभोग की साधारण वस्तुओं को अनाज को विनिमय में देकर प्राप्त करता है। आर्थिक कठिनाइयों के दिनों में वस्तु-विनिमय लेन-देन अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् स्फीति के कारण यूरोपीय देशों की मुद्रा इकाइयों का मूल्य ह्रास होने के कारण इन देशों को प्रत्यक्ष किन्तु संशोधित वस्तु-विनिमय प्रणाली का सहारा लेना पड़ा था। अमरीका में १९३२-३३ ई० में छोटे-छोटे वस्तु-विनिमय समाज बन गये थे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में वाल्टर युकिन के अनुसार बर्तन बनाने वाले कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों को बर्तनों के रूप में वेतन दिया जाता था। श्रमिक इन बर्तनों को लेकर गाँवों में ऐसे किसानों की खोज में जाते थे जो इन बर्तनों के बदले में आलू तथा अन्य खाद्य-सामग्री श्रमिकों को दे सकते थे। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में विदेशी विनिमय की कमी के कारण बहुत से देशों को अपनी वस्तुओं के बदले में दूसरे देशों की वस्तुओं को प्राप्त करने के हेतु वस्तु-विनिमय-व्यापार समझौतों की नीति को अपनाना पड़ रहा है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रचलित जो द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते पुरानी वस्तु-विनिमय प्रणाली का संशोधित रूप है।

मुद्रा पदार्थों का विकास

कागजी मुद्रा आधुनिक युग का विकास है क्योंकि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक कागजी मुद्रा का प्रयोग अधिक नहीं था। कीन्स ने इस सत्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रतिनिधि मुद्रा (कागजी मुद्रा) का ऐतिहासिक महत्त्व १७८९ ई० में हुई प्रसिद्ध फ्रान्सीसी क्रांति, जिसके परिणामस्वरूप इंगलैंड तथा फ्रान्स में प्रादिष्ट मुद्रा को अपनाया गया था, के समय से अधिक पुराना नहीं है।[6]

प्रारम्भिक मुद्रा ने पदार्थ मुद्रा का रूप लिया था। किस वस्तु-विशेष को मुद्रा स्वीकार किया जावे; यह देश में समाज की स्थिति, देश की जलवायु, देश के सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास

---

5. "Money is one of the most fundamental of all Man's inventions. Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In mechanics it is the wheel, in science fire, in politics the vote. Similarly, in economies, in the whole commercial side of Man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based." (*op. cit., p. 4.*)

6. "........the historical importance of Representative Money dates from so recent an epoch as that of the French Revolution, the exigent consequences of which led to the adoption not merely of Representative Money but of Fiat Money for many years in what were then the leading financial centres of the world, France and England." (J. M. Keynes : *A Treatise on Money*, Volume 1, p. 15.)

इत्यादि अनेक बातों पर निर्भर होता था। उदाहरणार्थ, जो जातियाँ समुद्र-तट के निकट रहती थीं उन्होंने सीप अथवा मछली पकड़ने के काँटों को विनिमय माध्यम के रूप में अपनाया था। ठण्डी जलवायु वाले देशों में जानवरों की खालों और रोवों को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया था। ऊष्ण जलवायु वाले देशों में हाथी दाँत, चिड़ियों के चमकीले पंख तथा चीते के जाबड़े मुद्रा के रूप में काम में लाये गये थे। उदाहरणार्थ, अफ्रीका के एबीसीनिया प्रान्त में नमक विनिमय का माध्यम था। भारत में समुद्र तटीय क्षेत्रों में कौड़ियाँ; पूरबी अमरीकी तट पर स्थित न्यूफाऊण्डलैंड में सूखी मच्छी, अमरीका के वर्जीनियाँ प्रान्त में तम्बाकू, पश्चिमी हिन्द द्वीप समूह में चीनी तथा अन्य देशों में खाल मुद्रा का कार्य करते थे। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने अपनी 'The Wealth of Nations' शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि स्काटलैंड में आज भी एक ऐसा गाँव है जहाँ श्रमिक नानबाई की दुकान अथवा शराबखाने में मुद्रा के स्थान पर कीलों को ले जाते हैं।[7]

किसी पदार्थ का मुद्रा के रूप में प्रयोग होना समाज के आर्थिक विकास की अवस्था पर भी निर्भर होता है। प्राचीन कृषक समाजों में पालतू पशु धन के प्रमुख साधन थे। इसलिये कृषक समाज में गॉय तथा बैल को मुद्रा का स्थान प्राप्त हुआ था। यूरोप, एशिया और अफ्रीका के समशीतोष्ण जलवायु वाले अधिकांश क्षेत्रों में पशु-समूह की इकाई गॉय विनिमय की आदर्श इकाई बन गई थी। प्रशान्त महासागर में स्थित यॉप द्वीप (Yap Island) के निवासी गोल भारी पत्थरों का मुद्रा के रूप में प्रयोग करते थे। आइसलैंड के निवासी सूखी मछली तथा ऊदबिलाव की खाल को द्रव्य के रूप में प्रयोग करते थे।

गाय और भेड़ (बकरी सहित) बहुत समय तक प्रारम्भिक मानव द्वारा निर्वासित विशाल क्षेत्र में हिसाब की इकाई तथा विनिमय के माध्यम का कार्य करते थे। प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन मनुष्य गाय, भेड़ तथा बैल को मूल्यमापक के रूप में प्रयोग करता था। प्राचीन फारस में डाक्टर मरीज से अपनी फीस गॉय, भेड़, बैल तथा माँसयुक्त-भोजन के रूप में लिया करते थे। अरस्तू के अनुसार महाराजा डियोनिसियस (Dionysius) ने सिरेक्यूज राज्य के लोगों के 'कर' का निर्धारण करने के लिए बैल को 'कर' की इकाई के रूप में प्रयुक्त किया था। चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व तक रोम में अपराधियों पर जुर्माने बैलों और भेड़ों के रूप में लगाये तथा वसूल किये जाते थे। होमर (Homer) की कविताओं में भी, जो सम्भवत: नवीं शताब्दी ईसा-पूर्व लिखी गई थीं, वस्तुओं के मूल्य बैल के रूप में निर्धारित किये गये थे। होमर के कथनानुसार महाराजा दयोमीद (Diomede) के तनुत्राण का मूल्य ९ बैल तथा महाराजा गलौकस (Gloucus) के तनुत्राण का मूल्य १०० बैल था। इसके लगभग १७०० वर्ज पश्चात् भी चार्लमैंगने (Charlmagne) को सैक्सनी-निवासियों से व्यवहार करते समय अपनी मुद्रा सोलिडस (Solidus) का मूल्य भैंसों में बतलाना पड़ता था। कहा जाता है कि आज भी अफ्रीका की कुछ पिछड़ी हुई जातियों में बकरी और भेड़ को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता है।

परन्तु जब किसी भी पशु को मुद्रा स्वीकार किया जाता है, तो असुविधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रथम, इसमें प्रमापीकरण (standardisation) का अभाव होता है। सभी बकरियाँ और गायें समान नहीं होती हैं। अत: जब कोई व्यक्ति अपने मकान को २० बकरियों के बदले में बेचता है तो उसे दुबली, पतली, बूढ़ी तथा रोग-ग्रस्त बकरियाँ देकर धोखा दिया जा सकता है। पशु-मुद्रा के सम्बन्ध में प्रारम्भिक समाज में बहुधा यह निर्णय करने की समस्या उत्पन्न होती थी कि अमुक बकरी अथवा गॉय प्रामाणिक बकरी अथवा गॉय के समान थी अथवा नहीं। ऐसी दशा में

---

7. Adam Smith : *The Wealth of Nations*, Volume I, Book I, Chapter VI, p. 20.

प्रामाणिक बकरी अथवा गाँय की परिभाषा करना आवश्यक था। परन्तु ऐसा करना सरल कार्य नहीं था। इस सम्बन्ध में अफ्रीका में युगैंडा का उदाहरण देते हुए कीन्स ने लिखा है कि वहाँ जिलाधीश का अधिकांश समय तथा शक्ति यह निर्णय करने में समाप्त होती है कि अमुक भेड़ ऋण के भुगतान के लिए प्रामाणिक भेड़ है अथवा नहीं।[8]

इसके अतिरिक्त पशुओं के रूप में धन को संचय करना असुविधाजनक है क्योंकि पशुओं के रूप में संचित किया गया धन सहसा घट-बढ़ सकता है। यदि पशुओं में कोई बीमारी फैल जावे तो संचित धन में भारी कमी हो सकती है। प्रजनन काल में इसमें काफी वृद्धि होने की सम्भावना भी रहती है। पशुओं के स्वामी को इस प्रकार से धन का संचय करने में बहुत व्यय भी करना पड़ता है। उसे पशुओं के पालन-पोषण पर काफी खर्च करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसकी धन-सम्पत्ति दूसरे लोगों को दिखलाई पड़ती है जिससे वह उनकी ईर्ष्या का पात्र बन जाता हैं। उपर्युक्त असुविधाओं के अतिरिक्त इस प्रकार की मुद्रा में अच्छी मुद्रा पदार्थ की वहनीयता (Portability) की विशेषता का भी अभाव होता है; अर्थात् इसको आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र लाया तथा ले जाया नहीं जा सकता है।

जैसे-जैसे मुद्रा के सम्बन्ध में लोगों के विचार विकसित होते गये और समाज ने पशु-पालन युग से व्यापारिक युग में प्रवेश किया, वैसे-वैसे पदार्थ मुद्रा भी पशु तथा अन्य साधारण वस्तुओं के स्थान पर धातुओं की बनाई जाने लगी। सभी देशों में मनुष्य अन्य वस्तुओं की अपेक्षाकृत धातुओं को मुद्रा के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में थे। इसका कारण यह था कि धातुओं में कुछ वे विशेषताएँ विद्यमान हैं जिनका अन्य वस्तुओं में भारी अभाव है, परन्तु जिनका अच्छी मुद्रा में होना आवश्यक है। शायद ही अन्य किसी वस्तु में धातुओं की तुलना में अधिक टिकाऊपन की विशेषता है। धातुओं में विभाज्यता की विशेषता भी होती है। धातुओं के माध्यम द्वारा धन को मितव्ययतापूर्ण संचय किया जा सकता है।

स्वर्ण और चाँदी सम्भवतः प्रथम धातुएँ थीं, जिनका मनुष्य को सर्वप्रथम पता लगा और जिनका उसने प्रयोग किया क्योंकि ऋगवेद में इन दोनों धातुओं की चर्चा की गई है। यद्यपि स्वर्ण का पता सबसे पहले लगा था परन्तु मुद्रा के रूप में इसका प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व विशेष रूप में नहीं हुआ था। वास्तव में उस समय यह इतना दुर्लभ था कि विनिमय-माध्यम के रूप में इसका प्रचलन कठिन हुआ होता। यद्यपि प्राचीन यूनान में कुछ सिक्के सोने के बनाये गये थे परन्तु उनका व्यापक प्रचलन नहीं हो पाया था, क्योंकि उस समय सोना बहुत कीमती था। भिन्न राष्ट्रों ने भिन्न धातुओं का मुद्रा के कार्य के लिये उपयोग किया है। प्राचीन स्पार्टा के नागरिक द्रव्य के रूप में लोहे का प्रयोग करते थे। प्राचीन रोम के निवासी ताँबे का प्रयोग करते थे। आधुनिक स्वर्ण-युग केलिफोर्निया और आस्ट्रेलिया में मध्य-उन्नीसवीं शताब्दी में सोने की खानों का पता लगाने के समय से प्रारम्भ हुआ। आकर्षक होने के कारण स्वर्ण और चाँदी को प्राप्त करने को सभी मनुष्यों की इच्छा रहती थी और समय बीतने पर इन दोनों धातुओं को प्राकृतिक मुद्रा माना जाने लगा। जैवन्स ने लिखा है

---

8. Highlighting this disadvantage of animal as money Keynes recalls the experience of an officer serving in Uganda (Africa) thus : "A District Commissioner in Uganda to-day, where goats are the customary native standard, tells me that it is a part of his official duties to decide, in cases of dispute, whether a given goat is or is not too old or too scraggy to constitute a standard goat for the purpose of discharging a debt." (*op. cit.*, p. 13.)

कि "सोने और चाँदी के बारे में हम यह कह सकते हैं कि प्राकृतिक रूप में वे सर्वस्वीकार्य मुद्रा का कार्य करते हैं, भले ही समाज की प्रथा अथवा कानून कुछ भी क्यों न हो।" जहाँ तक आकार, रूप-रंग, तौल इत्यादि का प्रश्न है, प्रारम्भिक धातु मुद्रा सब प्रकार से पूर्ण नहीं थी। आरम्भ में धातु मुद्रा का छड़ों के रूप में प्रयोग किया जाता था। परन्तु इस प्रकार की धातु मुद्रा में दो प्रमुख दोष थे। प्रथम, धातु की छड़ों को प्रत्येक क्रय-विक्रय करते समय तोलने की समस्या थी। दूसरे, छड़ों में धातु की शुद्धता की जाँच करने की समस्या थी क्योंकि थोड़ी सी मात्रा में तनिक भी खोट मिला देने से प्राप्तकर्ता को काफी हानि हो सकती थी। सही तोलने के लिये बहुत सही बाटों तथा तराजुओं का होना अनिवार्य था। इसमें काफी समय नष्ट होने के अतिरिक्त एक पक्ष द्वारा तोलने में चालाकी करने से दूसरे पक्ष को काफी हानि भी होती थी। इस प्रकार की धातु मुद्रा में पहिचाने जाने की विशेषता का भारी अभाव था। समय व्यतीत होने पर जैसे-जैसे राज्य की शक्ति बढ़ती गई, राजाओं ने जालसाजी को रोकने के लिये सिक्कों का रूप, आकार और भार को निर्धारित कर दिया तथा शुद्धता के प्रमाणस्वरूप वे उस पर अपने ठप्पों का चिह्न भी अंकित करने लगे। सर्वप्रथम ये सिक्के लिडिया में ७०० वर्ष ईसा-पूर्व में प्रचलित हुए थे।

धातु-मुद्रा में एक गम्भीर दोष यह है कि इसे चुराया जा सकता है, क्योंकि इसका छिपाना-कागजी मुद्रा की अपेक्षाकृत कठिन है। बहुत प्राचीन समय से व्यापारियों ने यह अनुभव किया था कि व्यापार करने के लिये बाहर जाते समय धातु-मुद्रा को साथ लेकर चलना खतरे से खाली नहीं था। अतः वे इसके स्थान पर लिखित प्रमाण-पत्र ले जाते थे, जो इस बात का प्रमाण थे कि उनका प्रमाण-पत्र में लिखित मुद्रा की मात्रा पर अधिकार है। बैंकों द्वारा दिये जाने वाले यात्री-चैक (traveller's cheques) और अन्य साख-पत्र (credit instruments) इन्हीं पुराने लिखित प्रमाण-पत्रों के वंशज हैं। यद्यपि ये प्रमाण-पत्र स्वयं मुद्रा नहीं थे परन्तु ये मुद्रा के स्थानापन्न अवश्य थे। लोग इन्हें स्वीकार कर लिया करते थे क्योंकि वे जानते थे कि आवश्यकता पड़ने पर तत्काल उन्हें मुद्रा में बदला जा सकता है। ये लिखित प्रमाण-पत्र कागजी मुद्रा के विकास के इतिहास की पहली अवस्था थे।

जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया वैसे-वैसे समाज में लोगों को दैनिक लेनदेन में इन प्रमाण-पत्रों के प्रयोग की आदत पड़ती गई। इन लिखित पत्रों में वास्तविक मुद्रा की अपेक्षा (जिसका वे प्रतिनिधित्व करते थे) कुछ प्राकृतिक गुण थे। इन्हें सरलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था और उनके चोरी होने की भी कम सम्भावना थी। इन प्रमाण-पत्रों को मुद्रा में बदला जा सकने के कारण लोग इन्हें मुद्रा के समान मानने लगे। इस प्रकार बैंक द्वारा मुद्रा देने की प्रतिज्ञा मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होने लगी। यह एक प्रकार से परिवर्तनशील बैंक नोट था। कागजी-मुद्रा के विकास की यह द्वितीय अवस्था थी, जिसमें यद्यपि बैंक नोट का मुद्रा के स्थान पर उपयोग किया जाता था परन्तु इसको वास्तविक मुद्रा स्वीकार नहीं किया जाता था। कुछ समय पश्चात् बैंक नोट को वास्तविक मुद्रा माना जाने लगा। यह कागजी मुद्रा के विकास की तीसरी अवस्था थी। आज बैंक नोट पूर्णरूपेण मुद्रा है और केन्द्रीय बैंक का इसको स्वर्ण तथा चाँदी में परिणत करने का कोई दायित्व नहीं है। इस प्रकार अब स्वर्ण तथा चाँदी को इनके प्रतिष्ठित स्थान से हटा दिया गया है। आज शायद ही संसार में कोई ऐसा देश है जहाँ धातु-मुद्रा प्रामाणिक सिक्कों के रूप में संचलनशील है। वर्तमान समय में केवल सांकेतिक सिक्कों के रूप में धातु-मुद्रा संचलन में है।

मुद्रा के विकास की उपर्युक्त विवेचना को निम्नलिखित चार्ट की सहायता से समझाया जा सकता है।

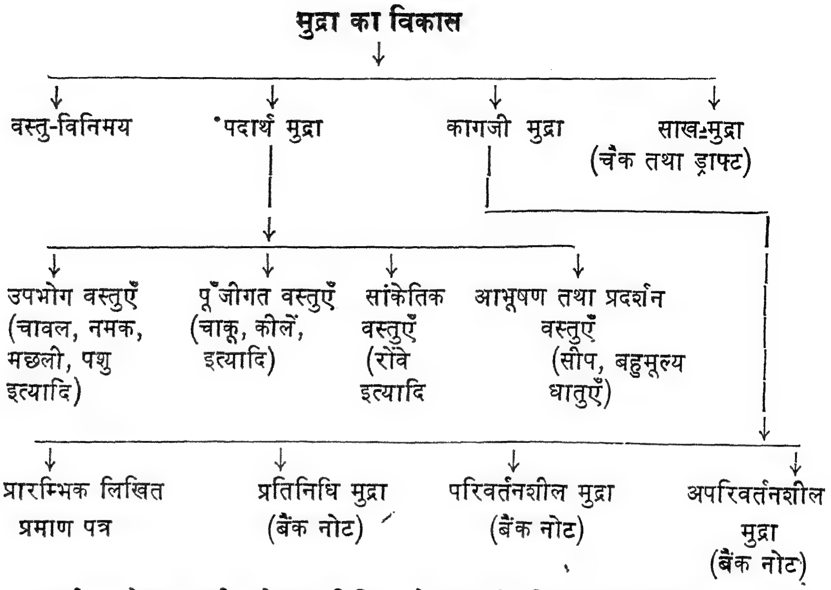

उपर्युक्त रोचक वर्णन से यह विदित हो जाता है कि मुद्रा के विकास का इतिहास प्राचीन मनुष्य के प्रयासों का एक अतिरोचक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मौद्रिक इतिहास में प्राचीन समय में कौड़ी, पत्थर, कछुए की खाल, मछली के दाँत, नमक, ऊन, राल, सुअर, नाव, दास, चाय, तम्बाकू, लोहा आदि वे वस्तुएँ जिनको आज हम तुच्छ समझते हैं, मुद्रा के रूप में प्रयोग में लायी गयी हैं।

अध्ययन सूची

1. Geoffrey Crowther : An Outline of Money (Rev. ed.), Chapter 1.
2. J. M. Keynes : A Treatise on Money, Volume I, Chapter 1,
3. Steiner and Shapiro : Money and Banking (3rd edition), Chapters I and II.
4. E. M. Bernstein : Money and Economic System, Chapter I.
5. W. Ridgeway : Origin of Metallic Currency and Weight Standards.
6. R. P. Kent : Money and Banking (4th edition), Chapter I.
7. A. H. Quiggin : A Survey of Primitive Money, Chapters I and II.
8. D. H. Robertson. Money, Cnapter I.
9. L. V. Chandler : The Economics of Money and Banking (1964), Chapter I.

प्रश्न

1. Discuss the disadvantages of 'Barter Economy.' Is the world going back to 'Barter Economy' ?
2. Explain how and to what extent the use of money in exchange transactions removed the inconveniences of barter.
3. How did money originate ? Discuss, in brief, the history of its development from beginning up to the present day.

२

मुद्रा तथा अर्थव्यवस्था
(Money and the Economy)

मुद्रा क्या है ?

मुद्रा उन वस्तुओं में से है जिनकी कोई एक सही परिभाषा करना कठिन है। परिणाम-स्वरूप अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से मुद्रा की परिभाषा की है। फ्रान्सिस ए० वॉकर तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा को इसके कार्यों पर आधारित करते हुये लिखा है कि "मुद्रा वह वस्तु है जो मुद्रा का कार्य करती है।"[1] कीन्स; रौबर्टसन, कौल, सैलिगमैन तथा ऐली ने अपनी मुद्रा की परिभाषाओं में मुद्रा की सामान्य स्वीकृति की विशेषता को अधिक महत्त्व दिया है। इन अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार मुद्रा वह वस्तु है जो वस्तुओं के क्रय-विक्रय तथा ऋण भुगतानों में समाज में बिना किसी बाधा तथा शर्त के स्वीकार की जाती है तथा जिसके रूप में सामान्य क्रय-शक्ति को संचित किया जाता है।[2] कुछ अन्य विद्वानों ने, जिनमें गस्टेव कैसल का नाम उल्लेखनीय है, अपनी परिभाषाओं में केवल मुद्रा के मूल्य-मापक कार्य पर अपना ध्यान केन्द्रित

---

1. "Money is that money does." (Francis A. Walker : *Money in its Relation to Trade and Industry*, p. 1.)

2. According to J. M. Keynes by money is to be understood "that by delivery of whieh debt-contracts and price-contracts are *diecharged*, and in the shape of which a store of General Purchasing Power is held." (*A Treatise on Money* Vol. I, p. 3.)
D. H. Robertson defines money as "anything which is widely accepted in payment for goods, or in discharge of other kinds of bueiness obligations.' (*Money* : p. 2.)
According to G. D. H. Cole "the essence of money is that it can be passed from hand to hand in one act of circulation after another." (*Money : Its Present and Future*, p. 8.)
Seligman defines money as "one thing that possesses general acceptability."
Ely defines money as "anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debt." (*Elementary Principles of Economic*).
Hart and Kenen have defined money as that "property with which the owner can pay off a definite amount of debt with certaintty and without delay." (*Money, Debt and Economic Activity* : Third Edition, p. 4.)

किया है। कैसल के विचारानुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो अन्य वस्तुओं का मूल्यांकन करने के लिये सामान्य मापक का कार्य करती है। मुद्रा का प्रमुख तथा मौलिक कार्य एक ऐसी गणना के आधार का कार्य करना है, जिससे द्वारा विनिमय-योग्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये जा सकें।"[3] कार्ल हैलफरिक ने मुद्रा की इतनी अधिक व्यापक परिभाषा की है कि "मुद्रा-प्रणाली का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से स्थापित हो जाता है। कार्ल हैलफरिक ने लिखा है कि मुद्रा से हमारा आशय उन सब वस्तुओं से है जो किसी दिये हुए क्षेत्र तथा दी हुई आर्थिक प्रणाली में आर्थिक व्यक्तियों के बीच आर्थिक सहयोग (अर्थात् मूल्य के अन्तरण) में सुविधा पहुँचाती हैं।"[4] रेमोण्ड पी० केण्ट के विचारानुसार "मुद्रा कोई भी वह वस्तु हो सकती है जो सामान्यतया विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मापक के रूप में समाज में स्वीकार की जाती है।"[5]

मुद्रा की उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ परिभाषाएँ बहुत व्यापक हैं तथा अन्य कुछ परिभाषाएँ बहुत संकुचित हैं। उदाहरणार्थ, वॉकर तथा हैलफरिक की परिभाषाएँ इतनी अधिक व्यापक हैं कि इन्हें परिभाषा कहना गलत है। वॉकर के विचार में "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है।" यह परिभाषा संतोषजनक नहीं है क्योंकि मुद्रा समाज में अनेक ऐसे कार्य करती हैं जो अन्य वस्तुओं द्वारा भी किए जाते हैं। अतः इस दृष्टि से मुद्रा का सीमाकरण करना बहुत कठिन है। कार्ल हैलफरिक की परिभाषा में भी यही कठिनाई निहित है क्योंकि उनके अनुसार मुद्रा कोई भी वह वस्तु हो सकती है जो किसी अर्थव्यवस्था में आर्थिक व्यक्तियों के बीच आर्थिक व्यवसायों को सुविधाजनक बनाती है। परिभाषा के दूसरे वर्ग में रोबर्टसन, कोल, ऐली, सैलिगमैन तथा कीन्स की परिभाषाएँ सम्मिलित हैं। इन परिभाषाओं का दोष यह है कि ये मुद्रा के सभी आवश्यक कार्यों पर प्रकाश नहीं डालती हैं। इन परिभाषाओं के अनुसार मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जिसे अर्थव्यवस्था में सामान्य स्वीकृति प्राप्त है। परन्तु मुद्रा की सामान्य स्वीकृति को प्रेरित करने वाले कारणों का इन परिभाषाओं में उल्लेख नहीं किया गया है।

मुद्रा की पूर्ण परिभाषा इतनी अधिक व्यापक होनी चाहिए कि वह मुद्रा के उन सब आवश्यक कार्यों पर प्रकाश डाल सके जिनको मुद्रा समाज में सम्पन्न करती है। मुद्रा कोई ऐसी ही वस्तु हो सकती है जो समाज में विनिमय माध्यम; मूल्य मापक और धन के संचय के आवश्यक कार्य सम्पन्न करती है। इस दृष्टि से क्राउथर द्वारा दी गई मुद्रा की परिभाषा सर्वोत्तम प्रतीत होती है। क्राउथर के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय के साधन (अर्थात् ऋणों का भुगतान करने) के रूप में समाज में सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है तथा मूल्य-मापक और मूल्य संचय का कार्य करती है।"[6]

---

3. "An article that has the function of common measure for the valuation of other goods is called money. The primary and fundamental function of money is to serve as the basis of a scale of reckoning by which the values of exchangeable commodities can be determined." (Gustav Cassel *The Theory of Social Economy*, p. 46.)
4. "We understand, therefore, by the term 'money' the complex of those objects which in a given economic area and in a given economic system have as their normal purpose the facilitation of economic intercourse (or the transfer of values) between economic individuals." (Karl Helfferich : *Money*, Vol. I, p. 211.)
5. Money is "anything that is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value." (R. P. Kent : *Money and Banking, Fourth Edition*, p. 4.)
6. Money is "anything that is *generally acceptable* as a means of exchange (*i. e.*, as means of settling debts) and at the same time acts as measure and store of value." (Geoffrey Crowther : *op. cit.*, p. 20.)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार कुल अर्थव्यवस्था में संचलनशील मुद्रा मुद्रा (इसमें सिक्के भी सम्मिलित हैं) तथा बैंकों में जमा चालू जमाओं (current deposits), जिनको किसी भी समय जमाकर्ता चैक लिखकर बैंक से वापस ले सकते हैं, को कहते हैं। म्यादी जमाओं (time deposites) को इस परिभाषा के अनुसार मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता है क्योंकि इस प्रकार की जमाओं को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय माँगने पर जमाकर्ता बैंक से वापस नहीं ले सकते हैं। इन जमाओं को म्याद अथवा जमा अवधि की समाप्ति पर ही वापस लिया जा सकता है। परिणामस्वरूप द्रव्य की प्रमुख विशेषता—तरलता—का इन जमाओं में अभाव रहता है। रैंडक्लिफ समिति (Radcliffe Committee) के अनुसार मुद्रा में बैंकों के बाहर संचलनशील नोट (जिनका प्रचालन प्रमुख रूप से बैंक ऑफ इंगलैंड द्वारा हुआ है) तथा लन्दन, स्काटलैंड तथा उत्तरी आयरलैंड की बैंकों की कुल शुद्ध जमा (net deposits) सम्मिलित होती हैं।[7]

मुद्रा का महत्त्व

आधुनिक युग में हम मुद्रा विनिमय प्रणाली की सुविधाओं के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हम मुद्रा के ऐतिहासिक और वर्तमान महत्त्व पर ध्यान नहीं देते है। वर्तमान समय में जीवन का ऐसा कोई भी रूप नहीं है जिसे विनिमय अथवा द्रव्य प्रणाली ने प्रभावित न किया हो। आधुनिक युग में व्यक्ति अथवा समाज के जीवन का कोई भी ऐसा भाग नहीं है जो मुद्रा के प्रभाव से मुक्त है। आर्थिक विकास को सम्भव बनाने में मुद्रा का जो महत्त्वपूर्ण योगदान है, कुछ लेखकों ने उसकी उपेक्षा करने का प्रयास किया है। जो व्यक्ति नैतिक दृष्टि से अधिक प्रभावित है और मुद्रा के दुरुपयोग से उत्पन्न होने वाली बुराइयों का अनुभव करते हैं, वे इस मत के पक्ष में है कि वाणिज्य और उद्योग के विकास के लिए मुद्रा आवश्यक नहीं है। मार्क्सवादियों के विचार में मुद्रा समाज में सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक बुराइयों का आधार है। सेंट पाल के विचारानुसार मनुष्य का मुद्रा के प्रति प्रेम जीवन की सभी सामाजिक बुराइयों का कारण था।

परम्परावादी अर्थशास्त्र में भी मुद्रा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। परम्परावादी अर्थशाास्त्रियों के विचारानुसार मुद्रा अर्थव्यवस्था में एक अनावश्यक तथा महत्त्वहीन वस्तु थी। उनका यह विश्वास था कि मुद्रा के प्रवेश का समाज में उत्पादन की वास्तविक प्रक्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मुद्रा स्वयं बिलकुल अनुत्पादक थी। एडम स्मिथ ने मुद्रा की निष्फलता को स्पष्ट करने के हेतु समाज में मुद्रा की तुलना उस सड़क से की थी जो स्वयं घास की एक पत्ती का भी उत्पादन नहीं करती है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार विनिमय माध्यम का कार्य करके यद्यपि मुद्रा समाज में उत्पादन तथा वितरण की प्रक्रियाओं को अधिक कुशल बनाती है परन्तु यह इन प्रक्रियाओं की प्रकृति में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती है। द्रव्य-अर्थव्यवस्था में 'मुद्रारूपी घूँघट' के पीछे जे. बी. से का प्रसिद्ध बाजार नियम ठीक उसी प्रकार

7· **रैडक्लिफ समिति** की नियुक्ति मई १९५७-ई० में सरकार द्वारा इंगलैण्ड की मौद्रिक तथा साख-मुद्रा प्रणाली की जाँच करने तथा इसमें पर्याप्त सुधार करने हेतु सुझाव देने के उद्देश्य से की गई थी। समिति के नौ सदस्य थे तथा लार्ड रेडक्लिफ समिति के अध्यक्ष थे। अध्यक्ष के अतिरिक्त अन्य आठ सदस्यों में दो सदस्य उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में, दो सदस्य बैंक तथा वित्त के क्षेत्र में विशेष जानकारी रखने वाले, अन्य दो सदस्य श्रम-संघ नेता तथा दो सदस्य प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थे। अर्थशास्त्री सदस्यों के नाम प्रोफेसर ए० के० केर्नक्रास (A. K. Cairncross) तथा आर० एस० सेयर्स (R. S. Sayers) थे।

लागू होता है जिस प्रकार यह वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था में लागू होता है।[8] १९ वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास था कि द्रव्य अर्थव्यवस्था में उत्पादन का आकार तथा उत्पादन तकनीक, रोजगार का स्तर, बाजार में वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें तथा राष्ट्रीय आय का वितरण इत्यादि सब विकसित वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था के सामान थे।

संक्षेप में परम्परावादी अर्थशास्त्रियों की विचारधारा में मुद्रा का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारानुसार मुद्रा का समाज की अर्थव्यवस्था में कोई महत्त्व नहीं था। मुद्रा समाज में गाड़ी के तीसरे अनावश्यक पहिये के समान थी। समाज में मुद्रा की महत्त्वहीनता को व्यक्त करते हुए मिल ने इस प्रकार लिखा है: "समाज में मुद्रा के प्रवेश से मूल्य के उन नियमों पर, जो वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में लागू होते हैं, कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अर्थव्यवस्था में वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों में मुद्रा के प्रवेश के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता है। वस्तुतः समाज की अर्थव्यवस्था में मुद्रा से अधिक महत्त्वहीन अन्य और कोई वस्तु नहीं हो सकती है। यदि समाज में इसका कोई उपयोग है तो वह केवल इतना ही है कि यह समय तथा श्रम में मितव्ययिता प्राप्त करने का साधन मात्र है। यह उस मशीन के समान है जिससे किसी उस कार्य को जिसे इसकी सहायता के बिना देरी तथा असुविधा के साथ किया जा सकता है, शीघ्र तथा सुविधा के साथ किया जा सकता है। अन्य प्रकार की मशीनों के समान इसका अर्थव्यवस्था पर अपना स्वयं कोई प्रभाव उस समय तक नहीं पड़ता है जब तक यह अव्यवस्थित नहीं हो जाती है।"[9]

प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा के प्रति इस विचारधारा को अपनाने का कारण ज्ञात करना कठिन नहीं है। डेविड रिकर्डो का कहना था कि व्यक्ति समाज में मुद्रा को केवल इस कारण स्वीकार करते हैं क्योंकि इसके माध्यम द्वारा वे बाजार में उपभोग वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जावे कि कुछ व्यक्ति अपनी आय की तुलना में कम खर्च करेंगे तो भी विवेकशील मनुष्य अपनी बचत को अनुत्पादक द्रव्य के रूप में संचित नहीं रखेगा जबकि बाँड अथवा बैंक जमा के रूप में संचित रखने से उसे आय प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति खर्चकर्त्ता के रूप में उतनी ही माँग उत्पन्न करता है जितना कि वह उत्पादक के रूप में पूर्ति उत्पन्न करता है। यद्यपि परम्परावादी अर्थशास्त्रियों को यह ज्ञात था कि मुद्रा के व्यवस्थित न रहने

---

8. से का बाजार नियम फ्रान्सीसी अर्थशास्त्री जे० बी० सें (१७६७-१८३२ ई०) के नाम से सम्बन्धित है। से ने यूरोप में, विशेष रूप से फ्रांस में, एडम स्मिथ के विचारों का प्रचार किया था। से के बाजार नियम के अनुसार "पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न करती है।" यह नियम उस समय विद्यमान सामान्य अत्युत्पादन की घटना को मिथ्या सिद्ध करने के हेतु प्रतिपादित किया गया था। से के नियम के अनुसार समाज में सामान्य अत्युपादन (over-production) कभी सम्भव नहीं हो सकता था यद्यपि यह होना सम्भव था कि अर्थव्यवस्था में किसी वस्तुविशेष का अत्युत्पादन तथा किसी अन्य वस्तु का न्यूनोत्पादन (under-production) हो जावे। से का कहना था कि ऐसा विनिर्माताओं द्वारा के माँग को गलत कूतने के कारण होता है। यह समस्या अल्पकालीन थी तथा दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था में सामान्य अत्युत्पादन कदापि नहीं होगा। इस नियम की व्याख्या उनकी १८०३ ई० में प्रकाशित *Traite'd Economic Politique* शीर्षक पुस्तक में की गई थी। जेम्स स्टवार्ट मिल तथा डेविड रिकार्डो ने से के बाजार नियम की पुनः व्याख्या की थी। इन अर्थशास्त्रियों का कहना था कि यह नियम द्रव्य-अर्थव्यवस्था में भी उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार यह वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में लागू होता है।
9. J. S. Mill : *Principles of Political Economy*, Book III, Chapter 7, Section 3.

से अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती थी परन्तु इस घटना को वे असाधारण विचारते थे। उनका कहना था कि दीर्घावधि में द्रव्य की पूर्ति इसकी माँग के समान रहेगी। परन्तु दीर्घावधि पर अपना ध्यान केन्द्रित करके इन अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य-अर्थव्यवस्था का विश्लेषण वस्तु-विनिमय अर्थ-व्यवस्था के रूप में करके भारी भूल की थी।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के विपरीत मुद्रा के नवीन सामाजिक सिद्धान्त के समर्थकों के विचारानुसार मुद्रा अर्थव्यवस्था में सामान्य आर्थिक क्रियाओं का नियमन करती है तथा सामान्य सामाजिक सुधारों को सम्भव बनाती है। वास्तव में यह समझ में नहीं आता है कि मिल जैसे विद्वान् अर्थशास्त्री ने इस मौलिक सत्य को क्यों भुला दिया था। वर्तमान युग में मुद्रा समाज में पहले से भी अधिक सामाजिक सुधारों एवं आर्थिक बुराइयों को दूर करने का साधन बन गई है। जिस प्रकार विचार विनिमय के लिये लेखन अथवा मुद्रण का महत्त्व है उसी प्रकार समाज में भौतिक वस्तुओं के सरल विनिमय के लिये मुद्रा का महत्त्व है। "आधुनिक विनिमय प्रणाली सामाजिक जीवन की सभी स्थितियों से इस प्रकार घुलमिल गई है कि इसे अचानक नष्ट करने से जीवन की अधिकांश अच्छाइयाँ समाप्त हो जाएँगी। इसके अधिकांश अच्छे प्रभाव लोप हो जावेंगे और विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण तथा बाजारों की व्यापकता और सहन-शीलता की भावना अधिकांशतः नष्ट हो जायेगी।"

किसी देश की मौद्रिक व्यवस्था में उस देश की आर्थिक प्रगति की झलक देखने को मिलती है। किसी देश के आर्थिक विकास का स्तर उस देश में विद्यमान विनिमय-प्रणाली का परिणाम होता है। परन्तु विनिमय प्रणाली की प्रकृति स्वयं देश के आर्थिक विकास के स्तर से प्रभावित होती है। हॉबसन (J. A. Hobson) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Evolution of Modern capitalism* में लिखा है कि "यान्त्रिक प्रगति के फलस्वरूप उत्पादन करने की विधियों में परिवर्तनों के साथ मौद्रिक प्रणाली भी बदलती है और पेचीदा होती चली जाती है। वर्तमान उत्पादन एवं वितरण प्रणाली में मुद्रा की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति तथा साख-मुद्रा के विस्तृत आकार का अधिक महत्त्व इसका प्रमाण है। वास्तव में सम्पूर्ण औद्योगिक आन्दोलन को वित्तीय अथवा मौद्रिक दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।"[10]

किसी समय अवधि में प्रचलित मुद्रा तथा विनिमय प्रणाली का उस समय के वाणिज्य और उद्योग की अवस्था तथा आय के स्तर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिन देशों में मुद्रा प्रणाली का कम विकास हुआ है वहाँ वाणिज्य के विकास का भी अभाव होता है; उद्योग प्रारम्भिक अवस्था में होते हैं और बाजार-मूल्य कम रहते हैं। इसके विपरीत पूर्णतया विकसित द्रव्य-अर्थ-व्यवस्था में वाणिज्य तथा उद्योगों का संगठन उच्चकोटि का होता है। बहुधा यह कहा जाता है कि उत्पादन की आधुनिक प्रणाली श्रम-विभाजन पर आधारित है। परन्तु श्रम-विभाजन की सीमा स्वयं विनिमय प्रणाली की सरलता से प्रभावित होती है, क्योंकि बाजार का विस्तार वस्तुओं को विनिमय करने की सुविधा पर निर्भर होता है। यद्यपि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता श्रम-विभाजन और मशीनों के प्रचलन पर निर्भर है परन्तु ये दोनों बातें प्राचीन वस्तु-विनिमय प्रणाली में सम्भव

---

10. "Corresponding to the changes in the productive methods under mechanical machinery, we should find the rapid growth of a complex monetary system reflecting in its international and national character, in its elaborate structure of credit, the leading characteristics of which we find in modern productive and distributive industry. The whole industrial movement might be regarded from the financial or monetary point of view." (J A. Hobson : *Evolution of Modern Capitalism.*)

नहीं थीं। मुद्रा पूँजी का एक अति सामान्य रूप है; अर्थात् मुद्रा पूँजी का एक ऐसा सरल रूप है जिसके द्वारा पूँजी को तत्काल दूर-दूर स्थानों को निवेश के लिये भेजा जा सकता है। पूँजी में इस तरलता के बिना समाज की अर्थव्यवस्था में निवेश की प्रकृति केवल स्थानीय रही होती और दूर के स्थानों में औद्योगिक विकास पूँजी के अभाव के कारण कदापि सम्भव नहीं हो पाता तथा निवेश राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कभी भी सम्भव नहीं हो पाता।

मुद्रा तथा आर्थिक जीवन

मुद्रा ने वर्तमान बड़े पैमाने पर उत्पादन को सम्भव बनाने के अतिरिक्त हमारे आधुनिक जीवन को प्रभावित करने वाली अनेक वस्तुओं के वितरण में भी बहुत सुविधा प्रदान की है। वर्तमान व्यापक वस्तु-बाजार, वस्तुएँ लाने तथा ले जाने की सुविधाएँ और मूल्यों के निर्धारण की उपयुक्त व्यवस्था प्रदान करके मुद्रा ने बढ़ती हुई उपभोग-माँग और बड़े पैमाने की उत्पादन क्रिया में समन्वय स्थापित किया है। यदि यातायात-सुविधाओं ने उत्पादन को स्थानीय माँग पर निर्भर होने से मुक्त किया है तो मुद्रा ने इसको समाज की सामूहिक माँग का प्रतिनिधित्व करने वाले बाजारों की स्थापना करके किसी व्यक्तिविशेष की माँग पर आश्रित होने से बचाया है। इस सम्बन्ध में रॉबर्टसन (D. H. Robertson) का निम्निलिखित कथन उल्लेखनीय है: "द्रव्य-अर्थव्यवस्था की उपलब्धता समाज को यह पता लगाने में सहायता प्रदान करती है कि लोग क्या (किस वस्तु अथवा सेवा को) चाहते हैं और कितना (कितनी मात्रा में) चाहते हैं तथा इसलिए यह ज्ञात करने में सहयोग देती है कि समाज को कौन-सी वस्तुओं का तथा कितनी मात्रा में उत्पादन करना चाहिए जिससे कि सीमित उत्पादन-शक्ति का इष्टतम उपयोग सम्भव हो सके। यह समाज के प्रत्येक सदस्य को विश्वास दिलाती है कि रोजगार के जो साधन उपलब्ध हैं उनके द्वारा उसको अधिकतम उपभोग तथा भौतिक सुख प्राप्त हो सकेगा। यह उसे किराये की मोटरगाड़ी पर आवश्यकता से अधिक यात्रा न करने तथा इसके बदले में चार्ली चैपलिन (Charlie Chaplin) के हँसमुख चेहरे को देखने का अवसर प्रदान करती है।"[11] संक्षेप में मुद्रा समाज में व्यक्ति की सीमित आय का भिन्न वस्तुओं के क्रय पर इस प्रकार वितरण सम्भव बनाती है कि उपभोक्ता को अधिकतम संतोष प्राप्त हो सकता है। यह तब होता है जब भिन्न वस्तुओं पर व्यय की गई द्रव्य-इकाई की सीमान्त उपयोगिता समान होती है।

आर्थिक जीवन के निर्माण में मुद्रा के महान् महत्त्व का अनुमान पिछड़े हुए देश में असंगठित मुद्रा-प्रणाली के प्रभावों का स्मरण करके लगाया जा सकता है। ऐसे देश में प्रत्येक वस्तु उसी क्षण अस्थिर हो जाती है जब मुद्रा प्रणाली में अड़चनें पड़ने लगती हैं। संसार के अधिकांश देशों में १९२४ ई० से लेकर १९२७ ई० तक तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विद्यमान अतिस्फीति तथा १९३३ ई० के महान् आर्थिक संकट की याद हमारे मस्तिष्को में अब भी इतनी ताजा है कि हम मुद्रा प्रणाली को पूर्ण रूप से व्यवस्थित करने का प्रयास करते है।

मार्शल ने आर्थिक जीवन में मुद्रा के महान् महत्त्व की व्याख्या द्रव्य अर्थव्यवस्था के इतिहास को सभ्यता के इतिहास से सम्बन्धित करके निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में की है "मनुष्य के प्रकृति पर बढ़ते हुए अधिकार को जन-साधारण का रहन-सहन सुधारने में प्रयोग करने की प्रगति कुछ समय पूर्व तक बहुत साधारण थी। इस दिशा में जो कुछ थोड़ा सुधार सम्भव भी हुआ था वह मुख्यतः सुधरती हुई सामाजिक दशा के अन्तर्गत आवागमन और औद्योगिक व्यवसाय

---

11. D. H. Robertson: *Money*, p. 5.

की स्वाधीनता का परिणाम था। निःसन्देह पुरानी प्रथाओं की समाप्ति से समाज में दरिद्रों को संरक्षण प्रदान करने वाली कुछ प्राचीन रक्षात्मक प्रथाएँ समाप्त हो गई थीं। यद्यपि इसके कुछ तात्कालिक प्रभाव हानिकारक सिद्ध हुए थे परन्तु यह उनको स्वाधीनता दिलाने तथा उन्हें दासता की दशाओं से मुक्त करने के लिए आवश्यक क्रम था। इसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि प्राचीन प्रथाओं के आधार पर निर्धारित होने वाले दायित्वों के स्थान पर सेवाओं तथा वस्तुओं की कीमतें मुद्रा में निर्धारित की जाने लगी थीं।"[12] मार्शल की इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि मुद्रा-अर्थव्यवस्था का उदय होने के कारण समाज में आर्थिक स्वाधीनता का जन्म सम्भव हुआ और इस आर्थिक स्वधीनता के परिणामस्वरूप वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली का विकास सम्भव हो सका है।

आधुनिक जीवन में मुद्रा के महत्त्व को समझने के लिए समाज के "आर्थिक संगठन" और "आर्थिक विचारधारा" पर ध्यान देना आवश्यक है। हमारी अधिकांश आर्थिक क्रियाएँ द्रव्य-आय की प्राप्ति और इसको खर्च करने से सम्बन्धित हैं। पीगू का यह विचार पूर्णतया सत्य है कि "आधुनिक विश्व में उद्योग मुद्रारूपी वस्त्र धारण किए हुए हैं।"[13] आर्थिक जगत् में हमारी सफलता और असफलता की माप मुद्रा के रूप में की जाती है। हमारे निर्णय द्रव्य इकाइयों से सम्बन्धित होते हैं। आधुनिक युग में मुद्रा "एक ऐसा केन्द्र है जिसके चारों ओर अर्थशास्त्र विज्ञान संकेन्द्रित है।"[14]

व्यापार के विकास के लिए मुद्रा नितान्त आवश्यक है। उत्पादन की योजना बनाते समय उत्पादक अपनी उत्पादन लागत, कीमत एवं लाभ की गणना मुद्रा के रूप में करते हैं। अमुक उद्योग को आरम्भ करना चाहिए अथवा नहीं, इसका निर्णय उद्यमकर्ता द्वारा अनुमानित द्रव्य लाभ की मात्रा पर निर्भर होता है। एच० जी० मोल्टन (H. G. Moulton) ने सत्य कहा है कि "विभिन्न उत्पादन साधनों को एकत्र करने के लिए मुद्रा अनिवार्य है। अपने कारखाने का निर्माण करने के हेतु आवश्यक सामग्री खरीदने के लिए व्यापारी मुद्रा का प्रयोग करता है। कच्चा माल खरीदने के लिए भी उसको मुद्रा में भुगतान करना पड़ता है। मुद्रा के आधार पर गणना करके वह विश्व के बाजारों में निर्माण क्रिया में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल को स्पर्धात्मक कीमतों पर खरीदने में सफल होता है। मुद्रा की सहायता से वह श्रमिकों, प्रबन्धकों एवं विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करता है।"[15]

मुद्रा का उपयोग उत्पादकों के अतिरिक्त कुशल गृहपत्नियों को भी अपने पारिवारिक बजट का नियमन करने में आवश्यक होता है। इसके द्वारा वे सीमित द्रव्य व्यय के द्वारा अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने में सफल होती हैं। सीमित पारिवारिक द्रव्य आय का प्रयोग विभिन्न गृह आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए किस सीमा तक करना लाभदायक रहेगा, इसका निश्चय तभी किया जा सकता है जब प्रत्येक प्रयोग से प्राप्त होने वाली सम्भावित उपयोगिता को मौद्रिक आधार में परिणत कर लिया जावे।

मुद्रा वर्तमान समय में कीमत प्रणाली का आधार है। मुद्रा समाज में उपभोक्ताओं को दुर्लभ साधनों का मितव्ययितापूर्ण उपयोग करने के लिए प्रेरित करती है। कीमत-प्रणाली के द्वारा अर्थव्यवस्था में करोड़ों व्यक्तियों के भिन्न निर्णयों के मध्य समन्वय स्थापित होता है। इसके द्वारा उत्पादन के क्षेत्र में श्रम विभाजन व विशेषज्ञता के लाभ प्राप्त होते हैं, तथा केन्द्रीय

12. Alfred Marshall ; *Money, Credit and Commerce*, p. 264.
13. A. C. Pigou : *Industrial Fluctuations*, *P* 117.
14. Alfred Marshall : *Principles of Economics, 8th edition, 1948 reprint*, p. 13.
15. H. G. Moulton : *The Financial Organisation of Society*, 3rd edition, p. 3.

प्राधिकारी के नियन्त्रण के बिना वस्तुओं का विनिमय होता है, कीमत-प्रणाली के द्वारा ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का लोगों की उपभोग-रुचियों, प्रौद्योगिक तथा साधनों की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के साथ समन्वय होता है। पूँजीवादी समाज में आर्थिक क्षेत्र में होने वाले सभी परिवर्तनों का प्रत्यक्ष प्रेरणास्रोत कीमत-प्रणाली होती है। समाज में किसी वस्तु की माँग में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप उस वस्तु की कीमत में वृद्धि होने के कारण उसके उत्पादन में वृद्धि होती है। कीमत-प्रणाली अर्थव्यवस्था में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों को कीमत-परिवर्तनों का रूप देकर उत्पादन में पर्याप्त परिवर्तनों को संभव बनाती है। उदाहरणार्थ, यदि उपभोक्ताओं की रुचियों में परिवर्तन हो जाने के कारण किसी वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाती है तो उस वस्तु की कीमत में अन्य वस्तुओं की कीमतों की तुलना में वृद्धि हो जावेगी। इससे उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन में वृद्धि तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन में कमी करेंगे। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों का उपभोक्ताओं की रुचियों के अनुसार पुर्नवितरण सम्भव हो सकेगा। अर्थव्यवस्था में कीमत प्रणाली के माध्यम द्वारा विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के मध्य उत्पादन साधनों का वितरण तथा पुर्नवितरण होता है।

वर्तमान समय में मुद्रा का महत्त्व इतना अधिक हो गया है कि आर्थिक निर्णयों के अतिरिक्त अनार्थिक क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग होता है। इसके आधार पर वस्तुओं तथा व्यक्तियों की पहचान की जाती है। डैवनपोर्ट (H. J. Davenport) ने इस सत्य को निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है : वर्तमान समय में सभी आर्थिक तुलनाएँ मुद्रा के आधार पर की जाती हैं; कला, नैतिककता अथवा सौन्दर्य के आधार पर नहीं। मुद्रा मनुष्य की सफलता की माप का आधार है। लोग व्यापार में केवल जीविका प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि द्रव्य के रूप में धन प्राप्त करने के उद्देश्य से व्यस्त रहते हैं। मुद्रा प्राप्त करके सफलता प्राप्त करना ही किसी व्यक्ति की चतुराई, योग्यता एवं सम्पन्नता का प्रमाण है। कोई व्यक्ति महान् कलाकार है अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके बनाये हुए चित्रों की कितनी कीमत है। कोई व्यक्ति सफल वकील है अथवा नहीं; कोई व्यक्ति अच्छा गायक है अथवा नहीं तथा कोई व्यक्ति कुशल लेखक है अथवा नहीं; यह उस वकील, गायक तथा लेखक की आय पर निर्भर करता है। इससे स्पष्ट है कि मौद्रिक माप-दण्ड अमौद्रिक क्षेत्रों पर प्रभाव डालता है।

यह प्रश्न अब पुराना है कि मुद्रा किस दिशा में और किस अंश तक हमारे विचारों को प्रभावित करती है; क्योंकि प्रत्येक दिशा में अधिक अंश तक आधुनिक युग में जीवन इससे प्रभावित होता है। बहुधा हम सस्तेपन को भद्देपन से, धनाढ्यता को सुन्दरता से तथा महँगेपन को शोभा से संबोधित करते हैं। यह कहना कठिन है कि वास्तविक सौन्दर्य कहाँ आरम्भ होता है तथा मौद्रिक दृष्टिकोण कहाँ समाप्त होता है। नैतिकता के क्षेत्र में भी मुद्रा का वास्तविक महत्त्व है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि लगभग सभी बड़ी राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याएँ और अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें मुद्रा पर आधारित हैं।"[16]

मुद्रा की चक्राकार गति तथा अर्थव्यवस्था

आधुनिक आर्थिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि अर्थव्यवस्था में द्रव्य-भुगतानों की निरन्तर गति विद्यमान रहती है। उपभोक्ता वस्तु बाजारों में उपभोग वस्तुओं तथा

16. H. J. Davenport : *To Economics of Enterprise*, pp. 22-23.

सेवाओं को क्रय करते समय जिस मुद्रा को वस्तुओं तथा सेवाओं के भुगतान के रूप में देते हैं वह मुद्रा सर्वप्रथम फुटकर विक्रेताओं को प्राप्त होती है तथा तत्पश्चात् थोक विक्रेताओं व विनिर्माताओं को प्राप्त होती हुई पुनः उपभोक्ताओं को, जो अर्थव्यवस्था में विभिन्न उत्पादन साधनों के रूप में कार्य करते हैं, वेतन, ब्याज, लगान तथा लाभ के रूप में प्राप्त होती है। यद्यपि गतिक्रम में इस मुद्रा का कुछ भाग सरकार को करों के रूप में प्राप्त होने के परिणामस्वरूप चक्राकार गति के घेरे से बाहर आ सकता है परन्तु अधिकांश भाग चक्राकार गति का अंग बना रहकर समाज में आर्थिक क्रियाओं के क्रम के द्वारा निरन्तर चक्कर लगाता रहता है। सरकार को भी जो भाग करों तथा वाणिज्य लाभ के रूप में प्राप्त होता है, वह प्रशासन, प्रतिरक्षा तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों पर किये गये खर्च के रूप में चक्राकार गति में पुनः सम्मिलित हो जाता है। मुद्रा की इस चक्राकार गति का सन्तुलन में रहना अर्थव्यवस्था की स्थिरता के लिए अनिवार्य है। ज्योंही द्रव्य की इस गति में कोई बाधा उत्पन्न हो जाती है त्योंही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। उदाहरणार्थ, 'तीसा' की महान् मन्दी में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा तथा पूँजी बाजार अस्त-व्यस्त हो जाने से संसार के देशों में आर्थिक संकट—बेरोजगारी, अत्युत्पादन तथा गरीबी—विद्यमान हो जाने के परिणामस्वरूप इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं तथा आर्थिक समृद्धि को भारी क्षय पहुँचा था। इसी प्रकार युद्ध-पश्चात् काल में मुद्रा की चक्राकार गति में वृद्धि होने के परिणाम स्वरूप यूरोप के देशों में अतिस्फीति की घटना उत्पन्न हो गई थी। मुद्रा स्फीति के कारण जर्मनी तथा इटली में हिटलर तथा मुसोलिनी की तानाशाही का श्रीगणेश हुआ था।

परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ घटनाएँ इस प्रकार की भी होती हैं जिनका मुद्रा की चक्राकार गति में उच्चापचनों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है तथा जिनके कारण अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो सकती है। उदाहणार्थ, मुद्रा की चक्राकार गति सन्तुलन में रहते हुए भी बाढ़ आ जाने, अकाल पड़ने तथा भूकम्प के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था असन्तुलित हो जाती है।

यह जानने के लिए कि द्रव्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा की चक्राकार गति ऊँचे जीवन स्तर को प्राप्त करने में किस प्रकार सहायक होती है, हमको यह सत्य ज्ञात होनी चाहिए कि अर्थव्यवस्था में हम सब का दोहरा महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता के रूप में वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग उत्पन्न करता है तथा उत्पादन साधन के रूप में कार्य करके वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में योगदान देकर वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति उत्पन्न करता है। चित्र २·१ की सहायता से अर्थव्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के दोहरे महत्त्व को समझाया जा सकता है।

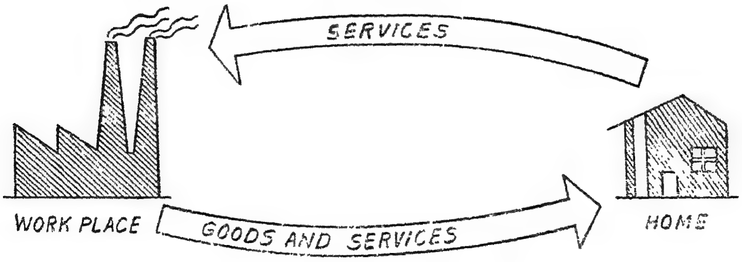

चित्र २·१

परन्तु प्रश्न यह है कि मुद्रा किस प्रकार अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन तथा उपभोग में सहायता करती है ? इस सम्बन्ध में हमको दो बातें याद रखनी चाहिए। प्रथम, हम सभी उपभोक्ता हैं। हम सभी खाना खाते हैं, जूते पहनते हैं, वस्त्र धारण करते हैं, तथा घरों में रहते

हैं । दूसरे, हम सब उत्पादन-साधन हैं । हम सभी मिलों में, स्कूलों में, अस्पतालों में, बसों पर, खेतों मे तथा अन्य व्यवसायों में भिन्न-भिन्न रूपों में उत्पादन- सेवाएँ प्रदान करके अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करते हैं। द्रव्य-अर्थव्यवस्था में इन उत्पादन सेवाओं के बदले में उत्पादन साधनों के स्वामियों के रूप में हमको द्रव्य-आय प्राप्त होती है । इस द्रव्य आय को हम उपभोक्ताओं के रूप में उपभोग वस्तुओं को खरीदने पर खर्च करते हैं । जब व्यक्ति भुगतान प्राप्त करते हैं तथा इन भुगतानों को वस्तुएँ क्रय करने में व्यय करते हैं तो अर्थव्यवस्था में द्रव्य भुगतानों की धारा विद्यमान हो जाती है । परिणामस्वरूप चित्र २·१ चित्र २·२ का रूप धारण कर लेता है ।

चित्र २·२ से यह स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा का प्रवेश होने के परिणामस्वरूप एक लेन-देन क्रिया (transaction) दो पृथक् लेन-देन क्रियाओं का रूप धारण कर लेती है ।

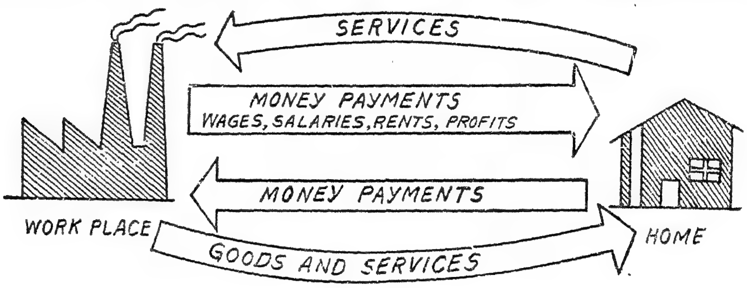

चित्र २·२

गृहस्थान (home) से उत्पादन सेवाओं की गति कार्यस्थान—मिल, खेत, स्कूल आदि—की ओर होती है । इन उत्पादन सेवाओं का मूल्य वेतन, ब्याज, लाभ तथा लगान के रूप में मुद्रा भुगतानों

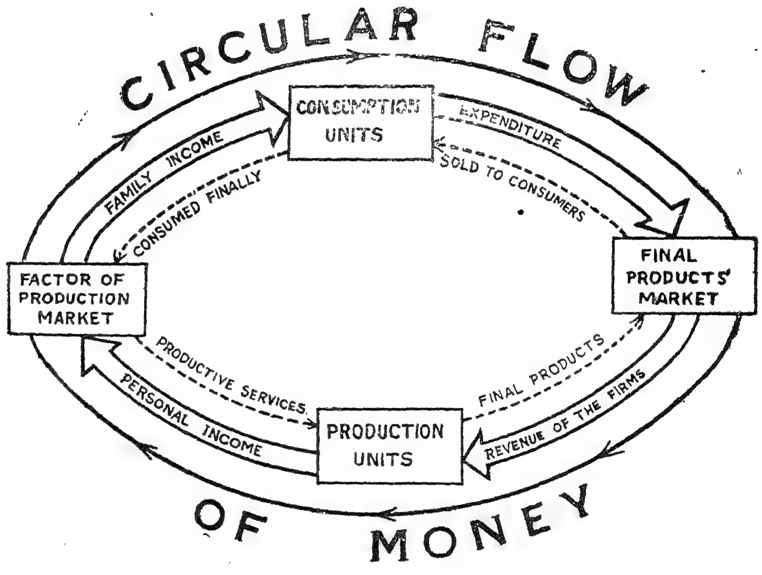

चित्र २·३

के रूप में प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की गति कार्यस्थान से घर की ओर होती है । परन्तु मुद्रा का अपना कोई महत्त्व नहीं है। वेतन, लाभ, ब्याज तथा लगान के रूप में प्राप्त हुई द्रव्य-आय

को लेकर उपभोक्ता उपभोग वस्तुओं को क्रय करने के लिए बाजार में जाते हैं तथा बाजार के माध्यम द्वारा मुद्रा में भुगतान करके उपभोग वस्तुएँ तथा सेवाएँ कार्यस्थानों से प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं की गति कार्यस्थान से घर की ओर तथा मुद्रा की गति घर से कार्यस्थान की ओर होती है।

परन्तु उत्पादक उत्पादन साधनों की सेवाओं को घर से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त न करके साधन-बाजार (factor market) के माध्यम द्वारा प्राप्त करते हैं। उपभोक्ता भी उत्पादकों द्वारा विनिर्मित वस्तुओं को उत्पादकों से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त न करके वस्तु-बाजार (commodity market) के माध्यम द्वारा प्राप्त करते हैं। इस कारण अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के चक्र के सम्बन्ध में पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए चित्र में उत्पादन साधनों तथा उत्पादकों के मध्य साधन बाजारों तथा उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के मध्य वस्तु बाजारों को दिखलाना चाहिए। ऐसा करने से चित्र २·२ में कोई मूल परिवर्तन नहीं होता है यद्यपि चित्र २·२ चित्र २·३ के समान हो जाता है।

चित्र २·२ तथा चित्र २·३ से स्पष्ट है कि द्रव्य अर्थव्यवस्था में दो विपरीत दिशाओं में कभी समाप्त न होने वाली लगातार धाराएँ विद्यमान रहती हैं। इनमें एक धारा उन वस्तुओं तथा सेवाओं की होती है जो अर्थव्यवस्था में लोगों की उत्पादन क्रियाओं का परिणाम है तथा दूसरी धारा उन मुद्रा-भुगतानों की होती है जिनका आरम्भ उस समय होता है जब उत्पादन साधनों को उनके श्रम का पारिश्रमिक दिया जाता है। मिल मजदूर को मिल में काम करने का द्रव्य-वेतन दिया जाता है तथा वह इससे वस्तु बाजार में जाकर अनाज, कपड़ा तथा अन्य उपभोग वस्तुएँ खरीदता है। दुकानदार इस मुद्रा को फैक्ट्री को देकर वहाँ से उपभोक्ताओं को बेचने के लिए वस्तुएँ खरीदता है।

अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता के लिए इन दोनों विपरीत दिशाई धाराओं का समान होना आवश्यक है। जब दोनों धाराएँ परस्पर समान होती हैं तब अर्थव्यवस्था में कीमत-स्थिरता होती है। परिणामस्वरूप आय तथा उत्पादन भी स्थिर होते हैं। यदि मुद्रा प्रवाह में वृद्धि हो जाती है तथा वस्तुओं व सेवाओं के प्रवाह में वृद्धि नहीं होती है अथवा मुद्रा के प्रवाह में हुई वृद्धि की तुलना में यह वृद्धि कम होती है तब अर्थव्यवस्था में स्फीति उत्पन्न हो जाती है। अर्थव्यवस्था ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाती है जिसमें अत्यधिक मुद्रा तथा बहुत कम वस्तुओं का अनुभव करना पड़ता है। इसके विपरीत यदि मुद्रा के प्रवाह में कमी हो जाती है तो अर्थव्यवस्था में अवस्फिति तथा इससे उत्पन्न होने वाले रोग—कीमतों में गिरावट, अत्युत्पान तथा बेरोजगारी—विद्यमान हो जाते हैं। अर्थव्यवस्था को स्फीति तथा अवस्फीति से मुक्त रखने के लिए मुद्रा तथा वस्तुओं की विपरीत दिशाई धाराओं की गति सन्तुलन में रहनी चाहिये। इसके लिए अर्थव्यवस्था में मुद्रा केवल पर्याप्त मात्रा में संचलनशील होनी चाहिए।

जब तक अर्थव्यवस्था में मुद्रा की धारा की गति अस्तव्यस्त नहीं होती है तब तक आर्थिक क्रियाओं—उत्पादन तथा उपभोग—का क्रम भी सुचारु रूप में चलता रहता है। परन्तु जैसे ही मुद्रा की चक्राकार गति में विघ्न पड़ जाता है, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। मुद्रा की गति में पड़ने वाला विघ्न दो रूप धारण कर सकता है—या तो गति का आकार आवश्यक से कम अथवा आवश्यक से अधिक हो सकता है। जब अर्थव्यवस्था में बैंकों द्वारा साख-मुद्रा नष्ट करने अथवा लोगों की बचत प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप मुद्रा की चक्राकार गति का आकार कम हो जाता है, तब अर्थव्यवस्था मन्दी का शिकार हो जाती है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा

की मात्रा तथा लोगों की आय स्थिर रहते हुए, यदि उपभोक्ता अधिक बचत करने लग जाते हैं तो उनके ऐसा करने से अर्थव्यवस्था में कुल व्यय में कमी हो जाने से कुल समर्थ माँग कम हो जाती है तथा उत्पादन साधनों की द्रव्य आय तथा रोजगार के स्तर में कमी हो जाती है। यह चित्र २·४ द्वारा स्पष्ट है।

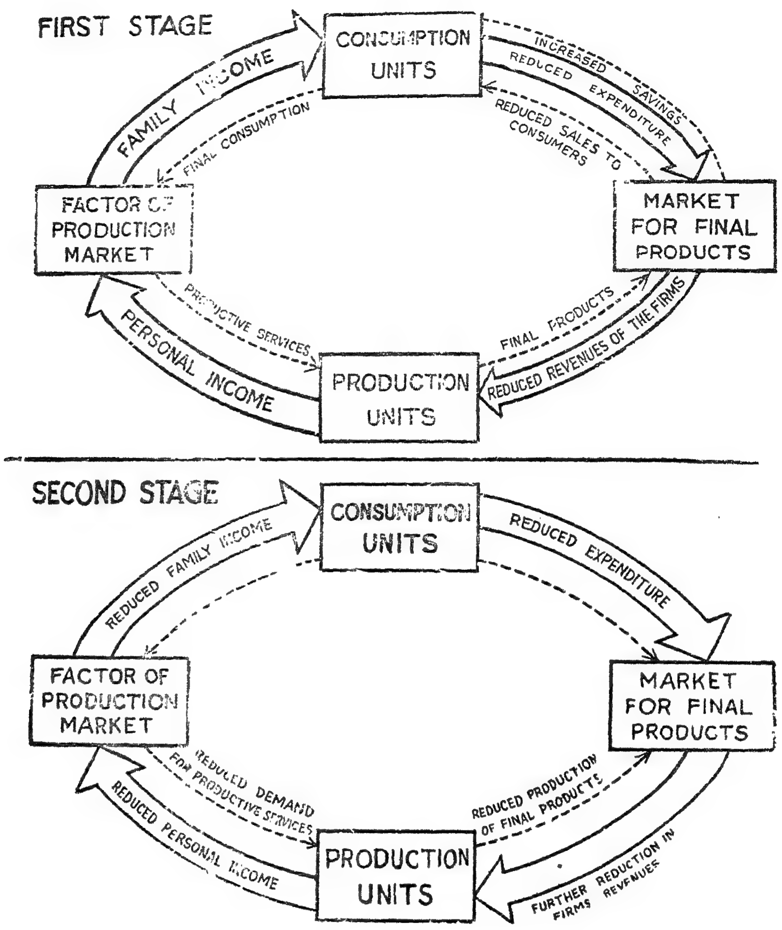

चित्र २·४

चित्र २·४ से यह स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में लोगों द्वारा अधिक बचत किये जाने के कारण उत्पादकों की आय में कमी हो जाने से अर्थव्यवस्था में मुद्रा की चक्राकार गति के आकार में विघ्न पड़ जाता है। उपभोक्ताओं द्वारा वस्तुओं पर अपनी कम आय व्यय करने के कारण अर्थव्यवस्था में कुल समर्थ माँग कम हो जाती है। परिणामस्वरूप उत्पादन साधनों की माँग कम हो जाती है तथा रोजगार और व्यक्तिगत आयों में भी कमी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था में संचयी अवस्फीतिप्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अर्थव्यवस्था में स्फीति उस समय विद्यमान होती है जब लोग अपनी वर्तमान आयों की तुलना में अधिक व्यय करने लगते हैं। उनके ऐसा करने के कारण मुद्रा की गति के आकार में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में रोजगार, आयों तथा कीमतों में वृद्धि होती है। कुछ समय पश्चात् अर्थव्यवस्था में संचयी स्फीति प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

मन्दीकाल में जब अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है तब स्थिति में सुधार करने के हेतु केन्द्रीय बैंक मौद्रिक नीति के अस्त्रों का प्रयोग करती है। साख-मुद्रा निर्माण तथा बैंक दर में कमी करके अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को समाप्त करने के उद्देश्य से निवेश को प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा-वृद्धि मन्दी काल में अर्थव्यवस्था को मन्दी की दलदल से बाहर निकालने में सहायक सिद्ध होती है। अमरीका के स्वर्गीय राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डेलानो रूजवेल्ट की नवीन आर्थिक नीति (New Deal Policy) जिसका प्रयोग तीसा की महान् मन्दी के काल में किया गया था तथा फ्रान्स में किया गया ब्लम प्रयोग (Blum Experiment) इस बात के प्रमाण हैं कि आर्थिक प्रणाली का कुशल प्रबन्धन तथा नियंत्रण करने में मुद्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सन्तुलन की समस्या

उपर्युक्त विवेचनों में यह स्पष्ट किया गया है कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की दो धाराएँ विपरीत दिशाओं में बहती रहती हैं। इन दोनों धाराओं के बहाव को सन्तुलन में रखना एक अति कठिन कार्य है। अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं में निरन्तर परिमाणात्मक तथा गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं। लगभग वह सारी ऊन जिसका वर्ष भर में उत्पादन होता है एक ही समय पर भेड़ों से प्राप्त की जाती है। परन्तु इस ऊन से बना कपड़ा सम्पूर्ण वर्ष भर तक बेचा जाता है। इसी प्रकार यद्यपि ऊनी कपड़े का विनिर्माण सारे वर्ष होता रहता है परन्तु इस ऊनी कपड़े की बिक्री केवल जाड़े के समय में होती है। इन मौसमी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की धाराओं के बहावों का सन्तुलन भंग हो जाता है। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में कुछ दीर्घकालीन परिवर्तन भी होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ वर्ष पूर्व स्कूटर का किसी ने नाम भी नहीं सुना था। परन्तु आज स्कूटरों के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होते हुए भी निरन्तर बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करना कठिन है। परिणामस्वरूप स्कूटर काले बाजार में इस की निर्धारित कीमत से लगभग दुगनी कीमत पर बिकता है। इसके अतिरिक्त बाढ़, अकाल तथा लड़ाई के समान कुछ ऐसे परिवर्तन भी होते हैं जिनका अनुमान करना कठिन होता है। उदाहरणार्थ, घटना घटने के पूर्व यह कौन सोच सकता था कि १९६२ ई० में चीन भारत पर आक्रमण करेगा। आक्रमण के तत्काल पूर्व देश में हिन्दी-चीनी भाई-भाई का नारा लगाना समय के अनुकूल था। युद्ध के फलस्वरूप उत्पादन में काफी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, इस्पात के द्वारा कारों का विनिर्माण करने के स्थान पर युद्ध-काल में टैंकों, तोपों तथा युद्ध में काम आने वाले फौजी ट्रकों का विनिर्माण होने लगता है।

उपर्युक्त संभावनाओं के अतिरिक्ति मुक्त अर्थव्यवस्था में उपभोक्ताओं को अपनी आय को स्वाधीनता से व्यय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। उपभोक्ता चाहें तो अपनी आय द्वारा मर्फी रेडियो खरीद सकते हैं अथवा रेडियो न खरीद कर वे इसके स्थान पर बिजली का पंखा अथवा अन्य वस्तुएँ खरीद सकते हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ताओं को प्रभुता प्राप्त होती है तथा वे इस प्रभुता का प्रयोग बाजार के माध्यम द्वारा विभिन्न वस्तुओं को क्रय करके करते हैं। बाजार में अमुक वस्तु को खरीद कर तथा किसी अन्य वस्तु को न खरीद कर उपभोक्ता प्रथम वस्तु के उत्पादन को प्रोत्साहित तथा दूसरी वस्तु के उत्पादन को निरुत्साहित करते हैं।

उपर्युक्त कारण—प्राकृतिक तथा मनुष्यकृत आपत्तियाँ, उपभोक्ता प्रभुता, औद्योगिक परिवर्तन नई वस्तुएँ आदि—वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रवाह तथा उत्पादन-विधियों में लगातार परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाये रखने के लिए मुद्रा के चक्राकार प्रवाह में होने वाले परिवर्तनों तथा वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह में होने वाले

परिवर्तनों में समायोजन होना आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की पूर्ति में समय-समय पर इस प्रकार पर्याप्त परिवर्तन होने चाहिए कि वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग में परिवर्तन होने पर मुद्रा की पूर्ति में भी परिवर्तन हों। उत्पादन में वृद्धि होने पर संचलन में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि तथा उत्पादन में कमी होने पर मुद्रा की पूर्ति में कमी होनी चाहिए।

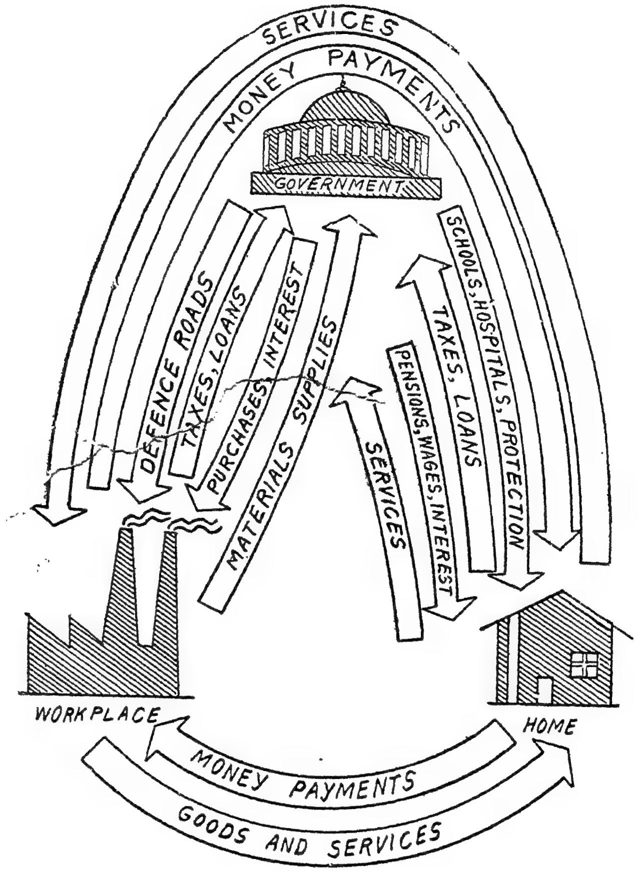

चित्र २·५

परन्तु यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब मुद्रा के बहाव के आकार पर सरकार का पर्याप्त नियन्त्रण होता है। मुद्रा के बहाव का आकार प्रथम, मुद्रा की पूर्ति पर तथा दूसरे व्यय करने की रफ्तार अर्थात् मुद्रा के वेग (velocity) पर निर्भर होता है। यदि मुद्रा की पूर्ति एक करोड़ रुपये है तथा यदि प्रत्येक रुपया वर्ष में दस बार वेतनों का भुगतान करने, उपभोग वस्तुओं को क्रय करने करों का भुगतान करने तथा नदी घाटी योजनाओं आदि मदों पर व्यय किया जाता है, तो कुल मुद्रा भुगतानों के बहाव का आकार दस करोड़ रुपये होगा। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि इस वर्ष विशेष में दस करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुओं तथा सेवाओं का भुगतान हुआ है। अब यदि अगले वर्ष में मुद्रा की पूर्ति तीन गुनी हो जाती है तथा इसके वेग तथा वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है तो तीस करोड़

रुपये का व्यय कीमतों के तीन गुना होने पर ही सम्भव हो सकता है। कीमतों को स्थिर रखने के लिए मुद्रा की पूर्ति तथा खर्च करने की गति पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

सरकार गतियों को किस प्रकार प्रभावित करती है ?

अब तक हमने अपने विश्लेषण से सरकार को पृथक् रखा है तथा अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित उपर्युक्त चित्रों में विपरीत दिशाओं में गतिमान दोनों धाराएँ घर तथा कार्यस्थान के मध्य गतिमान हैं। परन्तु अर्थव्यवस्था का इस प्रकार चित्रण करना अवास्तविक है। चित्र को वास्तविक अर्थव्यवस्था के समीप लाने के लिए चित्र में सरकार का सम्मिलित होना आवश्यक है। केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारें अपनी आर्थिक नीतियों द्वारा अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा उपभोग पर बहुत गहरा प्रभाव डालती हैं। सरकार अपनी राजकोषीय तथा मौद्रिक नीतियों के द्वारा अर्थव्यवस्था में मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की गतियों के आकार तथा दिशा पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती है। सरकार अर्थव्यवस्था में स्कूलों तथा अस्पतालों का निर्माण तथा प्रबन्धन करती है, सड़कें तथा पुल बनवाती है, हवाई जहाज खरीदती है, नदी-घाटी योजनाएँ बनाती है तथा अन्य प्रकार के अनेक कल्याणकारी कार्य करती है। इन कार्यों को करने के हेतु मुद्रा की कुछ मात्रा की गति करों के भुगतानों के रूप में जनता की ओर से हट कर राजकोष की ओर हो जाती है। जब सरकार करों द्वारा प्राप्त हुई आय को सड़कों तथा स्कूलों के निर्माण, प्रशासन कार्य तथा न्याय प्रशासन, स्वासथ्य, प्रतिरक्षा तथा आर्थिक विकास सम्बन्धी अन्य कार्यों पर व्यय करती है तब मुद्रा की गति सरकार की ओर से हट कर जनता की ओर ऋणदाताओं को ब्याज, श्रमिकों, कर्मचारियों, प्रशासकों को मजदूरी तथा वेतनों, सड़कों तथा नदी-घाटी योजनाओं को बनाने वाले ठेकेदारों को भुगतानों, यातायात नियन्त्रण करने वाले निरीक्षक तथा चौराहे पर खड़े पुलिस के सिपाही को वेतनों आदि के रूप में हो जाती है। चित्र २·५ के अध्ययन द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि सरकार के प्रवेश करने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की गतियों पर कितना तथा किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है।

सरकारी आय तथा व्यय और इनमें होने वाले परिवर्तनों का अर्थव्यवस्था में होने वाले द्रव्य भुगतानों की गति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जब सरकार करों तथा अन्य व्यवसायों द्वारा प्राप्त आय की तुलना में अधिक व्यय करती है तब अर्थव्यवस्था में मुद्रा की गति के आकार में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत अपने व्यय में कटौती करके सरकार मुद्रा की गति में कमी करती है। अपनी आय तथा अपने व्यय में समय-समय पर परिवर्तन करके सरकार अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाये रखने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। स्फीति काल में वेशी का बजट तथा अवस्फीति काल में घाटे का बजट बनाकर सरकार अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाये रखने का प्रयास करती है।

समाज़वादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मुद्रा में महत्त्व के अतिरिक्त समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी इसका काफी महत्त्व है यद्यपि कुछ ऐसे लेखक हैं जिनके विचारानुसार समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का कोई स्थान नहीं है। इन लेखकों का कहना है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मुद्रा के बिना कार्यशील हो सकती है और उसके दोषों से बची रह सकती है। परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। यह कहना कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का परित्याग किया जा सकता है असत्य है। साम्यवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स मुद्रा के विरोधी थे। उनके विचारानुसार मुद्रा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में श्रमिकों के शोषण का प्रमुख कारण थी। मार्क्स समाजवाद में मुद्रा को

कोई स्थान देने के पक्ष में नहीं थे। वे एक ऐसे आदर्श भविष्य संसार की कल्पना करते थे जिसमें साम्यवाद में मुद्रा का अन्त होकर वस्तु का विनिमय सम्भव हो सकेगा।

मार्क्स की विचारधारा में विश्वास करते हुए बॉल्शेविकों ने रूस में इस विचार को कार्यान्वित करने का प्रयास किया था। क्रान्तिकारी सरकार ने प्रत्यक्ष नियन्त्रण तथा वस्तुओं के अनियंत्रित वितरण द्वारा मार्क्स की उस आदर्श अर्थव्यवस्था को, जिसमें मुद्रा को कोई स्थान प्राप्त नहीं था, व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया था। परन्तु इसमें सरकार को असफलता प्राप्त हुई। अक्तूबर १९२१ ई० में लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया था कि "बॉल्शेविकों का यह विचार उनके जीवन की महान् भूल थी कि समाजवादी गणना तथा नियन्त्रण की अवधि के बिना साम्यवाद का आगमन हो सकता है।" समाजवादी नियोजन में मुद्रा की अनिवार्यता को ट्रॉस्टकी (L. D. Trotsky) ने स्वीकार करते हुए लिखा है कि "सरकारी कार्यालयों द्वारा बनाई गई योजनाओं की आर्थिक उपयुक्तता वाणिज्य गणनाओं के आधार पर ही आँकी जा सकती है और बिना ठोस मौद्रिक इकाई के वाणिज्य गणना करने से गड़बड़ उत्पन्न होने के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं हो सकता है।"[17] उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि लेनिन तथा ट्रॉटस्की जैसे महान् साम्यवादी अर्थव्यवस्था के लिये मुद्रा को आवश्यक समझते थे।

कुछ विचारकों का यह तर्क है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा एक व्यर्थ तथा अनावश्यक वस्तु हो जाती है। प्रोफेसर लर्नर (A. P. Lerner) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था को मुद्रा के बिना संचालित नहीं किया जा सकता है। उनके विचार में किसी भी प्रकार की पेचीदा अर्थव्यवस्था के लिए कीमत प्रणाली (Pricing mechanism) के बिना समुचित कुशलता सहित कार्य करना असम्भव है।"[18] जार्ज हॉम (George N. Halm) ने समाजवादी अर्थ व्यवस्था में मुद्रा की आवश्यकता का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि "यदि उत्पादन के लक्ष्य तानाशाह के द्वारा निर्धारित किये जाएँ तो भी इन लक्ष्यों के अनुसार विभिन्न उपयोगों में आर्थिक साधनों का सही प्रकार विभाजन कीमत-प्रणाली के द्वारा ही संभव होगा क्योंकि कीमत प्रणाली द्वारा रोजगार के विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध साधनों की उपयोगिता की तुलना करना सम्भव है।"[19]

इस मौलिक सत्य का कि मुद्रा का समाजवादी अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है, स्वयं रूस के उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण किया जा सकता है। वर्तमान रूस में यद्यपि वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण है परन्तु ऐसा होते हुए भी रूस में मुद्रा हिसाब की इकाई तथा विनिमय माध्यम के दो महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। राष्ट्रीय उत्पादन तथा आय को द्रव्य-इकाइयों में आँका जाता है। श्रमिकों तथा अन्य कार्यकर्ताओं को वेतन तथा पारितोषिक रूबल में दिये जाते हैं। बाजारों में वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी मुद्रा द्वारा होता है। यद्यपि रूसी

---

17. "The blueprints produced by offices must demonstrate their economic expediency through commercial calculation. Without a firm monetary unit commercial accounting can only increase the chas" (L. D. Trotsky : *Soviet Economy in Danger*, p. 20.)

18. "It is impossible for an economic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency without a pricing mechanism." (A. P. Lerner : *Economic Theory and Socialist Economy*, *Review of Economic Studies*, Vol. 2, p. 55.)

19. "Even if the aims of production should be determined by a dictator, the allocation of resources according to these aims would have to be the result of the working of a pricing process by means of which it is possible to compare the usefulness of the available resources in different fields of employment," (George N. Halm : *Monetary Theory* (2nd Edition), p. 13.)

आर्थिक योजनाएँ वास्तविक उत्पादन के लक्ष्यों के रूप में तैयार की जाती हैं परन्तु प्रत्येक योजना का वित्तीय प्रतिरूप भी तैयार किया जाता है। संक्षेप में, यद्यपि रूस में आर्थिक साधनों का उपयोग कीमत प्रणाली के द्वारा निर्धारित नहीं होता है परन्तु रूसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा विनिमय माध्यम तथा मूल्य मापक के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। प्रसिद्ध साम्यवादी अर्थशास्त्री ओस्कार लाँगे (Oskar Lange) के विचारानुसार भी समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा पर आधारित कीमत प्रणाली का आर्थिक क्रियाओं का नियमन करने में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व है। यदि इस सत्य के कुछ अपवाद मिलते हैं तो उनका कुछ महत्त्व नहीं समझना चाहिये। अलग रह कर छोटे-छोटे समाज मुद्रा के बिना काम चला सकते हैं और सम्भवतः वस्तु-विनिमय उनके लिये पर्याप्त प्रमाणित हो सकता है। हम एक ऐसी आधुनिक अर्थव्यवस्था की भी कल्पना कर सकते हैं जो इतनी पूर्णतया नियोजित की गई है कि मुद्रा के प्रयोग की इसमें आवश्यकता नहीं रहती है। परन्तु प्रारम्भिक-समय की पिछड़ी हुई और दूरस्थ भविष्य की अतिउन्नत अमौद्रिक अर्थव्यवस्थाओं के मध्य हम ऐसे समाज पाते हैं जिनमें अनेक भिन्नताएँ होते हुए भी मौद्रिक प्रणाली विद्यमान है। बदलते हुए विश्व में मुद्रा प्रणाली का सुचारु रूप से चलते रहना इस बात का सूचक है कि मुद्रा का समाज के लिए बहुत महत्त्व है, भले ही समाज की अर्थव्यवस्था का संगठन समाजवादी आधार पर किया गया हो अथवा पूँजीवादी पर किया गया हो। यद्यपि समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का उतना अधिक महत्त्व नहीं होता है जितना कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में होता है परन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की उपयोगी संस्था को समाप्त करना सम्भव नहीं है।

मुद्रा के दोष तथा नियन्त्रण की आवश्यकता

मुद्रा के महत्त्व के उपर्युक्त बिवेचन में चित्र के केवल एक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। अतः हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इसका एक अन्य पहलू भी है। कुछ लोगों के विचार में मुद्रा के दोष इतने गम्भीर हैं कि मुद्रा के लाभों का प्रभाव समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, हमारी वर्तमान आर्थिक प्रणाली में जो भीषण आर्थिक असमानताएँ पाई जाती हैं उनके लिये मुद्रा उत्तरदायी है। वर्तमान आर्थिक असमानताएँ मुद्रा का अभिशाप हैं। मुद्रा के स्वामी को अन्य परिसम्पत्ति स्वामियों की तुलना में एक विशेष लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि मुद्रा सामान्य माँग की वस्तु है। जबकि अन्य सभी वस्तुओं का बाजार स्थानीय होता है मुद्रा का बाजार विश्वव्यापी है। मुद्रा के स्वामी को समाज में एक विशेष औद्योगिक एवं आर्थिक शक्ति प्राप्त हो जाती है जिसका प्रयोग वह समाज के दुर्बल व्यक्तियों का शोषण करने में करता है।

मुद्रा की एक गम्भीर हानि यह है कि मुद्रा के मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण आय के वितरण में विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। स्फीति तथा अवस्फीति अर्थव्यवस्था में वास्तविक साधनों और आय के वितरण को अस्तव्यस्त कर देती हैं। स्फीति के दिनों में व्यापारियों के पास अत्यधिक धन संकेन्द्रित हो जाता है और मध्यम तथा निम्न वर्गों के लोगों को अनेक आर्थिक कठिनाईयाँ सहन करनी पड़ती हैं। अवस्फीति के दिनों में स्थिर आय वाले वर्ग के सदस्यों को लाभ रहता है जबकि व्यापारियों को हानि होती है तथा मजदूरों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है।

यदि हम युद्धकालीन अवधि में मुद्रा के इतिहास का अध्ययन करें तो हमको इसका कारण ज्ञात होगा कि आधुनिक मनुष्य मुद्रा से इतना भयभीत क्यों है। प्रथम महायुद्ध समाप्त होते ही यूरोप के देशों को इतनी अधिक भयानक अतिस्फीति का अनुभव हुआ था कि आज हम

उसकी याद मात्र से भयभीत हो जाते हैं। स्फीति के कारण इन देशों की मुद्रा इकाइयों का मूल्य घट कर उसके युद्ध-पूर्व मूल्य का बहुत कम प्रतिशत हो गया था। उदाहरणर्थ, जर्मनी में एक मिलियन मार्क के नोट का मूल्य उस कागज के मूल्य के बराबर भी नहीं रहा था जिस पर वह छापा गया था। उन सभी व्यक्तियों को, जिन्होंने अपने जीवन की कमाई को बीमा और स्थिर-व्याज वाले ऋणपत्रों में संचित कर रखा था, हानि उठानी पड़ी थी और वे बरबाद हो गये थे। मुद्रा का वास्तविक मूल्य प्रतिक्षण इतनी अधिक तीव्रता से गिर रहा था कि मिलों में काम करने वाले श्रमिकों को दिन में तीन बार वेतन बाँटा जाता था तथा चाय की दुकानों पर चाय का प्याला पीकर समाप्त करने के पूर्व दूसरे चाय के प्याले के मूल्य में वृद्धि हो जाती थी।

इसी प्रकार १९२९ ई० में सम्पूर्ण संसार मन्दी के उबलते हुए कढ़ाव में डूब गया था। मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगा था और प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी सम्पत्ति को मुद्रा के रूप में संचित रखने का प्रयास किया था। जिस प्रकार मिट्टी हटाने वाला यन्त्र जिधर मुड़ता है उधर ही भूमि को साफ कर देता है उसी प्रकार व्यापक बेरोजगारी फैलने के कारण चारों ओर आर्थिक कठिनाइयों का अनुभव होने लगा था। समाज में लोग किसी भी मूल्य पर काम करने को तैयार थे परन्तु उनको काम प्राप्त नहीं था। मुद्रा की तुलना एक ऐसे अंधे से की जा सकती है जो समाज में धन का मनमाने ढंग से पुर्नवितरण कर देता है। मुद्रा के मूल्य में दीर्घकालीन अस्थिरता का बुरा प्रभाव धन के वितरण के अतिरिक्त वास्तविक धन के उत्पादन पर भी पड़ता है, क्योंकि इससे अनुबन्धों और व्यापारिक गणनाओं का आधार नष्ट हो जाने की आशंका रहती है औरअर्थव्यवस्था में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न होने से व्यापारी तथा उद्योगपति संकोची एवं भयभीत हो जाते हैं। मुद्रा के कारण आज समाज दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया है। एक ओर अल्प-संख्या में ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास धन की प्रचुरता है और दूसरी ओर करोड़ों ऐसे व्यक्ति हैं जो दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते हैं। इस विषमता के कारण दोनों वर्गों में परस्पर असंतोष और निरन्तर संघर्ष बना रहता है, जिससे देश की आर्थिक प्रगति में बाधा पड़ती है।

गत सौ वर्षों का आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुद्रा समाज में मनमाने ढंग से कार्य करती है तथा समाज को इसके कारण अनेक कठिताइयों का सामना करना पड़ता है। १९वीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैत्तिक लेखक वाल्टर बेजहॉट[२०] (Walter Bagehot) के विचारानुसार मुद्रा पर निययंत्रण रखना अनिवार्य है क्योंकि यह स्वयं अपना प्रबन्धन नहीं कर सकती है। पुराने समय में जब स्वर्ण तथा रजत के सिक्कों का प्रयोग होता था, मुद्रा की पूर्ति में व्यापार की आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं होते थे। व्यापार तथा उद्योग स्वर्ण तथा रजत के उत्पादन में निरन्तर होते रहने वाले उच्चावचनों के फलस्वरूप अस्त-व्यस्त रहते थे। नई खानों की खोज होने तथा

---

20. **वाल्टर बेजहॉट (१८२६-१८७७) एक प्रसिद्ध बैंकर थे।** उनके पिता बैंक के उपाध्यक्ष थे। यद्यपि अर्थशास्त्र के विद्यार्थी १८७३ ई०में प्रकाशित उनकी *Lombard Street* शीर्षक पुस्तक से परिचित हैं परन्तु उन्होंने राजनीतिक तथा साहित्यिक विषयों पर भी काफी लिखा था। वे काफी समय तक प्रसिद्ध अँग्रेजी साप्ताहिक पत्रिका *Economist* के सम्पादक रहे थे। *Lombard Street* अंग्रेजी बैंकिग प्रणाली के आरम्भ तथा विकास की रोचक तथा विश्लेषणात्मक व्याख्या है। बेजहॉट ने सर्वप्रथम अन्तिम ऋणदाता के रूप में वाणिज्य बैंकों को संकट काल में ऋण न देने के लिये बैंक आफ इंगलैड की कड़ी आलोचना की थी। उनके अन्य लेखनकार्यों में निम्नलिखित पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

International Coinage (1869); Physics and Politics (1872); Depreciation of Silver 1877); तथा Economic Studies (1880).

पुरानी खानों की समाप्ति के फलस्वरूप स्वर्ण तथा रजत के वार्षिक उत्पादन में भारी उच्चावचन परिवर्तन होते रहने के कारण अर्थव्यवस्था अस्थिर रहती थी ।

मुद्रा ने हमारा ध्यान लक्ष्यों से हटाकर साधनों पर केन्द्रित कर दिया है । प्राचीन नैतिक विचारों का स्थान मुद्रा प्राप्ति की तृष्णा ने ले लिया है । सभी लोग मुद्रा को प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं । जीवन के लक्ष्य क्या हैं तथा क्या होने चाहिएँ ? इस ओर कोई भी ध्यान नहीं देता है । यद्यपि निःसन्देह मुद्रा ने हमारे भौतिक कल्याण में वृद्धि की है परन्तु जहाँ तक हमारे समुचित सुख और शान्ति का प्रश्न है, उसमें इसने कमी की है क्योंकि अभौतिक कल्याण को प्राप्त करने के लिये अब पहले के समान प्रयास नहीं किया जाता है । सम्भवतः हमारे पूर्वज हमसे अधिक सुखी थे यद्यपि उनको जीवन में इतनी अधिक भौतिक सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं जितनी कि आज हमें प्राप्त हैं । इसका क्या कारण है ? इसका यह कारण है कि हमारे पूर्वज मुद्रा को अपने जीवन में इतना अधिक महत्त्व नहीं देते थे जितना हम आज देते हैं। प्राचीन समय में नैतिकता को मुद्रा की तराजू में नहीं तोला जाता था । पुराने समय में जीवन में आत्मा सम्बन्धी मूल्य का आज की तुलना में बहुत अधिक महत्त्व था । अतः रौबर्टसन का यह कथन सत्य है कि "मुद्रा जो मानवजाति के लिये अनेक लाभों का स्रोत है, यदि इस पर नियन्त्रण न रखा जाए तो संकट का कारण बन सकती है । "[21] यदि हम मुद्रा को अपना सेवक मानें और इसे अपना स्वामी न समझें तो इसका समाज की भलाई में उपयोग किया जा सकता है ।

अध्ययन सूची

1.	George N. Halm	: Monetary Theory (2nd ed.), Chapter I.
2.	D. H. Robertson	: Money, Chapter I.
3.	Steiner & Shapiro	: Money and Banking (3rd ed.), Chapter I.
4.	Alfred Marshall	: Money, Credit and Commerce, Book I,
5.	W. A. L. Coulborn	: An Introduction to Money, Chapters I-III
6.	George N. Halm	: Economics of Money and Banking, Chapters I and II.
7.	L. V. Chandler	: Economics Money and Banking (1994).
8.	R. P. Kent	: Money and Banking (4th ed.), Chapter 1.

प्रश्न

1. "Money, which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion." Comment.
2. "Money itself creates nothing ; it is a lubricant of real economic processes of production and distribution of goods and services and a means of attaining social justice." Discuss.
3. "Money is the basis of the pricing process by means of which the economy is guided." Explain fully, pointing out the role of money in the economy.
4. What is the role of money in a socialist system ? How is it different in a capitalist system and why ?

---

21. "Money which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion." (D. H. Robertson : *Money*, p. 16.)

३

मुद्रा के प्रकार तथा कार्य
(Kinds and Functions of Money)

मुद्रा समाज में भिन्न रूपों में प्रचलित रही है। मुद्रा के विकास के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आरम्भ में जानवरों के रोवें, खालें, मछली के काँटें, कोढ़ी, चिड़ियाओं के पंख, जानवरों के जबड़े इत्यादि पदार्थ-मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाते थे। वास्तव में ये सब पदार्थ-मुद्रा (commodity money) के प्रारम्भ होने के प्रतीक थे। तत्पश्चात् पदार्थ-मुद्रा के रूप में परिवर्तन हुआ था। परन्तु समय बीतने पर इसका स्थान धातु मुद्रा को प्राप्त हो गया था। तत्पश्चात् धातु मुद्रा का प्रयोग उसकी कुछ मौलिक असुविधाओं के कारण धीरे-धीरे कम होता गया और इसके स्थान पर कागजी मुद्रा तथा साख-मुद्रा का चलन बढ़ता गया। संसार के विभिन्न देशों में इतने भिन्न प्रकार की मुद्रा प्रणालियाँ चलन में रही हैं कि इन की व्याख्या यहाँ करना असम्भव है।

अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा का वर्गीकरण भिन्न प्रकार से किया है। जॉन मेनार्ड कीन्स ने अपनी पुस्तक *A Treatise On Money* में हिसाब की मुद्रा (Money of Account) तथा वास्तविक मुद्रा (Money Proper) में भेद किया है। कीन्स के अनुसार हिसाब की मुद्रा "वह मुद्रा है जिसके रूप में ऋण, वस्तुओं का मूल्य और सामान्य क्रय-शक्ति व्यक्त की जाती है।"[1] वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा में अन्तर स्पष्ट करते हुए कीन्स से लिखा है कि "हिसाब की मुद्रा एक व्याख्या है और वास्तविक मुद्रा वह वस्तु है जो इस व्याख्या को स्पष्ट करती है।"[2] हिसाब की मुद्रा तथा वास्तविक मुद्रा के मध्य अन्तर को हिसाब की मुद्रा की तुलना भारत के राष्ट्रपति तथा वास्तविक मुद्रा की तुलना वर्तमान राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि से करके व्यक्त किया जा सकता है। उस वस्तु में, जो वास्तविक मुद्रा होती है, समय-समय पर परिवर्तन हो सकता है। परन्तु हिसाब की मुद्रा में साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं होता है। उदाहरणार्थ, भारत में हिसाब की मुद्रा दीर्घ

---

1. Money of account is "that in which Debts and Prices and General Purchasing Power are expressed." (J. M. Keynes : *A Treatise on Money* Vol I. p. 3.)
2. "The money of account is the *description* or *titile* and the money is the *thing* which answers to the description." *op. cit.*, p. 4.)

समय से रुपया रही है तथा उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। परन्तु वास्तविक मुद्रा अर्थात् उस वस्तु में जो रुपये के साकार रूप का प्रतीक रही है, परिवर्तन होते रहे हैं। आज भारतीय रुपया कागज का साधारण नोट है जबकि युद्ध-पूर्व काल में यह शुद्ध चाँदी का सिक्का था।

यद्यपि साधारणत: हिसाब की मुद्रा तथा वास्तविक मुद्रा समान होती हैं परन्तु असाधारण परिस्थिति में ये भिन्न हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, युद्धकालीन तथा युद्ध पश्चात् अतिस्फीति काल में जर्मनी में मार्क वास्तिविक मुद्रा था। परन्तु इसके मूल्य में निरन्तर कमी होने के कारण जनता का विश्वास इससे उठ गया था। फलस्वरूप हिसाब की मुद्रा अमरीकी डालर तथा फ्राँसीसी फ्रैंक बन गये थे, क्योंकि इनका मूल्य जर्मन मार्क की तुलना में स्थिर था। जर्मनी में दीर्घकालीन ऋण संविदाओं में मार्क के स्थान पर डालर अथवा फ्रैंक मूलधन राशि के रूप में लिखे जाने लगे थे तथा ऋण की अवधि समाप्त होने पर ऋणी को ऋणदाता मूलधन का भुगतान डालर अथवा फ्रैंक में करने के लिये बाध्य कर सकता था। यूनान में युद्ध काल में १९४४ ई० में वहाँ की मुद्रा ड्राचमा (Drachma) अतिस्फीति के फलस्वरूप हीन मुद्रा बन गई थी। लोगों का विश्वास ड्राचमा के प्रति उठ गया था तथा पाउण्ड-स्टर्लिंग हिसाब की मुद्रा बन गया था।

वास्तविक मुद्रा वस्तु मुद्रा अथवा प्रतिनिधि मुद्रा हो सकती है। वस्तु मुद्रा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होने वाली किसी भी ऐसी वस्तु की वास्तविक इकाइयों की बनी होती है, जो समाज में मुद्रा के कार्य सम्पन्न करने के लिये सरकार द्वारा पसंद की जाती है। वस्तु मुद्रा को पूर्णकाय (Full-bodied) अथवा प्रामाणिक (Standard) मुद्रा भी कहते हैं क्योंकि इसका वास्तविक मूल्य इसके अंकित अथवा वैधानिक मूल्य के बराबर होता है। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि पूर्णकाय अथवा प्रमाणिक मुद्रा के सिक्कों को गलाकर बेचने में विक्रेता को हानि नहीं होती है। अमरीकी स्वर्ण प्रमाण पत्र (U. S. Gold Certificates) प्रतिनिधि वस्तु मुद्रा के उत्तम उदाहरण हैं।

प्रतिनिधि मुद्रा उस मुद्रा को कहते हैं जिसका महत्त्व उस प्राथमिक अथवा वास्तविक मुद्रा पर जिसका यह प्रतिनिधित्व करती है, निर्भर होता है। प्रतिनिधि मुद्रा सस्ती धातु अथवा कागज की बनी होती है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रतिनिधि मुद्रा स्वयं के कारण महत्त्वपूर्ण न होकर उस वस्तु मुद्रा के कारण महत्त्वपूर्ण होती है जिसका यह प्रतिनिधित्व करती है। साधारणतया ऐसी मुद्रा कागजी मुद्रा के रूप में संचालन में होती है। प्रतिनिधि कागजी अथवा धातु मुद्रा भी पूर्णकार्य अथवा प्रामाणिक मुद्रा के समान विचारी जाती है क्योंकि इसको पूर्णकाय मुद्रा में परिणत किया जा सकता है।

प्रतिनिधि पूर्णकाय मुद्रा (Representative Full-bodied Money) का प्रचालन उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है जिनके अनुसार पूर्णकाय मुद्रा का प्रचालन किया जाता है। प्रतिनिधि पूर्णकाय मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत स्वर्ण निधि की आड़ रहनी चाहिए। इस कारण प्रतिनिधि पूर्णकाय मुद्रा का प्रचालन करने की राज्य की अधिकतम सीमा इसकी पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण प्राप्त करने की शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। इससे अत्यधिक मुद्रा प्रचालन का भय नहीं रहता है।

मुद्रा प्रचालन करने के लिये शत-प्रतिशत स्वर्ण निधि की आड़ रखने के कारण यद्यपि प्रतिनिधि पूर्णकाय मुद्रा पूर्णकाय मुद्रा के समान महँगी होती है परन्तु इसके कुछ गुणों के कारण पूर्णकाय मुद्रा की अपेक्षा प्रतिनिधि पूर्णकाय मुद्रा को उत्तम विचारा जाता है। प्रथम, इसमें राज्य को सिक्कों की ढलाई के भारी व्यय से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। दूसरे, यदि अर्थव्यवस्था में स्वर्ण के सिक्के संचलनशील होते हैं तो घिसावट के कारण काफी स्वर्ण नष्ट हो जाता है। पूर्णकाय

प्रतिनिधि मुद्रा में कागजी मुद्रा संचलनशील होने के कारण स्वर्ण सिक्कों की घिसावट तथा कटाई के कारण स्वर्ण नष्ट नहीं होता है। तीसरे, पूर्णकाय प्रतिनिधि कागजी मुद्रा में संवहनीयता (Portability) होती है। स्वर्ण मुद्रा में इस गुण का भारी अभाव था। उदाहरणार्थ, भारी पूर्णकाय ताँबे के सिक्कों में, जो स्वीडन में १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दियों में चलनशील थे, वहनीयता का था तथा छोटे आकार के लेनदेन में भी ग्राहकों को भारी सिक्कों को साथ लेकर चलने में, भार के अभाव कारण कठिनाई होती थी। यह कठिनाई प्रतिनिधि पूर्णकाय कागजी मुद्रा के संचलनशील होने के उपरान्त दूर हो सकी थी। प्रतिनिधि पूर्णकाय कागजी मुद्रा में कुछ दोष भी हैं। प्रथम, कागजी मुद्रा आग से जल कर नष्ट हो सकती है। दूसरे, इस मुद्रा में टिकाऊपन का अभाव होता है।

कागजी मुद्रा का दूसरा नाम प्रादिष्ट मुद्रा भी है। इस मुद्रा की प्रमुख विशेषता यह है कि यद्यपि इसका वास्तविक अथवा आंतरिक मूल्य बहुत कम अथवा लगभग नहीं के बराबर होता है परन्तु उसका अंकित मूल्य बहुत अधिक हो सकता है। साधारणतया प्रादिष्ट मुद्रा का केवल वैधानिक मूल्य होता है। इसके अतिरिक्त इस मुद्रा की दूसरी विशेषता यह है कि यह केवल सरकार के आदेश के आधार पर (अपनी वास्तविक क्रय शक्ति के आधार पर नहीं) संचलनशील होती है। केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार के द्वारा अधिक अथवा थोड़े मूल्य के जारी किये गये कागजी नोट प्रतिनिधि तथा प्रादिष्ट मुद्रा के उत्तम उदाहरण हैं। जब कागजी नोट स्वर्ण अथवा रजत में निर्धारित दर पर पूर्ण रूप से परिवर्तनलील होते हैं तब ये कागजी नोट प्रतिनिधि मुद्रा कहलाते हैं तथा स्वर्ण अथवा चाँदी के सिक्कों के समान इनको भी संचलनशीन रखने के लिये सरकारी आदेश की आवश्यकता नहीं होती है। प्रतिनिधि कागजी मुद्रा स्वर्ण की मौद्रिक माँग में कमी करने के उद्देश्य से छापी जाती है। जब कागजी नोट स्वर्ण अथवा रजत में परिवर्तनशील नहीं होते हैं तब ये प्रादिष्ट मुद्रा कहलाते हैं।

प्रादिष्ट मुद्रा को सांकेतिक मुद्रा भी कहा जा सकता है क्योंकि जो विशेषताएँ सांकेतिक मुद्रा में होती हैं वे प्रादिष्ट मुद्रा में भी पायी जाती हैं। सांकेतिक मुद्रा की प्रमुख विशेषता यह है कि इसका वास्तविक अथवा आन्तरिक मूल्य इसके अंकित अथवा वैधानिक मूल्य की तुलना में बहुत कम होता है। धातु के छोटे सिक्के जो सीमित कानून ग्राह्य होते हैं, सांकेतिक मुद्रा के उत्तम उदाहरण हैं। प्रादिष्ट मुद्रा का भी आन्तरिक अथवा वास्तविक मूल्य इसके अंकित मूल्य की तुलना में बहुत कम होता है। इस कारण सांकेतिक मुद्रा और प्रादिष्ट मुद्रा में एक अंश तक समानता होती है। परन्तु इस समानता में भी असमानता दिखाई पड़ती है कि सांकेतिक मुद्रा की तुलना में प्रादिष्ट मुद्रा का वास्तविक मूल्य अधिक कम होता है। प्रादिष्ट मुद्रा वह सांकेतिक मुद्रा है जिसका वास्तविक अथवा आन्तरिक मूल्य कुछ भी नहीं के बराबर होता है। इस अन्तर के अतिरिक्त प्रादिष्ट मुद्रा असीमित विधि ग्राह्य होती है परन्तु सांकेतिक मुद्रा केवल सीमित विधि ग्राह्य होती है।

कीन्स के मतानुसार "प्रादिष्ट मुद्रा वह सांकेतिक मुद्रा है जो सामान्यत: कागज की बनी होती है तथा जिसका संचलन में प्रचालन राज्य द्वारा किया जाता है, परन्तु जो स्वयं वैधानिक रूप से किसी अन्य वस्तु में परिवर्तनशील नहीं होती है तथा जिसका कोई निश्चित वास्तविक मूल्य नहीं होता है।"[3] प्रतिनिधि मुद्रा पूर्णकाय तथा सांकेतिक दो प्रकार की होती है। पूर्णकाय

3. "*Fiat Money* is Representative (or token) Money (*i. e.*, something the intrinsic value of the material substance of which is divorced from its monetary face value)—now generally made of paper except in the case of small denominations—which is created and issued by the state, but is not convertible by law into anything other than itself, and has no fixed value in terms of an objective standard." (J. M. Keynes : *A Treatise on Money* Vol. I, p. 7.)

प्रतिनिधि मुद्रा उस मुद्रा को कहते हैं जो स्वयं मुद्रा में परिवर्तनशील होती है। परन्तु जब इसे पदार्थ मुद्रा में परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता है तो प्रतिनिधि मुद्रा सांकेतिक मुद्रा होती है। उदाहरणार्थ, भारत में रिजर्व बैंक द्वारा छापे गये कागजी बैंक नोटों को सांकेतिक प्रतिनिधि मुद्रा कहा जा सकता है क्योंकि ये नोट अंकित मूल्य की मुद्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा इनके बदले में इनके बराबर मूल्य के रुपये नोट प्राप्त किये जा सकते हैं यद्यपि इनको स्वर्ण में नहीं बदला जा सकता है। रौबर्टसन के अनुसार जिस मुद्रा में प्रतिनिधि मुद्रा स्वयं परिवर्तनशील होती है उस मुद्रा को पारिभाषिक मुद्रा (definitive money) कहते हैं।

प्रादिष्ट मुद्रा के पक्ष में प्रमुख तर्क यह है कि इससे देश की मुद्रा प्रणाली स्थितिसापेक्ष हो जाती है तथा आर्थिक नियोजन सरल हो जाता है। देश की आर्थिक आवश्यकता के अनुसार प्रादिष्ट मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन किये जा सकते हैं। आर्थिक नियोजन को सम्भव बनाकर प्रादिष्ट मुद्रा देश में आर्थिक विकास को सम्भव बनाती है। प्रादिष्ट मुद्रा मान में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि तथा कमी स्वर्ण के उत्पादन में उच्चावचनों पर आश्रित नहीं रहती है। प्रादिष्ट मुद्रा मान में मुद्रा की पूर्ति में पर्याप्त वृद्धि करके आर्थिक साधनों का इष्टतम उपयोग किया जा सकता है।

परन्तु उपर्युक्त गुण होते हुये भी प्रादिष्ट मुद्रा में कुछ भयानक दोष हैं। प्रथम, प्रादिष्ट मुद्रा के प्रचालन के पीछे स्वर्ण-निधि की आड़ न होने से अत्यधिक मुद्रा प्रचालन का भय बना रहता है। गत ५० वर्षों का मौद्रिक इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि प्रादिष्ट मुद्रा तथा स्फीति में काफी समीपी सम्बन्ध है। दूसरे, प्रादिष्ट मुद्रा मान में देश की मुद्रा इकाई का सम्बन्ध दूसरे देश की मुद्रा इकाई से स्वर्ण द्वारा न होने के कारण विदेशी विनिमय दरों में भारी उच्चावचन होने की सम्भावना रहती है। प्रतियोगी मुद्रा मूल्य-ह्रास की समस्या प्रादिष्ट मुद्रा मान में उत्पन्न होती रहती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की सामान्य स्वीकृति की विशेषता को विशेष महत्त्व देते हुए उसका वर्गीकरण ऐच्छिक मुद्रा और विधिग्राह्य मुद्रा में किया है। विधिग्राह्य मुद्रा को देश में प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्य रूप से स्वीकार करता है क्योंकि स्वीकार न करने पर वह कानून की दृष्टि में अपराधी होता है और उसको दण्ड दिया जा सकता है। परन्तु वे सभी सिक्के जो समाज में संचलनशील होते हैं, समान अंश में विधिग्राह्य नहीं होते हैं। कुछ सिक्के असीमित विधिग्राह होते हैं; अर्थात् वे असीमित मात्रा में ऋणों के भुगतान में स्वीकार किये जाते हैं। ऐसी मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होती है। हमारे देश में रुपया असीमित विधिग्राह्य मुद्रा का उदाहरण है। इसके विपरीत संचलन में कुछ ऐसी मुद्रा भी होती है जो केवल सीमित विधिग्राह्य होती है। इस मुद्रा को भुगतान में एक बार निश्चित से अधिक मात्रा में कोई भी व्यक्ति कानून का उल्लंघन किये बिना स्वीकार करने से इन्कार कर सकता है। इस मुद्रा की अनिवार्य स्वीकृति-सीमा सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। इस सीमा से अधिक मात्रा में इस मुद्रा के रूप में भुगतान स्वीकार करने के लिए किसी भी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता है। इस मुद्रा को सांकेतिक अथवा गौण मुद्रा भी कहते हैं। हमारे देश में १, २, ५ तथा १० पैसे के सिक्के सीमित विधिग्राह्य अथवा सांकेतिक मुद्रा के उदाहरण हैं।

ऐच्छिक मुद्रा उस मुद्रा को कहते हैं जिसमें सामान्य स्वीकृति का अभाव होता है। इस मुद्रा को भुगतान में स्वीकार करने के लिये राज्य किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं कर सकता है; अर्थात् इसको स्वीकार करना उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है जिसको भुगतान किया जाता है। इस मुद्रा को साख-मुद्रा भी कहते हैं। चेक, ड्राफ्ट तथा हुंडी ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त विवेचना द्वारा जिन भिन्न प्रकार की मुद्राओं की व्याख्या की गई है उनको निम्न-लिखित चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है।

मुद्रा का वर्गीकरण

- हिसाब की मुद्रा
- वास्तविक मुद्रा
  - पदार्थ मुद्रा
    - प्रामाणिक मुद्रा
    - सांकेतिक मुद्रा
  - साख अथवा ऐच्छिक मुद्रा
  - प्रतिनिधि मुद्रा
    - पूर्णकाय (अमरीकी स्वर्ण पत्र)
    - प्रादिष्ट (फ्रान्सीसी असाइनेट अथवा अमरीकी ग्रीनबैंक)
    - सांकेतिक (अमरीकी रजतपत्र,

सर्वोत्तम मुद्रा-पदार्थ की विशेषताएँ

सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ में कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से प्रत्येक प्रकार के पदार्थ को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जा सकता है परन्तु प्रत्येक पदार्थ मुद्रा के कार्यों को समान रूप से सम्पन्न नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन पशु मुद्रा—बकरी तथा खाल—में वहनीयता, अनुरूपता, टिकाऊपन तथा विभाजकता का अभाव था और इस कारण प्राथमिक समाजों के मनुष्यों को बहुत कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता था। फलस्वरूप प्रयासों द्वारा धातु पदार्थ को जिसमें इन गुणों का अभाव नहीं था, मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया। एक सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए।

(१) आदर्श मुद्रा पदार्थ में सर्वस्वीकृति अथवा सर्वमान्यता की विशेषता होनी चाहिये। इसके लिये मुद्रा पदार्थ में उपयोगिता तथा विनिमय-शक्ति की विशेषताएँ होनी चाहिये क्योंकि इन दोनों विशेषताओं द्वारा उस पदार्थ को सर्वमान्यता प्राप्त होती है। ये दोनों विशेषताएँ स्वर्ण तथा चाँदी को पूर्णतया प्राप्त हैं। दुर्लभ होने के कारण स्वर्ण तथा चाँदी में दूसरी धातुओं की तुलना में अधिक विनिमय-शक्ति होती है। इनमें उपयोगिता भी है क्योंकि इन दोनों धातुओं का आभूषण तथा अन्य कला-कौशल के कार्यों में उपयोग किया जाता है। इसलिये अन्य धातुओं की तुलना में सोना तथा चाँदी मुद्रा के रूप में अधिक प्रचलित रहे हैं।

(२) आदर्श मुद्रा पदार्थ में वहनीयता भी होनी चाहिये। यह विशेषता उस वस्तु में होती है जिसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता से लाया तथा ले जाया जा सकता है। इसके लिए वस्तु टिकाऊ होनी चाहिये और इसमें कम वजन में अधिक मूल्य होना चाहिये। इस दृष्टि से प्राचीन पशु मुद्रा बकरी तथा खाल श्रेष्ठ मुद्रा नहीं थी। इस दृष्टि से सोना तथा चाँदी अच्छे मुद्रा पदार्थ कहे जा सकते हैं क्योंकि ये अधिक समय तक खराब नहीं होते हैं और थोड़े से वजन में इनका मूल्य भी अधिक होता है। कागजी मुद्रा में यह विशेषता बहुत अधिक मात्रा में होती है क्योंकि कागजी नोटों को अधिक असुविधा तथा खर्च किये बिना अन्तरण किया जा सकता है।

(३) मुद्रा की सभी इकाइयाँ अनुरूप होनी चाहिएँ। अनुरूपता से हमारा तात्पर्य यह है कि मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिये कि इसके समान भार तथा समान प्रकार के टुकड़ों का मूल्य समान हो। यह उसी समय सम्भव है जब मुद्रा पदार्थ में एकरूपता होती है। पशु, खाल तथा अनाज में एकरूपता का अभाव होता है और इस कारण उनको अच्छे मुद्रा पदार्थ नहीं कहा जा सकता है। सोने तथा चाँदी में अनुरूपता पायी जाती है और इस दृष्टि से सोना तथा चाँदी अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं।

(४) सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ में विभाज्यता होनी चाहिये। इस दृष्टि से मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिये कि मुद्रा इकाई को छोटे से छोटे भाग में विभाजित किया जा सके जिससे कि उसके द्वारा छोटी राशि के भुगतान सम्भव हो सके। विभाज्यता की दृष्टि से प्राचीन पशु-मुद्रा में इसका भारी अभाव था क्योंकि पशु को काटने पर उसका मूल्य नष्ट हो जाता था। इस कारण बहुधा समाज में व्यक्तियों को छोटे भुगतानों के सम्बन्ध में अत्यधिक कठिनाई होती थी। इस दृष्टि से भी सोना तथा चाँदी अच्छे मुद्रा पदार्थ कहे जा सकते हैं।

(५) सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ में मूल्य स्थिरता का होना भी आवश्यक है। मुद्रा समाज में मूल्य मापक, मूल्य के संचक तथा विनिमय माध्यम के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। मुद्रा पर समाज का आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा आधारित है। यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन हो जाते हैं तो आर्थिक शक्ति का समाज में अन्यायपूर्ण पुनर्वितरण हो जाता है। फलस्वरूप समुचित अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने के जो भयंकर परिणाम होते हैं, आर्थिक इतिहास उनका साक्षी है। इन गम्भीर परिणामों को रोकने अथवा कम करने के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रा पदार्थ ऐसी होनी चाहिये जिसके मूल्य में स्वयं परिवर्तन न हों, और यदि हों भी तो ऐसे परिवर्तनों का आकार न्यूनतम हो। सोने तथा चाँदी के उत्पादन में अन्य धातुओं तथा वस्तुओं की तुलना में कम परिवर्तन होते हैं। इसलिए इनके मूल्य में अन्य वस्तु की अपेक्षाकृत स्थिरता होती है।

(६) सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ में परिचायकता का होना भी आवश्यक है। इस विशेषता का सार यह है कि मुद्रा की प्रत्येक इकाई को समाज में प्रत्येक व्यक्ति पहचान सके। यदि मुद्रा को पहचानने में कठिनाई होती है तो व्यक्ति उसको ग्रहण करने से इन्कार करेंगे। सोना तथा चाँदी इस दृष्टि से सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ हैं।

(७) सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ टिकाऊ होना चाहिये, अर्थात् मुद्रा पदार्थ शीघ्र नाशवान नहीं होना चाहिये। यदि मुद्रा पदार्थ शीघ्र नाशवान होने वाली वस्तु होगी तो यह क्रय-शक्ति के संचक का कार्य नहीं कर सकती है। यह कार्य उसी समय हो सकता है जब मुद्रा पदार्थ टिकाऊ होती है। पशु, अनाज तथा खाल इस दृष्टि से उत्तम मुद्रा पदार्थ नहीं थीं क्योंकि इनमें टिकाऊपन का भारी अभाव था। भेड़ अथवा बकरी बीमारी अथवा अन्य किसी कारण से शीघ्र मर सकते हैं। अनाज को भी एक या दो वर्ष से अधिक समय के लिये संचित नहीं किया जा सकता। सोने तथा चाँदी में टिकाऊपन की विशेषता होने के कारण इनमें यह दोष नहीं पाया जाता है।

(८) सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ में ढलाऊपन की विशेषता का होना भी आवश्यक है। मुद्रा पदार्थ ऐसा होनी चाहिये कि इसको आवश्यकतानुसार गलाकर ढाला जा सके। यह गुण भी सोने तथा चाँदी में विशेषतया पाया जाता है।

सर्वोत्तम मुद्रा पदार्थ की उपर्युक्त विशेषताओं की संक्षिप्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सोने तथा चाँदी में उपर्युक्त विशेषताएँ अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाई जाती हैं।

यही कारण है कि सोना तथा चाँदी दीर्घ समय से सभी समाजों में मुद्रा का कार्य करते आये हैं। आदर्श मुद्रा पदार्थ की उपर्युक्त विशेषताओं को निम्नांकित चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है।

सर्वोत्तम मुद्रापदार्थ की विशेषताएँ

- सर्व स्वीकृत
- वहनीयता
- अनुरूपता
- विभाज्यता
- मूल्य स्थिरता
- परिचायकता
- टिकाऊपन
- ढलाऊपन

मुद्रा के कार्य

मुद्रा ने समाज में भिन्न प्रकार के कार्य करके आर्थिक विकास को सम्भव बनाया है। आधुनिक युग में मुद्रा समाज में इतने अधिक कार्य सम्पन्न करती है कि उन सब कार्यों का ज्ञान हमको तभी प्राप्त हो सकता है जब मुद्रा हमारे बीच में उपस्थित न हो। साधारणतया मुद्रा ४ मुख्य कार्य करती है। मुद्रा समाज में विनिमय, माध्यम; मूल्य-मापक क्रय-शक्ति के संचक तथा भविष्य-ऋण के भुगतानों के प्रमाण के महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। प्रोफेसर किनले (Kinley) ने मुद्रा के कार्यों को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है :

(१) प्राथमिक कार्य (Primary Functions);
(२) गौण कार्य (Secondary Functions); तथा
(३) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)

१. प्राथमिक कार्य

मुद्रा के प्राथमिक कार्यों में हम इसके उन आवश्यक कार्यों का अध्ययन करते हैं जो मुद्रा ने प्रत्येक देश में आर्थिक उन्नति की प्रत्येक अवस्था में सम्पन्न किये हैं। इस प्रकार के निम्न-लिखित दो मुख्य कार्य हैं :

(क) विनिमय का माध्यम (Medium-of-Exchange)

(ख) मूल्य का मापक (Measure-of-Value)

(क) मुद्रा ने समाज में विनिमय-माध्यम का आवश्यक कार्य सम्पन्न किया है। प्रथम अध्याय में मुद्रा के आविष्कार का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि मुद्रा का जन्म वस्तु-विनिमय की असुविधाओं को समाप्त करने के उद्देश्य से हुआ था। वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में विनिमय माध्यम के अभाव के कारण मनुष्य को अनेक कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता था। वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में सामान्य विनिमय माध्यम का अभाव होने के परिणामस्वरूप बहुधा मनुष्य को आवश्यक वस्तुओं के उपभोग से वंचित रहना पड़ता था। मुद्रा ने विनिमय-माध्यम का कार्य करके वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था की असुविधाओं को समाप्त कर दिया है। मुद्रा के आविष्कार ने विनिमय को सरल बना दिया है। वस्तु और सेवाओं का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं तथा सेवाओं में न होकर मुद्रा के माध्यम द्वारा होता है। आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा के द्वारा आवश्यक वस्तुएँ तथा सेवाएँ आवश्यक मात्रा में प्राप्त की जा सकती हैं। मुद्रा के आविष्कार के परिणामस्वरूप मनुष्य को अपना समय और शक्ति ऐसे दूसरे मनुष्य की खोज करने में नष्ट करने की आवश्यकता नहीं रही है जिसके पास उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ हैं और जो अपनी उन वस्तुओं के बदले में उन दूसरी वस्तुओं को स्वीकार करने को तैयार है जो उस पहले मनुष्य के पास हैं।

(ख) आधुनिक युग में मुद्रा का दूसरा प्रमुख कार्य सामान्य मूल्यमापक के रूप में समाज में वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों को आँकने का है। वस्तु-विनिमय प्रणाली की एक बड़ी कठिनाई यह निर्णय करना था कि एक वस्तु की दी हुई मात्रा के बदले दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा प्राप्त होनी चाहिये। मुद्रा ने सामान्य मूल्य-मापक का कार्य सम्पन्न करके समाज को इस कठिनाई से मुक्त किया है। वर्तमान समय में समाज में प्रत्येक वस्तु तथा सेवा का मूल्य मुद्रा-इकाइयों में व्यक्त किया जाता है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य आँकने के पश्चात् मुद्रा भिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच ऐसा अनुपात निर्धारित करती है जिसके आधार पर वस्तुओं तथा सेवाओं के मध्य सापेक्ष विनिमय-मूल्य सम्भव होते हैं। मुद्रा की सहायता से सामान्य मूल्य-स्तर का विचार प्राप्त होता है। इसकी सहायता से मूल्यों की तुलना सुविधाजक रूप में की जा सकती है। मौल्टन के अनुसार "मूल्य-मापक के रूप में मुद्रा का विकास इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। वास्तव में यह विचार विनिमय के विकास के इतिहास की अन्तिम सीढ़ी है। सामान्य मूल्य-मापक का कार्य सम्पन्न करके मुद्रा ने भाषा तथा संख्या को व्यापारिक क्षेत्र में समझने योग्य बनाया है।"[4]

२. गौण कार्य

उपर्युक्त दो प्राथमिक कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा समाज में निम्नलिखित गौण कार्य सम्पन्न करती है :

(क) भविष्य-भुगतान का प्रमाण (Standard of Deffered Payments)
(ख) मूल्य संचय का साधन (Store of Value)
(ग) क्रय-शक्ति का अन्तरण (Transfer of Value)

(क) **भविष्य भुगतानों का प्रमाण**—वर्तमान समय में साख-मुद्रा के आर्थिक महत्त्व से हम भली प्रकार परिचित हैं। वर्तमान औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में साख-मुद्रा का इतना अधिक महत्त्व है कि इसको वर्तमान आर्थिक उन्नति की आधारशिला कहना अनुचित न होगा। मुद्रा समाज में वर्तमान भुगतानों को सम्पन्न करने के अतिरिक्त भविष्य भुगतानों का भी आधार हैं। मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसके रूप में भविष्य में होने वाले भुगतान का हिसाब इस प्रकार से रखा जा सकता है कि ऋणी तथा ऋणदाता को हानि न हो। आधुनिक युग में, जबकि अधिकांश लेन-देन व्यापार के क्षेत्र में स्थगित भुगतानों के रूप में होते हैं, मुद्रा के इस कार्य का महत्त्व और अधिक हो गया है।

(ख) **मूल्य-संचय का साधन**—वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में मुद्रा के अभाव के कारण मनुष्य के लिए अपनी आवश्यकता से अधिक धन का संचय करने में कठिनाई होती थी। परिणाम-स्वरूप प्राचीन मनुष्य केवल अपनी वर्तमान उपभोग आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य उत्पादन करता था, यद्यपि वह इससे अधिक उत्पादन करने योग्य था। दूसरे शब्दों में, उसे अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा प्राप्त नहीं थी क्योंकि उसे अपने बेशी उत्पादन का संचय करने में कठिनाई होती थी। मुद्रा के आविष्कार ने इस कठिनाई को दूर करके मनुष्य तथा समाज की विशेष सेवा की है। धन के संचय को सम्भव बनाकर मुद्रा आधुनिक युग में पूँजी संचय तथा बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली के संगठित रूप का एक मात्र साधन बन गई है। मुद्रा ने समाज में मनुष्यों को अपनी वर्तमान आय में से बचत करने की क्रिया को सम्भव बनाकर भविष्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये अवकाश प्रदान किया है।

4. H. G. Moulton : *Financial Organisation and the Economic System*, p. 4.)

आर्थिक अस्थिरता के काल में मूल्य-संचक के रूप में मुद्रा का महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। उदाहरणार्थ, अमरीका में १९२९ ई० की मन्दी के दिनों में जब ऋणपत्रों की कीमतों में भारी कमी हो रही थी तब प्रत्येक व्यक्ति क्रयशक्ति को मुद्रा में संचित रखने के लिये आतुर था तथा लोगों ने ऋणपत्रों को बेचकर नकदी में धन का संचय किया था ऐसे समय में जब वस्तुओं तथा ऋणपत्रों के मूल्यों में भारी कमी होती है, केवल मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती है।

परन्तु यहाँ मुद्रा के क्रय-शक्ति के स्थाई तथा अस्थाई संचक के कार्य में भेद करना आवश्यक है। क्रय-शक्ति के अस्थाई संचक के रूप में व्यक्ति मुद्रा के रूप में क्रय-शक्ति का वस्तुओं तथा सेवाओं को क्रय करने के हेतु अल्प समय के लिये संचय करते हैं। जो आय हमको कार्य मास के अन्त में दूसरे महीने की प्रथम तिथि को प्राप्त होती है उस आय को हम दूसरे महीने के ३० दिनों तक खर्च करते हैं। आय प्राप्त करने तथा उस प्राप्त आय को खर्च करने के प्रवाहों में अन्तर होता है। यदि जिस समय तथा जितनी मात्रा में खर्च की आवश्यकता होती है आय भी तत्काल प्राप्त होने लगती तब मनुष्य वस्तुओं को क्रय करने हेतु क्रय-शक्ति का मुद्रा के रूप में कदापि संचय नहीं करते। परन्तु हमें वेतन प्रतिदिन प्राप्त न होकर महीने में केवल एक बार मिलता है। निवेश पूँजी पर अंशधारियों को लाभांश (dividend) के रूप में आय वर्ष के अन्त में केवल एक बार प्राप्त होती है। ब्याज के रूप में प्राप्त होने वाली आय भी प्रति-दिन प्राप्त न होकर एक निश्चित समय के पश्चात् प्राप्त होती है। इसी प्रकार हम प्रतिदिन समान धनराशि खर्च नहीं करते हैं। हम सभी महीने के प्रथम सप्ताह में मास के अन्य सप्ताहों की तुलना में अपनी आय का अधिक भाग व्यय करते हैं। महीने के अन्तिम सप्ताह में साधारण आय के बहुत कम भाग का व्यय होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आय तथा व्यय के प्रवाहों में असमानता होती है। इस असमानता के फलस्वरूप अनुभव होने वाली असुविधाओं से बचने के लिये मुद्रा को क्रय-शक्ति के अस्थाई संचक के रूप में रखा जाता है।

क्रय-शक्ति के अस्थाई संचक का कार्य करने के अतिरिक्त मुद्रा समाज में क्रय-शक्ति के स्थाई संचक का कार्य भी करती है। परिसम्पत्ति के रूप में भी मुद्रा की माँग की जाती है। धनी व्यक्ति अपने धन को अन्य वस्तुओं (घर, भूमि, ऋणपत्र आदि) के रूप में संचित न रख कर मुद्रा के रूप में संचित रख सकते हैं। धन को मुद्रा के रूप में संचित रखने का प्रमुख कारण यह है कि एक ओर भविष्य अनिश्चित है तथा दूसरी ओर मुद्रा द्वारा आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समय किसी वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। संसार में भविष्य आशंसाओं का हमारे वर्तमान निर्णयों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भविष्य की अनिश्चितताओं के कारण अर्थव्यवस्था में नकदी-अधिमान की घटना विद्यमान होती है।

(ग) **क्रय-शक्ति का अन्तरण**—मुद्रा के द्वारा क्रय-शक्ति को एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को अन्तरण किया जा सकता है। यह कार्य सम्पन्न करके मुद्रा ने विनिमय को व्यापक बनाने में भारी सहायता की है। मुद्रा के इस कार्य के बिना समाज में आर्थिक उन्नति का चक्र कभी का रुक गया होता। वर्तमान साख-मुद्रा तथा बैंकिंग सुविधायें, उद्योग तथा व्यापार, यातायात के साधन आदि उपलब्ध नहीं हुए होते और वर्तमान मनुष्य प्राचीन वन-मनुष्य (ape man) की तुलना में अधिक सभ्य नहीं हो पाता।

मुद्रा तथा साख-मुद्रा के द्वारा मूल्य का अन्तरण एक स्थान से दूसरे दूर स्थान पर किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को एक लाख रूपये की क्रय-शक्ति का अन्तरण जयपुर से

मद्रास करना है तो वह व्यक्ति ऐसा बैंक ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा सुविधा के साथ कर सकता है। यदि इस क्रय-शक्ति का अन्तरण कपड़ा अथवा अनाज के रूप में किया गया होता तब उसे काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता।

३. आकस्मिक कार्य

प्राथमिक तथा गौण कार्यों के अतिरिक्त किनले के अनुसार मुद्रा के आकस्मिक कार्य निम्नलिखित चार प्रकार के हैं :

(क) साख-मुद्रा का आधार,
(ख) सामाजिक आय के वितरण का आधार,
(ग) खर्चों की सीमान्त उपयोगिता में समानता का आधार तथा
(घ) सभी प्रकार की पूँजी को सामान्य रूप प्रदान करने का आधार।

(क) साख मुद्रा का आधार—वर्तमान अर्थव्यवस्था में साख-मुद्रा का महत्त्व मुद्रा के महत्त्व से अधिक है। आज हम साख-मुद्रा अर्थव्यवस्था के युग में प्रवेश कर चुके हैं। आधुनिक समय में सभी औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रियायें साख-मुद्रा की आधारशिला पर टिकी हैं। बैंकों द्वारा उत्पन्न साख-मुद्रा की सहायता से वर्तमान पेचीदा अर्थव्यवस्था की उन्नति का पहिया घूमता है। यदि साख-मुद्रा निर्माण की क्रिया में किसी कारणवश कभी अभाव आ जाता है तो तत्काल अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है। परन्तु जिस साख-मुद्रा का वर्तमान युग की अर्थव्यवस्था के लिए इतना अधिक महत्व है वह साख-मुद्रा स्वयं मुद्रा पर आधारित है। मुद्रा की आधारशिला के बिना साख-मुद्रा का विचार केवल एक मिथ्या है। मुद्रा आधुनिक युग में उस साख-मुद्रा निर्माण के आधार का कार्य करती है जिसके बिना वर्तमान समय में आर्थिक तथा सामाजिक विकास सम्भव वहीं है। मुद्रा के इस कार्य का वर्तमान संगठित अर्थव्यवस्था के निर्माण तथा विकास में विशेष महत्त्व है।

(ख) सामाजिक आय के वितरण का आधार—मुद्रा समाज में राष्ट्रीय आय की उत्पत्ति के भिन्न उत्पादन साधनों के मध्य इस आय का वितरण करने में सुविधा प्रदान करती है। वर्तमान समय में सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली द्वारा किया जाता है जिसमें लाखों मनुष्य सहयोगी उत्पादन साधनों के रूप में उत्पादन करते हैं। इस प्रकार उत्पादित वस्तुएँ सभी की सम्मिलित उत्पत्ति होती हैं, जिसका वितरण सभी साधनों के मध्य होना चाहिये। यह एक गम्भीर समस्या है क्योंकि भिन्न उत्पादन साधनों के रूप में सभी सहयोगी व्यक्ति न तो एक स्थान पर रहते हैं और न ही सब समान प्रकार का कार्य करते हैं। मुद्रा ने इस जटिल समस्या को सरल बना दिया है। सामूहिक रूप से उत्पादित वस्तु को बाजार में बेचकर जो द्रव्य आय प्राप्त होती है उसको उत्पादन साधनों के मध्य बाँट दिया जाता है और इस प्रकार उस सम्मिलित उत्पादन का सुगमता के साथ वितरण हो जाता है। मुद्रा के इस कार्य के महत्त्व को हम एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं। यदि चार व्यक्ति जिनमें से प्रत्येक क्रमशः भूस्वामी श्रमिक, पूँजीपति तथा उद्यमकर्ता के रूप में सहयोग प्रदान करके एक मशीन बनाते हैं, तो यह मशीन उपर्युक्त चारों व्यक्तियों की सम्मिलित उत्पत्ति होगी। प्रश्न यह है कि इस मशीन का वितरण चारों व्यक्तियों में कैसे किया जाना चाहिए ? यदि वितरण करने के उद्देश्य से मशीन के चार टुकड़े किये जाते हैं तो मशीन की उपयोगिता नष्ट हो जाती है और वितरण करना व्यर्थ हो जाता है। ऐसी दशा में मुद्रा सहायता प्रदान करती है। मशीन को मुद्रा के माध्यम द्वारा बेचकर प्रत्येक व्यक्ति मशीन के उस भाग को जो उसको प्राप्त हुई मुद्रा राशि के बराबर

है, प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सामाजिक आय का वितरण सहयोगी साधनों में सम्भव बना कर मुद्रा समाज में वर्तमान बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली द्वारा उत्पादन को प्रोत्साहित करती है।

(ग) खर्च-राशियों की सीमान्त उपयोगिताओं में समानता का आधार—वर्तमान समय में उपभोक्ताओं को उपभोग वस्तुएँ विनिमय द्वारा उपलब्ध होती हैं। यद्यपि समाज में प्रत्येक मनुष्य की आय सीमित है परन्तु उसकी आवश्यकताएँ असीमित हैं। उपभोक्ता के रूप में प्रत्येक मनुष्य के सामने यह समस्या होती है कि वह अपनी सीमित आय को अपनी भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु किस प्रकार व्यय करे कि उसको अपनी सीमित आय द्वारा अधिकतम उपयोगिता अथवा संतोष प्राप्त हो सके। यह उस समय सम्भव होता है जब भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय की गई द्रव्य व्यय राशि की सीमान्त उपयोगिता समान होती है। मुद्रा उपभोक्ता के लिए ऐसा करना सम्भव बनाती है। संक्षेप में मुद्रा समाज में एक व्यक्ति के लिए उसकी सीमित आय द्वारा अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना सम्भव बनाती है।

(घ) सभी प्रकार की पूँजी को सामान्य रूप प्रदान करने का आधार—मुद्रा सभी प्रकार की पूँजी तथा सम्पत्ति को सामान्य रूप प्रदान करती है। मुद्रा के रूप में बचत करके हम भिन्न वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं। गतिशीलता तथा नकदी के गुणों के कारण मुद्रा को किसी भी पदार्थ का रूप दिया जा सकता है। जिस प्रकार पानी जिस बर्तन में रखा जाता है वह उसी का रूप धारण कर लेता है इसी प्रकार मुद्रा भी उस वस्तु का रूप धारण कर सकती है जिसमें हम उसे बदलना चाहते हैं अर्थात् हम जिस वस्तु को चाहें मुद्रा के द्वारा खरीद सकते हैं। मुद्रा में संचित धन तथा पूँजी को किसी भी कार्य में उपयोग किया जा सकता है। आधुनिकयुग में मुद्रा के इस कार्य का विशेष महत्त्व है।

अन्य कार्य

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा के कुछ और अन्य कार्य भी हैं। कीन्स के अनुसार मुद्रा तरल सम्पत्ति के रूप में समाज में एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। तरलता के कारण मुद्रा मूल्यसंचक का कार्य करती है। प्रत्येक मनुष्य तथा कम्पनी की कुछ परिसम्पत्तियाँ होती हैं जिनमें मुद्रा सर्वोत्तम परिसम्पत्ति है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्य तथा कम्पनी अपनी परिसम्पत्ति को अन्य परिसम्पत्ति में संचित रखने के बजाय मुद्रा में संचित रखती है। प्रत्येक मनुष्य को जीवन में आकस्मिक आवश्यकताओं का अनुभव होने की सम्भावना बनी रहती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से वह अपनी आय के कुछ भाग को मुद्रा रूपी तरल परि-सम्पत्ति में संचित रखता है। मुद्रा में संचित आय के द्वारा किसी भी समय कोई भी वस्तु प्राप्त की जा सकती है। परन्तु यदि यह आय किसी अन्य वस्तु के रूप में संचित रखी जाती है तो यह सम्भव है कि आवश्यकता पड़ने पर यदि वह वस्तु न बिक सके तो कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिसम्पत्ति के कुछ भाग को मुद्रा में अपने जीवन को आकस्मिक आवश्यकताओं से सुरक्षित रखने के लिए संचित रखता है। रेमण्ड पी० केण्ट के विचारानुसार मुद्रा समाज में व्यक्तियों को ऋण भुगतान करने की शक्ति प्रदान करती है। व्यक्ति में ऋण चुकाने की शक्ति उस समय तक रहती है जब तक उसके पास मुद्रा होती है। उसके पास कितनी ही अन्य परिसम्पत्तियाँ क्यों न हों, समय पड़ने पर वे सब व्यर्थ सिद्ध हो सकती हैं; क्योंकि ऋणदाता अपने ऋणों के भुगतान की मुद्रा में माँग करते हैं। मुद्रा की अनुपस्थिति बहुधा व्यक्तियों तथा बहुत सी कम्पनियों दीवालिया घोषित करा देती है। इस कारण प्रत्येक व्यवसायी तथा कम्पनी अपने ऋण चुकाने की शक्ति को बनाये रखने के उद्देश्य से अपने साधनों का कुछ भाग नकदी में संचित रखते हैं।

ग्रॉहम (Frank D. Graham) के अनुसार मुद्रा मनुष्य को समाज में ऐसी क्षमता प्रदान करती है जिसके द्वारा वह भविष्य में बदलती परिस्तिथियों के अनुसार संचित क्रय-शक्ति का प्रयोग कर सकता है। यह सुविधा उस समय उपलब्ध नहीं हो सकती है जब मुद्रा के स्थान पर किसी अन्य वस्तु को संचय किया जाता है, क्योंकि मुद्रा को किसी भी वस्तु में किसी भी समय विनिमय किया जा सकता है। परन्तु अन्य वस्तु अन्य किसी वस्तु में नहीं बदली जा सकती है। मुद्रा मनुष्य को भविष्य में होने वाले निर्णय को क्रियान्वित करने में सहायता प्रदान करती है। मुद्रा के कार्यों की उपर्युक्त विवेचना का संग्रह निम्नलिखित प्रकार है।

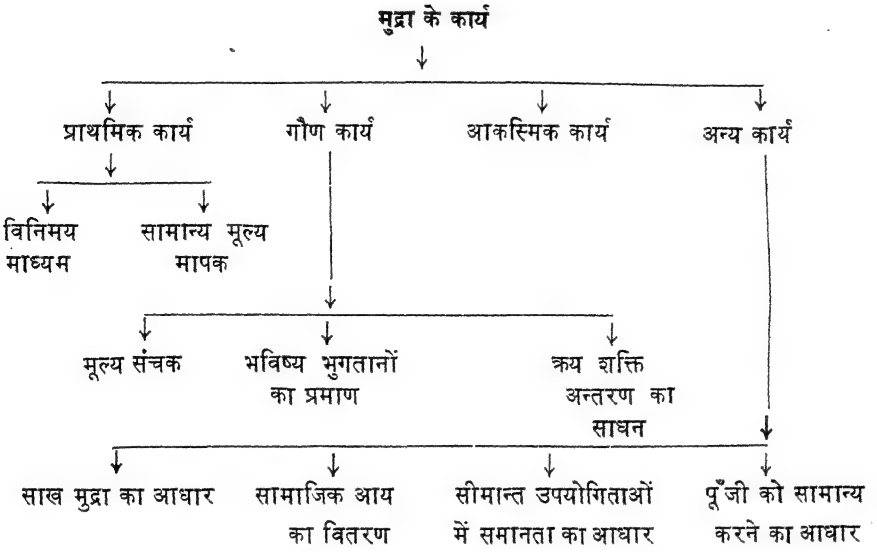

अर्थव्यवस्था में मुद्रा के कार्यों की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मुद्रा समाज के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मुद्रा के बिना आधुनिक युग में मनुष्य के लिये सभ्य जीवन बिताना सम्भव नहीं है। मुद्रा का उपयोग मानव सभ्यता के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है।

अध्ययन सूची

1. E. M. Bernstein : Money and the Economic System, Chapter I.
2. W. A. L. Coulborn : An Introduction to Money, Chapters I, II & III.
3. R. P. Kent : Money and Banking (4th edition) Chapters 1 and 4.
4. L. V. Chandler : Economics of Money and Banking (1964), Chapter 1.
5. J. M. Keynes : General Theory of Employment, Interest and Money, Chapter 21.

प्रश्न

1. Critically discuss the functions said to be performed by money. Does money really perform all of them and can money alone perform them ?
2. "The importance of money essentially flows from its being a link between the present and the future." Explain, bringing out clearly the implications of the function of money as a store of value.

४

मुद्रा के मूल्य का वस्तु सिद्धान्त
(Commodity Theory of Value of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ

मुद्रा की एक प्रमुख विशेषता यह है कि हमको इसकी आवश्यकता स्वयं के लिये नहीं होती है। मुद्रा के स्वामी के लिये मुद्रा की उपयोगिता इस बात पर आधारित है कि इसके द्वारा वह अनेक उपयोगी वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त कर सकता है। यदि दस रुपये के नोट द्वारा मनुष्य किसी भी उपयोगी वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता है तो उसके लिये यह नोट कागज का टुकड़ा मात्र है। मुद्रा का मूल्य मुद्रा इकाई की उस शक्ति से सम्बन्धित है जिसके द्वारा मुद्रा अपने स्वामी के लिये उपयोगी वस्तुओं की दी हुई मात्रा समाज में प्राप्त कर सकती है। अत: मुद्रा का मूल्य इसकी क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित है। यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति अधिक होती है तो इसका मूल्य भी अधिक होता है। इसके विपरीत क्रय-शक्ति कम होने पर इसका मूल्य भी कम होता है। रोबर्टसन के विचारानुसार "मुद्रा के मूल्य से हमारा अभिप्राय वस्तुओं की उस मात्रा से होता है जो सामान्य रूप से मुद्रा की एक इकाई द्वारा विनिमय में प्राप्त होती है।[1]" जीवन में किसी दिये हुए समय पर प्रत्येक मनुष्य कुछ उपयोगी वस्तुओं तथा सेवाओं की आवश्यकता का अनुभव करता है। इसलिये उसके लिये मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध उपयोगी वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा से होता है जो उसको विनिमय में मुद्रा की एक इकाई द्वारा प्राप्त हो सकती है। इस सत्य को स्पष्ट करते हुए कीन्स ने अपनी *A Treatise on Money* शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि "मुद्रा की क्रय-शक्ति किसी विशेष स्थिति में वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा पर आधारित होती है जो मुद्रा की एक इकाई खरीद सकती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि मुद्रा का मूल्य एक ऐसी सम्पूर्ण

1. "By value of money we mean the amount of things in general which will be given in exchange for a unit of money." (D. H. Robertson : *Money* p, 17.)

वस्तु (composite commodity) के मूल्य द्वारा मापा जा सकता है जो उन भिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की अनुपाती मात्राओं का संग्रह है जिनको द्रव्य आय खर्च करके प्राप्त किया जाता है।[2]"

इर्विंग फिशर के विचारानुसार मुद्रा का मूल्य जो, इसकी क्रय-शक्ति का सूचक होता है, कीमत-स्तर का उल्टा होता है और इसलिये मुद्रा की क्रय-शक्ति का अध्ययन मूल्य-स्तर का अध्ययन है।[3] इस दृष्टि से वस्तुओं के मूल्य मुद्रा के मूल्य के इस प्रकार सूचक होते हैं कि यदि सामान्य मूल्य-स्तर अधिक हो जाता है तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि मूल्य-स्तर कम हो जाता है तो मुद्रा का मूल्य अधिक हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य मूल्य स्तर में उल्टा तथा आनुपातिक सम्बन्ध है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के सामान्य मूल्य के विचार की आलोचना की है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा के सामान्य मूल्य का विचार केवल एक कल्पना है। इस सम्बन्ध में हेयक (Hayek) का विचार है कि मुद्रा का सामान्य मूल्य जो मूल्य स्तर के विचार पर आधारित है, एक व्यर्थ विचार है। मुद्रा के सामान्य मूल्य के विचार की महत्त्वहीनता को स्पष्ट करते हुये हेयक ने लिखा है कि "जब हम व्यक्तिगत मूल्यों पर मुद्रा के सब प्रभावों का पता लगाने का प्रयास करते हैं तो शीघ्र हम मुद्रा के सामान्य मूल्य के विचार की व्यर्थता का अनुभव करने लगते हैं।"[4]

मुद्रा के सामान्य मूल्य का विचार वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों पर आधारित है। जब किसी वस्तु का मूल्य दुगुना हो जाता है तो इसका यह अर्थ है कि मुद्रा की एक इकाई के द्वारा पहले की अपेक्षाकृत इस वस्तु की केवल आधी मात्रा खरीदी जा सकती है। सभी प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों के औसत के आधार पर हम मुद्रा के सामान्य मूल्य के सम्बन्ध में विचार कर सकते हैं। यद्यपि यह विचार शत-प्रतिशत सत्य नहीं है परन्तु यह काफी अंश तक सत्य होता है। उदाहरणार्थ, इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि १९२० ई० में अमरीकी डालर की क्रय-शक्ति इसकी १९१३ ई० में क्रय-शक्ति की तुलना में आधी थी। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि १९२३ ई० में अमरीकी डालर द्वारा १९२६ ई० की तुलना में ५० प्रतिशत अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती थीं।

क्राउथर के विचारानुसार बिना किसी विशिष्टता के मुद्रा के मूल्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इस दृष्टि से मुद्रा के अनेक मूल्य हो सकते हैं क्योंकि इसका अनेक कार्यों के लिये उपयोग किया जा सकता है। इस कठिनाई को दूर करने तथा मुद्रा के विचार में निश्चितता लाने के उद्देश्य से क्राउथर ने मुद्रा के थोक-मूल्य, फुटकर-मूल्य तथा श्रममूल्य का वर्णन किया है। मुद्रा के थोक-मूल्य का अभिप्राय वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा से है जो थोक बाजार में मुद्रा-इकाई द्वारा क्रय की जा सकती है। मुद्रा का फुटकर-मूल्य इसका किसी परिवार के लिये वह मूल्य होता है,

---

2. "Since the purchasing power of money in a given context depends upon the quantity of goods and services which a unit of money will purchase, it follows that it can be measured by the price of a composite commodity made up of the various individual goods and services in proportion corresponding to their importance as objects of expenditure." (J. M. Keynes : *A Treatise on Money*, Vol. I.)
3. "The purchasing power of money is the reciprocal of the level of prices, so that study of the purchasing power of money is identical with the study of price level." (Irving Fisher : *The Purchasing Power of Money*, rev. ed., p. 14.)
4. "When we investigate into all influences of money on individual prices, quite irrespective of whether they are or are not aceompanied by a change of price level, it is not long before we begin to realise the superfluity of the concept of the general value of money conceived as the reverse of some price level." (F. A. von Hayek : *Prices and Production*, p. 29.)

जो वह परिवार फुटकर-बाजार में वस्तुएँ खरीद कर प्राप्त करता है। मुद्रा के श्रम-मूल्य का महत्त्व उस व्यापारी के लिये होता है जो श्रम सेवाओं को वेतन पर प्राप्त करता है। मुद्रा का श्रम-मूल्य किसी व्यवसायी के लिये श्रम की वह मात्रा है जो मुद्रा इकाई के द्वारा उस व्यवसायी को प्राप्त हो सकती है।

यद्यपि मुद्रा के मूल्य की इस प्रकार की परिभाषाएँ पूर्णतया सत्य नहीं है, परन्तु इनका व्यावहारिक महत्त्व है। इनके द्वारा हमें मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार प्राप्त होते हैं। परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के इस सापेक्ष मूल्य के विचार की आलोचना की है। इसके स्थान पर उन्होंने मुद्रा के निरपेक्ष मूल्य को सराहना की है। एण्डरसन (B. M. Anderson) ने मुद्रा के निरपेक्ष मूल्य के विचार की सराहना करते हुये अपना ध्यान मुद्रा पदाथ पर केन्द्रित किया है, अर्थात् उनके लिये मुद्रा का पदार्थमूल्य महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थशास्त्री हैं, जिनमे किन्ले का नाम उल्लेखनीय है, जिनके अनुसार मुद्रा का मूल्य सीमान्त विनिमय में प्राप्त हुई सेवाओं के पूँजीकृत मूल्य के बराबर होता है।[5]

मुद्रा का मूल्य निर्धारण

मुद्रा के मूल्य निर्धारण का अध्ययन मुद्रा के समुचित अध्ययन की अपेक्षा एक विशेष महत्त्व रखता है। सामान्य रूप से मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी निम्नलिखित सिद्धान्त हैं :

(क) वस्तु सिद्धान्त (Commodity Theory)
(ख) मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary Theory)
(ग) आय सिद्धान्त (Income Theory)

इस अध्याय में हम मुद्रा के मूल्य निर्धारण के वस्तुसिद्धान्त की व्याख्या करेंगे तथा अन्य सिद्धान्तों की व्याख्या अगले दो अध्यायों में की जावेगी। वस्तुसिद्धान्त मुद्रा के मूल्य निर्धारण का सबसे अधिक पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा अन्य वस्तुओं के समान है तथा इसका मूल्य उस पदार्थ के मूल्य द्वारा निर्धारित होता है जिसकी मुद्रा बनी होती है। प्राचीन समय में जब मुद्रा स्वर्ण अथवा चाँदी की बनी होती थी तब इस कथन में काफी सचाई थी।

जब तक सरकार देश की मुद्रा इकाई को निर्धारित शुद्धता के स्वर्ण अथवा चाँदी के निश्चित भार के रूप में परिवर्तन करने का वचन देती है तथा अपने इस वचन को सरकार मुद्रा के बदले में स्वर्ण अथवा चाँदी देकर पूरा करती है तब तक मुद्रा का मूल्य मुद्रा के बदले में प्राप्त होने वाली 'पीली' अथवा 'सफेद' धातु के मूल्य से भिन्न नहीं हो सकता है। मुद्रा के मूल्य निर्धारण के वस्तुसिद्धान्त की इस सचाई से किसी को इन्कार नहीं हो सकता है। परन्तु मुद्रा के मूल्य निर्धारण का वस्तुसिद्धान्त यह बतलाने में असमर्थ है कि उस धातु का, जिसकी मुद्रा बनी होती है—स्वर्ण, रजत अथवा अन्य धातु—क्यों मूल्य होता है। वह सिद्धान्त केवल इतना बतलाता है कि मुद्रा इकाई के मूल्य तथा उस धातु के निर्धारित भार के मूल्य, जिसकी मुद्रा इकाई बनी होती है, में समानता होती है। दूसरे शब्दों में मुद्रा इकाई का वैधानिक तथा वास्तविक मूल्य समान होना चाहिये।

वस्तु सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य उस वस्तु, जिसको मुद्रा बनी होती है अथवा जिसमें मुद्रा परिवर्तनीय होती है, के वास्तविक मूल्य द्वारा निर्धारित होता है। मौद्रिक उपयोग के अतिरिक्त स्वर्ण अथवा चाँदी के अन्य उपयोग भी होते हैं तथा इस कारण इनको वास्तविक मूल्य

5. The value of money is the "capitalised value of the services rendered in the marginal exchange." (D. Kinley : *Money*, p. 135.)

प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में यदि इन धातुओं की मौद्रिक माँग घट कर शून्य भी हो जावे तब भी इनकी आभूषणों, कला तथा उद्योग में माँग होगी।

सिद्धान्त के दोष

एक विशेष कठिनाई इस प्रश्न का उत्तर देने में उत्पन्न होती है कि स्वर्ण का वास्तविक मूल्य अधिक होने के क्या कारण हैं। दूसरे शब्दों में, क्या स्वर्ण की अमौद्रिक—कला, उद्योग, आभूषण—माँग इतनी अधिक है कि इस आधार पर हम यह कह सकते है कि स्वर्ण का वास्तविक मूल्य इतना ही अधिक होना चाहिये जितना कि यह वास्तव में है। यद्यपि इस कथन से किसी को इन्कार नहीं हो सकता है कि स्वर्ण के अनेक उपयोग हैं तथा इस कारण किसी अन्य वस्तु के समान इसकी भी कुछ माँग कीमत (demand price) होगी क्योंकि स्वर्ण आभूषणों, कला की वस्तुएँ, दाँतों में भरावट करने, पार्कर इत्यादि उच्च श्रेणी के लिखने के कलमों की निबें बनाने के लिये तथा अन्य उपयोगों में काम में लाया जाता है। परन्तु यह होते हुये भी स्वर्ण की इस अमौद्रिक माँग के आधार पर स्वर्ण के ऊँचे मूल्य की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

यद्यपि यह कहना सत्य है कि आज से लगभग १,५०० वर्ष पूर्व स्वर्ण की लगभग समस्त माँग का प्रमुख स्रोत सजावट तथा आभूषण थे परन्तु आज यह कहना गलत होगा। प्राचीन समय में सम्भवत: धनी लोगों को आभूषणों तथा स्वर्ण के अतिरिक्त खर्च करने के अन्य अधिक साधन पर्याप्त मात्रा में पाप्त नहीं थे, परन्तु आज का युग भिन्न है। अमरीका, जर्मनी, इंगलैंड के समान पश्चिम के विकसित देशों में आज धनी व्यक्तियों के खरीदने के लिये कार, रेडियो, टेलीविजन, रेफ्रिजरेटर इत्यादि अनेक वस्तुएँ उपलब्ध हैं। इन उपयोगी वस्तुओं के होते हुए धनी व्यक्ति स्वर्ण पर अपनी आय को खर्च न करके अन्य उपयोगी वस्तुओं को खरीदेंगे। आज का धनी व्यक्ति चाँदी के गिलास में गरम पानी पीने के स्थान पर साधारण गिलास में ठंडा शर्बत पीना पसन्द करता है। इसी प्रकार अधिक आभूषणों पर खर्च न करके व्यक्ति घर को गरमी में ठंडा करने के लिये वातानुकूलक को खरीदने पर खर्च करेगा।

पूर्वी देशों में भी, जहाँ के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि लोगों को स्वर्ण से विशेष लगाव है, लोगों की अभिरुचियों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है तथा वहाँ आज स्वर्ण की तुलना में कार आदि को अधिक महत्त्व दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि स्वर्ण की कुल अमौद्रिक माँग इतनी कम है कि इसके आधार पर स्वर्ण की कुल माँग, जो बहुत अधिक है, की घटना को नहीं समझाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि स्वर्ण की अमौद्रिक माँग कम होते हुए भी स्वर्ण की माँग इतनी अधिक है कि इसका मूल्य काफी ऊँचा है ? क्या कारण है कि उन देशों में भी, जहाँ स्वर्ण को आभूषणों के लिये काम में नहीं लाया जाता है, स्वर्ण की माँग काफी अधिक है? उत्तर स्पष्ट है। आज संसार में स्वर्ण की अधिकांश माँग सरकारों द्वारा स्वर्ण को मौद्रिक निधि के रूप में रखने के कारण उत्पन्न होती है। वर्तमान समय में स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नकदी की माँग तथा पूर्ति निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण है।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आभूषणों के लिये स्वर्ण की माँग कम हो गई है परन्तु धन को संचय करने के लिये स्वर्ण की आज काफी अधिक माँग है। इसके कई कारण हैं प्रथम, स्वर्ण के रूप में धन को संचित करने में सुविधा रहती है। दूसरे, लोगों का स्वर्ण के प्रति यह विश्वास रहा है कि इसका मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्यों की अपेक्षा स्थिर रहता है। वर्तमान युग में एक अन्य कारण, जिसके फलस्वरूप स्वर्ण की धन संचय करने के लिये माँग होती है, यह है कि यह संसार के सभी देशों में मुद्रा आधार का कार्य करता है। जब तक लोगों को यह विश्वास रहेगा कि

सरकारी राज्यकोषों को निर्धारित मूल्य पर स्वर्ण बेचा जा सकता है तब तक भविष्य में स्वर्ण की माँग में कमी होने का भय लोगों में उत्पन्न नहीं होगा। लोग यह जानते हैं कि मुद्रा का पुनर्मूल्यन होने की असाधारण स्थिति के अतिरिक्त अन्य सब परिस्थितियों में स्वर्ण को संचय करने से उनको हानि नहीं होगी। मुद्रा अवमूल्यन की स्थिति में स्वर्ण को संचय करने से उनको लाभ प्राप्त हो सकता है।

उपर्युक्त तर्कों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वर्ण की अधिकांश माँग उत्पन्न होने का कारण यह है कि इसका मौद्रिक कार्यों के लिये उपयोग किया जाता है। परन्तु यह कहने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि स्वर्ण का वस्तु मूल्य इसकी मौद्रिक माँग का एक मात्र परिणाम है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य निर्धारण के वस्तुसिद्धान्त के समर्थकों के इस कथन में कोई सत्य नहीं है कि स्वर्ण का मूल्य इसकी अमौद्रिक माँग का परिणाम है। वास्तव में यह सत्य है कि स्वर्ण का मूल्य इसकी कुल मांग, जो इसकी मौद्रिक तथा अमौद्रिक माँगों का योग है, का परिणाम है। वस्तु-सिद्धान्त स्वर्ण की कुल माँग के केवल उस भाग पर ध्यान केंद्रित करके, जो स्वर्ण के केवल अमौद्रिक उपयोगों द्वारा उत्पन्न होती है, स्वर्ण के मूल्य का विश्लेषण करता है। परन्तु ऐसा करना गलत है तथा वस्तु सिद्धान्तअधूरा है।

सिद्धान्त का संशोधित रूप

वस्तुसिद्धान्त के दोषों को ध्यान में रखते हुये इसमें संशोवन किये गये हैं। मुद्रा के मूल्य निर्धारण के संशोधित वस्तुसिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि स्वर्ण की कुल माँग का अधिकांश भाग इसकी मौद्रिक माँग से सम्बन्धित है। इसके विपरीत प्राचीन वस्तु सिद्धान्त में स्वर्ण की केवल अमौद्रिक माँग को इसके मूल्य का कारण विचारा जाता था। प्राचीन वस्तु सिद्धान्त के समर्थकों के समान संशोधित वस्तु सिद्धान्त के समर्थकों के विचारानुसार मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की उस मात्रा द्वारा निर्धारित होता है जिसकी मुद्रा इकाई बनी होती है अथवा प्रतिनिधित्व करती है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के विचारानुसार अन्य वस्तु के समान स्वर्ण का मूल्य भी इसकी सम्पूर्ण माँग—मौद्रिक तथा अमौद्रिक—एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। संशोधित वस्तुसिद्धान्त का केन्द्रीय विचार स्पष्ट करते हुये रोबर्टसन ने लिखा है कि "हमको यह याद रखना चाहिये कि मुद्रा अनेक आर्थिक वस्तुओं में से एक है तथा इस कारण इसका मूल्य भी अन्य वस्तुओं के मूल्यों के समान प्रमुख रूप से उन्हीं दो कारणों—माँग तथा पूर्ति—द्वारा निर्धारित होता है जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारित होते हैं।"[6]

यद्यपि संशोधित वस्तुसिद्धान्त प्राचीन वस्तु सिद्धान्त की तुलना में उत्तम है परन्तु यह दोषरहित नही है। कई बातों में स्वर्ण अन्य वस्तुओं से भिन्न है। प्रथम, स्वर्ण की उत्पादन लागत में कमी हो जाने के फलस्वरूप इसके कुल उत्पादन में वृद्धि हो जावेगी, क्योंकि घटिया खानों से भी स्वर्ण प्राप्त किया जाने लगेगा। परन्तु उत्पादन में वृद्धि होने के फलस्वरूप स्वर्ण की कीमत में कमी नहीं होगी, यद्यपि साधारण स्थिति में कीमत में कमी होनी चाहिये। मूल्य में कमी न होने का मुख्य कारण यह है कि स्वर्ण की अधिक माँग इसको मुद्रा आधार के रूप में उपयोग करने के कारण होती

---

6. "Once more we can keep on the right lines if we start by remembering that money is only one of many economic things. Its value, therefore, is primarily determined by exactly the same two factors as determine the value of any other thing, namely the conditions of demand for it, and quantity of it available" (D. H. Robertson: *Money*, p. 28,)

है तथा इसका मूल्य सरकार द्वारा ही कम किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि किसी अन्य वस्तु के समान स्वर्ण का मूल्य केवल इसकी माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित नहीं होता है।

दूसरे, मूल्य में परिवर्तन होने के फलस्वरूप इसके उत्पादन में परिवर्तन होने में कुछ समय लगता है। जब स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होती है तो स्वर्ण के उत्पादन में तुरन्त बृद्धि नहीं हो जाती है। घटिया श्रेणी की खानों से स्वर्ण की कीमत में कमी होने के पश्चात् भी सीमान्त उत्पादक काफी समय तक स्वर्ण का उत्पादन करते रहते हैं, यद्यपि उत्पादन करने में उनको घाटा होता है। खान को बन्द करने तथा मशीन आदि को बेचने में समय लगता है। इसके अतिरिक्त जबतक उत्पादन करके उत्पादकों को परिवर्तनीय अथवा प्रधान लागत से कुछ अधिक आय प्राप्त हो सकती है तब तक वे उत्पादन करने की अपेक्षा उत्पादन करना पसन्द करेंगे क्योंकि उत्पादन करने से उनको पूरक लागत का कुछ भाग प्राप्त हो जाता है। उत्पादन न करने से उनको सारी पूरक लागत का भार स्वयं सहन करना पड़ेगा। यदि मूल्य काफी समय तक कुल उत्पादन लागत से कम रहता है तो कुछ समय पश्चात् जैसे जैसे मशीन तथा अन्य उत्पादन यन्त्र घिसकर व्यर्थ हो जावेंगे इनको नये यन्त्रों द्वारा प्रतिस्थापित नहीं किया जावेगा तथा स्वर्ण उद्योग की उत्पादन-क्षमता कम हो जावेगी। संक्षेप में स्वर्ण उन वस्तुओं से भिन्न है जिनकी पूर्ति में उनकी माँग में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार शीघ्र परिवर्तन हो जाते हैं।

तीसरे, स्वर्ण का चालू कुल उत्पादन इसकी कुल उपलब्ध पूर्ति का बहुत थोड़ा भाग होता है। यह बात अन्य वस्तुओं के बारे में सत्य नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि स्वर्ण के चालू उत्पादन में हुई वृद्धि अथवा कमी का इसके कुल उपलब्ध स्टाक पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। स्वर्ण का वार्षिक उत्पादन कुल स्वर्ण स्टाक का केवल २ प्रतिशत है। अत: वार्षिक उत्पादन में १०० प्रतिशत की वृद्धि होने से स्वर्ण के कुल उपलब्ध स्टाक में केवल २ प्रतिशत की वृद्धि होगी। परिणामस्वरूप इसके मूल्य में विशेष कमी नहीं होगी।

चौथे, स्वर्ण की द्रव्य माँग में होने वाली कमी का इसके मूल्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि स्वर्ण संचलन में मुद्रा के आधार का कार्य करता है। यदि इसकी द्रव्य माँग घटकर शून्य हो जावे तो स्वर्ण के मूल्य में भारी कमी हो जावेगी।

निष्कर्ष

मुद्रा के मूल्य निर्धारण के वस्तुसिद्धान्त में अनेक दोषों में कारण इस सिद्धान्त का मुद्रा के मूल्य की व्याख्या करने में विशेष महत्त्व नहीं है। इस सिद्धान्त को मौद्रिक नीति का आधार नहीं बनाया जा सकता है। इस सिद्धान्त द्वारा यह नहीं समझाया जा सकता है कि वर्तमान कागजी मुद्रा का, जिसका वस्तुमूल्य शून्य है, क्यों मूल्य होता है।

अध्ययन सूची

1. D. H. Robertson : Money, Chapter II.
2. E. S. Klise : Money and Banking, Chapter 18.

प्रश्न

1. Discuss why the commodity theory of money value cannot be accepted as a complete explanation of determination of the value of money.

५

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
(Quantity Theory of Money)

मुद्रा के मूल्य निर्धारण के परिमाण सिद्धान्त का आरम्भ १६ वीं शताब्दी में वणिकवादी लेखकों के लेखों तथा पुस्तिकाओं में पाया जा सकता है।[1] यद्यपि इस सिद्धान्त के उद्‌गम के चिह्न उन लेखकों के, जिन्होंने यूरोप में नई दुनिया (New World) से भारी मात्रा में स्वर्ण का आयात होने के उपरान्त १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दियों में हुई कीमत वृद्धि की व्याख्या करने का प्रयास किया था, लेखनकार्यों में पाये जाते हैं परन्तु सिद्धान्त की क्रमबद्ध व्याख्या सर्वप्रथम प्रसिद्ध अँग्रेज दार्शनिक जॉन लॉक (John Locke) ने १९६१ ई० में की थी।[2]

जॉन लॉक के पश्चात् मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में काफी परिवर्तन तथा संशोधन किये गये हैं। समय के व्यतीत होने के साथ इस सिद्धान्त का महत्त्व भी बढ़ता गया तथा कुछ समय पश्चात् १८ वीं शताब्दी के अन्त में यह सिद्धान्त परम्परावादी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की उच्च श्रेणी में सम्मिलित किया जाने लगा था। १७५२ ई० में प्रसिद्ध अँगरेज दार्शनिक डैविड ह्यूम (David Hume) ने अपनी *"Political Discourses"* शीर्षक पुस्तक के *'Of Money'* नामक निबन्ध में परिमाण सिद्धान्त में सुधार करके इसकी सविस्तार व्याख्या की थी। ह्यूम द्वारा संशोधित परिमाण सिद्धान्त को १९ वीं शताब्दी में आर्थिक साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

---

1. प्रोफेसरमार्गेट (A. W. Marget) ने अपनी *Theory of Prices* नामक पुस्तक में परिमाण सिद्धान्त का आरम्भ १५वीं शताब्दी में हुआ बताया है।
2. अर्थशास्त्री इस विषय पर एक मत नहीं हैं कि जॉन लॉक ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। जैकब वाइनर के विचारानुसार यद्यपि परिमाण सिद्धान्त का विकास करने तथा इसकी पूर्ण व्याख्या करने का श्रेय जॉन लॉक को प्राप्त है परन्तु लॉक के पूर्व अनेक वणिकवादी लेखकों ने १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में इस सिद्धान्त की सरल व्याख्या की थी। वाइनर ने अपने इस कथन के समर्थन में थॉमस मन; जेरार्ड डी मेलनीस; सर रॉबर्ट ब्रूस काटन; हेनरी रॉबिन्सन आदि वणिकवादी लेखकों के लेखों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। परन्तु एंजिला तथा मौनरो के विचारानुसार जॉन लॉक के पूर्व अँग्रेज वणिकवादी लेखकों को परिमाण सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त नहीं था।

यद्यपि मुद्रा के शुद्ध परिमाण सिद्धान्त[4] की प्राचीन व्याख्या के अनुसार कीमत-स्तर तथा मुद्रा की मात्रा के बीच इस प्रकार का विशेष परस्पर सम्बन्ध था कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी होने के फलस्वरूप कीमत-स्तर में भी वृद्धि अथवा कमी हो जावेगी परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि कीमत-स्तर में सदा समानुपातिक परिवर्तन होते हैं। दूसरे शब्दों में, प्राचीन परिमाण सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि कीमत-स्तर तथा मुद्रा की मात्रा के मध्य एक सीधा हेतुक सम्बन्ध अवश्य था परन्तु यह सम्बन्ध आनुपातिक नहीं था।

ह्यूम के पश्चात् एडम स्मिथ तथा स्मिथ के पश्चात् डेविड रिकार्डो, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने इस विषय पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये थे। परिणाम सिद्धान्त के प्राचीन प्रतिपादक[5] इस सत्य से परिचित थे कि उत्पादन तकनीक में सुधार होने, अर्थव्यवस्था में नये साधनों की खोज होने तथा आविष्कार आदि कारणों से भविष्य में वास्तविक उत्पादन में वृद्धि होना सम्भव था। वे यह भी जानते थे कि मौद्रिक संस्थाओं में परिवर्तन होते रहने से मुद्रा के वेग में परिवर्तन होना सम्भव था। परिणामस्वरूप यह कहना सत्य नहीं था कि कीमत-स्तर में उसी अनुपात में परिवर्तन होते हैं जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होते हैं। उनका कहना था कि इन सीमाओं के अधीन कीमत-स्तर (P) तथा मुद्रा की मात्रा (M) के मध्य एक इस प्रकार का विश्वसनीय सम्बन्ध था कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी होने के फलस्वरूप कीमत-स्तर में भी वृद्धि अथवा कमी हो जाती है। शुद्ध परिमाण सिद्धान्त की इस व्याख्या को चित्र ५·१ द्वारा समझाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा का मूल्य इसकी मात्रा अथवा पूर्ति पर निर्भर होता है। परिमाण सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि कीमत-स्तर की मुद्रा सापेक्षता (लोच)

---

4. Professor Hansen has pointed out that the pure quantity theory is not the same thing as the quantity equation approach which "is not a theory but merely a way of posing the problem of money and prices." It should also be distinguished "from such variants of the quantity theroy as the Marshallian theory which centres attention not primarily on the quantity of money as such but on the shifts in the desire to hold cash." (A. H. Hansen : *Monetary Theory and Fiscal Policy*, p.48 footnote.)

5. परिमाण अर्थशास्त्री कौन है ? मिल्टन फ्रीडमैन के विचारानुसार परिमाण अर्थशास्त्री तीन बातों में विश्वास करता है। प्रथम, वह मुद्रा के माँग-फलन की अत्यधिक स्थिरता में विश्वास रखता है तथा इस को कीन्सवादी उपभोग-फलन की तुलना में अधिक स्थिर विचारता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मुद्रा का माँग-वक्र दिया हुआ अथवा स्थिर होता है। उदाहरणार्थ, अतिस्फीति काल में मुद्रा के वेग में हुई अचानक तीव्र वृद्धि मुद्रा के स्थिर माँग-फलन के अनुकूल है यदि आशंसित कीमत परिवर्तनों को भी मुद्रा की माँग का निर्धारक विचारा जावे। दूसरे, परिमाण अर्थशास्त्री के विचारानुसार मुद्रा की पूर्ति तथा इसकी माँग को निर्धारित करने वाले कारणों के मध्य स्वाधीनता होती है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की माँग को निर्धारित करने वाले कारण उन कारणों से भिन्न होते हैं जो इसकी पूर्ति को निर्धारित करते हैं। तीसरे, परिणाम अर्थशास्त्री के विचारानुसार ब्याज शुद्ध मौद्रिक घटना नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो मुद्रा प्राधिकारी ब्याज की दर को किसी भी स्तर पर स्थिर रख सकता था। परिमाण अर्थशास्त्री ब्याज की दर की अमौद्रिकता में विश्वास करता है तथा उसके अनुसार ब्याज की दर बचत करने तथा उत्पादकता की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है।

घनात्मक होती है। वास्तव में कट्टर परिमाण अर्थशास्त्री[6] यह विश्वास करते थे कि मुद्रा का माँग-फलन आयताकार अतिपरवलय था तथा मुद्रा के मूल्य (क्रय-शक्ति) में इसकी मात्रा में हुये परिवर्तनों के विपरीत अनुपात में परिवर्तन होते हैं।

मुद्रा के मूल्य-निर्धारण सम्बन्धी परिमाण सिद्धान्त को चित्र ५·१ द्वारा समझाया जा सकता है। चित्र ५·१ में X-अक्ष पर संचलन में मुद्रा की मात्रा (MV) तथा Y-अक्ष पर कीमत-स्तर (P) को दिखाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि मुद्रा की मात्रा में किसी दिये हुये अनुपात (अथवा प्रतिशत) में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर में समान अनुपात में परिवर्तन होते हैं। जब समाज में संचलन में मुद्रा की कुल मात्रा OM_0 है तो कीमत-स्तर OP_0 है। जब संचलन में मुद्रा की मात्रा OM_0 से घट कर OM_1 हो जाती है तो कीमत-स्तर OP_0 से घट कर OP_1 हो जाता है। इस प्रकार कीमत-स्तर में हुआ आनुपातिक परिवर्तन $\frac{OP_1 - OP_0}{OP_0}$ मुद्रा की मात्रा में हुये आनुपातिक परिवर्तन $\frac{OM_1 - OM_0}{OM_0}$ के बराबर है। इसी प्रकार

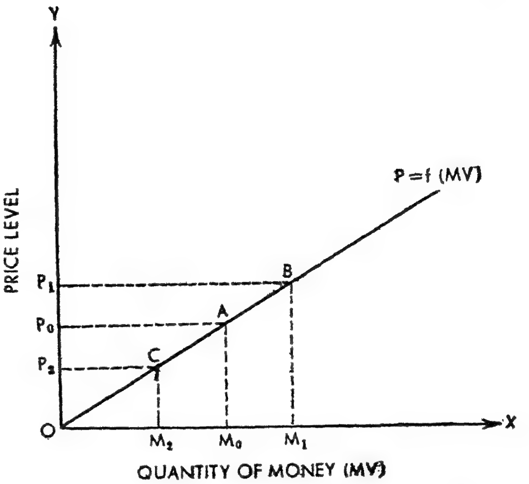

चित्र ५·१

जब संचलन में मुद्रा की मात्रा OM_0 से बढ़ कर OM_2 हो जाती है तो कीमत-स्तर OP_0 से बढ़ कर OP_2 हो जाता है तथा कीमत-स्तर में हुआ आनुपातिक परिवर्तन $\frac{OP_0 - OP_2}{OP_0}$ मुद्रा की मात्रा में हुये आनुपातिक परिवर्तन $\frac{OM_0 - OM_2}{OM_0}$ के बराबर है।

परिमाण समीकरण

परिमाण समीकरणों का वर्णन कई रूपों में किया गया है। इनमें फिशर का समीकरण जिस को MV=PT द्वारा व्यक्त किया जाता है, सबसे अधिक प्रसिद्ध है। परिमाण समीकरणों के प्रमुख रूप निम्नलिखित प्रकार हैं।

---

6. एल्फ्रेड मार्शल तथा प्रोफेसर पीगू की भी यह मान्यता थी कि मुद्रा का माँग-वक्र आयताकार अतिपरवलय था। परन्तु विक्सेल सम्भवतः इस गलतफहमी से दूर थे क्योंकि उनके द्वारा प्राप्त बाजार सन्तुलन वक्र मुद्रा की माँग तथा पूर्ति वक्रों के छेदन-बिन्दुओं का पथ है। यह वक्र भिन्न कीमत स्तरों पर मुद्रा की कुल माँग को इस प्रकार व्यक्त करता है कि जब मुद्रा की पूर्ति तथा कीमत स्तर में सम-अनुपाती परिवर्तन होते हैं तब व्यक्ति वास्तविक नकदी की माँग में परिवर्तन नहीं करते हैं।

(१) **फिशर अथवा नकद व्यवसाय समीकरण**—इस समीकरण को $MV=PT$ के रूप में लिखा जाता है।

(२) **कैम्ब्रिज अथवा नकद-शेष समीकरण**—इस समीकरण को कई प्रकार से लिखा जा सकता है। कैम्ब्रिज अर्थशास्त्री मार्शल, पीगू, रोबर्टसन तथा कीन्स के नाम इस समीकरण से सम्बन्धित हैं। साधारणतया इस समीकरण को $M=k\ PT$ के रूप में लिखा जाता है।

(३) **आय समीकरण**—इस समीकरण को $MV_y=PY_y$ द्वारा व्यक्त किया जाता है।

अब हम उपर्युक्त तीनों समीकरणों की सविस्तार व्याख्या कर सकते हैं।

१. फिशर अथवा नकद व्यवसाय समीकरण

यद्यपि यह समीकरण अमेरिकी अर्थशास्त्री इरविंग फिशर के नाम से सम्बद्ध है परन्तु इसका आरम्भ प्रसिद्ध अँग्रेज अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल के हाथों द्वारा हुआ था। मुद्रा के मूल्य निर्धारण के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य तथा इसकी पूर्ति के बीच इस प्रकार का आनुपातिक उल्टा सम्बन्ध है कि, अन्य बातें समान रहते हुए, यदि संचलन में मुद्रा की मात्रा बढ़कर दुगनी हो जाती है तो मुद्रा का मूल्य घटकर आधा हो जाता है और यदि मात्रा घटकर आधी हो जाती है तो मुद्रा का मूल्य बढ़कर दुगना हो जाता है। मिल के अनुसार "मुद्रा का मूल्य, अन्य बातें समान रहते हुए, इसकी मात्रा के उल्टे अनुपात में बदलता है। मुद्रा की मात्रा में हुई प्रत्येक वृद्धि के फलस्वरूप इसका मूल्य आनुपातिक रूप में कम हो जाता है तथा मात्रा में हुई प्रत्येक कमी के कारण इसका मूल्य समान अनुपात में अधिक हो जाता है।"[7] प्रोफेसर टॉसिग (F. W. Taussig) की व्याख्या भी मिल की व्याख्या से मिलती-जुलती है। टॉसिग ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर दी जाए तो, अन्य बातें समान रहते हुए, कीमतें पहले की तुलना में दुगुनी हो जाएँगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना में आधा हो जाएगा। इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जाए तो, अन्य बातें समान रहते हुए, कीमतें भी पहले की तुलना में आधी हो जाएँगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना में दुगुना हो जाएगा।"[8] प्रोफेसर डी० एच० रॉबर्टसन ने इसी विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है: "मुद्रा की माँग की दी हुई स्थिति में मुद्रा के मूल्य तथा इसकी उपलब्ध मात्रा के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध है कि यदि मुद्रा की उपलब्ध मात्रा पहले की तुलना में अधिक हो जाती है तो इसकी मात्रा में हुई वृद्धि के अनुपात में इसकी प्रत्येक इकाई का मूल्य कम हो जाता है।"[9] गस्टव कैसल (Gustav Cassel) ने संचलन में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों के प्रभावों की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "मुद्रा की

---

7. "The value of money, *other things being the same*, varies inversely as its quantity ; every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exactly equivalent" (J. S. Mill : *Principles of Political Economy*, Vol. II, p. 15.)
8. Taussig states : "Double the quantity of money, and other things being equal, price will be twice as high as before and the value of money one half. Halve the quantity of money and, other things being equal, prices will be one-half of what they were before and the value of money double." (F. W. Taussig : *Principles of Economics*, Vol. I, p. 254.)
9. "Given the conditions of demand for money, the relation between its value and the quantity of it available is of this peculiar kind ; the larger the number of units available, the smaller, in exactly the proportion, is the value of each unit." (D. H. Robertson : *Money*, p. 31.)

विद्यमान मात्रा के द्वारा कुछ निश्चित भुगतान किय जाते हैं जिनके अनुसार कीमतों में समायोजन स्थापित होता है ।"[10] फिशर ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि "मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की बहुधा गलत व्याख्या की गई है । परन्तु फिर भी चैकों को ध्यान में न रखते हुये यह सिद्धान्त सत्य है क्योंकि कीमत-स्तर में, मुद्रा के वेग तथा व्यापार की मात्रा समान रखते हुए, प्रत्यक्ष रूप में मुद्रा की मात्रा में हुए परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन होते हैं ।"[11]

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मुद्रा की मात्रा और इसके मूल्य में सीधा सम्बन्ध है और इसलिए मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों के कारणों की खोज मुद्रा की मात्रा में करनी चाहिए । मुद्रा का मूल्य इसकी मात्रा में हुये परिवर्तनों के उल्टे अनुपात में बदलता है । फिशर ने १९११ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक *"The Purchasing Power of Money"* में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के निम्नलिखित समीकरण प्रस्तुत किये हैं ।

(१) $MV = PT$[12] अथवा $P = \frac{MV}{T}$

(२) $MV + M'V'$[13] $= PT$ अथवा $P = \frac{Mv + M'V'}{T}$

उपर्युक्त समीकरणों में

M अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा की मात्रा है ।

V इस मुद्रा का वेग (velocity) है । यह इस बात को बतलाता है कि किसी दिये हुये समय में मुद्रा-इकाई का आर्थिक लेन-देन में कितनी बार अन्तरण होता है । उदाहरणार्थ, यदि १०० रुपये द्वारा समाज में एक वर्ष में १,००० रुपये राशि के भुगतान होते हैं तो इसका यह अर्थ है कि मुद्रा का वेग १० है ।

M' समाज में कुल साख-मुद्रा (credit money) की उस मात्रा को सूचित करता है जिसके द्वारा आर्थिक लेन-देन किया जाता है ।

V' साख-मुद्रा का वेग है ।

T उन वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा को बतलाता है जिसका मुद्रा (M) तथा साख-मुद्रा (M') के माध्यम द्वारा अर्थव्यवस्था में किसी दी हुई समय अवधि में क्रय-विक्रय किया जाता है ।

P सामान्य कीमत-स्तर है ।

---

10. "........ existing quantity of money must involve a definite performanee to which the level of prices is obliged to adjust itself." (Gustav Cassel : *The Theory of Social Economy*, rev. ed., p 426.)

11. "The so-called "quantity theory" *i. e.*, that prices vary proportionately to money has often been incorrectly formulated, but (overlooking checks) the theory is correct in the sense that the level of prices varies directly with the quantity of money in circulation provided the velocity of circulation of that money and the volume of trade which it is obliged to perform are not changed." (Irving Fisher : *The Purchasing Power of money*, 2nd ed., 1920, p. 14.)

12. *op. cii* p. 24.

13. *op. cit.*, p. 48.

इस प्रकाउर न वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा (T) को, जिनका किसी दी हुई समय-अवधि में बाजार के माध्यम द्वारा विनिमय होता है, कीमत-स्तर (P) से गुणा करने पर मुद्रा की कुल मांग ज्ञात हो जाती है। मुद्रा की यह माँग सन्तुलन में इसकी कुल पूर्ति के बराबर होती है, अर्थात् $MV + M'V' = PT$.

मान्यताएँ

परिमाण सिद्धान्त का समीकरण कुछ मान्यताओं पर आधारित है। प्रथम, यह सिद्धान्त प्राचीन सामान्य मान्यता 'अन्य बातें समान रहते हुए' पर आधारित है। फिशर यह मानते हैं कि समाज में मुद्रा का वेग (V) और साख-मुद्रा का वेग (V') ऐसे संस्थागत कारणों (Institutional Factors) पर, जिनमें समय के साथ कोई विशेष परिवर्तन नहीं होते हैं, निर्भर होता है। इसलिये वे अपने समीकरण में इनको स्थिर मानते हैं। फिशर कीमत-स्तर (P) पर साख-मुद्रा (M') के पड़ने वाले प्रभावों की सम्भावना को भी यह मान कर समाप्त कर देते हैं कि समाज में कुल साख-मुद्रा (M') की मात्रा समाज में संचलन में मुद्रा (M) की मात्रा का स्थिर अनुपात होती है। समीकरण इस मान्यता पर भी आधारित है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने के हेतु वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा (T) में परिवर्तन नहीं होते हैं। परन्तु यह उसी समय सम्भव है जब अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान होती है। अतः परिमाण समीकरण अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है।

इन मान्यताओं के अतिरिक्त समीकरण की एक अन्य मान्यता यह है कि कीमत-स्तर (P) एक निष्क्रिय शक्ति है—अर्थात् मुद्रा तथा अन्य तत्वों की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का कीमत-स्तर पर प्रभाव पड़ता है, परन्तु कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों का मुद्रा तथा अन्य तत्वों की मात्रा पर प्रभाव नहीं पड़ता है। इसे स्पष्ट करते हुये फिशर लिखते हैं कि "समीकरण में कीमत-स्तर सामान्यतः एक निरपेक्षतया निष्क्रिय तत्व है। यह स्वयं समीकरण में दूसरे तत्वों द्वारा निर्धारित होता परन्तु दूसरे तत्वों पर स्वयं कोई प्रभाव नहीं डालता है।"[14] इस प्रकार मुद्रा के अतिरिक्त समीकरण में अन्य सभी तत्वों (M'; V; V' और T) को स्थिर मानकर फिशर संचलन में मुद्रा की मात्रा (M) और कीमत-स्तर (P) के बीच एक इस प्रकार का आनुपातिक हेतुक सम्बन्ध स्थापित करते हैं कि यदि मुद्रा की मात्रा में एक दिये हुये प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है तो सामान्य कीमत-स्तर में भी समान प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। अतः यदि मुद्रा की मात्रा बढ़कर दुगुनी हो जाती है तो कीमत-स्तर भी बढ़कर दुगुना हो जावेगा और मुद्रा का मूल्य घटकर आधा हो जावेगा। कीमत-स्तर और मुद्रा की मात्रा के बीच इस सम्बन्ध की व्याख्या करते हुये फिशर लिखते हैं कि "मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने का एक सामान्य प्रभाव यह होता है कि सामान्य कीमत-स्तर में भी ठीक उसी अनुपात में वृद्धि हो जाती है। परिमाण सिद्धान्त की इस सत्यता में कि मुद्रा की मात्रा में हुये परिवर्तन समान परिस्थिति में कीमतों में आनुपातिक परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती है।"[15]

आलोचनाएँ

(१) मुद्रा के मूल्य निर्धारण का परिमाण समीकरण अनेक आलोचनाओं का विषय रहा है। अधिकांश आलोचनाओं का कारण परिमाण समीकरण की अवास्तविक मान्यतायें हैं। परिमाण समीकरण की प्रथम आलोचना यह है कि यह समीकरण समाज में उत्पादन तथा कीमतों

---

14. *op. cit.*, p. 172.
15. *op. cit.*, p. 157-58.

में जो सामयिक उच्चवचन उत्पन्न होते हैं तथा जिनके कारण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है, उनके कारणों को स्पष्ट नहीं करता है। इसके अनुसार यदि संचलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ा दी जावे तो कीमत-स्तर भी समान अनुपात में बढ़ जायेगा। परन्तु मन्दी काल में हम इसकी विपरीत स्थिति देखते हैं। एक ओर तो केन्द्रीय बैंक मन्दी को समाप्त करने के उद्देश्य से समाज में अधिक मुद्रा का प्रचालन करता है परन्तु दूसरी ओर कीमत-स्तर गिरता रहता है। मुद्रा का अधिक मात्रा में प्रचालन होने पर भी मन्दी काल में कीमत-स्तर क्यों गिरता है? इस घटना का कारण मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बताने में अयोग्य है। परिमाण सिद्धान्त की इस अयोग्यता का कारण समीकरण की उस मान्यता में निहित है जिसके अनुसार मुद्रा के वेग (V) को स्थिर माना गया है।

मन्दी काल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने पर भी कीमत-स्तर में कमी होने का प्रमुख कारण यह है कि भविष्य अनिश्चित हो जाने के कारण लोग मुद्रा को अन्य परिसम्पत्ति की तुलना में पसन्द करने लगते हैं। मन्दी काल में जब अन्य सभी वस्तुओं की कीमतें गिरती रहती हैं तब केवल मुद्रा एक ऐसी वस्तु होती है जिसके मूल्य में वृद्धि होती रहती है। अतः समाज में लोगों के नकदी-अधिमान में वृद्धि हो जाती है। मन्दी काल में धनी लोगों के नकदी-अधिमान में वृद्धि हो जाने के कारण वे मुद्रा को खर्च न करके इसे निसंचय (hoard) करना आरम्भ कर देते हैं। परिणामस्वरूप मुद्रा का वेग (V) कम हो जाता है यद्यपि केन्द्रीय बैंक अपने खुले बाजार की क्रिया द्वारा अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा को संचलन में बढ़ाने का प्रयत्न करती है परन्तु मुद्रा के वेग में इसकी मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा अधिक कमी हो जाने के कारण कीमत-स्तर गिरता रहता है।[16] परिमाण समीकरण अवास्तविक है क्योंकि इसमें मुद्रा के वेग (V) को स्थिर मान लिया गया है जबकि वास्तविकता यह है कि यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति में वृद्धि होती रहती है तो लोग मुद्रा का अधिक निसंचय करते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि मुद्रा का वेग बहुत कम हो जाता है। इसके विपरीत स्फीति में मुद्रा का वेग बढ़ जाता है तथा फलस्वरूप कीमतों में मुद्रा की मात्रा में हुई वृद्धि की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि होती है।

(२) फिशर अपने समीकरण में V तथा V′ को स्थिर मानते हैं और कीमत-स्तर में वृद्धि होना आवश्यक समझते हैं। परन्तु अनुभव यह बतलाता है कि कीमत-स्तर (P) में मुद्रा की मात्रा (M) में वृद्धि हुये बिना भी वृद्धि हो सकती है क्योंकि मुद्रा के वेग में वृद्धि हो सकती है। जर्मनी में १९२३ ई० में जब कीमत-स्तर युद्ध-पूर्व कीमत-स्तर की तुलना में १००,०००,०००,०००,००० गुना हो गया था, उस समय मुद्रा का वेग बहुत अधिक हो गया था। जर्मनी में १९२३ ई० में अतिस्फीति (hyper-inflation) का प्रमुख कारण यद्यपि मुद्रा की मात्रा में जर्मन सरकार द्वारा की गई वृद्धि थी परन्तु आर्थिक संकट का इससे भी अधिक मुख्य कारण यह था कि मुद्रा का वेग इसके युद्ध-पूर्व वेग की तुलना में बहुत अधिक हो गया था। प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा को खर्च करने के लिये आतुर था। जर्मन मार्क हीन मुद्रा हो गया था क्योंकि इसका मूल्य प्रतिक्षण तेजी के साथ गिर रहा था। प्रत्येक व्यक्ति मार्क को खर्च करके उससे मुक्ति प्राप्त करने को उत्सुक था। यदि १९२३ ई० की अतिस्फीति का कारण केवल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि

---

16. यद्यपि केन्द्रीय बैंक सस्ती मुद्रा नीति द्वारा कम ब्याज की दर पर वाणिज्य बैंकों के माध्यम द्वारा निवेशकर्ताओं को अधिक मात्रा में ऋण देने के लिये तैयार रहती है परन्तु पूँजी की सीमान्त उत्पादकता भविष्य उज्ज्वल न होने के कारण गिरती रहती है। परिणामस्वरूप उद्योगपति तथा व्यापारी कम ब्याज की दर पर भी बैंकों से ऋण नहीं लेते हैं। मन्दी अर्थव्यवस्था में और अधिक मन्दी को जन्म देती है।

हुआ होता तो जर्मनी में कीमतों में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने वाली वृद्धि कभी नहीं हुई होती। अतिस्फीति का सफलतापूर्वक समाधान करने के लिये संचलन में मुद्रा की मात्रा को कम करने के अतिरिक्त मुद्रा के वेग में भी पर्याप्त कमी करना आवश्यक था। परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के वेग को स्थिर मान कर हमको यह विश्वास दिलाता है कि अतिस्फीति की समस्या को केवल मुद्रा की मात्रा में कमी करके समाप्त किया जा सकता है। परन्तु केवल मुद्रा की मात्रा में कमी करके अतिस्फीति का अन्त नहीं हो सकता है। इसके लिये मुद्रा के वेग में भी पर्याप्त कमी होना आवश्यक है। यह भी सम्भव है कि मुद्रा के वेग में कमी हो जाने के कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होते हुए भी सामान्य कीमत-स्तर में वृद्धि न हो। जर्मनी में जब अतिस्फीति पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से मार्क को रैण्टन मार्क (renten mark) का नया नाम देकर जर्मनी की मुद्रा प्रणाली को पुनर्संगठित किया गया तो जनता में मार्क के प्रति पुनः विश्वास उत्पन्न हो गया था और जर्मन नागरिक मार्क को उत्तम मुद्रा समझने लगे थे।[17] परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति मार्क को बिना आवश्यकता खर्च करने के लिये आतुर नहीं था। इस प्रकार संचलन में मार्क का वेग घट गया था और कीमत स्तर पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा था।

यूनान में भी १९४४ ई० में लगभग इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ३० सितम्बर, १९४४ ई० से लेकर २० नवम्बर, १९४४ ई० तक लगभग १½ मास के अल्प समय में संचलन में बैंक ऑफ ग्रीस के नोटों की संख्या ७,३०५,५००,००० मिलियन से बढ़ कर ६,२७६,९४३,१०२,००० मिलियन अर्थात् ८६० गुनी हो गई थी। परिणामस्वरूप कीमत-स्तर १½ मास में बढ़कर ८,००० गुना हो गया था तथा देश की मुद्रा प्रणाली बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गई थी। लोगों का मुद्रा के प्रति विश्वास समाप्त हो जाने के कारण वस्तु-विनिमय की स्थिति साधारण बात बन गयी थी। स्टर्लिंग, जो विदेशी मुद्रा थी, यूनान की मुद्रा ड्राचमा के स्थान पर विनिमय इकाई बन गया था। स्थिति में सुधार करने के उद्देश्य से २१ नवम्बर, १९४४ ई० को मुद्रा सुधार अधिनियम (Monetary Reform Act) पास किया गया था जिसके अनुसार ५० बिलियन पुराने ड्राचमों के बदले में एक नया ड्राचमा दिया गया था।

(३) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के फलस्वरूप कीमत-स्तर में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है। यदि समाज में कुल उत्पादन मात्रा (T) में वृद्धि हो जाए और यदि यह वृद्धि मुद्रा की मात्रा में हुई वृद्धि के बराबर है तो कीमत-स्तर स्थिर रहेगा यद्यपि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो गई है। अमरीका का १९२० ई० का अनुभव यह बतलाता है कि उत्पादन की मात्रा में काफी वृद्धि हो जाने के कारण यह सम्भव है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने का कीमत-स्तर (P) पर कोई प्रभाव न पड़े। सच तो यह है कि न तो मुद्रा तथा साख-मुद्रा का वेग (V and V′) स्थिर रहता है और न ही उत्पादन की मात्रा (T) तथा कीमत-स्तर (P) एक-दूसरे से अप्रभावित रहते हैं। फिशर की मान्यताएँ अवास्तविक हैं तथा इन्हीं मान्यताओं के कारण परिमाण समीकरण का वास्तविक महत्त्व समाप्त हो जाता है। फिशर ने यह माना है कि मुद्रा के वेग और उत्पादन में कोई सम्बन्ध नहीं है तथा दोनों एक-दूसरे से पृथक् है। वास्तव में मुद्रा के वेग और उत्पादन की मात्रा के बीच इतना गहरा सम्बन्ध है कि मुद्रा के वेग में उत्पादन में हुये परिवर्तनों के समानुपात में परिवर्तन होते हैं। फिशर स्वयं भी यह मानते हैं कि परिवर्तन-काल (transition period) में कीमत-स्तर में परिवर्तन होने के अनेक स्वतन्त्र कारण होते हैं और इसलिये समीकरण कीमत-

17. The renten mark was said to be backed by the land of the country as the currency reserve. This restored confidence of the people in the german currency.

स्तर में हुये अल्पकालीन परिवर्तनों का स्पष्टीकरण नहीं करता है। फिशर यह भी मानते हैं कि जीवन में परिवर्तन-काल सामान्य नियम तथा सन्तुलन-काल अपवाद के रूप में विद्यमान होते हैं। परिमाण समीकरण के निर्माता इर्विंग फिशर समीकरण के दोषों से भली प्रकार परिचित हैं। अतः परिमाण समीकरण केवल दीर्घावधि में लागू होता है। परन्तु जैसा कि कीन्स ने कहा है कि दीर्घकाल में हम सब मर जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् कोई आर्थिक समस्या ऐसी नहीं रहती जिसके सम्बन्ध में हमको परिमाण सिद्धान्त के अध्ययन की आवश्यकता पड़े। जीवन की सभी समस्याएँ अल्पकालिक होती हैं जिनको इस सिद्धान्त की सहायता से नहीं सुलझाया जा सकता है। क्राउथर ने समीकरण के वास्तविक महत्त्व के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "अधिक से अधिक हम मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के पक्ष में यह कह सकते हैं कि दीर्घावधि में मुद्रा की उपस्थित मात्रा का कीमत-स्तर पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु व्यापार चक्र की अल्पावधि में मुद्रा की मात्रा कीमतों की गतियों को प्रभावित कर भी सकती है और नहीं भी। इसके प्रभावित करने की शक्ति इस बात पर आधारित है कि इसकी मात्रा में हुये परिवर्तन इसके वेग में हुये परिवर्तनों द्वारा नष्ट हो जाते हैं अथवा नहीं।"[18] सिद्धान्त की आलोचना करते हुये कोलबर्न ने भी लिखा है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल एक दीर्घकालीन घटनाओं की धारणा है।[19]

(४) मार्गेट (A.W. Marget) ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की अपनी पुस्तक *Theory of prices* में आलोचना करते हुये लिखा है कि "परिमाण समीकरण उन चरों (variables) का जिनका प्रभाव सम्भवतः कीमतों पर पड़ता है केवल एक संक्षिप्त वर्णन है। समीकरणों में प्रत्येक चर केवल एक अध्याय है जिनका उद्देश्य केवल इस बात की व्याख्या करना है कि किसी चर का आकार भिन्न परिस्थितियों में भिन्न क्यों होता है, तथा उन परिस्थितियों तथा अनुक्रम को सूचित करना है जिसके द्वारा एक चर के आकार में हुये परिवर्तनों का सम्बन्ध दूसरे चरों में हुये परिवर्तनों से जोड़ा जा सकता है।[20]

(५) हेयक (F. A. von Hayek) ने परिमाण सिद्धान्त की अपनी पुस्तक *Prices and Production* में आलोचना की है। उनके विचार में परिमाण समीकरण मुद्रा की कुल मात्रा; इसके वेग; व्यापार की मात्रा और सामान्य कीमत-स्तर के बीच एक सीधा तथा हेतुक (causal) परन्तु अवास्तविक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है। समीकरण में इस सत्य को भुला दिया गया है कि मौद्रिक कारण अर्थव्यवस्था पर अनेक व्यक्तिगत कीमतों द्वारा अपना प्रभाव डालते हैं। परिमाण समीकरण कीमतों में होने वाले उन सापेक्ष परिवर्तनों को, जो मौद्रिक कारणों द्वारा उत्पन्न होते

---

18. "The most we can say for the Quantity Theory is that the quantity of money in existence seems to be the dominant influence on the price level on the average of long period. But in the short period of trade cycle, it may or may not influence the movement of prices. And whether it does or does not depends on whether changes in the quantity of money are offset by changes in the velocity of its circulation." (Geoffrey Crowther : *An Outline of Money*, p. 128.)
19. "......the theory is a concept of long-run phenomena" (W A. L. Coulborn : *A Discussion of Money*, p. 90.)
20. "The quantity equations themselves are nothing more or less than short-hand expression designed to indicate the nature of variables whose operation can be shown to influence prices. Each of the variables in these equations is merely a chapter heading, a rubric for detailed analysis designed to explain why the variable in question will be of a different magnitude under which, and the sequence in which, changes in magnitude of one variable may be expected to be associated with changes in other variables." (A. W. Marget : *The Theory of Prices*, p. 81.)

हैं, नहीं समझाता है। व्यावहारिक दृष्टि से सापेक्ष कीमतों में परिवर्तन सामान्य कीमत-स्तर में परिवर्तनों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। चेण्डलर ने भी अपनी पुस्तक में परिमाण सिद्धान्त की जो आलोचना की है वह हेयक की आलोचना के समान है।

(६) हॉम (George N Halm) के विचार में परिमाण समीकरण अपनी सीमाओं के अतिरिक्त कुछ असंगतियों में दोषपूर्ण है। हॉम के विचारानुसार "हमको परिमाण समीकरण को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझना चाहिये अन्यथा हम बहुत सी कठिनाइयों में पड़ जावेंगे। हमको समीकरण के इस दोष को नहीं भुलाना चाहिये कि यद्यपि मुद्रा की मात्रा (M) समय के क्षण से सम्बन्धित है परन्तु इसके वेग का सम्बन्ध समय की अवधि से है। ऐसी स्थिति में MV का अर्थ यह होगा कि जब तक यह न माना जाए कि M मुद्रा कि वह औसत मात्रा है जो अर्थ व्यवस्था में समय के किसी निश्चित क्षण में नहीं बल्कि समय की अवधि में संचलन में होती है तब तक दो अतुलीय तत्वों को एक साथ गुणा करने के कारण असंगति की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जावेगी।"[21]

(७) परिमाण समीकरण की प्रमुख मान्यता यह है इसमें अन्य बातें समान रहती हैं। परन्तु यह मान्यता बहुत अवास्तविक है क्योंकि समाज गत्यात्मक है और आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि समीकरण के सभी तत्व सदा प्रचुर प्रवाह की स्थिति में रहते हैं। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने के साथ-साथ इसके वेग में भी परिवर्तन हो सकते हैं। साख-मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन हो सकते हैं। कीमतों में वृद्धि होने के कारण उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हो सकती है। इसलिये अन्य बातों को स्थिर मानना अवास्तविक है। इसके अतिरिक्त कीमत-स्तर में अमौद्रिक कारणों से भी परिवर्तन हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि बाढ़ के कारण फसल नष्ट हो जाती है अथवा वर्षा न होने के कारण खाद्यान्न के उत्पादन में कमी हो जाती है तो संचलन में मुद्रा की मात्रा स्थिर रहते हुये कीमत-स्तर में वृद्धि हो जायेगी। देश में जनसंख्या बढ़ जाने के कारण उत्पादन तथा मुद्रा की मात्रा समान रहते हुये भी कीमत-स्तर में वृद्धि हो सकती है। आविष्कारों तथा नवीन प्रक्रियाओं का भी कीमत-स्तर पर प्रभाव पड़ता है। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन प्रणाली में इन आविष्कारों तथा नवीन प्रक्रियाओं के कारण निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं तथा इनके परिणामस्वरूप कीम-तस्तर में भी परिवर्तन होते हैं। यद्यपि परिमाण सिद्धान्त में इन अमौद्रिक कारणों का कोई महत्त्व नहीं है परन्तु अमौद्रिक कारणों का कीमतों पर मौद्रिक कारणों की तुलना में अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अधूरा है।

(८) परिमाण समीकरण के अनुसार समाज में मुद्रा का एकमात्र कार्य केवल विनिमय-माध्यम का कार्य करना है। यह धारणा प्राचीन विचारधारा, जिसके अनुसार मुद्रा का स्वयं कोई महत्त्व नहीं था, पर आधारित है। यद्यपि यह सत्य है कि समाज में व्यक्ति मुद्रा को इसलिये प्राप्त करते हैं कि इसके द्वारा वे वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय सुविधा के साथ कर सकते हैं परन्तु विनिमय माध्यम के अतिरिक्त मुद्रा समाज में मूल्य के संचक (store of value) का कार्य भी करती है।

21. The importance of the equation of exchange must by no means be overrated. otherwise we are bound to get into difficulties. We have to note that M refers to a point of time, whereas V refers to the turn-over of money during a period of time ; consequently the expression MV would involve the inconsistency of multiplying non-comparable factors unless the assumption is made that M is an average amount of money in circulation during the period in question or is the same amount during the whole period. But these assumptions are not compatible with all possible purposes of the equations." (George N. Halm : *Monetary Theory*, 2nd ed., p. 22.)

अर्थव्यवस्था में मनुष्य आर्थिक क्रियाएँ अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त अपने भविष्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से भी करता है। परन्तु वर्तमान आर्थिक क्रियाओं के द्वारा भविष्य आवश्यकताओं की पूर्ति धन को संचय करके ही सम्भव हो सकती है। आधुनिक युग में मुद्रा ने धन का संचय करना सम्भव बना दिया है। जॉन मेनार्ड कीन्स ने सत्य लिखा है कि समाज में मुद्रा का महत्त्व इस कारण है क्योंकि यह वर्तमान तथा भविष्य के मध्य शृंखला का कार्य करती है। वर्तमान समय में मुद्रा के धन-संचय कार्य का महत्व बहुत अधिक हो गया है। परिमाण समीकरण में मुद्रा के इस महत्त्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा की गई है।

(१०) परिमाण समीकरण में कुल उत्पादन (T) को स्थिर माना गया है। इसका अर्थ यह है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान है। परिणमस्वरूप मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के हेतु केवल कीमतों में वृद्धि होती है। परन्तु पूर्ण रोजगार की मान्यता अवास्तविक है। देश में उत्पादन-साधन कुछ न कुछ मात्रा में बेरोजगार रहते हैं। बेरोजगारी की समस्या वर्तमान युग की अति भयानक सामाजिक समस्या है। पूँजीवादी देशों में तो यह समस्या है ही, परन्तु समाजवादी देश भी इस भयानक रोग से मुक्त नहीं हैं। मन्दी काल में यह समस्या और अधिक गम्भीर बन जाती है। अमरीका तथा इंगलैंड के समान विकसित पाश्चात्य देशों में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या कभी भी १० प्रतिशत से कम नहीं रही है। १९२९ ई० के मन्दी-काल में तो यह २५ प्रतिशत हो गयी थी। उन दिनों ऐसी गम्भीर स्थिति थी कि बेरोजगार व्यक्ति लन्दन तथा न्यूयार्क के प्रधान औद्योगिक नगरों की सड़कों पर झंडे लेकर बेरोजगारी के विरुद्ध प्रदर्शन करते थे तथा चिल्ला कर नारे लगा कर कहते थे कि हमको काम चाहिये परन्तु उनको कोई काम प्राप्त नहीं था। सरकार बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने में असमर्थ थी। इस समय से विचारधारा प्राचीन अर्थशास्त्र की पूर्ण रोजगार की मान्यता के विपरीत हो गयी और यह स्पष्ट हो गया कि पूर्ण रोजगार केवल एक मिथ्या अथवा पौराणिक कथा थी जिसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। भारत तथा पाकिस्तान जैसे अविकसित देशों में तो बेरोजगारी की समस्या सदैव ही विद्यमान रही है। यदि देश में बेरोजगार साधन विद्यमान हैं तो हम यह नहीं कह सकते हैं कि संचलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाने से कीमत-स्तर भी समान अनुपात में बढ़ जावेगा। दूसरे शब्दों में, परिमाण सिद्धान्त की यह मान्यता कि उत्पादन स्थिर रहता है सत्य नहीं है। यदि देश में बेरोजगार साधन विद्यमान हैं तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण उत्पादन (T) की मात्रा में वृद्धि होगी और कीमत-स्तर में मुद्रा को मात्रा में वृद्धि होने के अनुसार आनुपातिक वृद्धि नहीं होगी। यदि मुद्रा के बढ़ने के उपरान्त उत्पादन अनुपात से अधिक बढ़ जाता है तो कीमत-स्तर में कमी हो जावेगी। यह निष्कर्ष परिमाण सिद्धान्त के विपरीत है। इसी प्रकार यदि उत्पादन मुद्रा की मात्रा में हुई वृद्धि के सम-अनुपात में बढ़ता है तो कीमत-स्तर स्थिर रहेगा। यदि उत्पादन में मुद्रा की मात्रा में हुई वृद्धि की तुलना में कम वृद्धि होती है तो कीमत-स्तर में वृद्धि हो जावेगी परन्तु यह वृद्धि आनुपातिक नहीं होगी। केवल उसी अवस्था में जब उत्पादन की मुद्रा-लोच (money elasticity of production) शून्य होती है मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त सत्य सिद्ध होगा। यदि उत्पादन की मुद्रा-लोच धनात्मक है तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण उत्पादन में भी वृद्धि होगी तथा मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू नहीं होगा। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल उसी अर्थव्यवस्था में लागू होता है जहाँ साधनों की बेरोजगारी की समस्या नहीं है।

(११) परिमाण सिद्धान्त कीमतों के निर्धारण की विधि के क्रम के सम्बन्ध में गलत विचार प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कीमतों का निर्धारण कुल मुद्रा को कुल वस्तुओं द्वारा विनिमय करके होता है। परन्तु कीमत-निर्धारण एक क्रमागत विधि है। वस्तुओं की

कीमतों पर वर्तमान माँग के अतिरिक्त भविष्य का भी प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मिचल (W. C. Mitchell) ने कीमत निर्धारण की विधि को व्यापार चक्र के मार्ग से सम्बन्धित करते हुए लिखा है कि "अधिकांश समय P तथा T समीकरण में सक्रिय शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं और वे M और V में परिवर्तन लाते हैं। इसके अतिरिक्त वे M पर भी प्रभाव डालते हैं।"[22]

(१२) सामान्य कीमत के सिद्धान्त के रूप में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त युद्धकालीन अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा के सम्बन्ध में लागू नहीं होता है। युद्धकाल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के साथ-साथ वस्तुओं का उत्पादन भी उस समय तक बढ़ता रहता है जब तक देश में प्रत्यवस्फीति (reflation) की स्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती है। युद्ध काल में कीमत-स्तर और मुद्रा की मात्रा के बीच युद्धकालीन परिवर्तन को सिद्धान्त द्वारा नहीं समझाया जा सकता है।

(१३) परिमाण सिद्धान्त का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कीमतों में परिवर्तन केवल मौद्रिक कारणों से होते हैं। इसलिये केवल मुद्रा की मात्रा में उपयुक्त परिवर्तन करके कीमतों में स्थिरता लाई जा सकती है। तीसा के महान् आर्थिक संकट के समय में अमरीका और दूसरे देशों में इसका अनुभव किया गया था कि केवल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके कीमतों को गिरने से नहीं रोका जा सकता है। १९३२ ई० में मन्दी को समाप्त करने के उद्देश्य से अमरीका में फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) ने खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा सरकारी हुण्डियाँ खरीद कर संचलन में मुद्रा की मात्रा को बढ़ाने का प्रयत्न किया था। परन्तु इसका केवल यह परिणाम हुआ कि व्यापारी बैंकों की बेशी नकदी में वृद्धि हुई और कीमत-स्तर में और अधिक कमी होती रही। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कीमत-स्तर केवल मुद्रा की मात्रा पर निर्भर नहीं होता है। वास्तव में कीमत-स्तर अनेक ऐसे शक्तिशाली अमौद्रिक कारणों पर निर्भर होता है जो मुद्रा के प्रभाव को नष्ट कर सकते हैं। मुद्रा की मात्रा (M) और कीमत-स्तर (P) में कोई सीधा तथा आनुपातिक सम्बन्ध नहीं है। मुद्रा की मात्रा का प्रभाव कीमतों पर सीधे रूप में तथा तुरन्त नहीं पड़ता है। यह प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में ब्याज तथा निवेश द्वारा कुछ समय पश्चात् विद्यमान होता है।

(१४) परिमाण सिद्धान्त का एक अन्य गम्भीर दोष यह है कि यह मुद्रा के सिद्धान्त को कीमत निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त से बिलकुल पृथक् कर देता है। सत्य तो यह है कि सभी वस्तुओं की कीमतों के समान मुद्रा का मूल्य भी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। यदि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने इस मूल सत्य को समझा होता तो उन्होंने इस सिद्धान्त का व्यर्थ प्रतिपादन न किया होता।

(१५) कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि परिमाण सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व है। इनके अनुसार इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने के समय कीमतों में वृद्धि हो जाती है। इसके समर्थन में उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि १९वीं शताब्दी के मध्य में केलीफोर्निया तथा आस्ट्रेलिया में सोने की नई खानों की खोज होने के कारण सोने की पूर्ति में वृद्धि होने पर संसार के लगभग सभी देशों में वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो गई थी। इसी प्रकार प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में जो अतिस्फीति की भयानक समस्या उत्पन्न हुई थी, उसका प्रमुख कारण यह था कि संचलन में कागजी मुद्रा की मात्रा युद्ध-पूर्व मात्रा की अपेक्षा बहुत अधिक हो गई थी। केमरर ने अपनी *Money and Credit Instruments in their Relation to General Prices* शीर्षक पुस्तक में १८७९-१८९८ ई० के अध्ययन के आधार पर परिमाण सिद्धान्त के

22. W. C. Mitchell : *Business Cycles*, pp. 133-34.

व्यावहारिक महत्त्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। कैसल ने भी आँकड़ों की सहायता से मुद्रा की पूर्ति और कीमतों के बीच सीधा और आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है।[23] अपनी *Money and Foreign Exchange After* 1914 शीर्षक पुस्तक में थोक तथा फुटकर कीमतों के निर्देशांकों की तुलना १९१४-१९२० ई० के मध्य नोटों की संचलनशील मात्रा से करके कैसल ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कीमतों में वृद्धि तथा मुद्रा की मात्रा में वृद्धि में समानता होती है। परन्तु कैसल का यह कथन दोषरहित नहीं है। यह कहना उचित नहीं है कि थोक कीमतें सब प्रकार की कीमतों का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। यदि यह मान भी लिया जाए कि उनका कथन सत्य है तो भी उपर्युक्त कथन से केवल यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा की मात्रा तथा कीमतों के बीच समानता होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कीमतों में उसी अनुपात में परिवर्तन होते हैं जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होते हैं।

(१६) फिशर की पुस्तक *The Purchasing Power of Money* की समालोचना करते हुये प्रोफेसर फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) ने परिमाण समीकरणों की आलोचना करते हुये लिखा है कि "खर्च की राशि की तुलना में मुद्रा की मात्रा एक गौण कारण है। मुद्रा की मात्रा को व्यापार की स्थिति का कारण स्वीकार करने के स्थान पर अब इसको व्यापार की स्थिति का परिणाम विचारा जाता है। कीमत परिवर्तन आर्थिक प्रणाली की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है तथा आज हम सभी का कहना है कि मन्दी का कारण आय तथा व्यय की कमी है न कि मुद्रा की कमी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मुद्रा की मात्रा कीमतों के उच्चावचनों का प्रमुख कारण नहीं है तथा यह व्यापार चक्र के कारणों की एक अति अपूर्ण पथ प्रदर्शक है।"[24] परिमाण समीकरण यह व्याख्या करने में असमर्थ है कि मुद्रा की मात्रा में हुई वृद्धि किस प्रकार खर्च में वृद्धि करती है जिसके कारण इष्टतम उत्पादन की दशा में कीमतों में वृद्धि होती है। इस कमी को प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विक्सेल (Knut Wicksell) ने पूरा किया था। विक्सेल ने यह व्यक्त किया था कि नई मुद्रा अर्थव्यवस्था में व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को बैंकों द्वारा प्रदान किये गये ऋणों के रूप में प्रवेश करती है तथा जब अर्थव्यवस्था में द्रव्य-निवेश वास्तविक बचत के रूप में प्राप्त मुद्रा की कुल पूर्ति की तुलना में अधिक होता है तब कीमतों में वृद्धि होती है।

(१७) मुद्रा की मात्रा तथा इसकी क्रय-शक्ति के मध्य कोई स्थिर सम्बन्ध नहीं है। इस विचार को व्यक्त करते हुये अमरीका में फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) की गवर्नर परिषद् ने अपनी अप्रैल १९३९ ई० की पत्रिका में लिखा था कि "यद्यपि कभी-कभी मुद्रा की मात्रा तथा कीमतों में एक साथ परिवर्तन हुये हैं परन्तु साधारणतया ऐसा नहीं हुआ है। जब कभी इन दोनों में एक साथ परिवर्तन हुये हैं तो सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि जब कीमतें अधिक होती हैं तब उसी आकार के व्यापार को करने के लिये उस समय की अपेक्षा जब कीमतें कम होती हैं अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है। यह बात कि मुद्रा की मात्रा तथा कीमतों में एक साथ परिवर्तन होता है अथवा नहीं, मौसम, फसल की मात्रा, आविष्कार, विदेशी व्यापार, सरकारी व्यय, कर, वेतन, व्यापार की सामान्य स्थिति आदि अन्य कारणों पर निर्भर करता है। जब व्यक्ति भविष्य के प्रति आशावादी होते हैं तब वे काफी व्यय करते हैं तथा कीमतों

---

23. "There is a clear indication of general agreement between the rise in prices and the increase in the circulation which is particularly striking since the agreement is particularly speaking absolute for final quarter of 1920." (Gustav Cassel : *Money and Foreign Eachange After 1914*, pp. 58-59.)

24. G. Findlay Shirras : *Economic Journal*, September 1947, p. 398.

में वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर जब लोग निराशावादी होते हैं तब वे अपने खर्च में कमी कर देते हैं तथा वस्तुओं की माँग व कीमतों में गिरावट आ जाती है। साधारणतया मुद्रा की मात्रा की अपेक्षाकृत अन्य कारणों का कीमतों पर अधिक प्रभाव पड़ता है।"[25]

(२) केम्ब्रिज अथवा नकद-शेष समीकरण

यद्यपि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के केम्ब्रिज समीकरण को केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों—मार्शल, पीगू, राबर्टसन, कीन्स—के नामों से सम्बद्ध किया जाता है, परन्तु इसका उदय काफी पुराना है। प्रसिद्ध वणिकवादी लेखक सर विलियम पैटी (William Petty), जॉन लॉक (John Locke), रिचार्ड केण्टिलन (Richard Cantillon) और एडम स्मिथ (Adam Smith) के लेखनकार्यों में इस सिद्धान्त के चिह्न विद्यमान हैं। केम्ब्रिज परिमाण समीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मुद्रा के अस्थाई मूल्य-संचक कार्य को इसके विनिमय-माध्यम कार्य के लिये महत्त्वपूर्ण विचारा गया है। केम्ब्रिज समीकरण इस सत्य पर प्रकाश डालता है कि अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग नकदी में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए संचित रखते हैं। आय तथा खर्च की धाराओं के प्रवाहों में असमानता होने के कारण लोग अपनी आय का कुछ भाग क्रय-विक्रय करने के हेतु नकदी में संचित रखते हैं। फिशर के समीकरण में केवल वर्तमान को महत्त्व दिया गया है। फिशर के विचार में लोग मुद्रा को केवल वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये प्राप्त करते हैं। केम्ब्रिज समीकरण में लोगों के नकदी अधिमान (liquidity preference) को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मार्शल के शब्दों में केम्ब्रिज समीकरण के विचार को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है।

"समाज की प्रत्येक अवस्था में लोग अपनी आय का कुछ भाग द्रव्य में संचित रखना पसन्द करते हैं। यह उनकी कुल आय का पाँचवाँ, दसवाँ अथवा बीसवाँ भाग हो सकता है। ऐसा करने का कारण यह है कि एक ओर तो अपने साधनों का अधिक भाग मुद्रा में संचित रखने के कारण लोगों का व्यापार कार्य अधिक सरल तथा सुविधाजनक हो जाता है तथा दूसरी ओर ऐसा करने से उनकी सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है। परन्तु ऐसा करने से उनको कुछ हानि भी होती है। अपने साधनों को मुद्रा में संचित रखने के कारण मनुष्य उस आय से वंचित हो जाता है जो उसको अपनी नकदी का असबाब, मशीनों तथा पशुओं के रूप में निवेश करने के कारण प्राप्त हो सकती थी। मनुष्य अपनी आय के भाग को मुद्रा अथवा अन्य किसी रूप में संचित रखने का निर्णय करते समय सभी प्रकार के रूपों से प्राप्त होने वाले लाभ की तुलना करता है। अपनी आय को मुद्रा में संचित रखने का निर्णय करते समय प्रत्येक मनुष्य मुद्रा द्वारा प्राप्त होने वाली उस सुविधा की, जो उसे अपनी आय तथा धन को नकदी में संचित रखने के कारण प्राप्त होती है, उस हानि से तुलना करता है जो उसको आय तथा धन का निवेश न करने के कारण सहन करनी पड़ती है। यदि किसी देश में रहने वाले सब लोग मिल कर औसत के रूप में अपनी कुल सम्पत्ति का दसवाँ भाग नकदी के रूप में संचित रखना पसन्द करते हैं तो देश की सम्पूर्ण मुद्रा की मात्रा इन सब धनराशियों के जोड़ के बराबर होगी।"[26]

---

25. *Eederal Reserve Bank Bulletin*, April 1939, p. 256.
26. "In every state of society there is some fraction of their income which people find it worthwhile to keep in the form of currency, it may be a fifth, or a twentieth. A large command of resources in the form of curreney renders their business easy and smooth and puts them at an advantage in bargaining ; but on the other hand it

(शेष पृष्ठ ६७ पर फुटनोट देखो)

मार्शल की उपर्युक्त व्याख्या का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि किसी भी देश में लोग अपनी कुल वार्षिक आय तथा सम्पत्ति का कुछ भाग 'नकद क्रय-शक्ति' (नकदी में हम मुद्रा तथा बैंकों में रखी माँग जमाओं को शामिल करते हैं) के रूप में संचित रखते हैं। मुद्रा की वह मात्रा जिसकी देश में लोग माँग करते हैं उनकी कुल वार्षिक आय तथा सम्पत्ति की मात्रा से एक स्थिर अनुपात में सम्बन्धित होती है। मार्शल ने समाज में मुद्रा की माँग को लोगों की कुल आय तथा सम्पत्ति से सम्बन्धित करते हुए इसे निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया है।

$$M=kY+k'A$$

उपर्युक्त समीकरण में

M मुद्रा की मात्रा है।

Y कुल द्रव्य आय है।

k कुल आय का वह भाग है जिसे समाज में लोग मुद्रा में संचित रखते हैं।

A कुल सम्पत्ति के द्रव्य मूल्य को सूचित करता है।

k' कुल सम्पत्ति का वह भाग है जिसे सम्पत्तिस्वामी मुद्रा में संचित रखते हैं।

मार्शल के उपर्युक्त समीकरण के दो भाग—आय भाग तथा सम्पत्ति भाग—हैं। परन्तु मार्शल के पश्चात् उनके समर्थकों ने समीकरण के सम्पत्ति भाग के महत्त्व को अनावश्यक समझ कर इसको भुला दिया था तथा समीकरण को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जाने लगा था।

$$M=kY$$

कुल वार्षिक द्रव्य आय कुल वास्तविक उत्पादन (O) तथा कीमत-स्तर (P) का गुणनफल होती है। इसलिये उपर्युक्त समीकरण को निम्नलिखित प्रकार भी लिखा जा सकता है।

$$M=kPO$$

$$\text{अथवा } P=\frac{M}{kO}$$

उपर्युक्त समीकरण में M मुद्रा की मात्रा को; P कीमत-स्तर को; O कुल वार्षिक वास्तविक आय को तथा *k* इस वास्तविक आय के उस भाग को सूचित करता है जिसे लोग मुद्रा में संचित रखते हैं।

locks up in a barren form resources that might yield an income, or gratification if invested, say, in extra furniture ; or money income, if invested, in extra machinery or cattle." A man fixes the appropriate fraction "after balancing one against another the advantages of a further ready command and the disadvantages of putting more of his resources into a form in which they yield him no direct income, or other benefit." "...Let us suppose that the inhabitants of a country taken one with another (and including therefore all varieties of character and of occupation), find it just worth their while to keep by them on the average ready purchasing power to the extent of a tenth part of their property ; then the aggregate value of the currency of the country will tend to be equal to the sum of these amounts." (Alfred Marshall : *Money, Credit and Commerce* 1923, 1, iv. 3. p. 33.)

मार्शल के पश्चात् उनके शिष्य सहयोगी प्रोफेसर पीगू[27] ने समीकरण में संशोधन करके इसे निम्नलिखित समीकरण के रूप में व्यक्त किया है।

$$P = \frac{kR}{M}$$ [28]

उपर्युक्त समीकरण में

R गेहूँ के रूप में वह वास्तविक वार्षिक आय है जिसका समाज में किसी दी हुई समय अवधि (उदाहरणार्थ एक वर्ष) में उपभोग किया जाता है।

k वास्तविक आय (R) का वह भाग है जिसे समाज में लोग द्रव्य के रूप में संचित रखते हैं।

M कुल मुद्रा की मात्रा है।

P मुद्रा का मूल्य अथवा क्रय-शक्ति है।

पीगू के अनुसार जब k तथा R स्थिर होंगे तब उपर्युक्त समीकरण में मुद्रा की मात्रा (M) तथा इसकी क्रय-शक्ति (P) के बीच इस प्रकार का प्रत्यक्ष तथा अनुपाती सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है उसी अनुपात में इसकी क्रय-शक्ति में कमी हो जाती है।

उपर्युक्त समीकरण में बैंक जमाओं को शामिल नहीं किया गया है। परन्तु व्यक्ति क्रय-शक्ति को नकदी में संचित रखने के अतिरिक्त बैंक जमाओं के रूप में भी रखते हैं। इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से उपरोक्त समीकरण में संशोधन करके इसे निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया गया था।

$$P = \frac{kR}{M}\left\{c + h(1-c)\right\}$$

$$\text{अथवा} \quad M = \frac{kR}{P}\left\{c + h(1-c)\right\}$$

उपर्युक्त समीकरणों में P, k, R तथा M का वही अर्थ है जो पहले समीकरण में था। c विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों (titles to legal tender) का वह भाग (अनुपात) है जिसे समाज में लोग विधिग्राह्य मुद्रा के रूप में संचित रखना पसन्द करते हैं। इसलिये $1-c$ विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों का वह भाग है जिसे लोग बैंक-जमाओं के रूप में संचित रखते हैं। h कुल बैंक-जमाओं का वह भाग (अनुपात) है जिसे बैंक मुद्रा कोषों के रूप में अपने पास संचित रखती हैं।

---

27. पीगू (१८७७–१९५९ ई०) मार्शल के शिष्य थे। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में मार्शल द्वारा अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद से १९०८ ई० में निवृत्ति प्राप्त करने के पश्चात् वे इस विभाग के अध्यक्ष पद पर १९४३ ई० तक नियुक्त रहे थे। पीगू के अनेक लेखनकार्यों में उन की १९२० ई० में प्रकाशित *The Economics of Welfare* शीर्षक पुस्तक उल्लेखनीय है। वे परम्परावादी अर्थशास्त्र (classical economics) के समर्थक थे तथा कीन्स से उनका काफी विवाद रहा था। उनकी अन्य पुस्तकों में *Lapses From Full Employment*; *The Veil of Money* तथा *Socialism Versus Capitalism* उल्लेखनीय हैं।

28. Pigou's article entitled 'The Value of Money' in American Economic Association's *Readings in Monetary Theory* (1950), pp. 162-183.

जब k, R, c तथा h को स्थिर माना जाता है तब यह समीकरण भी पहले समीकरण के समान आयताकार अतिपरवलय (rectangular hyperbola) के समीकरण का रूप धारण कर लेता है। पीगू के इस समीकरण में दो प्रमुख विशेषताएं हैं जिनकी व्याख्या करना आवश्यक है। प्रथम, पीगू का संशोधित समीकरण उनके प्रथम समीकरण की तुलना में अधिक कठिन है तथा इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। दूसरे, इसका क्या अर्थ है कि यदि प्रथम समीकरण में k तथा R तथा दूसरे समीकरण में k, R, c व h को स्थिर माना जावे तो ये दोनों समीकरण आयताकार अतिपरवलय के समीकरण बन जाते हैं।

जहाँ तक दूसरे समीकरण के स्पष्टीकरण करने का प्रश्न है, जब समुदाय अपने कुल साधनों के k भाग (अनुपात) के कुछ भाग को मुद्रा (c) के रूप में तथा शेष भाग (1—c) को बैंक-जमाओं के रूप में, जिनके पीछे बैंक h अनुपात नकदी में रखते हैं, रखता है, तब समीकरण को निम्नांकित रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$M=\frac{kR}{P}\left\{ c+h(1-c) \right\}$$

पीगू के उपर्युक्त समीकरण में P कीमत-स्तर को सूचित न करके मुद्रा की क्रय-शक्ति अथवा मूल्य का सूचक है। उपर्युक्त समीकरण को नकद-शेष समीकरण के सामान्य रूप $M=kPT$ में, जिसमें P कीमत-स्तर को सूचित करता है, परिवर्तन करने के लिए इस समीकरण को निम्न-लिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$\frac{1}{P}=\frac{M}{kR\{ c+h(1-c)\}}$$

उपर्युक्त समीकरण में $k, c,$ तथा h धनात्मक स्थिर अंक (constant fractions) हैं तथा प्रत्येक का आंकिक मूल्य शून्य से अधिक तथा एक से कम है अर्थात्

$$1>k>0$$
$$1>c>0$$
$$1>h>0$$

उदाहरणार्थ, यदि $k=\frac{१}{४}$; $c=\frac{१}{२}$ तथा $h=\frac{१}{१०}$ है तो $k=\frac{१}{४}$ का अर्थ यह है कि समुदाय अपनी सम्पूर्ण वास्तविक आय (R) के $\frac{१}{४}$ भाग को विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों के रूप में संचित रखता है। यदि R का मूल्य २,००० क्विटल गेहूँ है तो २,००० क्विटल गेहूँ का $\frac{१}{४}$ भाग अथवा ५०० क्विटल गेहूँ को समुदाय विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों के रूप में संचित रखेगा। परन्तु ऐसा करने के लिये समुदाय को कुल कितने विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों की आवश्यकता होगी? यह ५०० को कीमत-स्तर (P) से गुणा करके ज्ञात किया जा सकता है। यदि कीमत-स्तर एक है

(P=१) तो समुदाय विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों की ५०० इकाइयों को इस प्रकार रखना चाहेगा कि ये इसको आवश्यकता पड़ने पर तत्काल प्राप्त हो सकें। विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों पर अधिकार मुद्रा प्राप्त करके अथवा बैंकों में रखी माँग जमाओं द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यदि विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों की ५०० इकाइयाँ प्राप्त करने के हेतु समुदाय २५० इकाइयाँ मुद्रा के रूप में तथा शेष २५० इकाइयाँ बैंकों में माँग जमाओं के रूप में रखता है तो $c=\frac{१}{२}$ तथा $1-c$, जो विधिग्राह्य स्वत्वाधिकारों के उस अनुपात अथवा भाग को सूचित करता है जिसे समुदाय बैंक जमाओं के रूप में दखता है, का आंकिक मूल्य भी $\frac{१}{२}$ होगा। इसका यह अर्थ है कि स्वत्वाधिकारों की २५० इकाइयाँ बैंक जमाओं के रूप में संचित की जाती हैं। हमें यह ज्ञात है कि जमाकर्ताओं से प्राप्त हुई कुल माँग जमाओं के केवल कुछ भाग को बैंक नकदी के रूप में रखती हैं। दूसरे शब्दों में, प्राप्त हुई कुल जमाओं तथा नकदी की उस राशि में जिसे बैंक अपने पास रखती हैं स्थिर अनुपाती सम्बन्ध होता है। इसे हमने h द्वारा संकेत किया है। यदि $h=\frac{१}{१०}$ है तो इसका अर्थ यह है मुद्रा की २५ इकाइयों $\left(\frac{१}{१०}\times २५०\right)$ की माँग बैंकों द्वारा की जावेगी। इस प्रकार मुद्रा की कुल माँग २७५ (२५०+२५) होगी। यह निष्कर्ष निम्नलिखित समीकरण में विभिन्न शब्दों (terms) के स्थान पर उनके अंकीय मूल्यों (values) को स्थानापन्न करके प्राप्त होता है।

$$M=\frac{kR}{P}\left\{c+h(1-c)\right\}$$

$$=\frac{१}{४}\times २०००\left\{\frac{१}{२}+\frac{१}{१०}\left(\frac{१}{२}\right)\right\}$$

$$=५००\left\{\frac{१}{२}+\frac{१}{२०}\right\}$$

$$=५००\left(\frac{११}{२०}\right)=२७५$$

इस गणितीय कथन का कि जब समीकरण में k तथा R को स्थिर माना जाता है तब समीकरण के द्वारा आयताकार अतिपरवलय (rectangular hyperbola) वक्र प्राप्त होता है, सरल भाषा में यह अर्थ है कि मुद्रा की माँग की कीमत-लोच सम्पूर्ण माँग वक्र पर इकाई अथवा एक है। उदाहरणार्थ, मुद्रा की क्रय-शक्ति घटकर आधी हो जाने पर मुद्रा की माँग दुगुनी तथा इसकी क्रय-शक्ति में १० प्रतिशत की वृद्धि हो जाने पर इसकी माँग में १० प्रतिशत की कमी हो जाती है; अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति को मुद्रा की मात्रा द्वारा गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त होता है वह समान अथवा स्थिर रहता है। इसका अर्थ यह है कि चित्र ५·२ में यद्यपि मुद्रा का DD माँग

वक्र X-अक्ष तथा Y-अक्ष के समीप पहुँच सकता है परन्तु यह इन अक्षों को छूता नहीं है।[29] ऐसी स्थिति में (k तथा R स्थिर रहते हुए) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप इसकी क्रय-शक्ति में विपरीत दिशा में आनुपातिक परिवर्तन होंगे। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की मात्रा में परि-

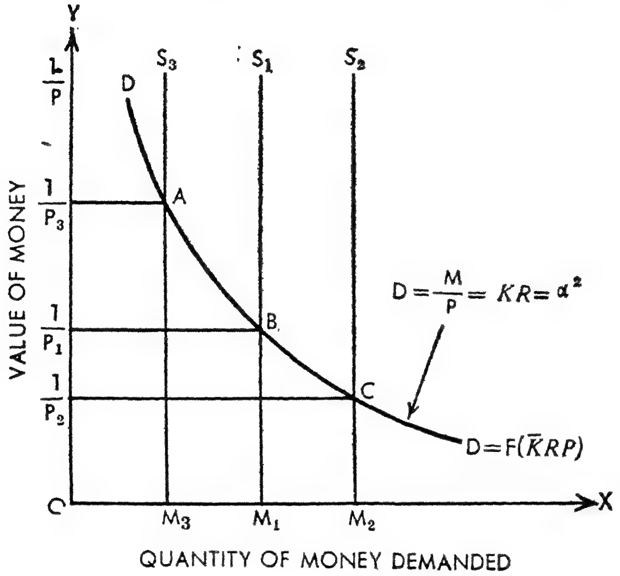

चित्र ५·२

29. आयताकार अतिपरवलय वक्र (rectangular hyperbola) उन बिन्दुओं का बिन्दुपथ है जिन की X तथा Y अक्ष-रेखाओं से दूरियों का गुणनफल स्थिर धनात्मक राशि a^2 होता है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है चित्र में X-अक्ष तथा Y-अक्ष क्रमशः पड़ी तथा खड़ी रेखाएँ हैं। BFOK; AEOL तथा CGOH आयत जो B;A तथा C बिन्दुओं की Y-अक्ष तथा X-अक्ष रेखाओं से दूरियों के गुणनफल हैं समक्षेत्र आयत हैं। Y-अक्ष तथा X-अक्ष रेखाएँ आयताकार अतिपरवलय वक्र DD को कभी स्पर्श नहीं करती हैं।

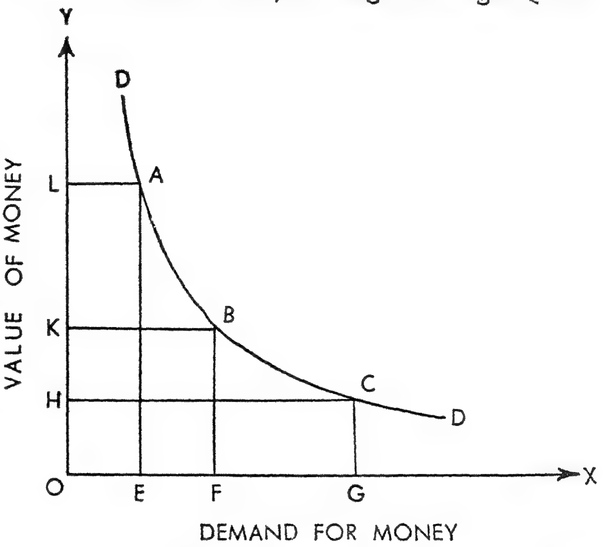

मार्शल, वालरस तथा पीगू का विश्वास था कि मुद्रा का माँग वक्र आयताकार अतिपरवलय था। उनके विचारानुसार यह उस प्रमेय द्वारा प्राप्त निष्कर्ष था जिसके अनुसार संचलन में मुद्रा की मात्रा दुगुनी करने से अर्थव्यवस्था में सब वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें भी दुगनी हो जाती हैं।

वर्तन होने के कारण कीमत-स्तर में सीधे तथा आनुपातिक परिवर्तन होते हैं। चित्र ५·२ के द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि मुद्रा का मूल्य (अथवा क्रय-शक्ति) इसकी मात्रा का फलन है।

चित्र ५·२ में मुद्रा का माँग वक्र, जो नकद-शेष समीकरण के अनुसार kR द्वारा निर्धारित होता है, बायीं से दाहिनी ओर को ऋणात्मक ढालू है। इसका यह कारण है कि यदि समुदाय में लोग अधिक मुद्रा को अपने पास संचित रखते हैं तो वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में मुद्रा का मूल्य कम होगा। चित्र में मुद्रा के लम्बवत पूर्ति वक्र S_1M_1; S_2M_2 तथा S_3M_3 इस मान्यता पर खींचें गये हैं कि मुद्रा की पूर्ति मुद्रा अधिकारी द्वारा स्वायत्त रूप से निर्धारित की जाती है। चित्र से यह ज्ञात है कि यदि संचलन में मुद्रा की पूर्ति OM_1 से बढ़कर OM_2 हो जाती है तो मुद्रा की क्रय-शक्ति अथवा मूल्य (जो कीमत-स्तर P का उलटा है तथा जिसे $\frac{1}{P}$ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है) $\frac{1}{P_1}$ से घटकर $\frac{1}{P_2}$ हो जाता है। जब संचलन में मुद्रा की मात्रा OM_1 से घटकर OM_3 हो जाती है तब मुद्रा की क्रयशक्ति (अथवा मूल्य) $\frac{1}{P_1}$ से बढ़कर $\frac{1}{P_3}$ हो जाती है। चित्र में मुद्रा का माँग वक्र $DD=F(\overline{K}RP)$ आयताकार अतिपरवलय वक्र है।

जॉन मेनार्ड कीन्स, जो केम्ब्रिज सम्प्रदाय के प्रमुख सदस्यों में गिने जाते हैं, ने द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त को निम्नांकित समीकरण के रूप में व्यक्त किया है।

$$n=p(k+rk')$$ [30]

उपर्युक्त समीकरण में

n समाज में संचलन शील वैध मुद्रा की मात्रा है।
p उपभोग इकाई की कीमत है।
k उन उपभोग इकाइयों की मात्रा है जिनको जनता मुद्रा में संचित रखती है।
k' उन उपभोग इकाइयों की मात्रा है जिनको प्राप्त करने के लिये समुदाय मुद्रा को बैंकों में जमाओं के रूप में रखती है।
r बैंकों की नकदी निधि तथा कुल जमाओं का अनुपात है।

यदि यह मान लिया जाए कि समीकरण में k;k' तथा r स्थिर हैं तो मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का यह निष्कर्ष कि n तथा p में एक साथ तथा समान अनुपात में वृद्धि अथवा कमी होती है, सत्य हो जाता है। k तथा k' के मध्य अनुपात जनता के बैंकों के साथ सम्बन्धों तथा k व k' का निरपेक्ष अंकीय मूल्य जनता की आदत पर निर्भर करेगा। यदि जनता में अपने पास अधिक मात्रा में नकदी रखने की प्रवृत्ति है तो k का मूल्य अधिक तथा k' का अंकीय मूल्य कम होगा। इसके विपरीत यदि समुदाय के सदस्य नकदी के स्थान पर बैंकों में जमाओं के रूप में उपभोग इकाइयों को संचित रखते हैं तो k' का अंकीय मूल्य अधिक तथा k का अंकीय मूल्य कम होगा। k तथा k' का संयुक्त अंकीय मूल्य मिलकर १ होगा। r का मूल्य बैंक प्रणाली द्वारा नकदी निधि सम्बन्धी नीति द्वारा निर्धारित होगा। जब तक k;k' तथा r के अंकीय मूल्यों में परिवर्तन नहीं होत

---

30. *A Tract on Monetary Reform* (1923), pp. 77-78.

है तब तक मुद्रा की मात्रा (n) तथा कीमत-स्तर (p) के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित रहता है। कीन्स का यह समीकरण मार्शल तथा पीगू के समीकरणों के समान है।

मार्शल तथा पीगू के समीकरणों के समान कीन्स का समीकरण भी आलोचना-मुक्त नहीं है। वास्तव में पीगू और कीन्स के समीकरणों में विशेष अन्तर नहीं है। कीन्स ने अपनी *A Treatise On Money* शीर्षक पुस्तक में अपने समीकरण के दोषों पर प्रकाश डाला है। कीन्स के अनुसार समीकरण का प्रथम दोष यह है कि p केवल उपभोग-इकाइयों से सम्बन्धित कीमत-स्तर की माप करता है। इसका यह अर्थ है कि मुद्रा केवल वर्तमान उपभोग वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से संचित रखी जाती है। परन्तु समाज में मुद्रा को अनेक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए संचित किया जाता है। इस कारण p का सम्बन्ध केवल उपभोग वस्तुओं को कीमतों से न होकर सामान्य कीमत-स्तर से होना चाहिए। समीकरण में p मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति की माप नहीं करता है।

समीकरण का दूसरा दोष यह है कि इसके अनुसार लोग नकदी को केवल उपभोग वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से संचित रखते हैं। वास्तविकता यह है कि नकदी की माँग वर्तमान उपभोग आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त भविष्य में आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से भी की जाती है। इसके अतिरिक्त नकदी संचित रखने का उद्देश्य मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों द्वारा लाभ प्राप्त करना भी होता है। संक्षेप में आय तथा धन को नकदी में संचित रखने के निम्नलिखित तीन प्रमुख उद्देश्य हैं।

(i) व्यावहारिक उद्देश्य (Transactional Motive)
(ii) एहतियात्मक उद्देश्य (Precautionary Motive)
(iii) सट्टेबाजी का उद्देश्य (Speculative Motive)

कीन्स के समीकरण में नकदी-अधिमान के केवल प्रथम उद्देश्य को महत्त्व दिया गया है। कीन्स के अनुसार व्यक्ति द्रव्य को केवल उपभोग वस्तुओं को क्रय-विक्रय करने तथा वाणिज्य क्रियाओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से संचित रखते हैं। समीकरण का प्रमुख दोष यह है कि इसमें नकदी-अधिमान के प्रधान उद्देश्य—सट्टेबाजी के उद्देश्य—को महत्त्व नहीं दिया गया है। इस उद्देश्य के विशेष आर्थिक महत्त्व की व्याख्या कीन्स ने १९३६ ई० में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *The General Theory of Employment, Interest and Money* में है।

समीकरण में n और p में आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। परन्तु कीन्स ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि अल्पावधि में जब n में परिवर्तन होने के फलस्वरूप k; k' तथा r में परिवर्तन हो जाते हैं तो p और n में आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होता है यद्यपि दीर्घावधि में आनुपातिक सम्बन्ध सम्भव हो सकता है। इसके अतिरिक्त समीकरण में k और k' को अल्पकाल में स्थिर माना गया है क्योंकि इनका आकार लोगों की आदतों पर निर्भर होता है और इन आदतों में अल्पकाल में विशेष परिवर्तन नहीं होते हैं। इसी प्रकार r को भी स्थिर माना गया है। इस प्रकार k; k' व r को अल्पकाल में स्थिर मान कर n और p में सीधा तथा आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित किया है। परन्तु अल्पकाल में भी व्यक्तियों की आदतों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं। इसलिये यह मानना उचित नहीं है कि k; k' तथा r अल्पकाल में स्थिर रहते हैं। मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर इन तीनों तत्वों में परिवर्तन होते हैं और इसलिए n तथा p में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि समाज में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो लोगों की द्रव्य आय में भी वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप k; k' और r में भी वृद्धि हो जावेगी। ऐसी स्थिति में मुद्रा की मात्रा (n) और

कीमत-स्तर (p) में आनुपातिक सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के उपरान्त कीमतें बढ़ सकती हैं, स्थिर भी रह सकती हैं अथवा घट भी सकती हैं, और यदि कीमतें बढ़ती भी हैं तो भी यह आवश्यक नहीं है कि कीमतों तथा मुद्रा की मात्रा में सम-आनुपातिक वृद्धि होगी।

रॉबर्टसन ने निम्नलिखित नकद-शेष समीकरण का प्रतिपादन किया है।

$$M = PKT$$

उपर्युक्त समीकरण में

P कीमत-स्तर है।

T उन कुल वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा है जो एक वर्ष की अवधि में क्रय की जाती है।

K T का वह भाग है जिसे लोग नकदी में संचित रखते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त समीकरण से हम निम्नलिखित समीकरण को प्राप्त करते हैं।

$$P = \frac{M}{KT}$$

आलोचनाएँ

यद्यपि नकद-शेष अथवा केम्ब्रिज समीकरण नकद-व्यवसाय अथवा फिशर के समीकरण की तुलना में अधिक उपयुक्त है परन्तु यह दोषों से मुक्त नहीं है। प्रथम, यह ऐसा पर्याप्त मौद्रिक सिद्धान्त नहीं है जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था में कीमतों की गत्यात्मक प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकती है। नकद-शेष समीकरण गत्यात्मक संसार की पेचीदा आर्थिक समस्याओं की व्याख्या करने में असमर्थ है। समीकरण का दूसरा गम्भीर दोष यह है कि यह द्रव्य की माँग के सम्पूर्ण निर्धारकों की व्याख्या नहीं करता है। यह द्रव्य की उस माँग की उपेक्षा करता है जो सट्टेबाजी के फलस्वरूप उत्पन्न होती है तथा जिसका द्रव्य की कुल माँग को निर्धारित करने तथा इसमें परिवर्तन उत्पन्न करने में विशेष महत्त्व है। तीसरे,समीकरण में K तथा T को स्थिर मान लिया गया है तथा इस कारण वे सब आलोचनाएँ जो नकद-व्यवसाय समीकरण पर लागू होती हैं, इस समीकरण पर भी लागू होती हैं। चौथे, यद्यपि केम्ब्रिज अर्थशास्त्री इस सत्य से परिचित थे कि अल्पकाल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के फलस्वरूप उत्पादन तथा कीमतों में वृद्धि होती है, अर्थात् अल्पकाल में मुद्रा की मात्रा में हुए परिवर्तनों का प्रभाव केवल कीमतों पर न पड़ कर कीमतों तथा उत्पादन दोनों पर पड़ता है परन्तु वे मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के उत्पादन-प्रभाव तथा कीमत-प्रभाव को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सके थे। वे यह विश्लेषण नहीं कर सके कि मुद्रा की मात्रा में दी हुई मात्रा में वृद्धि होने के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में कीमतों में कितनी तथा उत्पादन में कितनी वृद्धि होती है।

नकद-व्यवसाय तथा नकद-शेष समीकरणों की तुलना

कुछ अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के इन दोनों समीकरणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का वह रूप जिसे हम नकद-व्यवसाय समीकरण कहते हैं, मुद्रा के वेग (V) को महत्व देकर किसी दी हुई समय अवधि में मुद्रा के मूल्य को व्यक्त करता है। इसके विपरीत नकदशेष समीकरण नकद राशि (k), जो गणितीय दृष्टि से मुद्रा के वेग (V) का उलटा है, पर ध्यान केन्द्रित करके मुद्रा के मूल्य को समय के किसी दिये हुये क्षण में व्यक्त करता है। निस्संदेह गणितीय दृष्टि से दोनों समीकरणों में k के स्थान पर

$\frac{1}{V}$ तथा V के स्थान पर $\frac{1}{k}$ लिख कर समानता स्थापित की जा सकती है। प्रोफेसर रोबर्टसन के विचारानुसार दोनों समीकरण एक ही घटना के दो भिन्न रूप हैं। नकदशेष समीकरण का सम्बन्ध बैठी अथवा निसंचित मुद्रा (money sitting) तथा नकद-व्यवसाय समीकरण का सम्बन्ध उड़ती अथवा संचलनशील मुद्रा (money on the wings) से है। नकद-व्यवसाय समीकरण में मुद्रा को बहाव (flow) के रूप में महत्त्व दिया गया है तथा नकद-शेष समीकरण में मुद्रा का अध्ययन ढेर (stock) के रूप में किया गया है। नकद-व्यवसाय समीकरण में मुद्रा के वेग (V) को तथा नकद-शेष समीकरण में नकदी कोषों (k) को महत्व दिया गया है। परन्तु दोनों समीकरणों में मुद्रा के केवल विनिमय माध्यम कार्य को महत्त्व दिया गया है।

कीन्स के विचारानुसार नकद-व्यवसाय समीकरण तथा नकद-शेष समीकरण एक-दूसरे से इस कारण भिन्न हैं क्योंकि दोनों समीकरणों में कीमत-स्तर (P) का अर्थ भिन्न है। जबकि नकद व्यवसाय अथवा फिशर के समीकरण में कीमत-स्तर का अर्थ सामान्य कीमत-स्तर से है, नकद-शेष अथवा केम्ब्रिज समीकरण में कीमत-स्तर गेहूँ अथवा उपभोग वस्तुओं के कीमत-स्तर को सूचित करता है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर ए० एच० हैनसन (Alvin H. Hansen) ने नकद-शेष समीकरण के मार्शल द्वारा प्रतिपादित समीकरण तथा नकद-व्यवसाय समीकरण के फिशर द्वारा दिये गये समीकरण में भेद करते हुये लिखा है कि "परिमाण-सिद्धान्त का मार्शलवादी वर्णन ($M=kY$) मौलिक रूप से द्रव्य तथा कीमतों की पूर्णतया एक नवीन व्याख्या का द्योतक है।। यद्यपि बहुधा यह कहा जाता है नकद-शेष समीकरण नवीन बीजगणित अथवा समीकरण के रूप में परिमाण सिद्धान्त है परन्तु इस कथन में कोई सत्यता नहीं है। समीकरण में Y के स्थान पर PO (कीमत-स्तर × उत्पादन) लिखने से मार्शल के समीकरण को $M=kPO$ के रूप में लिखा जा सकता है। इस कारण गणितीय दृष्टि से k नकद-व्यवसाय समीकरण $MV=PO$ में V का उल्टा हैं। परन्तु केवल यह सिद्ध करने से कि गणितीय समानता के रूप में V $\frac{1}{k}$ के समान है $\left(V=\frac{1}{k}\right)$ यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि मार्शलवादी विश्लेषण वास्तव में ह्यूम फिशर विश्लेषण है। ऐसा कहना मार्शल के समीकरण में k के महत्व को पूर्णतया भूलाना है।"[31]

कीन्स के विचारानुसार परिमाण सिद्धान्त के उपर्युक्त दोनों समीकरणों में अन्तर को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: "मार्शल के विश्लेषण में लोगों के नकदी अधिमान—मुद्रा निसंचय करने की इच्छा —में अचानक तथा तीव्र परिवर्तनों का विशेष महत्त्व है तथा ये परिवर्तन एक शक्तिशाली तत्व के रूप में समीकरण में उपस्थित रहते हैं। जनता की द्रव्य संचय करने की

31. "The Marshallian version of the quantiy theory – $M=kY$—represents a fundamentally new approach to the problem of money and prices. It is not true, as is often alleged, that the "Cash-balance" equation is merely the quantity theory in new algebraic dress. Substituting PO (price level times output) for Y, the Marshallian equation becomes $M=k$ PO. *Arithmetically* k is, therefore, simply the reciprocal of V in the equation $MV=PO$. But it does not follow from the mere fact that $V=\frac{1}{k}$ as an arithmetical identity, that therefore the Marshallian *analysis* is in fact the same thing as the Hume-Fisher analysis. To Assert this is to miss entirely the significance of the k in the Marshallian equation." (Alvin H. Hansen : *Monetary Theory and Fiscal Polity,* 1st ed. 2nd impression, p. 49.)

इच्छा—नकदी अधिमान—में भारी अचानक परिवर्तन, जो समीकरण में K में परिवर्तनों के रूप में विद्यमान होंगे, कीमतों तथा आयों में भारी तथा शीघ्र उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों को जन्म दे सकते हैं। इस दृष्टि से जनता की मनोवृत्ति तथा आशंसाओ में होने वाले परिवर्तन द्रव्य की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मार्शल के विश्लेषण में K में होने वाले परि-परिवर्तन उच्चावचनों को उत्पन्न कर सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है मार्शल के विश्लेषण में K का परम महत्त्व है।"[32]

नकद-शेष समीकरण में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण विशेषता है जो नकद व्यवसाय समीकरण में नहीं पाई जाती है। यह विशेषता नकद-शेष समीकरण में K द्वारा दिये गये उन व्यक्तिपरक मानव प्रेरणाओं के महत्व में निहित है जिनका विश्लेषण मौद्रिक तत्वों द्वारा नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत मुद्रा का वेग (V), जिसे नकद-व्यवसाय समीकरण में काफी महत्त्व दिया गया हैं, व्यक्तिपरक मानव प्रेरणाओं पर कोई प्रकाश नहीं डालता है। मानव प्रेरणाओं के विश्लेषण को महत्त्वपूर्ण गत्यात्मक शक्ति स्वीकार करके केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने उन महत्त्वपूर्ण शक्तियों का अध्ययन किया है जो गत तीन दशाब्दियों में हुये मौद्रिक सिद्धान्त के विकास की आधार शिला हैं। K के निर्धारक कारणों तथा उन शक्तियों का जो K में होने वाले परिवर्तनों का कारण थीं, विश्लेषण करने के परिणामस्वरूप केम्ब्रिज अर्थशास्त्री अनिश्चितता, ब्याज की दर आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओं का पुनः अध्ययन करने में सफल सिद्ध हुये थे।

द्रव्य के मूल्य निर्धारण की व्याख्या के रूप में नकद-शेष समीकरण $P=\frac{M}{kT}$ नकद-व्यवसाय समीकरण $P=\frac{MV}{T}$ की तुलना में अधिक उपयोगी है क्योंकि यह ज्ञात करने की अपेक्षा कि व्यक्ति सब प्रकार के लेनदेन पर कुल कितना द्रव्य व्यय करते हैं यह ज्ञात करना अधिक सरल है कि व्यक्ति अपनी कुल आय का कितना अनुपात नकदी में संचित रखते हैं।

मार्शल के विचारानुसार नकद-शेष समीकरण का विशेष गुण यह है कि यह उन अनेक कठिनाईयों से, जो नकद-व्यवसाय समीकरण में द्रव्य के वेग की उपस्थिति के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं, मुक्ति प्रदान करता है। नकद-शेष समीकरण यह बताता है कि द्रव्य का मूल्य इसकी पूर्ति तथा माँग द्वारा निर्धारित होता है। व्यापार चक्र की अवधि में कीमतों तथा आयों में क्यों परिवर्तन होता है? इसका अध्ययन करने में V की तुलना में k का अध्ययन अधिक सहायक सिद्ध होगा। नकद-शेष समीकरण हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करता है कि वास्तविक-शेषों (real balances) के मूल्य में होने वाले परिवर्तन कीमत-स्तर में होने वाले सामयिक उच्चावचनों का कारण होते हैं। मुद्रा के प्रति विश्वास कम अथवा समाप्त हो जाने से लोगों की द्रव्य निसंचय करने

---

32. "In terms of Marshallian approach, sudden and rapid *Shifis* in the desire of the public to hold money may profoundly affect prices even though the monetary authority successfully maintains a high stability in the money supply. The desire of the public to hold cash balances–"liquidity preference"–enters as a powerful factor. Drastic and sudden shifts in the desire to hold money, reflected in a change k, may produce large and quickly moving changes in the level of income and prices. Shifts in public psychology, in expectations, must be taken account no less than changes in the money supply. In the Marshallian analysis a shift in k may start an upward or downward movement. It is k, not M, that holds the stage." (J. M. Keynes : *A Treatise On Money*, Vol I, p. 133.)

की इच्छा—नकदी अधिमान—में कमी हो जाती है तथा वे अपनी आय के थोड़े से भाग को मुद्रा में संचित रखने लगते हैं। परिणामस्वरुप कीमतों में वृद्धि हो जाती है।

केम्ब्रिज नकद-शेष समीकरण प्राचीन विचारधारा से भिन्न है क्योंकि इसमें मुद्रा की माँग के निर्धारकों के रूप में प्राचीन संस्थानिक तथा तकनीकी तत्त्वों के स्थान पर मनोवैज्ञानिक तत्वों को महत्त्व दिया गया है। नकद-शेष समीकरण में द्रव्य की माँग को अन्य प्रकार की परिसम्पत्ति की माँग जो व्यक्ति विशेष की अभिरुचि के अतिरिक्त उसकी कुल धनराशि, परिसम्पत्ति विशेष से प्राप्त होने वाली आय तथा वैकल्पिक प्रकार की परिसम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय द्वारा निर्धारित होती है, के समान विचारा गया है।

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के नकद-शेष समीकरण ने वर्तमान नकदी अधिमान सिद्धान्त, जिसका आय तथा रोजगार के निर्धारण में आर्थिक संकट पर नियन्त्रण रखने में मुद्रा अधिकारी की शक्ति की सीमा का वर्णन करने में भारी महत्त्व है, को समझने में सहायता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त नकद-शेष समीकरण, जिसमें k पर विशेष ध्यान दिया गया है, नकद-व्यवसाय समीकरण जिसमें V को महत्त्व दिया गया है, की अपेक्षा अधिक वास्तविक है क्योंकि द्रव्य के सम्बन्ध में मौलिक सत्य यह है कि अर्थव्यवस्था में सदा कोई व्यक्ति अथवा संस्था अवश्य इसे (द्रव्य) अपने पास संचित रखता है।

नकद-शेष समीकरण, जिसमें द्रव्य की वह कुल मात्रा जिसे व्यक्ति अपने पास संचित रखना चाहते हैं आय द्वारा निर्धारित होती है, के द्वारा अर्थव्यवस्था में लोगों के व्यवहार का वर्णन किया जा सकता है। मानलीजिये कि k का अंकीय मूल्य धनात्मक (परन्तु एक से कम) है। उदाहरणार्थ, यदि k का मूल्य ०·६ है तो इसका यह अर्थ है कि लोग अपनी आय का ६० प्रतिशत भाग मुद्रा अथवा नकदी में संचित रखते हैं। इसके द्वारा हम नकदी अधिमान अनुसूची, जो मुद्रा की उन भिन्न राशियों को जिनको लोग अपनी द्रव्य आय के भिन्न स्तरों पर अपने पास संचित रखना चाहेंगे, को प्राप्त कर सकते हैं। यह सूची निम्नलिखित प्रकार हो सकती है।

द्रव्य-आय (Y)	नकदी-अधिमान (L)
२००	१२०
१००	६०
७०	४२
५०	३०
४०	२४

उपर्युक्त सूची के आधार पर हम, जैसाकि चित्र ५·३ से स्पष्ट है, नकदी-अधिमान अथवा मुद्रा का माँग वक्र LL प्राप्त कर सकते हैं। यह वक्र मुद्रा अथवा नकदी की उन मात्राओं को व्यक्त करता है जिनको लोग भिन्न द्रव्य आय-स्तरों पर संचित करेंगे। यदि मुद्रा की पूर्ति M_SM_S वक्र द्वारा निर्धारित होती है तो OY_0 सन्तुलन आय होगी क्योंकि केवल इसी आय पर मुद्रा की कुल माँग इसकी कुल पूर्ति के समान है। OY_0 के अतिरिक्त अन्य किसी आय पर मुद्रा की माँग तथा इसकी पूर्ति सन्तुलन में नहीं होगी। OY_0 से कम आय, उदाहरणार्थ OY_2, पर मुद्रा की वह कुल माँग-मात्रा जिसे लोग अपने पास संचित रखना चाहेंगे, मुद्रा की कुल पूर्ति की तुलना में कम

होगी। परिणामस्वरूप समाज में लोग यह अनुभव करेंगे कि उनके हाथों में उनकी कुल माँग मात्रा—आवश्यकता—से अधिक मुद्रा है। परन्तु इस अनावश्यक अथवा फालतू मुद्रा से मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र उपयुक्त उपाय इसको खर्च करना है। अपने कुल खर्च में वृद्धि करके वे इस मुद्रा को अपने हाथों से अलग कर सकते हैं। परन्तु खर्च तथा आय एक ही घटना के दो रूप हैं तथा खर्च में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप लोगों की आयों में भी समान मात्रा में वृद्धि हो जावेगी। द्रव्य-आय में उपयुक्त वृद्धि हो जाने से अर्थव्यवस्था में अधिक मुद्रा की समस्या समाप्त हो जावेगी। इसके विपरीत OY_0 से अधिक आय, उदाहरणार्थ OY_3 होने पर मुद्रा की वह मात्रा जिसे समुदाय में

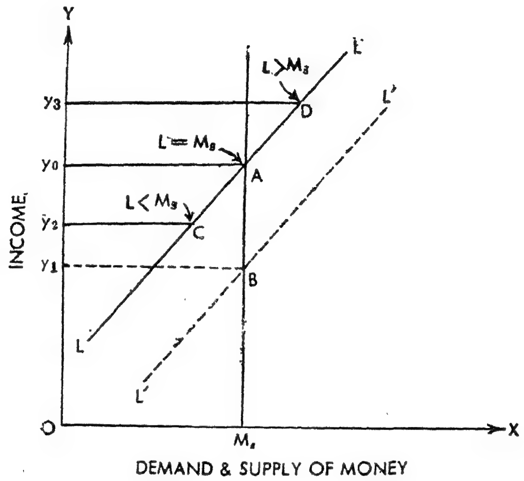

चित्र ५·३

लोग अपने पास संचित रखना चाहेंगे, मुद्रा की कुल पूर्ति OM_S की तुलना में अधिक होगी। नकद-शेषों (cash balances) की वास्तविक राशि को अपनी इच्छित मुद्रा राशि के समान बनाने का (मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहते हुये) एकमात्र उपाय यह है कि वे अपने कुल खर्च में कमी करें। खर्च में कमी करने के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत आयों में भी उपयुक्त कमी होकर कुल आय पुनः OY_0 सन्तुलन-आय को प्राप्त हो जावेगी।

यदि मुद्रा के माँग अथवा नकदी अधिमान वक्र LL की स्थिति में परिवर्तन हो जाता है तथा यह खिसक कर L_1L_1 वक्र को प्राप्त हो जाता है तो मुद्रा का पूर्ति वक्र स्थिर रहते हुये, सन्तुलन आय में परिवर्तन हो जावेगा तथा यह OY_0 से घटकर OY_1 हो जावेगी क्योंकि समुदाय प्रत्येक आय स्तर पर पहले की अपेक्षा अधिक मुद्रा अपने पास संचित रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में, L_1L_1 वक्र समुदाय के नकदी-अधिमान में वृद्धि होने का द्योतक है। जब तक मुद्रा की पूर्ति में भी उपयुक्त वृद्धि नहीं की जावेगी (चित्र ५·३ में मुद्रा की पूर्ति स्थिर है जैसा कि M_SM_S लम्बवत मुद्रा पूर्ति वक्र से स्पष्ट है) तब तक समुदाय केवल अपने खर्च में कमी करके पहले से अधिक नकद-शेष प्राप्त कर सकता है। परन्तु ऐसा करने से समुदाय की सन्तुलन आय OY_0 से घटकर OY_1 हो जावेगी। इसके विपरीत यदि नकदी-अधिमान वक्र L_2L_2 की स्थिति को प्राप्त हो जाता है तो, मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहते हुये, सन्तुलन आय OY_0 से बढ़कर OY_2 हो जावेगी क्योंकि इस आय पर मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग के समान है।

(३) आय समीकरण

नकद-व्यवसाय तथा नकद-शेष समीकरणों के अतिरिक्त द्रव्य के मूल्य के मौद्रिक सिद्धान्त का एक अन्य रूप आय-समीकरण है। परिणाम सिद्धान्त के आय-समीकरण को निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$MV_y = P_yY$$

अथवा
$$P_y = \frac{MV_y}{Y}$$

उपर्युक्त समीकरण में
M द्रव्य की मात्रा है।
V_y द्रव्य का आय वेग[33] है।
P_y नये उत्पादित पदार्थों का मूल्य स्तर है।
MV_y नये पदार्थों की माँग है।
Y वास्तविक उत्पादन की मात्रा है।

आय-समीकरण में M नकद-व्यवसाय समीकरण में M के समान हैं। परन्तु द्रव्य का आय-वेग जो वास्तविक राष्ट्रीय आय तथा द्रव्य की कुल मात्रा के अनुपात को सूचित करता है नकद-व्यवसाय समीकरण के व्यवसाय-वेग की तुलना में कम है, क्योंकि द्रव्य के आय-वेग (V_y) का अर्थ व्यवसाय-वेग (V) की तुलना में अधिक सीमित है। द्रव्य का आय-वेग केवल अन्तिम अथवा उपभोग वस्तुओं (final goods) के लेन-देन से सम्बन्धित है। परन्तु द्रव्य के व्यवसाय-वेग में अर्थव्यवस्था में प्रत्येक लेन-देन को, भले ही उनका सम्बन्ध उपभोग वस्तुओं के क्रय-विक्रय से हो अथवा न हो, शामिल किया जाता है। अर्थव्यवस्था में यद्यपि काफी लेन-देन केवल वैत्तिक होते हैं जिनका उपभोग वस्तुओं के लेन-देन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता है परन्तु इन सभी को द्रव्य के व्यवसाय-वेग में शामिल किया जाता है। किसी दी हुई समय अवधि में अर्थव्यवस्था में द्रव्य की प्रत्येक इकाई उत्पादन तथा विनिमय प्रक्रिया के द्वारा उपभोक्ता तथा उत्पादक के मध्य जितने बार चक्कर लगाती है वह द्रव्य का आय-वेग होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक वर्ष में अर्थव्यवस्था में कुल २०० करोड़ रुपये राशि की मुद्रा संचलन में है तथा यदि इस अवधि में अन्तिम वस्तुओं (Y) पर कुल ४०० करोड़ रुपये व्यय किये जाते हैं तो द्रव्य का आय-वेग अन्तिम वस्तुओं पर किये गये कुल द्रव्य व्यय को संचलन में द्रव्य की कुल मात्रा से विभाजित करके ज्ञात किया जा सकता है, अर्थात्

$$V_y = \frac{P_yY}{M}$$

$$= \frac{४००}{२००} = २$$

आय-वेग के निर्धारक

द्रव्य का आय-वेग तीन प्रमुख कारकों द्वारा निर्धारित होता है। **प्रथम**, यह समाज में व्यक्तियों की अपनी आय को व्यय करने की गति द्वारा निर्धारित होता है। यदि लोग अपनी आय

33. कुछ अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें एंजिल (J. W. Angell) तथा रॉबर्टसन (D. H. Robertson) के नाम उल्लेखनीय हैं, आय वेग को घेरा वेग (circuit velocity) का नाम दिया है।

को उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त करने पर व्यय करते हैं तथा उत्पादक भी प्राप्त हुई इस आय को शीघ्र साधनों की सेवाओं को प्राप्त करने पर व्यय करते हैं तो द्रव्य का आय-वेग अधिक होगा। समाज में व्यक्ति अपनी आय को शीघ्र खर्च करते हैं अथवा देरी से यह उनकी भुगतान करने की आदत, समाज में उद्योग तथा व्यापार का संगठन तथा भुगतान करने की विधि पर निर्भर होता है। साधारणतया अल्पावधि में ये कारण स्थिर होते हैं। परिणामस्वरूप द्रव्य का आय-वेग भी स्थिर होता है।

दूसरे, द्रव्य के आय-वेग पर द्रव्य की कुल मात्रा के उस भाग का भी प्रभाव पड़ता है जिसका उपयोग अर्थव्यवस्था में उपभोग वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कार्यों को सम्पन्न करने के हेतु किया जाता है। द्रव्य के इस भाग का आय-वेग शून्य होता है। **तीसरा** कारक जिसका द्रव्य के आय-वेग पर प्रभाव पड़ता है द्रव्य का वह भाग है जिसको व्यक्ति सट्टेबाजी के उद्देश्य से नकदी में संचित रखते हैं। द्रव्य के इस भाग का आय-वेग भी शून्य होता है। इस प्रकार कुल द्रव्य की मात्रा में यदि सक्रिय नकदी (active balances) निष्क्रिय नकदी (idle balances) की अपेक्षा अधिक है तो द्रव्य का आय-वेग अधिक होगा तथा यदि यह कम है तो द्रव्य का आय-वेग कम होगा।

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त का आय-समीकरण अन्य समीकरणों की अपेक्षा अधिक वास्तविक है। इसके द्वारा हमको अर्थव्यवस्था का विश्लेषण प्राप्त हो जाता है तथा राष्ट्रीय आय, आय-वेग इत्यादि महत्त्वपूर्ण आर्थिक विचारों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

यद्यपि द्रव्य के मूल्यनिर्धारण का परिमाणसिद्धान्त मौलिक रूप से सत्य है क्योंकि इसके अनुसार मूल्य को शून्य बनाये बिना असीमित मात्रा में मुद्रा का प्रचालन कदापि नहीं किया जा सकता है परन्तु इस सिद्धान्त के कुछ महत्त्वपूर्ण दोष हैं। परिमाण सिद्धान्त के वर्तमान समर्थक यह स्वीकार करते हैं कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप इसके मूल्य में आनुपातिक कमी नहीं होगी। पूर्ण रोजगार की अवस्था में जब दुर्लभ मुद्रा नीति कीमतों में वृद्धि को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकती है तब द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में उपयुक्त मौद्रिक नीति का निर्देशन करने में सहायक सिद्ध होता है। परन्तु मन्दी के समय में जब द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि करना संभवतः व्यर्थ होता है तब परिमाण सिद्धान्त मौद्रिक नीति का सही निर्देशन नहीं कर सकता है। ऐसे समय में जब उद्योग तथा व्यापार अस्त-व्यस्त स्थिति में होते हैं द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप केवल बेशी नकदी की मात्रा में वृद्धि हो जावेगी।

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के समीकरण अति साधारण हैं तथा इनसे अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। सामान्य कीमत-स्तर यह ज्ञान प्रदान नहीं करता है कि सामान्य कीमत-स्तर स्थिर रहते हुये भी व्यक्तिगत वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन होने के कारण आर्थिक स्थिरता भंग हो सकती है। यदि कृषि पदार्थों की कीमतों में ५० प्रतिशत की कमी तथा औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है तो कीमतों में हुये इन परिवर्तनों का ज्ञान सामान्य कीमत-स्तर द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि विपरीत दिशाओं में होने के कारण ये परिवर्तन विलोपित हो जावेंगे तथा सामान्य कीमत-स्तर स्थिर रहेगा। इस कारण वर्तमान युग में द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त को द्रव्य के कीमत निर्धारण तथा इसमें होने वाले परिवर्तनों की विश्वसनीय व्याख्या स्वीकार नहीं किया जाता है।

कीन्स के मौलिक समीकरण (Keynes' Fundamental Equations)

कीन्स ने अपनी *A Treatise On Money* शीर्षक पुस्तक में अपने पुराने वास्तविक-शेष समीकरण (real-balances equation)[34] में सुधार के रूप में मौलिक समीकरणों का निर्माण किया है। मौलिक समीकरणों के द्वारा कीन्स मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव कीमतों के अतिरिक्त लाभ, उत्पादन, आय के वितरण और पूंजी निसंचय के सम्बन्ध में भी करते हैं। मौलिक समीकरणों में समस्या का गत्यात्मक अध्ययन किया गया है। इनमें उस सारी क्रमविधि का अध्ययन किया गया है जिसके द्वारा कीमत-स्तर निर्धारित होता है तथा अर्थव्यवस्था एक सन्तुलन स्थिति से हटकर दूसरी सन्तुलन स्थिति को प्राप्त करती है। मौलिक समीकरणों में खर्च (expenditure) और निवेश (investment) को प्रधान महत्व दिया गया है। समीकरण विशेष-रूप से यहां उल्लेखनीय हैं। दोनों समीकरणों का वर्णन करने के पूर्व समीकरणों में प्रयोग किये गये शब्दों का अर्थ बता देना उचित है। मौलिक समीकरणों में निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया गया है।

O वस्तुओं की वह कुल मात्रा है जिसका किसी दी हुई समय अवधि में उत्पादन किया जाता है।

R उपभोग इकाइयों की वह मात्रा है जिसका इस समय अवधि में उत्पादन किया जाता है।

C निवेश इकाइयों की उस मात्रा को सूचित करता है जिसका इस समय अवधि में उत्पादन होता है। इस प्रकार कुल उत्पादन की मात्रा (O), कुल उपभोग-वस्तुओं की मात्रा (R) तथा कुल निवेश-वस्तुओं की मात्रा (C) के बराबर है अर्थात् $O=R+C$

E कुल आय राशि (total earnings) है।

I नई निवेश वस्तुओं का बाजार मूल्य है।

I' नई निवेश वस्तुओं की उत्पादन लागत है।

P उपभोग इकाई का मूल्य है।

π उत्पादन इकाई का मूल्य है।

कीन्स का प्रथम मौलिक समीकरण निम्नलिखित प्रकार है।

$$P=\frac{E}{O}+\frac{I'-S}{R}$$

उपरोक्त समीकरण के अध्ययन द्वारा यह ज्ञात होता है कि P में निम्नलिखित किन्हीं भी तीनों कारणों में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप परिवर्तन हो सकते हैं।

(i) वस्तुओं की प्रति इकाई उत्पादन लागत $(\frac{E}{O})$;

(ii) नई निवेश वस्तुओं की उत्पादन लागत (I); तथा

(iii) कुल बचत (S)

---

34. The real-balances equation was given as $n=p\ (k+rk')$ in his book '*A Tract On Monetary Reform*' which was published in 1923 Seven years later appeared Keynes' book *A Treatise On Money* in two volumes. The Fundamental Equations have been discussed in Chapter 10, Vol. I of the *Treatise*.

कीन्स का दूसरा मौलिक समीकरण निम्नलिखित प्रकार है।

$$\pi=\frac{E}{O}+\frac{I-S}{O}$$

यह समीकरण इस बात को सूचित करता है कि π उसी समय स्थिर रहेगा जबकि वस्तुओं की प्रति इकाई उत्पादन लागत $(\frac{E}{O})$ भी स्थिर रहेगी तथा नई निवेश वस्तुओं का कुल बाजार मूल्य (I), कुल बचत (S) के बराबर होगा क्योंकि यदि प्रति इकाई उत्पादन लागत $(\frac{E}{O})$ स्थिर रहती है परन्तु नई निवेश वस्तुओं का कुल बाजार मूल्य (I) कुल बचत (S) से अधिक अथवा कम हो जाता है तो π भी अधिक अथवा कम हो जावेगा। दूसरे शब्दों में प्रथम समीकरण के समान उपरोक्त समीकरण में भी निम्नलिखित किन्हीं भी तीनों कारणों द्वारा परिवर्तन हो सकते हैं।

(i) वस्तुओं की प्रति इकाई उत्पादन लागत $\frac{E}{O}$;

(ii) नई निवेश वस्तुओं का बाजार मूल्य (I); तथा

(iii) कुल बचत (S)

कीन्स के मौलिक समीकरण यह स्पष्ट करते हैं कि सन्तुलन में मुद्रा की मात्रा तथा P और π के बीच फलनात्मक (functional) सम्बन्ध होता है। इसको स्पष्ट करते हुये कीन्स ने इस प्रकार लिखा है: "इसका वास्तव में यह अर्थ है कि सन्तुलन की स्थिति में अर्थात् जब उत्पादन साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त होता है, जब जनता ऋणपत्रों के प्रति न तो अधिक निराशावादी (bearish) होती है और न अधिक आशावादी (bullish) होती है और जमाओं (deposits) तथा बचतों (savings) के रूप में अपने कुल धन का केवल सामान्य अनुपात संचित रखती है और जब कुल बचत (S) नई निवेश वस्तुओं की उत्पादन लागत (I') और बाजारमूल्य (I) के बराबर होती है तब ऐसी स्थिति में मुद्रा की मात्रा और उपभोग वस्तुओं के कीमत-स्तर (P तथा कुल उत्पादन के कीमत-स्तर (π) के बीच एक इस प्रकार का आदर्श सम्बन्ध होता है कि यदि मुद्रा की मात्रा दुगनी कर दी जावे तो दोनों कीमत-स्तर, अर्थात् P और π भी दुगने हो जावेंगे।"[35]

मौलिक समीकरणों को उपयोगी समझ कर कीन्स ने इनका प्रयोग व्यापार चक्र के अध्ययन में किया है। कीन्स के मौलिक समीकरणों की आधारशिला बचत और निवेश से सम्बन्धित है। व्यापार चक्र की समस्या कीमत परिवर्तन की समस्या है और कीमत परिवर्तन की

35. "This means indeed, that in 'equilibrium' *i. e.*, when the factors of production are fully employed, when the public is neither bullish nor bearish of securities and is maintaining in the forms of savings and deposits neither more nor less than "normal" proportion of its total wealth and when the volume of savings is equal both to the cost (I') and to the value (I) of new investment goods there is a unique relationship between the quantity of money and the price levels of the consumption goods and output as a whole of such a character that if the quanitity of money were doubled, the price level would be double also." (J. M. Keynes : *A Treatise On Money*, Vol. I. pp. 146.47.)

समस्या का सम्बन्ध बचत और निवेश वस्तुओं की कीमतों तथा उत्पादन लागत के मध्य असन्तुलन से है। जब कुल बचत (S) कुल निवेश वस्तुओं के बाजार मूल्य तथा उत्पादन लागत (I तथा I′) से अधिक होती है तो कीमत-स्तर (P और π) में कमी हो जाती है और यदि कुल बचत (S) कुल निवेश के मूल्य तथा उत्पादन लागत (I तथा I′) से कम होती है तो कीमत-स्तर (P और π) में वृद्धि हो जाती है। कुल बचत (S) कुल निवेश के मूल्य तथा उत्पादन लागत (I तथा I′) की तुलना में उस समय अधिक होती है जब बाजार ब्याज दर प्राकृतिक ब्याज दर से अधिक होती है। इसके विपरीत यदि बाजार ब्याज दर प्राकृतिक ब्याज दर से कम होती है तो कुल बचत (S) कुल निवेश वस्तुओं की उत्पादन लागत और मूल्य (I′ तथा I) की तुलना में कम होती है और कीमतों (P and π) में वृद्धि हो जाती है। सन्तुलन में जब कुल बचत (S) कुल निवेश वस्तुओं के मूल्य (I) और उत्पादन लागत (I′) के बराबर होती है; अर्थात् जब बाजार ब्याज दर और प्राकृतिक ब्याजदर समान होती हैं तो कीमतें भी स्थिर रहती हैं। इस प्रकार कीन्स अपने मौलिक समीकरणों के द्वारा व्यापार-चक्र में कीमतों में होने वाले परिवर्तनों को बाजार और प्राकृतिक ब्याज दरों के मध्य असन्तुलन से सम्बन्धित करते हैं। उनके विचार में व्यापार चक्र की समस्या कीमत अस्थिरता की समस्या है जिसको केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक नीति द्वारा बाजार तथा प्राकृतिक ब्याजदरों में समानता लाकर समाप्त कर सकती है।

मौलिक समीकरणों में कीन्स ने द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की उपेक्षा करके अपना ध्यान समाज में द्रव्य आय के प्रवाह पर केन्द्रित किया है। इसके अतिरिक्त कीन्स ने समाज के सम्पूर्ण द्रव्य आय के प्रवाह को दो भागों में विभाजित किया है। कीन्स के अनुसार प्रथम, अर्थ-व्यवस्था में आय उपभोग वस्तुओं तथा निवेश-वस्तुओं के उत्पादन द्वारा प्राप्त होती है तथा दूसरे, इसके कुछ भाग को उपभोग-वस्तुओं को क्रय करने पर व्यय किया जाता है तथा शेष आय को बचाया जाता है। कीन्स का यह आय विश्लेषण उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त मौलिक समीकरणों में कीन्स ने अर्थव्यवस्था पर द्रव्य के प्रभावों को प्रत्यक्ष रूप से अध्ययन करने के स्थान पर इसके प्रभावों को ब्याज दर तथा निवेश की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अध्ययन किया है।

मौलिक समीकरणों की आलोचना

(१) कीन्स के मौलिक समीकरण यद्यपि द्रव्य के मूल्य निर्धारण के प्राचीन परिणाम सिद्धान्त की अपेक्षा उत्तम हैं परन्तु ये दोषरहित नहीं हैं। प्रोफेसर हैनसन का विचार है कि कीन्स के मौलिक समीकरणों में एक बुनियादी दोष है। समीकरण में $O = R + C$ है क्योंकि O उपभोग वस्तुओं (R) और निवेश वस्तुओं (C) की मात्रा के योग के बराबर है। दोनों प्रकार की वस्तुओं (R and C) की इकाइयाँ इस प्रकार से चुनी गई हैं कि आधार वर्ष में दोनों वस्तुओं की इकाइयों की समान उत्पादन लागत है। हैनसन के विचार में यह आवश्यक नहीं है कि उपभोग वस्तुओं (R) की इकाई तथा निवेश वस्तुओं (C) की इकाई की प्रत्येक वर्ष में समान उत्पादन लागत हो। दोनों प्रकार की वस्तुओं की इकाइयों की उत्पादन लागत में, दोनों वस्तुओं की उत्पादन प्रणालियों में भिन्न प्रकार के परिवर्तन होने के कारण प्रत्येक वर्ष भिन्न परिवर्तन हो सकते हैं। मुद्रा की किसी दी हुई मात्रा के द्वारा प्रत्येक वर्ष R और C की समान मात्रा का उत्पादन नहीं किया जा सकता है। यद्यपि कीन्स के मौलिक समीकरण आधार वर्ष में निर्दोष हैं परन्तु अन्य वर्षों में इनका सत्य अथवा निर्दोष होना आवश्यक नहीं है। मौलिक समीकरण केवल एक ऐसी स्थिर (static) अर्थव्यवस्था में उपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं जिसमें प्रौद्योगिक उन्नति (technological progress)

नहीं होती है। परन्तु गत्यात्मक अर्थव्यवस्था (dynamic economy) में, जहाँ आर्थिक परिवर्तनों का होना एक साधारण नियम है, कीन्स के मौलिक समीकरणों का विशेष महत्त्व नहीं है।

(२) मौलिक समीकरण कीमतों मे परिवर्तनों की क्रम-विधि को निःसन्देह स्पष्ट नहीं करते हैं। कभी कभी समीकरण के तत्त्वों में परिवर्तन उत्पन्न हुए बिना ही असन्तुलन उत्पन्न हो सकता है।

(३) मौलिक समीकरणों के अनुसार कुल बचत (S) तथा निवेशवस्तुओं की उत्पादन-लागत (I′) और मूल्य (I) में अन्तर अर्थव्यवस्था में लाभ अथवा हानि उत्पन्न होने का प्रमुख कारण है। परन्तु यह विचार सन्तोषजनक नहीं है। समीकरणों में आय, लाभ तथा हानि की जो परिभाषायें दी गई हैं वे भी दोषरहित नहीं हैं।

(४) कीन्स की सन्तुलन की परिभाषा अनेक उत्पादन स्तरों के अनुकूल है। मन्दी काल में भी उत्पादन के निम्न स्तर पर बचत तथा निवेश सन्तुलन में हो सकते हैं। परन्तु ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था अस्थिर होती है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि कीन्स के मौलिक समीकरणों के अनुसार बचत तथा निवेश में समानता आर्थिक स्थिरता की सूचक है परन्तु बचत तथा निवेश में समानता को आर्थिक स्थिरता के बिना भी प्राप्त किया जा सकता है। केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति में ही बचत और निवेश में समानता आर्थिक स्थिरता के अनुकूल होती है।

(५) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समान मौलिक समीकरण भी उन सभी शक्तियों अथवा तत्त्वों की व्याख्या नहीं करते हैं जो कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों को जन्म देते हैं। कीमतों में होने वाले परिवर्तनों के कारणों का सही अध्ययन करने के लिये मौलिक समीकरणों के अतिरिक्त अन्य उन शक्तियों का भी, जिनको समीकरणों में कोई स्थान प्राप्त नहीं है, अध्ययन करना आवश्यक है।

(६) कीन्स के मौलिक समीकरण निःसन्देह स्थिर (static) हैं। यह आलोचना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कीन्स के विचार में उनकी यह खोज (समीकरण) गत्यात्मक (dynamic) थी। हमारा संसार गत्यात्मक है जहाँ आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में प्रतिदिन आविष्कार होते रहने के कारण इस प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं जिनको सदा सही प्रकार आँका नहीं जा सकता है। वर्तमान बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन एक निरन्तर क्रमगति के रूप में होता रहता है। वर्तमान अथवा किसी अन्य समय अवधि में जिन वस्तुओं को खरीद कर उपभोग किया जाता है उनका उत्पादन उससे पूर्व समय अवधि में किया जाता है। इसी प्रकार जिन वस्तुओं का उत्पादन वर्तमान में होता है उनका उपभोग किसी समय भविष्य में किया जाता है। इस कारण किसी दी हुई समय अवधि में प्राप्त आय (earnings) उस अवधि में खरीदी हुई उपभोग वस्तुओं की उत्पादन लागत से संबन्धित न होकर उन वस्तुओं की उत्पादन लागत से संबन्धित होती है। जिनका उपभोग भविष्य में किया जावेगा, कीन्स के मौलिक समीकरणों के अनुसार किसी दी हुई समय अवधि की आय उस समय अवधि में उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की उत्पादन लागत से सम्बन्धित होती है। परन्तु यह विचार गलत है क्योंकि जिन वस्तुओं का हम आज उपभोग करते हैं उनका उत्पादन तत्काल आज न होकर आज से पहले कभी होता है। उदाहरणार्थ, जिन वस्तुओं का उपभोग समाज में जनवरी १९७२ में होता है उनमें से अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन १९७२ के पूर्व होता है।

(७) मौलिक समीकरणों में I, I′ और S के मध्य सन्तुलन पूर्णरोजगार की स्थिति से सम्बन्धित है। कीन्स के मौलिक समीकरण स्थिर उत्पादन (O) की मान्यता पर आधारित हैं।

ऐसा पूर्ण रोजगार की स्थिति में ही सम्भव है। कीन्स के मौलिक समीकरणों में मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होने की कोई सम्भावना नहीं है। इस दृष्टि से मौलिक समीकरण द्रव्य के परिणाम सिद्धान्त, जिसमें T को स्थिर माना गया है, के समान हैं। कीन्स अपने मौलिक समीकरणों के इस गम्भीर दोष से परिचित थे तथा मौलिक समीकरणों के इस दोष को स्वीकार करते हुए कीन्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *General theory* में लिखा है कि "मेरे मौलिक समीकरण दी हुई उत्पादन मात्रा की अवास्तविक मान्यता पर आधारित थे। इन समीकरणों का उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि दिये हुये उत्पादन की मान्यता के आधार पर किस प्रकार अर्थव्यवस्था में उन शक्तियों का उदय होता है जो लाभ-असन्तुलन उत्पन्न करके उत्पादन में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। परन्तु इन समीकरणों में गत्यात्मक विश्लेषण अधूरा तथा संशयात्मक अवस्था में था।"[36]

(८) कीन्स के मौलिक समीकरणों के अनुसार ब्याज की दर का व्यापार की स्थिति तथा कीमत-स्तर पर नियन्त्रण रखने में विशेष महत्त्व है। अर्थव्यवस्था में सन्तुलन बनाये रखने के लिये केन्द्रीय बैंक के लिये अपनी मौद्रिक नीति के द्वारा समय-समय पर बैंक दर में इस प्रकार परिवर्तन करना आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था में कुल बचत (S) कुल निवेश वस्तुओं की कीमत और लागत (I तथा I') के बराबर बनी रहे। कीन्स का यह विश्वास था कि बैंक दर में उपयुक्त परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में विद्यमान आर्थिक अस्थिरता की समस्या को समाप्त कर सकती है।[37] परन्तु कुछ वर्ष पश्चात् १९३३ ई० की मन्दी में जब कीन्स ने यह अनुभव किया कि व्यापारचक्रों तथा आर्थिक अस्थिरता की गम्भीर समस्या को केवल ब्याज-दर में परिवर्तनों के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता है तब कीन्स ने अपने विचारों में परिवर्तन किया और अपनी पुस्तक *General Theory* में ब्याज की दर को व्यापार चक्रों की समस्या के समाधान के सम्बन्ध में बहुत कम महत्त्व दिया। ब्याज की दर के स्थान पर *General Theory* में कीन्स ने पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा राज्य द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय को अधिक महत्त्व दिया है।

(९) कीन्स अपने मौलिक समीकरणों के दोषों को नहीं भूले थे। इन दोषों को स्पष्ट करते हुये उन्होंने अपनी पुस्तक *A Treatise On Money* में लिखा है कि "ये सभी समीकरण केवल औपचारिक समानताएँ तथा स्वयं-सिद्ध वचन हैं जो स्वयं कुछ नहीं बताते हैं और इस प्रकार द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के भिन्न रूपों के समान हैं।"[38] इसी प्रकार *Treatise* के अध्याय १४ में कीन्स मौलिक समीकरणों के दोषों पर प्रकाश डालते हुये लिखते हैं कि "दसवें अध्याय के मौलिक समीकरण स्वयं समानताओं के चिह्न होने के कारण वास्तविकता की दृष्टि से अन्य प्राचीन समीकरणों की तुलना में उत्तम नहीं हैं। वास्तव में मौलिक समीकरणों का एक गम्भीर दोष यह है कि समीकरणों के तत्त्वों को वर्तमान अंकशास्त्र की अवस्था में आसानी से निर्धारित नहीं किया जा सकता है।"[39] संक्षेप में कीन्स के मौलिक समीकरणों का व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। ये केवल मानसिक-अभ्यास के साधन हैं।

---

36. *The General Theory of Employment, Interest and Money*, Preface. p. VII.
37. L. R. Klein : *The Keynesian Revolution.* 1952. pp. 27-28.
38. "All these equations are purely formal ; they are mere identities : truisms which tell us nothing in themselves. In this respect, they resemble all other versions of the Quantity Theory of Money," (J. M. Keyness : *A Treatise on Money*, Vol. I, p. 138.)
39. "The Fundamental Equations of Chapter 10 are in themselves no more than identities and therefore, not intrinsically superior to other identities which have been propounded connecting monetary factors. Indeed they have a disadvantage in that their elements are not those which it is easiest to determine statistically in the present state of our knowledge." (*op. cit.* p. 22.)

परन्तु कीन्स के मौलिक समीकरणों में उपरोक्त दोष होते हुये भी ये समीकरण महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये प्राचीन परिमाण सिद्धान्त के परिमाण समीकरणों तथा वर्तमान आय तथा रोजगार सिद्धान्त के मध्य संक्रमण को सूचित करते हैं। मौलिक समीकरणों के द्वारा कीन्स ने उन कारणों का संक्षिप्त वर्णन किया है जो उपभोग वस्तुओं तथा सामान्य वस्तुओं की कीमतों को निर्धारित करते हैं। मौलिक समीकरणों के द्वारा कीन्स ने उद्यमकर्ताओं के सामान्य लाभों तथा आकस्मिक लाभों के मध्य भेद व्यक्त किया था।

अध्ययन सूची

1. George N. Halm : Monetary Theory (2nd ed,), Chapter II.
2. Geoffrey Crowther : An Outline of Money (rev. edition), Chapters III and IV.
3. D H. Robertson : Money, Chapter II.
4. J. M. Keynes : A Treatise on Money, Vol. I, Chapters X and XIV.
5. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy, Chapters I and III.
6. W. A. L. Coulborn : An Introduction to Money,Chapter VI.
7. L. V. Chandler : The Economics of Money and Banking (4th ed.), Chapter 14.
8. A. C. L. Day : Outline of Monetary Economics, Part IV, Chapter 8.
9. A. C. Pigou : "The Value of Money," The Quarterly Journal of Economics, Vol. XXXII, 1917, Reprinted in American Economic Association's *Readings in Monetary Theory*.
10. J. M. Keynes : The General Theory of Employment Interest and Money, Chapter 21.
11. H. Hageland : The Quantity Theory of Money, Chapters, 5, 7, and 40
12. M. Friedman (ed.) : "The Quantity Theory of Money-a Restatement", in *studies in the Quantity Theory of Money* (1956)

प्रश्न

1. How does Fisher's version of the quantity theory of money differ from Pigou's ? Which of the two do you prefer and why ?
2. What is quantity theory of money ? Does this theory give an adequate explanation of the forces governing the value of money ?
3. "The modern tendency in economic thinking, indeed is to discard the old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinant of value of money and to regard it as a consequence." Discuss this statement.
4. Discuss the Fundamental Equations of Keynes.
5. Compare Fisher's version with the Cambridge version of the quantity theory of money. Which do you prefer and why ?
6. "The quantity equations remain the most illuminating summary of the forces determining the general level of prices" Discuss fully.

६

कीमतों का आय-व्यय सिद्धान्त[1]
(The Income-Expenditure Theory of Prices)

कीमतों के आय-व्यय सिद्धान्त का विकास प्रमुख रूप से द्रव्य मूल्य निर्धारण के परिमाण सिद्धान्त के दोषों का परिणाम है। पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित होने के कारण द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त हमारा ध्यान इस निष्कर्ष पर केन्द्रित करता है कि मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से केवल कीमत-स्तर अथवा द्रव्य की क्रय-शक्ति पर पड़ता है क्योंकि संचलन में मुद्रा की पूर्ति में हुये इन परिवर्तनों का उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आय-व्यय सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य के प्राचीन परिमाण सिद्धान्त, जिसके अनुसार कुल उत्पादन (O) स्थिर रहने के कारण द्रव्य का मूल्य केवल इसकी पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है से भिन्न है। आय-व्यय सिद्धान्त द्रव्य की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का आय, उपभोग, बचत तथा निवेश पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करता है। कीमतों का आय-व्यय सिद्धान्त हमारा ध्यान इस सत्य की ओर केन्द्रित करता है कि द्रव्य की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का कीमत-स्तर (द्रव्य की क्रय-शक्ति) पर प्रत्यक्ष प्रभाव न पड़कर यह प्रभाव अर्थ-व्यवस्था में कुल उपभोग तथा निवेश में परिवर्तनों के द्वारा कुल वास्तविक आय तथा व्यय में होने वाले परिवर्तनों द्वारा पड़ता है। आय-व्यय सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य के परिमाण सिद्धान्त के इस कथन को गलत बताता है कि द्रव्य की पूर्ति तथा इसके मूल्य में एक प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक उलटा सम्बन्ध है।

सिद्धान्त का विकास

आय-व्यय सिद्धान्त को कीन्स के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। यद्यपि निःसन्देह १९३६ ई० में कीन्स की *The General Theory of Employment Interest and Money* शीर्षक पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् इस सिद्धान्त का तीव्र विकास हुआ है परन्तु इस सिद्धान्त का लम्बा इतिहास है। आर्थिक विचारों के इतिहास में इस सिद्धान्त का श्रीगणेश काफी प्राचीन समय में हुआ था। १७०५ ई० में प्रकाशित *"The Fable of the Bees, or Private Vices, Publick Benefits"* शीर्षक पुस्तिका में, जिसके लेखक बरनार्ड डी मेन्डेविलि

---

1. अगले अध्याय को भी पढ़िये

(Bernard De Mandeville) थे, किफायतकारी अथवा कमखर्ची (thrift) को राष्ट्रीय आर्थिक समृद्धि के लिये अभिशाप तथा खर्च (spending) को आर्थिक समृद्धि के लिये हितकर बताया गया था। कीन्स ने द्रव्य के मूल्य की व्याख्या आय-व्यय सिद्धान्त द्वारा की है। इस सिद्धान्त के अनुसार कीमतों के अध्ययन में द्रव्य की पूर्ति के स्थान पर खर्च के आकार को प्रधान महत्व दिया जाना चाहिये। १८४४ ई० में थॉमस टुक (Thomas Tooke) ने यह बतलाया था कि कीमतों को मुद्रा की मात्रा नहीं बल्कि आय निर्धारित करती थी। टुक ने १८४४ ई० में प्रकाशित अपनी *An Enquiry into the Currency Principle* शीर्षक पुस्तक में अपने बारहवें प्रस्ताव अथवा नियम की व्याख्या इस प्रकार की थी : "वस्तुओं की कीमतें द्रव्य की मात्रा पर निर्भर नहीं होती हैं ... परन्तु इसके विपरीत द्रव्य की वह कुल मात्रा जो अर्थव्यवस्था में संचलन में होती है कीमतों का परिणाम होती है।"[2] अपने सुप्रसिद्ध तेरहवें नियम की व्याख्या करते हुये टुक ने लिखा था कि "जिस प्रकार उत्पादन-लागत कुल पूर्ति को निर्धारित करती है, ठीक इसी प्रकार वह कुल द्रव्य आय जो उपभोग पर खर्च की जाती है, कुल माँग को निर्धारित करती है।"[3] थॉमस टुक के उपरोक्त दोनों प्रस्तावों से हमको कीमतों के आय-व्यय सिद्धान्त की प्राचीन व्याख्या प्राप्त होती है।

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री नट विक्सेल (Knut Wicksell) ने टुक द्वारा दिये गये आय, कुल माँग तथा कीमतों के विश्लेषण की प्रशंसा की थी तथा इसको अपने द्रव्य तथा कीमतों के सिद्धान्त का प्रमुख अंग बनाया था। विक्सेल ने कीमतों के आय-व्यय सिद्धान्त की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "कीमतों में सामान्य वृद्धि केवल उसी समय सम्भव है जब सामान्य माँग पूर्ति की तुलना में अधिक हो जाती है अथवा इस के अधिक हो जाने की आशा होती है। ....द्रव्य का कोई भी सिद्धान्त यह बताने के योग्य होना चाहिये कि किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में वस्तुओं की द्रव्य-माँग वस्तुओं की पूर्ति की तुलना में अधिक अथवा कम क्यों होती है।"[4]

विक्सेल ने अपने विश्लेषण में इस बात पर जोर दिया कि यह स्पष्ट करने के लिये कि द्रव्य की मात्रा सामान्य कीमत-स्तर (जो व्यक्तिगत कीमतों का औसत है) पर किस प्रकार अपना प्रभाव डालती है यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि द्रव्य की मात्रा अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति अथवा माँग के निर्धारण में क्या तथा किस प्रकार प्रभाव डालती है। विक्सेल ने इस सत्य पर प्रकाश डाला था कि द्रव्य की मात्रा में हुये परिवर्तनों का सामान्य कीमत-स्तर पर केवल तभी प्रभाव पड़ सकता है जब निजी वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों पर भी इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा हो क्योंकि औसत कीमत पर प्रभाव पड़ने से पूर्व इस के भिन्न अंगों पर प्रभाव पड़ना आवश्यक है। विक्सेल ने अपने द्रव्य तथा कीमतों के सिद्धान्त में व्यक्तिगत वस्तुओं की कीमतों को महत्त्व देकर अर्थव्यवस्था के मौद्रिक तथा वास्तविक क्षेत्रों को एक साथ जोड़ा था। इस दृष्टि से विक्सेल को वर्तमान आय-व्यय सिद्धान्त का अग्रसर कहा जा सकता है।

१९२५ ई० में अफटेलियन ने कीमतों के आय-व्यय सिद्धान्त की निम्नाङ्कित समीकरण के रूप में व्याख्या की थी।

$$R = PO$$

2. Thomas Tooke : *An Enquiry into the Currency Principle*, pp. 123-24.
3. *op. cit.*, p. 14.
4. "A general rise in price is therefore only conceivable on the supposition that the genera demand has for some reason become or is expected to become, greater than the supply ... any theory of money worthy of the name must be able to show how and why the monetary or pecuniary demand for goods exceeds or falls short of the supply of goods in given conditions." (Knut Wicksell : *Lectures on Political Economy* Vol, II. '*Money*', pp. 159-60.)

उपरोक्त समीकरण में R, P तथा O क्रमशः द्रव्य आय, कीमत-स्तर तथा कुल वास्तविक उत्पादन की मात्रा को सूचित करते हैं।

अफटेलियन ने यह सिद्ध किया था कि कीमतों का आय-व्यय सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य निर्धारण के परिमाण सिद्धान्त की तुलना में उत्तम था क्योंकि यह सिद्धान्त कीमतों का अध्ययन वास्तविक ढंग से क्रेताओं तथा विक्रेताओं की आयों तथा इसमें हुये परिवर्तनों के हेतु होने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभावों तथा इन प्रभावों के परिणामस्वरूप वस्तुओं की माँग तथा कीमतों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करता है। आय-व्यय सिद्धान्त इस सत्य को स्पष्ट करता है कि मानव इच्छायें, अभिलाषायें तथा आवश्यकतायें समाज में आर्थिक क्रियाओं की प्रेरक होती हैं। आय-व्यय सिद्धान्त हमें यह भी ज्ञात करता है कि आर्थिक नियमों की सर्वोत्तम व्याख्या मानव व्यवहार के रूप में की जा सकती है।

परन्तु टुक तथा अफटेलियन आय निर्धारण का क्रमबद्ध विश्लेषण प्रस्तुत करने में असफल रहे थे। विक्सेल भी आय के निर्धारक कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डालने में असमर्थ रहे थे। एक ऐसे सम्पूर्ण सिद्धान्त का निर्माण करने का कठिन कार्य, जिसमें आय के सभी निर्धारकों की व्याख्या की गई थी केवल कीन्स के कुशल हाथों द्वारा १९३६ ई० में सम्पन्न हो सका। कीन्स ने अपनी पुस्तक *General Theory* में यह स्पष्ट किया है कि कुल आय (Y) कुल निवेश (I) तथा कुल उपभोग (C) का योग होती है; अर्थात्

$$Y = I + C$$

इसी प्रकार कुल बचत (S) कुल आय (Y) का वह भाग है जिसको उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता है; अर्थात्

$$S = Y - C$$

अथवा $S + C = Y$

$$\therefore\ I + C = Y = S + C$$

$$\therefore\ I + C = S + C$$

$$I = S$$

आय-व्यय सिद्धान्त के अनुसार वह कुल द्रव्य-आय जो समुदाय को किसी दी हुई समय अवधि में प्राप्त होती है उत्पादन साधनों की कुल द्रव्य-आय के बराबर होती है तथा इस कारण यह आय उस समय-अवधि में वस्तुओं की कुल उत्पादन लागत के समान होती है। किसी दी हुई समय अवधि में वास्तविक राष्ट्रीय आय अथवा कुल उत्पादन दो बातों पर निर्भर होती है: प्रथम, यह अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों की मात्रा पर निर्भर होती है। दूसरे, यह उद्यमकर्ताओं के इस निर्णय पर निर्भर होती है कि अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों को कितना रोजगार दिया जाना चाहिये अर्थात् कितना निवेश किया जाना चाहिये। उद्यमकर्ताओं का उत्पादन साधनों को रोजगार प्रदान करने का संबन्धी निर्णय उनकी भविष्य में लाभ प्राप्ति की आशंसाओं तथा वर्तमान उत्पादन लागत पर निर्भर होगा। दूसरे शब्दों में, उद्यमकर्ता अपने निवेश में वृद्धि करेंगे अथवा नहीं यह पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर द्वारा निर्धारित होगा। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता स्वयं वर्तमान माँग तथाकुल अप्रयुक्त पूँजी के उपलब्ध स्टाक द्वारा निर्धारित होती है। कीन्स के विचारानुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अल्पावधि में बहुत अस्थिर होती है तथा इसकी प्रवृत्ति चिरकालीन पतन की ओर होती है। ब्याज की दर समाज में लोगों के नकदी अधिमान, जो मुख्यता सट्टेबाजो के उद्देश्य द्वारा प्रेरित नकदी मांग द्वारा निर्धारित होती है, तथा द्रव्य की पूर्ति द्वारा निर्धारित होतो है।

अर्थव्यवस्था में कुल समर्थ माँग (E) कुल उपभोग-व्यय (C) तथा कुल निवेश-व्यय (I) द्वारा निर्धारित होती है। कुल उपभोग पर जो कुल खर्चा होता है वह वास्तविक आय तथा आय प्राप्तकर्ताओं की उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होता है। उपभोग तथा आय के मध्य इस प्रकार का स्थिर सम्बन्ध है कि जब आय में वृद्धि होती है तब उपभोग व्यय में वृद्धि होती है तथा जब आय में कमी होती है तब उपभोग व्यय में कमी होती है।[5]

कुल बचत वह कुल बेशी आय है जो उपभोग पर खर्च करने के पश्चात् शेष रहती है, अर्थात् कुल बचत (S) कुल आय (Y) तथा कुल उपभोग (C) के अन्तर द्वारा निर्धारित होती है।

$$S = Y - C$$

---

5. कीन्स ने औसत उपभोग प्रवृत्ति (average propensity to consume) तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) की धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC) कुल उपभोग-व्यय तथा कुल आय के मध्य सम्बन्ध को सूचित करती है तथा यह कुल उपभोग व्यय तथा कुल आय का अनुपात होती है, अर्थात्

$$APC = \frac{C}{Y}$$

इसका अंकीय मूल्य शून्य से अधिक तथा एक से कम होता है।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) का सम्बन्ध कुल उपभोग-व्यय तथा कुल आय से न होकर इन दोनों में हुये परिवर्तनों से होता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति कुल आय में हुये अतिसूक्षम परिवर्तन ($\triangle Y$) तथा इस परिवर्तन के हेतु कुल उपभोग व्यय में हुये परिवर्तन ($\triangle C$) का अनुपात होती है, अर्थात्

$$MPC = \frac{\triangle C}{\triangle Y}$$

कीन्स के विचारानुसार सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति धनात्मक होती है तथा इसका अंकीय मूल्य एक से कम तथा शून्य से अधिक होता है। उपरोक्त चित्र में CC उपभोग माँग वक्र

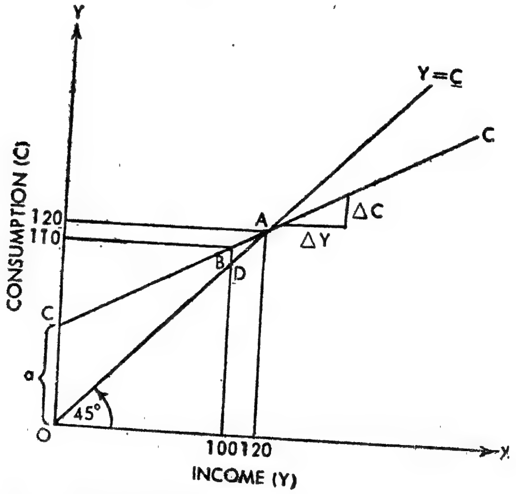

है। यह वक्र यह व्यक्त करता है कि कुल आय में परिवर्तन होने पर कुल उपभोग में स्थिर दर अनुसार परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ, यदि आय १०० करोड़ रुपये है तथा उपभोग

उपभोग प्रवृत्ति स्थिर होने के कारण बचत प्रवृत्ति (propensity to save) भी स्थिर होगी। बचत वक्र को, जो आय तथा बचत के मध्य सम्बन्ध को सूचित करता है, ४५°- कोणिय समानता-रेखा तथा उपभोग वक्र के बीच प्रत्येक आय राशि के समक्ष लम्बवत दूरी ज्ञात करके प्राप्त किया जा सकता है।

चित्र ६·१ में SS वक्र विभिन्न आय राशियों के समक्ष बचत राशि को सूचित करता है। बचत धनात्मक रूप में आय द्वारा निर्धारित होती है। जब आय OY_0 है तो बचत शून्य है। OY_0 से कम आय पर बचत ऋणात्मक है तथा OY_0 से अधिक आय के समक्ष बचत धनात्मक है। OY_1 आय के समक्ष कुल बचत $S_1 Y_1$ है।

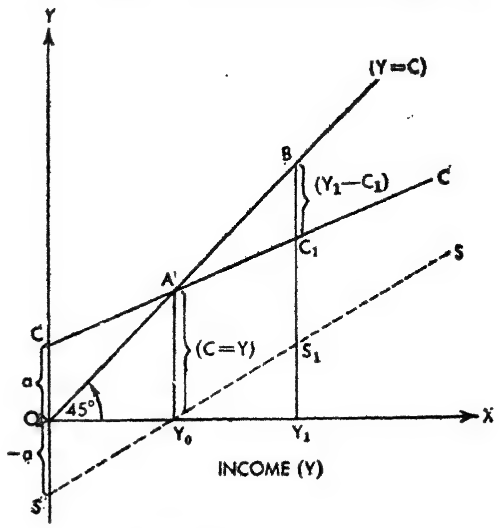

चित्र ६·१

जब कुल बचत (S) कुल निवेश (I) के बराबर होती है (S=I) तब अर्थव्यवस्था सन्तुलन में होती है। इसका कारण यह है कि समुदाय आय-धारा (income stream) में से बचत के रूप में केवल उतना भाग बाहर निकालता है जितना कि निवेश के द्वारा यह पुनः इस धारा में मिलता है। ऐसी स्थिति में उद्यमकर्ताओं को रोजगार तथा उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन करने की कोई प्रेरणा नहीं होती है। कीन्स के मतानुसार जब बचत तथा निवेश के मध्य असन्तुलन होता है—(इस असन्तुलन का कारण यह है कि बचत तथा निवेश सम्बन्धी निर्णय अर्थव्यवस्था में बचतकर्ताओं तथा उद्यमकर्ताओं के दो भिन्न वर्गों द्वारा लिये जाते हैं तथा यह आवश्यक नहीं है कि इन दोनों वर्गों के निर्णयों के मध्य समन्वय होगा)—तब बचत तथा निवेश के मध्य सन्तुलन आय में परिवर्तनों के द्वारा पुनः स्थापित होता है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के मतानुसार यह सन्तुलन ब्याज की दर में परिवर्तनों द्वारा पुनः स्थापित होता था।

जब कुल बचत कुल निवेश की तुलना में अधिक होती है तब नई उत्पादित वस्तुओं पर किया गया कुल खर्च उस आय की अपेक्षाकृत कम होता है जो इन वस्तुओं का उत्पादन करने के

---

८० करोड़ रुपये है तो औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC)$\frac{८०}{१००}=\frac{८}{१०}$ अथवा ०·८ होगी।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC)$=\frac{\Delta C}{\Delta Y}$ (Δ चिन्ह अनन्तसूक्षम परिवर्तन को सूचित करता है)। चित्र में CC वक्र द्वारा प्रदर्शित सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर है तथा इसका मूल्य धनात्मक परन्तु एक से कम है। उपभोग माँग वक्र को निम्नलिखित समीकरण द्वारा, जिसमें a तथा b धनात्मक स्थिर संख्याएँ हैं, व्यक्त किया जा सकता है। समीकरण में b स्थिर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा a स्थिर स्वायत्त उपभोग को व्यक्त करता है।

$$C=a+bY$$

परिणामस्वरूप उत्पादन साधनों को आय के रूप में प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में उद्यमकर्ताओं के वास्तविक लाभ उनके अनुमानित लाभों की तुलना में कम हो जाते हैं। परिमाणस्वरूप वे उत्पादन में कमी कर देते हैं। उनके ऐसा करने से अर्थव्यवस्था में रोजगार तथा आय में कमी हो जाती है। आय में कमी हो जाने से बचत में भी कमी हो जाती है फलस्वरूप बचत तथा निवेश के मध्य असन्तुलन में कमी हो जाती है। रोजगार तथा आय में उस समय तक कमी होती रहेगी जब तक आय में इतनी पर्याप्त मात्रा में कमी नहीं हो जाती है कि इस कम आय में से की गई कुल बचत की मात्रा निवेश की मात्रा के समान है। रोजगार तथा आय में कमी होने से कीमतों में भी कमी हो जावेगी। अर्थव्यवस्था में इसके विपरीत दिशाई परिणाम उस समय उत्पन्न होते हैं जब कुल निवेश कुल बचत की तुलना में अधिक होता है। आय तथा व्यय सिद्धान्त की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की जा सकती है।

किसी दी हुई समय अवधि में द्रव्य का मूल्य एक ओर द्रव्य-आय के प्रवाह तथा इसके निर्वर्तन द्वारा तथा दूसरी ओर वास्तविक आय के प्रवाह द्वारा निर्धारित होता है। द्रव्य-आय का प्रवाह द्रव्य की मात्रा तथा इसके आय-वेग द्वारा निर्धारित होता है। द्रव्य की कुल मात्रा मौद्रिक तथा बैंकिंग प्रणाली द्वारा निर्धारित होती है तथा इस आय का वेग उत्पादकों की लाभ सम्बन्धी आशंसाओं, उत्पादन की अवधि तथा व्यक्तियों द्वारा अपनी आय को खर्च करने सम्बन्धी निर्णयों द्वारा निर्धारित होता है। वास्तविक आय का प्रवाह अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों की उपलब्धता, आर्थिक विकास की अवस्था, तकनीकी ज्ञान आदि द्वारा निर्धारित होता है। किसी दी हुई समय अवधि में प्राप्त कुल द्रव्य-आय उन वस्तुओं के द्रव्य-मूल्य के समान होती है जिनका इस समय अवधि में उत्पादन होता है। परन्तु द्रव्य के निसंचय (hoarding) अथवा विनिवेश (dishoarding) तथा साख-द्रव्य के निर्माण अथवा क्षति के परिणामस्वरूप द्रव्य की वह मात्रा जिसके द्वारा बाजार में वस्तुओं तथा सेवाओं का निवेश किया जाता है उत्पादन साधनों को उत्पादन प्रक्रिया में प्राप्त हुई द्रव्य-आय से कम अथवा अधिक हो सकतो है। कुल बचत अर्थव्यवस्था में लोगों द्वारा अपनी कुल आयों को उपभोग वस्तुओं पर उस समय अवधि में खर्च न करने के कारण प्राप्त होती है जिस समय अवधि में यह आय उनके द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के परिणामस्वरूप प्राप्त की गई है। यदि उपभोग पर खर्च न करके इस बचत का निवेश कर दिया जाता है तो भी अर्थव्यवस्था में कुल खर्च में क्षति नहीं होती है। यदि कुल द्रव्य-व्यय कुल द्रव्य-आय की तुलना में कम होता है तो लोग द्रव्य का निसंचय करते हैं। इसके विपरीत कुल द्रव्य-खर्च कुल द्रव्य-आय की तुलना में अधिक होने पर द्रव्य का विनिवेश होता है। जब कुल बचत कुल निवेश की तुलना में अधिक होती है तब कीमतों में गिरावट आती है। इसके विपरीत यदि अर्थव्यवस्था कुल बचत कुल निवेश की तुलना में कम होती है तो कीमतों में वृद्धि होती है।

अध्ययन सूची

1. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy (1949), Chapters 3 and 6.
2. A. H. Hansen : A Guide to Keynes.
3. L. R. Klein : The Keynesian Revolution, Chapter 3.
4. H. H Villard : "Monetary Theory", in *A Survey of Contemporary Economics*, Edited by H. S. Ellis.

5. K. K. Kurihara : "Monetary Theory and Public Policy, Chapters 8—12.

प्रश्न

1. Explain how the modern income approach to the value of money is an improvement over the old quantity theory approach.
2. Explain what conditions cause changes in the value of money according to the income theory.

७

कीन्स का द्रव्य तथा कीमतों का सिद्धान्त
(Keynes' Theory of Money and Prices)

कीन्स ने अपने कीमतों के सिद्धान्त की व्याख्या १९३६ ई० में प्रकाशित अपनी *General Theory of Employment Interest and Money* शीर्षक पुस्तक के पाँचवें खण्ड के २१ वें अध्याय में की है। द्रव्य-मूल्य निर्धारण के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य का मूल्य इस की पूर्ति द्वारा निर्धारित होता था। कीमतों का प्राचीन सिद्धान्त उस रीति का अध्ययन करता था जिसके द्वारा द्रव्य की पूर्ति में हुये परिवर्तन कीमतों पर तथा इनके द्वारा द्रव्य के मूल्य पर अपना प्रभाव डालते थे। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्र में द्रव्य-मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त सापेक्ष कीमतों तथा उत्पादन निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त से पृथक था। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्र में द्रव्य का मूल्य (अथवा क्रयशक्ति) संचलन में द्रव्य की कुल मात्रा से सम्बन्धित थी। कीमत-स्तर तथा द्रव्य की मात्रा के मध्य यह परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार का था कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि (अथवा कमी) होने के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर में भी समान अनुपात में वृद्धि (अथवा कमी) हो जाती थी। द्रव्य की मात्रा तथा कीमत-स्तर के मध्य यह हेतुक सम्बन्ध द्रव्य-मूल्य निर्धारण के परिमाण सिद्धान्त की आधारशिला था।

परम्परावादी आर्थिक विश्लेषण का एक महान दोष यह है कि इसमें सापेक्ष कीमतों का सिद्धान्त तथा कीमत-स्तर का सिद्धान्त दो पृथक भागो के समान हैं। परम्परावादी आर्थिक विश्लेषण के अनुसार यद्यपि सापेक्ष कीमतें वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती थीं परन्तु सामान्य कीमत-स्तर संचलन में द्रव्य की मात्रा (MV) द्वारा निर्धारित होता था। परम्परादी विश्लेषण का यह एक अति गम्भीर दोष था कि द्रव्य की पूर्ति में होने वाले परिवर्तन—मौद्रिक परिवर्तन—वस्तुओं तथा सेवाओं की सापेक्ष कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं डालते थे यद्यपि इन मौद्रिक परिवर्तनों के सामान्य कीमत-स्तर पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ते थे। दूसरे शब्दों में, परम्परावादी अर्थशास्त्र में अर्थव्यवस्था का वास्तविक भाग स्वयं परिपूर्ण था तथा यह विश्वास किया जाता था कि अर्थव्यवस्था के मौद्रिक भाग में होने वाले परिवर्तनों का इस भाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परम्परावादी अर्थशास्त्र में अर्थव्यवस्था के मौद्रिक तथा अमौद्रिक भागों में कोई परस्परतन्त्रता नहीं है तथा ये एक दूसरे से पूर्णतया अलग हैं। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के मतानुसार मुद्रा की

पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का वस्तुओं तथा सेवाओं की सापेक्ष कीमतों पर, जो माँग तथा पूर्ति की वास्तविक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं, कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

परन्तु यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि परम्परावादी अर्थशास्त्री इस स्पष्ट सत्य को कैसे भूल गये थे कि द्रव्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तन सामान्य कीमत-स्तर पर अपना प्रभाव केवल वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन उत्पन्न करके डाल सकते थे क्योंकि सामान्य कीमत-स्तर व्यक्तिगत कीमतों का औसत मात्र है। सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तन केवल व्यक्तिगत कीमतों में परिवर्तन द्वारा सम्भव हो सकता है। इस प्रकार द्रव्य के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को सापेक्ष कीमतों के सिद्धान्त से जोड़े बिना यह तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है कि मौद्रिक परिवर्तन सामान्य कीमत-स्तर पर प्रभाव डालते हैं।

कीन्स ने इस प्राचीन विचारधारा की, जिसमें द्रव्य की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का अर्थव्यवस्था के वास्तविक क्षेत्र में संतुलन, सापेक्ष कीमतों तथा ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, कड़ी आलोचना की है। प्राचीन सिद्धान्त का सम्बन्ध एक ऐसे काल्पनिक संसार से था जिसमें संशय की समस्या नहीं थी। कीन्स के सिद्धान्त का सम्बन्ध उस वास्तविक संसार से है जहाँ भविष्य की प्रमुख विशेषता संशय है तथा जहाँ मुद्रा वर्तमान तथा भविष्य के मध्य एक शृंखला का कार्य करती है।

कीन्स ने एक नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की तुलना में कीन्स का कीमतों का सिद्धान्त अधिक व्यापक है। कीन्स की यह विशेष नवीनता है कि जबकि प्राचीन अर्थशास्त्र में द्रव्य-मूल्य निर्धारण सिद्धान्त और सामान्य कीमत तथा उत्पादन निर्धारण सिद्धान्त एक दूसरे से पृथक थे, कीन्स ने इन दोनों सिद्धान्तों को एक दूसरे से जोड़ दिया है। इस नवीनता के अतिरिक्त कीन्स के सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह है कि यद्यपि कीन्स द्रव्य मूल्य निर्धारण के परिमाण सिद्धान्त के इस निष्कर्ष से कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी कीमतों में वृद्धि अथवा कमी का कारण होती है, इन्कार नहीं करते हैं परन्तु वे परिमाण सिद्धान्त के इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं कि द्रव्य की मात्रा तथा सामान्य कीमत-स्तर में सीधा तथा हेतुक सम्बन्ध है। कीन्स के विचारानुसार मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव सामान्य कीमत-स्तर पर इतना प्रत्यक्ष व हेतुक नहीं होता है जितना कि द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या से ज्ञात होता है। कीन्स के विचार में द्रव्य की मात्रा में हुये परिवर्तनों का प्रभाव सामान्य कीमत-स्तर पर अप्रत्यक्ष रूप से ब्याज की दर, निवेश की मात्रा, रोजगार के स्तर, आय तथा उत्पादन की मात्रा में परिवर्तनों द्वारा पड़ता है। कीन्स ने इस सत्य पर बल दिया है कि द्रव्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों और सामान्य कीमत-स्तर के मध्य इस प्रकार का सीधा तथा हेतुक सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त विश्वास दिलाने का प्रयास करता है। उनके विचारानुसार यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष तथा दूर का है।

मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने का प्रभाव आरम्भ में ब्याज की दर पर पड़ता है, जो नकदी अधिमान स्थिर रहते हुये मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाने के कारण कम हो जाती है। द्रव्य की मात्रा अधिक हो जाने के कारण लोगों को अपनी द्रव्य की सट्टा[1] माँग की तुष्टि करने के लिये द्रव्य की अधिक मात्रा प्राप्त हो जाती है। जब द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जाने के कारण ब्याज की दर में कमी हो जाती है तो, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता स्थिर रहते हुये, अर्थव्यवस्था में कुल

1. Keynes has defined speculative-motive as "the object of securing profit from knowing better than the market what the future will bring forth." (*General Theory*, p. 170.)

निवेश की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप समाज में आय तथा रोजगार की मात्रा में वृद्धि होने लगती है। जैसे ही द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के कारण समाज में कुल आय तथा रोजगार की मात्रा में वृद्धि होना आरम्भ हो जाता है वैसे ही सामान्य कीमत-स्तर भी श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि होने तथा उत्पादन में ह्रासमान प्रतिफल नियम लागू होने के कारण बढ़ने लगता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में रोजगार और सामान्य कीमत-स्तर में वृद्धि होती है। यद्यपि आरम्भ में अधिकांश वृद्धि रोजगार में होती है परन्तु जैसे जैसे पूर्ण रोजगार की स्थिति समीप आती जाती है यह वृद्धि कीमतों में वृद्धि के रूप में विद्यमान होने लगती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त हो जाने के पश्चात् अर्थव्यवस्था में रोजगार के आकार में वृद्धि करना असम्भव हो जाता है। पूर्ण रोजगार के पश्चात् मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण केवल कीमतों में वृद्धि होती है; वास्तविक आय तथा रोजगार की मात्रा पर द्रव्य वृद्धि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

कीन्स इस प्राचीन भ्रम को कि द्रव्य की मात्रा और कीमत-स्तर के बीच एक सीधा तथा हेतुक सम्बन्ध है समाप्त कर दिया है। कीन्स का सिद्धान्त हमारा ध्यान इस सत्य पर केन्द्रित करता है कि कीमत वस्तु की उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होती है। उनका सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि द्रव्य की मात्रा में हुये परिवर्तनों का प्रभाव आरम्भ में प्रत्यक्ष रूप में कीमतों पर न पड़कर ब्याज की दर पर पड़ता है। कीमतों पर यह प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में कारण-परिणाम की लम्बी लड़ी के द्वारा पड़ता है। द्रव्य की मात्रा में परिवर्तनों का प्रभाव कीमतों पर अप्रत्यक्ष रूप से ब्याज की दर के द्वारा पड़ता है क्योंकि ब्याज की दर रोजगार तथा उत्पादन की मात्रा पर प्रभाव डालती है। ब्याज की दर में परिवर्तन होने पर उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होते हैं तथा उत्पादन में परिवर्तन होने पर उत्पादन लागत में परिवर्तन होने के कारण कीमतों में परिवर्तन होते हैं। कीन्स का सिद्धान्त इस सत्य को स्पष्ट करता है कि कीमतों में परिवर्तन प्रत्यक्षतः द्रव्य की मात्रा में परिवर्तनों के कारण नहीं होते हैं। ये परिवर्तन अप्रत्यक्ष रूप से अनेक आर्थिक तत्त्वों के द्वारा विद्यमान होते हैं। कीन्स के विचार में द्रव्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का कीमतों में होने वाले परिवर्तनों से निम्नलिखित अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

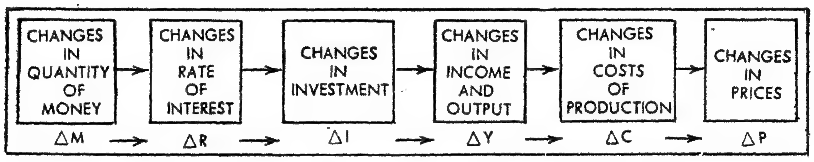

द्रव्य की मात्रा और वस्तुओं की कीमतों के मध्य सम्बन्ध की उपरोक्त कड़ी से यह स्पष्ट है कि द्रव्य की मात्रा और कीमतों के बीच सीधा, आनुपातिक तथा स्थिर सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष, अधूरा, दूरस्थ और अस्थिर है क्योंकि यह ब्याज की दर तथा इससे सम्बन्धित शक्तियों पर निर्भर है। ब्याज की दर में परिवर्तन होने के हेतु निवेश, रोजगार तथा आय में परिवर्तन होंगे अथवा नहीं, यह ब्याज की दर के अतिरिक्त पूँजी की सीमान्त उत्पादकता और उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर होता है। उदाहरणार्थ, यदि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता किसी कारण कम हो जाती है तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से ब्याज की दर में कमी होने पर भी निवेश, रोजगार तथा कीमतों में वृद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति घट जाती है तो द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जाने पर भी संभवतः कीमतों मे वृद्धि नहीं होगी। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि द्रव्य की मात्रा तथा कीमतों के बीच एक पेचीदा सम्बन्ध है।

कीन्स के द्रव्य-मूल्य तथा कीमतों के सिद्धान्त की एक महान् विशेषता यह है कि यह द्रव्य के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को सापेक्ष कीमतों के सिद्धान्त से जोड़ने में सफल हुआ है। दूसरे शब्दों में कीन्स का सिद्धान्त द्रव्य-मूल्य के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से मिला देता है। प्राचीन अर्थशास्त्र में द्रव्य-मूल्य के सिद्धान्त का अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं था। कीमत निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की कीमत उस वस्तु की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। जिस सीमा तक किसी वस्तु का उत्पादन सम्भव होता है वह सीमा उस वस्तु की सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय समानता बिन्दु द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार किसी वस्तु के कीमत-निर्धारण सिद्धान्त के अध्ययन में सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय और अल्पकालीन माँग तथा पूर्ति की कीमत लोच का विशेष महत्व है। कीन्स सामान्य कीमत-स्तर की व्याख्या करते समय भी उत्पादन लागत, माँग तथा पूर्ति की कीमत लोच और उन अन्य विचारों को जो किसी वस्तु को कीमत के निर्धारण में महत्वपूर्ण होते हैं, महत्व देते हैं। कीन्स इस सत्य को स्पष्ट करते हैं कि वस्तुओं की कीमतों में उत्पादन लागत में वृद्धि होने के कारण वृद्धि होती हैं और उत्पादन लागत में इस कारण वृद्धि होती है क्योंकि उत्पादन साधनों की पूर्ति अल्पकाल में बेलोचदार होती है।

अपने कीमतों के सिद्धान्त द्वारा मौद्रिक सिद्धान्त को कीमत निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त से जोड़ने के अतिरिक्त कीन्स ने द्रव्य के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को उत्पादन के सिद्धान्त (theory of output) से भी जोड़ा है। उत्पादन के सिद्धान्त के द्वारा कीन्स ने द्रव्य-मूल्य सिद्धान्त और कीमत के सामान्य सिद्धान्त को एक दूसरे से सटा दिया है। द्रव्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तन ब्याज की दर पर अपना प्रभाव डाल कर कुल निवेश की मात्रा में परिवर्तन उत्पन्न करके उत्पादन की मात्रा में भी परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं। उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होने के साथ साथ उत्पादन लागत में भी परिवर्तन होते हैं। परिणामस्वरूप कीमतों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

कीन्स के सिद्धान्त की उपरोक्त व्याख्या को समझने के पश्चात् द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के दोषों का पता लगना कठिन नहीं है। कीमतों के सिद्धान्त की प्राचीन व्याख्या दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें द्रव्य की मात्रा में परिवर्तनों के उन प्रभावों को जो ब्याज की दर, निवेश, रोजगार तथा आय की मात्रा पर पड़ते हैं, बिल्कुल भुला दिया गया है। प्राचीन विचारधारा में केवल द्रव्य की मात्रा तथा कीमतों पर समस्त ध्यान केन्द्रित किया गया है। संक्षेप में प्राचीन सिद्धान्त में द्रव्य की मात्रा तथा कीमत स्तर के बीच की अवस्थाओं—ब्याज की दर, निवेश की मात्रा, आय तथा रोजगार की मात्रा और उत्पादन लागत—को भुला दिया गया है। प्राचीन सिद्धान्त में इस भूल का प्रमुख कारण पूर्ण रोजगार की मान्यता है।

पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात् द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा में वृद्धि असम्भव होती है। यह वृद्धि केवल कीमतों में होती है। अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार को विद्यमान मान कर उत्पादन की मात्रा में परिवर्तनों की सम्भावना बिलकुल समाप्त हो जाती है और इस कारण सीमान्त लागत और सीमान्त आय, माँग और पूर्ति की लोच इत्यादि की प्राचीन सिद्धान्त में आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में द्रव्य के सिद्धान्त को सापेक्ष कीमतों के सिद्धान्त से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों के लेखनकार्यों में द्रव्य का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के मुख्य अंग के रूप में विद्यमान नहीं होता है। यदि एक बार पूर्ण रोजगार की स्थिति को समाज में विद्यमान मान लिया

जावे तो मुद्रा का प्रभाव केवल कीमतों पर पड़ सकता है; यह प्रभाव अन्य तत्वों पर कदापि नहीं पड़ेगा। ऐसी स्थिति में मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर के बीच की कड़ियों को अध्ययन से मुक्त किया जा सकता है क्योंकि मुद्रा की मात्रा में हुये परिवर्तनों का उन पर पूर्ण रोजगार की स्थिति में कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। डडले डिलार्ड (Dudley Dillard) ने द्रव्य-मूल्य के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि "प्राचीन सिद्धान्त का यह निष्कर्ष कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि स्फीति को जन्म देती है, उत्पादन साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त होने की आदर्श स्थिति में पूर्णत: सत्य है। परन्तु इस स्थिति की मान्यता का अन्त करके वास्तविकता पर ध्यान केन्द्रित किया जावे तो यह निष्कर्ष सर्वथा गलत प्रतीत होता है। पूर्ण रोजगार की स्थिति में वस्तुओं की कीमतों का सिद्धान्त सामान्य कीमत-स्तर अथवा द्रव्य के मूल्य का सिद्धान्त बन जाता है। द्रव्य समाज की आर्थिक प्रणाली के लिये उपस्नेहक (lubricant) के समान है क्योंकि इसके द्वारा प्राचीन वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयाँ समाप्त हो जाती हैं। प्राचीन सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों और रोजगार में परिवर्तनों के मध्य विशेष सम्बन्ध का कोई वर्णन नहीं किया गया है। प्राचीन अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत वस्तुओं की कीमतों के सिद्धान्त का सामान्य कीमत स्तर के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। मौद्रिक सिद्धान्त अर्थशास्त्र के उस सिद्धान्त के मुख्य शरीर से अलग रहता है जिसका कीमत और उत्पादन निर्धारण से सम्बन्ध है। यह पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता का परिणाम है।"[2]

कीन्स ने द्रव्य-मूल्य के नवीन परिमाण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कीन्स का यह सिद्धान्त निम्नलिखित दो प्रमुख मान्यताओं पर आधारित है।

(१) देश में पूर्ण रोजगार प्राप्त होने के पूर्व उत्पादन साधनों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है और पूर्ण रोजगार के पश्चात् उनकी पूर्ति पूर्णत: बेलोचदार है।

(२) समर्थ माँग में उसी अनुपात में वृद्धि होती है जिस अनुपात में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होती है।

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर द्रव्य के नवीन परिमाण सिद्धान्त की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है: "जब तक अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी विद्यमान है तब तक रोजगार की मात्रा में द्रव्य की मात्रा में हुये परिवर्तनों के अनुपात में परिवर्तन होंगे। परन्तु जब अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है तब कीमतों में मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के यथार्थ अनुपात में परिवर्तन होंगे।"[3]

---

2. It "leads to the conclusion that all increases in the quantity of money tend to be inflationary, a conclusion quite valid under the assumption that resources are fully employed but a nonsense conclusion when this special assumption is dropped. The theory of prices becomes nothing more than a theory of price levels, that is, of the value of money. Money is essentially a lubricant which is useful because it is more efficient than barter. The extremely important relations between changes in the quantity of money and changes in employment are ignored. The theory of value of individual commodities is divorced from the theory of prices of commodities in general. Monetary theory remains outside the main body of economic theory, which is concerned with value and output." (Dudley Dillard : *The Economics of John Maynard Keynes*, pp. 225-26.)

3. "So long as there is unemployment, *employment* will change in the same proportion as the quantity of money ; and when there is full employment *prices* will change in the same proportion as the quantity of money." (J. M. Keynes : *op cit*, p. 296.)

उपरोक्त मान्यताओं पर आधारित होने के कारण द्रव्य-मूल्य का यह नवीन परिमाण सिद्धान्त यद्यपि सर्वथा दोष-रहित नहीं है परन्तु यह सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य निर्धारण के प्राचीन परिमाण सिद्धान्त की तुलना में उत्तम है तथा आर्थिक नीतियों का विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक है। जबकि प्राचीन सिद्धान्त द्रव्य की मात्रा में हुई प्रत्येक वृद्धि को स्फीति तथा मूल्य वृद्धि का कारण समझता था, वर्तमान सिद्धान्त इस भ्रम को दूर करने की चेष्टा करता है और स्पष्टतया यह बताता है कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के कारण स्फीति का भय केवल पूर्ण रोजगार के पश्चात उत्पन्न होता है। कीन्स का सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि जब तक देश में उत्पादन साधन बेरोजगारी की अवस्था में हैं तब तक द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के कारण कीमतों के स्थान पर बेरोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि होगी। यह सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि यदि देश में बेरोजगारी विद्यमान है तो द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि करके समाज की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जा सकता है। ऐसी असाधारण स्थिति में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि समाज के लिए घातक सिद्ध न होकर आर्थिक स्थिरता का साधन बनकर समाज के आर्थिक हितों को सुरक्षा प्रदान करेगी। यह सिद्धान्त प्राचीन परिमाण सिद्धान्त की तरह एक-तरफा नहीं है। कीन्स इस सत्य को जानते थे कि संसार की हर वस्तु गुणों और अवगुणों का मिश्रण होती है। यदि कीन्स संसार को केवल अर्थशास्त्री की दृष्टि से ही देखते तो उनके सिद्धान्त में भी वे सब दोष विद्यमान हुए होते जो प्राचीन परिमाण सिद्धान्त में विद्यमान हैं। कीन्स का सिद्धान्त हमको यह चेतावनी देता है कि जब समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने का परिणाम स्फीति होता है। कीन्स का नवीन परिमाण सिद्धान्त हमको स्फीति के भय से उस समय तक मुक्त रखता है जब तक अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी विद्यमान है। परन्तु पूर्ण रोजगार प्राप्त होने पर यह हमको स्फीति की चेतावनी देता है।

यद्यपि कीन्स का कीमतों का सिद्धान्त प्राचीन सिद्धान्त की तुलना में उत्तम है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह दोष-रहित है। यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य नहीं है। सिद्धान्त की यह प्रस्तावना कि जब तक समाज में बेरोजगारी विद्यमान है तब तक रोजगार के आकार में द्रव्य की मात्रा में परिवर्तनों के यथार्थ अनुपात में परिवर्तन होते हैं, परन्तु रोजगार प्राप्त होने के पश्चात् केवल कीमतों में द्रव्य की मात्रा के अनुपात में परिवर्तन होते हैं, पूर्णतः सत्य नहीं है। यह प्रस्तावना अनेक मान्यताओं से सुरक्षित वर्णन है जिसकी सत्यता में संदेह है। वास्तव में कीमतें समाज में पूर्ण रोजगार विद्यमान होने के पूर्व भी बढ़ सकती हैं और वास्तविक जीवन में बढ़ती भी हैं। डडले डिलार्ड ने कीन्स के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि "कीमतों की यह वृद्धि आवश्यक क्रम में उस समय होती है जब उत्पादन में भी वृद्धि होती रहती है और इसका विश्लेषण अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के द्वारा किया जा सकता है।"[4] रोजगार के स्तर में वृद्धि होने के साथ साथ कीमतों और उत्पादन लागत में जो वृद्धि होती है उसके निम्नलिखित तीन प्रमुख कारण हैं।

(१) जैसे जैसे अर्थव्यवस्था में रोजगार की स्थिति में सुधार होता है वैसे वैसे बेरोजगारी कम अथवा अधिक रोजगार प्राप्त होने के कारण श्रमिकों की सौदा-शक्ति (bargaining

---

4. "These are not more chance increases from fortuitous circumstances. The increases in prices that occur as output expands are more or less inevitably associated with expanding output and can be explained in terms of established principles of economic analysis." (Dudley Dillard : *op. cit.*, p. 227.)

power) में वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि मजदूरी की दरों में वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में उत्पादन लागत में वृद्धि एक सामान्य सत्य बन जाती है।

(२) अल्पकाल में उत्पादन में ह्रासमान प्रतिफल नियम क्रियाशील होने लगता है।

(३) अर्थव्यवस्था में अनेक अपूर्णताओं के कारण उत्पादन के क्षेत्र में अनेक कठिनाइयों—उत्पादन साधनों की मात्रा में आदर्श अनुपात का अभाव; उत्पादन साधनों में पर्याप्त गतिशीलता का अभाव, श्रमिकों में रोजगार अवसर सम्बन्धी अपूर्ण ज्ञान, किसी विशेष उत्पादन साधन की बहुत कम मात्रा तथा अन्य साधन अथवा साधनों की प्रचुरता इत्यादि—के कारण उत्पादन की मात्रा उत्पादन लागत में वृद्धि होने के अनुपात में कम बढ़ती है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कीन्स का सिद्धान्त भी अन्य सिद्धान्तों के समान आलोचना-रहित नहीं है। यह सिद्धान्त हमें यह नहीं बताता है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होने के पूर्व भी कीमतों में क्यों वृद्धि होने लगती है। सभी सिद्धान्तों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वे किसी घटना के आर्थिक कारणों की पूर्ण व्याख्या नहीं करते हैं और कीन्स का सिद्धान्त भी इस दोष से मुक्त नहीं है। परन्तु हम यह निस्संदेह कह सकते हैं कि उनका सिद्धान्त द्रव्य-मूल्य के प्राचीन परिमाण सिद्धान्त की तुलना में अधिक वास्तविक तथा उत्तम है। कीन्स का सिद्धान्त यह बताता है कि जब तक वास्तविक उत्पादन इष्टतम उत्पादन की तुलना में कम है उस समय तक द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप केवल उत्पादन में वृद्धि होगी, कीमतों में नहीं।

अध्ययन सूची

1. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy.
2. Dudley Dillard : The Economics of John Maynard Keynes, Chapter 9.
3. J. M. Keynes : General Theory of Employment, Interest and Money, Chapter 21.
4. K. K. Kurihara : Monetary Theory and Public Policy, Chapter 4.

प्रश्न

1. Discuss briefly Keynes' theory of money and prices and show in what respects it is superior to the old quantity theory of money.
2. Explain the relationship between prices, employment and quantity of money. Under what circumstances will prices vary in proportion to changes in the quantity of money ?

8

द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों की माप
(Measurement of Changes in Money Value)

समाज में वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन होते रहते हैं। गत्यात्मक समाज में शायद ही कोई ऐसी आर्थिक क्रिया हो जिसमें समय समय पर परिवर्तन न होते हों। वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन होने के कारण द्रव्य का मूल्य कभी कम तथा कभी अधिक हो जाता है। द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होने के हेतु समाज में भिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति में भी परिवर्तन होते हैं। उदाहरणार्थ, द्रव्य के मूल्य में वृद्धि होने पर समाज में स्थिर आय वाले वर्ग के सदस्यों को तो लाभ होता है परन्तु उत्पादकों तथा व्यापारियों को हानि होती है। श्रमिकों को भी बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है। परिणामस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। समाज में स्थिरता तथा आर्थिक समृद्धि को बनाये रखने के उद्देश्य से उपयुक्त आर्थिक नीतियों के द्वारा द्रव्य के मूल्य को स्थिर रखना आवश्यक है। द्रव्य के मूल्य में जो परिवर्तन होते हैं उनको सूचक अंकों (Index Numbers) की सहायता से ज्ञात किया जाता है। सूचक अंकों का अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक नीतियों के निर्माण में बहुत महत्व है।

सूचक अंकों के विषय पर यद्यपि सबसे प्राचीन पुस्तक *Chronicom Preciosum* बिशप फिलिटवुड द्वारा १७०७ ई० में लिखी गई थी परन्तु १८६० ई० तक सूचक अंकों का प्रयोग विशेष अधिक मात्रा में नहीं हुआ था। १८६० ई० के पश्चात् औद्योगिक क्रान्ति के हेतु सूचक अंकों का आर्थिक महत्व काफी बढ़ गया था। यद्यपि आरम्भ में सूचक अंकों का अधिकतर प्रयोग कीमतों में परिवर्तनों की माप करने के लिये किया जाता था परन्तु आर्थिक प्रणाली के पेचीदा होने के साथ-साथ इनका प्रयोग कीमतों में परिवर्तनों की माप करने के अतिरिक्त उत्पादन तथा व्यापार की मात्रा, अंशों तथा ऋणपत्रों (shares and securities) के मूल्यों, मजदूरी दरों, राष्ट्रीय आय इत्यादि में परिवर्तनों की माप करने के लिये भी होने लगा।

परिभाषा

सूचक अंक एक प्रकार के औसत होते हैं जो किसी आर्थिक स्थिति की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं। उदाहरणार्थ, सामान्य कीमत-स्तर सम्बन्धी सूचक अंक हमको किसी दी हुई

समय अवधि में सामान्य कीमत-स्तर के घटने-बढ़ने का ज्ञान प्राप्त कराता है। बढ़ता हुआ कीमत-स्तर सूचक अंक द्रव्य की क्रय-शक्ति के गिरने का सूचक होता है। सूचक अंक कीमत-स्तर की वे संख्याएँ हैं जिनके द्वारा द्रव्य की क्रय-शक्ति में परिवर्तनों की माप की जाती है। यह कीमत स्तर के अंकों की ऐसी सूची होती है जिसको तालिका के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि द्रव्य के मूल्य सम्बन्धित परिवर्तनों को सूचित करने के उद्देश्य से वस्तुओं तथा सेवाओं की सामान्य कीमतों में परिवर्तनों को स्पष्ट करना सम्भव हो सके।

यद्यपि सूचक अंक वस्तुओं और सेवाओं की व्यक्तिगत कीमतों के आधार पर बनाये जाते हैं परन्तु इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत कीमतों से न होकर सामान्य कीमत-स्तर से होता है। इसके अतिरिक्त सूचक अंक मुद्रा के सापेक्ष (relative) मूल्य का भिन्न समय अवधियों के बीच ज्ञान प्रदान करते हैं। इनके अध्ययन के द्वारा कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तनों का पता लग जाता है। उदाहरणार्थ, जिस समय हम यह कहते हैं कि १९७२ ई० में कीमत स्तर का सूचक अंक १९५० ई० की तुलना में दुगुना है तब इसका यह अर्थ है कि १९५० ई० की तुलना में १९७२ ई० में द्रव्य का मूल्य आधा हो गया है। सूचक अंक कीमत-स्तर के तुलनात्मक अध्ययन की वह विधि है जिसके द्वारा दो अथवा अधिक समय अवधियों के बीच सामान्य कीमत-स्तर में परिवर्तनों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है।

सूचक अंकों के प्रकार

सूचक अंकों के सहयोग के बिना देश की अर्थव्यवस्था के भिन्न अंगों का सही ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इस कारण इनका महत्व आर्थिक तथा सामाजिक सुधारों के सम्बन्ध में बहुत है। यद्यपि सूचक अंक अनेक प्रकार के होते हैं परन्तु निम्नलिखित प्रकार के सूचक अंकों का विशेष महत्व है।

(१) श्रमिक जीवन निर्वाह स्तर सूचक अंक
(२) आय सूचक अंक
(३) सामान्य कीमत-स्तर सूचक अंक
(४) थोक मूल्य सूचक अंक

श्रमिक जीवन निर्वाह स्तर सूचक अंक

ये सूचक अंक मजदूरों के दैनिक जीवन की उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं की फुटकर कीमतों के आधार पर बनाये जाते हैं। इनके द्वारा हम यह जानकारी प्राप्त करते हैं कि मजदूरों के जीवन निर्वाह के खर्चे में किस प्रकार परिवर्तन हो रहे हैं, अर्थात् उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन होने के कारण उनकी वास्तविक मजदूरी कम हो गई है अथवा अधिक। श्रमिकों के जीवन में उपभोग वस्तुओं के महत्व के आधार पर भिन्न वस्तुओं को भार (weight) प्रदान किया जाता है। इन सूचक अंकों का महत्व उद्योग तथा व्यापार के लिये इतना अधिक है कि सरकार की सफल वेतन नीति इसकी सहायता के बिना नहीं बनाई जा सकती है तथा सेवायोजकों और श्रमिकों के सम्बन्धों को अच्छा नहीं बनाया जा सकता है।

आय सूचक अंक

आय सूचक अंक देश की आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करते हैं। कोई देश दूसरे देश की तुलना में आर्थिक दृष्टि से अधिक धनवान व कुशल है अथवा नहीं यह हमको दोनों देशों की राष्ट्रीय आय के सूचक अंशो की तुलना करके ज्ञात हो सकता है। देश में आर्थिक नियो-

जन के सम्बन्ध में भी इन सूचक अंकों का विशेष महत्व होता है। परन्तु इन सूचक अंकों को बनाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

सामान्य कीमत-स्तर अथवा द्रव्य की क्रय-शक्ति सूचक अंक

इन सूचक अंकों का उद्देश्य द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों की माप करना होता है। अन्य सूचक अंकों की तुलना में इन सूचक अंकों का प्रयोग अधिक किया जाता है। सभी उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों को इन सूचक अंकों को बनाने के लिए आँका जाता है तथा उपभोग वस्तुओं को उनके महत्व के अनुसार भार दिया जाता है। साधारण प्रकार के बिना भार वाले सूचक अंकों को साधारण सूचक अंक (simple index number) और भारदार सूचक अंकों को भारदार सूचक अंक (weighted index number) कहते हैं।

थोक कीमत सूचक अंक

इन सूचक अंकों का उद्देश्य समाज में वस्तुओं तथा सेवाओं की थोक कीमतों में होने वाले परिवर्तनों की माप करना होता है। इनमें साधारणतया कच्चे माल की कीमतों को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुओं को बहुधा कृषि तथा गैर-कृषि वस्तुओं में विभाजित कर दिया जाता है। इन सूचक अंकों का व्यापारी तथा उद्योगिक अर्थव्यवस्था के लिये बहुत महत्व है।

सूचक अंक बनाने के लिए आवश्यक बातें

सूचक अंक बनाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं।

(१) सूचक अंकों का उद्देश्य

सूचक अंक बनाने के सम्बन्ध में इस बात का ज्ञान होना आवश्यक है कि किस कार्य की सिद्धि के लिये इसको बनाया जा रहा है। सूचक अंक भिन्न प्रकार के होते हैं और प्रत्येक सूचक अंक का उद्देश्य भिन्न होता है, तथा भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भिन्न प्रकार के सूचक अंक बनाने आवश्यक होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हमारा उद्देश्य वास्तविक और द्रव्य मजदूरी का अध्ययन करना है तो हमको फुटकर कीमतों के सूचक अंकों का प्रयोग करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि हमारा उद्देश्य व्यापारी के दृष्टिकोण से द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों का अध्ययन करना है तो हमको थोक कीमतों के सूचक अंकों का प्रयोग करना पड़ेगा। उद्देश्य को व्यक्त करते हुये प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैबरलर ने लिखा है कि "सामान्य कीमत-स्तर कोई निश्चित स्वयं स्पष्ट सत्य नहीं है। यह केवल एक सैद्धान्तिक विचार है। यह एक वैज्ञानिक यन्त्र है जिसका प्रयोग कुछ वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक कार्यों में किया जाता है। आर्थिक दृष्टि से कीमत-स्तर की उपर्युक्त परिभाषा किसी उद्देश्य के बिना विचारनीय नहीं है और प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अलग प्रकार के कीमत स्तर का सूचक अंक बनाया जाना चाहिए।"[1]

(२) वस्तुओं तथा सेवाओं की संख्या तथा प्रकार

सूचक अंक बनाने के उद्देश्य का निर्णय करने के पश्चात् सूचक अंक बनाने के सम्बन्ध में दूसरी आवश्यक बात जिसका विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए वह वस्तुओं की मात्रा तथा प्रकार से सम्बन्धित है। यदि सूचक अंक बनाने का उद्देश्य द्रव्य के सामान्य मूल्य की माप करना है तो ऐसी वस्तुओं को चुनना चाहिए जिनको सारे देश में एक प्रकार से प्रतिनिधि वस्तुओं का स्थान प्राप्त है। इसके विपरीत यदि सूचक अंक बनाने का उद्देश्य उपभोक्ता के लिए द्रव्य के

1. Gottfried von Haberler : *The Meaning and Use of a General Price Index*, Quarterly Journal of Economics, 1928, pp. 435-36.

मूल्य की माप करना तथा इसमें परिवर्तनों का अध्ययन करना है तो हमको उन वस्तुओं तथा सेवाओं की फुटकर कीमतों को आँकना चाहिए जिनका उपभोक्ता सेवन करते हैं। इसी प्रकार यदि हमको मजदूरों के जीवन निर्वाह व्यय के सूचक अंक बनाने हैं तो हमें उन वस्तुओं तथा सेवाओं की फुटकर कीमतों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जिनका श्रमिक सेवन करते हैं।

परन्तु हमारी समस्या यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। उपभोक्ता तथा श्रमिक अनेक वस्तुओं तथा सेवाओं का सेवन करते हैं। जीवन में इतनी अधिक वस्तुओं की समय समय पर आवश्यकता पड़ती है कि यदि उन सबको सूचक अंकों में शामिल किया जावे तो सूचक अंकों का बनाना लगभग असम्भव हो जावेगा। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि उन बहुत सी वस्तुओं में से जिनकी जीवन में आवश्यकता पड़ती है कितनी वस्तुओं को सूचक अंक बनाने के लिये चुना जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में इर्विंग फिशर के विचार उल्लेखनीय हैं। फिशर के अनुसार "जब तक सूचक अंकों में २० से अधिक वस्तुओं को शामिल नहीं किया जाता है तब तक इनकी कोई विशेष व्यावहारिक उपयोगिता नहीं होती है। यदि यह संख्या ५० तक हो तो अधिक उत्तम है। ५० के पश्चात् संख्या अधिक करने के कारण जो लाभ प्राप्त होता है वह उस परेशानी की तुलना में कम होता है जो अधिक संख्या की आँकना करने के कारण उत्पन्न होती है और २०० के पश्चात संख्या बढ़ाने से कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं होता है।"[2] इस प्रकार फिशर के विचार में सूचक अंकों में शामिल करने वाली वस्तुओं की आदर्श संख्या २० और ५० के बीच में होनी चाहिये।

वेस्ले क्लेयर मिचल (Wesley Clair Mitchell) का कहना है कि यदि सूचक अंक बनाने का उद्देश्य कीमतों में परिवर्तनों की साधारण प्रवृत्ति का अध्ययन करना है तो वस्तुओं की संख्या का कोई विशेष महत्व नहीं है। परन्तु वस्तुओं का वर्गीकरण व्यापक होना चाहिए तथा सूचक अंक में सम्मिलित वस्तुओं के समुदायों (groups) की संख्या इतनी अधिक होनी चाहिये कि उनके द्वारा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का व्यापक चित्र प्रस्तुत हो सके। कीन्स के मतानुसार मुद्रा की क्रय-शक्ति तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों की माप करने के लिये सूचक अंक में केवल उपभोग वस्तुओं की कीमतों की गणना करना काफी है। कीन्स के विचारानुसार मुद्रा की क्रय-शक्ति मुद्रा की वस्तुओं तथा सेवाओं को क्रय करने की वह शक्ति है जिनके क्रय पर उपभोग करने के हेतु समाज में व्यक्ति अपनी द्रव्य आय को व्यय करते हैं।[3]

(३) वस्तुओं की कीमतों की सूची

वस्तुओं का चयन करने के पश्चात् उनकी कीमतों का चयन करना आवश्यक है। वस्तुओं की थोक तथा फुटकर दो प्रकार की कीमतें होती हैं। सूचक अंक बनाने के लिये थोक कीमतों अथवा फुटकर कीमतों को चुना जाना चाहिये, यह सूचक अंक के उद्देश्य पर निर्भर होता है। यदि हमें श्रमिकों के जीवननिर्वाह लागत का सूचक अंक बनाना है तो हमें फुटकर कीमतों को उन बाजारों से प्राप्त करना चाहिये जहाँ श्रमिक वस्तुओं का क्रय करते हैं। कीमत सम्बन्धित आँकड़े उचित स्थान से ही प्राप्त किये जाने चाहिये क्योंकि यदि गलत स्थान से कीमत सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया जावेगा तो इन आँकड़ों पर आधारित सूचक अंक भी गलत होंगे।

---

2. Irving Fisher : *The Making of Index Number*, p. 340
3. J. M. Keynes : *A Treatise On Money*, Vol. 1. p. 54.

(४) आधार वर्ष का चुनाव

सूचक अंकों में हम किसी वर्ष की आर्थिक घटना की तुलना आधार वर्ष से क॰ इस वर्ष को आधार वर्ष इसलिये कहा जाता है क्योंकि अन्य सभी वर्षों में होने वाले अ परिवर्तनों की तुलना इस विशेष वर्ष से की जाती है। इस वर्ष में हम आर्थिक स्थिति को स्थिर मान लेते हैं। आधार वर्ष एक सामान्य वर्ष होना चाहिये—अर्थात् आधार वर्ष में मूल्यों, उत्पादन, वेतन इत्यादि में गिरने तथा बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। इसका यह अर्थ है कि आधार वर्ष में आर्थिक अस्थिरता की घटना उपस्थित नहीं होनी चाहिये। इस दृष्टि से आधार वर्ष आर्थिक संकट तथा युद्धवर्ष नहीं हो सकता है। क्राउथर आधार वर्ष के महत्व के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "सूचक अंकों में आधार वर्ष, जिससे अन्य वर्षों की तुलना की जाती है, का वही महत्व है जो मानचित्र बनाने वाले के लिये स्वीकृत रेखा (Datum Line), जिसके द्वारा वह अन्य ऊँचाइयों को स्पष्ट कर सकता है, का होता है। इस प्रकार आधार वर्ष के बिना सूचक अंकों की कल्पना करना व्यर्थ है।"[4]

(५) औसत निकालना

आधार वर्ष को चुनने के पश्चात् आधार वर्ष और दूसरे वर्ष में कीमतों का प्रतिशत निकाला जाना चाहिये और इसके पश्चात् इन प्रतिशतों का औसत निकाला जाना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि हमारा आधार वर्ष १९३९ ई० है और हम १९७२ ई० के सम्बन्ध में सूचक अंक बनाना चाहते हैं तो आधार वर्ष में वस्तुओं की कीमतों को १०० अथवा एक मान करके हम १९७२ ई० की कीमतों को भी इसी प्रकार प्रतिशत के रूप में आँक लेते हैं और आधार वर्ष तथा दूसरे वर्ष की कीमतों को समान रूप प्रदान कर देते हैं। एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा कि यह किस प्रकार किया जाता है। यदि चीनी की कीमत १९३९ ई० में २५ रु० प्रति क्वन्टल थी और १९७२ ई० में चीनी की कीमत १५० रु० प्रति क्वन्टल है तो यदि १९३९ ई० की कीमत को प्रतिशत के रूप में १०० लिखा जावे तो १९७२ ई० में चीनी की कीमत प्रतिशत के रूप में ६०० होगी। सब वस्तुओं को प्रतिशत में लिखने के पश्चात् इनका औसत निकाल लिया जाता है और तत्पश्चात १९७२ ई० के औसत को आधार वर्ष १९३९ ई० के औसत से विभाजित करके १९७२ ई० का सूचक अंक ज्ञात किया जाता है।

यद्यपि औसत निकालने की अनेक विधियाँ हैं परन्तु साधारण अथवा अंकगणितीय (arithmetical) और रेखागणितीय (geometrical) विधियों को सूचक अंक बनाने में बहुधा प्रयोग में लाया जाता है। साधारण अथवा अंकगणितीय विधि में सब औसत संख्याओं को जोड़कर योगफल की वस्तुओं की संख्या से विभाजित कर दिया जाता है। इस प्रकार अन्त में जो संख्या प्राप्त होती है वह उस वर्ष का औसत होती है। रेखागणितीय विधि के अनुसार औसत निकालने के लिये सब संख्याओं को गुणा करके गुणनफल का वस्तुओं की मात्रा के समान मूल्य निकाल लिया जाता है। यदि तीन संख्यायें हैं तो तीनों को गुणा करके जो संख्या प्राप्त होती है उसका घनमूल (cube root) निकाल लेते हैं।[5]

प्रत्येक प्रकार के सूचक अंकों को बनाने के सम्बन्ध में उपरोक्त बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। बहुधा सूचक अंकों में हम प्रत्येक वस्तु का महत्व समान मान लेते हैं। ऐसे सूचक

---

4. Geoffrey Crow ther : *An Outline of Money*, rev. ed., p. 87.
op. cit., p. 88.

१. १९७२ ई० में श्रमिकों के जीवन निर्वाह का साधारण सूचक अंक
(आधार वर्ष १९३९ ई०)

क्रम संख्या	वस्तु	आधार वर्ष की कीमतें	आधार वर्ष का सूचक अंक	१९७२ ई० की कीमतें	१९७२ ई० का सूचक अंक
१.	गेहूँ	८ रुपये प्रति क्वन्टल	१००	४८ रुपये प्रति क्वन्टल	६००
२.	चावल	२५ ,, ,,	१००	५० रुपये प्रति क्वन्टल	२००
३.	कपड़ा	५० पैसे प्रति मीटर	१००	२ रुपये प्रति मीटर	४००
४.	मसाले	५० पैसे प्रति किलो	१००	२ रुपये प्रति किलो	४००
५.	दाल	२५ रुपये प्रति क्वन्टल	१००	१०० रुपये प्रति क्वन्टल	४००
६.	मकान	८ रुपये प्रति मास	१००	१६ रुपये प्रति मास	२००
७.	दूध	१५ रुपये प्रति क्वन्टल	१००	६० रुपये प्रति क्वन्टल	४००
८.	घी	१ रुपया प्रति किलो	१००	५ रुपये प्रति किलो	५००
	औसत		$\frac{८००}{८}$		$\frac{३१००}{८} = ३८७.५$

१९७२ ई० में श्रमिक जीवन निर्वाह का भारदार सूचक अंक
(आधार वर्ष १९३९ ई०)

क्रम संख्या	वस्तु	आधार वर्ष का सूचक अंक	भार	(३) × (४)	१९३९ ई० की कीमतें	१९७२ ई० की कीमतें	१९७२ ई० का भार सहित सूचक अंक
१	२	३	४	५	६	७	८
१.	गेहूँ	१००	३	३००	८ रुपया प्रति क्वटल	४८ रुपया प्रति क्वन्टल	६००×३ =१८००
२.	चावल	१००	३	३००	२५ रुपया प्रति क्वन्टल	५० रुपया प्रति क्वन्टल	२००×३ = ६००
३.	कपड़ा	१००	२	२००	५० पैसे प्रति मीटर	२ रुपया प्रति मीटर	४००×२ = ८००
४.	मसाले	१००	१	१००	५० पैसे प्रति किलो	२ रुपया प्रति किलो	४००×१ = ४००
५.	दाल	१००	१½	१५०	२५ रुपया प्रति क्वन्टल	१०० रुपया प्रति क्वन्टल	४००×१½= ६००
६.	मकान	१००	१	१००	८ रुपया प्रति मास	१६ रुपया प्रति क्वन्टल	२००×१ = २००
७.	दूध	१००	१½	१५०	१५ रुपया प्रति क्वन्टल	६० रुपया प्रति क्वन्टल	४००×१½= ६००
८.	घी	१००	½	५०	१ रुपया प्रति किलो	५ रुपया प्रति किलो	५००× ½= २५०
		कुल योग	१३½	१,३५०			
		औसत	१३½ ÷ १३५०=१००				१३½÷५,२५०=३८९

साधारण और भारदार सूचक अंकों को देखने से ज्ञात होता है कि वस्तुओं को भार देने से १९७२ ई० का भारदार सूचक अंक साधारण सूचक अंक की तुलना में अधिक हो जाता है। वस्तुओं की संख्याएँ समान होते हुए भी साधारण सूचक अंक ३८७·५ है और भारदार सूचक अंक ३८९·० है।

अंकों को साधारण सूचक अंक कहते हैं। परन्तु जब सूचक अंकों में प्रत्येक वस्तु को उसके महत्व के आधार पर भार प्रदान किया जाता है तो सूचक अंक भारदार कहलाते हैं। भारदार सूचक अंक साधारण सूचक अंकों की तुलना में अधिक वास्तविक तथा विश्वसनीय होते हैं परन्तु इनका बनाना साधारण सूचक अंकों की तुलना में अधिक कठिन होता है।

सूचक अंकों के दोष

कीन्स ने १९३० ई० में सूचक अंकों के दोषों की व्याख्या करते हुये लिखा था कि द्रव्य की क्रय-शक्ति सम्बन्धी सूचक अंक सन्तोषजनक नहीं होते हैं। किसी भी देश में इस प्रकार के सूचक अंक नहीं तैयार किये गये हैं जिनको द्रव्य की क्रय-शक्ति की सन्तोषजनक माप कहा जा सकता है। साधारणतः सूचक अंक या तो थोक अथवा फुटकर अथवा जीवन निर्वाह व्यय सम्बन्धी कीमत स्तरों के बारे में बताते हैं। सूचक अंकों के सम्बन्ध में प्रथम कठिनाई यह होती है कि मूल्यों के आँकड़े प्राप्त करने में व्यय ही अधिक नहीं होता है बल्कि इनको प्राप्त करना भी कठिन होता है। जिन वस्तुओं का क्रय विक्रय संगठित बाजारों के माध्यम द्वारा होता है उनके मूल्य तो आसानी से प्राप्त हो सकते हैं परन्तु जो वस्तुएँ फुटकर अथवा छोटे गाँवों के असंगठित बाजारों में बिकती हैं उनके मूल्यों के सम्बन्ध में सही ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। इस कारण सूचक अंक बहुधा अधूरे होते हैं और आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों का पूरा वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं।

सूचक अंकों का दूसरा दोष मुख्यतया सूचक अंक समस्या के कारण विद्यमान होता है और उसको दूर करने का उपाय नहीं है। सूचक अंक की समस्या यह है कि कितनी वस्तुओं को सूचकअंक बनाने में चुना जाना चाहिये तथा उनको किस प्रकार भार देना चाहिये। समाज में मनुष्य भिन्न प्रकार की वस्तुओं को खरीदते हैं और वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण सभी मनुष्यों की आर्थिक स्थिति पर समान प्रभाव नहीं पड़ता है। कीमतों में दिये हुये परिवर्तनों का प्रभाव एक व्यक्ति पर कुछ होता है और दूसरों पर कुछ और पड़ता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की आदतों तथा धन इत्यादि में समय बीतने पर परिवर्तन होते हैं जिनके कारण सूचक अंक बनाने में अनेक कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है।

सूचक अंकों का तीसरा दोष यह है कि कुछ वस्तुएँ केवल एक स्थान तथा समय पर बेची जाती हैं और इस कारण इन वस्तुओं को सूचक अंकों में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि बहुत सी ऐसी वस्तुओं का उपयोग १९७२ ई० में होने लगता है जिनका उपयोग आधार वर्ष १९३९ ई० में नहीं होता था। इसी प्रकार १९३९ ई० में उपभोग होने वाली बहुत वस्तुओं का १९७२ ई० में उपभोग नहीं होता है। उदाहरण के लिए, नाईलान के बने मोजे तथा साड़ियाँ जिनका उपभोग आज जनसाधारण करते हैं १९३९ ई० में बिल्कुल नहीं होता था। इसके अतिरिक्त वस्तु का नाम समान रहते हुये भी उसमें परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरण के लिये १९३९ ई० की कार का मौडिल १९७२ ई० के मौडिल से भिन्न है। ऐसी परिस्थिति में समय की दो अवधियों के मध्य वस्तुओं के मूल्यों की तुलना दोष रहित नहीं होती है। इसके अतिरिक्त पहिनने, खाने तथा रहने इत्यादि की वस्तुएँ पूरब के देशों में पश्चिम के देशों से भिन्न होती हैं और इस कारण दो स्थानों में द्रव्य के मूल्य की तुलना करना आसान कार्य नहीं है।

चौथे, विभिन्न वस्तुओं, जिनका बाजार में क्रियविक्रय होता है, की सापेक्ष कीमतें तथा सापेक्ष मात्रायें उन भिन्न स्थानों तथा समय में, जिनकी तुलना की जाती है भिन्न हो सकती है।

उदाहरणार्थ, यदि एक स्थान अथवा समय पर प्रत्येक वस्तु की कीमत में १० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है तो हम कह सकते हैं कि सामान्य मूल्य स्तर १० प्रतिशत अधिक है क्योंकि वस्तुओं के एक दिए हुए संग्रह को क्रय करने के लिए १० प्रतिशत अधिक खर्च करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि भिन्न वस्तुओं की सापेक्ष मात्राओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो हम सूचक अंक को बनाने के लिए भिन्न वस्तुओं को निश्चित अनुपात में मिला सकते हैं। परन्तु समय के व्यतीत होने के साथ-साथ अनेक परिवर्तन होते हैं। उपभोक्ताओं की रुचियों में परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि आज अधिकांश भारतीय दूध अथवा लस्सी के स्थान पर चाय तथा काफी पीते हैं परन्तु आज से लगभग २० वर्ष पूर्व भारतीय दूध का सेवन करते थे तथा चाय से वे भली प्रकार परिचित नहीं थे। इसी प्रकार जनसंख्या के आकार में परिवर्तन होने से वस्तुओं की माँग में भी परिवर्तन हो सकते हैं। अर्थव्यवस्था में लोगों की वास्तविक आय में परिवर्तन हो सकते हैं अथवा विभिन्न वर्गों के मध्य आय के वितरण में परिवर्तन हो सकते हैं जिन के परिणामस्वरूप वस्तुओं की माँग मात्रा में परिवर्तन हो सकते हैं। तकनीकी उन्नति होने के परिणामस्वरूप कुछ वस्तुओं की कीमतों में कमी हो सकती है जिसके परिणामस्वरूप लोग इन वस्तुओं को पहले की तुलना में अधिक मात्रा में क्रय करने लगेंगे।

पाँचवें, सूचक अंकों के बनाने में एक विशेष कठिनाई दोहरी गणना (double counting) की समस्या के कारण उत्पन्न होती है। यद्यपि यह समस्या उपभोग वस्तुओं के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर नहीं होती है परन्तु उत्पादन अथवा निवेश वस्तुओं के सम्बन्ध में यह समस्या विशेष रूप से उत्पन्न होती है। बहुधा एक ही वस्तु को उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में गणना करने की भारी सम्भावना रहती है। उदाहरणार्थ, रूई तथा सूत दोनों उपभोग वस्तु कपड़े के सम्बन्ध में निवेश वस्तु हैं तथा दोनों की अलग-अलग गणना करने के कारण दोहरी गणना की समस्या उत्पन्न हो जाती है। वास्तविकता यह है कि यदि हम रूई की गणना करते हैं तो सम्पूर्ण सूत की अलग गणना नहीं करनी चाहिये क्योंकि सूत रूई का ही परिवर्तित रूप है।

आर्थिक स्थिति की तुलना करने के लिये कीमत सूचक अंकों का प्रयोग

गत वर्षों में कीमतों में निरन्तर वृद्धि होने के कारण द्रव्य की क्रयशक्ति में निरन्तर कमी हो रही है। उदाहरणार्थ, १९७२ ई० में वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा के रूप में १०,००० रुपये का महत्व १९५० ई० की अपेक्षाकृत काफी कम है। दूसरे शब्दों में द्रव्य का वास्तविक मूल्य आज १९५० ई० की तुलना में काफी कम है। यह ज्ञात करने के लिये कि किसी व्यक्ति की द्रव्यआय समान रहते हुये १९७२ ई० में उस व्यक्ति की वास्तविक आय समान रही है अथवा इसमें कमी अथवा वृद्धि हुई है हमें उस व्यक्ति की १९७२ ई० में स्थिर कीमतों के रूप में आय ज्ञात करनी चाहिये। यद्यपि द्रव्य आय की माप वर्तमान रुपयों के रूप में की जाती है परन्तु वास्तविक आय, जिसको वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा द्वारा मापा जाता है जो उस द्रव्य आय द्वारा खरीदी जा सकती है, की माप स्थिर क्रयशक्ति वाले रुपये में की जानी चाहिये। वर्तमान रुपये को स्थिर मूल्य वाले रुपये में परिवर्तित करने की अंकशास्त्रीय विधि को अवस्फीति (deflation) कहते हैं। इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है।

हमें यह ज्ञात है कि द्रव्य की क्रयशक्ति में कीमत स्तर के उलटे अनुपात में परिवर्तन होते हैं तथा वर्तमान कम क्रयशक्ति वाले रुपयों को आधार वर्ष के अधिक क्रयशक्ति वाले रुपयों में परिवर्तित करने के लिये वर्तमान रुपयों को कीमत सूचक अंक से विभाजित करके १०० से गुणा करना चाहिये जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

वर्ष	१९५० ई०	१९५६ ई०	१९७२ ई०
वार्षिक आय चालू रुपयों में	१०,०००	१०,०००	१०,०००
उपभोक्ता कीमत सूचक अंक (१९५०=१००)	१००	९०	१६०

आय (१९५० की क्रयशक्ति वाले रुपयों में) $\frac{१०,०००}{१००}$.१००; $\frac{१०,०००}{९०}$.१००; $\frac{१०,०००}{१६०}$.१००

१०,००० रु०=११,१११ रु०=६,२५० रु०

निष्कर्ष

परन्तु उपरोक्त दोष होते हुए भी सूचक अंकों के अध्ययन का विशेष आर्थिक महत्व है। सूचक अंक भिन्न समय अवधियों में व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तनों के सम्बन्ध में हमें ज्ञान प्रदान करते हैं। यदि सूचक अंक न होते तो हमको आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध में किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उदाहरण के लिये, १९३० ई० की मन्दी कितनी अधिक थी और इसके कारण उत्पादन तथा रोजगार की क्या अवस्था थी, इन बातों का ज्ञान हमको सूचक अंकों के द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार १९२३ ई० में जर्मनी तथा यूरोप के अन्य देशों में विद्यमान अतिस्फीति का ज्ञान हमें केवल सूचक अंक ही कराते हैं। गत २० वर्षों में विश्व की जनसंख्या तथा उत्पादन में हुई वृद्धि का ज्ञान केवल सूचक अंकों के द्वारा प्राप्त हो सकता है। वर्तमान समय में देश में करों का भार १९५० ई० की तुलना में कम है अथवा अधिक यह केवल सूचक अंक ही बता सकते हैं। सूचक अंकों के बिना हमारा आर्थिक इतिहास का अध्ययन अधूरा रहता तथा हमको भूतकाल के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान कदापि प्राप्त नहीं हुआ होता। सामाजिक तथा आर्थिक घटनाओं का निर्पेक्ष अध्ययन करने के लिये सूचक अंकों की सहायता आवश्यक है। यदि हमको अपनी प्रथम, दूसरी तथा तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना है तो हमको योजना के बाद के उत्पादन, आय, व्यय तथा कर के सूचक अंकों का अध्ययन करना पड़ेगा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में औद्योगिक क्रान्ति के कारण इंगलैंड में जो वास्तविक आय में वृद्धि हुई थी उसका ज्ञान हमको केवल सूचक अंकों के द्वारा प्राप्त होता है। मनुष्य भूतकाल की बातों को याद नहीं रख सकता है। सूचक अंकों के द्वारा उसको भूतकाल की बातों का सही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि सूचक अंक जीवन में आर्थिक समस्याओं का भली प्रकार अध्ययन करने तथा उपयुक्त आर्थिक नीतियों को बनाने के लिये उतने ही अधिक आवश्यक हैं जितना कि हवा और पानी जीवित रहने के लिये आवश्यक हैं।

अध्ययन सूची

1. Irving Fisher : The Making of Index Numbers (Boston, 1912).
2. W. I. King : Index Numbers Elucidated (New York, 1930)
3. Geoffrey Crowther : An Outline of Money. Chapter III.

प्रश्न

1. What are simple index numbers ? How are they constructed ? Mention their uses.
2. How are changes in the value of money measured ? What are the defects in the system of index numbers ? To what extent can they be remedied ?
3. What do you understand by index numbers ? How are they prepared ? Explain their uses in the study of economic problems.

९

मुद्रामान[1]
(Monetary Standards)

मुद्रा मान का अर्थ उस प्रामाणिक मुद्रा से है जिसका प्रयोग देश की मौद्रिक प्रणाली में होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश में स्वर्ण प्रमुख अथवा प्रामाणिक मुद्रा इकाई के रूप में प्रयोग किया जाता है तो देश की मुद्रा प्रणाली को स्वर्ण मान कहा जाता है। जब देश की प्रामाणिक मुद्रा इकाई स्वर्ण तथा रजत दोनों धातुओं की बनी हुई होती है तो द्विधातु मुद्रा मान (bimetallic standard) संचलन में होता है। जब देश की प्रमुख अथवा प्रामाणिक मुद्रा कागजी होती है तब अर्थव्यवस्था में कागजी मुद्रा मान संचलन में होता है। इस मान को बहुधा प्रबन्धित मुद्रा मान भी कहा जाता है। इसी प्रकार स्वर्ण मान को स्वयं-संचालित मुद्रा मान (automatic standard) भी कहा जाता है। मुद्रा मान का विचार यह भी संकेत करता है कि देश में प्रामाणिक मुद्रा संचलनशील है तथा इस मुद्रा में अन्य मुद्राएँ पूर्णतया परिवर्तनीय हैं। मुद्रा मान का विचार इस तथ्य की ओर भी संकेत करता है कि देश में लोग वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय मूल्यों का मूल्यन प्रामाणिक मुद्रा में करते हैं।

यद्यपि आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में अनेक प्रकार के मुद्रा मान संचलनशील रहे हैं परन्तु वर्तमान समय में मुद्रा मान अपनाने के प्रश्न का सम्बन्ध विशेष रूप से धातु मुद्रा मान तथा कागजी मुद्रा मान में से किसी एक को अपनाने के पक्ष में निर्णय करने का प्रश्न है। जब किसी देश की सरकार धातु मुद्रा मान को अपनाती है तब सरकार को यह भी निर्णय करना पड़ता है कि एक धातु मुद्रा मान को अपनाया जाना चाहिये अथवा द्विधातु मुद्रामान को अपनाया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक धातु मुद्रा मान को अपनाते समय यह भी निर्णय करना होता है कि रजत मुद्रा मान को अपनाया जावे अथवा स्वर्णमुद्रा मान को अपनाया जावे। संक्षेप में दो प्रकार के मुद्रा मान हैं—प्रथम वस्तु मुद्रा मान और दूसरे कागजी मुद्रा मान। जहाँ तक वस्तु मुद्रामान को अपनाने का प्रश्न है यद्यपि इस मान के अनेक प्रकार हैं परन्तु द्विधातु मान तथा एकधातु मान उल्लेखनीय हैं।

---

1. स्वर्ण मुद्रामान के लिये अध्याय १० का अध्ययन कीजिए।

द्विधातु मान (Bimetallic Standard)

द्विधातु अथवा दोहरा मान उस मुद्रा मान को कहते हैं जिसमें देश की मुद्रा प्रणाली में दो धातुओं—साधारणतः स्वर्ण तथा चाँदी—के सिक्के एक साथ प्रामाणिक मुद्रा के रूप में संचलनशील होते हैं। दोनों धातुओं के प्रामाणिक सिक्के, एक दूसरे से एक स्थिर टकसाली अनुपात में सम्बन्धित होते हैं। एक धातु का प्रामाणिक सिक्का दूसरी धातु के प्रामाणिक सिक्के में स्थिर टकसाली दर पर परिवर्तनशील होता है। इस प्रकार कोई भी ऋणी अपने ऋण का भुगतान दोनों धातुओं के सिक्कों अथवा किसी एक धातु के सिक्कों के द्वारा कर सकता है। देश में दोनों धातुओं का असीमित टंकन होता है।

इस प्रकार द्विधातुमान उस मुद्रा प्रणाली को कहते हैं जिसमें हिसाब की मुद्रा-इकाई का मूल्य निर्धारित शुद्धता वाले सोने तथा चाँदी के स्थिर भार में व्यक्त किया जाता है। दोनों धातुओं के सिक्कों का सम्बन्ध स्थिर टकसाली अनुपात द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण द्विधातु मान में स्वर्ण तथा रजत का आयात तथा निर्यात मुक्त होता है। पूर्ण द्विधातुमान की निम्नलिखित विशेषतायें हैं।

(अ) देश में दोनों धातुओं के सिक्के संचलनशील होने चाहिए।

(ब) दोनों धातुओं के सिक्कों का सम्बन्ध स्थिर टकसाली समता द्वारा इन सिक्कों में धातुओं के भार के मूल्य के आधार पर निर्धारित होना चाहिए।

(स) दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक तथा असीमित विधिग्राह्य होने चाहिए।

(द) दोनों धातुओं की खुली सिक्का ढलाई होनी चाहिए।

(य) देश में दोनों धातुओं का आयात तथा निर्यात मुक्त होना चाहिये।

द्विधातुमान का सिद्धान्त सरल है। इसके अनुसार दोनों धातुओं के सिक्के एक साथ प्रामाणिक मुद्रा के रूप में अर्थव्यवस्था में संचलन में होते हैं। दोनों धातुओं के बाजार मूल्य अनुपात और टकसाली अनुपात में समानता होती है क्योंकि यदि किसी समय बाजार और टकसाल अनुपातों में अन्तर हो जाता है तो वह स्वयं शीघ्र द्विधातुमान की क्षतिपूरक क्रिया (compensatory action) के द्वारा समाप्त हो जाता है। द्विधातु मान की क्षतिपूरक क्रिया के द्वारा दोनों प्रकार के अनुपातों में समानता किस प्रकार स्थापित होती है? यह एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिये कि आरम्भ में स्वर्ण तथा चाँदी के सिक्कों का टकसाली अनुपात तथा बाजार अनुपात १ : १६ है। यदि स्वर्ण तथा चाँदी के मध्य बाजार अनुपात बदल कर १ : १७ हो जाता है तो इस स्थिति में जिन व्यक्तियों के पास चाँदी है वे उसको सरकारी टकसाल में सिक्के ढलवाने के लिये लायेंगे क्योंकि ऐसा करने से उनको लाभ प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप बाजार में चाँदी की अधिक खरीद होने के कारण इसकी माँग और स्वर्ण की पूर्ति में वृद्धि हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि चाँदी का स्वर्ण मूल्य बढ़ने लगेगा। बाजार में चाँदी की माँग और स्वर्ण की पूर्ति उस समय तक बढ़ती रहेगी जब तक स्वर्ण तथा चाँदी का बाजार अनुपात पुनः इनके टकसाली अनुपात के समान नहीं हो जाता है। इसके विपरीत यदि स्वर्ण तथा चाँदी के मध्य बाजार अनुपात घटकर १ : १५ हो जाता है तो द्विधातु मान की क्षतिपूरक क्रिया विपरीत दिशा में उस समय तक क्रियाशाली रहेगी जब तक दोनों धातुओं के मध्य बाजार अनुपात पुनः इनके मध्य टकसाली अनुपात के समान नहीं हो जाता है।

द्विधातु मान के लाभ

द्विधातु मान के पक्ष में अनेक लाभों का वर्णन किया गया है। प्रथम, द्विधातु मान में कम तथा अधिक धनराशि के भुगतानों के लिए दोनों धातुओं के पूर्णकाय सिक्के संचलनशील

होते हैं। चाँदी के सिक्कों के द्वारा कम धन राशि तथा स्वर्ण के सिक्कों के द्वारा अधिक धन राशि के भुगतानों को पूरा किया जा सकता है।

द्विधातु मान का दूसरा लाभ यह है कि एक धातु मान की तुलना में द्विधातु मान में द्रव्य इकाई की क्रय-शक्ति स्थिर रहती है क्योंकि द्विधातु मान में द्रव्य इकाई का मूल्य केवल एक धातु की मांग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित न होकर दोनों धातुओं की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। द्विधातु मान के समर्थकों का विश्वास है कि दोनों धातुओं की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तनों में एक दूसरे को नष्ट करने की प्रवृति होती है। द्विधातु मान की विशेषता इसकी क्षतिपूरक क्रिया में नहीं वरन् इस बात में निहित है कि इस क्षतिपूरक क्रिया के द्वारा मुद्रा मान में अधिक स्थिरता बनी रहती है। द्विधातु मान में दोनों धातुओं के सिक्कों का मूल्य एक दूसरे के सम्बन्ध में स्थिर रहने के अतिरिक्त वस्तुओं के सम्बन्ध में भी स्थिर रहता है। द्विधातु मान में यदि उच्चावचन पूर्णतया समाप्त नहीं भी होते हैं तो भी ये उच्चावचन न्यूनतम अवश्य हो जाते हैं। जैवन्स ने द्विधातु मान में स्थिरता के लाभ को पानी के दो कुण्डों का उपयुक्त उदाहरण देकर समझाया है। यदि पानी के दो कुण्ड एक दूसरे से पृथक होते हैं तो प्रत्येक कुण्ड में पानी का स्तर उस कुण्ड में पानी की पूर्ति तथा माँग पर निर्भर रहेगा। परन्तु यदि दोनों कुण्डों को एक नाली के द्वारा जोड़ दिया जाये तो दोनों कुण्डों में पानी के स्तर में समानता आ जावेगी। यदि किसी एक कुण्ड में से पानी निकाल लेने के कारण उसमें पानी का स्तर नीचे आ जाता है तो तत्काल दूसरे कुण्ड में से पहले कुण्ड में नाली के द्वारा पानी आना आरम्भ हो जावेगा। इसका परिणाम यह होगा कि पहले कुण्ड में पानी का स्तर धीरे-धीरे ऊँचा हो जावेगा और दूसरे कुण्ड में पानी का स्तर धीरे-धीरे नीचा हो जावेगा। दूसरे कुण्ड से पहले कुण्ड की ओर पानी का बहाव तथा दोनों कुण्डों में पानी के स्तर की नीचाई व ऊँचाई का क्रम उस समय तक कार्यशील रहेगा जब तक दोनों कुण्डों में पानी का स्तर समान नहीं हो जावेगा।[2]

तीसरे, इस मान को वे देश भी अपना सकते हैं जिनके पास यद्यपि चाँदी के कोष अधिक मात्रा में हैं परन्तु स्वर्ण कोषों का अभाव है। संक्षेप में यह मान स्वर्ण तथा चाँदी का उत्पादन करने वाले सभी देशों द्वारा अपनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण तथा चाँदी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में स्वीकार होने के कारण द्विधातुमान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक धातुमान की तुलना में अधिक सरल होता है।

चौथे, द्विधातुमान में विदेशी विनिमय दरें केवल द्विधातुमान देशों के अतिरिक्त द्विधातुमान तथा स्वर्णमान देशा तथा द्विधातुमान तथा रजत मान देशों के मध्य भी स्थिर रहती हैं।

द्विधातुमान के दोष

द्विधातुमान के आलोचकों के मतानुसार व्यावहारिक जीवन में द्विधातुमान केवल एकधातुमान के रूप में संचलनशील होता है क्योंकि द्विधातुमान में एक धातु दूसरी धातु को संचलन से बाहर निकाल देती है। बाजार में स्वर्ण तथा रजत की सापेक्ष कीमतों में परिवर्तन होने के कारण इनका टकसाल मूल्य इनके बाजार मूल्य से भिन्न हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिस धातु के सिक्कों का टकसाल मूल्य कम हो जाता है वे संचलन से बाहर हो जाते हैं। द्विधातुमान में दोनों धातुओं के टकसाल तथा बाजार अनुपातों में असमानता होने के कारण

2. W. S. Jevons : *Money and Mechanism of Exchange*, p. 140.

ग्रेशम के नियम की समस्या सदा विद्यमान रहती है और इस कारण यह कहना उचित है कि द्विधातुमान में मुद्रा इकाई का मूल्य अस्थिर रहता है। गेयर (A. D. Gayer) के अनुसार इस मान में स्वर्णमान तथा कागजी मान के सभी दोष विद्यमान हैं।

द्विधातुमान का दूसरा दोष यह है कि दोनों धातुओं के मूल्यों के मध्य सदा के लिए स्थिर अनुपात निर्धारित करना असम्भव है क्यों कि दोनों धातुओं की सापेक्ष कीमतों को स्थिर रखना कठिन है। यदि स्वण और रजत के सापेक्ष मूल्य को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है तो एकधातु के सिक्कों का अधिमूल्यन (overvaluation) तथा दूसरी धातु के सिक्कों का अधोमूल्यन (undervaluation) हो जावेगा। अधोमूल्य धातु के सिक्के सस्ते होने के कारण पिघलाये जाने लगेंगे और परिणामस्वरूप ये संचलन से बाहर हो जावेंगे। संचलन में केवल अधिमूल्य धातु के सिक्के विद्यमान रहेंगे।

द्विधातुमान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संसार के सभी देशों को इस मान को समान टकसाल अनुपात के आधार पर अपनाना चाहिए। यदि केवल एक देश द्विधातुमान को अपनाता है और दूसरे देशों में चाँदी के मूल्य में इसकी पूर्ति तथा माँग के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं तो द्विधातुमान को अपनाने वाले देश में (जहाँ चाँदी का स्वर्ण मूल्य द्विधातुमान के कार्यशील होने के कारण स्थिर कर दिया गया है) चाँदी दूसरे देशों की तुलना में सस्ती अथवा महँगी होगी। यदि इस देश में चाँदी का स्वर्ण मूल्य संसार के अन्य देशों की तुलना में कम है तो दूसरे देश स्वर्ण द्वारा इस देश से चाँदी को क्रय करेंगे और देश से चाँदी का निर्यात होते रहने के परिणामस्वरूप देश में चाँदी की पूर्ति समाप्त हो जावेगी। इसके विपरीत यदि किसी एक द्विधातुमान देश में चाँदी का स्वर्ण मूल्य दूसरे द्विधातुमान देशों की तुलना में अधिक है तो दूसरे देश इस देश को स्वर्ण के बदले में चाँदी बेचना आरम्भ कर देंगे और देश में चाँदी का आयात तथा स्वर्ण का निर्यात होते रहने के कारण देश का सारा स्वर्णकोष समाप्त हो जावेगा। प्रथम परिस्थिति में देश में द्विधातुमान के स्थान पर वास्तव में केवल स्वर्णमान तथा दूसरी परिस्थिति में रजत मान विद्यमान रहेगा। द्विधातुमान तभी सफल हो सकता है जब संसार के सारे देश इसको सच्ची भावना से अपनाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि द्विधातुमान देशों में दोनों धातुओं के सिक्कों के मध्य टकसाल अनुपात समान होना चाहिए और इस टकसाल अनुपात में दोनों धातुओं की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने पर इस प्रकार उपर्युक्त परिवर्तन होने चाहिए कि दोनों धातुओं के सिक्के संचलन में विद्यमान रहें।

यदि संसार के सभी देश द्विधातुमान को समान टकसाल अनुपात के आधार पर अपनाते हैं तथा टकसाल अनुपात में सब देश एक साथ समान मात्रा में दोनों धातुओं की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण परिवर्तन करते हैं तो विनिमय दरों मे स्थिरता स्थापित हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्विधातुमान के सुचारू रूप में कार्यशील होने के लिए द्विधातुमान देशों में स्वर्ण तथा चाँदी के सिक्कों के मध्य टकसाल अनुपात समान होना चाहिये क्योंकि यदि भिन्न देशों में टकसाल अनुपात भिन्न होंगे तो इस भिन्नता के कारण एक देश से दूसरे देश में स्वर्ण अथवा चाँदी का क्रय-विक्रय और आयात-निर्यात आरम्भ हो जाता है और द्विधातुमान के कार्य में बाधा पड़ जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के समर्थकों का यह कहना है कि यदि केवल एक ही देश द्विधातुमान को अपनाता है तो भी देश के अन्दर व्यक्ति स्वयं बाजार तथा टकसाल अनुपातों में समानता लाने की चेष्टा करेंगे। परन्तु यदि एक से अधिक देश इस मान को अपनाते हैं तो दोनों प्रकार के अनुपातों में समानता स्थापित करने वाली शक्तियाँ अधिक बलवान होती हैं। यदि संसार

के सभी देश द्विधातुमान को समान टकसाल अनुपात पर अपनाते हैं तो स्वर्ण और चाँदी के टकसाल मूल्य संसार में दोनों धातुओं के बाजार मूल्य को निर्धारित करते हैं और परिणामस्वरूप टकसाल तथा बाजार अनुपातों में कोई अन्तर नहीं होता है। दोनों अनुपात समान होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की सफलता द्विधातुमान देशों की संख्या और नियमों का पालन करने पर निर्भर रहती है। यदि संसार के सब देश सच्ची भावना से इस मान को अपनाते हैं तथा इसके नियमों का सच्ची भावना से पालन करते हैं तो यह मान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करता रहता है। संक्षेप में इस मान को अपनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में सच्चा सहयोग होना आवश्यक है। १८६५ ई० में स्थापित लैटिन मौद्रिक संघ (Latin Monetary Union), फ्रान्स, बेलजियम, स्विटजरलैंड और इटली द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान को अपनाने के प्रयास का प्रतीक था। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के बहुत से समर्थकों का कहना है कि लैटिन मौद्रिक संघ को अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान को अपनाने का प्रतीक कहना अनुचित है। उनके विचारानुसार द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कभी भी नहीं अपनाया गया है। नोगारो (B. Nogaro) अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के पक्ष में लिखते हैं कि "द्विधातुमान, स्वर्ण मान और रजत मान देशों के हित में कार्य करता है। संसार के देशों की सरकारों का १८७३ ई० का निर्णय इस बात का सूचक है कि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान को यदि संसार के देशों ने अपनाया होता तो यह मान अवश्य संसार में जीवित रहा होता।"[3]

द्विधातुमान संचलन में

द्विधातुमान का १९वीं शताब्दी में संसार के मौद्रिक इतिहास में विशेष महत्त्व रहा है। १८७० ई० तक द्विधातुमान, केवल इंग्लैण्ड को छोड़कर, संसार के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण देशों में प्रचलित था। यद्यपि अमरीका में द्विधातुमान चाँदी तथा स्वर्ण के मध्य १६ : १ की टकसाल दर पर १८७३ ई० तक विद्यमान रहा था परन्तु यह केवल सैद्धान्तिक रूप में था। व्यावहारिक दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था क्योंकि चांदी तथा स्वर्ण के मध्य बाजार अनुपात १६ : १ से कम होने के कारण चाँदी का डालर लगभग समाप्त हो गया था तथा केवल स्वर्ण डालर संचलनशील था। १८७३ ई० में अमरीकी संसद ने अधिनियम बनाकर चाँदी की मुक्त सिक्का ढलाई को समाप्त करके इस वास्तविक स्थिति को वैधानिक रूप प्रदान किया था। १८७३ ई० का प्रसिद्ध अधिनियम अमरीका के मौद्रिक इतिहास में "Crime of 1873" के नाम से प्रसिद्ध है तथा इसने देश में एक गम्भीर राजनैतिक विवाद को जन्म दिया था। अधिनियम को "Crime of 1873" का बुरा नाम दिया जाने का कारण यह था क्योंकि इस अधिनियम से चाँदी के समर्थकों को काफी आर्थिक हानि हुई थी। यद्यपि १८७३ ई० के पूर्व चाँदी का बाजार मूल्य अधिक होने के कारण चाँदी तथा स्वर्ण के मध्य बाजार दर अनुपात १६ : १ से कम थी परन्तु १८७३ ई० के पश्चात् चाँदी का बाजार मूल्य गिरना आरम्भ हो गया तथा १८७४ में चाँदी तथा स्वर्ण के मध्य बाजार दर अनुपात १६ : १ के टकसाल अनुपात की तुलना में अधिक था—१८७४ ई० में यह अनुपात १६·१६ : १ था। चाँदी के स्वर्ण बाजार मूल्य में कमी हो जाने के कारण चाँदी को १६ : १ की टकसाल दर पर डालरों में मुद्रण कराना अधिक लाभदायक हो गया था। परिणामस्वरूप जिन लोगों के पास चाँदी थी, वे उसे गाड़ियों में लाद कर मुद्रण कराने के उद्देश्य से टकसाल में ले गये। परन्तु १८७३ ई० के अधिनियम के अन्तर्गत चाँदी की मुक्त सिक्का ढलाई को समाप्त कर दिया गया था तथा चाँदी के उत्पादकों को सरकारी टकसाल से निराश लौटने

3. B. Nogaro : *Modern Monetary System*, pp. 25-26.

के लिये विवश होना पड़ा था। सरकार के इस अधिनियम को इन लोगों ने घृणाजनक शब्दों में "Crime of 1873" का नाम दिया था।

१८७३ ई० के पश्चात् चाँदी के बाजार मूल्य में कमी होने के कई कारण थे। अमरीका में चांदी की नई खानों की खोज होने के परिणामस्वरूप चाँदी के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण बाजार में चाँदी की प्रचुरता थी। इसके अतिरिक्त संसार के अधिकांश देशों द्वारा द्विधातुमान का परित्याग करने के कारण इन देशों की सरकारों ने अधिक मात्रा में अपने मौद्रिक चाँदी के कोषों को बाजार में बेचना आरम्भ कर दिया था। इन देशों के ऐसा करने के कारण बाजार में चाँदी की पूर्ति जो पहले ही इसकी माँग की अपेक्षाकृत बहुत अधिक थी और अधिक हो गई तथा चाँदी के बाजार मूल्य में और अधिक कमी हो गई। इसके अतिरिक्त संसार के अधिकांश देशों में चाँदी का विमुद्रीकरण (demonetisation) हो जाने के कारण बाजार में चाँदी की भाँग बहुत कम हो गई थी। द्विधातुमान का परित्याग करने तथा स्वर्ण मान को अपनाने के कारण स्वर्ण की माँग में वृद्धि होने के साथ-साथ चाँदी की माँग में कमी हो गई थी। १८५६ ई० से लेकर १९०० ई० तक लगभग ४० वर्ष के अल्पकाल में चाँदी का कुल उत्पादन बढ़कर ५$\frac{1}{2}$ गुना हो गया था।

संसार में चाँदी की बढ़ती हुई पूर्ति तथा घटती हुई माँग के अतिरिक्त चाँदी के स्वर्ण मूल्य में कमी होने का एक अन्य कारण यह भी था कि संसार में स्वर्ण की माँग में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी तथा इसके उत्पादन में अपेक्षाकृत बहुत कम वृद्धि हुई थी। वास्तव में स्वर्ण के वार्षिक उत्पादन में १८९० ई० तक कोई वृद्धि नहीं हुई थी। इसके विपरीत १८६० ई० की तुलना में १८९० ई० में स्वर्ण का उत्पादन काफी कम था।

स्वर्ण के उत्पादन में वृद्धि न होने के अतिरिक्त औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप व्यापार तथा उद्योग का विकास होने के कारण स्वर्ण की औद्योगिक माँग में वृद्धि हो रही थी। इसके अतिरिक्त संसार के सभी देशों में स्वर्ण मान को अपनाये जाने के कारण स्वर्ण की माँग में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी। स्वर्ण की माांग में वृद्धि होने का परिणाम यह हुआ कि इसकी कीमत में वृद्धि हो गई तथा इसका चाँदी मूल्य बढ़ गया। दूसरे शब्दों में, चाँदी का स्वर्ण-मूल्य अथवा बाजार अनुपात बढ़कर १६ : १ से अधिक हो गया।

१९ वीं शताब्दी के अन्त में कुछ देशों में, विशेषकर अमरीका में, द्विधातुमान को पुनः संचलनशील करने के असफल प्रयत्न किये गये थे। अमरीका में द्विधातुमान को अपनाने का प्रश्न इतना अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया था कि प्रजातन्त्र दल के उम्मीदवार श्री विलयम जैनिंग्स ब्रायन ने १८९६ ई० में इसको अपने चुनाव अभियान का आधार बना लिया था। १९३० ई० के लगभग अमरीका तथा संसार के अन्य देशों में चाँदी के मौद्रिक महत्त्व को बढ़ाने के प्रयास किये गये थे। आर्थिक संकट काल और चाँदी के मूल्य में गिरावट होने के समय द्विधातुमान को अपनाने के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये थे। द्विधातुमान के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि द्विधातुमान को अपना कर चाँदी के मूल्य को गिरने से रोका जा सकता था तथा चाँदी के उत्पादकों में विश्वास उत्पन्न किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि द्विधातुमान को अपना कर चाँदी की खुली सिक्का ढलाई होने के कारण संचलन में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के कारण वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जावेगी और कृषि-प्रधान देशों की आर्थिक कठिनाइयाँ कम हो जावेंगी। चाँदी के निर्यातकर्ता भी द्विधातुमान को अपनाने के पक्ष में थे क्योंकि चाँदी की माँग में वृद्धि होने के हेतु चाँदी का निर्यात दूसरे देशों को अधिक हो सकता था। इन तर्कों के अतिरिक्त

द्विधातुमान को अपनाने के पक्ष में सैद्धान्तिक दृष्टि से इसकी क्षतिपूरक क्रिया के विशेष लाभ की भी चर्चा की जाती थी। फ्रान्स में द्विधातुमान १८०३ ई० से लेकर १८७५ ई० तक १ : १५·५ टकमाल अनुपात की दर पर संचलनशील रहा था। १८७५ ई० के पश्चात् कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान को संचलनशील बनाने के उद्देश्य से किये गये थे। इन सम्मेलनों में पैरिस में हुये १८७८ ई० तथा ब्रुसेल्स में हुये १८९३ ई० के सम्मेलन उल्लेखनीय हैं। परन्तु राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न होने तथा इंगलैण्ड द्वारा विरोध करने के कारण इन सम्मेलनों को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी और द्विधातुमान का केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया।

वर्तमान शताब्दी में जब अमरीका में १९३० ई० के लगभग चाँदी के पक्ष में आन्दोलन करने वालों को अपने आन्दोलनों में सफलता मिली तब १९३४ ई० में अमरीका की मुद्रा प्रणाली में चाँदी के महत्त्व को बढ़ाने के उद्देश्य से चाँदी खरीद अधिनियम (Silver Purchase Act) को बनाया गया। इस अधिनियम का यह परिणाम हुआ कि देश की मुद्रा में चाँदी की मात्रा ९·६ प्रतिशत से बढ़कर १३·३ प्रतिशत हो गई। इसके अतिरिक्त सरकार ने १९३४ ई० से लेकर १९४९ ई० तक १५ वर्ष की अवधि में २·७५ बिलियन औंस चाँदी की खरीद की थी। परन्तु अमरीका के अतिरिक्त वर्तमान शताब्दी में द्विधातुमान को अन्य किसी देश में मुद्रा मान के रूप में अपनाने का प्रयास नहीं किया गया। संक्षेप में, द्विधातुमान केवल १९ वीं शताब्दी का मान बनकर रह गया।

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law)

जब किसी देश में एक से अधिक प्रकार की मुद्राएँ संचलनशील होती हैं तब देश की सरकार के सामने इन मुद्राओं को संचलनशील बनाये रखने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। जब देश में दो प्रकार की ऐसी मुद्रायें जिनका विधि ग्राह्य मूल्य यद्यपि समान होता है परन्तु इनका वास्तविक मूल्य भिन्न होता है संचलन में होती हैं तब यदि एक मुद्रा का वास्तविक मूल्य उसके द्रव्य मूल्य से कम होता है तो वह हीन अथवा खराब मुद्रा कहलाती है और यदि इसका वास्तविक मूल्य इस के द्रव्य मूल्य से अधिक होता है तो वह उत्तम मुद्रा कहलाती है। जब देश में उत्तम और हीन मुद्राएँ एक साथ संचलन में होती हैं तब हीन मुद्रा उत्तम मुद्रा को संचलन से बाहर निकाल देती है। ग्रेशम का नियम बताता है कि जब अर्थव्यवस्था में अधिमूल्य मुद्रा (overvalued currency) तथा अधोमूल्य मुद्रा (undervalued currency) एक साथ संचलन में होती हैं तथा हीन मुद्रा की पूर्ति पर्याप्त से अधिक होती है तब अधिमूल्य मुद्रा अधोमूल्य मुद्रा को संचलन से बाहर कर देती है। अच्छी मुद्रा को लोग गलाकर अमौद्रिक कार्यों में उपयोग करने लग जाते हैं। इस मुद्रा को गलाने का कारण यह है कि इसका धातु मूल्य इसके कानूनी अथवा द्रव्य मूल्य की तुलना में अधिक होता है।

महारानी एलिजबेथ प्रथम के पूर्व इंगलैण्ड में अनेक प्रकार, आकार तथा भार के सिक्के संचलनशील थे। यद्यपि महारानी के बाबा हैनरी सप्तम और पिता हैनरी अष्टम ने राजनैतिक क्षेत्र में राज्य को स्थिरता प्रदान की थी परन्तु उनको आर्थिक क्षेत्र में सुधार करने का अवकाश प्राप्त नहीं हो पाया था। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि महारानी एलिजबेथ द्वारा राज्य का कार्य-भार संभालने के समय देश में राजनीतिक शान्ति उपस्थित थी परन्तु आर्थिक दृष्टि से व्यापार तथा उद्योग की स्थिति देश में अनेक प्रकार की मुद्राएँ संचलनशील होने के कारण चिन्ताजनक थी। देश की मुद्रा प्रणाली में पर्याप्त सुधार करने के उद्देश्य से महारानी ने नये

सिक्कों का संचलन में प्रचालन किया। महारानी को यह आशा थी कि उनके नये और उत्तम सिक्कों के संचलनशील होने पर पुराने और हीन सिक्के संचलन से समाप्त हो कर सरकारी कोषगार में वापिस आ जावेंगे तथा इस प्रकार देश की मुद्रा प्रणाली में पर्याप्त सुधार हो जावेगा। परन्तु महारानी यह देखकर चकित रह गई कि नये सिक्के सरकारी कोषगार से संचलन में विद्यमान होते ही गायब हो जाते थे और पुराने सिक्के संचलन में पहले के समान विद्यमान बने थे। इस गम्भीर स्थिति को देखकर महारानी को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने अपने प्रधान-मन्त्री सर विलियम सैसिल (Sir William Cecil) से परामर्श किया जिन्होंने महारानी को सर थॉमस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) से सलाह लेने का सुझाव दिया। महारानी ने प्रधान मन्त्री के सुझाव अनुसार सर थॉमस ग्रेशम से इस सम्बन्ध में परामर्श किया। ग्रेशम ने महारानी को बताया कि इस स्थिति के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण यह था कि उन के स्वर्गीय पिता ने अपने सिक्के में खोट मिलवाकर इसमें सोने की शुद्धता ६ औंस से घटाकर ३ औंस करा दी थी जिसके कारण सिक्के का वास्तविक मूल्य २६ शिलिंग ८ पैंस से घटकर १३ शिलिंग ४ पैंस रह गया था। पुराने कम मूल्य वाले सिक्के संचलन में होने के कारण महारानी के अच्छे तथा अधिक शुद्ध सोने के बने सिक्के लोगों द्वारा गलाने अथवा धन के रूप में संचित रखने के कारण संचलन से समाप्त हो गये थे।

ग्रेशम के नियम की व्याख्या पुस्तकों में यह कहकर की गई कि "हीन मुद्रा उत्तम मुद्रा को संचलन से बाहर कर देती है।" परन्तु इस नियम की इस प्रकार व्याख्या करना सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि प्रश्न यह उठता है कि हीन और उत्तम मुद्रा किसे कहते हैं? ग्रेशम के नियम का अधिक सन्तोषजनक रूप में वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है: "वह मुद्रा जिसका द्रव्य मूल्य उसके वास्तविक मूल्य की तुलना में अधिक होता है अर्थात् अधिमूल्य मुद्रा उस मुद्रा को जिसका द्रव्य मूल्य उसके वास्तविक मूल्य की तुलना में कम होता है अर्थात् अधोमूल्य मुद्रा को संचलन में नहीं रहने देती है।" ग्रेशम के नियम की व्याख्या करते हुए मार्शल ने अपनी *Money Credit and Commerce* शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि "यदि घटिया (inferior) मुद्रा सीमित मात्रा में नहीं होती है तो वह उत्तम (superior) मुद्रा को संचलन से बाहर कर देती है।" ग्रेशम का नियम विद्यमान होने के लिये निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है।

(१) देश में भिन्न प्रकार की मुद्रा अथवा सिक्के पूर्णकाय और असीमित विधिग्राह्य होने चाहिए।

(२) देश में जनता का बरताव सब प्रकार के सिक्कों के प्रति समान होना चाहिए।

(३) देश में संचलन में कुल मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक होनी चाहिए।

(४) देश में हीन मुद्रा की पूर्ति जनता की कुल द्रव्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर हीन मुद्रा के साथ उत्तम मुद्रा भी संचलन में विद्यमान रहेगी। ग्रेशम का नियम द्विधातु मान में लागू होने के अतिरिक्त एकधातु मान और कागजी मुद्रा मान में भी उस समय लागू होता है जब हीन और उत्तम मुद्रा एक साथ संचलन में होती है। उदाहरणार्थ, यदि समाज में अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा और स्वर्ण मुद्रा संचलनशील है तो प्रथम प्रकार की मुद्रा दूसरे प्रकार की मुद्रा को संचलन से बाहर कर देती है। इसी प्रकार यदि परि-

वर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रायें एक संचलन में होती हैं तो अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा हीन मुद्रा होने के कारण परिवर्तनशील कागजी मुद्रा को संचलन से बाहर कर देती है।

एकधातुमान
(Monometallic Standard)

एकधातुमान संसार में रजत मान (silver standard) और स्वर्ण मान (gold standard) के रूप में विद्यमान रहा है। मुद्रा मान के रूप में चाँदी का ऐतिहासिक महत्त्व स्वर्ण की तुलना में कम है। साधारणत: संसार के देशों में स्वर्णमान को २० वीं शताब्दी के लगभग ४० आरम्भिक वर्षों तक अपनाया गया था। यद्यपि स्वर्णमान का इतिहास बहुत पुराना नहीं है परन्तु संसार के मौद्रिक इतिहास में स्वर्णमान का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में चाँदी को स्वर्ण की तुलना में मुद्रा मान के रूप में कम व्यापक रूप में तथा थोड़े समय तक अपनाने का प्रमुख कारण यह रहा है कि चाँदी में कुछ उन विशेषताओं का अभाव है जो स्वर्ण में विद्यमान है। प्रथम, चाँदी की तुलना में अधिक मूल्यवान होने के कारण स्वर्ण को अधिक सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान को अन्तरण किया जा सकता है। दूसरे, स्वर्ण के कुल स्टाक में चाँदी के कुल स्टाक की तुलना में कम परिवर्तन होने के कारण इसका मूल्य चाँदी की तुलना में अधिक स्थिर रहा है। इन दोनों कारणों से स्वर्ण चाँदी की तुलना में एकधातुमान के रूप में अधिक समय तक प्रचलित रहा है। यद्यपि १८७३ ई० तक चाँदी संसार के बहुत से देशों में मुद्रा इकाई के रूप में विद्यमान रही थी परन्तु १८७३ ई० के पश्चात् संसार के अधिकांश देशों ने चाँदी मान का परित्याग करके स्वर्ण मुद्रा मान को अपनाना आरम्भ कर दिया था। इग्लैंड १८१६ ई० से ही स्वर्णमान को अपनाये हुये था। १८७३ ई० में जर्मनी ने भी रजत मान का परित्याग करके स्वर्ण मान को अपना लिया था। लगभग दस वर्ष के अल्प समय में यूरोप के अधिकांश देशों ने चाँदी का परित्याग करके स्वर्ण मान को अपना लिया था। चाँदी के मूल्य में निरन्तर कमी हो रही थी। १९२१ ई० से लेकर १९३० ई० तक दस वर्ष के अल्प समय में फ्रान्स, बेलजियम तथा फिनलैंड ने चाँदी के सिक्कों की खुली ढलाई समाप्त कर दी थी। यद्यपि वर्तमान शताब्दी में चाँदी को मुद्रा मान का पुन: स्थान देने के प्रश्न पर विचार किए गये थे परन्तु इस सम्बन्ध में सफलता प्राप्त नहीं हुई। पूरब के देशों में, विशेष रूप से भारत तथा चीन में, रजत मान काफी लम्बे समय तक विद्यमान रहा था। भारत ने रजत मान का परित्याग १८९३ ई० में किया था तथा चीन में रजत मान १९३५ ई० तक चालू रहा था। यद्यपि भारत में रजत मान १८७४ ई० तक सफलता पूर्वक कार्य करता रहा था परन्तु १८७४ ई० के पश्चात् मेक्सिको तथा कैलीफोर्निया में चाँदी की नई खानों की खोज होने के कारण चाँदी के उत्पादन में भारी वृद्धि हो गई थी और इसके मूल्य में भारी कमी हो जाने के कारण भारत में सरकार को रजत मान का प्रबन्धन करना कठिन हो गया। चाँदी की खुली सिक्का ढलाई होने के कारण लोग सस्ती चाँदी को बाजार से खरीद कर इसको रुपयों में ढलवाकर लाभ प्राप्त करने लगे थे। ऐसी स्थिति में भारत सरकार के लिए रुपये के मूल्य को स्थिर बनाये रखना कठिन हो गया तथा १८९३ ई० में हरशल समिति के सुझाव पर भारत सरकार ने रजत मान का परित्याग करके इसके स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया था।

कागजी मुद्रा मान
(Paper Standard)

पुस्तक के प्रथम अध्याय में इस सत्य पर प्रकाश डाला गया है कि आरम्भ में कागजी मुद्रा का उपयोग मुद्रा के रूप में न होकर मुद्रा के स्थानापन्न के रूप में किया गया था। वर्तमान

कागजी मुद्रा दीर्घकाल में हुये उद्विकास का परिणाम है । इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम कागजी मुद्रा का श्रीगणेश चीन में हुआ था । ऐसा कहा जाता है कि चीन के राजा हीन संग (Hsien-tsung) ने ८०० ई० के लगभग कागजी मुद्रा का प्रचालन किया था । कागजी मुद्रा को प्रचालन करने का प्रमुख कारण यह था कि लोहे तथा ताँबे के सिक्कों के द्वारा अधिक धनराशि के भुगतानों को करने में द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने तथा ले जाने में काफी असुविधा होती थी । इस असुविधा से मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से कागजी मुद्रा का प्रचालन किया गया । इस समय से लेकर १६ वीं शताब्दी तक चीनी तथा मंगोल राजाओं ने घनी मात्रा में कागजी मुद्रा का प्रचालन किया था । चीन के अतिरिक्त ईरान में भी १३ वीं शताब्दी में कागजी मुद्रा का प्रचालन करने का प्रयास किया गया था । यद्यपि चीन का उदाहरण इस सत्य की पुष्टि करता है कि कागजी मुद्रा का आविष्कार काफी समय पूर्व मध्य-काल में हुआ था परन्तु पश्चिम के देशों में कागजी मुद्रा का सामान्य रूप में बड़े पैमाने पर प्रयोग केवल वर्तमान शताब्दी में सम्भव हो पाया था ।

कागजी मुद्रा प्रथम महायुद्ध की उत्पत्ति है । प्रथम महायुद्ध के पूर्व संसार के अधिकांश देशों में साधारणतया धातु मान—द्विधातु मान अथवा एक धातु मान—संचलनशील था । यद्यपि फ्रान्स में १८वीं शताब्दी के आरम्भ में जॉन लॉ (John Law)[4] नामक व्यक्ति ने बड़े पैमाने पर कागजी मुद्रा का प्रचालन किया था और अमरीका में गृहयुद्ध (Civil War) के समय कागजी अपरिवर्तनशील ग्रीनबैक (Greenbacks) तथा फ्रांस में सुप्रसिद्ध क्रान्ति के समय असाइनेट्स (Assignates) संचलनशील थे परन्तु अपरिवर्तशील कागजी मुद्रा के युग का निर्माण केवल युद्ध के पश्चात हुआ था । द्विधातु मान अथवा स्वर्णमान स्वयं संचालक मान होते हैं । परन्तु कागजी मान में स्वयं संचालकता का अभाव होता है । इसी कारण कागजी मुद्रा मान को प्रबन्धित मुद्रा मान भी कहा जाता है ।

कागजी मुद्रा मान का प्रमुख लाभ यह है कि इस मान का देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है । कागजी मुद्रा मान में देश की सरकार को मुक्त आर्थिक नीति बनाने तथा उसको कार्यान्वित करने की स्वाधीनता होती है । उदाहरणार्थ, कागजी मुद्रा मान को अपना कर देश की सरकार पूर्ण रोजगार सम्बन्धी आर्थिक नीति को कार्यान्वित कर सकती है ।

कागजी मुद्रा मान में देश मौद्रिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन होता है । कीन्स ने १९२५ ई० में इंगलैण्ड द्वारा स्वर्णधातु मान को पुनः अपनाने के समय प्रबन्धित मुद्रा को अपनाने के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किये थे । इस सम्बन्ध में कीन्स ने विन्स्टन चर्चिल की, जो उस समय अर्थसचिव (Chancellor of the Exchequer) के पद पर नियुक्त थे, नीति की कड़ी आलोचना की थी । उन्होंने अपनी *The Consequences of Mr Churchill* शीर्षक पुस्तिका में

4. जॉन लॉ स्काटलैंड के निवासी थे जो फ्रांस में आकर बस गये थे । वे कागजी मुद्रा के महान समर्थक थे तथा उनको वित्तीय तथा बैंकिंग समस्याओं का भारी ज्ञान प्राप्त था । फ्रान्स में उन्होंने काफी धन प्राप्त किया था । १७१८ ई० में उन्होंने फ्रांस में प्रसिद्ध Banque de Francaise नामक बैंक को पुनः संगठित किया था । जॉन लॉ का कहना था कि मुद्रा में वास्तविक मूल्य होना आवश्यक नहीं था तथा न ही इसका किसी बहुमूल्य धातु में परिवर्तनशील होना आवश्यक था । जॉन लॉ का कहना था कि मुद्रा की मात्रा का प्रचालन व्यापार की आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए ।

यह घोषणा की थी कि पुरानी स्वर्ण समता दर पर स्वर्ण मान को पुन: अपना कर चर्चिल ने देश की अर्थव्यवस्था के हितों को सुरक्षित नहीं रखा था। उनके विचार में इंगलैण्ड को प्रबन्धित मुद्रा मान (managed currency standard) को अपनाना चाहिये था। कीन्स की भविष्यवाणी उस समय सत्य सिद्ध हुई थी जब स्वर्ण मान को अपनाने के कारण कुछ समय पश्चात् देश के आर्थिक हितों को गहरी क्षति हुई थी। देश में अवस्फीति तथा बेरोजगारी उत्पन्न होने पर भी इंगलैण्ड के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता समाप्त नहीं हुई। विवश होकर १९३१ ई० में इंगलैण्ड को स्वर्ण मान का परित्याग करना पड़ा था।

कागजी मुद्रा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसका प्रचालन सरकार की इच्छा पर आश्रित होता है। यद्यपि मुद्रा प्रबन्धन का कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है जो सैद्धान्तिक रूप में सरकारी नियंत्रण से मुक्त होती है परन्तु फिर भी इस मान के अन्तर्गत मौद्रिक नीति सरकार की राजनैतिक नीति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। उदाहरण के लिए, राजनैतिक दृष्टि से जब सरकार को युद्ध में भाग लेना पड़ता है तो इसका प्रभाव देश में कागजी मुद्रा की संचलन मात्रा पर भी पड़ता है और युद्ध के परिणामस्वरूप संचलन में कागजी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण देश में स्फीति का भयानक रोग उत्पन्न हो जाता है। स्वर्णमान में ऐसा होना सम्भव नहीं होता है क्योंकि सरकार को स्वर्णमान के नियमों का पालन करना पड़ता है। वास्तव में कागजी मुद्रामान में स्फीति की प्रवृति होती है। परन्तु कागजी मुद्रा में ये सब दोष होते हुए भी कागजी मुद्रा मान स्वर्ण मान की अपेक्षा बहुत सी बातों में उत्तम है।

अन्य मुद्रा मान
(Other Monetary Standards)

१. मिश्रधातु मान (Symmetallism)

इस मान का सुझाव एल्फ्रेड मार्शल ने १८८७ ई० में दिया था। द्विधातुमान में बहुधा ग्रेशम का नियम लागू हो जाता था जिसके कारण इस मान को चलाने में सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। द्विधातुमान के इस दोष से मुक्ति पाने के उद्देश्य से मार्शल ने मुद्रा इकाई को सोने तथा चाँदी के मिश्रण में बनाने का प्रस्ताव रखा था। मार्शल का विश्वास था कि यदि मुद्रा इकाई सोने तथा चाँदी में परिवर्तनीय न होकर सोने तथा चाँदी के मिश्रण द्वारा बने हुए पासे अथवा छड़ में परिवर्तनीय होगी तो ग्रेशम का नियम लागू होने की सम्भावना नहीं रहेगी। १८८६ ई० में Commissioners on Trade Depression को अपने उत्तर में मार्शल ने स्वर्ण तथा चाँदी मिश्रधातु मान पर आधारित कागजी मुद्रा को संचलन में रखने का सुझाव दिया था। इस विषय पर मार्शल ने इस प्रकार लिखा था: "मेरे विचार में द्विधातुमान के कारण हमारी मुद्रा में काफी उपद्रव हो सकता है। मेरी यह वैकल्पिक योजना (मिश्रधातु मान) रिकार्डो की योजना से, केवल चाँदी की २,००० ग्राम भार वाली छड़ को स्वर्ण की १०० ग्राम भार वाली छड़ में मिला कर, प्राप्त हुई है। इस मान में सरकार सदा स्वर्ण-चाँदी की मिश्रधातु छड़ों को मुद्रा की एक निर्धारित स्थिर मात्रा द्वारा खरीदने अथवा बेचने के लिये तैयार रहेगी। यह योजना किसी भी राष्ट्र द्वारा अन्य राष्ट्रों की अनुमति प्राप्त किये बिना आरम्भ की जा सकती है।

१८८८ ई० में स्वर्ण तथा चाँदी आयोग के समक्ष अपना बयान देते हुए मार्शल ने अपनी इस योजना को पुनः दोहराया था।"[5]

मार्शल की मिश्रधातु मान योजना पर टिप्पणी करते हुये प्रोफेसर मिल्टन फ्रीडमैन ने लिखा है कि "पृथक स्वर्ण तथा चाँदी के दोषों से प्रभावित होकर कुछ अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें मार्शल भी शामिल हैं, १९ वीं शताब्दी के अन्त में यह सुझाव दिया था कि स्वर्ण तथा चाँदी को मिला कर मिश्रधातु मान को अपनाया जाना चाहिये। इस सुझाव के अन्तर्गत मुद्रा इकाई स्वर्ण तथा चाँदी के स्थिर भार के रूप में होगी—यदि हम चाहें तो यह कह सकते हैं कि दोनों धातुओं का एक छड़ के रूप में एकीकरण होगा। स्वर्ण की तुलना में चाँदी के मूल्य में किसी भी सीमा तक परिवर्तन हो सकते हैं परन्तु चाँदी तथा स्वर्ण के एकाकीकरण के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होगा। सिद्धान्त में मिश्रधातु मान के अन्तर्गत 'मान' में अर्थव्यवस्था में उत्पादित प्रत्येक वस्तु तथा सेवा को उसी अनुपात में शामिल किया जा सकता है जिस अनुपात में उस वस्तु अथवा सेवा का कुल उत्पादन की तुलना में उत्पादन किया जाता है।"[6]

२. समानान्तर द्विधातुमान (Parallel Bimetallism)

इस मान का सुझाव इसलिये दिया जाता है क्योंकि यह मान साधारण द्विधातुमान के दोषों से मुक्त है। द्विधातु मान में दो धातुओं की मुद्रा इकाइयों के मध्य स्थिर टकसाल अनुपात तथा दोनों धातुओं के मध्य परिवर्तनीय बाजार अनुपात में असमानता उत्पन्न होने के कारण ग्रेशम का नियम लागू हो जाता है। द्विधातु मान के इस दोष को दूर करने के लिए समानान्तर द्विधातु मान का सुझाव दिया गया है। समानान्तर और साधारण द्विधातु मान में यह अन्तर है कि जबकि साधारण द्विधातु मान में दोनों धातुओं के सिक्कों के मध्य टकसाल अनुपात स्थिर रहता है समानान्तर द्विधातु मान में इस टकसाल अनुपात में दोनों धातुओं के मध्य बाजार दर अनुपात के परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन होते हैं। समानान्तर द्विधातु मान के समर्थकों का तर्क है कि ऐसा होने के कारण बाजार तथा टकसाल अनुपातों में असमानता उत्पन्न नहीं होने पायेगी और द्विधातु मान में ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा। परन्तु इस मान में टकसाल अनुपात में परिवर्तन होने के कारण मुद्रा के मूल्य में अस्थिरता उत्पन्न हो जावेगी।

३. बहुधातु मान (Multi-metallism)

इस मुद्रामान में अनेक धातुओं के सिक्कों का प्रामाणिक मुद्रा के रूप में प्रयोग होता है। प्रत्येक धातु की खुली ढलाई होती है। सभी धातुओं के सिक्कों के मध्य टकसाल अनुपात निर्धारित कर दिया जाता है। परन्तु इस मान को चलाना द्विधातु मान से अधिक कठिन है क्योंकि विभिन्न धातुओं की बाजार माँग तथा पूर्ति में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण इस मान में ग्रेशम का नियम लागू होने की द्विधातु मान की तुलना में अधिक सम्भावना रहती है। इस कठिनाई के कारण किसी भी देश ने इस मान को नहीं अपनाया है।

---

5. Marshall wrote : "I submit that if we are to have a great disturbance of our currency for the sake of bimetallism, we ought to be sure that we get it. My alternative scheme is got from his (Ricardo's) simply by wedding a bar of silver of. say, 3,000 grammes to a bar of gold of, say, 100 grammes, the government undertaking to be always ready to buy or sell a wedded pair of bars for a fixed amount of currency ....this plan could be started by any nation without waiting for the concurrence of others. (Alfred Marshall : Remedies for Fluctuations of General prices," 1887, reprinted in *Memorials of Alfred Marshall*, edited by A. C. Pigou, pp. 188-211.)
6. Milton Friedman : *Essays in Positive Economics*, 1953 p. 213.)

४. प्रादिष्टमान (Fiat Standard)

इस मान में मुद्रा इकाई का वास्तविक मूल्य इसके द्रव्य मूल्य की तुलना में अधिक होता है। वास्तव में प्रादिष्ट मुद्रा का वास्तविक मूल्य लगभग शून्य के समान होता है। यद्यपि प्रादिष्ट मुद्रा साधारणतः कागजी मुद्रा को संकेत करती है परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा कागजी मुद्रा के अतिरिक्त धातु की भी बनी हो सकती है। प्रादिष्ट मुद्रा अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा होती है। गृह-युद्ध काल में प्रचालित अमरीकी ग्रीनबैक्स (Greenbacks) तथा फ्रांसीसी असाइनेटस (Assignates) प्रादिष्ट मुद्रा के सबसे उत्तम उदाहरण हैं। प्रादिष्ट मुद्रा की निम्नलिखित आवश्यक विशेषताएँ हैं।

(i) मुद्रा का वैधानिक मूल्य इसके वास्तविक मूल्य की तुलना में बहुत अधिक होता है।
(ii) प्रादिष्ट मुद्रा स्वयं किसी अन्य मुद्रा में अपरिवर्तनीय होती है।
(iii) प्रादिष्ट मुद्रा स्वयं अपने आधार पर नहीं बल्कि सरकार के आदेश के आधार पर देश में संचलन में विद्यमान रहती है।
(iv) प्रामाणिक प्रादिष्ट मुद्रा असीमित विधि ग्राह्य होती है।
(v) साख मुद्रा तथा अन्य मुद्रा प्रामाणिक प्रादिष्ट मुद्रा में परिवर्तनीय होती है।

प्रादिष्ट मुद्रा के पक्ष में यह कहा जाता है कि इस में देश की मुद्रा प्रणाली में स्थिति सापेक्षिता रहती है तथा मुद्रा की पूर्ति को देश की मौद्रिक आवश्यकता तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार कम अथवा अधिक किया जा सकता है। इसके द्वारा देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति को सुविधा के साथ प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा का गंम्भीर दोष यह है कि इसके अन्तर्गत देश में मुद्रा स्फीति उत्पन्न होने का भय रहता है। मुद्रा का वास्तविक मूल्य लगभग शून्य होने के कारण इस मुद्रा में जनता का विश्वास बहुत कम होता है।

५. सारिणी अथवा सूचक अंक मान (Tabular or Index Number Standard)

यद्यपि इस मान को फिशर के नाम से सम्बन्धित किया जाता है परन्तु लौव (Lowe) ने १८२२ ई० में तथा पौलट स्करोप (G. Poulett Scrope) ने १८३३ ई० में इस मान का विस्तृत रूप में अध्ययन किया था। तत्पश्चात् इस मान को अपनाने का सुझाव जैवन्स द्वारा दिया गया था। अमरीका में इस मान को दो बार १८ वीं शताब्दी में Massachusetts राज्य में अपनाया गया था। इस मुद्रा मान में मुद्रा का मूल्य विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में स्थिर रखा जाता है। इस मान में एक आधार वर्ष चुन लिया जाता है जिसमें वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों के आधार पर सामान्य कीमतों के सूचक अंक बनाये जाते हैं। इन सूचक अंकों के अनुसार द्रव्य इकाई का भविष्य मूल्य निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य में कीमतों के साथ परिवर्तन होते रहते है तथा द्रव्य इकाई की क्रयशक्ति स्थिर बनी रहती है। यदि भविष्य में कीमतों में वृद्धि हो जाती है तो स्थिर द्रव्य राशि के ऋण का भुगतान करने के लिये अधिक मुद्रा राशि देनी पड़ती है और यदि कीमतें कम हो जाती हैं तो ऋण का भुगतान करने के लिए मुद्रा की कम मात्रा देनी पड़ती है। उदाहरण के लिये, यदि कीमतों में १० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है तो १,००० रुपये का ऋण चुकाने के लिये ऋणी को ब्याज के अतिरिक्त १,१०० रुपये का मूलधन के रूप में भुगतान करना होगा। इसी प्रकार यदि कीमतों में १० प्रतिशत की कमी हो जाती है तो १,००० रुपये के ऋण का भुगतान करने के लिये ऋणी को ९०० रुपये की मूलधन राशि का ब्याज के अतिरिक्त भुगतान करना होगा। सूचक अंक मान के मौलिक विचार को अमरीका

में युद्ध काल में उद्योगपतियों तथा युद्ध बोर्डों ने मजदूरों के वेतन तथा बदलते हुये जीवन निर्वाह व्यय में समता लाने के उद्देश्य से कार्यान्वित किया था। केन्द्रीय यूरोप के देशों में भी इस मान के विचार को सरकारी कर्मचारियों के वेतनों को स्फीति के समय निर्धारित करने के लिये अपनाया गया था।

यद्यपि सूचक अंक मान में सरलता और स्थगित भुगतानों सम्बन्धी ऋणी तथा ऋणदाता के बीच न्याय करने के गुण विद्यमान हैं परन्तु इस प्रकार के सूचक अंकों का बनाना काफी कठिन है। इसके अतिरिक्त इस मान में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को अस्त-व्यस्त बना देने की प्रवृत्ति होती है।

६. **क्षतिपूरक मान** (Compensatory Standard)

इस मान में मुद्रा इकाई के धातु भार में कीमतों में हुये परिवर्तनों के अनुपात में इस प्रकार उपयुक्त परिवर्तन कर दिये जाते हैं कि मुद्रा की क्रयशक्ति समान रहती है। यदि वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है अर्थात् मुद्रा इकाई की क्रय-शक्ति कम हो जाती है तो मुद्रा इकाई में धातु की मात्रा में इस प्रकार वृद्धि कर दी जाती है कि इसकी क्रय-शक्ति पुनः पहले के समान हो जाती है। इस मान में कीमतों में परिवर्तन होने के अनुसार मुद्रा इकाई के धातु भार में समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। फिशर के शब्दों में इस मान में स्थिर भार परन्तु परिवर्तनीय क्रय-शक्ति वाले स्वर्ण-डालर के स्थान पर स्थिर क्रय-शक्ति परन्तु परिवर्तनीय भार वाले स्वर्ण-डालर का स्थानापन्न कर दिया जाता है। यद्यपि यह मान देखने में उत्तम प्रतीत होता है क्योंकि इसमें द्रव्य की क्रय-शक्ति स्थिर रहती है परन्तु इस मान की सफलता के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक है।

अध्ययन सूची

1. George N. Halm : Economics of Money and Banking, Chapter 4.
2. R. G. Thomas : Our Modern Banking and Monetary System, Chapter 3.
3. R. P. Kent : Money and Banking (4th ed.), Chapter 4.
4. Steiner and Shapiro : Money and Banking (3rd. Ed.), Chapter 3.
5. L. V. Chandler : Money and Banking (Rev. Ed..), Chapter 5.
6. H. L. Jome : Principles of Money and Banking, Chapter 2.
7. L. J. Pritchard : Money and Banking, Chapters 3 & 4.
8. M. L. Burstein : Money, Chapter 2.

प्रश्न

1. Explain fully what do you mean by bimetallism. and show how it works better on the international than on the national plane. Did any important country adopt bimetallism in this century ?
2. Discuss the advantages and disadvantages of paper currency. Do you agree that paper currency is inflation-prone ?

१०

स्वर्णमान
(Gold Standard)

स्वर्णमान का अध्ययन संसार के लगभग सभी देशों के मौद्रिक इतिहास का अत्यधिक रोचक तथा महत्त्वपूर्ण भाग है। गत १५० वर्षों में अपनाये गये मुद्रा मानों में स्वर्णमान का अध्ययन संसार के आर्थिक इतिहास में अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम यह मान इंगलैंड में १८१६ ई० में अपनाया गया था तथा बीसवीं शताब्दी में इस मान को विशेष सम्मान प्राप्त था। वर्तमान शताब्दी में 'तीसा' के युग में खण्डन होने के पूर्व स्वर्णमान संसार के सभी देशों में विद्यमान था। यद्यपि इंगलैण्ड में स्वर्णमान को १९वीं शताब्दी के आरम्भ में अपनाया गया था परन्तु सामान्य रूप से संसार के अन्य देशों में लगभग १८७० ई० तक द्विधातुमान संचलनशील था। १८७० ई० के पश्चात् संसार के देशों में स्वर्णमान को अपनाने का क्रम आरम्भ हुआ था तथा १९वीं शताब्दी के अन्त तक संसार में केवल चीन तथा मेक्सिको को छोड़कर शेष सभी देशों में स्वर्ण मुद्रामान चलनशील हो गया था।

स्वर्णमान २० वीं शताब्दी में प्रथम महायुद्ध के पूर्व संसार के लगभग सभी देशों में प्रचलित था। परन्तु प्रथम महायुद्ध के कारण संसार के देशों की मुद्रा प्रणालियों को काफी धक्का पहुँचा था। युद्ध काल में युद्ध पर अत्याधिक खर्चा होने के कारण प्रत्येक देश में संचलन में मुद्रा की मात्रा में इतनी अधिक वृद्धि हो गई थी कि स्वर्णमान देशों की सरकारों के लिये स्वर्णमान के नियमों का पालन करना कठिन हो गया था। अतः अधिकांश देशों ने युद्ध काल में स्वर्णमान का परित्याग करके अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा को अपना लिया था। युद्ध के पश्चात् स्वर्णमान को पुनः अपनाने के प्रयास किये गये तथा स्वर्णमान को पुनः अपनाने का क्रम १९१९ ई० से लेकर १९२८ ई० तक विद्यमान रहा था। प्रत्येक वर्ष कोई न कोई देश स्वर्णमान देशों की सूची में शामिल हो जाता था। परन्तु इन प्रयासों में समानता का अभाव होने के कारण कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी तथा अन्तिम परिणाम के रूप में १९३६ ई० के पश्चात् स्वर्णमान का खण्डन होकर इसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों के बीच के काल का मौद्रिक इतिहास सफल तथा असफल प्रयासों के वर्णन का मिश्रण है।

स्वर्णमान की परिभाषा

स्वर्णमान का सम्बन्ध उस स्थिति से है जिसमें देश की मुद्रा इकाई प्रामाणिक सिक्कों के रूप में स्वर्ण की बनी होती है अथवा निर्धारित शुद्धता के स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। स्वर्णमान में देश की मुद्रा इकाई का मूल्य निश्चित शुद्धता के स्थिर स्वर्ण भार के रूप में निर्धारित कर दिया जाता है। रोबर्टसन के अनुसार "स्वर्णमान वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत कोई देश अपनी मुद्रा इकाई का मूल्य और स्वर्ण के एक निश्चित भार का मूल्य समान बनाये रखता है।"[1] कैमरर के विचारानुसार "स्वर्णमान वह मुद्रामान है जिसमें सभी प्रकार की वस्तुओं के मूल्य, मजदूरी तथा ऋण उस मुद्रा इकाई में निर्धारित किये जाते हैं और इनका भुगतान उस मुद्रा में किया जाता है जिसका मूल्य खुले स्वर्ण बाजार में स्वर्ण की निर्धारित मात्रा के बराबर होता है।"[2] कौलबोर्न ने स्वर्णमान का वर्णन करते हुए लिखा है कि "स्वर्णमान उस अवस्था को कहते हैं जिसके अन्तर्गत देश की प्रधान मुद्रा इकाई स्वर्ण की एक निर्धारित मात्रा में बदली जा सकती है"[3] क्राउथर के विचारानुसार "स्वर्णमान विनिमय दरों में स्थिरता प्राप्त करने की विधि है।"[4]

स्वर्णमान की उपरोक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि स्वर्णमान में स्वर्ण मूल्यमापक का कार्य करता है तथा इस मान में देश की मुद्रा इकाई या तो स्वर्ण की बनी होती है अथवा इसका मूल्य निर्धारित शुद्धता वाले स्वर्ण की निश्चित मात्रा के रूप में निर्धारित कर दिया जाता है। स्वर्णमान देश में स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों पर प्रतिबन्ध नहीं होता है तथा सरकार निर्धारित मूल्य पर स्वर्ण का क्रय-विक्रय करती है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण मुद्रामान में स्वर्ण की खुली सिक्का ढलाई होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्वर्णमान (International and Domestic Gold Standard)

स्वर्णमान के दो प्रमुख कार्य हैं। प्रथम, स्वर्णमान देश में स्वर्ण संचलन में मुद्रा की मात्रा के नियमन का एक मात्र साधन होना चाहिए। दूसरे, स्वर्णमान को विनिमय दर स्थिरता को सदा बनाये रखना चाहिए। प्रथम कार्य का सम्बन्ध देश की मुद्रा इकाई के आन्तरिक मूल्य (internal value) की स्थिरता और दूसरे कार्य का सम्बन्ध देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य (external value) की स्थिरता से है। क्राउथर के विचारानुसार वह स्वर्णमान जो केवल प्रथम कार्य को सम्पन्न करता है राष्ट्रीय अथवा घरेलू स्वर्णमान कहलाता है और जो केवल दूसरे कार्य को सम्पन्न करता है वह अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान कहलाता है। "राष्ट्रीय अथवा घरेलू स्वर्णमान की प्रमुख विशेषता यह है कि देश में मुद्रा की मात्रा और स्वर्ण निधि के बीच एक स्थिर आनुपातिक सम्बन्ध सरकारी अधिनियम द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की प्रमुख विशेषता

---

1. "God standard is a state of affair in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another" (D. H Robertson : *Money* p. 97.)
2: "The gold standard is a monetary system in which the unit of value in which prices and wages are customarily expressed, and in which debts are usually contracted, consists of value of a fixed quantity of gold in an essentially free gold market." (E. W. Kemmerer : *The Gold Standard—Its Nature and Future*, p. 5.)
3. "Gold Standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangable with a fixed quantity of gold of a specific quality." (W. A. L. Coulborn *An Introduction of Money*, p. .17.)
4. "Gold Standard is a device for maintaining the stability of exchange rates." (Crowther *An Outline of Money*, revised edition, p. 277.)

यह है कि देश की मुद्रा इकाई पूर्ण रूप से स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है, अर्थात् देश की मुद्रा इकाई तथा स्वर्ण के निर्धारित भार के बीच एक स्थिर आनुपातिक सम्बन्ध होता है।"[5]

यद्यपि सामान्यतः स्वर्णमान के सभी रूपों—स्वर्ण मुद्रा मान, स्वर्ण धातुमान तथा स्वर्ण विनिमय मान—में स्वर्णमान के उपरोक्त दोनों कार्य एक साथ विद्यमान होते हैं परन्तु ऐसा होना सदा आवश्यक नहीं है। यह सम्भव है कि कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को अपनाये बिना राष्ट्रीय स्वर्णमान को अपनाये हुये हो। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि देश में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान राष्ट्रीय स्वर्णमान की अनुपस्थिति में विद्यमान हो। उदाहरण के लिए, इंगलैंड ने जब १९३१ ई० में स्वर्णमान का परित्याग किया था तब यद्यपि बैंक ऑफ इंगलैंड पौंड-स्टर्लिंग को किसी एक निश्चत दर पर सोने में बदलने के लिए बाध्य नहीं था परन्तु यह होते हुये भी मुद्रा और बैंक नोट अधिनियम (Currency and Bank Notes Act) के अनुसार बैंक ऑफ इंगलैण्ड का संचलन में मुद्रा की मात्रा पर स्वर्णनिधि के आधार पर नियन्त्रण रखना एक आवश्यक कार्य था। दूसरे शब्दों में, यद्यपि इंगलैंड ने १९३१ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को त्याग दिया था परन्तु देश में राष्ट्रीय स्वर्णमान विद्यमान था और मुद्रा की पूर्ति का प्रचालन स्वर्णनिधि द्वारा निर्धारित होता था। इसी प्रकार संचलन में देश की मुद्रा तथा स्वर्ण निधि के बीच स्थिर सम्बन्ध हुए बिना यह सम्भव है कि मुद्रा इकाई पूर्णतया स्वर्ण में परिवर्तनशील हो। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय स्वर्णमान की अनुपस्थिति में किसी देश में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की उपस्थिति सम्भव है। उदाहरण के लिए, फ्रांस में १९१४ ई० के पूर्व यद्यपि फ्रेंक स्वर्ण में पूर्णतया परिवर्तनशील था परन्तु देश की मुद्रा और स्वर्ण के बीच इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं था जो राष्ट्रीय स्वर्णमान में विद्यमान होना चाहिए।

राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ तथा हानियाँ

राष्ट्रीय स्वर्णमान की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। प्रथम, इस मान में स्वर्ण मुद्रा प्रचालन का आधार होने के कारण जनता में इस मान के प्रति अधिक विश्वास होता है। इसमें अत्यधिक नोट प्रचालन का भय नहीं होता है क्योंकि संचलन में मुद्रा की मात्रा तथा स्वर्ण कोषों में स्थिर आनुपातिक सम्बन्ध होता है। मुद्रा अधिकारी देश में स्वर्ण निधि में वृद्धि किये बिना अधिक मुद्रा का प्रचालन नहीं कर सकता है। दूसरे, इस मान में स्वयं संचालकता का गुण होता है। मुद्रा तथा स्वर्ण के मध्य स्थिर सम्बन्ध होने के कारण स्वर्ण आयातों तथा निर्यातों के द्वारा संचलन में मुद्रा की मात्रा में स्वयं वृद्धि तथा कमी हो जाती है।

स्वर्णमान की इस विशेषता के कारण अर्थशास्त्रियों ने स्वर्णमान को स्वयं-संचालित मान कहा है। स्वर्णमान में अनुकूल तथा प्रतिकूल भुगतान-शेष की समस्या सरकारी हस्तक्षेप के बिना स्वर्ण आयातों तथा निर्यातों द्वारा समाप्त हो जाती है। किसी स्वर्ण मान देश के प्रतिकूल भुगतान-शेष को समाप्त करने के लिए देश से अधिक वस्तु-आयातों के भुगतान में स्वर्ण का निर्यात किया जायेगा। इससे देश में स्वर्ण कोष में कमी हो जावेगी। स्वर्ण कोष तथा मुद्रा प्रचालन में स्थिर सम्बन्ध होने के कारण देश में संचलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जावेगी। फलस्वरूप देश में आय, रोजगार, उत्पादन और कीमतों में कमी हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि देश के निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी हो जावेगी। प्रतिकूल भुगतान-शेष अनुभव करने वाले स्वर्णमान देश के आयातों में कमी तथा निर्यातों में वृद्धि स्वर्ण निर्यातों के कीमत तथा आय प्रभावों के परिणाम-

---

5. G. Crowther : *op. cit.*, p. 284.

स्वरूप होती है। प्रथम, स्वर्ण निर्यातकर्ता देश में कीमतों में कमी होने के कारण (जब तक हम यह कल्पना न करें कि देश के निर्यातों की मांग बेलोचदार है) देश के निर्यातों में वृद्धि हो जावेगी। दूसरे, देश में कीमतों तथा रोजगार में गिरावट होने के हेतु लोगों की आयों में कमी हो जाती है। परिणामस्वरूप कुल उपभोग-व्यय में कमी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयातों की माँग में भी कमी (जब तक हम यह न मानें कि आयातों की माँग आय निरपेक्ष है) हो जाती है। निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी होने के द्वारा देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूल स्थिति स्वयं शीघ्र समाप्त हो जावेगी। इसके विपरीत स्वर्ण का आयात करने वाले स्वर्णमान देश में संचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जावेगी जिसके फलस्वरूप देश में कीमतों तथा लोगों की आयों में वृद्धि हो जायेगी। कीमतों में वृद्धि होने के कारण देश के निर्यातों में कमी हो जावेगी तथा लोगों की आयों में वृद्धि होने के कारण कुल उपभोग में वृद्धि होने के कारण देश के आयातों में वृद्धि हो जावेगी। स्वर्ण प्राप्तकर्ता देश के निर्यातों में कमी और आयातों में वृद्धि होने के कारण भुगतान-शेष की अनुकूल स्थिति समाप्त हो जावेगी। संक्षेप में स्वर्णमान में स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों द्वारा स्वर्ण-आयातकर्ता देश में स्फीति तथा स्वर्ण-निर्यातकर्ता देश में अवस्फीति विद्यमान होने के कारण दोनों स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता समाप्त हो जाती है और भुगतान-शेष पुनः सन्तुलन को प्राप्त हो जाते हैं। स्वर्णमान की इस क्रिया की व्याख्या से ज्ञात होता है कि स्वर्णमान में स्वयं संचालकता का गुण है।

तीसरे, राष्ट्रीय स्वर्णमान में स्वर्ण मुद्रा प्रचालन का आधार होने के कारण, मूल्य स्तर में स्थिरता बनी रहती है। यह तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि संसार में स्वर्ण के उत्पादन में बहुत अधिक उच्चावचन नहीं होते हैं तथा किसी वर्ष-विशेष का कुल उत्पादन संसार में स्वर्ण के कुल उपलब्ध स्टाक का इतना कम प्रतिशत भाग होता है कि स्वर्ण के उत्पादन में भारी परिवर्तन होने पर भी स्वर्ण के कुल स्टाक पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है।

राष्ट्रीय स्वर्णमान में कुछ गम्भीर दोष हैं। प्रथम, राष्ट्रीय स्वर्ण मान में देश की मुद्रा प्रणाली स्थिति-निरपेक्ष बन जाती है। मुद्रा की मात्रा में राष्ट्रीय आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार वृद्धि करना कठिन होता है। युद्ध अथवा आर्थिक संकट की स्थिति का सामना करने के लिए मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करना अनिवार्य होता है। परन्तु स्वर्णमान में ऐसा केवल स्वर्ण निधि में उपयुक्त वृद्धि करके ही सम्भव हो सकता है। यदि कोई देश अपनी अर्थव्यवस्था को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से आर्थिक नियोजन, जिसमें देश की सरकार को आर्थिक विकास योजनाओं पर घनी धनराशि व्यय करनी पड़ती है, करना चाहता है तो स्वर्णमान में ऐसा करना कठिन होता है। राष्ट्रीय स्वर्ण मान में मौद्रिक प्रबन्धन का कोई स्थान नहीं है तथा मुद्रा अधिकारी आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं कर सकता है। यही कारण है कि युद्ध के समान राष्ट्रीय संकट के असाधारण समय में स्वर्णमान देशों की सरकारों को स्वर्णमान का परित्याग करने के लिये विवश होना पड़ा है। इसी कारण राष्ट्रीय स्वर्ण मान को एक अनुकूल परिस्थिति मित्र कहा गया है। जार्ज हॉम (George N. Halm) ने स्वर्ण मान की एक ऐसी कमजोर नाव से तुलना की है जो यद्यपि शान्त समुद्र पर चल सकती है परन्तु तूफान की प्रतिकूल स्थिति में तत्काल टूट जाती है।

यद्यपि स्वर्ण मान शान्ति-काल में ठीक प्रकार से कार्य करता है परन्तु युद्ध अथवा आर्थिक संकट की असाधारण स्थिति में यह मान अपना कार्य करने में असफल रहता है। वर्तमान शताब्दी के प्रथम ४० वर्षों का आर्थिक इतिहास (स्वर्ण मान संसार के अधिकांश देशों में भिन्न रूपों में इस काल में विद्यमान था) इस सत्य की पुष्टि करता है कि जब-जब संसार को युद्ध तथा आर्थिक संकट

का सामना करना पड़ा है तब तब स्वर्ण मान का खण्डन हुआ है। उदाहरण के लिए, १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने के उपरान्त स्वर्णमान का खण्डन हो गया था। १९१४ ई० से लेकर १९१९ ई० तक संसार के सभी स्वर्णमान देशों को इस मान का परित्याग करना पड़ा था क्योंकि युद्ध की असाधारण स्थिति में कुशल स्वर्णमान देश के लिये स्वर्णमान के नियमों का पालन करना कठिन हो जाता है। सफलतापूर्वक युद्ध लड़ने के लिए इतनी अधिक युद्ध सामग्री की आवश्यकता पड़ती है कि सरकार को विवश होकर संचलन में अधिक मुद्रा का प्रचालन करना पड़ता है। स्वर्णमान में ऐसा करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक सरकार संचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने के अनुपात में स्वर्ण कोष का विस्तार न करे। परन्तु युद्ध काल में सरकार का खर्च इतना अधिक बढ़ जाता है कि स्वर्ण कोष का विस्तार करना सम्भव नहीं होता है और विवश होकर स्वर्ण मान का परित्याग करके सरकार को अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा प्रचालन का सहारा लेना पड़ता है।

दूसरे, स्वर्णमान की स्वर्ण-संचालकता तथा मुद्रा की मात्रा और स्पर्श कोषों के मध्य स्थिर सम्बन्ध का तात्पर्य यह नहीं है कि स्वर्णमान में मुद्रा की मात्रा स्थिर बनी रहती है। स्वर्ण-मान की स्वयं संचालकता का अर्थ यह है कि स्वर्ण कोषों में वृद्धि अथवा कमी होने के परिणाम-स्वरूप मुद्रा की मात्रा में स्वयं आनुपातिक वृद्धि अथवा कमी हो जाती है। स्वर्णमान में स्वर्ण कोषों तथा कुल राष्ट्रीय द्रव्य आवश्यकता के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं होता है। स्वर्ण की किसी नई खान की खोज होने के कारण स्वर्ण की पूर्ति में वृद्धि होने के फलस्वरूप स्वर्णमान देश में संचलन में द्रव्य की मात्रा में भी वृद्धि हो जावेगी। फलस्वरूप देश में स्फोति उत्पन्न हो जावेगी। इसके विपरीत स्वर्ण की पूर्ति में कमी होने के कारण देश में अवस्फीति की समस्या उत्पन्न हो जावेगी। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वर्णमान में अर्थव्यवस्था को स्वर्ण के उत्पादन में होने वाले उच्चावचनों के गम्भीर परिणामों—स्फीति तथा अवस्फीति—को सहन करना पड़ता है तथा देश की अर्थव्यवस्था समय-समय पर अस्त-व्यस्त होती रहती है।

तीसरे, राष्ट्रीय स्वर्णमान देश में कीमत-अस्थिरता की जटिल समस्या को जन्म देता है। देश की मुद्रा इकाई का मूल्य स्वर्ण की स्थिर मात्रा के रूप में निर्धारित होने के कारण कीमत स्तर में स्वर्ण के आकार में उच्चावचन होने के साथ-साथ उच्चावचन होते रहते हैं। किसी नई स्वर्ण खान की खोज होने अथवा पुरानी खान के बन्द होने, स्वर्ण उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन होने तथा संसार में भिन्न देशों के मध्य स्वर्ण के वितरण में परिवर्तन होने का प्रभाव देश में कीमत स्तर पर पड़ता है। यद्यपि यह कहना काफी अंश तक सत्य है कि संसार में स्वर्ण का कुल मौद्रिक स्टाक सापेक्ष रूप से स्थिर रहता है क्योंकि कुल वार्षिक उत्पादन इस कुल मौद्रिक स्टाक का बहुत थोड़ा भाग होता है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी एक देश का स्वर्ण स्टाक भी स्थिर होता है। संसार में कुल स्वर्ण स्टाक स्थिर रहते हुये भी विभिन्न स्वर्ण मान देशों के मध्य कुल स्वर्ण स्टाक का पुनःवितरण हो जाने के फलस्वरूप इन देशों में कीमत अस्थिरता उत्पन्न हो सकती है। गत शताब्दी का मौद्रिक इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि राष्ट्रीय स्वर्णमान देश में संचलन में मुद्रा की पूर्ति तथा कीमत स्तर को स्थिर नहीं रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ तथा हानियाँ

स्वर्णमान के सम्पूर्ण इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान राष्ट्रीय स्वर्ण मान की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण रहा है। यह कहना गलत न होगा कि संसार में स्वर्ण मान केवल

अपने अन्तर्राष्ट्रीय रूप में विद्यमान रहा है। इस मान के महत्वपूर्ण लाभों के कारण यह मान वर्तमान शताब्दी में 'तीसा' के संकट काल में खण्डित होने के पूर्व लगभग ५० वर्ष तक संसार में संचलनशील रहा। प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान का प्रमुख लाभ यह है कि इस मान को अपनाने के परिणामस्वरूप स्वर्णमान देश को अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय माध्यम तथा मूल्यमापक प्राप्त हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के विचार को व्यावहारिकता प्रदान करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान का दूसरा प्रमुख लाभ स्वर्णमान देशों के मध्य विनिमय दर स्थिर बनाये रखने से सम्बन्धित है। जब संसार के विभिन्न स्वर्णमान देशों को मुद्रा इकाइयों का मूल्य शुद्ध स्वर्ण की स्थिर मात्रा के रूप में निर्धारित कर दिया जाता है तथा प्रत्येक स्वर्ण मान देश की सरकार इस निर्धारित मूल्य पर स्वर्ण का असीमित मात्रा में क्रय-विक्रय करती रहती है तब स्वर्णमान देशों की मुद्रा इकाइयों के मध्य स्थिर विनिमय दर द्वारा परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया जा सकता है। १९३१ ई० में मुद्रा अवमूल्यन के पूर्व इंगलैंड में पौंड-स्टर्लिंग का स्वर्णमूल्य ११३·००१५ ग्रेन स्वर्ण निर्धारित किया गया था तथा बैंक ऑफ इंगलैण्ड इस निर्धारित मूल्य पर ४०० औंस भार की स्वर्ण सिल्लियों के रूप में असीमित मात्रा में स्वर्ण बेचने के लिये बाध्य था। इसी प्रकार १९३३ ई० में डालर के अवमूल्यन के पूर्व अमरीकी डालर का स्वर्ण मूल्य २३·२२ ग्रेन स्वर्ण निर्धारित किया गया था। प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में पौंड-स्टर्लिंग तथा डालर के मध्य विनिमय दर क्या होगी? उत्तर बहुत सरल है। पौंड-स्टर्लिंग तथा अमरीकी डालर के मध्य वही विनिमय अनुपात होगा जो ११३·००१५ ग्रेन तथा २३·२२ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण के मध्य है, अर्थात् पौण्ड-स्टर्लिंग का डालर मूल्य $\frac{११३·००१५}{२३·२२}$ = ४·८६६५ अमरीकी डालर होगा।

पौंड-स्टर्लिंग तथा अमरीकी डालर के मध्य १ पौण्ड-स्टर्लिंग = ४·८६६५ डालर की विनिमय दर स्थिर रहेगी। इस दर में केवल उसी स्थिति में परिवर्तन हो सकते हैं जब डालर अथवा पौण्ड-स्टर्लिंग के स्वर्ण-मूल्य में कोई परिवर्तन होगा। दूसरे शब्दों में, जब तक डालर तथा पौण्ड-स्टर्लिंग का स्वर्ण-मूल्य स्थिर है उस समय तक इन दोनों मुद्राओं के मध्य स्वर्ण के आधार पर स्थापित विनिमय दर भी स्थिर रहेगी।

परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में इस विनिमय दर स्थिरता का क्या महत्व है? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थिर विनिमय दरों का वही महत्व है जो बाजार में वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने के लिये स्थिर कीमतों का होता है। स्थिर विनिमय दरें सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास तथा अल्प तथा दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय निवेश पूंजी की व्यवस्थित गतियों के लिये आवश्यक होती हैं। अन्तर्युद्ध काल का मौद्रिक इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है कि विनिमय दरों में होने वाले उच्चावचन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्बन्धों के विकास के लिये घातक सिद्ध होते हैं। अस्थिर विनिमय दरों के युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वित्तीय लेन-देन जुआ मात्र बन जाता है। आयातकर्ताओं, निर्यातकर्ताओं, ऋणियों तथा ऋणदाताओं को विनिमय दर अस्थिरता से उत्पन्न होने वाली भारी जोखिम सहन करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त स्थिर विनिमय दरों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को स्थिर बनाये रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घकालीन ऋणों के प्रवाह को अस्त-व्यस्त न होने देने में कितना अधिक महत्व है, यह इस सत्य से भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग द्वारा सीमित विनिमय दर स्थिरता

को प्राप्त करने के हेतु संसार के देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को स्थापित किया था तथा आज इस संस्था की सदस्यता १२० से अधिक हो गई है।

तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में भिन्न स्वर्ण मान देशों में कीमत स्तरों के मध्य सम्बन्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान में मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली विद्यमान होने के कारण सभी स्वर्णमान देशों में वस्तुओं की कीमतें समान होती हैं। यदि किसी समय कीमतें एक देश में कम तथा दूसरे देश में अधिक होती हैं तो कीमतों में यह भिन्नता स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों के माध्यम द्वारा समाप्त हो जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के उपरोक्त लाभों का अभिप्राय यह नहीं है कि यह मान दोष-रहित है। प्रथम, इस मान में अवस्फीति (deflation) की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यद्यपि स्वर्ण निर्यातकर्ता देश में संचलन में मुद्रा तथा साख मुद्रा की मात्रा में कमी होने के फलस्वरूप अवस्फीति उत्पन्न हो जाती है परन्तु स्वर्ण आयातकर्ता देश में संचलन से मुद्रा तथा साख मुद्रा का विस्तार होना तथा इसके परिणामस्वरूप स्फीति (inflation) उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है। अन्तर्युद्ध काल का मौद्रिक इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि इंगलैण्ड से स्वर्ण का निर्यात होने के कारण इंगलैण्ड में आय अवस्फीति (income deflation) तथा बेरोजगारी उत्पन्न हो गई थी परन्तु अमरीका में स्वर्ण का आयात होने के परिणामस्वरूप स्फीति उत्पन्न नहीं हुई थी। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि स्वर्णगतियों की क्रिया एकतरफा होती है तथा इसमें अवस्फीति की प्रवृत्ति होती है। जॉन० एच० विलियम्स के विचारानुसार[6] स्वर्णमान में विद्यमान इस अवस्फीति प्रवृत्ति के दो कारण हैं। प्रथम कारण यह है कि सभी स्वर्ण-मान देशों के लिये भुगतान-शेष का समान आर्थिक महत्व नहीं होता है। जिन देशों की अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी व्यापार का अधिक महत्व होता है अर्थात् जिन देशों की राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग निर्यातों द्वारा प्राप्त होता है उन देशों के लिये भुगतान-शेष का बहुत महत्व होता है। इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड, इटली, डेनमार्क, बेलजियम, न्यूजीलैण्ड आदि ऐसे देशों का उदाहरण दिया जा सकता है जिनकी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास विदेशी व्यापार पर आधारित है तथा जिन देशों में विदेशी व्यापार से प्राप्त आय कुल राष्ट्रीय आय का बहुत अधिक अनुपात होती है। इसके विपरीत अमरीका, रूस, चीन तथा भारत के समान विशाल देशों की राष्ट्रीय आय में विदेशी व्यापार द्वारा प्राप्त आय का इतना अधिक महत्व नहीं है तथा इस कारण इन देशों के लिये भुगतान-शेष का महत्व भी कम होगा। दूसरा कारण यह है कि सभी देशों का आर्थिक दृष्टि से समान आकार नहीं होता है। स्वर्णमान सिद्धान्त समान आकार वाले देशों के मध्य परस्पर कार्य के सिद्धान्त की मान्यता पर आधारित था। प्रोफेसर विलियम्स के इस कथन को इंगलैण्ड तथा अमरीका का उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। इंगलैण्ड की तुलना में अमरीका बहुत अधिक विशाल देश है। इस कारण इंगलैण्ड से जब स्वर्ण का निर्यात होता है तो छोटा देश होने के कारण इसका प्रभाव संचलन में कुल मुद्रा की मात्रा पर अधिक पड़ता है। परन्तु इसके विपरीत अमरीका में इस स्वर्ण का आयात होने के कारण संचलन में कुल मुद्रा की मात्रा पर कम आनुपातिक प्रभाव पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्वर्ण निर्यातों के फलस्वरूप इंगलैण्ड में अवस्फीति उत्पन्न हो जावेगी परन्तु अमरीका में बहुत कम स्फीति विद्यमान होगी। ऐसी स्थिति में भुगतान-शेष में सन्तु-

---

6. John H. Williams : "The Adequacy of Existing Currency Mechanism Under Varying Circumstances," *American Economic Review*, March 1937, supplement, p. 154.

लन स्थापित करने का अधिकांश भार केवल इंगलैण्ड के समान छोटे देश को सहन करना पड़ेगा तथा सन्तुलन का क्रम एकतरफा होने के कारण सन्तुलन स्थापित होने में अधिक समय लगेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का दूसरा दोप यह है कि किसी स्वर्णमान देश में स्फीति तथा अवस्फीति उत्पन्न हो जाने पर अन्य स्वर्णमान देशों को भी इस संकट का सामना करना पड़ता है। परिणामस्वरूप इन देशों की अर्थव्यवस्थायें भी अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। प्रोफेसर विलियम्स ने स्वर्णमान के इस दोप को व्यक्त करते हुये लिखा है कि "स्वर्णमान समय समय पर एक देश से दूसरे देश में मन्दी तथा अभिवृद्धि को फैलाने का उत्तम साधन रहा है।"[7]

तीसरे, स्वर्णमान इतना अधिक स्वयं-संचालक मान नहीं है जितना कि इसके समर्थकों का विश्वास है। युद्ध-पश्चात स्वर्णमान में स्वयं-संचालकता का भारी अभाव था। यदि यह मान भी लिया जावे कि स्वर्णमान एक स्वयं-संचालक मान है तो भी वास्तविकता यह है कि स्वर्णमान की यह स्वयं-संचालकता स्वर्णमान देशों की आर्थिक स्थिरता के लिये घातक सिद्ध होती है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जावे कि स्वर्णमान देशों की केन्द्रीय बैंक स्वर्णमान के नियमों का पालन करने के लिये तैयार है तो भी वे साख-मुद्रा संकुचन की स्थिति में उत्पादन लागत तथा कीमतों में गिरावट तथा साख मुद्रा विस्तार की स्थिति में उत्पादन लागत तथा कीमतों में वृद्धि उत्पन्न करने में अयोग्य सिद्ध हो सकती है। इस सम्बन्ध में मैक्मिलन समिति[8] (Macmillan Committee) ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि "वर्तमान संसार में जहाँ एक ओर स्वर्ण-आयातों को निष्फल करके इनको साख मुद्रा का विस्तार करने से रोकने की घनी सम्भावना उपस्थित है तथा दूसरी ओर कुछ सामाजिक कारणों से साख-मुद्रा अवस्थिति को द्रव्य मजदूरी तथा अन्य लागतों पर अपना प्रभाव डालने से रोका जाता है, सन्तुलन की पुनःस्थापना के पूर्व ही स्वर्णमान के सम्पूर्ण यन्त्र का खण्डन होना स्वाभाविक है।"[9] स्फीति तथा अवस्फीति के भयानक आर्थिक संकट, जो स्वर्णमान की स्वयंसंचालकता का परिणाम होते हैं, स्वर्णमान देश की सरकार के लिये आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अस्थिरता की समस्या उत्पन्न कर देते हैं।

चौथे, स्वर्णमान में विनिमय स्थिरता को प्राप्त करने के लिये देश को कीमत अस्थिरता के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ती है। स्वर्णमान में विनिमय स्थिरता तथा कीमत स्थिरता दो परस्पर असंगत बातें हैं। स्वर्णमान देशों की सरकारों को राष्ट्रीय हितों के अनुसार राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों को कार्यान्वित करने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है। स्वर्णमान देश की मौद्रिक नीतियों को स्वर्णमान के अनुकूल होना पड़ता है। स्वर्णमान देश की अर्थव्यवस्था पीले रंग के धातुरूपी देवता की दया पर आश्रित रहती है। अन्तर्युद्ध काल का अनुभव यह बताता है कि युद्धपश्चात स्वर्णमान के खण्डन होने का एक प्रमुख कारण यह था कि इसमें विनिमय स्थिरता के साथ कीमत स्थिरता को स्थान प्राप्त नहीं था।

पाँचवें, वर्तमान युग में, जब संसार का प्रत्येक देश पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक व सामाजिक न्याय को प्राप्त करने के उद्देश्य से देश की अर्थव्यवस्था में राज्य-हस्तक्षेप को आवश्यक

---

7. John H. Williams ; "The postwar Monetary Plans," *American Economic Review*, March 1944 Supplement, p. 373.
8. मैक्मिलन समिति, जिसका दूसरा नाम वित्त तथा उद्योग समिति भी है, की नियुक्ति इंगलैण्ड में एच० पी० मैक्मिलन की अध्यक्षता में १९२९ ई० में हुई थी।
9. Macmillan Committee Report, 1931, p. 108.

समझता है, स्वर्णमान एक काल भ्रम विचार है। वर्तमान राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों को स्वर्णमान के आश्रय पर कदापि नहीं छोड़ा जा सकता है।

छठे, स्वर्णमान में बहुमूल्य धातु का स्वर्णसिक्कों तथा स्वर्ण कोषों के रूप में अपव्यय होता है। प्रबन्धित मुद्रा मान को अपना कर स्वर्ण कोषों का अन्य आवश्यक कार्यों में उपयोग किया जा सकता है।

सातवें, 'तीसा' के अनुभव से यह ज्ञात होता है कि स्वर्णमान में स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थायें बहुधा अस्त-व्यस्त रहती हैं। संसार में स्वर्ण के वितरण में परिवर्तन हो जाने से स्फीति तथा अवस्फीति की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो स्वर्णमान देशों की आर्थिक स्थिरता के लिये घातक होती हैं। डो० एच० रोबर्टसन ने स्वर्णमान की आलोचना करते हुये लिखा है कि वर्तमान युग में स्वर्ण को मुद्रा के मूल्य का आधार बनाने की कल्पना करना व्यर्थ है। रोबर्टसन के अनुसार "पीली धातु, जिसको आरम्भ में मुद्रा के रूप में जंगलियों की भावना को गुदगुदाने के कारण चुना गया था, का मूल्य जिस पर हमारी मुद्रा का मूल्य तथा हमारी औद्योगिक अर्थव्यवस्था की स्थिरता आधारित है स्पष्टतया दैवयोग तथा असम्बद्ध बात है।"[10] जॉन मेनार्ड कीन्स ने भी १९२३ ई० में प्रकाशित अपनी *A Tract On Monetary Reform* शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि आधुनिक कागजी तथा साख मुद्रा के युग में प्रबन्धित मुद्रामान एक आवश्यक आवश्यकता है तथा स्वर्णमान एक बीते युग की बात है।

आठवें, स्वर्णमान में आर्थिक नियोजन का कोई स्थान नहीं है। आर्थिक नियोजन में देश की अर्थव्यवस्था का विकास करने के हेतु देश की मुद्रा प्रणाली स्थितिसापेक्ष होनी चाहिये। स्वर्णमान में स्वर्णकोषों में वृद्धि किए बिना अधिक मुद्रा का प्रचालन करना सम्भव नहीं है। आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के हेतु देश के आयातों तथा निर्यातों पर भी नियन्त्रण करना आवश्यक होता है। परन्तु ऐसा करना स्वर्णमान के नियमों के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त आर्थिक नियोजन स्वर्णमान की अबन्ध नीति (laissez faire policy) के विपरीत है। नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं में स्वर्णमान के लिए कोई स्थान नहीं है तथा स्वर्णमान में आर्थिक नियोजन के लिए कोई स्थान नहीं है। स्वर्णमान इस प्राचीन विचारधारा पर आधारित है कि वही सरकार अच्छी होती है जो न्यूनतम प्रशासन तथा व्यक्तिगत आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र में न्यूनतम हस्तक्षेप करती है। इसके विपरीत आर्थिक नियोजन में देश का सन्तुलित आर्थिक विकास करने के हेतु राज्य को वस्तुओं का उत्पादन तथा इनका आर्थिक तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार वितरण करने का अधिकार प्राप्त होता है। चार्ल्स ओ० हारडी ने आर्थिक नियोजन तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के मध्य उपस्थित तीव्र विरोध को व्यक्त करते हुए लिखा है कि स्वर्णमान सामाजिक नियन्त्रण तथा सरकारी नियोजन की दिशा में विद्यमान आधुनिक विचारधारा के साथ पूर्णतया असंगत है। यह उन लोगों के विचारों का प्रतीक है जिनके विचार में केवल वही सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम प्रशासन करती है। यद्यपि राज्य की यह विशेषता आरम्भ में एक अच्छाई विचारी जाती थी परन्तु आज यह बुराई समझी जाती है।"[11]

स्वर्ण गतियों का सिद्धान्त (Theory of Gold Movements)

स्वर्ण गतियों का सिद्धान्त स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों में सन्तुलन स्थापना की प्रतिक्रिया की व्याख्या करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों में स्वर्ण

---

10. D. H. Robertson : *Money*, p 144
11. Charles O. Hardy : *The Postwar Role Of Gold*, p 11.

गतियों—स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों—के द्वारा सन्तुलन स्थापित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कम कीमतों वाले देश में स्वर्ण का आयात होता है तथा अधिक कीमतों वाले देश से स्वर्ण का निर्यात होता है। स्वर्ण के आयात तथा निर्यात के फलस्वरूप दोनों स्वर्णमान देशों में समायोजन की प्रक्रिया क्रियाशील हो जाने के कारण कुछ समय पश्चात् दोनों देशों के भुगतान-शेषों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वर्ण आयात तथा निर्यात केवल एक साधन का कार्य करते हैं। अन्त में सन्तुलन वस्तुओं के कुल आयातों तथा कुल निर्यातों में परिवर्तनों के द्वारा स्थापित होता है।

स्वर्ण मान देशों के भुगतान-शेषों में सन्तुलन स्थापित होने की प्रक्रिया को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मानलीजिए कि **क** तथा **ख** दो स्वर्णमान देश हैं तथा **क** देश का भुगतान-शेष **ख** देश के भुगतान-शेष के सम्बन्ध में प्रतिकूल है। इसका अर्थ यह है **क** देश **ख** देश से अधिक धनराशि की वस्तुएँ तथा सेवाएँ आयात तथा **ख** देश को कम धनराशि की वस्तुयें तथा सेवायें निर्यात कर रहा है। **ख** देश में स्थिति इसके विपरीत है—**ख** देश **क** देश को अधिक निर्यात तथा **क** देश से कम आयात कर रहा है। ऐसी स्थिति में **क** देश को अपने भुगतान-शेष में घाटे के बराबर **ख** देश को शुद्ध भुगतान करना है तथा **क** देश **ख** देश को यह भुगतान स्वर्ण का निर्यात करके करता है। **क** देश से स्वर्ण का निर्यात होने का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि **क** देश में संचलन में मुद्रा की मात्रा में कमी तथा **ख** देश में स्वर्ण का आयात होने के फल-स्वरूप संचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसका प्रभाव यह होता है कि **क** में अव-स्फीतिप्रवृत्ति तथा **ख** में स्फीति-प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। **क** में वस्तुओं की कीमतों, रोजगार तथा आयों में गिरावट तथा **ख** में कीमतों, आयों तथा रोजगार में वृद्धि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि **क** देश के आयातों में कमी तथा निर्यातों में वृद्धि तथा **ख** देश के आयातों में वृद्धि तथा निर्यातों में कमी हो जाती है। ऐसा होने से **क** देश के भुगतान-शेष में प्रतिकूलता तथा **ख** देश के भुगतान-शेष में अनुकूलता समाप्त होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। कुछ समय पश्चात **क** के भुगतान-शेष में अर्थव्यवस्था में अवस्फीति-प्रतिक्रिया तथा **ख** के भुगतान-शेष में अर्थव्यवस्था में स्फीति-प्रक्रिया के द्वारा सन्तुलन स्थापित हो जाता है। एक ओर **क** के निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी तथा दूसरी ओर **ख** के आयातों में वृद्धि तथा निर्यातों में कमी स्वर्ण गतियों द्वारा उत्पन्न कीमत-प्रभाव (price-effect) तथा आय प्रभाव (income-effect) का परिणाम है।

इसके अतिरिक्त **क** में मुद्रा संकुचित हो जाने से **क** की अर्थव्यवस्था में दुर्लभ मुद्रा स्थिति उत्पन्न हो जावेगी तथा ब्याज की दर में वृद्धि हो जावेगी। इसके विपरीत **ख** में मुद्रा का विस्तार होने के कारण **ख** की अर्थव्यवस्था में सुलभ मुद्रा स्थिति विद्यमान हो जावेगी तथा ब्याज की दर में कमी हो जावेगी। **ख** में ब्याज की दर में कमी होने के फलस्वरूप **ख** से पूँजी का निर्यात होगा तथा इसका **क** में आयात होगा। **क** में पूँजी के आयात का भुगतान-शेष में सन्तुलन की दृष्टि से वही महत्व है जो निर्यातों का है तथा **ख** से पूँजी के निर्यात का उस देश के भुग-तान-शेष के सन्तुलन पर वही प्रभाव होगा जो आयातों का होता है। पूँजी की इस गति का दोनों देशों के भुगतान-शेषों के सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा तथा सन्तुलन शीघ्र स्थापित हो जावेगा। इस प्रकार स्वर्णमान में दोनों देशों के भुगतान-शेषों में सन्तुलन स्वर्ण गतियों द्वारा उत्पन्न कीमत-प्रभाव,आय-प्रभाव तथा ब्याज-प्रभाव के परिणामस्वरूप स्थापित होता है।

स्वर्ण गतियों का सिद्धान्त इस सत्य की ओर संकेत करता है कि स्वर्णमान में स्वर्ण गतियों के द्वारा उत्पन्न प्रभावों के परिणामस्वरूप स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों में सन्तुलन

स्वयं पुनः स्थापित हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि अनुकूल भुगतान-शेष वाले देश को स्फीति—कीमतों, आयों तथा रोजगार में वृद्धि—कम ब्याज की दर इत्यादि आर्थिक घटनाओं तथा प्रतिकूल भुगतान-शेष-शेष वाले देश को अवस्फीति—कीमतों तथा आयों में कमी, बेरोजगारी—तथा अधिक ब्याज की दर इत्यादि आर्थिक घटनाओं को सहन करना पड़ता है।

स्वर्णगतियों के क्रियाशील होने के लिये आवश्यक बातें

स्वर्णगतियों के क्रियाशील होने के लिये स्वर्णमान देशों में निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का होना आवश्यक है।

(१) स्वर्णमान देशों के लिये स्वर्णमान के नियमों का पालन करना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वर्णमान देश की सरकार को स्वर्णगतियों के कार्य में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। सरकार को अबन्ध नीति का पालन करना चाहिये। स्वर्णमान देशों के मुद्रा प्राधिकारियों तथा केन्द्रीय बैंकों को स्वर्णगतियों के प्रति हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाना चाहिये। इस नीति का व्यावहारिक अर्थ यह है कि संसार में स्वर्णमान देशों के मध्य उनकी आवश्यकतानुसार स्वर्ण का इस प्रकार वितरण होना चाहिये कि स्वर्ण निर्यात करने वाले देश में मुद्रा तथा साख मुद्रा की मात्रा में कमी तथा स्वर्ण प्राप्त अथवा आयात करने वाले देश में संचलन में मुद्रा तथा साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जावे। दूसरे शब्दों में, स्वर्ण आयातों तथा स्वर्ण निर्यातों के फलस्वरूप स्वर्णमान देशों में मुद्रा का संकुचन तथा विस्तार हो जाना चाहिये। स्वर्ण मान में स्वर्ण बन्ध्यता (sterilisation) की नीति का कोई स्थान नहीं है।

(२) स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेष सन्तुलन में रहने चाहिये जिससे कि बड़े पैमाने पर स्वर्ण के आयात तथा निर्यात करने की आवश्यकता उत्पन्न न हो और स्वर्णमान देशों की मुद्रा प्रणालियों में अस्थिरता न आवे क्योंकि यदि किसी स्वर्णमान देश के भुगतान-शेष में भारी घाटा है तब यह सम्भव है कि इस भारी घाटे को समाप्त करने के प्रयास में देश के समस्त स्वर्ण कोष समाप्त हो जायें और वह देश स्वर्णमान का परित्याग करने के लिये विवश हो जाये।

(३) स्वर्णमान देशों को एक दूसरे से स्वर्णमान का परित्याग किये बिना अल्पावधि ऋण प्राप्त करने की सुविधा होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में स्वर्णमान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय ऋण बाजार स्थापित होना चाहिये जहाँ से ऋणी देश ऋणदाता देश से ऋण प्राप्त करके अपने भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त कर सके।

(४) स्वर्णमान देशों में राजनीतिक स्थिरता होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान देशों में एक दूसरे के प्रति विश्वास और दया भाव की भावना होनी चाहिये जिससे कि अनार्थिक कारणों से स्वर्ण का एक देश से दूसरे देश को अनावश्यक स्थानान्तरण न होने पावे। उदाहरणार्थ, यदि किसी स्वर्णमान देश का निवेशकर्ता पूँजी का स्थानान्तरण अन्य देशों को जहाँ राजनीतिक स्थिति स्थिर है, कर देते हैं तब निवेशकर्ताओं के ऐसा करने के कारण भारी मात्रा में स्वर्ण देश से बाहर जाने लगता है तथा देश के भुगतान-शेष में प्रतिकूलता उत्पन्न हो जाती है जो स्वर्णमान के लिये घातक सिद्ध हो सकती है।

(५) स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाएँ लचीली और स्पर्धात्मक होनी चाहिये जिससे की स्वर्णकोषों में थोड़ा सा परिवर्तन होने का प्रभाव तुरन्त स्वर्णमान देश में वस्तुओं की कीमतों, आयों और वस्तुओं की उत्पादन लागतों पर पड़ सके। इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण निर्यातकर्त्ता

देश को अवस्फीति तथा स्वर्ण प्राप्तकर्त्ता देश को स्फीति को स्वीकार करना चाहिये। इसके लिये स्वर्णमान देशों में अनुकूल संस्थानिक स्थिति उपस्थित होना अनिवार्य है। स्वर्णमान देश की मजदूरी नीति लचीली होनी चाहिये तथा श्रम संघों के लिये मजदूरी दरों में हुई उस कमी के विरुद्ध जो स्वर्ण निर्यातों अथवा प्रतिकूल भुगतान-शेष के कारण हुई है आन्दोलन करने का कोई स्थान नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो समायोजन प्रक्रिया में बाधा पड़ जावेगी तथा सन्तुलन स्थापित करने का भार अत्याधिक हो जाने के कारण देश की सरकार स्वर्णमान की यन्त्रकला के प्रति विश्वास समाप्त हो जावेगा। इसके लिये स्वर्णमान देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग उपस्थित होना अतिआवश्यक है।

अन्तयु द्ध काल में स्वर्णमान देशों द्वारा स्वर्णमान के नियमों का पालन न करने के फलस्वरूप स्वर्ण की गतियों तथा इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले परिणामों में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो गई थीं। एक ओर स्वर्ण का निर्यात होने के कारण ऋणी स्वर्णमान देशों को अवस्फीति का सामना करना पड़ रहा था परन्तु दूसरी ओर ऋणदाता स्वर्णमान देशों में स्वर्ण आयातों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्फति को स्वर्ण बन्ध्यता (gold sterilisation) नीति को अपनाकर विद्यमान होने से रोका जा रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि भुगतान-शेष में असन्तुलन समाप्त करने का भार दो तरफा न होकर केवल एकतरफा हो गया तथा सारा भार केवल ऋणी स्वर्णमान देशों को सहन करना पड़ा। ऐमी स्थिति में ऋणी स्वर्णमान देशों के समक्ष स्वर्णमान का परित्याग करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था।

(६) स्वर्णमान देशों के बीच मुक्त व्यापार होना चाहिये। प्रथम महायुद्ध के पश्चात स्वर्णमान के खण्डन होने का प्रमुख कारण स्वर्णमान देशों द्वारा मुक्त व्यापार नीति का उल्लंघन करना था।

(७) स्वर्णमान देशों में स्वर्णसमता दरें स्थिर होनी चाहिये तथा लोगों को स्वर्णमान देश के प्रति विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने में विश्वास होना चाहिये। संक्षेप में, स्वर्णमान देश के नागरिकों में मुद्रा अवमूल्यन का भय नहीं होना चाहिये।

(८) स्वर्णमान देशों के आयातों तथा निर्यातों की माँग अत्यधिक लोचदार होनी चाहिये। यदि निर्यातों तथा आयातों की माँग की लोच बहुत कम है तो भुगतान-शेष में घाटे को समाप्त करने में देर लगेगी तथा कीमतों में भारी परिवर्तन होंगे। इसके विपरीत यदि आयातों तथा निर्यातों की माँग की लोच अधिक है तो कीमतों में केवल थोड़ा सा परिवर्तन होने से आयातों तथा निर्यातों में पर्याप्त परिवर्तन होने के कारण असन्तुलन शीघ्र स्थापित हो सकेगा।

स्वर्ण-मुद्रामान (Gold-Coin Standard)

स्वर्ण-मुद्रा मान की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं।

(१) इस मान में सोने के सिक्के संचलनशील होते हैं। उदाहरणार्थ, १९१४ ई० के पूर्व पौंड-स्टर्लिंग का स्वर्ण भार ११३·००१५ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण था। इसी प्रकार १९३३ ई० के पूर्व अमरीकी डालर का स्वर्ण मूल्य २३·२२ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण निर्धारित था।

(२) देश में जो सिक्के संचलन में होते हैं वे असीमित विधि ग्राह्य होते हैं।

(३) देश में स्वर्ण की खुली सिक्का ढलाई होती है।

(४) स्वर्णमान देशों में स्वर्ण का मुक्त आयात तथा निर्यात होता है।

(५) स्वर्णमान देशों में स्वर्ण मूल्य-मापक का कार्य करता है।

(६) यद्यपि स्वर्ण के सिक्कों का संचलनशील होना आवश्यक नहीं है तथा दैनिक लेन-

देन के कार्यों को कागजी मुद्रा अथवा अन्य घटिया धातुओं के सिक्के का प्रचालन करके सम्पन्न किया जा सकता है परन्तु संचलनशील कागजी मुद्रा अथवा अन्य धातु के सिक्के पूर्व निर्धारित स्वर्ण मात्रा में परिवर्तनशील होते हैं।

स्वर्ण मुद्रा मान के अन्तर्गत वैध मुद्रा निर्धारित स्थिर भार तथा शुद्धता के स्वर्ण सिक्कों के रूप में संचलनशील होती है। टकसाल अधिकारी स्वर्ण को सिक्कों में ढालने के लिए बाध्य होते हैं। यह सिक्का ढलाई मुफ्त हो सकती है अथवा इसका थोड़ा मूल्य लिया जा सकता है। स्वर्ण-सिक्का मूल्य मापक का कार्य करता है। स्वर्ण के सिक्कों के बदले में जनता सरकारी कोषागार से स्वर्ण धातु प्राप्त कर सकती है। स्वर्ण की खुली ढलाई तथा स्वर्ण-सिक्कों की खुली पिघलाई होने के कारण स्वर्ण की कीमत पूर्ण रूप से निश्चित तथा स्थिर रहेगी।

स्वर्ण मुद्रा मान का प्रमुख लाभ यह है कि इस मान में देश की मुद्रा के प्रति जनता का सबसे अधिक विश्वास होता है। मुद्रा में स्वयं-संचालकता का गुण होता है तथा मुद्रा अधिकारी को किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होती है। विनिमय स्थिरता के कारण विदेशी व्यापार सुचारू रूप से होता है तथा मुद्रा के अतिप्रचालन का भय तथा इससे उत्पन्न होने वाली स्फीति का भय नहीं रहता है।

संसार में यह मान केवल १९३१ ई० तक संचलनशील रहा था। युद्ध के पश्चात जब १९१९ ई० में स्वर्ण मान को पुनः स्थापित करने का क्रम आरम्भ हुआ तो स्वर्ण मुद्रा मान के स्थान पर स्वर्ण धातु मान को अपनाया गया था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वर्ण मुद्रा मान केवल इतिहास की घटना हो गई थी। केवल अमरीका एक ऐसा देश था जो युद्ध-पश्चात् काल में स्वर्ण मुद्रा मान को अपनाये हुये था।

(२) **स्वर्ण-धातु मान** (Gold-Bullion Standard)

संसार में स्वर्ण-मुद्रा मान केवल १९१३ ई० तक प्रचलित रहा था तथा इस कारण स्वर्ण-मुद्रा मान को युद्ध-पूर्व स्वर्णमान भी कहा जाता है। १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध की घोषणा के पश्चात् संसार के सभी देशों में इतनी अधिक गम्भीर वैत्तिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं कि लगभग सभी स्वर्ण मान देशों ने इस मान का परित्याग कर दिया था। स्वर्ण की खुली सिक्का ढलाई तथा कागजी मुद्राओं की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी गई थी। स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। स्वर्ण और मुद्रा की मात्रा का सम्बन्ध समाप्त हो गया था। सभी देशों में स्वर्ण के स्थान पर अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा संचलनशील थी।

परन्तु युद्ध की समाप्ति पर संसार के अधिकाँश देशों ने—लगभग ३०—स्वर्णमान को पुनः अपना लिया था। सबसे पहले अमरीका ने जून १९१९ ई० में स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों पर प्रतिबन्ध समाप्त करके स्वर्ण मान को पुनः अपनाया था। १९२३ ई० में कोलम्बिया तथा आस्ट्रिया; १९२४ ई० में जर्मनी तथा स्वीडन; १९२५ में इंगलैंड और अन्य साथी देशों ने; १९२६ ई० में बेलजियम; १९२७ ई० में इटली तथा १९२८ ई० में फ्रांस ने स्वर्णमान को पुनः अपनाया था। इस प्रकार युद्ध के पश्चात १९२८ ई० तक संसार के देशों में स्वर्णमान पुनः प्रचलित हो गया था। परन्तु युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान युद्ध-पूर्व स्वर्ण मुद्रा मान से भिन्न था। युद्ध के पश्चात् जो स्वर्णमान पुनः स्थापित किया गया था यद्यपि उसके अन्तर्गत हिसाब की इकाई की मुद्रा का मूल्य सोने के निश्चित भार के रूप में निर्धारित कर दिया गया था परन्तु इस मान में न तो स्वर्ण के सिक्कों की खुली ढलाई होती थी और न ही स्वर्ण के सिक्के संचलन में थे। दूसरे

शब्दों में, युद्ध-पूर्व स्वर्ण-मुद्रा मान की ये दोनों विशेषताएँ युद्ध के पश्चात पुन: स्थापित स्वर्णमान में उपस्थित नहीं थीं। इसके अतिरिक्त यद्यपि स्वर्ण मौद्रिक कोषों के रूप में अब भी विद्यमान था परन्तु पहले के समान अब देश की मुद्रा की प्रत्येक इकाई को स्वर्ण सिक्कों अथवा स्वर्ण में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। मुद्रा को केवल निश्चित भार की स्वर्ण छड़ों में बदला जा सकता था। इसका अर्थ यह है कि जबकि युद्ध-पूर्व स्वर्ण मुद्रा मान में मुद्रा की प्रत्येक इकाई वास्तविक रूप में स्वर्ण में परिवर्तनशील थी, युद्ध के पश्चात मुद्रा इकाई की स्वर्ण परिवर्तनशीलता केवल तभी सम्भव थी जब व्यक्ति के पास सोने की छड़ खरीदने के लिये पर्याप्त मात्रा में मुद्रा थी। उदाहरणार्थ, १३ मई, १९२५ ई० के स्वर्णमान अधिनियम के अनुसार इंगलैंड में बैंक ऑफ इंगलैंड को प्रत्येक पौंड स्टर्लिंग को स्वर्ण में परिवर्तित करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता था यद्यपि लगभग १,७०० पौंड-स्टर्लिंग (अर्थात ७,५८५ डालर) के बदले में बैंक ४०० औंस भार वाली सोने की सिल्लो बेचने के लिये बाध्य था। इसी प्रकार १९२८ ई० के अधिनियम के अनुसार फ्रांस में बैंक ऑफ फ्रांस देश की मुद्रा को केवल सोने की सिल्ली के रूप में जिसका मूल्य ८,४२८ अमरीको डालर था बदल सकता था। अमरीका में १९३४ ई० में स्वर्ण सिल्ली का भार ४०० औंस था तथा इसका मूल्य ३५ डालर प्रति औंस की दर से १४,००० डालर था। नई स्वर्ण मान प्रणाली में जनता की दृष्टि से मुद्रा इकाई की स्वर्ण परिवर्तनशीलता समाप्त हो गई थी यद्यपि सैद्धान्तिक रूप में मुद्रा इकाई अब भी स्वर्ण में परिवर्तनशील थी। फ्रांस में इसी कारण इस मान की, इस मान को धनियों का मान कह कर, आलोचना की गई थी क्योंकि केवल धनवान ही मुद्रा के बदले में स्वर्ण प्राप्त कर सकते थे। स्वर्ण-धातु मान[12] की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं।

(१) यद्यपि इस मान में स्वर्ण मूल्य-मापक का कार्य करता है परन्तु देश में सोने के सिक्के संचलनशील नही होते हैं।

(२) मुद्रा इकाई स्थिर भार वाली स्वर्ण छड़ों में परिवर्तनशील होती है।

(३) कागजी मुद्रा अथवा अन्य धातुओं के सिक्के जो संचलन में होते हैं, उनके पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण निधि को आड़ नहीं रखी जाती है। प्रचालन की गई कुल मुद्रा का केवल कुछ प्रतिशत स्वर्ण निधि के रूप में रखा जाता है।

(४) सरकार निर्धारित कीमत पर असीमित मात्रा मे सान का खरीदने तथा बेचने का वचन देती है।

(५) स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों पर प्रतिबन्ध नहीं होता है।

स्वर्ण-धातुमान का प्रमुख लाभ यह है कि इस मान में सोने का अपव्यय नहीं होता है। स्वर्ण को कोष के रूप में रख कर इसकी आड़ के आधार पर कागजी मुद्रा का प्रचालन करके इस मान में स्वर्णमान के सभी लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। इस मान में स्वर्ण की आवश्यकता कम होती है और इसलिये इस मान को संसार के निर्धन देश सुविधा के साथ अपना सकते हैं। स्वर्ण धातु मान के इस विशेष गुण को ध्यान में रखकर डेविड रिकार्डो ने १८१६ ई० में इस मान को अपनाने का सुझाव दिया था। यह मान स्वर्णमान देश की मुद्राप्रणाली को स्थितिसापेक्ष बना देता है क्योंकि मुद्रा के प्रचालन के पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण निधि की आड़ रखने की आवश्यकता नहीं होती है। युद्ध-पश्चात काल में इस मान को अपनाने का प्रमुख कारण इस मान की मितव्ययता

12. इस मान का सुझाव सर्वप्रथम रिकार्डो ने १८१६ में प्रकाशित अपनी *Proposals for an Economical and Secure Currency* शीर्षक पुस्तिका में प्रस्तुत किया था।

थी । स्वर्ण-धातु मान को अपनाने के लिए बहुत धनी मात्रा में स्वर्ण की आवश्यकता नहीं पड़ती है । इस मान के इस लाभ को ध्यान में रखते हुए १९२० ई० तथा १९२२ ई० में ब्रूसेल्स (Brussels) तथा जिनोआ (Genoa) में हुये सम्मेलनों में स्वर्ण-धातु मान अपनाने का अनुरोध किया गया था ।

युद्ध-पश्चात काल में स्वर्ण-धातु मान को अपनाने के निम्नलिखित तीन प्रमुख उद्देश्य थे ।

(१) स्वर्ण के सिक्कों को संचलन माध्यम के रूप में समाप्त करना ।

(२) मुद्रा की स्वर्ण परिवर्तनशीलता को सीमित करना ।

(३) मुद्रा अधिकारी के हाथों में स्वर्ण को संकेन्द्रित करना ।

कीन्स ने स्वर्ण मुद्रा मान से स्वर्ण धातु मान की संक्रमण प्रक्रिया को निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है ।

"………इस प्रकार समस्त संसार से स्वर्ण संचलन से समाप्त हो गया है । अब यह हाथों से होकर नहीं गुजरता है तथा अब मनुष्य की लालची हथेली को इसका अनुभव नहीं होता है । वे छोटे गृह देवता (स्वर्ण सिक्के) जो अब तक बटुओं (purses), मोजों (stockings) तथा राँगे के सन्दूकों में रहते थे, अब अदृश्य हो गये हैं । इनका स्थान अब प्रत्येक देश में स्वर्ण की केवल एक ऐसी प्रतिमा को जो भूमि के नीचे रहती है तथा जिसको देखा नही जा सकता है—केन्द्रीय बैंकों में मुद्रा प्रचालन की आड़ के रूप में रखी स्वर्ण निधि—को प्राप्त हो गया है । स्वर्ण अब अदृश्य हो गया है तथा भूमि को प्राप्त हो गया है । अब जब देवता अपने पीले सर्बाङ्ग कवच धारण किये हुये इस संसार में चलते हुये दिखाई नहीं देते हैं तो हम उनको युक्तिपूर्वक व्याख्या करने का प्रयास करते हैं तथा शीघ्र ही यह भी समाप्त हो जावेगी ।"[13]

(३) **स्वर्ण विनिमय मान** (Gold Exchange Standard)

इस मान में गरीब देश जिनके पास स्वर्ण का अभाव होता है, सोने के सिक्कों का प्रयोग किये बिना तथा अधिक मात्रा में स्वर्ण कोष रखे बिना स्वर्णमान के लाभ प्राप्त कर सकते हैं । १९२० ई० में ब्रूसेल्स सम्मेलन (Brussels Conference) तथा १९२२ ई० में जिनोआ सम्मेलन (Genoa Conference) में इस मान को अपनाने का सुझाव रखा गया था । इन सम्मेलनों में यह प्रस्ताव रखा गया था कि जो देश पूर्ण स्वर्णमान को अपनाने में असमर्थ थे वे स्वर्ण विनिमय मान को अपना सकते थे ।

इस मान की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं ।

(१) इस मान में देश में न तो सोने के सिक्के तथा न ही परिवर्तनशील व प्रतिनिधि कागजी मुद्रा संचलन में होती है । देश में अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा, सांकेतिक सिक्के तथा अन्य घटिया धातुओं के सिक्के संचलनशील होते हैं ।

(२) देश की प्रामाणिक मुद्रा का संबन्ध निर्धारित स्थिर विनिमय दर पर किसी एक ऐसे शक्तिशाली स्वर्णमान देश की मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जहाँ स्वर्ण-मुद्रा मान अथवा स्वर्ण-धातु मान प्रचलित होता है । उदाहरणार्थ, १८९३ ई० में भारतीय रुपये का गठबन्धन पौण्ड-स्टर्लिंग से १ शिलिंग ६ पैंस की स्थिर विनिमय दर पर निर्धारित करके भारत में स्वर्ण-विनिमय मान को अपनाया गया था क्योंकि उस समय इंगलैंड में स्वर्ण-मुद्रा मान प्रचलित था ।

---

13. J. M. Keynes : *A Treatise on Money*, Vol. II, p. 291.

(३) इस मान में सोना विदेशी विनिमय के रूप में केवल विदेशी भुगतानों के लिये दिया जाता है।

(४) इस मान में विनिमय माध्यम तथा मूल्य मापक के रूप में स्वर्ण का उपयोग नही किया जाता है।

(५) इस मान में देश में संचलनशील मुद्रा और सोने के बीच केवल परोक्ष सम्बन्ध होता है क्योंकि देश की मुद्रा इकाई के बदले विदेशी विनिमय के द्वारा केवल विदेशी भुगतानों के लिये विदेश में सोना प्राप्त हो सकता है।

(६) इस मान में देश में स्वर्ण का स्वतन्त्र बाजार नहीं होता है।

स्वर्ण-विनिमय मान के निम्नलिखित लाभ तथा दोष हैं।

लाभ	दोष
१. मितव्ययी होने के कारण यह मान निर्धन देशों द्वारा भी अपनाया जा सकता है। इस मान को अपनाने के लिए देश को स्वर्ण कोषों की आवश्यकता नहीं होती है।	१. स्वर्ण मुद्रा मान और स्वर्ण धातु मान की तुलना में इस मान के प्रति जनता का विश्वास कम होता है।
२. इस मान में देश की मुद्रा प्रणाली स्थिति सापेक्ष बनी रहती है। आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण कोषों में वृद्धि किये बिना संचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है।	२. इस मान में पर्याप्त स्वयं-संचालकता का अभाव होता है। सरकार को विदेशी विनि-तम तथा स्वर्ण कोष का प्रबन्धन करना पड़ता है।
३. इस मान में देश को स्वर्ण मुद्रा मान के लगभग सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं।	३. इस मान में देश की मुद्रा प्रणाली विदेशी मुद्रा प्रणाली पर आश्रित हो जाती है।
४. इस मान में सभी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सुगमता से हो जाते हैं।	४. जिस देश की मुद्रा इकाई से स्वर्ण विनिमय मान वाले देश की मुद्रा इकाई का सम्बन्ध जोड़ा जाता है उस देश की मुद्रा प्रणाली अस्थिर हो जाती है। २० वीं शताब्दी में 'तीसा' का मौद्रिक इतिहास इसकी पुष्टि करता है।
५. इस मान को अपनाकर सरकार स्वर्ण के विदेशी निवेशों द्वारा लाभ प्राप्त कर सकती है।	५. इस मान में पूँजी का अन्तरण उतनी सुगमता से नहीं होता है जितना कि स्वर्ण-मुद्रा तथा स्वर्ण-धातु मान में होता है।

हालैण्ड ने सबसे पहले इस मान को १८७७ ई० में अपनाया था। तत्पश्चात् रूस और आस्ट्रिया-हंगारी ने १८९२ ई० में परिवर्तनशील कागजी मुद्रा का परित्याग करके स्वर्ण-विनिमय मान को अपनाया था। स्वर्ण-विनिमय मान को अपनाने का सबसे उत्तम उदाहरण भारत का है

जहाँ १८९३ ई० में चाँदी की खुली सिक्का ढलाई समाप्त कर दी गई थी तथा सरकार ने लन्दन में स्वर्ण में परिवर्तनशील विदेशी विनिमय बिलों को निश्चित निर्धारित दर पर बेचने तथा खरीदने के उद्देश्य से १८९८ ई० में लन्दन में स्वर्ण कोष स्थापित किया था। अन्त में १९०० ई० से रुपयों के बदले में लन्दन बिलों को दिया जाने लगा था। यद्यपि यह स्थिति १९३१ ई० तक चालू रही थी परन्तु १९३१ ई० में इंगलैन्ड द्वारा स्वर्ण-धातु मान का परित्याग करने के कारण भारत में भी स्वर्ण विनिमय मान का अन्त हो गया। फिलिप्पीन्स में स्वर्ण-विनिमय मान को १९०३ ई० में स्पेन-अमरीकी युद्ध की समाप्ति पर अपनाया गया था। दक्षिण अमरीका के बहुत से देशों में भी १९१४ ई० से पहले इस मान को अपनाया गया था।

भारत के अतिरिक्त स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने का दूसरा उत्तम उदाहरण फिलिप्पीन्स का है। यहाँ यद्यपि हिसाब की मुद्रा काल्पनिक स्वर्ण पेसो (gold peso) था परन्तु वास्तविक स्थानीय मुद्रा रजत पेसो (silver peso) था। स्वर्ण पेसो का भार १२·९ ग्रेन स्वर्ण निर्धारित किया गया था तथा दो स्वर्ण पेसो एक अमरीकी डालर में परिवर्तनीय घोषित किये गये थे। इस प्रकार फिलिप्पीनी पेसो को अमरीकी डालर में परिवर्तनशील बना कर पेसो का स्वर्ण अनुपात निर्धारित किया गया था। यह स्वर्ण पेसो केवल काल्पनिक मुद्रा थी। चाँदी तथा सोने के पेसोओं के बीच समता दर निर्धारित की गई थी। इस समता दर को बनाए रखने के उद्देश्य से एक स्वर्ण मान कोष स्थापित किया गया जिसका कुछ भाग न्यूयार्क तथा कुछ भाग मनीला में रखा जाता था। अन्तर्महायुद्ध की अवधि में लगभग २५ देशों ने स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया था।

(४) **स्वर्ण निधि मान** (Gold Reserve Standard)

सितम्बर १९३१ ई० में इंगलैण्ड में स्वर्णमान का खण्डन हो जाने पर इंगलैण्ड ने विनिमय दर में स्थिरता स्थापित करने के उद्देश्य से १९३२ ई० में एक विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund) की स्थापना की थी। विनिमय समानीकरण कोष विदेशी मुद्राओं का स्थिर निर्धारित विनिमय दर पर क्रय-विक्रय करके विदेशी विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखने का प्रयास करता था। अमरीका ने भी स्वर्णमान का १९३३ ई० के अन्त में परित्याग करने के पश्चात् १९३४ ई० में विनिमय समानीकरण कोष डालर की विदेशी विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखने के उद्देश्य से स्थापित किया था। २५ सितम्बर, १९३६ ई० को फ्रांस ने भी स्वर्णमान का परित्याग करके विनिमय समानीकरण कोष की स्थापना की थी। १९३६ ई० में तीनों देशों में विनिमय समानीकरण कोषों की स्थापना हो जाने पर तीनों देशों के बीच २५ सितम्बर, १९३६ ई० को एक समझौता हुआ जो त्रिपक्षीय समझौते (Tripartite Agreement) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार तीनों देशों की सरकारों ने विनिमय समानीकरण कोषों में उपलब्ध साधनों की सहायता से अपनी मुद्राओं के मध्य विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखने की प्रतिज्ञा की। कुछ मास पश्चात २४ नवम्बर, १९३६ ई० को बेलजियम, नैदरलैण्डस और स्विट्जरलैण्ड भी इस समझौते में शामिल हो गये। इस प्रकार विनिमय समानीकरण कोषों की विधि के द्वारा विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास को संभव बनाने का प्रयत्न किया गया था।

स्वर्णमान व्यवहार में

यद्यपि स्वर्ण मान का रोचक इतिहास १८१६ ई० में उस समय से आरम्भ होता है जब इंगलैंड ने इस मान को वैधानिक रूप से अपनाया था परन्तु १८७१ ई० तक इंगलैंड के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों में स्वर्णमान को अपनाने के सम्बन्ध में विचार नहीं किया गया था।

१८१६ ई० से लेकर १८७१ ई० तक यूरोप के देश कभी एक धातुमान को तथा कभी द्विधातुमान को अपनाते रहे थे। परन्तु १८७१ ई० में स्वर्णमान को अपनाने के पक्ष में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे। जर्मनी ने उस समय प्रचलित अपनी द्विधातुमान मुद्रा प्रणाली में स्वर्ण सिक्कों को स्थान दिया था तथा चाँदी की खुली सिक्का ढलाई को बन्द कर दिया था। सोने के सिक्कों को प्रामाणिक तथा असीमित वैध मुद्रा घोषित किया गया था और चाँदी के सिक्के केवल गौण सिक्कों के रूप में संचलनशील थे। इस प्रकार १८७१ ई० में जर्मनी में चाँदी का मौद्रिक स्थान स्वर्ण को प्राप्त हो गया था। इसी वर्ष स्वीडन ने भी स्वर्णमान को अपनाया था। १८७३ ई० में नार्वे, डेनमार्क तथा वेलजियम ने भी स्वर्णमान को अपना लिया था। १८७४ ई० में फ्रांस, इटली, यूनान, तथा स्विट्जरलैंड ने भी स्वर्णमान को अपना कर जर्मनी की नीति का अनुमोदन किया था। हालैंड तथा युराग्वे ने स्वर्णमान को क्रमशः १८७५ ई० तथा १८७६ में अपनाया था। अमरीका में भी १८७९ ई० के पश्चात् डालर स्वर्ण में परिवर्तनीय होने के कारण वास्तविक रूप से स्वर्णमान विद्यमान हो गया था तथा १९०० ई० में स्वर्णमान अधिनियम बना कर वास्तविक स्वर्णमानको एकधातुमान के वैधानिक रूप में अपना लिया गया था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व संसार के सभी देश स्वर्णमान को अपनाना अपनी मौद्रिक नीतियों का प्रधान लक्ष्य समझने लगे थे। इंगलैंड, जर्मनी, अमरीका, फ्रांस इत्यादि उन्नतिशील तथा आर्थिक दृष्टि से समृद्ध देशों के अतिरिक्त रूस आस्ट्रिया, भारत, जापान, पनामा इत्यादि देशों ने भी स्वर्ण विनिमय मान को अपनाकर संसार में स्वर्णमान की प्रगति को सम्भव बनाया था। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ होने के समय संसार के लगभग सभी देशों ने किसी न किसी रूप में स्वर्णमान को अपना लिया था तथा स्वर्णमान को संसार के लगभग सभी देशों में प्रचलित हो जाने का गौरवशाली स्थान प्राप्त हो चुका था।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व विद्यमान स्वर्णमान स्वर्ण-मुद्रा मान था। हिसाब की इकाई तथा मूल्यमापक के रूप में मुद्रा की इकाई का स्वर्ण-भार निर्धारित कर दिया गया था। उदाहरणार्थ, इंगलैंड में पौंड-स्टर्लिंग का मूल्य ११३·००१५ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण निर्धारित था। इसी प्रकार अमरीका में १९०० ई० के अधिनियम के अनुसार अमरीकी संसद ने डालर का मूल्य २३·२२ शुद्ध स्वर्ण निर्धारित किया था। स्वर्ण का निर्यात तथा आयात मुक्त था तथा स्वर्ण कोष और मुद्रा की मात्रा के बीच आनुपातिक सम्बन्ध था। इसके अतिरिक्त स्वर्ण की खुली सिक्का ढलाई होती थी और सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक स्थिर निर्धारित दर पर असीमित मात्रा में स्वर्ण का क्रय-विक्रय करते थे। इस प्रकार का स्वर्ण मुद्रामान संसार में १९१४ ई० तक प्रचलित रहा था। १९१४ ई० में युद्ध की घोषणा होने पर स्वर्णमुद्रा मान का अन्त हो गया था। प्रथम महायुद्ध के काल में स्वर्णमान देशों की मुद्रा प्रणाली अस्त-व्यस्त हो गई थी। युद्ध में उत्पन्न हुई असाधारण स्थिति में स्वर्णमान देशों के लिए स्वर्णमान के नियमों का पालन करना कठिन हो गया था तथा स्वर्ण के आयातों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। युद्ध काल में संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मित्रता की भावना समाप्त हो गई थीं और इनका स्थान राष्ट्रीयता और ईर्ष्या की नाशकारक भावनाओं ने ले लिया था। संसार के सभी स्वर्णमान देशों में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मुद्रा मान का खण्डन होकर इसके स्थान पर अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा के युग की स्थापना हो गई थी। इस अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा के युग में स्वर्णमान देशों में विदेशी विनिमय दरें अस्थिर हो गई थीं तथा इन देशों में अतिस्फीति का रोग उत्पन्न हो गया था। उदाहरणार्थ-जर्मनी में १९२३ ई० में थोक कीमत स्तर में युद्ध के पूर्व १९१४ ई० के कीमत-स्तर की तुलना में १,६१७,०००,००० गुना वृद्धि हो गई थी और जर्मन मार्क का मूल्य (क्रयशक्ति) लगभग कुछ भी नहीं था। यूरोप के देशों में स्वर्णमान का देहान्त होकर अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा की बाढ़ आ गई थी जिससे समस्त यूरोप के देशों की अर्थव्यवस्थाओं को गहरा धक्का

लगा था। प्रत्येक देश में मुद्रा का अत्यधिक प्रचालन होने के कारण कीमत-स्तर में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी। परिणामस्वरूप जर्मन जनता का विश्वास देश की मुद्रा प्रणाली में समाप्त हो गया था। मुद्रा के अतिप्रचालन को भी जर्मनी के उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है। जर्मनी में रीचस बैंक (Reichs Bank) द्वारा छापे गये कागजी नोटों की मात्रा जो १९१४ ई० में केवल ५ बिलियन मार्क थी १९२३ ई० में बढ़कर ४९६,५०७,४२४,७७२ बिलियन मार्क हो गई थी। १९२४ ई० में जब रीचस बैंक को मुद्रा प्रणाली में सुधार करने हेतु पुनः संगठित किया गया तो एक महाशंख मार्क (trillion) राशि के बदले में केवल एक नया मार्क दिया गया था। आस्ट्रिया, हंगरी और रूस इत्यादि अन्य देशों में भी अतिस्फीति विद्यमान थी। स्फीति युद्ध की गौण उत्पत्ति थी। संसार के सभी देश इस रोग से पीड़ित थे।

इंगलैण्ड ने १९१५ ई० में स्वर्णमान का परित्याग किया था। प्रथम महायुद्ध के काल में स्वर्णमुद्रा का मान संसार के सभी देशों से लोप हो गया था। योद्धा देशों में केवल अमरीका एक ऐसा देश था जो युद्ध काल में स्वर्णमान को अपनाये हुए था। परन्तु अमरीका में भी ७ सितम्बर, १९१७ ई० से लेकर ९ जून, १९१९ ई० तक स्वर्ण के निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे तथा स्वर्ण का निर्यात करने के लिये सरकारी विशेष आज्ञापत्र प्राप्त करना आवश्यक था। इस प्रकार अमरीका में भी युद्ध के दो वर्षों तक स्वर्णमान चलनशील नहीं था। केवल जापान तथा अर्जनटाइना दो ऐसे देश थे जहाँ स्वर्णमान अभी भी प्रचलित था।

युद्ध के पश्चात् स्वर्णमान की पुनः स्थापना

यद्यपि युद्ध के संकट काल में (१९१४-१८ ई०) स्वर्णमान का सब देशों ने परित्याग कर दिया था परन्तु सभी देश उस दिन की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे जब युद्ध की समाप्ति पर स्वर्णमान को पुनः अपनाया जावेगा। जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ संसार के सभी प्रधान देशों का ध्यान स्वर्णमान को पुनः अपनाने की ओर केन्द्रित हुआ। परन्तु यह कोई सरल कार्य नहीं था क्योंकि युद्ध के चार वर्षों में आर्थिक जगत में मौलिक परिवर्तन हो गये थे। युद्ध का सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा था। वास्तव में युद्ध-पश्चात संसार युद्ध-पूर्व संसार से कुछ बातों में बिलकुल भिन्न था।

यद्यपि युद्ध समाप्त हो गया था परन्तु इसके उत्तर-प्रभावों (after-effects) के विद्यमान होने के कारण युद्ध-पश्चात स्वर्णमान की पुनः स्थापना में अनेक कठिनाइयों का अनुभव हुआ था। युद्ध का प्रथम उत्तर-प्रभाव संसार के देशों में युद्ध-पश्चात काल में विद्यमान अतिस्फीति थी जिसके कारण विभिन्न देशों में कीमत स्तरों की समानता समाप्त हो गई थी। १९१४ ई० में युद्ध की घोषणा के समय विभिन्न देशों में कीमत स्तर सन्तुलन में थे। इसका अर्थ यह है कि युद्ध के पूर्व सभी स्वर्णमान देशों की मुद्रा इकाइयों की क्रय-शक्ति उनके स्वर्ण भार के अनुपात में थी। युद्ध काल में भिन्न देशों में स्फीति का आकार असमान होने के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कीमत स्तरों का युद्ध-पूर्व सन्तुलित सम्बन्ध लुप्त हो गया था।

युद्ध का दूसरा उत्तर प्रभाव जो युद्ध-पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की पुनः स्थापना की दृष्टि से प्रथम उत्तर प्रभाव से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा वित्तीय परिस्थिति में हुआ भारी परिवर्तन था। यद्यपि युद्ध के पूर्व अमरीका ऋणी राष्ट्र था परन्तु युद्ध-पश्चात काल में इस देश को ऋणदाता राष्ट्र का सम्मान प्राप्त था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व अमरीका को अमरीकी रेलों तथा अन्य उद्योगों में लगी विदेशी पूँजी पर ब्याज तथा मूलधन का भुगतान करना पड़ता था। युद्ध काल में यूरोपीय देशों, विशेषरूप से इंगलैण्ड, ने अपने अमरीकी ऋणपत्रों

तथा अंशों को युद्ध के बढ़ते हुए व्यय की व्यवस्था करने के लिए विवश होकर बेच दिया था। इंगलैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों ने युद्ध लड़ने के लिये अमरीका से भारी मात्रा में ऋण लिये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अमरीका युद्ध पश्चात् काल में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय जगत में उस सम्मानजनक प्रथम स्थान को प्राप्त हो गया जो युद्ध के पूर्व इंगलैण्ड को प्राप्त था। युद्ध-पश्चात जगत में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के क्षेत्र में इंगलैंड एक साधारण राष्ट्र की स्थिति को प्राप्त हो गया था। युद्ध-पश्चात काल में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय क्षेत्र में लन्दन का सम्मानजनक प्रथम स्थान न्यूयार्क को प्राप्त हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा वित्तीय मामलों का कार्यभार अब अमरीकी हाथों में था। परन्तु दुर्भाग्यवश अमरीका ऋणदाता देश के उन उत्तरदायित्वों का पालन करने में असमर्थ सिद्ध हुआ जिनका पालन इंगलैंड स्वर्णमान तथा स्वयं के हितों में युद्ध-पूर्व काल में करता रहता था। युद्ध-पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय जगत में हुआ यह महत्वपूर्ण परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की पुनः स्थापना की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण था।

स्वर्णमान के हितों के प्रतिकूल युद्ध का तीसरा उत्तर प्रभाव यह था कि स्वर्ण का संसार के देशों के मध्य असमान पुनर्वितरण हो जाने के फलस्वरूप संसार के कुल स्वर्ण कोषों के अधिकांश भाग का अमरीका तथा फ्रांस में संकेन्द्रीकरण हो गया था तथा अन्य स्वर्णमान देशों के पास बहुत कम स्वर्ण था। उदाहरणार्थ, युद्ध के पूर्व १९१३ ई० में अमरीका के पास संसार के कुल स्वर्ण कोषों का २५ प्रतिशत से कम स्वर्ण था। १९२३ में संसार के कुल स्वर्ण स्टाक का लगभग ४० प्रतिशत भाग अमरीका के पास था। १९२८ ई० में भी अमरीका के स्वर्ण कोष संसार के कुल स्वर्ण कोषों के ३७ प्रतिशत थे। १९३३ ई० में स्वर्णमान के खण्डन के समय भी अमरीकी स्वर्ण-कोष संसार के स्वर्णकोषों के ३५ प्रतिशत थे। लगभग ऐसी ही स्थिति फ्रांस में थी। १९१९ ई०, से लेकर १९२६ ई० तक फ्रांस के पास कुल ०·७ बिलियन डालर मूल्य के स्वर्ण कोष थे। १९२८ ई०. १९२९ ई० तथा १९३० ई० में ये कोष बढ़कर क्रमशः १·३ विलियन, १·६ बिलियन तथा २·१ बिलियन डालर मूल्य के हो गये थे। जबकि एक ओर अमरीका तथा फ्रांस में सरकार तथा केन्द्रीय बैंकों के स्वर्ण कोषों में वृद्धि हुई थी दूसरी ओर संसार के शेष स्वर्णमान देशों में सरकार तथा केन्द्रीय बैंकों के स्वर्ण कोष जो १९२८ ई० में ५·१ बिलियन डालर राशि मूल्य के थे, घट कर १९३० ई० में केवल ४·६ बिलियन रह गये थे। यह उस समय हुआ था जब संसार में कुल स्वर्ण स्टाक में ०·९ बिलियन डालर राशि की वृद्धि हो गयी थी। संसार के स्वर्ण कोषों का केवल दो देशों में इतनी अधिक मात्रा में संकेद्रित हो जाना युद्ध-पश्चात स्वर्णमान के लिए घातक था।

इन सब बातों के अतिरिक्त युद्ध-पश्चात संसार में आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना की शत्रु बन गई थी। राजनीतिक दृष्टि से बहुत से पुराने देश समाप्त हो गये थे और कुछ नये देश यूरोप के राजनीतिक नक्शे में विद्यमान हो गये थे। स्वर्णमान के सम्बन्ध में भी विचारों में भारी परिवर्तन हो गये थे। युद्ध के पश्चात् यह विचार किया जाने लगा था कि स्वर्ण के स्थान पर यदि मुद्रा किसी अन्य तुच्छ धातु अथवा कागज की बनी हो तो सोने के उपयोग में मितव्ययता लाई जा सकती है। युद्ध काल में जनता को कागजी मुद्रा के प्रयोग का अभ्यास हो गया था तथा दैनिक प्रयोग की दृष्टि से स्वर्ण के सिक्कों की तुलना में कागजी मुद्रा को अधिक श्रेष्ठ समझा जाने लगा था। स्विटजरलैंड तथा हालैंड में स्वर्ण के सिक्कों को संचलनशील करने के विफल प्रयास किये गये थे। इस प्रकार युद्ध-पश्चात् काल में युद्ध-पूर्व स्वर्ण मुद्रामान को पुनः अपनाने की सम्भावना नहीं थी। यह कहा जाने लगा था कि स्वर्ण धातुमान स्वर्ण मुद्रामान के सभी कार्यों को सिद्धि पूर्वक कर सकता था और इस कारण स्वर्ण मुद्रामान को अपनाने की

कोई आवश्यकता नहीं थीं । स्वर्ण धातु मान को स्वर्ण मुद्रा मान के स्थान पर अपना कर संसार में स्वर्णमुद्रा मान की पुन: स्थापना की जा सकती थी । इसके अतिरिक्त स्वर्ण धातुमान के पक्ष में यह भी कहा गया था कि कम खर्चीला होने के कारण यह मान गरीब देशों द्वारा भी अपनाया जा सकता था । इसके विपरीत स्वर्ण मुद्रा मान को अपनाने के विरुद्ध यह कहा गया था कि संसार में सोने की मात्रा तथा उत्पादन कम था और यदि स्वर्ण मुद्रा मान को अपनाया गया तो सोना बहुत अधिक दुर्लभ हो जावेगा क्योंकि स्वर्ण सिक्कों की ढलाई और मौद्रिक कोषों के लिये अधिक मात्रा में सोने की आवश्यकता पड़ेगी । स्वर्ण मुद्रा मान को संसार के केवल कुछ धनी देश ही अपना सकते थे । अत: जिनेवा सम्मेलन में, जो अप्रैल १९२२ में हुआ था और जिसमें यूरोप के सभी देश तथा जापान और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे, यह सिफारिश की गई थी कि जो देश स्वर्ण मुद्रामान को नहीं अपना सकते थे वे स्वर्ण विनिमय मान को अपना सकते थे । इस प्रकार युद्ध के पश्चात स्वर्णमान स्वर्णधातु मान तथा स्वर्ण विनिमय मान के रूप में विद्यमान हुआ था । संक्षेप में युद्ध-पश्चात स्वर्णमान युद्ध-पूर्व स्वर्णमान से भिन्न था ।

अमरीका ने युद्ध के पश्चात् स्वर्ण मान की जून १९१९ ई० में पुन: स्थापना करके स्वर्णमान की पुन:स्थापना का आरम्भ किया था । तत्पश्चात नौ वर्ष के अल्प समय में संसार के ४४ देशों ने स्वर्णमान को पुन: अपना लिया था । आस्ट्रिया तथा कोलम्बिया ने १९२३ ई० में स्वर्णमान को पुन: अपनाया था । फ्रांस १९२८ ई० में स्वर्णमान को पुन: अपनाने वाला अन्तिम प्रधान देश था । १९२४ ई० में जर्मनी तथा स्वीडन ने भी स्वर्णमान को अपना लिया था । इंगलैंड में स्वर्ण धातु मान को १३ मई, १९२५ के स्वर्णमान अधिनियम के अनुसार पुन: अपनाया गया था । १९२५ ई० के अधिनियम के अनुसार बैंक आफ इंगलैंड प्रत्येक व्यक्ति को प्रामाणिक शुद्धता के सोने की ३ पौंड १७ शिलिंग १०$\frac{1}{2}$ पैंस प्रति औंस सोने की दर से ४०० औंस भार की सिल्लियों के रूप में असीमित मात्रा में स्वर्ण बेचने के लिये बाध्य था ।

१९२५ ई० को संसार में स्वर्णमान की पुन: स्थापना का महत्त्वपूर्ण वर्ष कहना अनुचित न होगा क्योंकि इंगलैंड के साथ ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों ने भी स्वर्णमान को पुन. अपना लिया था । १९२६ में बेल्जियम, चिली, मेक्सिको, बोलिविया, कनाडा तथा १९२७ ई० में इटली, डेनमार्क, भारत, इक्वेडर तथा अर्जेन्टाइना में स्वर्ण मान पुन: स्थापित हो गया था । १९२८ ई० में फ्रांस, नारवे, एस्टोनिया, बलगारिया तथा ब्राजील में भी स्वर्ण मान विद्यमान हो गया था । यद्यपि जापान तथा जैकोस्लोवाकिया ने स्वर्णमान को १९२९ ई० में पुन: अपनाया था परन्तु नि:सन्देह १९२८ ई० के पश्चात स्वर्णमान के खण्डन का क्रम आरम्भ होने लगा था । इस प्रकार १९२८ ई० युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान का शिखर वर्ष था ।

युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान का खण्डन

यद्यपि स्वर्णमान १९२८ तक पुन: स्थापित हो गया था परन्तु वास्तव में युद्ध-पश्चात जगत में यह मुद्रा मान अच्छी तरह से कार्य नहीं कर सका । यदि १९२८ ई० को स्वर्ण मान की पुन: स्थापना का अन्तिम वर्ष माना जाये तो यह कहना उचित होगा कि युद्ध-पश्चात स्वर्ण मान केवल तीन वर्ष के अति अल्प समय तक ही जीवित रहा क्योंकि १९३१ ई० में इंगलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था । यदि युद्ध-पश्चात स्वर्णमान को कार्य की दृष्टि से आँका जाये तो इन तीन वर्षों में भी (१९२८ ई० से लेकर १९३१ ई० तक) युद्ध-पश्चात स्वर्णमान का कार्य कभी भी सन्तोषजनक नहीं था । इसके निर्दोष कार्य में सदा कोई न कोई कठिनाई विद्यमान रही थी ।

यद्यपि १९२८ ई० में संसार के अधिकांश देशों में स्वर्णमान विद्यमान हो गया था परन्तु यह स्थिति अतिअस्थाई सिद्ध हुई। १९२८ ई० के पश्चात स्वर्णमान देशों में स्वर्णमान का परित्याग करने की प्रवृत्ति विद्यमान हो गई थी तथा १९३६ ई० तक युद्ध-पश्चात स्वर्णमान संसार से लुप्त हो गया था। १९२९ ई० के आर्थिक संकट के परिणामस्वरूप स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों में असन्तुलन की समस्या इतनी अधिक गम्भीर हो गई थी कि आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना, ब्राजील, यूराग्वे तथा प्रागवे को विवश होकर स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा था। १९३० ई० में वेनिज्युला ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। १९३१ ई० तक आर्थिक संकट ने इतना अधिक भयानक रूप धारण कर लिया था कि इस वर्ष संसार के बीस देशों को जिनमें इंगलैंड तथा ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देश, जापान, मेक्सिको तथा यूरोप और दक्षिण अमरीका के अधिकांश देश सम्मिलित थे, स्वर्णमान का परित्याग करने के लिये विवश होना पड़ा था। अप्रैल १९३२ ई० में अमरीका ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। १९३३ ई० के अन्त तक स्वर्णमान का संसार के लगभग ५० देशों में खण्डन हो चुका था।

१९३३ ई० में स्थिति यह थी कि केवल इटली तथा कुछ उन अन्य देशों को छोड़कर, जो स्वर्ण-गुट देशों (gold-block countries) के नाम से प्रसिद्ध थे तथा जिनमें फ्रांस, बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड, हालैण्ड तथा लगजेम्बर्ग सम्मिलित थे, शेष संसार के लिये स्वर्णमान इतिहास मात्र का विषय बन चुका था। १९३४ ई० में इटली ने भी स्वर्णमान को त्याग दिया था। तत्पश्चात स्वर्ण-गुट देशों के भुगतान-शेषों की प्रतिकूलता इतनी अधिक चिन्ताजनक हो गई थी तथा इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं में अवस्फीति की इतनी अधिक भयानक समस्या उत्पन्न हो गई थी कि इन देशों के समक्ष स्वर्णमान का परित्याग करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था। अप्रैल १९३५ ई० में बेल्जियम तथा १९३६ ई० में फ्रांस, पोलैण्ड तथा हालैण्ड ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। १९३७ ई० में संसार में एक भी देश ऐसा नहीं था जहाँ स्वर्णमान विद्यमान था।

युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान के खण्डन के कारण

युद्ध-पश्चात स्वर्णमान के खण्डित होने के अनेक कारण थे। युद्ध के पश्चात संसार में अनेक आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तन हो गये थे। बहुत सी उन समस्याओं का समाधान करने के सम्बन्ध में जो युद्ध-काल में तथा युद्ध के पश्चात उत्पन्न हुई थीं, स्वर्णमान देशों की सरकारों को कोई अनुभव प्राप्त नहीं था। युद्ध के कारण स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाओं में भारी परिवर्तन हो गये थे। अमरीका द्वारा युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग न लेने के कारण युद्ध के पश्चात वह देश आर्थिक दृष्टि से बहुत शक्तिशाली बन गया था। युद्ध काल में अमरीका की अर्थ-व्यवस्था दृढ़ बन गई थी। परन्तु जर्मनी, जो युद्ध के पूर्व संसार में यूरोप की औद्योगिक कर्मशाला के नाम से प्रसिद्ध था, युद्ध में पराजित होकर अपने शत्रुओं की दया पर आश्रित था। बड़े पैमाने पर युद्ध के हरजानो के भुगतानों के कारण एकतरफा भुगतानों की एक नई समस्या उत्पन्न हो जाने के कारण स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों में प्रतिकूलता उत्पन्न हो गई थी। युद्ध के पूर्व इंगलैण्ड संसार का सबसे अधिक महत्वपूर्ण ऋणदाता देश था तथा इंगलैण्ड का अन्तर्राष्ट्रीय निवेशों के क्षेत्र में प्रथम स्थान था। परन्तु युद्ध के पश्चात इंगलैण्ड का यह स्थान अमरीका को प्राप्त हो गया था। युद्ध के पश्चात यूरोप के बहुत से देश युद्ध में पराजित हो जाने के कारण यूरोप के राजनीतिक नक्शे में स्वाधीन देशों की श्रेणी में नहीं थे तथा इनके स्थान पर कुछ नये देश उत्पन्न हो गये थे। संक्षेप में संसार के राजनैतिक नक्शे का रूप बदल जाने के कारण युद्ध के पश्चात संसार में आर्थिक साधनों का पुनः वितरण हो गया था तथा इसके कारण यूरोप के देशों में

आर्थिक असमानता पहले की तुलना में अधिक हो गई थी। जर्मनी तथा इटली के उपनिवेशों की संख्या कम हो गई थी तथा इन पर साथी राष्ट्रों का अधिकार हो गया था। युद्ध के पश्चात संसार के देश धनी तथा निर्धन दो पृथक आर्थिक श्रेणियों में विभाजित हो गये थे। इस प्रकार का विभाजन स्वर्णमान तथा स्थायी विश्व शान्ति के लिए घातक था। स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाओं का पुराना लचीलापन समाप्त हो चुका था। युद्ध के पश्चात स्वर्णमान को पुन: अपनाने के पूर्व यह आवश्यक था कि संसार के सभी देशों ने इन गम्भीर समस्याओं पर ध्यान-पूर्वक विचार किया होता। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं किया गया।

संसार के प्रधान देशों—इंगलैण्ड, फ्रांस तथा अमरीका—ने स्वर्णमान को बेजोड़ तथा अवास्तविक समता दरों पर अपना कर भारी भूल की थी तथा इन देशों का ऐसा करना स्वर्णमान के लिए घातक सिद्ध हुआ था। इंगलैण्ड ने स्वर्णमान को १९२५ ई० में युद्ध-पूर्व समता दर पर पुन: अपनाया था तथा पौंड-स्टर्लिग का डालर मूल्य ४.८६६५ डालर निर्धारित किया गया था। परन्तु पौंड-स्टर्लिग का यह डालर मूल्य उस समय इसके वास्तविक डालर मूल्य से लगभग १० प्रतिशत अधिक था। कीन्स के विचारानुसार यह निर्णय इंगलैण्ड की सरकार की बुद्धिहीनता का प्रतीक था। युद्ध-पश्चात् स्थिति में पौंड-स्टर्लिग का डालर मूल्य ४·४० डालर निर्धारित होना चाहिये था। स्वर्णमान को पुरानी पौंड-डालर समता दर पर पुन: अपनाने के कारण इंगलैण्ड के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई और कुछ वर्षों के कठिन अनुभव के पश्चात् इंगलैण्ड को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। वास्तव में स्वर्णमान को पुरानी पौंड-डालर समता दर पर अपनाकर इंगलैण्ड ने बड़ी भारी भूल की थी तथा इसका भारी मूल्य इंगलैण्ड को आन्तरिक अर्थव्यवस्था के अस्त-व्यस्त हो जाने के रूप में चुकाना पड़ा था। कीन्स ने उस समय विन्सटन चर्चिल के, जो उस समय इंगलैण्ड में अर्थ-सचिव (Chancellor of the Exchequer) के पद पर नियुक्त थे, स्वर्णमान को पुरानी समता दर पर पुन: अपनाने के निर्णय का कड़ा विरोध किया था। उन्होंने उस समय लिखित अपनी *The Consequences of Mr. Churchill* शीर्षक पुस्तिका में चर्चिल की इस नीति के गम्भीर परिणामों की व्याख्या की थी। कीन्स ने चर्चिल की नीति को बेसूझ आय अवस्फीति (cold-blooded income deflation) बतलाते हुये यह घोषित किया था कि इस नीति के कारण देश के लोगों को भारी आर्थिक कठिनाइयों को सहन करना पड़ेगा। दुर्भाग्यवश कीन्स की चेतावनी की ओर सरकार ने ध्यान नहीं दिया। कीन्स ने बाल्डविन सरकार की स्वर्णमान को युद्ध-पूर्व समता-दर पर पुन: अपनाने की नीति का कड़ा विरोध करते हुये लिखा था कि "मेरे विचार में कीमतों, साख मुद्रा तथा रोजगार की स्थिरता को प्राप्त करना सबसे अधिक आवश्यक है। मुझे विश्वास नहीं है कि पुराने प्रकार के स्वर्णमान के द्वारा अब कभी इस प्रकार की स्थिरता थोड़ी मात्रा में भी प्राप्त हो सकेगी; मैं सरकार की स्वर्णमान को पुराने आधार पर पुन: अपनाने की नीति को अस्वीकार करता हूँ।" कीन्स की भविष्यवाणी उस समय सत्य सिद्ध हुई जब १९२६ ई० में इंगलैण्ड में अवस्फीति, बेरोजगारी तथा श्रमिकों द्वारा सामान्य हड़ताल करने की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं और कोयला, लोह व इस्पात तथा कपड़ा उद्योगों, जो इंगलैण्ड के प्रमुख निर्यात उद्योग थे, को पौंड-स्टर्लिंग के अधि-मूल्यन के परिणामस्वरूप गहरा धक्का लगा था। सरकार के सामने १९३१ ई० में स्वर्णमान का परित्याग करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था।

कीन्स ने यह चेतावनी दी थी कि इंगलैण्ड को चर्चिलवादी नीति के उन गम्भीर परि-णामों को, जो स्वर्णमान को पुरानी समता दर पर अपनाने के कारण उत्पन्न होंगे, सहन करने के

14. The American edition is entitled : '*The Economic Consequences of Sterling Parity*'.

लिये तैयार रहना चाहिये। इंगलैण्ड के भुगतान-शेष में घाटे की समस्या को समाप्त करने के लिये इंगलैण्ड की निर्यात-वस्तुओं की कीमतों में १० प्रतिशत की कमी होना अनिवार्य था। इस सम्बन्ध में कीन्स ने इस प्रकार लिखा था। "स्टर्लिंग के विदेशी विनिमय मूल्य को जो युद्ध-पूर्व स्वर्ण समता दर से १० प्रतिशत कम निर्धारित किया जाना चाहिये था, इसके युद्ध-पूर्व स्वर्ण मूल्य के समान निर्धारित करने की नीति का अभिप्राय यह है कि जब भी हम विदेश में कोई भी वस्तु बेचेंगे तो विदेशी क्रेता को अपनी मुद्रा में १० प्रतिशत अधिक भुगतान देना पड़ेगा अथवा हमको अपनी मुद्रा में १० प्रतिशत कम स्वीकार करना पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता करने के लिये हमें कोयला, लोहा, जहाज किरायों तथा अन्य निर्यात वस्तुओं की कीमतों में जब तक अन्य निर्यातकर्ता देशों में भी कीमतों में १० प्रतिशत की वृद्धि नहीं होती है, १० प्रतिशत की कमी करनी पड़ेगी। इस प्रकार स्टर्लिंग के विदेशी विनिमय मूल्य में १० प्रतिशत की वृद्धि करने की नीति का परिणाम हमारे निर्यात उद्योगों की स्टर्लिंग आय में १० प्रतिशत की कमी करना था।"[15]

इस नीति के व्यावहारिक परिणाम स्पष्ट थे। निर्यात वस्तुओं की कीमतों में १० प्रतिशत की कमी करने के लिये मजदूरी दरों में १० प्रतिशत की न्यूनतम कमी करना आवश्यक था। कीन्स का कहना था कि विशेष लक्ष्यों की पूर्ति के लिये विशेष साधनों को अपनाना आवश्यक था। "जो लक्ष्यों की इच्छा करता है वह साधनों की भी अभिलाषा करता है। अब सरकार के समक्ष अपने अनावश्यक तथा खतरनाक निर्णय को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की जटिल समस्या है।"[16] यदि चर्चिलवादी बुद्धिहीन नीति को न अपनाया गया होता तो इंगलैण्ड को १९२७ ई० में हुई सामान्य हड़ताल का कदापि सामना न करना पड़ा होता।

स्वर्णमान को पुनः अपनाने के गम्भीर परिणाम केवल मजदूरी दर में कमी करने तक ही सीमित नहीं थे। इंगलैण्ड के भुगतान-शेष के उस घाटे को, जो पौंड स्टर्लिंग के अधिमूल्यन का परिणाम था, समाप्त करने के हेतु विदेशी निवेशकर्त्ताओं को स्टर्लिंग ऋणपत्रों को खरीदने के लिए प्रोत्साहित करने के लिये बैंक दर को ४ प्रतिशत से बढ़ाकर ५ प्रतिशत कर दिया गया। दुर्भाग्यवश बैंक दर में यह वृद्धि एक ऐसे अनुपयुक्त समय पर की गई थी जब इंगलैण्ड की अर्थव्यवस्था मन्दी के रोग से पीड़ित थी। इस नीति का परिणाम देश में निवेश तथा वाणिज्य को हताश करना था। आर० जी० हॉटरे ने भी, जो १९२५ ई० में स्वर्णमान को पुनः अपनाने की नीति के समर्थक थे, बैंक दर में वृद्धि करने की नीति की आलोचना करते हुए लिखा था कि "१९२५ ई० के आरम्भ में स्वर्णमान को पुनः अपनाने तथा पौंड-स्टर्लिंग के मूल्य में पुरानी समता दर तक वृद्धि करने के उद्देश्य से बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने बैंक दर को ४ प्रतिशत से बढ़ाकर ५ प्रतिशत कर दिया है। यह ऊँची दर है। १८६७ ई० के आरम्भ से लेकर १९१४ ई० में युद्ध के आरम्भ तक ४७½ वर्ष के समय में बैंक दर ५ प्रतिशत अथवा इस से अधिक केवल ३१९ सप्ताह अथवा प्रत्येक ८ सप्ताह में केवल एक सप्ताह के अल्प समय तक रही थी। दस सप्ताह अथवा इससे अधिक दीर्घ अवधि के लिये ५ प्रतिशत अथवा इससे अधिक बैंक दर अभिवृद्धि की असाधारण स्थिति को छोड़ कर अन्य स्थिति में शायद ही कभी उपस्थित रही थी। वास्तव में केवल १८७८ ई० तथा १८८४ ई० इस कथन के अपवाद कहे जा सकते हैं (इन दोनों वर्षों में बैंकदर ५ प्रतिशत अथवा इससे अधिक रही थी) तथा यह विचारणीय बात है कि १९१४ ई० के पूर्व ये दोनों वर्ष बेरोजगारी के लिखित

15. J. M. Keynes : *Essays in Persuasion*, p. 244.
16. *Ibid.*

इतिहास में उल्लेखनीय हैं। अत्यधिक व्यावसायिक लेनदेन होने की स्थिति में बैंक दर में वृद्धि करने का उद्देश्य कीमतों में वृद्धि को रोकना होता है। परन्तु जो दर ऐसी स्थिति के लिये उपयुक्त है उस दर को मन्दी की अवस्था में लागू करना पहाड़ी पर चढ़ते समय चलती गाड़ी को रोधक (brakes) लगाने के समान है।"[17]

परन्तु प्रश्न यह है कि कीन्स के समान कुशल अर्थशास्त्री द्वारा चेतावनी दिये जाने पर भी इंगलैण्ड ने १९२५ ई० में स्वर्णमान की पुनः स्थापना युद्ध-पूर्व स्वर्ण समता पर क्यों की थी ? ऐसा करने का प्रमुख कारण प्रतिष्ठा से सम्बन्धित था। इंगलैण्ड के प्रशासकों का विचार था कि यदि इंगलैण्ड ने स्वर्णमान को नीची स्वर्ण समता पर पुनः अपनाया तो इससे इंगलैण्ड की उस महान प्रतिष्ठा को, जो उसे अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय जगत में प्राप्त थी, गहरा धक्का लगेगा तथा संसार के देशों में इंगलैण्ड का प्रधान स्थान तथा सम्मान लोप हो जावेगा। सरकार के विचार में स्वर्णमान को नीची स्वर्ण समता दर पर अपनाना इंगलैण्ड की आर्थिक तथा वित्तीय स्थिति की कमजोरी का प्रतीक था। इसके अतिरिक्त सरकार का यह भी विश्वास था कि वेतनों तथा कीमतों में कमी हो जाने के फलस्वरूप पुरानी समता दर पर देश की अर्थव्यवस्था को सन्तुलन प्राप्त हो सकेगा। परन्तु ऐसा सोचना वास्तविकताओं का सामना न करने के समान था।

इंगलैंड की कठिनाई फ्रांस में विद्यमान स्थिति के कारण और अधिक गम्भीर हो गई। जब कि एक ओर इंगलैंड में स्वर्णमान को युद्ध-पूर्व समता पर पुनः अपनाकर पौंड-स्टर्लिंग का अधि-मूल्यन कर दिया गया था इसके विपरीत दूसरी ओर फ्रेंक का स्वर्ण तथा डालर मूल्य बहुत कम निर्धारित करके फ्रांसीसी सरकार ने फ्रेंक का अवमूल्यन कर दिया था। १९२६ ई० में फ्रांसीसी सरकार ने फ्रेंक-डालर समता दर ०·०३९२ डालर अथवा ३·९२ सेंट प्रति फ्रेंक निर्धा-रित की थी। १९१४ ई० में फ्रेंक-डालर समता दर १९·१ सेंट प्रति फ्रेंक थी। यद्यपि युद्ध तथा युद्ध-पश्चात् काल में फ्रांस में अमरीका की अपेक्षा कीमतों में अधिक वृद्धि हुई थी परन्तु यह वृद्धि इतनी अधिक नहीं थी कि फ्रेंक का डालर मूल्य इतना अधिक कम निर्धारित किया जाना चाहिये था। संक्षेप में इस नई फ्रेंक-डालर समता दर पर फ्रेंक निःसंदेह अधोमूल्य मुद्रा था। १९२८ ई० में फ्रांस ने इसी नीची समता दर पर स्वर्णमान को पुनः अपनाया था। परिणामस्वरूप फ्रांस में स्वर्ण-आयात अधिक हो गये थे। नई स्थिति में एक ओर पौंड-स्टर्लिंग था जो अमरीकी डालर के सम्बन्ध में अधिमूल्य मुद्रा था तथा दूसरी ओर फ्रेंक था जो अमरीकी डालर के सम्बन्ध में अधोमूल्य मुद्रा था। जहाँ तक पौंड-स्टर्लिंग की स्वर्ण समता का प्रश्न था डालर तथा फ्रेंक दोनों अधोमूल्य मुद्रा थे। इसके विपरीत फ्रेंक के सम्बन्ध में पौंड-स्टर्लिंग तथा डालर दोनों अधिमूल्य मुद्रा थे। इस विचित्र प्रतिकूल स्थिति में जहाँ अवास्तविक समता दरों के कारण स्वर्णमान देशों की मुद्रा इकाइयाँ अधिमूल्य तथा अधोमूल्य मुद्रायें बन गई थीं, स्वर्णमान का खण्डन होना स्वाभाविक था।

आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के कार्य में बाधक होती है। जी० डी० एच० कोल ने इस सम्बन्ध में सत्य कहा है कि "स्वर्णमान आवश्यक रूप से एक अबन्ध मान है। इसमें आर्थिक प्रबन्धन की उन विधियों का जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यापार पर रोक लगाना होता है, कोई स्थान नहीं है।"[18] युद्ध के पश्चात् संसार के देशों में आर्थिक

---

17. R. G. Hawtrey : *Currency and Credit*, pp. 107-108.
18. "The gold standard is essentially a *laissez faire* standard. It rules out such methods of economic management as involve restriction on exchange transactions". (G.D.H. Cole : *Money : Its Present and Future*, p. 231.)

राष्ट्रीयता का भयानक रोग उत्पन्न हो गया था तथा सच्चा मौद्रिक सहयोग कहीं भी विद्यमान नहीं था। इस प्रकार युद्ध-पश्चात काल में संसार में आरम्भ से ही सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग, जो स्वर्णमान के सुचारु रूप से कार्यशील होने के लिये आवश्यक है, का भारी अभाव था।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पद्धति तथा राष्ट्रीय वाणिज्य पद्धति एक साथ कदापि कार्य नहीं कर सकती हैं। युद्ध के पश्चात् स्वर्णमान देश इस सत्य को भूल गये थे कि स्वर्णमान केवल तभी सुचारु रूप से कार्य कर सकता है जब इस के कार्य में हस्तक्षेप न किया जावे तथा स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों पर रोक न लगाई जाय। स्वर्णमान देशों में वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। परन्तु युद्ध-पश्चात् काल में स्वर्णमान के इस नियम का बहुधा उल्लंघन किया गया था। अमरीका तथा फ्रांस, जिनके भुगतान-शेष अनुकूल थे, ने आयातों पर रोकें लगा दी थीं। एक ओर तो स्वर्ण का निर्यात करने वाले देशों को अवस्फीति का अनुभव करना पड़ रहा था तथा दूसरी ओर स्वर्ण प्राप्तकर्ता देशों में स्फीति उत्पन्न नहीं हुई थी। स्फीति के भय से अमरीकी सरकार ने स्वर्ण बन्ध्यता नीति के द्वारा स्वर्ण आयातों को संचलन में मुद्रा की मात्रा पर प्रभाव डालने से रोक दिया था। युद्ध के पश्चात् स्वर्णमान की स्वयं संचालकता समाप्त हो गयी थी। यद्यपि इंगलैण्ड ने स्वर्णमान को पुरानी समता दर पर पुनः अपनाकर भारी भूल की थी परन्तु यदि अमरीका ने प्रधान स्वर्णमान देश होने के नाते स्वर्णमान के नियमों का पालन किया होता तो स्वर्णमान का संसार में खण्डन नहीं हुआ होता।

युद्ध के पूर्व इंगलैण्ड ऋणदाता देश तथा लन्दन अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्र था। ऋणदाता देश होने के नाते इंगलैण्ड ने सदा मुक्त व्यापार की नीति का पालन किया था। इसके अतिरिक्त जिन देशों को अपने भुगतान-शेषों के घाटों को समाप्त करने के लिये ऋणों की आवश्यकता होती थी उनको पूँजी का निर्यात करके इंगलैण्ड ऋण सुविधाएँ भी प्रदान करता था। संक्षेप में युद्ध से पूर्व इंगलैण्ड संसार का ऋणदाता तथा मार्गदर्शक स्वर्णमान देश होने के नाते उन सभी कर्त्तव्यों का पालन करता रहा था जो एक नेता देश को करने चाहिये। युद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड का स्थान अमरीका को प्राप्त हो जाने के कारण अब इन कर्त्तव्यों को भक्तिभाव के साथ पूरा करने का उत्तरदायित्व अमरीका का था और दुर्भाग्यवश वह इन कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ सिद्ध हुआ।

स्वर्णमान एक अत्यधिक ईर्ष्यालु देवता के समान है। जिस प्रकार ईर्ष्यालु देवता को प्रसन्न करने के लिये अत्यधिक भक्तिभाव तथा संयम की आवश्यकता होती है इसी प्रकार स्वर्णमान को भी विद्यमान रखने के लिये इसके नियमों का भक्तिभाव से पालन करना आवश्यक है। स्वर्णमान देशों को स्वर्णमान के बहुमूल्य नियमों का भक्तिपूर्वक पालन करना चाहिए। परन्तु प्रश्न है कि स्वर्णमान के क्या नियम हैं? स्वर्णमान देश के मुद्रा प्राधिकारी को अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता के लिये निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिये।

(१) देश में मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होना चाहिये जिससे कि देश के भुगतान-शेष का घाटा स्वर्ण गतियों द्वारा प्रोत्साहित वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों द्वारा समाप्त हो सके। स्वर्ण की गतियों का स्वर्णमान देश के लागत-कीमत ढाँचे पर प्रभाव पड़ना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण निर्यातकर्ता देश में वस्तुओं की लागतों तथा कीमतों में कमी हो जानी चाहिये तथा स्वर्ण प्राप्तकर्ता देश में लागतों तथा कीमतों में वृद्धि हो जानी चाहिये। इसके लिये प्रत्येक स्वर्णमान देश

की आन्तरिक अर्थव्यवस्था लचीली होनी आवश्यक है जिससे कि प्रत्येक प्रकार के परिवर्तनों का प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पड़ सके।

(२) स्वर्णमान देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक को स्वर्ण की गतियों के साथ हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

संसार के सभी स्वर्णमान देशों के स्वर्णमान के आवश्यक नियमों का भक्तिपूर्वक पालन करते रहने की स्थिति में इस मान के परित्याग करने की आवश्यकता उत्पन्न नहीं होती है। स्वर्णमान के परित्याग करने का प्रश्न केवल उसी समय उठता है जब कोई प्रधान स्वर्णमान देश स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन करता है।

संसार के धनी देशों के पास भी सोने की सीमित मात्रा होती है। जिन देशों में सोने का उत्पादन होता है वहाँ भी सोना सीमित होता है क्योंकि खानों में सोने की सीमित मात्रा ही होती है। प्रत्येक देश के पास मुद्रा की आड़ तथा विदेशी भुगतानों के लिये सोने की सीमित मात्रा होती है। यह बात अन्य है कि किसी एक देश के पास स्वर्ण कोषों की मात्रा दूसरे देश की तुलना में अधिक हो सकती है। परन्तु वह मात्रा सीमित होती है। जब तक सभी स्वर्णमान देश इस मौलिक सत्य को ध्यान में रखते हैं तब तक स्वर्णमान के खण्डन होने का भय उत्पन्न नहीं होता है। स्वर्णमान के खण्डन के लिये अनुकूल वातावरण उस समय उत्पन्न होता है जब स्वर्णमान देश स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन करने लगते हैं। युद्ध-पश्चात् काल में स्वर्णमान देश, विशेष रूप से अमरीका तथा फ्रांस, इस मौलिक सत्य को भूल गये थे कि किसी भी देश के पास स्वर्ण की असीमित मात्रा नहीं होती है। अमरीका में स्वर्ण-आयातों के फलस्वरूप देश के लागत-कीमत ढाँचे पर पड़ने वाले प्रभावों को सरकार की स्वर्ण बनध्यता नीति के द्वारा समाप्त कर दिया गया था। यदि कोई एक स्वर्णमान देश अपने लागत-कीमत ढाँचे को स्वर्ण गतियों के प्रभावों से मुक्त कर देता है तो दूसरे स्वर्णमान देशों की कठिनाइयों में वृद्धि हो जाती है और उनको विवश होकर स्वर्णमान को त्यागना पड़ता है। स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों का घाटा अन्त में वस्तुओं तथा सेवाओं के आयातों तथा निर्यातों के द्वारा ही समाप्त होना चाहिये। स्वर्णमान देशों को इस मौलिक सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि वस्तुओं के आयात तथा निर्यात परस्पर आश्रित होते हैं। अन्त में निर्यातों के द्वारा आयतों का भुगतान किया जाता है तथा आयातों के द्वारा निर्यातों का भुगतान प्राप्त होता है। युद्ध-पश्चात् काल में स्वर्णमान देश स्वर्णमान को अपनाने के साथ-साथ स्वर्णमान के इन मौलिक सिद्धान्तों का उल्लंघन करके स्वर्णमान विरोधी नीतियों का पालन कर रहे थे। ऐसी स्थिति में स्वर्णमान का खण्डन होना स्वाभाविक था।

युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान का खण्डन इस सत्य को सिद्ध करता है कि यदि कोई एक अथवा एक से अधिक देश स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन करता है तो वह देश ऐसा करके दूसरे देशों को भी स्वर्णमान का परित्याग करने के लिये प्रोत्साहित करता है। १९१८ ई० में युद्ध की समाप्ति पर संसार के देश स्वर्णमान को पुनः अपनाकर पुराने अच्छे समय को प्राप्त करने के इच्छुक थे। वे स्वर्णमान के खण्डन के विचार को, जिससे देशों के बीच राजनैतिक तथा आर्थिक अविश्वास की भावना उत्पन्न होने के कारण समस्त मानव जाति को अनेक मुसीबतों को सहन करना पड़ा था, अति घृणा की दृष्टि से देखते थे। संसार के देशों ने यह अनुभव किया था कि आर्थिक एकता राजनीतिक एकता की भावना उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है। अतः इंगलैण्ड, फ्रांस तथा अमरीका के समान प्रधान देशों ने उज्ज्वल भविष्य की आशा करते हुये युद्ध की समाप्ति पर स्वर्णमान को पुनः अपनाया था। इन देशों को स्वर्णमान को पुनः अपनाते देख छोटे देशों ने

भी स्वर्णमान को पुनः अपना लिया था। परन्तु कुछ ही समय पश्चात् यह ज्ञात हो गया था कि युद्ध-पश्चात् काल में संसार की आर्थिक जलवायु स्वर्णमान के अनुकूल नहीं थी। अमरीका, जिसको यूरोप के छोटे देशों से अधिक मात्रा में सोना प्राप्त हो रहा था; जिसकी युद्ध-पश्चात् काल में आर्थिक स्थिति दृढ़ बन गई थी, तथा जो अब संसार का सबसे बड़ा ऋणदाता देश था, आयातों पर रोक लगाकर संरक्षण की नीति में विश्वास करने लग गया था। वस्तुओं के आयातों पर रोक लगाकर अमरीका ने यूरोप के ऋणी देशों से अपने ऋणों का भुगतान वस्तुओं के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। अतः जर्मनी, आस्ट्रिया तथा अन्य ऋणी देशों से स्वर्ण का अमरीका को निरन्तर निर्यात होता रहा था। इसी प्रकार फ्रांस भी एक ओर तो बेशी निर्यातकर्त्ता देश था तथा दूसरी ओर वह अपने आयातों पर रोक लगाकर संरक्षणवादी देश बन गया था। फ्रांस के ऐसा करने के कारण अन्य स्वर्णमान देशों से फ्रांस में स्वर्ण का निरन्तर आयात होता रहा था। परन्तु प्रत्येक देश के पास स्वर्ण की सीमित मात्रा होती है जिसके समाप्त होने के पश्चात् देश को स्वर्ण के निर्यातों पर रोक लगाकर स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ता है। युद्ध-पश्चात् काल में ऐसा ही हुआ।

अमरीका ने स्वर्णमान के नियमों का पालन नहीं किया तथा जो सोना घनी मात्रा में उसे विदेशों से प्राप्त हुआ था उसको जमीन में दबा दिया गया। फलस्वरूप अमरीका में स्फीति उत्पन्न नहीं हुई। यदि अमरीका में स्वर्ण आयातों के कारण कीमतों में वृद्धि हो गई होती और अमरीका ने मुक्त व्यापार नीति का पालन किया होता तो अमरीकी आयातों में वृद्धि तथा निर्यातों में कमी और ऋणी देशों के निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी होने के कारण अमरीका तथा ऋणी स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों का असन्तुलन स्वर्ण-गतियों की स्वयं संचालकता की क्रिया द्वारा शीघ्र समाप्त हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और स्वर्णमान टूट गया।

इसके अतिरिक्त प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाओं का लचीलापन समाप्त हो गया था। एकाधिकार, कारटल (cartel) तथा गुट्ट (trust) आदि आर्थिक संस्थाओं की समाज-विरोधी नीतियों के कारण कच्चे माल की कीमतें बेलचकदार बन गई थीं तथा श्रम-संघ वेतनों में कमी करने का कड़ा विरोध करते थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि स्वर्णमान देशों में कीमतों पर स्वर्ण की गतियों का प्रभाव पड़ना समाप्त हो गया। १९२५ ई० में स्वर्णमान को पुनः अपनाने के समय इंगलैण्ड की अर्थव्यवस्था युद्ध-पूर्व इंगलैण्ड की अर्थव्यवस्था से कुछ बातों में मौलिक रूप से भिन्न थी। अब इंगलैण्ड ऋणदाता देश न होकर एक ऋणी देश की अवस्था को प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार युद्ध-पश्चात् अमरीका युद्ध-पूर्व अमरीका से भिन्न था। वह अब आर्थिक जगत में संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था।

युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान के खण्डन का एक अन्य कारण स्वयं युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान की प्रकृति में निहित था। युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान मौलिक रूप में युद्ध-पूर्व स्वर्णमान से भिन्न था। इसमें इतनी अधिक स्वयंचालकता नहीं थी जितनी अधिक युद्ध-पूर्व स्वर्णमान में विद्यमान थी। युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान में स्वर्ण तथा मुद्रा की मात्रा के मध्य भी युद्ध-पूर्व स्वर्णमान की तुलना में कम निकट सम्बन्ध था। युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा तथा स्वर्णकोषों के मध्य उतना अधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था जितना कि युद्ध-पूर्व स्वर्ण मुद्रा मान में था। अब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने के लिये मुद्रा कोष के रूप में शतप्रतिशत स्वर्ण निधि का रखना आवश्यक नहीं था। इसके अतिरिक्त संसार में युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान अधिक देशों द्वारा अपनाये जाने के कारण स्वर्णमान देशों में अनुशासन बनाये रखने की समस्या भी उपस्थित हो गई थी।

इसके अतिरिक्त युद्ध-पश्चात् काल में अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की गतियाँ, जिनके कारण युद्ध-पूर्व स्वर्णमान कुशल प्रकार से कार्य करता रहा था, बुरी तरह से अस्तव्यस्त हो गई थीं। युद्ध-पूर्व स्वर्णमान के सुचारु रूप से कार्य करने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि इंगलैण्ड, जो उस समय प्रधान दीर्घावधि उधारदाता देश था, दीन राष्ट्रों को आवश्यकता पड़ने पर दीर्घावधि ऋण देकर इन राष्ट्रों के भुगतान-शेषों की प्रतिकूलता की समस्या का निवारण किया करता था। १९१४ ई० के पूर्व इंगलैण्ड के व्यापार-शेष (balance of trade) तथा दीर्घावधि उधारदान-शेष (balance of long-term lending) के परस्पर विपरीत दिशाओं में रहने के कारण सम्पूर्ण संसार के देशों के भुगतान-शेष स्थिरता की अवस्था को प्राप्त कर लेते थे। परन्तु 'तीसा' के युग में परिस्थिति बिल्कुल भिन्न थी। इंगलैण्ड का स्थान अमरीका को प्राप्त हो चुका था। अमरीका, जो युद्ध-पश्चात् काल में प्रधान उधारदाता देश था, की उधारदान नीति इंगलैण्ड की उस युद्ध-पूर्व उधारदान नीति, जो युद्ध-पूर्व स्वर्णमान के कार्य के अनुकूल थी, से भिन्न थी। प्रथम, अमरीका द्वारा ऋणी देशों को दिये गये ऋणों की कुल राशि इन देशों के भुगतान-शेषों के घाटे की समस्या को समाप्त करने के लिये काफी नहीं थी। दूसरे, अमरीकी ऋण दीर्घावधि ऋण न होकर अल्पावधि ऋण थे, जिनका भुगतान करने के लिये किसी समय भी ऋणी देशों को आदेश प्राप्त हो सकता था। अमरीका ने १९२९ ई० की मन्दी के आरम्भ होने के पश्चात्, जबकि उसका व्यापार-शेष अनुकूल था, विदेशों से अपने ऋणों का भुगतान प्राप्त करने का आग्रह किया था। अमरीका के ऐसा करने के कारण अमरीका का व्यापार-शेष तथा दीर्घावधि उधारदान-शेष एक ही दिशा में गतिमान हो गये तथा संसार के ऋणी देशों के भुगतान-शेषों की प्रतिकूलता कम होने के स्थान पर और अधिक हो गयी। संक्षेप में अमरीका की उधारदान नीति अनिश्चित तथा अस्थिरता उत्पन्न करने वाली थी। १९२६ ई०; १९२७ ई० तथा १९२८ ई० में अमरीका ने विदेशों को क्रमशः ७०० मिलियन; १,००० मिलियन तथा ८५० मिलियन डालर अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के रूप में प्रदान किये थे। परन्तु तत्पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सहायता प्रदान करने की गति बहुत धीमी हो गई थी तथा १९२९ ई० में अमरीका द्वारा दिये गये दीर्घावधि ऋणों की कुल राशि ३०० मिलियन डालर से भी कम थी। आर्थिक मन्दी के बढ़ने के साथ-साथ अमरीका के अन्तर्राष्ट्रीय उधारदानों में और भी अधिक कमी हो गई तथा १९३१ ई० में ऋणी देशों द्वारा अमरीका को किये गये ऋण भुगतानों की राशि अमरीका द्वारा प्रदान किये दीर्घावधि ऋणों की तुलना में ५०० मिलियन डालर अधिक थी। अमरीका ने ऋणी देशों को उस समय ऋण देना बन्द किया था जब संसार में आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के हित में उसको पहले की अपेक्षा अधिक राशि के ऋण प्रदान करने चाहिये थे। अमरीका का ऋणी देशों के प्रति यह व्यवहार उस मनुष्य के व्यवहार के समान था जो अच्छे समय में उधार देकर अपनी उदारता का परिचय देता है परन्तु मुसीबत के समय में ऋण का भुगतान माँग कर ऋणी की मुसीबत को कम करने के स्थान पर और अधिक कर देता है। ऐसी स्थिति में स्वर्णमान का खण्डन होना स्वाभाविक था।

स्वर्णमान के खण्डन के परिणाम अच्छे नहीं होते हैं। स्वर्णमान के टूट जाने पर देशों के आर्थिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। विनिमय दरों में भारी परिवर्तन होने लगते हैं। संसार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अस्त व्यस्त हो जाता है। संसार में स्वर्ण के विनिमय माध्यम के रूप में समाप्त हो जाने के कारण देशों को वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बहुपक्षीय भुगतानों की प्रथा समाप्त हो जाने के कारण इसके स्थान पर द्विपक्षीय

व्यापार की हानिकारक प्रथा स्थापित हो जाती है। संसार के देश भिन्न गुटों में विभाजित हो जाते हैं। संसार में धनी तथा निर्धन देशों के दो परस्पर विरोधी वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं, जो स्थायी शान्ति के शत्रु होते हैं।

खण्डन का आरम्भ

युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान के खण्डन का क्रम १९२९ ई० की महान मन्दी के आरम्भ से आरम्भ हुआ था। १९२९ ई० की मन्दी के परिणामस्वरूप कीमतों, आय तथा रोजगार के स्तरों में भारी गिरावट होने के कारण संसार के सभी देश वित्तीय बरबादी की दलदल में फँस गये थे। हम यह पहले बता चुके हैं कि यूरोप तथा संसार के अन्य बहुत से देशों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घावधि ऋणों का काफी महत्त्व था। संसार के छोटे तथा ऋणी देश ऋणदाता देशों से प्राप्त दीर्घावधि ऋण सहायता के आधार पर अपनी मुद्रा इकाई की स्वर्ण परिवर्तनशीलना को बनाये हुये थे। १९२९ ई० की महान मन्दी के परिणामस्वरूप ऋणदाता देशों से ऋणी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घावधि ऋण पूँजी के प्रवाह का अचानक अन्त हो गया। इसके साथ ऋणी देशों की निर्यात वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में अत्याधिक गिरावट उत्पन्न होने के कारण ऋणी देशों के निर्यातों की कुल मूल्य राशि में भी गिरावट आ गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घावधि ऋण प्राप्त न होने तथा निर्यातों के मूल्यों में गिरावट हो जाने का परिणाम यह हुआ कि ऋणी देशों के स्वर्ण कोषों पर, जो पहले ही बहुत कम थे, बहुत अधिक दबाव पड़ा। ऋणी देशों की यह परेशानी उस समय और अधिक बढ़ गई जब ऋणदाता देशों ने ऋणी देशों से अपने अल्पावधि ऋणों का भुगतान प्राप्त करने का अनुरोध किया। ऋणी देशों में इन अल्पावधि ऋणों की धनराशि इन देशों के स्वर्ण-कोषों की तुलना में काफी अधिक थी। ऐसी स्थिति में आस्ट्रीया तथा कुछ अन्य देशों को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

यद्यपि १९२९ ई० तथा १९३० ई० में कुछ देशों में स्वर्णमान का खण्डन हो चुका था परन्तु महान संकट उस समय उत्पन्न हुआ जब मई १९३१ ई० में यूरोप में आस्ट्रिया की सबसे बड़ी तथा मजबूत बैंक क्रेडिट-अन्स्टाल्ट (Credit-Anstalt) फेल हो गई। इस प्रसिद्ध बैंक के फेल हो जाने पर विदेशी ऋणदाताओं के विश्वास को गहरा धक्का लगा तथा उन्होंने अपनी जमा पूँजी को बैंक से निकालना आरम्भ कर दिया। लोगों के विश्वास को इतना गहरा धक्का लगा था कि विदेशी ही नहीं बल्कि स्वयं आस्ट्रिया निवासियों ने भी घनी मात्रा में अपनी जमाओं को बैंक से निकाल कर देश से बाहर भेजना आरम्भ कर दिया था। इस बैंक में जमाकर्ताओं की माँग का इतना अधिक दबाव था कि बैंक ऑफ इंगलैण्ड तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक (Bank of International Settlements) से प्राप्त हुये घनी धनराशि के ऋण भी बैंक को फेल होने से न बचा सके। विवश होकर आस्ट्रिया की सरकार को देश की मुद्रा इकाई की स्वर्ण परिवर्तनशीलता का अन्त करके स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

शीघ्र यह संकट आस्ट्रिया से हट कर दूसरे देशों में फैल गया। ऋणदाताओं का विश्वास सभी विदेशी वित्तीय केन्द्रों के प्रति लोप हो गया। आस्ट्रिया की बरबादी के पश्चात् अब जर्मनी की बारी थी। विदेशी ऋणदाताओं ने अपनी जमाओं को जर्मन बैंकों से हटाना आरम्भ कर दिया। विदेशियों के अतिरिक्त जर्मन निवासियों ने भी भयभीत होकर अपनी जमाओं को घनी मात्रा में बैंकों से निकालना आरम्भ कर दिया तथा वे इसको विदेशों में सुरक्षित स्थान पर भेजने लगे थे। इस असाधारण स्थिति का सामना करने के लिये बैंक ऑफ इंगलैण्ड, बैंक ऑफ फ्रांस;

फेड्रल रिजर्व बैंक ऑफ न्यूयार्क तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक से काफी मात्रा में ऋण प्राप्त किये गये। परन्तु भयभीत जमाकर्ताओं की बैंकों से अपनी जमाओं को वापस निकालने की माँग इतनी अधिक थी कि जर्मन सरकार के समक्ष जर्मन मार्क की स्वर्ण परिवर्तनशीलता को समाप्त करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था। फलस्वरूप जुलाई १९३१ ई० में जर्मनी में स्वर्णमान का खण्डन हो गया।

यद्यपि यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है परन्तु यह सत्य है कि सामान्य समय तथा साधारण स्थिति में इंगलैण्ड केवल ८०० मिलियन डालर की कम राशि के स्वर्ण कोष के द्वारा स्वर्णमान के उत्तरदायित्वों का पालन करता रहा था। परन्तु १९३१ ई० की परिस्थिति इससे पूर्णतया भिन्न थी। वित्तीय संकट तेज आँधी के समान तीव्र गति से आगे बढ़ रहा था। बर्लिन से हट कर अब यह संकट लन्दन में फैल गया। विदेशी निवेशकर्ताओं का स्टर्लिंग की स्वर्ण परिवर्तनशीलता में विश्वास समाप्त हो गया था तथा उनको यह विश्वास नहीं था कि माँगने पर उनकी अपनी पूँजी मिल सकेगी। जर्मनी तथा आस्ट्रिया के कटु अनुभव से वे इतने अधिक भयभीत हो गये थे कि वे इंगलैण्ड की भुगतान योग्यता पर सन्देह करने लग गये थे। फलस्वरूप इन लोगों ने घनी मात्रा में बैंकों से अपनी जमाओं को निकालना आरम्भ कर दिया। आरम्भ में बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने इस असाधारण स्थिति का सामना विदेशी पूँजी साधनों को आकर्षित करने के हेतु अपनी बैंक दर में वृद्धि करके करना चाहा। बैंक दर में वृद्धि इस आशा से की गई थी कि ब्याज की दर में वृद्धि होने से विदेशी पूँजी को देश में आने का आकर्षण प्राप्त होगा तथा फलस्वरूप प्रतिकूल स्थिति में सुधार हो सकेगा। परन्तु विधाता की कुछ और ही इच्छा थी। बैंक दर में वृद्धि होने से डरे हुये विदेशी ऋणदाताओं की देश की वित्तीय शक्ति के प्रति शंकायें और अधिक बढ़ गईं तथा वे अपने अनेक जमा कोषों को और अधिक मात्रा में हटाने लगे। स्थिति सुधरने के स्थान पर पहले से भी अधिक चिन्ताजनक रूप धारण कर गई। बैंकों से जमाओं को हटाने की माँग इतनी अधिक थी कि बैंक ऑफ फ्रांस तथा फेड्रल रिजर्व बैंक ऑफ न्यूयार्क द्वारा दिया गया २४० मिलियन डालर राशि का सम्मिलित ऋण भी बैंक ऑफ इंगलैण्ड की स्थिति में सुधार न कर सका। जुलाई से लेकर २१ सितम्बर, १९३१ ई० तक लगभग २½ मास की अल्प अवधि में १,००० मिलियन डालर राशि के भुगतान किये गये थे। विवश होकर इंगलैण्ड को २१ सितम्बर, १९३१ ई० को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

इंगलैण्ड द्वारा पौंड-स्टर्लिंग के अवमूल्यन का स्वर्णमान के खण्डन के इतिहास में विशेष महत्त्व है क्योंकि इंगलैण्ड के साथ ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में भी स्वर्णमान का परित्याग हो गया था। पौण्ड-स्टर्लिंग के अवमूल्यन के तत्कालीन प्रभाव इंगलैण्ड के लिये लाभप्रद सिद्ध हुये। प्रथम, निर्यातों के क्षेत्र में इंगलैण्ड को अपने प्रतियोगी निर्यातकर्ता देशों की तुलना में लाभ प्राप्त हो गया। स्टर्लिंग के अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशों में अँग्रेजी वस्तुयें सस्ती हो गईं। दूसरे, विनिमय स्थिरता के द्वारा उन देशों के साथ भी इंगलैण्ड के व्यापार में सुधार हुआ जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ इंगलैण्ड की पूरक थी।[19] परन्तु इस अवमूल्यन के दीर्घावधि प्रभाव इंगलैण्ड के लिये लाभप्रद सिद्ध न हो सके। दीर्घावधि में इसके परिणामस्वरूप १९३३ ई० में अमरीकी डालर तथा १९३६ ई० में फ्रेंक का प्रतियोगी अवमूल्यन हुआ था। सितम्बर १९३६ ई० में फ्रेंक का अवमूल्यन होने के

---

19. "England achieved the best of two worlds : (1) an export advantage over competitors; and (2) an improvement of trade through exchange stability with countries complimentary to her economy." (A. H. Hansen : *Fiscal Policy and Business Cycle*, p. 11.)

पश्चात् भविष्य में प्रतियोगी अवमूल्यन की सम्भावना को समाप्त करने के उद्देश्य से २५ सितम्बर, १९३६ ई० को इंगलैण्ड, फ्रांस तथा अमरीका के मध्य एक समझौता हुआ जो मौद्रिक इतिहास में त्रिपक्षीय समझौते के नाम से प्रसिद्ध है।

१९३१ ई० में इंगलैण्ड में पाउण्ड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन हो जाने के पश्चात् अमरीका के भुगतान-शेष की स्थिति खराब हो गई। अब यह निश्चित हो गया था कि अमरीका को भी निकट भविष्य में इंगलैण्ड के समान डालर का अवमूल्यन करने के लिये विवश होना पड़ेगा। १९३० ई०, १९३१ ई० तथा १९३२ ई० में अमरीका से क्रमशः ४७९ मिलियन, ६३७ मिलियन तथा ४४६ मिलियन डालर राशि के अल्पावधि पूँजी कोष वापस निकाले गये थे। परन्तु इतनी अधिक धनराशि की अल्पावधि पूँजी निकाले जाने के पश्चात् भी स्थिति चिन्ताजनक नहीं थी क्योंकि संसार के कुल स्वर्ण कोषों का लगभग ४० प्रतिशत भाग अमरीका में संकेन्द्रित था। परन्तु मिशीगन राज्य के डेटरायट नामक नगर में शक्तिशाली यूनियन गारजियन ट्रस्ट कम्पनी (Union Guardian Trust Company) के फेल हो जाने पर जनता के विश्वास को गहरा धक्का लगा तथा सारे राज्य में बैंकों में अपनी जमाओं को निकालने वाले जमाकर्ताओं की लम्बी पंक्तियाँ लग गई। अन्य बैंकों को फेल होने से बचाने के लिये मिशिगन के राज्यपाल ने आठ दिन की बैंक छुट्टी घोषणा की। मिशिगन से संकट शीघ्र देश के अन्य राज्यों में फैल गया। लुइस्याना (Louisiana) तथा मैरीलैंड (Maryland) राज्यों के राज्यपालों ने भी अपने राज्यों में बैंकों को फेल होने से बचाने के उद्देश्य से इसी प्रकार की बैंक छुट्टियों की घोषणा की थी। स्थिति इतनी अधिक गम्भीर थी कि ३ मार्च, १९३३ ई० को फैड्रल रिजर्व बैंकों के पास स्वर्ण का कुल स्टॉक इतना अधिक कम था कि यह कुल मुद्रा संचालन के लिये आवश्यक ४० प्रतिशत निधि के लिये भी अपर्याप्त था। यह संकट इतना महान था कि इसके समक्ष अमरीका की सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली का शक्तिपात हो गया तथा ४ मार्च, १९३३ ई० को इस चिन्ताजनक स्थिति के मध्य आशा की किरण के रूप में राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डीलानो रूजवैल्ट ने राष्ट्र के प्रशासन का कार्य भार सँभाला। ६ मार्च, १९३३ ई० को राष्ट्रपति द्वारा ४ दिन की राष्ट्रीय बैंक छुट्टी की घोषणा के अनुसार स्वर्ण भुगतान स्थगित कर दिये गये। ९ मार्च, १९३३ ई० को अमरीकी संसद ने अपने अधिवेशन में संकट कालीन बैंकिंग अधिनियम (Emergency Banking Act) बना कर राष्ट्रपति को आवश्यकतानुसार बैंक छुट्टी की अवधि में वृद्धि करने का अधिकार प्रदान कर दिया तथा राष्ट्रपति ने बैंक छुट्टी की अवधि में अनिश्चित समय की वृद्धि कर दी। लगभग १० मास पश्चात् ३१ जनवरी, १९३४ को शक्तिशाली डालर के स्वर्ण मूल्य में ४१ प्रतिशत की कमी कर दी गई। इस प्रकार शक्तिशाली डालर का भी अवमूल्यन हो गया तथा अमरीका में भी स्वर्णमान का खण्डन हो गया।

डालर का अवमूल्यन होने से अमरीका से स्वर्ण का निर्यात होना समाप्त हो गया तथा देश के भुगतान-शेष की स्थिति में पुनः सुधार हो गया। परन्तु अमरीकी सरकार के इस निर्णय का—डालर अवमूल्यन—आर्थिक कारणों के आधार पर समर्थन करना कठिन है। वास्तव में पौंड-स्टर्लिंग के अवल्मूयन का उद्देश्य अमरीकी डालर के सम्बन्ध में स्टर्लिंग के उस अधिमूल्यन को समाप्त करना था जो इंगलैण्ड द्वारा १९२५ ई० में स्वर्णमान की पुनः स्थापना के समय से विद्यमान था तथा जो स्वर्णमान के लिये घातक था। दूसरे शब्दों में, स्टर्लिंग का अवमूल्यन करने का उद्देश्य डालर के आरम्भिक अधोमूल्यन को समाप्त करना था। इंगलैण्ड की यह कार्यवाही उचित थी तथा यह दोनों देशों के भुगतान-शेषों में सन्तुलन स्थापित करने के लिये आवश्यक थी। परन्तु डालर के अवमूल्यन ने इस उद्देश्य को पूरा होने से रोक दिया तथा भुगतान-शेष के मौलिक

असन्तुलन की समस्या अब और अधिक जटिल बन गई तथा अमरीका को पहले से भी अधिक घनी मात्रा में स्वर्ण प्राप्त होने लगा।

यद्यपि जनवरी १९३४ ई० में शक्तिशाली डालर का अवमूल्यन हो जाने के पश्चात स्वर्णमान संसार के अधिकाँश देशों से लोप हो चुका था परन्तु यूरोप में अभी भी कुछ देश, जो स्वर्ण-गुट देशों के नाम से प्रसिद्ध थे तथा जिन में फ्रांस, हॉलैंड, बेल्जियम, लगजेम्बर्ग व स्विट्जर लैंड सम्मिलित थे, स्वर्णमान को अपनाये हुये थे। डालर का अवमूल्यन होने के परिणामस्वरूप इन स्वर्ण-गुट देशों की मुद्रा अधिमूल्य मुद्रा बन गई थी। उदाहरणार्थ, बेल्जियम की मुद्रा बेलजा (Belga) जिसका मूल्य डालर के अवमूल्यन के पूर्व १४ सेंट था डालर के अवमूल्यन के पश्चात् बढ़कर २३ सेंट हो गया था। ऐसा होने से स्वर्ण गुट देशों के निर्यात कम तथा आयात अधिक हो गये तथा भुगतान-शेषों की प्रतिकूलता को स्वर्ण निर्यातों तथा अवस्फीति के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता था। कुछ समय तक इन देशों ने अवस्फीति की नीति का पालन किया परन्तु अन्त में विवश होकर इनको स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। अप्रैल १९३५ ई० में बेल्जियम तथा सितम्बर १९३६ ई० में फ्रांस तथा अन्य स्वर्ण गुट देशों से भी स्वर्णमान लोप हो गया। इस प्रकार १९३६ ई० के अन्त तक स्वर्णमान का संसार में कोई चिन्ह विद्यमान नहीं था।

स्वर्णमान के खण्डन के कारणों का सारांश

युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान के खण्डन के उपरोक्त कारणों का सारांश निम्नलिखित प्रकार है।

(१) युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में अनेक बाधायें उत्पन्न हो गई थीं। इसके अतिरिक्त सीमित स्वर्ण स्टाक का विभिन्न स्वर्णमान देशों में न्यायहीन रूप में वितरण करके स्वर्णमान की प्रतिकूल उपस्थिति ने प्रतिकूल वातावरण उत्पन्न कर दिया था।

(२) स्वर्णमान देशों में केन्द्रीय बैंकों ने अपनी स्वर्ण बन्ध्यता नीतियों के द्वारा स्वर्ण गतियों के प्रभावों को संचलन में मुद्रा की मात्रा पर पड़ने से रोकने के प्रयास किये थे। जिन देशों को सोना प्राप्त हो रहा था वहाँ केन्द्रीय बैंक अधिकारियों ने संचलन में मुद्रा तथा साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं होने दी थी।

(३) युद्ध-पश्चात् काल में आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना अमरीका के नागरिकों के लिये एक इतना अधिक प्रशंसनीय लक्ष्य बन गई थी कि वे इसको अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता की तुलना में अधिक उत्तम तथा आवश्यक समझने लगे थे। अधिकतम निर्यात करना तथा आयातों पर रोक लगाना अमरीका की आर्थिक नीति का सर्वप्रिय लक्ष्य बन गया था। अमरीका एक प्रधान ऋणदाता देश था तथा ऋणदाता देश के लिये अपने व्यापार-शेष में आयात-बेशी (import surplus) उत्पन्न करना अथवा ऋणी देशों को दीर्घावधि ऋण प्रदान करना उपयुक्त नीति है। ऋणदाता देश को संरक्षणवादी नीतियों को कदापि नहीं अपनाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से ऋणी देश ऋणदाता देश को ऋणों का भुगतान करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। अमरीका ने संरक्षणवादी नीतियाँ अपनाकर ऋणी-देशों को ऋण का भुगतान न करने पर बाध्य किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि ऋणी देशों ने विवश होकर विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपना लिया तथा स्वर्णमान व मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का खण्डन हो गया।

(४) युद्ध-पश्चात् काल में विद्यमान राजनीतिक तथा आर्थिक अस्थिरता भी स्वर्णमान के लिये घातक सिद्ध हुई। गतिमान मुद्रा (hot money) की घटना उत्पन्न होने के कारण

पूँजी का एक देश से दूसरे देश को अचानक अंतरण होने लगा था तथा विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखना कठिन हो गया था ।

(५) युद्ध के पश्चात् विजयी देशों ने परास्त देशों से युद्ध का हरजाना वसूल करने की चेष्टा की थी । इस समस्या के उत्पन्न होने के कारण जर्मनी इत्यादि परास्त देशों के सीमित विदेशी विनिमय साधनों पर अधिक दबाव पड़ने के कारण इन देशों के लिये स्वर्णमान के नियमों का पालन करना कठिन हो गया था । जर्मनी तथा अन्य देश युद्धकालीन ऋणों के भुगतानों के भार को सहन नहीं कर सके और विनिमय दर स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो गया । विवश होकर इन देशों ने विदेशी भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे एवं स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया था ।

(६) युद्ध के पश्चात् स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाएँ दृढ़ (rigid) हो गई थीं तथा उसमें लचीलेपन का अभाव उत्पन्न हो गया था । राजनीतिक तथा आर्थिक बाधाओं के कारण स्वर्ण का अर्थव्यवस्था के लागत-कीमत ढाँचे पर प्रभाव पड़ना समाप्त हो गया था और इस कारण स्वर्ण मान का विद्यमान रहना कठिन था ।

(७) स्वर्णमान के खण्डन का सबसे बड़ा कारण १९२९ ई० की महान मन्दी थी । यह आर्थिक संकट जो अमरीका में वहाँ के मुद्रा बाजार के फेल हो जाने (Wall Street Crash) से आरम्भ हुआ था, स्वर्णमान के चलनशील होने के कारण शीघ्र सारे संसार में फैल गया था। अपनी घरेलू अर्थव्यवस्था को महान मन्दी के परिणामों से मुक्त करने के उद्देश्य से स्वर्णमान देशों ने आयातों पर रोकें लगा दीं तथा विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण स्थापित कर दिया था ।

(८) प्रथम महायुद्ध के पूर्व संसार के वे देश जिनके पास फालतू पूँजी थी अपनी पूँजी का विदेशों में अल्पावधि निवेश किया करते थे । युद्ध-पूर्व काल में पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता का विशेष महत्त्व था । परन्तु दो महायुद्धों के बीच के काल में विदेशी पूँजी पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रथा तीव्र हो गई थी । मूलधन के भुगतान तथा ब्याज के शोधन पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे । विदेशी विनिमय दरों में इच्छानुसार परिवर्तन करके विदेशी निवेशयोग्य मूल-धन के भुगतान के रूप में कम देने की चेष्टाएँ की गई थीं । जर्मनी ने इस प्रकार की अनेक चालाकियों का प्रयोग किया । इन सब का परिणाम यह हुआ कि अल्पावधि विदेशी पूँजी कोषों का, सुरक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से, शीघ्र एक देश से दूसरे देश को अन्तरण किया जाने लगा । परिणामस्वरूप अधिकांश देशों के भुगतान-शेष अनिश्चित बन गये और इन देशों में इस प्रकार की पूँजी के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई ।

युद्ध-पूर्व स्वर्णमान के सुचारु रूप से कार्य करने के कारण

युद्ध-पूर्व स्वर्णमान ने बड़ी कुशलता के साथ कार्य किया था । युद्ध-पूर्व स्वर्णमान का कार्य इतना अधिक अच्छा था कि प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री टॉसिग ने इस सत्य को स्वीकार करते हुये यह लिखा है कि यह एक ऐसी घटना थी जिसके रहस्य को समझना कठिन है । युद्ध-पूर्व स्वर्णमान की सफलता के कारणों को केवल यह कहकर नहीं समझाया जा सकता है कि स्वर्ण मान देश स्वर्णमान के नियमों का पालन करते थे क्योंकि स्वर्णमान देशों द्वारा इन नियमों का पालन सदा नहीं किया जाता था । हेनसन के विचारानुसार युद्ध-पूर्व स्वर्ण मान के सफलतापूर्वक कार्य करने के दो कारण थे । प्रथम, युद्ध-पूर्व स्वर्णमान ने एक ऐसी अर्थव्यवस्था में कार्य किया

था जिसका तीव्र गति से विकास हो रहा था। दूसरे, यह कीमतों की बढ़ती हुई प्रवृति की अनुकूल स्थिति में कार्यशील रहा था।

इसके अतिरिक्त युद्ध के पूर्व स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाओं का लचीलापन भी युद्ध-पूर्व स्वर्णमान की सफलता का महत्वपूर्ण कारण था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व ४० वर्ष से अधिक का समय, जिसमें युद्ध-पूर्व स्वर्णमान कार्यशील रहा था, बड़े अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा राजनीतिक विद्वानों से मुक्त था। यह शान्ति का काल था तथा स्वर्णमान के विकास के अनुकूल था।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त एक अन्य कारण का भी युद्ध-पूर्व स्वर्णमान की सफलता में हाथ था। युद्ध-पूर्व स्वर्णमान केवल एक स्थान पर केन्द्रित अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली था। १९१४ ई० के पूर्व संसार का अधिकाँश व्यापार तथा वित्तीय लेन देन लन्दन में केन्द्रित था। लन्दन विश्व का वित्तीय केन्द्र था तथा लगभग सभी देश अपने आपसी लेन-देन स्टर्लिंग के माध्यम द्वारा तय किया करते थे। संक्षेप में, यद्यपि वैधानिक दृष्टि से पौंड-स्टर्लिंग इंगलैंड की मुद्रा थी परन्तु व्यावहारिक रूप में इसको अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का सम्मान प्राप्त था। एक प्रकार से यह कहना गलत न होगा कि युद्ध-पूर्व स्वर्णमान स्टर्लिंग मान था क्योंकि लन्दन लगभग सभी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक लेन-देन का केन्द्र था। एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मान का सफल प्रबन्धन करना सरल होता है जो केवल एक केन्द्र पर केन्द्रित होता है। इसके विपरीत युद्ध-पश्चात स्वर्णमान तीन ऐसे विभिन्न केन्द्रों—लन्दन, न्यूयार्क तथा पेरिस—पर केन्द्रित था जिनकी नीतियाँ परस्पर विरोधी थी।

विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund)

सितम्बर १९३१ ई० में स्वर्णमान का परित्याग हो जाने के पश्चात इंगलैण्ड में पौंड-स्टर्लिंग को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया तथा इसके विनिमय मूल्य को निर्धारित करने का प्रयास नहीं किया गया। इसका बाह्य मूल्य विदेशी विनिमय बाजार में माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होने लग गया। परिणामस्वरूप कुछ मास पश्चात दिसम्बर १९३१ ई० में विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिंग का डालर मूल्य ४·८६६५ डालर से गिर कर ३·३७ डालर हो गया था। नवम्बर १९३१ ई० में विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिंग का डालर मूल्य केवल ३·२७ डालर था। अप्रैल १९३२ ई० में विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने के उद्देश्य से इंगलैंड में एक योजना का निर्माण किया गया जिसके अन्तर्गत विदेशी विनिमय बाजार में राज्य का एकाधिकार स्थापित हो गया। मौद्रिक इतिहास में यह योजना विनिमय स्थिरीकरण कोष के नाम से प्रसिद्ध है। कोष का वास्तविक कार्य जून १९३२ ई० से प्रारम्भ हुआ था। इस कोष की स्थापना के तीन प्रमुख उद्देश्य थे। प्रथम, इसकी स्थापना होने से सरकार का विदेशी विनिमय बाजार पर एकाधिकार स्थापित हो गया तथा इंगलैंड में मुक्त विदेशी विनिमय बाजार का अन्त हो गया। कोष को स्थापित करने का दूसरा प्रमुख उद्देश्य देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था को भुगतान-शेष में होने वाले उच्चावचनों के हानिकारक प्रभावों से मुक्त रखना था। कोष की स्थापना का तीसरा उद्देश्य विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति पर नियन्त्रण करके विदेशी विनिमय बाजार में सट्टेबाजी को रोकना था।

इंगलैण्ड में विनिमय स्थिरीकरण कोष का प्रबन्धन सरकारी राजकोष द्वारा किया जाता था। ऐसा राजनीतिक तथा प्रशासकीय कारणों से किया गया था। सरकार विनिमय स्थिरीकरण कोष की क्रिया विधियों को गुप्त रखना चाहती थी। यदि कोष का नियन्त्रण तथा प्रबन्धन बैंक ऑफ इंगलैण्ड के हाथों में हुआ होता तो बैंक विधान के अनुसार प्रति वर्ष कोष के कार्य सम्बन्धी

लेन-देन के चिट्ठे को प्रकाशित करना आवश्यक हुआ होता तथा कोष के कार्य को गुप्त रखना कठिन हुआ होता।

१९३४ ई० में डालर का अवमूल्यन हो जाने के पश्चात अमरीका में भी विनिमय स्थिरीकरण कोष की स्थापना की गई। अमरीकी कोष १९३४ ई० के स्वर्ण निधि अधिनियम (Gold Reserve Act of 1934) के अन्तर्गत स्थापित किया गया था। इसका प्रबन्धन फेड्रल रिजर्व बैंक ऑफ न्यूयार्क द्वारा किया जाता था। कोष की आरम्भिक पूँजी २ बिलियन डालर राशि थी जो सरकारी स्वर्ण कोषों को ३५ डालर प्रति औंस की दर पर पुनः मूल्यन करने के कारण लाभ के रूप में प्राप्त हुई थी।[20] परन्तु इस कुल पूँजी में से केवल २०० मिलियन डालर राशि कोष का कार्य चलाने के लिए फेड्रल रिजर्व बैंक ऑफ न्यूयार्क को स्वर्ण पत्रों का प्रचालन करके प्रदान की गई थी। अमरीकी विनिमय स्थिरीकरण कोष के दो उद्देश्य थे। कोष की स्थापना का प्रथम उद्देश्य इंगलैण्ड का अनुकरण करना था। कोष की स्थापना का दूसरा प्रमुख उद्देश्य इंगलैण्ड को यह चेतावनी देना था कि यदि इंगलैण्ड ने भविष्य में पौंड स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया तो अमरीका इसका उत्तर इंगलैण्ड को डालर के प्रतियोगी अवमूल्यन के द्वारा दे सकेगा।

१९३६ ई० में फ्रांस ने भी फ्रैंक का अवमूल्यन करने के पश्चात् विनिमय स्थिरीकरण कोष की स्थापना की थी। अमरीकी कोष के समान फ्रांसीसी कोष की पूँजी का स्रोत भी फ्रैंक के अवमूल्यन द्वारा सरकार को प्राप्त हुये लाभ की धनराशि थी। सितम्बर १९३६ ई० तक संसार के तीनों प्रधान स्वर्णमान देशों में विनिमय स्थिरीकरण कोषों की स्थापना की जा चुकी थी। २५ सितम्बर, १९३६ ई० को फ्रांस, इंगलैण्ड तथा अमरीका के मध्य एक समझौता हुआ जो त्रिपक्षीय समझौते के नाम से प्रसिद्ध है तथा विदेशी विनिमय के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रतीक है।

इस समझौते के अनुसार समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले तीनों देशों ने विनिमय बाजार में मौद्रिक क्रियाओं के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय प्रणाली तथा अपनी मुद्रा इकाइयों की विनिमय दरों को स्थिर बनाये रखने का वचन दिया। यह समझौता इस आश्वासन का प्रतीक था कि विदेशी विनिमय दरों में दिनप्रतिदिन स्थिरता को स्थापित किया जावेगा तथा विदेशी विनिमय दर में बडे परिवर्तन केवल समझौते के द्वारा किये जायेंगे। वास्तव में विनिमय स्थिरीकरण कोषों की स्थापना द्वारा स्वर्णमान की अनुपस्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्राप्त करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सन्तुलित रखने की चेष्टा की गई थी। त्रिपक्षीय समझौता विद्यमान होने के कुछ ही समय पश्चात् अक्तूबर १९३६ ई० में बेलजियम, हॉलैण्ड तथा स्विटजरलैंड भी समझौते पर हस्ताक्षर करके विनिमय स्थिरीकरण कोषों की योजना में शामिल हो गये और समान प्रकार के विनिमय स्थिरीकरण कोष अपने-अपने देशों में स्थापित कर लिये।[21] त्रिपक्षीय समझौते के पश्चात् एक अन्य

---

20. १९३४ ई० में डालर के अवमूल्यन के पूर्व २०·६७ डालर प्रति औंस की दर से कुल सरकारी स्वर्ण कोषों का मूल्य ४·०६३ बिलियन डालर था। डालर के अवमूल्यन के पश्चात् स्वर्ण का मूल्य ३५ डालर प्रति औंस निर्धारित हो जाने के कारण इन स्वर्ण कोषों का डालर मूल्य बढ़कर ६·८२९ बिलियन डालर हो गया था। इस प्रकार सरकार को डालर के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप २·७६९ बिलियन डालर राशि का लाभ प्राप्त हुआ था।
21. समान प्रकार के स्थिरीकरण कोष कनाडा, रूमानिया, कोलम्बिया, जैकोस्लोवाकिया लेटविया तथा अरजनटाइना में भी स्थापित किये गये थे।

प्रबन्ध के अनुसार समझौते में भाग लेने वाले प्रत्येक देश का यह कर्त्तव्य था कि वह अपनी उस मुद्रा के बदले में, जो समझौते वाले किसी दूसरे देश के स्थिरीकरण कोष को प्राप्त होती है, कोष के माँगने पर निर्धारित विनिमय दर पर सोना देगा। विनिमय स्थिरीकरण कोषों की योजना के अन्तर्गत यद्यपि स्वर्ण का महत्व मुद्रा इकाई के मूल्य के रूप में समाप्त हो गया था परन्तु स्वर्ण पहले के समान अब भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का एकमात्र माध्यम था। विनिमय स्थिरीकरण कोषों की योजना १९३९ ई० तक दूसरे महायुद्ध की घोषणा के समय तक कार्यशील रही थी।

विनिमय स्थिरीकरण कोष उन विदेशी विनिमय तथा स्वर्ण आदेयों (assets) का संग्रह था जो मुद्रा इकाइयों की विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तनों को रोकने अथवा नष्ट करने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक अथवा सरकारी कोषागार में सुरक्षित रखे जाते थे। विनिमय स्थिरीकरण कोष को स्थापित करने का प्रमुख उद्देश्य विनिमय दरों में होने वाले उन अनुचित परिवर्तनों को रोकना था जो पूँजी की शंसीय गतियों के कारण उत्पन्न हो जाते थे और जो विदेशी विनिमय में अनुचित सट्टेबाजी की क्रियाओं को प्रोत्साहित करते थे। कोष की स्थापना का उद्देश्य विनिमय दरों में होने वाले उन परिवर्तनों को रोकना नहीं था जो भुगतान-शेषों में होने वाले सामान्य परिवर्तनों का परिणाम थे।

विनिमय स्थिरीकरण कोषों की कार्यविधि सरल थी। प्रत्येक देश की सरकार अपनी हुण्डियाँ लन्दन, पेरिस तथा न्यूयार्क में बेचकर कोषों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय साधन तथा पूँजी प्रदान करती थी। इस पूँजी की सहायता से विनिमय स्थिरीकरण कोष स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्रा खरीद सकता था। जब देश में विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण की पूर्ति में वृद्धि हो जाती थी तब कोष विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण को भविष्य में माँग बढ़ने पर बेचने के उद्देश्य से स्थिर दर पर खरीद लेता था। इस प्रकार विदेशी मुद्राओं को स्थिर विनिमय दर पर क्रय-विक्रय करके कोष विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया करता था।

कोष की सीमाएँ

साधन, विशेषकर विदेशी मुद्रा तथा सोने की मात्रा, सीमित होने के कारण विनिमय स्थिरीकरण कोषों के द्वारा केवल एक निश्चित सीमा तक ही विदेशी विनिमय दर स्थिरता को प्राप्त किया जा सकता था। यह सीमा स्थिरीकरण कोष के साधनों, विशेषकर विदेशी विनिमय, की मात्रा पर निर्भर रहती थी। उदाहरण के लिये, यदि विदेशी मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति की तुलना में अधिक होती थी तो विनिमय स्थिरीकरण कोष विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण के अपने सम्पूर्ण कोषों को बेचकर भी माँग को पूरा नहीं कर सकता था। संक्षेप में विदेशी विनिमय तथा स्वर्ण की माँग इनकी पूर्ति के तुलना में अधिक होने की स्थिति में विनिमय स्थिरीकरण कोष की शक्ति अधिक सीमित थी। परन्तु विपरीत स्थिति में अर्थात उस समय जब देशी मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति की तुलना में अधिक होती थी कोष की शक्ति पहली स्थिति की तुलना में अधिक होती थी, क्योंकि देशी मुद्रा का कोष समाप्त हो जाने पर स्थिरीकरण कोष अपनी हुण्डियाँ बेच कर देश के मुद्रा बाजार से ऋण प्राप्त कर सकता था। यद्यपि विनिमय स्थिरीकरण कोषों के द्वारा विदेशी विनिमय दर में होने वाले स्थाई तथा दीर्घकालीन परिवर्तनों को नहीं रोका जा सकता था, और ऐसा करना विनिमय समानीकरण कोषों का उद्देश्य भी नहीं था, परन्तु अपनी हुण्डियां बेचकर इनके द्वारा विनिमय दर में होने वाले अस्थायी तथा अल्पकालीन परिवर्तनों को रोका जा सकता था। विनिमय स्थिरीकरण कोषों के द्वारा विदेशी विनिमय के क्षेत्र में सट्टेबाजी की क्रियाओं पर भी नियन्त्रण रखा जा सकता था। विनिमय स्थिरीकरण कोष के साधनों के उपयोग के द्वारा विदेशी विनिमय दर में होने

वाले उन परिवर्तनों को भी रोका जा सकता था जो कुछ ऋतुओं में आयातों अथवा निर्यातों में कमी अथवा वृद्धि हो जाने के कारण उत्पन्न हो जाते थे। उदाहरण के लिये, प्रत्येक वर्ष शरद ऋतु में इंगलैंड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में अमरीका से भारी मात्रा में अन्न का आयात होने के कारण लन्दन में अमरीकी डालरों की माँग बहुत बढ़ जाती थी जिसके कारण स्टर्लिंग-डालर विनिमय दर में शरद ऋतु में परिवर्तन हो जाते थे। विनिमय स्थिरीकरण कोष के डालर साधनों की सहायता से विनिमय दर को स्थिर रखा जा सकता था।

दूसरे महायुद्ध के पश्चात् स्वर्ण का स्थान

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के सभी देशों ने पुनः एक ऐसे मान को अपनाने की इच्छा व्यक्त की थी जिसके अन्तर्गत विनिमय दर स्थिरता, जो मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए आवश्यक हैं, बनी रहे और साथ ही साथ देशों को वित्तीय मामलों में स्वाधीनता भी प्राप्त हो सके। दूसरे शब्दों में एक ऐसी योजना अथवा मान का निर्माण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसको अपना कर विनिमय-स्थिरता तथा कीमत-स्थिरता में अनुरूपता सम्भव हो सकती थी। कागजी मुद्रा मान तथा स्वर्णमान में यह सम्भव नहीं हो पाता था। कागजी मुद्रा मान में मूल्य स्थिरता प्राप्त हो जाती थी परन्तु विनिमय दर में भारी उच्चावचन होने लगते थे। इसके विपरीत स्वर्णमान में विनिमय स्थिरता को प्राप्त करने के लिये मूल्य-स्थिरता को त्यागना आवश्यक होता था। इस सम्बन्ध में दो योजनाएँ इंगलैण्ड तथा अमरीका की ओर से प्रस्तुत की गईं। जो योजना इंगलैंड द्वारा प्रस्तुत की थी वह कीन्स योजना (Keynes Plan) तथा अमरीका द्वारा प्रस्तुत योजना व्हाइट योजना (White Plan) के नाम से प्रसिद्ध है। १९४४ ई० में संसार के ४४ देशों के प्रतिनिधि अमरीका में ब्रैटन वुडस (Brettonwoods) नामक स्थान पर एक सम्मेलन में इस प्रश्न पर विचार करने के उद्देश्य से एकत्र हुये और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना का निर्माण करके मूल्य-स्थिरता तथा विनिमय स्थिरता को साथ-साथ प्राप्त करना सम्भव बनाया। कोष की योजना के अन्तर्गत पुराने स्वर्ण मान की स्थिर विनिमय स्थिरता के स्थान पर लचीली अथवा परिवर्तनीय विनिमय स्थिरता के विचार को अपनाया गया है। कोष की योजना में यद्यपि सदस्य देशों की मुद्रा इकाइयों के सममूल्य (par values) स्वर्ण में निर्धारित किए गए हैं परन्तु कोष की योजना में स्वर्ण को वह स्थान प्राप्त नहीं है जो इसे स्वर्णमान में प्राप्त था। कोष की योजना में स्वर्ण को केवल एक सच्चे सेवक का स्थान प्राप्त है जबकि स्वर्णमान में स्वर्ण को निरंकुश राजा का स्थान प्राप्त था। कोष की योजना में यद्यपि सदस्य देशों की मुद्रा इकाइयों के सम-मूल्य स्वर्ण में निर्धारित किये जाते हैं परन्तु स्वर्णमान के समान ये सम-मूल्य अपरिवर्तनीय नहीं हैं। किसी सदस्य देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था को सन्तुलित रखने के हेतु इस देश की मुद्रा इकाई के सममूल्य में सीमित मात्रा में परिवर्तन किये जा सकते हैं। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा पूँजी की गतियों पर भी सदस्य देशों द्वारा असाधारण आर्थिक स्थिति में प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। यह सब स्वर्णमान में सम्भव नहीं था। कीन्स के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना स्वर्णमान के बिलकुल विपरीत है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने कोष की योजना को स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard) का नाम दिया है।

अध्ययन सूची

1. R. G. Hawtrey : The Gold Standard in Theory and Practice, Chapters 5 to 8.
2. George N. Halm : Monetary Theory, Chapter 12.
3. G. D. H. Cole : Money : Its Present and Future, Chapter 12.

4. G. Crowther : An Outline of Money, Chapter 9.
5. Steiner and Shapiro : Money and Banking, Chapters 3 and 4.
6. T. E. Gregory : The Gold Standard and Its Future.
7. A. C. L. Day : An Outline of Monetary Economics, Chapters 35 and 38.
8. R. P. Kent : Money and Banking (4th edition), Chapters 2 and 3.
9. J. M. Keynes : The Economic Consequences of Mr. Churchill.
10. E. S. Klise : Money and Banking (3rd. edition), Chapter 4.

प्रश्न

1. The Gold Standard failed primarily because it could not reconcile exchange stability with price stability which was considered more important in the post-war world as an objective of monetary policy. Discuss.
2. 'The Gold Standard is essentially a laissez-faire standard. It rules out such methods of economic management as involve restrictions on exchange transactions.' (Cole)
Discuss the statement in the light of the currency history of Britain and U. S. A. between 1920 and 1931.
3. What were the economic causes that led to the abandonment of the Gold Standard by all countries of the world after 1931 ?
4. 'The failure of the gold standard in the period before World War II was due to the fact that the nations concerned did not observe the rules of the gold standard game.' Discuss this statement. Also indicate how far the influences emanating from the side of gold as such were responsible for the failure of the gold standard ?
5. What is meant by a country going off the Gold Standard ? Why is such a policy adopted by a country and what are its effects ?
6. "The operation of the gold standard required certain "rules of the game" to be observed by the countries concerned and when the rules came to be violated, the standard had to face considerable difficulties." Discuss the above statement and explain the fall of the gold standard after 1934 in the light of this statement.
7. "A country which stays on the gold standard thereby gives up the privilege of following whatever monetary policy it likes". Discuss and point out the causes which led to the breakdown of the Gold Standard after 1929.

११

कागजी मुद्रा मान
(Paper Standard)

कागजी मुद्रा मान, जिसका दूसरा नाम प्रबन्धित मुद्रा मान है, उस प्रकार की मुद्रा प्रणाली की ओर संकेत करता है जिसमें देश की प्रामाणिक मुद्रा प्रमुख रूप से कागज की बनी होती है। कागजी मुद्रा मान में यद्यपि धातु के सिक्के भी कागजी नोटों के साथ संचलन में होते हैं परन्तु इनका महत्व कागजी नोटों की तुलना में कम होता है। प्रथम, साधारणतया धातु के सिक्के सांकेतिक सिक्कों के रूप में संचलन में होते हैं। दूसरे, धातु के सिक्के प्रामाणिक सिक्कों अथवा मुद्रा के रूप में कागजी नोटों के साथ संचलन में होते हुये भी परिमाणात्मक दृष्टि से कागजी मुद्रा की तुलना में बहुत कम मात्रा में होते हैं। कागजी मुद्रा मान की प्रमुख विशेषता केवल यह नहीं है कि कागजी मुद्रा देश से संचलन में होती है क्योंकि स्वर्णमान में भी प्रतिनिधि कागजी मुद्रा संचलन में हो सकती है तथा स्वर्णमान के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि स्वर्ण मुद्रा मान तथा स्वर्ण धातु मान में कागजी मुद्रा संचलन में थी। परन्तु ऐसा होने हुये भी यह कागजी मुद्रा पूर्णतया स्वर्ण में परिवर्तनीय थी। कागजी मुद्रा मान में जो कागजी मुद्रा संचलन में होती वह स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं होती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस मान को प्रादिष्ट (fiat) मान का नाम दिया है।

यद्यपि कागजी मुद्रा का इतिहास बहुत पुराना है तथा चोन में ७९० ई० में संग सरकार ने कागजी मुद्रा छापी थी परन्तु यह कहना अनुचित नहीं है कि कागजी मुद्रा प्रमुख रूप से प्रथम महायुद्ध की गौण उत्पत्ति है क्योंकि प्रथम महायुद्ध के पूर्व फ्रान्स में १७८९ ई० में फ्रान्सीसी क्रान्ति तथा अमरीका में १८६२ ई० में हुये गृह युद्ध की कुछ असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर संसार के देशों में सोने तथा चाँदी के पूर्णकाय सिक्के संचलनशील थे। उन्नीसवीं शताब्दी तथा प्रथम महायुद्ध की घोषणा के पूर्व बीसवीं शताब्दी के प्रथम चौदह वर्ष तक संसार के देशों में द्विधातुमान तथा स्वर्णमुद्रा मान प्रचलित थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के कुछ पूर्व तक चाँदी को मुद्रा इकाई के रूप में सर्वस्वीकृति प्राप्त थी। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ भाग में स्वर्ण का मुद्रा इकाई के रूप में प्रयोग किया जाने लगा था और प्रथम महायुद्ध की घोषणा के समय स्वर्णमान संसार के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण देशों में विद्यमान था। परन्तु युद्धकाल में स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया था और इसके स्थान पर अपरिवर्तनशील प्रामाणिक कागजी मुद्रा का प्रचालन करके

कागजी मुद्रा मान का मुद्रा के इतिहास में बड़े पैमाने पर निर्माण किया गया था। संक्षेप में १९१४ ई० तक कागजी मुद्रा मान शान्ति के सामान्य काल में अनुपस्थित था। केवल युद्धकाल (१९१४-१८) में संसार के देशों ने कागजी मुद्रा मान को शान्तिकाल मुद्रा मान के रूप में युद्ध-पश्चात् काल में अपनाने का विचार किया था।

कागजी मुद्रा मान में कागजी नोट सोने तथा चांदी में अपरिवर्तनीय होते हैं। सरकार देश में कीमत स्तर को स्थिर बनाये रखने के उद्देश्य से मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखती है। मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता के कारण कागजी मुद्रा मान को प्रबन्धित मुद्रा मान भी कहा जाता है। यद्यपि स्वर्ण अथवा रजत मान में इस प्रकार के प्रबन्धन की आवश्यकता नहीं होती है परन्तु यह प्रबन्धन कागजी मान में आवश्यक होता है क्योंकि इसके बिना देश की अर्थव्यवस्था को गहरी हानि होने का भय रहता है। सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक संचलन में मुद्रा की कुल पूर्ति को इसकी कुल माँग के अनुसार सन्तुलन में बनाये रखने का प्रयास करती है। विदेशी व्यापार के क्षेत्र में विदेशी विनिमय दर का निर्धारण कागजी मुद्रा वाले देशों की मुद्रा इकाई की क्रयशक्ति के आधार पर किया जाता है।

कागजी मुद्रा मान के लाभ तथा हानियाँ

कागजी मुद्रा के बहुत से लाभ अथवा गुण बताये गये हैं। प्रथम, स्थितिसापेक्षता का गुण होने के कारण कागजी मुद्रा देश में आर्थिक विकास को सम्भव बनाती है। आर्थिक नियोजन के समय देश की मुद्रा प्रणाली लचीली होनी चाहिये। स्वर्णमान में देश की मुद्रा प्रणाली दृढ़ (rigid) बन जाती है तथा मुद्रा की मात्रा में स्वर्ण कोषों में वृद्धि किये बिना वृद्धि करना सम्भव नहीं हो पाता है। कागजी मुद्रा के द्वारा सरकार और केन्द्रीय बैंक कीमत स्थिरता, आर्थिक विकास तथा पूर्ण रोजगार सम्बन्धी उपयुक्त आर्थिक नीतियों को अपनाकर देश की अर्थव्यवस्था को अधिक शक्ति शाली बनाने में सफल हो जाते हैं।

दूसरे, कागजी मुद्रा के प्रयोग द्वारा देश स्वर्णमान की कठिनाइयों से मुक्त हो जाता है। स्वर्णमान में देश से सोने का निर्यात होने के कारण देश में अवस्फीति तथा बेरोजगारी विद्यमान हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान देश को अपनी अर्थव्यवस्था के हित में उपयुक्त आर्थिक नीति अपनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है। कागजी मुद्रा मान में देश की यह स्वतन्त्रता बनी रहती है और अवस्फीति उत्पन्न होने का भय उत्पन्न नहीं होता है। कीन्स ने १९२५ ई० में इंगलैंड को प्रबन्धित मुद्रा प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया था क्योंकि इस प्रणाली में स्थितिसापेक्षता होने के कारण संचलन में मुद्रा की मात्रा को देश की अर्थव्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार कम अथवा अधिक किया जा सकता है।

तीसरे, स्वर्णमान के विपरीत, जो केवल एक अनुकूल परिस्थिति मित्र के समान है, कागजी मुद्रा मान एक ऐसा प्रतिकूल परिस्थिति मित्र है जो युद्ध तथा मन्दी के समान राजनीतिक तथा आर्थिक संकटों के समय देश की सरकार की सहायता करता है। युद्ध संकट के समय इस मान में सरकार पर्याप्त मात्रा में कागजी नोट छाप कर युद्ध लड़ सकती है। यही कारण है कि संसार के लगभग सभी देशों के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि युद्ध तथा अन्य राष्ट्रीय संकट के समय कागजी मुद्रा का बड़े पैमाने पर प्रचालन किया गया है।

कीन्स ने सरकार द्वारा कागजी मुद्रा को अन्य मुद्राओं की तुलना में अधिक पसन्द किये जाने के कारणों की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "सरकार कागजी मुद्रा छाप

कर दीर्घावधि तक जीवित रह सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार सरकार वास्तविक साधनों पर अधिकार प्राप्त कर सकती है। यद्यपि यह एक निकम्मी रीति है परन्तु एक सीमा तक इसकी क्षमता को स्वीकार किया जाना चाहिये। सरकार इस साधन द्वारा उस कठिन समय में जीवित रह सकती है जब अन्य किसी साधन द्वारा जीवित रहना कठिन होता है। यह एक इस प्रकार का कर है जिससे बचना जनता के लिये अत्याधिक कठिन होता है तथा जिसको सबसे अधिक कमजोर सरकार भी, जो अन्य किसी कर को लागू करने में असमर्थ होती है, लागू कर सकती है।"[1]

चौथे, कागजी मुद्रा मितव्ययी मुद्रा होने के कारण कागजी मुद्रा मान सभी धातु मुद्रा मानों में सबसे सस्ता मुद्रा मान है। स्वर्ण अथवा रजत मान को सभी देश नहीं अपना सकते हैं क्यों कि ऐसा करने के पूर्व देश के पास स्वर्ण अथवा रजत के पर्याप्त कोप होने चाहिये। परन्तु कागजी मुद्रा मान को संसार के निर्धन देश भी अपना सकते हैं। पाँचवें, कागजी मुद्रामान को अपनाने के कारण स्वर्ण तथा रजत के समान बहुमूल्य धातुएँ उद्योग, कला तथा अन्य आवश्यक उपयोगी औद्योगिक कार्यों के लिये पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाती हैं।

कागजी मुद्रा का छठा प्रमुख लाभ यह है कि इसके अन्तर्गत स्वर्ण मान की तुलना में विनिमय दर का अधिक क्षमताशाली स्वयं नियमन हो जाता है। कागजी मुद्रा के इस गुण की प्रशंसा करते हुये एगनस ने लिखा है कि "कागजी प्रणाली की सुन्दरता इस बात में है कि माँग तथा पूर्ति में असन्तुलन उत्पन्न होने के तुरन्त पश्चात विदेशी विनिमय के मूल्य में तीव्र अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। इसकी तुरन्त कार्यवाही के फलस्वरूप आयातों में सन्तुलन शीघ्र पुनः स्थापित हो जाता है। इस प्रकार कागजी मुद्रा में विदेशी विनिमय बाजार में माँग तथा पूर्ति तथा मूल्य के नियम स्वतन्त्रता तथा शीघ्रता के साथ इसी प्रकार क्रियाशील होते हैं जिस प्रकार ये नियम किसी अन्य उस बाजार में लागू होते हैं जिसमें माँग तथा पूर्ति में तीव्र अल्पकालीन उच्चावन होते रहते हैं।"[2]

परन्तु कागजी मुद्रा मान में उपरोक्त गुण होते हुए भी इन मान में कुछ गम्भीर दोष हैं। प्रथम, यद्यपि कागजी मुद्रा मान के अन्तर्गत मूल्य स्थिरता प्राप्त हो सकती है परन्तु इस मान में विनिमय दर में अस्थिरता की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है कि वर्तमान युग में जब कागजी मुद्रा सभी देशों में संचलित है, विनिमय दर अस्थिरता संसार के लगभग सभी देशों की एक मुख्य आर्थिक समस्या है। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों के बीच के काल के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि विनिमय दरों की अस्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा निवेश को अस्त-व्यस्त कर देती है, जिसके कारण संसार में आर्थिक सहयोग और स्थायी शान्ति भंग हो जाती है। दूसरे, कागजी मुद्रा किसी देश की बेईमान सरकार को अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने का अवसर प्रदान करती है। बहुधा यह देखने में आया है कि सरकार आवश्यकता से अधिक मात्रा में कागजी मुद्रा का प्रचालन करके देश में स्फीति की समस्या को उत्पन्न करके देश की अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि संसार में अतिस्फीति की समस्या का सम्बन्ध अधिकतर कागजी मुद्रा के अत्यधिक प्रचालन से रहा है। उदाहरण के लिये, जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् १९२३ ई० में अतिस्फीति के समय अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा की मात्रा में कल्पनात्मक मात्रा में वृद्धि हो गई थी। रीचस बैंक के नोट प्रचालन की

---

1. J. M. Keypnes: *A Tract on Monetary Reform* 1923, p. 41.
2 Agnas: *The Problem of Foreign Exchange*, p. 62

मात्रा, जो १९१४ ई० में केवल पाँच बिलियन मार्क थी, बढ़कर १९१८ ई० में २२ बिलियन मार्क तथा १९२१ ई० में ११४ बिलियन मार्क हो गई थी। १८२२ ई० में रीचस बैंक के नोट प्रचालन की कुल संख्या बढ़कर एक महाशंख से अधिक हो गई थी। १९२३ ई० में इन नोटों की संख्या ४९६ महाशंख से भी अधिक हो गई थी। कागजी मुद्रा के इस अतिप्रचालन के गम्भीर आर्थिक तथा सामाजिक परिणाम हुये थे। अगस्त १९२३ ई० में जर्मनी में डाक्टर क्यूनो की उदार सरकार के फेल होने का कारण स्फीति नहीं था क्योंकि स्फीति तो जर्मनी में काफी समय से विद्यमान थी। मुख्यतः सरकार के फेल होने का कारण यह था कि स्फीति की दर अथवा गति में इतनी अधिक वृद्धि हो गई थी कि दैनिक लेन-देन के लिये भी मार्क वैध मुद्रा के रूप में पूर्णतया हीन मुद्रा हो गई थी तथा हिसाब की इकाई के रूप में इसका कोई महत्त्व नहीं था। जर्मनी में हिटलर को इसी अति-स्फीति के असाधारण काल में शक्ति प्राप्त हुई थी। जर्मन जनता का देश की मुद्रा इकाई के प्रति विश्वास पूर्णतया समाप्त हो गया था। १९२३ ई० में जर्मनी में मूल्य १९१४ ई० के मूल्यों की तुलना में १,६१७ मिलियन गुना अधिक थे। अतिस्फीति के कारण मध्यम वर्ग समाज से लुप्त हो गया था तथा देश की अर्थव्यवस्था पूर्णतया अस्त-व्यस्त हो गई थी। जर्मन जनता किसी भी ऐसी सरकार के पक्ष में थी जो जर्मन अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान कर सकती थी। हिटलर ने जनता के समक्ष स्फीति को समाप्त करके देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित करने का वचन दिया था। जर्मनी के समान यूनान में भी १९४४ ई० में कागजी मुद्रा के अतिप्रचालन के फलस्वरूप अति-स्फीति का अनुभव हुआ था। ३० सितम्बर, १९४४ ई० से लेकर १० नवम्बर, १९४४ ई० तक लगभग ५ सप्ताह की अति अल्पवधि में बैंक ऑफ ग्रीस के नोट प्रचालन में लगभग ८६० गुना वृद्धि हो गई थी तथा परिणामस्वरूप निर्वाहभृति व्यय (cost of living) बढ़कर ८,००० गुना से अधिक हो गया था।

प्रो० चैपमेन ने कागजी मुद्रा के दोषों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा को व्याकुलता की भावना से देखा जाता है। लोग उचित रूप से यह डरने लगते हैं कि इसका प्रचालन आवश्यकता से अधिक मात्रा में हो जावेगा। वे सरकार जिनको कागजी मुद्रा का प्रचालन करने का अधिकार प्राप्त होता है जनता में अप्रिय हो जाने के भय से अधिक प्रत्यक्ष कर न लगाकर बहुधा अधिक नोट छापकर अप्रत्यक्ष कर लगाती हैं। छापेखाने के द्वारा अतिरिक्त साधनों को प्राप्त करके आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से की जा सकती है। परन्तु जब एक निश्चित मात्रा से अधिक मुद्रा संचलन में विद्यमान होने लगती है तो इसका मूल्य कम होने लगता है और इसके प्रति जनता का विश्वास समाप्त होने लगता है। विश्वास की समाप्ति के साथ मुद्रा का मूल्य भी बहुत कम हो जाता है।"[3] तीसरे, अनुभव से ज्ञात होता है कि कागजी मुद्रा का मूल्यस्थिरता सम्बन्धी लाभ भी संदेहजनक है। स्वर्णमान के विरुद्ध सबसे अधिक शक्तिशाली यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इस मान में मूल्य अस्थिरता—स्फीति तथा अस्फीति—की समस्या उत्पन्न होती रहती है तथा कागजी मुद्रा इस दोष से मुक्त है। परन्तु संसार के देशों के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस तथा यूरोप के अन्य देशों में अतिस्फीति का संकट कागजी मुद्रा का अत्यधिक प्रचालन करने के कारण उत्पन्न हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात यूनान, चीन तथा पोलैंड में भी वर्तमान अति-स्फीति कागजी मुद्रा के युग का अभिशाप है। इस सत्य को स्पष्ट करते हुए क्राउथर ने लिखा है कि "१९३१ ई० के पश्चात की प्रतिबन्धित मुद्रा प्रणाली स्वर्णमान के समान पूर्णतया टूट गई थी। यद्यपि कागजी मान मे संसार के देशों को अपनी इच्छानुसार आर्थिक नीतियों को अपनाने की

3. C. J. Chapman : *An Outline of Political Eeonomy*, p: 245.

स्वतन्त्रता प्राप्त होती है परन्तु फिर भी निर्यात उद्योगों में हजारों बेरोजगार मनुष्य संसार में कागजी मुद्रा के अन्तर्गत आन्तरिक आर्थिक नीतियों को अपनाने की स्वतन्त्रता की सीमाओं को चुपचाप देखते रहे हैं। परिवर्तनीय विनिमय दरों ने देशों के भुगताना-शेषों में सन्तुलन स्थापित न करके विदेशी व्यापार पर रोक लगाने की आवश्यकता को समाप्त नहीं किया है।"[4] चौथे, कागजी मुद्रा उसी समय उपयोगी सिद्ध हो सकती है जब इसका सही प्रकार से प्रबन्ध किया जाता है। कागजी मुद्रा के प्रबन्धन में तनिक सी भी त्रुटि होने के गम्भीर परिणाम होते हैं। पाँचवें, कागजी मुद्रा के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इसमें देश की अर्थव्यवस्था सामयिक उच्चावचनों से मुक्त हो जाती है। परन्तु हमें इस सत्य को नहीं भूलना चाहिये कि आधुनिक युग में संसार के विभिन्न देश एक दूसरे पर आश्रित हैं तथा किसी एक देश के लिए अपनी अर्थव्यवस्था को दूसरे देशों की अर्थव्यवस्थाओं से अलग करना सम्भव नहीं है।

आदर्श नोट प्रचालन प्रणाली की विशेषताएं

एक आदर्श नोट अथवा कागजी मुद्रा प्रणाली कागजी मुद्रा के सब दोषों से मुक्त होनी चाहिए अथवा इसमें अत्यधिक नोट प्रचालन का भय उत्पन्न नहीं होना चाहिये। एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में मितव्यता, विश्वास, सरलता, स्थितिसापेक्षता तथा स्वयं-संचालकता का गुण होना चाहिये। वही मुद्रा प्रणाली उत्तम होती है जिसके प्रति जनता का विश्वास होता है। परन्तु यह उसी समय सम्भव है जब देश में शक्तिशाली सरकार तथा मुद्रा के पीछे स्वर्ण तथा रजत कोषों की पर्याप्त आड़ होती है। एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में स्थितिसापेक्षता का गुण होना चाहिए। मुद्रा अधिकारी के लिये संचलन में मुद्रा की मात्रा में देश की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार कमी अथवा वृद्धि करना सम्भव होना चाहिये। इसके अतिरिक्त मुद्रा प्रणाली में मितव्यता का गुण भी होना चाहिए। परन्तु मुद्रा प्रणाली में इस गुण के विद्यमान होने के लिये मुद्रा के पीछे स्वर्ण तथा रजत की न्यूनतम आड़ होना आवश्यक है।

नोट प्रचालन के सिद्धान्त (Principles of Note-issue)

नोट प्रचालन के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं। इनमें से प्रथम मुद्रा अथवा धातु कोष सिद्धान्त (currency principle) है तथा दूसरा बैंकिंग सिद्धान्त (banking principle) है। ये दोनों सिद्धान्त उस प्रसिद्ध विवाद से सम्बद्ध हैं जो इंगलैंड में १९ वीं शताब्दी में उन दो दलों के सदस्यों के बीच हुआ था जो मौद्रिक इतिहास में बैंकिंग सम्प्रदाय (banking principle) तथा धातु कोष सम्प्रदाय (currency school) के नाम से प्रसिद्ध हैं।[5] मुद्रा सिद्धान्त इस सत्य पर आधारित है कि एक अच्छी मुद्रा प्रणाली के प्रति जनता का अधिकतम विश्वास होना चाहिये। परन्तु यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक कागजी नोट स्वर्ण में परिवर्तनीय होता है। मुद्रा सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार मुद्रा के प्रचालन के पीछे शत-प्रतिशत स्वर्ण की आड़ होनी आवश्यक है क्योंकि ऐसा होने से मुद्रा प्रणाली

---

4. Geoffrey Crowther : *An Outline of Money*, revised edition, p. 245.
5. मुद्रा अथवा धातु कोष सम्प्रदाय के सबसे अधिक प्रभावशाली सदस्य राबर्ट टॉरेंस (Robert Torrens), लार्ड ओवरस्टोन (Lord Overstone), जी० डब्लू नॉरमैन (G. W. Norman) तथा विलियम वार्ड (William Ward) थे। बैंकिंग सम्प्रदाय के सबसे अधिक महत्वपूर्ण सदस्य थॉमस टुक (Thomas Tooke), जॉन फुलार्टन (John Fullarton), जेम्स विल्सन (James Wilson), तथा जे० डब्लू गिल्बार्ट (J. W. Gilbart) थे। दोनों दलों के सदस्यों के मध्य विवाद अल्पावधि समस्याओं से सम्बन्धित था क्योंकि धातु मुद्रा की मात्रा तथा इसके मूल्य निर्धारण के प्रश्न पर दोनों दलों के सदस्य रिकार्डोवादी सिद्धान्तों के समर्थक थे।
(शेष पृष्ठ १७० पर देखिये)

के प्रति जनता का विश्वास होगा। नोट प्रचालन के मुद्रा सिद्धान्त के अन्तर्गत कागजी मुद्रा की मात्रा धातु कोषों की मात्रा में परिवर्तन होने के साथ-साथ घटती-बढ़ती है।

(पृष्ठ १६९ का शेष)

मुद्रा सम्प्रदाय के सदस्यों का कहना था कि शुद्ध धातु मुद्रा के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात अथवा निर्यात संचलन में मुद्रा की मात्रा में तत्काल स्वतः वृद्धि अथवा कमी उत्पन्न कर देंगे। इस सम्प्रदाय के सदस्यों का यह भी कहना था कि मिश्रित मुद्रा प्रणाली में, जहाँ परिवर्तनीय कागजी नोट धातु मुद्रा के साथ संचलन में होते हैं, स्वर्ण कोषों में कमी अथवा वृद्धि होने के फलस्वरूप संचलन में मुद्रा की मात्रा में स्वतः तथा तत्काल कमी अथवा वृद्धि उस समय तक नहीं होगी जब तक कागजी मुद्रा के प्रचालन का इस प्रकार से नियमन नहीं किया जावेगा कि इस की मात्रा में होने वाले परिवर्तन सरकारी कोषागार में रखे हुए स्वर्ण कोषों में हुए परिवर्तनों का परिणाम न हों। मुद्रा सम्प्रदाय के सदस्यों का विश्वास था कि जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक कागजी मुद्रा का कभी अतिप्रचालन (overissue) अथवा कभी न्यूनप्रचालन (underissue) होगा। ऐसा होते रहने से देश की अर्थव्यवस्था में तेजी तथा मन्दी के आर्थिक संकट उत्पन्न होते रहेंगे।

मुद्रा सम्प्रदाय का कहना था कि यदि मिश्रित मुद्रा के अन्तर्गत देश की मुद्रा इकाई का मूल्य वही बनाये रखना है जो इसका मूल्य शुद्ध धातु मुद्रा के अन्तर्गत होगा तब इसके लिये यह आवश्यक है कि स्वर्ण कोषों के मूल्य में उसी मात्रा (अथवाअनुपात) में परिवर्तन होना चाहिये जितना कि प्रचलन की गई कागजी मुद्रा की मात्रा में हुआ है। इसके लिए मुद्रा प्रचालन अधिकारी द्वारा कागजी मुद्रा का प्रचालन इस प्रकार किया जाना चाहिये कि कागजी मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण तथा चाँदी के कोषों की आड़ होनी चाहिये। परन्तु यह सब होते हुये भी मुद्रा सम्प्रदाय के सदस्य इस सत्य की ओर ध्यान नहीं दे सके कि बैंक नोटों में हुये परिवर्तन शुद्ध धातु मुद्रा के अन्तर्गत सिक्कों की मात्रा में हुये परिवर्तनो के समान केवल उसी स्थिति में सम्भव हो सकेंगे जब बैंक नोटों तथा सिक्कों के संचलन का वेग समान होगा।

बैंकिग सम्प्रदाय के सदस्यों ने मुद्रा सम्प्रदाय के सदस्यों के विचारों की आलोचना की थी। इस सम्प्रदाय के सदस्यों का कहना था कि मुद्रा सम्प्रदाय का यह तर्क कि मिश्रित मुद्रा को भी उसी प्रकार कार्य करना चाहिये जिस प्रकार शुद्ध धातु मुद्रा करती है वांछनीय नहीं था तथा इसके अतिरिक्त शुद्ध धातु मुद्रा सम्प्रदाय के सदस्यों के विचारानुसार कार्य नहीं करेगी। बैंकिग सम्प्रदाय के सदस्यों का यह कहना था कि शुद्ध धातु मुद्रा मान में सिक्कों के अतिरिक्त घनी मात्रा में बैंक जमाएँ (bank deposits) तथा हुण्डियाँ (bills of exchange) भी होती हैं। बैंकिग सम्प्रदाय के सदस्यों के विचारानुसार ये सिक्कों के समान थीं तथा सिक्कों के समान इनका भी कीमतों पर प्रभाव पड़ता था। इस सम्प्रदाय के सदस्यों का यह भी तर्क था कि शुद्ध धातु मुद्रा में सम्पूर्ण स्वर्ण संचलन में न हो कर इसका कुछ भाग बैंक ऑफ इंगलैंड तथा अन्य बैंकों के पास निसंचित रहने के कारण, इस निसंचित स्वर्ण के आकार में हुये परिवर्तनों का प्रभाव सम्भवतः कीमतों पर नहीं पड़ेगा। इस कारण शुद्ध धातु मुद्रा के अन्तर्गत भी स्वर्ण की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि होने के परिणामस्वरूप मुद्रा के आकार में समान परिवर्तन नहीं होंगे तथा यह सम्भव भी है कि स्वर्ण की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि होने के कारण मुद्रा की मात्रा में भी उसी अनुपात में वृद्धि अथवा कमी होगी तब भी मुद्रा की मात्रा में हुए ये परिवर्तन बैंक जमाओं तथा हुण्डियों में हुये विपरीत दिशाई परिवर्तनों द्वारा पूर्णतया नष्ट हो सकते हैं। बैंकिग सम्प्रदाय का कहना था कि जब तक बैंक जमाओं तथा निसंचित स्वर्ण पर नियन्त्रण नहीं रखा जावेगा तब तक नोट प्रचालन को सीमित करना अपर्याप्त सिद्ध होगा तथा केवल ऐसा करने से संचलन में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन स्वर्ण के कुल स्टाक में हुये परिवर्तनों के अनुरूप नहीं होंगे।

जैकब वाइनर के विचारानुसार "बैंकिग सम्प्रदाय ने मुद्रा पर वैधानिक नियन्त्रण करने के सम्बन्ध में कोई वैकल्पिक योजना प्रस्तुत नहीं की थी। उनका कहना था कि बैंक जमाओं

(शेष पृष्ठ १७१ पर)

निस्सन्देह मुद्रा सिद्धान्त कागज़ी मुद्रा प्रणाली को अधिकतम स्वयं-संचालकता प्रदान करता है। मुद्रा अधिकारी अपनी इच्छानुसार मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि नहीं कर सकता है। इसलिये इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अत्यधिक नोट प्रचालन तथा इससे उत्पन्न स्फीति का भय विद्यमान होने की सम्भावना उत्पन्न नहीं होती है। यह सिद्धान्त देश की मुद्रा प्रणाली को सुरक्षा तथा विश्वास प्रदान करता है। परन्तु इन गुणों के साथ-साथ मुद्रा सिद्धान्त के कुछ अवगुण भी हैं। यह सिद्धान्त देश की मुद्रा प्रणाली को बेलचीली अथवा स्थितिनिरपेक्ष बना देता है और इस कारण इस सिद्धान्त की स्वर्णमान के समान आलोचनायें हैं। यह सिद्धान्त धातु कोषों को बहुत अधिक महत्त्व देता है। इस सिद्धान्त के नियम स्वर्णमान के नियमों के समान कठोर हैं और इसलिए निर्धन देश को इस सिद्धान्त का पालन करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वर्तमान समय में मुद्रा सिद्धान्त का केवल एक ऐतिहासिक तथा सैद्धान्तिक महत्त्व है।

मुद्रा सिद्धान्त के विपरीत बैंकिंग सिद्धान्त इस बात को महत्त्व देता है कि देश की मुद्रा प्रणाली स्थितिसापेक्ष होनी चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार कुल मुद्रा मात्रा का केवल कुछ प्रतिशत ही स्वर्ण कोषों के रूप में रखने की आवश्यकता है। बैंकिंग सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि साधारण व्यक्ति मुद्रा को स्वर्ण में बदलने के लिये इच्छुक नहीं होता है, और इस कारण मुद्रा प्रचालन के आधार के लिये १००% स्वर्ण के कोष रखने का कोई लाभ नहीं है। बैंकिंग सम्प्रदाय के सदस्यों ने १८४४ ई० के पील अधिनियम की आलोचना की थी। बैंकिंग सिद्धान्त के समर्थकों के विचारानुसार बैंक की परिसम्पत्ति के आधार पर भी नोटों का प्रचालन हो सकता है। यह सिद्धान्त मितव्ययी है क्योंकि इसके अन्तर्गत अधिक मात्रा में स्वर्णकोष रखने की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त का संसार के सभी देश वर्तमान समय में पालन करते हैं। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त देश के मुद्रा अधिकारी को भी देश की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने का सीमित अधिकार प्रदान करता है। आधुनिक समय में बैंकिंग सिद्धान्त को सभी देशों ने पसन्द किया है, अतः कागजी मुद्रा मान बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित है।

मुद्रा प्रचालन का अधिकार (Right of Note-Issue)

कागजी मुद्रा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि देश में मुद्रा (नोटों) के प्रचालन का अधिकार किसको प्राप्त होना चाहिये। इस सम्बन्ध में दो प्रश्न मुख्य हैं : (१) नोटों के प्रचालन का अधिकार सरकार को प्राप्त होना चाहिए अथवा बैंकों को प्राप्त होना चाहिये ? (२) यदि यह अधिकार बैंकों को प्राप्त होना चाहिये तो क्या यह अधिकार केवल एक बैंक को अथवा अनेक बैंकों को प्राप्त होना चाहिये ? जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है इस विषय पर

(पृष्ठ १७० का शेष)

का नियन्त्रण करना असम्भव था तथा यदि सम्भव भी होता तो भी अनुचित था तथा इसकी कोई माँग नहीं करेगा। संचलन में कागजी नोटों की मात्रा पर प्रतियोगी बैंकिंग प्रणाली की साधारण कार्यविधि द्वारा पर्याप्त नियन्त्रण स्थापित हो जाता है तथा केवल मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनाये रखने से संचलन में मुद्रा की मात्रा दीर्घावधि में आवश्यकता से अधिक नहीं हो सकती थी। यही बैंकिंग सिद्धान्त था। यदि अनुचित बैंकिंग क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप आकस्मिक अत्यधिक साख मुद्रा का निर्माण हो जाता है तो शीघ्र ही शोधक दंड (corrective penalty) द्वारा यह ठीक हो जावेगा। कुछ भी क्यों न हो, इस को वैधानिक कार्रवाई द्वारा विशेष रूप से प्रचालन की सीमा निर्धारित करके नहीं रोका जा सकता है।" (Jacob Viner : *Studies in The Theory of International Trade*, pp, 222-23.)

अर्थशास्त्रियों तथा वित्तीय विशेषज्ञों के विचार भिन्न हैं। जो व्यक्ति इस विचार के पक्ष में हैं कि नोट प्रचालन का अधिकार सरकार में निहित होना चाहिये उनका विश्वास है कि ऐसा करने से देश की मुद्रा प्रणाली के प्रति जनता का अधिक विश्वास होगा। सरकार एक बहुत बड़ी संस्था है और इसे मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने के लिये मुद्रा विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करने के लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध होते हैं। सरकार बैंकों की अपेक्षा मुद्रा प्रणाली पर अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण कर सकती है क्योंकि इसके पास ऐसा करने के लिये पर्याप्त शक्ति होती है। उपयुक्त नियम बनाकर सरकार जनता को अपनी इच्छानुसार आवश्यक आदेश दे सकती है। सरकार के समर्थकों का यह कहना है कि मुद्रा प्रबन्धन तथा नियन्त्रण का कार्य बैंकों के समान व्यक्तिगत संस्थाओं को जिनका उद्देश्य लाभ प्राप्त करना होता है, प्राप्त नहीं होना चाहिये।

परन्तु सरकार को नोट प्रचालन का अधिकार प्रदान करने के विचार के विपरीत कुछ बातें इस विचार के विपक्ष में भी कही जा सकती हैं। प्रथम, अनेक आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान में व्यस्त होने के कारण सरकार के लिये मुद्रा से सम्बन्धित अनेक कठिन समस्याओं को उतना अधिक तथा गहरा ध्यान देना सम्भव नहीं हो पाता है जितना कि इन समस्याओं को दिया जाना आवश्यक होता है। बैंक जो केवल वित्तीय और मौद्रिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करती हैं, मुद्रा प्रणाली का प्रबन्धन सरकार की अपेक्षा अधिक कुशलता से कर सकती हैं। दूसरे, सरकारी प्रशासन सुस्ती के साथ होता है। परन्तु मुद्रा के प्रबन्धन में तनिक भी देरी अथवा सुस्ती देश की अर्थव्यवस्था के लिए घातक हो सकती है। अनुभव यह बतलाता है कि सरकारी कर्मचारी जो राजनीतिक समस्याओं को सफलता के साथ हल कर सकते हैं वित्तीय समस्याओं का ठीक प्रकार से समाधान नहीं कर पाते हैं। सरकार को, जिसका मुख्य कार्य मुद्रा प्रणाली को सुरक्षित रखना होता है, समस्या का समाधान करने के पूर्व उसका अध्ययन करना पड़ता है। इस अध्ययन में इतना अधिक समय लग सकता है कि समस्या का समाधान करने के पूर्व ही वह समस्या समाप्त हो सकती है। बैंकों का वाणिज्य तथा औद्योगिक जगत से प्रत्यक्ष तथा निकटतम सम्बन्ध होने के कारण यदि मुद्रा के प्रन्धन का कार्य बैंकों को दिया जाय तो वे उस कार्य को अधिक कुशलता से कर सकती हैं। प्रतिदिन मौद्रिक समस्याओं का सामना करते रहने के कारण बैंकों को मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त जिस समय मुद्रा का प्रबन्ध सरकार के हाथों में होता है उस समय धोखे अथवा विषमता इत्यादि पर नियन्त्रण रखना बहुत कठिन होता है। यदि मुद्रा का प्रबन्ध बैंकों द्वारा किया जाता है तब यह नियन्त्रण सरकार द्वारा भली प्रकार किया जा सकता है। यदि हम इस सत्य पर विश्वास करें कि सभी प्रकार की शक्ति मनुष्य को दूषित करती है और पूर्णशक्ति मनुष्य को पूर्णतया दूषित करती है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नोट प्रचालन का अधिकार सरकार को प्राप्त न होकर बैंकों को प्राप्त होना चाहिए। यदि ऐसा होतो है तो सरकार बैंकों पर नियन्त्रण करके उनको इस सम्बन्ध में धोखा तथा विषमता इत्यादि करने से रोक सकती है। यही कारण है कि आज संसार के अधिकांश देशों में नोट प्रचालन का कार्य केन्द्रीय बैंकों द्वारा किया जाता है तथा सरकार बैंकों के इस अधिकार पर बैंकों द्वारा इस अधिकार का दुरुपयोग रोकने के उद्देश्य से नियन्त्रण रखती है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है निस्संदेह बहुमत इस बात के पक्ष में है कि नोट प्रचालन का कार्य केवल एक बैंक द्वारा होना चाहिए क्योंकि यदि नोट प्रचालन का अधिकार कई बैंकों को दे दिया जाता है तो अत्यधिक नोट प्रचालन की सम्भावना बनी रहती है जिससे अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। यद्यपि ऐसा करना एक भारी अपराध है परन्तु इस स्थिति में यह कहना कठिन होता है कि यह अपराध किस बैंक ने किया है। नोट छापना अतिलाभप्रद क्रिया है और इस

कारण बैंक अधिक मात्रा में नोट छापने के लिये व्याकुल रहती हैं। इसके अतिरिक्त जिस समय नोट प्रचालन कार्य कई बैंक करते हैं उस समय सब बैंकों की नीतियों के मध्य समन्वय होना आवश्यक हो जाता है। इस कार्य के लिये केन्द्रीय बैंक एक उपयुक्त संस्था है जो इस कार्य को जिम्मेदारी के साथ कर सकेगी क्योंकि व्यापारी बैंकों के समान केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उद्देश्य लाभ प्राप्त करना न होकर देश में आर्थिक स्थिरता बनाये रखना होता है। संक्षेप में नोट प्रचालन का कार्य केवल एक बैंक के द्वारा किया जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक को नोट प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त होना चाहिये। "जब बैंक स्वतन्त्र होती है तथा इसको नोट प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त होता है तब इसे अत्यधिक प्रचालन करने का वह लालच जो प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पन्न होता है बिल्कुल समाप्त हो जाता है। जब लाभ प्राप्त करने की समस्या समाप्त हो जाती है तब बैंक की नीति का उद्देश्य समाज कल्याण को प्राप्त करना हो जाता है। नोट प्रचालन की एक-बैंक प्रचालन प्रणाली में निस्संदेह अनुत्तरदायित्व, उपेक्षा इत्यादि दोष जो नोट प्रचालन की बहु-बैंक प्रचालन प्रणाली में उत्पन्न हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं।"[6]

नोट प्रचालन की पद्धतियाँ (Systems of Note-Issue)

नोट प्रचालन की निम्नलिखित प्रमुख पद्धतियाँ हैं :

(१) साधारण जमा प्रचालन पद्धति (Simple Deposit System).
(२) स्थिर प्रत्ययी प्रचालन पद्धति (Fixed Fiduciary System).
(३) आनुपातिक निधि प्रचालन पद्धति (Proportional Reserve System).
(४) अधिकतम प्रत्ययी प्रचालन पद्धति (Fixed Maximum Fiduciary System).
(५) प्रतिशत निधि प्रचालन पद्धति (Percentage Reserve System).
(६) न्यूनतम निधि प्रचालन पद्धति (Minimum Reserve System).
(७) सरकारी हुण्डी निधि प्रचालन पद्धति (Security Reserve System).

(१) **साधारण जमा नोट प्रचालन पद्धति**—इस पद्धति में स्वर्ण को प्रचालन किए गए कुल नोटों की कीमत के समान मूल्य की विधि के रूप में रखा जाता है। कागजी मुद्रा का प्रचालन १०० प्रतिशत स्वर्ण निधि पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में, नोट प्रचालन की इस प्रणाली में एक प्रकार से प्रतिनिधि कागजी मुद्रा संचलनशील होती है। जनता के विश्वास की दृष्टि से यह पद्धति बहुत उत्तम है। परन्तु इसमें मितव्यता तथा स्थितिसापेक्षता का अभाव होता है क्योंकि इसको कार्यशील बनाने के लिए भारी मात्रा में स्वर्ण कोषों की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि सामान्य शान्तिकाल में यह पद्धति अर्थव्यवस्था को अत्यधिक नोट प्रचालन तथा इसके गम्भीर परिणाम—स्फीति—से सुरक्षित रखती है परन्तु युद्ध के राष्ट्रीय संकट तथा आर्थिक नियोजन के काल में देश को इस पद्धति का परित्याग करना पड़ता है क्योंकि इसके अन्तर्गत नियोजन को सफल बनाने के हेतु संचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करना कठिन होता है।

(२) **स्थिर प्रत्ययी नोट प्रचालन पद्धति**—इस पद्धति अथवा प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह है कि केन्द्रीय बैंक एक दी हुई मात्रा तक स्वर्ण कोष को रखे बिना नोटों का प्रचालन कर सकती है। परन्तु इस निर्धारित मात्रा के पश्चात् प्रत्येक कागजी नोट के पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण कोष की आड़ होनी चाहिए। जिस कागजी मुद्रा का प्रचालन स्वर्णकोष की आड़ के बिना किया जाता है उसके पीछे सरकारी ऋणपत्रों की आड़ होती है और इस प्रकार के नोट प्रचालन को प्रत्ययी प्रचा-

5. R. Jones : *Economic Crisis*, p. 11.

लन कहा जाता है। इंगलैण्ड में यह पद्धति काफी समय तक चालू रही है। १८४४ ई० के बैंक अधिनियम जो पील अधिनियम (Peel Act) के नाम से प्रसिद्ध है, के अनुसार बैंक ऑफ इंगलैंड १४० लाख पौंड-स्टर्लिंग राशि के नोटों का प्रत्ययी प्रचालन करने का अधिकार प्रदान किया गया था। यह राशि १९२८ में बढ़ाकर २६ करोड़ पौंड स्टर्लिंग कर दी गई थी। १९३० ई० में नोट प्रचालन की यह अधिकतम सीमा ३० करोड़ पौंड स्टर्लिंग कर दी गई थी। १९४६ ई० में इस सीमा को पुनः बढ़ाकर १४५ करोड़ पौंड स्टर्लिंग कर दिया गया था। इंगलैण्ड के अतिरिक्त जापान तथा नार्वे में भी इस प्रणाली को अपनाया गया था। भारत में भी यह पद्धति १८६१ ई० से लेकर १९०० ई० तक चालू रही थी। १८६१ ई० के अधिनियम के अनुसार नोट प्रचालन की राशि ४ करोड़ रुपये निर्धारित की गई थी। तत्पश्चात् इसमें समय-समय पर विशेष अधिनियमों के अन्तर्गत आवश्यकतानुसार वृद्धि कर दी गई थी। १८७१ ई०; १८९० ई०; १८९७ ई०; १९०५ ई०; तथा १९२० ई० में नोट प्रचालन की निर्धारित मात्रा में वृद्धि करके इसको क्रमशः ६ करोड़; ८ करोड़; १० करोड़; १२ करोड़; १४ करोड़; तथा १२० करोड़ रुपये कर दिया गया था।

इस पद्धति का प्रमुख लाभ यह है कि इसके अन्तर्गत कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनी रहती है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में कागजी मुद्रा के अतिप्रचालन का भय नहीं रहता है क्योंकि दी हुई मात्रा के पश्चात प्रत्येक कागजी नोट के पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण निधि की आड़ होती है। मुद्रा प्रणाली के प्रति जनता के विश्वास की दृष्टि से भी यह प्रणाली उत्तम है। परन्तु इस पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि इसमें स्थिति सापेक्षता का अभाव होता है। राष्ट्रीय आर्थिक संकट के काल में युद्ध अथवा आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए जब संचलन में अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है तब मुद्रा अधिकारी को कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है क्योंकि स्वर्ण निधि में पर्याप्त वृद्धि किये बिना संचलन में कागजी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकती है। इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि यह व्ययपूर्ण है तथा केवल वे देश ही इसे अपना सकते हैं जिनके पास अधिक स्वर्ण-कोष होते हैं।

(३) **आनुपातिक निधि नोट प्रचालन पद्धति**—इस पद्धति में कुल नोटों के पीछे १०० प्रतिशत स्वर्ण निधि की आड़ नहीं होती है। मुद्रा की कुल मात्रा का केवल कुछ प्रतिशत भाग जो अधिनियम के अनुसार निर्धारित कर दिया जाता है, स्वर्ण निधि में रखा जाता है। कागजी मुद्रा के जिस अंश के पीछे स्वर्ण निधि नहीं होती है उसके पीछे सरकारी ऋण-पत्रों की आड़ होती है। यह पद्धति संसार में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् काफी लोकप्रिय हो गई थी। उदाहरणार्थ, फ्रांस ने १९३८ ई० में स्थिर अधिकतम प्रत्ययी प्रणाली का परित्याग करके इस पद्धति को अपनाया था। भारत में हिल्टनयंग आयोग के सुझाव पर १९२७ ई० में इस पद्धति को अपनाया गया था और १९५७ ई० तक यह पद्धति देश में चालू रही थी। परन्तु १९५७ ई० में इस पद्धति को त्याग कर नोट प्रचालन की न्यूनतम निधि प्रणाली को अपना लिया गया है। इस पद्धति की प्रमुख विशेषता इस की सरलता है।

(४) **अधिकतम प्रत्ययी नोट प्रचालन पद्धति**—इस प्रणाली में विधान के अनुसार कागजी मुद्रा की अधिकतम मात्रा निर्धारित कर दी जाती है तथा निर्धारित मात्रा तक मुद्रा अधिकारी धातु कोष की आड़ के बिना नोटों का प्रचालन कर सकता है। इस निर्धारित मात्रा के पश्चात मुद्रा अधिकारी को नोट प्रचालन का अधिकार नहीं होता है भले ही इसके लिये १०० प्रतिशत स्वर्ण निधि आड़ की व्यवस्था क्यों न हो। इस अधिकतम मात्रा की सीमा इतनी ऊँची रखी जाती है कि समाज की मुद्रा आवश्यकताओं की तुलना में यह अधिक होती है। सीमा निर्धारित करते समय देश की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखा जाता है। देश की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं

में परिवर्तन होने के साथ इस अधिकतम निर्धारित मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाते हैं। फ्रांस में १९३८ ई० तक यह प्रणाली प्रचलित थी।

इस पद्धति का प्रमुख लाभ यह है कि स्वर्ण कोषों को अनुत्पादक रूप में रखने की आवश्यकता नहीं होती है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में देश की मुद्रा प्रणाली लचकदार बनी रहती है। परन्तु इस पद्धति का दोष यह है कि सरकार को अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने का अवसर प्राप्त रहता है। इस पद्धति में स्फीति का भय भी बना रहता है।

(५) **प्रतिशत निधि नोट प्रचालन पद्धति**—यह पद्धति आनुपातिक निधि पद्धति का ही एक सुधरा हुआ रूप है। इस पद्धति में कुल कागजी मुद्रा का एक निर्धारित प्रतिशत स्वर्ण कोषों के रूप में रखा जाता है। निधि का कुछ भाग विदेशी मुद्रा, हुण्डियों, तथा विदेशी विनिमय में भी रखा जाता है। इस पद्धति का प्रमुख लाभ यह है कि सोने के उपयोग में मितव्ययता की जा सकती है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में देश की मुद्रा प्रणाली में लोचदार भी बनी रहती है।

(६) **न्यूनतम निधि नोट प्रचालन पद्धति**—इस पद्धति में धातु निधि की एक न्यूनतम मात्रा निर्धारित कर दी जाती है। इस शर्त के अतिरिक्त कागजी मुद्रा के प्रचालन की मात्रा पर और कोई अन्य प्रकार की रोक नहीं लगाई जाती है। भारत में आजकल यही पद्धति प्रचलित है। अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को १९५७ ई० के अधिनियम के अनुसार केवल २०० करोड़ रुपये की न्यूनतम निधि को कागजी मुद्रा की आड़ के रूप में रखना पड़ता है। इस २०० करोड़ रुपये की राशि की निधि में ११५ करोड़ रुपये का सोना होना आवश्यक है तथा शेष ८५ करोड़ रुपये विदेशी हुन्डियों के रूप में हो सकते हैं।

(७) **सरकारी हुण्डी निधि नोट प्रचालन पद्धति**—इस पद्धति में कागजी मुद्रा के पीछे आड़ के रूप में स्वर्ण-निधि नहीं रखी जाती है। मुद्रा का प्रचालन सरकारी ऋण पत्रों अथवा हुण्डियों के आधार पर होता है। ये हुण्डियाँ सरकार के अल्पकालीन प्रतिज्ञा-पत्र (I. O. U.' s) होते हैं। इस पद्धति का प्रमुख लाभ यह है कि इसमें स्फीति तथा अतिप्रचालन का भय कम रहता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक सरकारी हुण्डियों को खरीदे बिना नोटों का प्रचालन नहीं कर सकती है। परन्तु इस पद्धति में विश्वास का अभाव होता है क्योंकि कागजी मुद्रा के पीछे स्वर्ण कोषों की आड़ नहीं होती है।

अध्ययन सूची

1. Kisch and Elkin : The Central Banks.
2. R. Jones : Economic Crisis.
3. M. H. de Kock : Central Banking.
4. R. P. Kent : Money and Banking (4th edition), Chapter 4.
5, L. J. Pritchard : Money and Banking, Chapter 3.
6. Jacob Viner : Studies in the Theory of International Trade, Chapter V.

प्रश्न

1. What is meant by managed currency ? Examine its advantages and disadvantages.
2. Discuss the different methods of note issue. Which of these do you prefer and why ?
3. What do you understand by the currency and banking principles of note issue ? Which one of the two principles do you prefer and why ?

दूसरा भाग

उच्चावचन तथा स्थिरता

१२

व्यापार चक्र
(Trade Cycle)

संसार में आर्थिक विकास की गति सदैव स्थिर नहीं रहती है । आर्थिक विकास के क्रम में अर्थव्यवस्था में निवेश, उत्पादन तथा रोजगार में उच्चावचन होते रहते हैं । संसार के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अतीत में ऐसे काल भी विद्यमान हुए हैं जब निरन्तर कई वर्षों तक संसार के देशों की अर्थव्यवस्थाएँ मन्दी के रोग से पीड़ित रही हैं । मन्दी की अवस्थाओं के तत्काल पूर्व अथवा तत्काल पश्चात् अर्थव्यवस्थाओं ने आर्थिक समृद्धि का भी अनुभव किया है । दीर्घावधि आर्थिक विकास के क्रम में संसार के देशों को समृद्धि तथा मन्दी की घटनाओं को सहन करना पड़ा है । समय समय पर समृद्धि के काल में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का विकास हुआ है तथा समृद्धि के इस काल में उत्पादन, रोजगार तथा कीमतों में वृद्धि हुई है । इसके विपरीत मन्दी काल में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में उत्पादन, रोजगार तथा कीमतों में गिरावट हुई है ।

आर्थिक उद्विकास के क्रम में मन्दी, समृद्धि तथा अभिवृद्धि विद्यमान होती रही है । वास्तव में ये समय क्रमबद्ध उच्चावचन वर्तमान पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं की सामान्य विशेषताएँ हैं । आर्थिक जीवन में सामान्य आर्थिक स्थिति अथवा सन्तुलन सदैव प्राप्त नहीं हो पाता है तथा सामयिक परिवर्तन गत्यात्मक अर्थव्यवस्था के ढाँचे का एक महत्वपूर्ण अंग है । दीर्घावधि आर्थिक विकास इस तथ्य का प्रमाण है कि यद्यपि संसार में विकास तथा मन्दी की अवधियाँ विद्यमान रही हैं परन्तु विकास की शक्तियाँ मन्दी की शक्तियों की अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली रही हैं । यद्यपि अतीत में ऐसी महान मन्दियों का अनुभव किया गया है कि महान् मन्दी के इन कालों में इसके तत्काल पूर्व उत्कर्ष काल में हुआ सम्पूर्ण विकास नष्ट हो गया था परन्तु ऐसी मन्दी घटनायें बहुत अतुल्य घटनायें थीं ।

आर्थिक उच्चावचन अनेक रूप धारण कर सकते हैं । साधारणतया ये दीर्घावधि तथा अल्पावधि होते हैं । कुछ उच्चावचनों की अवधि तथा आकार अधिक तथा अन्य कुछ का आकार कम होता है । जबकि कुछ उच्चावचनों की अवधि केवल कुछ मास की अल्पावधि होती है तथा इनका प्रभाव अर्थव्यवस्था पर साधारण पड़ता है कुछ अन्य उच्चावचनों की अवधि दशाब्दी से भी अधिक होती है तथा इनका अर्थव्यवस्था पर काफी गहरा प्रभाव पड़ता है । गत शताब्दी में जिस

आर्थिक उच्चावचन की ओर अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ है उसे 'व्यापार चक्र' कहा जाता है।

व्यापार चक्र का अर्थ

चक्रवत उच्चावचन लगभग सभी विज्ञानों की विषय सामग्री है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर्नोल्ड जे० टॉइनबी (Arnold J. Toynbee) ने अपनी *A Study of History* शीर्षक प्रसिद्ध पुस्तक में यह लिखा है कि सभी सभ्यताओं की उन्नति तथा अवनति में चक्रवत प्रवृत्ति उपस्थित रही है। प्राकृतिक वैज्ञानिकों के लिए सूर्य तथा चन्द्रमा की गतियों में होने वाले चक्रवत् परिवर्तनों का विशेष महत्त्व होता है। अमरीका में आर्थिक अनुसंधान के राष्ट्रीय कार्यपीठ (National Bureau of Economic Research) ने व्यापार के क्षेत्र में अनेक अध्ययन करने के पश्चात् प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री वेस्ले क्लेयर मिचल द्वारा दी गई व्यापार चक्र की परिभाषा को उपयुक्त विचारा है। मिचल के अनुसार "व्यापार चक्र ऐसे उच्चावचनों को कहते हैं जो उन राष्ट्रों की, जो अपना कार्य प्रमुखतः व्यवसाय उद्यमों में संगठित करते हैं, सम्पूर्ण आर्थिक क्रिया में पाये जाते हैं। व्यापार चक्र में सामान्य विस्तार की अवस्था में लगभग एक ही समय पर बहुत सी आर्थिक क्रियाओं में विस्तार होता है। तत्पश्चात् सामान्य सुस्ती, गिरावट तथा मन्दी-विमुक्ति की अवस्थाएँ विद्यमान होती हैं जो अगले व्यापार चक्र की विस्तार अवस्था में मिल जाती हैं। परिवर्तनों का यह क्रम आवर्तीय होता है"[1]

मिचल की परिभाषा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि व्यापार चक्र का तात्पर्य उन उच्चावचनों से है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में विद्यमान होते हैं। इस आधार पर चक्रीय उच्चावचन उन उच्चावचनों से भिन्न हैं जो अर्थव्यवस्था के भिन्न भागों में विद्यमान होते रहते हैं। परन्तु यहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था इसके भागों से भिन्न नहीं है क्योंकि पूर्ण केवल भागों का जोड़ होता है। यद्यपि इस तर्क में तथ्य है परन्तु इससे किसी को इन्कार नहीं हो सकता है कि उन चक्रीय उच्चावचनों में जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में विद्यमान होते हैं, तथा उन चक्रीय उच्चावचनों, जो अर्थव्यवस्था के केवल किसी एक भाग में विद्यमान होते हैं, भेद करना आवश्यक है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की समस्यायें इसके भागों की समस्याओं से भिन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त मिचल की परिभाषा के अनुसार व्यापार चक्र का सम्बन्ध केवल उन उच्चावचनों से है जो व्यवसायिक क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं तथा जो नियमित रूप से आवर्तीय होते रहते हैं।

जान मेनार्ड कीन्स ने अपनी *A Treatise on Money* शीर्षक पुस्तक में व्यापार चक्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "व्यापार चक्र उत्तम व्यापार अवधि, जिसमें कीमतों में वृद्धि तथा बेरोजगारी के आकार में गिरावट होती है, तथा खराब व्यापार अवधि, जिसमें कीमतों में गिरावट तथा बेरोजगारी के आकार में वृद्धि होती है, का योग होता है।"[2] १९३६ ई० में प्रकाशित अपनी

---

1. '...business cycles are a type of fluctuation found in the aggregate economic activity 'of nations that organise their work mainly in business enterprises. A cycle consists of expansions occuring at about the same time in many economic activities, followed by similar general recessions, contractions, and revivals which merge witth the expansion phase of the next cycle, this sequence of changes is recurrent bu not pericdic.'' (W. C. Mitchell : *Business Cycle : The Problem and Its setting*, New York : National Bureau of Economic Research, 1957 p. 468)

2. "A trade cycle is composed of periods of good trade characterised by rising prices and low unemployment percentages alternating with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentages.'' (J. M. Keynes : *A Treatise on Money*, Vol. I p. 83.)

प्रसिद्ध पुस्तक *The General Theory of Employment, Interest and Money* में कीन्स ने व्यापार चक्र की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है।

"चक्रवत् गति से हमारा यह अभिप्राय है कि जब अर्थव्यवस्था प्रगति करती है, अर्थात् जब यह ऊपरी दिशा में गतिमान होती है तब उन शक्तियों को जो इसे (अर्थव्यवस्था) ऊपर की ओर धक्का देती है अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है तथा ये एक दूसरे पर संचयी रूप में प्रभाव डालती हैं। परन्तु क्रमशः इनकी शक्ति कम होती जाती है तथा कुछ समय पश्चात् एक बिन्दु पर आकर इनका स्थान विरोधी दिशा में गतिमान शक्तियों को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि ये शक्तियाँ भी अपने पूर्वजों (विरोधी शक्तियां) के समान आरम्भ में कुछ समय तक अधिक शक्ति प्राप्त करती हैं परन्तु अपने अधिकतम विकास को प्राप्त करके ये भी कम हो जाती हैं तथा अन्त में अपनी विरोधी शक्तियों को स्थान दे देती हैं। चक्रवत् गति से हमारा अभिप्राय केवल यह नहीं है कि अर्थव्यवस्था को ऊपर तथा नीचे की ओर धकेलने वाली शक्तियाँ एक बार आरम्भ होने के पश्चात सदा उसी दिशा में गतिमान नहीं होती हैं तथा अन्त में विपरीत दिशा में गतिमान हो जाती हैं। हमारा यह भी आशय है कि ऊपरी तथा नीची गतियों की दिशाओं तथा इनके समय में क्रमबद्धता होती है। इसके अतिरिक्त व्यापार चक्र की एक अन्य विशेषता संकट की घटना है। इसका यह अर्थ है कि ऊपरी प्रवृत्ति के स्थान पर नीचे की ओर की प्रवृत्ति का स्थानापन्न एकाएक तथा प्रचडता के साथ होता है। परन्तु जब नीचे की ओर की प्रवृत्ति के स्थान पर ऊपरी प्रवृत्ति का स्थानापन्न होता है तब इस प्रकार की तीक्ष्ण निर्णायक अवस्था विद्यमान नहीं होती है।"[3]

कीन्स की व्यापार चक्र की व्याख्या व्यापार चक्र की निम्नलिखित विशेषताओं पर प्रकाश डालती है।

(i) व्यापार चक्र में विस्तारण तथा संकुचन की क्रियाशील वैकल्पिक शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। प्रत्येक प्रकार की शक्ति का जन्म होने के उपरान्त कुछ समय के लिए इसको अधिक शक्तिशाली बनने की उत्तेजना प्राप्त होती है जो अर्थव्यवस्था को अपने साथ ऊपर ले जाती है। तत्पश्चात इसकी मृत्यु हो जाती है तथा इसके स्थान पर विपरीत शक्ति का जन्म होता है। यह शक्ति भी उसी शक्ति के समान होती है जिसकी मृत्यु इसके जन्म का कारण होती है। दोनों शक्तियों में केवल यह अन्तर है कि यह शक्ति अर्थव्यवस्था को विपरीत दिशा में अपने साथ ले जाती है। इसका यह अभिप्राय है कि चक्रीय उच्चावचनों की प्रवृत्ति लहर के समान होती है।

(ii) व्यापार चक्र की ऊपरी तथा नीचे की ओर की गतियों की अवधि तथा समय के अनुक्रम में नियमितता होती है।

(iii) व्यापार चक्र में संकट की घटना उपस्थित होती है। इसका अर्थ यह है कि ऊर्ध्व बिन्दु (peak) तथा अधोबिन्दु (trough) यथाप्रमाण नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में, ऊपरी दिशा की गति में जब परिवर्तन होता है तब यह परिवर्तन एकाएक होता है तथा नीचे की ओर की दिशा की गति में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षाकृत अधिक प्रचंड होता है। परिणामस्वरूप व्यापार चक्र की चोटी नोकीली तथा तली चपटी होती है।

रागनर फिरिश (Ragnar Frisch), जॉन टिन्बर्गन (Jan Tinbergen) तथा पीगू (A. C. Pigou) के विचारानुसार व्यापार चक्र लहर के समान वह गति है जो अर्थव्यवस्था में बाह्य शक्तियाँ विद्यमान होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। रागनर फिरिश ने व्यापार चक्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "बाह्य प्रवृत्तियाँ अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालकर इसको लहर

---

2. J. M. Keynes : *The General Theory of Employment, Interest and Money*, pp. 313-14.

समान ढंग में इसी प्रकार गतिमान करती हैं जिस प्रकार कि बाह्य धक्का घड़ी के लंगर को झुला देता है। परन्तु लहरवत गति की लम्बाई झूलती हुई अर्थव्यवस्था के आन्तरिक ढाँचे द्वारा निर्धारित होती है। अर्थव्यवस्था के हलकोरे यथाक्रम उत्पन्न हो सकते हैं यद्यपि इन हलकोरों को जन्म देने वाली प्रवृत्तियाँ बिल्कुल अव्यवस्थित हो सकती हैं।"[4] प्रोफेसर आल्विन एच० हैन्सन के विचारानुसार "व्यापार चक्र अर्थव्यवस्था के औद्योगिक भाग, जहाँ से समृद्धि अथवा मन्दी का वर्तमान अत्यधिक परस्पर सम्बन्धित समाज के अन्य समुदायों में पुनर्वितरण होता है, की विचित्र स्पष्टता है।"[5]

छोटे तथा बड़े व्यापार चक्र

यद्यपि मन्दी तथा तेजी की अवस्थाएँ समान आकार की नहीं होती हैं परन्तु इनमें काफी समानता होती है। व्यापार चक्र की अवधि ७ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक की होती है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि व्यापार चक्र की अवधि की लम्बाई इससे कम अथवा अधिक नहीं हो सकती है। संसार के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि व्यापारचक्र की न्यूनतम अवधि ४ वर्ष से लेकर अधिकतम अवधि १२ वर्ष तक की रही है। प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री आल्विन एच० हैन्सन (Alvin H. Hansen) ने, जिन्होंने व्यापार चक्र की घटना का विशेष अध्ययन किया है, अपने अध्ययन के आधार पर व्यापार चक्रों को छोटे तथा बड़े व्यापार चक्रों में विभाजित किया है। उनके अध्ययनानुसार बड़े व्यापार चक्र की औसत अवधि ८ वर्ष तथा छोटे व्यापार चक्र की औसत अवधि ३½ वर्ष के लगभग होती है। अपने अध्ययन को अमरीका के आर्थिक इतिहास पर आधारित करते हुए हैन्सन ने लिखा है कि १७९५ ई० से लेकर १९३७ ई० तक १४२ वर्ष की दीर्घावधि में ८·३५ वर्ष औसत अवधि वाले १७ बड़े व्यापार चक्र विद्यमान हुये थे। इसी प्रकार १८३७ ई० से लेकर १९३७ ई० तक एक शताब्दी के समय में १२ बड़े व्यापार चक्र उत्पन्न हुए थे। १८५७ ई० तथा १९३७ ई० के मध्य ८० वर्ष की अवधि में १० बड़े व्यापार चक्र विद्यमान हुए थे। १८७३ ई० से लेकर १९३७ ई० तक ६० वर्ष की अवधि में ८ बड़े व्यापार चक्र विद्यमान हुए थे। इस प्रकार अपने इस विश्लेषण के आधार पर हैन्सन के विचारानुसार बड़े व्यापार चक्रों की औसत अवधि ८ वर्ष से थोड़ी अधिक होती। यद्यपि बड़े व्यापार चक्र ६ वर्ष की न्यूनतम अवधि से लेकर १२ वर्ष की अधिकतम अवधि तक होते हैं परन्तु साधारणतया न्यूनतम तथा अधिकतम अवधियाँ ७ से लेकर १० वर्ष तक की होती हैं।

यद्यपि छोटे व्यापार चक्र २ वर्ष की न्यूनतम अवधि से लेकर ६ वर्ष की अधिकतम अवधि तक विद्यमान रह सकते हैं परन्तु साधारणतया ये न्यूनतम तथा अधिकतम सीमायें ३ वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक की होती हैं। छोटे व्यापार चक्र की औसत अवधि ३½ वर्ष के लगभग होती है। हैन्सन ने इस सम्बन्ध में अपने कथन की पुष्टि अमरीका के आर्थिक इतिहास के विश्लेषण द्वारा की है। हैन्सन का कहना है कि अमरीका में १८०७ ई० से लेकर १९३७ ई० तक १३० वर्ष की अवधि में ३७ छोटे व्यापार चक्र विद्यमान हुये थे। इस आधार पर प्रत्येक व्यापार चक्र की औसत

4. "Impulses from outside operate upon the economy, causing it to move in a wavelike manner, just as an external shock, will set a pendulum swinging. But it is the 'inner structure of the swinging system' which determines the length of the wave movement. The oscillation of the system may have a high degree of regularity, even though the impulses which set it going are quite irregular in their behaviour". (Taken from A. H. Hansen : *Business Cycle and National Income*. expanded edition, 1964, p. 7.)
5. "...the business cycle is peculiarly a manifestation of the industrial segment of the economy from which prosperity, or depression, is redistributed to other groups in the highly interrelated modern society." (*op. cit.*, p. 21.)

अवधि ३⅓ वर्ष होती है। १८५७ ई० से लेकर १९३७ ई० तक ८० वर्ष की अवधि में ३·४८ वर्ष औसत अवधि वाले २३ छोटे व्यापार चक्र उत्पन्न हुये थे। १८९० ई० से लेकर १९३७ ई० तक ४७ वर्ष के काल में ३·३६ वर्ष औसत अवधि वाले १४ छोटे व्यापार चक्र विद्यमान हुए थे।

हैन्सन के पूर्व कई अर्थशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों द्वारा यह स्पष्ट किया था कि भिन्न व्यापार चक्रों की भिन्न लम्बाई होती है। फ्रांसीसी अर्थशास्त्री क्लिमेंट जगलर (Clement Juglar) ने १८६० ई० में आँकड़ों के आधार पर बताया था कि प्रत्येक व्यापार चक्र की समृद्धि, संकट तथा सुस्ती की तीनों अवस्थाओं की अवधि ९-१० वर्ष थी। परन्तु जगलर के विचारानुसार व्यापार चक्र की नियमबद्धता में दृढ़ता नहीं थी। उनके विचार में व्यापार चक्र की अवधि इसका औसत जीवन था। १८८९ ई० में प्रकाशित अपनी *Des Crises Commerciales* शीर्षक पुस्तक के द्वितीय संस्करण में जगलर ने ऐसे व्यापार चक्रों का भी वर्णन किया था जिनकी अवधि २ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक की थी।

जगलर के पश्चात जिन अर्थशास्त्रियों ने इस समस्या का अध्ययन किया था उनमें जोसफ किचिन (Joseph Kitchen) तथा रूसी अर्थशास्त्री निकोलाई डी० कौन्ड्रेटीफ (Nikolai D. Kondratieff) के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्याज दरों, बैंक समाशोधनों तथा इंगलैंड व अमरीका में थोक कीमतों के आँकड़ों के आधार पर किचिन ने यह सिद्ध किया था कि व्यापार चक्र बड़े तथा छोटे प्रकार के होते हैं।[6] किचिन के विचारानुसार छोटे व्यापार चक्र की औसत लम्बाई अवधि) ३⅓ वर्ष तथा बड़े व्यापार चक्र की अवधि ६⅔ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक की थी। १९२५ ई० में कौन्ड्रेटीफ थोक कीमतों, मजदूरी दरों, ब्याज दरों, विदेशी व्यापार तथा उत्पादन सम्बन्धी आधार सामग्री फ्रांस, इंगलैंड तथा अमरीका से प्राप्त करके इस सामाग्री के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ५० वर्ष की औसत अवधि वाले व्यापार चक्रों की उपस्थिति सम्भव हो सकती थी। कौन्ड्रे-टीफ के मतानुसार ये दीर्घावधि वाले व्यापार चक्र अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं तथा ये उन्हीं गत्यात्मक शक्तियों का परिणाम होते हैं जो ७ से लेकर १० वर्ष तक की अवधि वाले व्यापार चक्रों को जन्म देती हैं।

उत्पादन प्रणाली में तकनीकी सुधार होने, स्वर्ण के उत्पादन में परिवर्तन होने तथा युद्ध आदि कारणों से व्यापार चक्र की सामान्य अवधि कम अथवा अधिक हो जाती है। उदाहरणार्थ, १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कारण व्यापार चक्र का सामान्य मार्ग अस्त-व्यस्त हो गया था। सामान्यतया व्यापार चक्र जो १९१३ ई० में अपने शिखर को प्राप्त कर चुका था यदि युद्ध आरम्भ न हुआ होता तो १९१४ ई० अथवा १९१५ ई० के लगभग गिरना आरम्भ हो जाता। परन्तु युद्ध आरम्भ हो जाने के कारण इसकी अवधि में वृद्धि हो गई थी। इसी प्रकार १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने के उपरान्त उस व्यापार चक्र का सामान्य पथ, जो १९३७ ई० में शिखर पर पहुँच चुका था, बिलकुल बदल गया था। युद्ध की भारी आवश्यकताओं के कारण मन्दी का युग आरम्भ न हो पाया और तेजी काल युद्ध तथा युद्ध के पश्चात् काफी समय तक विद्यमान रहा।

व्यापार चक्र की अवस्थाएं

प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री बर्नस (Arthur F. Burns) तथा मिचल (Wesley C. Mitchell) के अनुसार दो पृथक ऊर्ध्व बिन्दु (trough) तथा अधोबिन्दु (peak) व्यापार चक्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस दृष्टि से व्यापार चक्र को प्रसारण (expansion) तथा संकोचन (contraction) की दो अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। इनमें से प्रथम

6. Joseph Kitchen : "Cycle and Trends in Economic Factors," *Review of Economic Statistics*, *January* 1923, pp. 10-16.

अवस्था की अवधि ऊर्ध्व बिन्दु से लेकर अधोबिन्दु तक तथा दूसरी अवस्था की लम्बाई अधोबिन्दु से लेकर ऊर्ध्व बिन्दु तक होती है। प्रसारण तथा संकोचन की अवस्थाओं के अतिरिक्त व्यापार चक्र में ऊपरी तथा निचली निर्णायक अवस्थाएँ (turning points) भी होती हैं। इन निर्णायक अवस्थाओं की तुलानात्मक अल्पावधि होती है। आर्थिक चेतना का, जो शीघ्र प्रसारण अवस्था में परिवर्तित हो जाती है, निचली निर्णायक अवस्था से श्रीगणेश होता है। इसके दूसरी ओर ऊपरी निर्णायक अवस्था सुस्ती को, जो शीघ्र संकोचन की दीर्घावधि अवस्था में परिवर्तित हो जाती है, जन्म देती है। बर्नस तथा मिचल के विश्लेषण के अनुसार व्यापार चक्र की निम्नलिखित चार परस्पर सम्बन्धित अवस्थाएँ हैं।

(१) चेतना अवस्था।
(२) प्रसारण अवस्था।
(३) सुस्ती अवस्था।
(४) संकोचन अवस्था।

उपरोक्त अवस्थाओं की व्याख्या करने के अतिरिक्त बर्नस तथा मिचल ने एक ऊर्ध्वबिन्दु से लेकर दूसरे ऊर्ध्वबिन्दु तक सम्पूर्ण व्यापार चक्र को नौ उप-अवस्थाओं में, जो चित्र १२·१

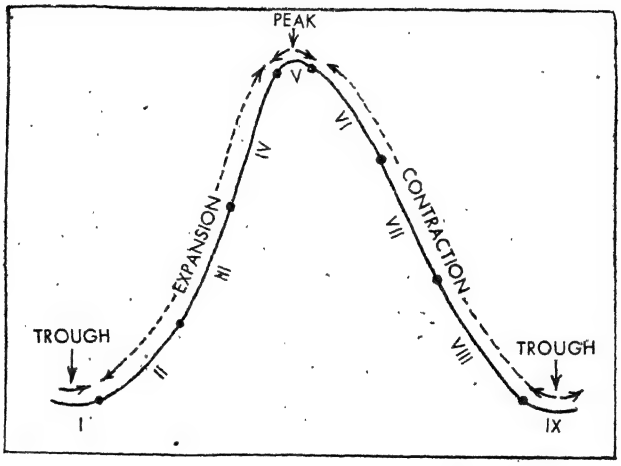

चित्र १२·१

में दिखाई गई हैं, विभाजित किया है। चित्र १२·१ में आरम्भिक ऊर्ध्वबिन्दु रोमन संख्या 1 तथा अन्तिम ऊर्ध्वबिन्दु रोमन संख्या IX द्वारा सूचित किया गया है। अधोबिन्दु को रोमन संख्या V द्वारा सूचित किया गया है। उन्होंने प्रसारण की अवस्था को तीन उप-अवस्थाओं में, जो चित्र में रोमन संख्याओं II, III तथा IV द्वारा अंकित की गई हैं, विभाजित किया है। इसी प्रकार संकोचन की अवस्था को भी तीन उप-अवस्थाओं में, जो चित्र में रोमन संख्याओं VI, VII तथा VIII द्वारा व्यक्त की गई हैं, विभाजित किया गया है।

बर्नस तथा मिचल द्वारा वर्णित व्यापार चक्र की भिन्न स्थितियों तथा भिन्न अवस्थाओं में विभाजित इन स्थितियों को निम्नलिखित चॉर्ट के रूप में लिखा जा सकता है।

अवस्थाएँ	उपअवस्थाएँ	व्यापार चक्र में स्थान
ऊर्ध्वबिन्दु (Trough)	I तथा IX	ऊर्ध्वबिन्दु
प्रसारण (Expansion)	II, III तथा IV	ऊर्ध्वबिन्दु से लेकर अधोबिन्दु के आरम्भ तक
अधोबिन्दु (Peak)	V	अधोबिन्दु
संकोचन (Contraction)	VI, VII तथा VIII	अधोबिन्दु की समाप्ति से लेकर ऊर्ध्व-बिन्दु के आरम्भ तक

शुम्पीटर (J. A. Schumpeter) बर्नस तथा मिचॅल के इस विचार से सहमत नहीं थे कि व्यापार चक्र को ऊर्ध्वबिन्दु से ऊर्ध्वबिन्दु अथवा अधोबिन्दु से अधोबिन्दु तक विभाजित किया जाना चाहिये। शुम्पीटर के विचारानुसार व्यापार चक्र को एक सन्तुलन अवस्था से लेकर दूसरी सन्तुलन अवस्था तक विभाजित करना चाहिये। परिणामस्वरूप शुम्पीटर की व्यापार चक्र अवस्था-योजना के अनुसार व्यापार चक्र को दो अवस्थाओं तथा चार अवस्थाओं वाले व्यापार चक्रों में विभाजित किया जा सकता है। शुम्पीटर द्वारा वर्णित दो अवस्थाओं वाले व्यापार चक्र को चित्र १२·२ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

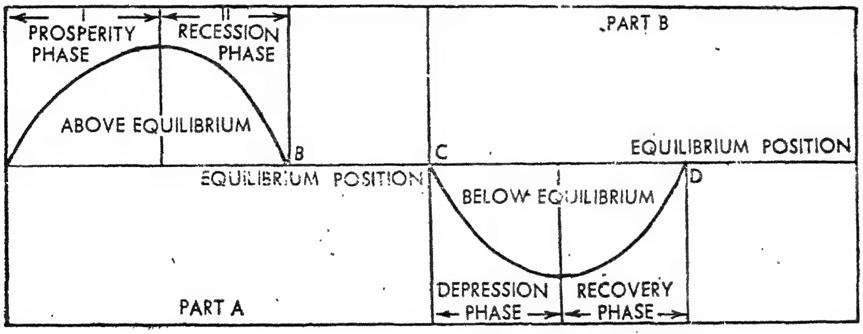

चित्र १२·२

चित्र १२·२ को, जो शुम्पीटर के दो अवस्था वाले व्यापार चक्र को व्यक्त करता है, A तथा B दो भागों में विभाजित किया गया है। चित्र का A भाग ऐसे दो अवस्था वाले व्यापार चक्र को व्यक्त करता है जिसकी सम्पूर्ण अवधि में आर्थिक क्रियाओं का स्तर सन्तुलन से ऊपर है। इसके विपरीत भाग B में दो अवस्था वाले ऐसे व्यापार चक्र को दिखाया गयाहै जिसमें सम्पूर्ण व्यापार चक्र की अवधि में आर्थिक कार्यशीलता सन्तुलन स्थिति से नीचे रहती है। दोनों व्यापार चक्र अर्थव्यवस्था की सन्तुलन अथवा आदर्श स्थिति में विचलन का प्रतीक हैं। चित्र में चार सन्तुलन बिन्दु हैं तथा सन्तुलन क्षेत्र इन सन्तुलन बिन्दुओं के समीप एकत्र हैं। भाग A में सन्तुलन अवस्था A से लेकर सन्तुलन अवस्था B तक अर्थव्यवस्था सन्तुलन से ऊँचे स्तर पर कार्य करती रहती है

तथा एक सन्तुलन बिन्दु से लेकर दूसरे सन्तुलन बिन्दु तक के समय को अच्छे वर्ष कहा जा सकता है। इन वर्षों को समृद्धि की अवस्था, जिसमें अर्थव्यवस्था उस समय तक संचयी प्रसारण का अनुभव करती है जब तक यह अधोबिन्दु की अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाती है, तथा सुस्ती की अवस्था, जिसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था मन्दी की दलदल में फँसती चली जाती है, में विभाजित किया जा सकता है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है समृद्धि की स्थिति की तुलना में सुस्ती की स्थिति में संचयी प्रवृत्तियाँ अधिक शक्तिशाली होती हैं।

चित्र १२·२ में A भाग के समान B भाग भी दो अवस्था वाले व्यापार चक्र को, जिसकी अवधि में अर्थव्यवस्था सन्तुलन से नीचे स्तर पर रहती है, स्पष्ट करता है। सम्पूर्ण व्यापार चक्र अवधि को बुरे वर्ष भी कहा जा सकता है। प्रथम अवस्था मन्दी तथा दूसरी अवस्था चेतना की अवस्था है।

शुम्पीटर के चार-अवस्था वाले व्यापार चक्र के विश्लेषण में निम्नलिखित चार स्थितियों का वर्णन किया गया है।

(१) समृद्धि-अवस्था
(२) सुस्ती-अवस्था
(३) मन्दी-अवस्था
(४) चेतना-अवस्था

शुम्पीटर का चार अवस्थाओं वाला व्यापार चक्र उनके दो अवस्थाओं वाले दो व्यापार चक्रों का एकीकरण है। उनके चार अवस्थाओं वाले व्यापार चक्र को चित्र १२·३ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

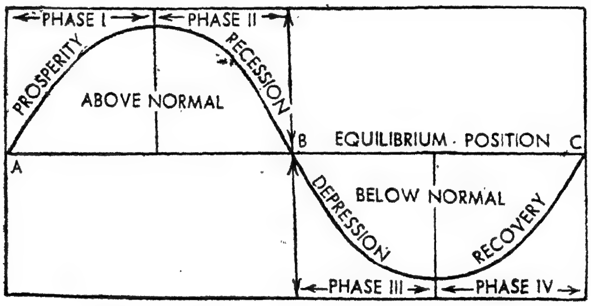

चित्र १२·३

चित्र १२·३ में व्यापार चक्र का प्रथम अथवा ऊपरी आधा भाग समृद्धि तथा सुस्ती की अवस्थाओं में विभाजित है। समृद्धि की अवस्था में अर्थव्यवस्था में रोजगार में वृद्धि होती रहती है। परन्तु जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था शिखर अथवा अधोबिन्दु के समीप पहुँचती है रोजगार में वृद्धि की दर कम हो जाती है। सुस्ती की अवस्था में रोजगार के स्तर में तीव्र गति से गिरावट होने लगती है तथा जब अर्थव्यवस्था B बिन्दु को प्राप्त हो जाती है तब व्यापार चक्र के दूसरे अथवा निचले भाग का श्रीगणेश हो जाता है। प्रथम अथवा ऊपरी भाग के समान व्यापार चक्र के निचले भाग को भी मन्दी तथा चेतना की दो अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। मन्दी की अवस्था की अवधि में अर्थव्यवस्था में रोजगार के स्तर में और अधिक गिरावट आ जाती है। परन्तु जैसे-जैसे ऊर्ध्व बिन्दु समीप आता जाता है रोजगार में गिरावट की गति मन्द होती

जाती है। चेतना की अवस्था की अवधि में रोजगार की स्थिति में सुधार होने लगता है। एक प्रतिनिधि व्यापार की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ प्रमुख विशेषताएँ होती हैं।

(१) मन्दी अवस्था
(२) चेतना अवस्था
(३) समृद्धि अवस्था
(४) सुस्ती अवस्था

अब इन उपरोक्त चारों अवस्थाओं की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है।

१. मन्दी अवस्था (Depression)

व्यापार चक्र की मन्दी-अवस्था की अवधि में अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा रोजगार के आकार में गिरावट विद्यमान हो जाती है। अर्थव्यवस्था में निवेश न होने के कारण श्रमिक तथा अन्य साधन बेरोजगार हो जाते हैं। व्यापार चक्र की इस अवस्था में कीमतों तथा मजदूरी दरों में अत्यधिक कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन साधनों की कीमतों की तुलना में वस्तुओं की कीमतें कम होने के कारण उद्यमकर्ताओं तथा व्यापारियों को हानि सहन करनी पड़ती है। यद्यपि उपभोग वस्तुओं की कीमतों में भारी कमी हो जाने से जिन श्रमिकों को रोजगार प्राप्त होता है उनकी वास्तविक आय में वृद्धि हो जाती है परन्तु अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी का प्रकोप होने के कारण मन्दी की अवस्था में श्रमिकों की आर्थिक स्थिति असन्तोषजनक होती है। श्रमिकों को किसी कीमत पर भी काम प्राप्त नहीं हो पाता है। उदाहरणार्थ, तीसा की महान् मन्दी के समय श्रमिक घनी मात्रा में लन्दन, न्यूयार्क तथा अन्य प्रधान औद्योगिक नगरों में काम प्राप्त करने के लिये प्रदर्शन करते थे परन्तु इन श्रमिकों को किसी भी कीमत पर कोई काम प्राप्त नहीं था। अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा वितरण प्रणालियाँ अस्तव्यस्त हो गई थीं उद्यमकर्ताओं को भारी हानि का अनुभव होने के परिणामस्वरूप पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बहुत कम हो गई थी तथा उद्यमकर्ता किसी भी व्यवसाय में पूँजी का निवेश करना नहीं चाहते थे। मन्दी की अवस्था में यद्यपि विनिर्मित वस्तुओं की कीमतें बहुत कम होती हैं परन्तु कच्चे माल की कीमतें और भी अधिक कम होती हैं। कृषकों तथा कच्चे माल के उत्पादकों की आर्थिक स्थिति व्यापारियों तथा विनिर्माताओं की स्थिति की तुलना में अधिक खराब होती हैं।

२. चेतना-अवस्था (Revival)

मन्दी की अवस्था कुछ समय तक विद्यमान रहने के पश्चात् अर्थव्यवस्था चेतना की अवस्था का अनुभव करती है। इस अवस्था में अर्थव्यवस्था की आर्थिक स्थिति मन्दी की तुलना में अधिक सन्तोषजनक होती है। आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र में आशा की झलक दिखाई पड़ने लगती है। रोजगार तथा उत्पादन की स्थिति में सुधार होने लगता है। बेरोजगारी में कमी होने लगती है तथा उत्पादन की मात्रा तथा रोजगार में वृद्धि हो जाती है। अर्थव्यवस्था में कुल निवेश की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। व्यापारी तथा उद्योगपति साख-मुद्रा का अधिक मात्रा में उपयोग करने लगते हैं और इस कारण आर्थिक क्रियाओं का चक्र समाज में वृद्धिपूर्ण रूप में घूमने लगता है। उद्योग तथा व्यापार में वृद्धि होने पर अर्थव्यवस्था के कृषि क्षेत्र पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। उद्यमकर्तावर्ग में विश्वास उत्पन्न होने के कारण उद्यमकर्ता नवीन उद्योगों का निर्माण करने में व्यस्त हो जाते हैं। व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की आयों में वृद्धि हो जाने के कारण उनके व्यय में

वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार उपभोग वस्तुओं की माँग में भी वृद्धि हो जाती है जिसका प्रभाव अर्थव्यवस्था पर अच्छा होता है। व्यापार चक्र की इस स्थिति में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का पहिया ऊपर की ओर गतिमान हो जाता है।

३. **समृद्धि-अवस्था** (Prosperity)

व्यापार चक्र की यह अवस्था अतिउत्तम अवस्था होती है। समृद्धि को प्राप्त करना सभी देशों की आर्थिक नीतियों का लक्ष्य होता है क्योंकि इस स्थिति में अर्थव्यवस्था में अधिकतम आर्थिक क्रिया होती है तथा उत्पादन साधनों का इष्टतम उपयोग होता है। अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी समाप्त हो जाती है और आर्थिक स्थिरता स्थापित हो जाती है। व्यापार तथा उद्योग उन्नति के शिखर पर होते हैं, मजदूरी दरें ऊँची होती हैं तथा प्रत्येक उस व्यक्ति को जो काम करना चाहता है, उचित मजदूरी दर पर काम प्राप्त हो जाता है। बैंक अग्रिमों तथा कुल निवेश की मात्रा भी अधिक होती है। समृद्धि में उद्योगपतियों की आशायें शिखर पर होती हैं तथा वे बैंकों से साख-मुद्रा उधार लेकर अपने उद्योगों का विस्तार करने में व्यस्त रहते हैं।

४. **सुस्ती-अवस्था** (Recession)

यह व्यापार चक्र की अन्तिम अवस्था है। अर्थव्यवस्था में कुछ समय पश्चात् समृद्धि की अवस्था समाप्त हो जाती हैं तथा यह सुस्ती की अवस्था को जन्म दे देती है। शीघ्र उद्यमकर्ताओं को अपनी भूल ज्ञात हो जाती है और वे यह अनुभव करने लगते हैं कि बहुत से वे उद्योग जो उन्होंने समृद्धि काल में आरम्भ किए थे लाभप्रद नहीं हैं। इस प्रकार की विचारधारा का परिणाम यह होता है कि शीघ्र आशा निराशा में परिवर्तित हो जाती है। एक के पश्चात् दूसरा तथा दूसरे के पश्चात् तीसरा उद्योग क्रमागत बन्द होना आरम्भ हो जाते हैं। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में सभी उत्पादन साधनों की माँग घट जाती है। अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी विद्यमान हो जाती है। बैंक अग्रिमों की मात्रा शीघ्र कम हो जाती है। ब्याज की दर में कमी होने पर भी उद्यमकर्ता बैंकों से ऋण नहीं लेते हैं।

व्यापार चक्र के सिद्धान्त

व्यापार चक्र की घटना का क्रमबद्ध अध्ययन प्रमुख रूप से वर्तमान शताब्दी में आरम्भ हुआ है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में समय समय पर आर्थिक संकट विद्यमान होते रहे थे परन्तु परम्परानिष्ट अर्थशास्त्री आर्थिक उच्चावचनों को अस्थाई समस्या विचारते थे। से[1] के प्रसिद्ध

---

1. जे० बी० से (१७६७-१८३२ ई०) फ्रान्सीसी अर्थशास्त्री थे तथा यूरोप में स्मिथ के विचारों के प्रचारक थे। उनकी *Treatise on Political Economy* शीर्षक पुस्तक, जिसमें उन्होंने अपने प्रसिद्ध बाजार नियम का प्रतिपादन किया था, १८०३ ई० में प्रकाशित हुई थी। सामान्य अत्युत्पादन को मिथ्य बताते हुये से ने लिखा था कि जैसे ही किसी वस्तु का उत्पादन होता है उसी क्षण यह वस्तु अन्य वस्तु के लिये अपने मूल्य के समान माँग उत्पन्न कर देती है। एक वस्तु का विनिर्माण तत्काल अन्य वस्तुओं की माँग उत्पन्न करता है। से का कहना था कि वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में प्रत्येक उत्पादक जितनी मात्रा में किसी वस्तु का उत्पादन करता है उतनी ही मात्रा में वह अन्य वस्तुओं का उपभोग करता है। वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में प्रत्येक विक्रेता ठीक उसी समय तथा समान मात्रा में क्रेता भी होता है।

अर्थव्यवस्था में विनिमय माध्यम के रूप में मुद्रा के प्रवेश करने के हेतु वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में विद्यमान उत्पादन तथा वितरण प्रणालियों में कोई मौलिक परिवर्तन

(पेज १८९ पर देखो)

बाजार नियम, जो परम्परावादी अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग था, के अनुसार सामान्य अत्युत्पादन एक मिथ्या थी। इस नियम के अनुसार अर्थव्यवस्था में कुल समर्थ माँग कुल पूर्ति से कम नहीं हो सकती क्योंकि पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न करती है तथा इस कारण अर्थव्यवस्था में समर्थ माँग का सामान्य अभाव होना एक असम्भव घटना थी। पूर्ति के माँग को जन्म देने के कारण इन दोनों के मध्य सदा सन्तुलन रहता है। यदि किसी कारण पूर्ति तथा माँग में असमानता उत्पन्न हो जाती है तो यह असमानता दीर्घकाल में सन्तुलन शक्तियों के क्रियाशील होने पर कीमतों में परिवर्तन उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप समाप्त हो जाती है। इस प्रकार से के बाजार नियम के अनुसार आर्थिक उच्चावचनों की घटना अल्पकालीन घटना थी जो माँग तथा पूर्ति की बाजार शक्तियों के द्वारा अल्पावधि के पश्चात् समाप्त हो जाती थी। दूसरे शब्दों में से, रिकार्डो, जेम्स मिल आदि परम्परानिष्ट अर्थशास्त्रिओं का यह कहना था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में दीर्घकाल में कुल समर्थ माँग कुल उत्पादन के समान बनी रहेगी।

परन्तु १९ वीं शताब्दी के मध्य के लगभग यह अनुभव किया जाने लगा कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में विद्यमान होने वाले आर्थिक संकट अस्थाई तथा अल्पकालीन घटना नहीं थे। वास्तव में अर्थव्यवस्था आवर्तक संकटों की घटना का शिकार थी। १८१५; १८१८; १८२५; १८३६; १८४७; तथा १८५७ ई० के आर्थिक संकटों के परिणामस्वरूप इंगलैंड की अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई थी तथा देश में बेरोजगारी, निम्न मजदूरी तथा कीमतों में गिरावट उत्पन्न हो गई थी। एक ओर तो यह चिन्ताजनक स्थिति थी जिसको स्वीकार करने से किसी भी अर्थशास्त्री को इन्कार नहीं हो सकता था तथा दूसरी ओर से का बाजार नियम तथा इस पर आधारित परम्परावादी अर्थशास्त्र था जो यह कह कर कि ये सब समस्यायें अल्पकालीन थीं तथा इनके सम्बन्ध में कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं थी पूँजीवाद के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता था। आवर्तक आर्थिक संकटों के गम्भीर परिणामों के प्रति उदासीन रहना समस्या का सामना करने से झिझकने के समान था। कुछ अर्थशास्त्रियों ने ऐसी स्थिति में स्मिथवादी अर्थशास्त्र के प्रति अविश्वास व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। सिस्मांडी, जो कुछ समय पूर्व एडमस्मिथ के सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे तथा स्मिथ को अपना गुरू स्वीकार करते थे, ने परम्परानिष्ट अर्थशास्त्र की इस मान्यता को कि अबन्ध नीति तथा अबन्ध उद्यम (free enterprise) के द्वारा पूर्ण रोजगार को प्राप्त किया जा सकता था गलत बताया। माल्थस ने भी से के बाजार नियम के प्रति अविश्वास व्यक्त करके इस विचारधारा का कि अर्थव्यवस्था में सामान्य अत्युत्पादन की कल्पना करना एक मिथ्या था, कड़ा विरोध किया था। जेम्स मेतलैंड (James Maitland) ने भी १८०४ ई० में प्रकाशित अपनी *An Enquiry into the Nature and Origin of Public Wealth* शीर्षक पुस्तक में स्मिथ तथा उनके अनुयायियों की आलोचना की थी। वास्तव में से के बाजार नियम के प्रतिपादक जे० बी० से, जो स्वयं १८१५ ई० में इंगलैंड का भ्रमण करने गये थे, ने वहाँ पर श्रमिकों की खराब दशा को देखकर यह कहा था कि सारे दिन काम करने के पश्चात भी अंग्रेज श्रमिक

(पृष्ठ १८८ का फुटनोट देखिए)
नहीं होता है। वस्तुओं का विनिमय अब भी वस्तुओं के साथ होता है। अन्तर केवल इतना है कि अब वस्तुयें प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं द्वारा विनिमय न की जा कर मुद्रा के माध्यम द्वारा विनिमय की जाती हैं। अर्थव्यवस्था में मुद्रा का प्रवेश होने के पश्चात् भी प्रत्येक व्यक्ति उतनी ही मात्रा (मूल्य) में वस्तुओं की माँग करेगा जितनी मात्रा (मूल्य) में वह वस्तुओं की पूर्ति करता है। मुद्रा स्वयं व्यर्थ है तथा विवेकशील व्यक्ति मुद्रा का निसंचय करके अर्थव्यवस्था में कम-उपभोग की घटना को उत्पन्न नहीं करेंगे।

को इतना कम वेतन प्राप्त होता है कि वह बड़ी कठिनाई से अपनी तथा अपने परिवार के सदस्यों की केवल आधी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है ।

यद्यपि माल्थस, सिस्मांडी, जेम्स मेतलैंड तथा समाजवादी लेखकों ने से के बाजार नियम को गलत सिद्ध करने का प्रयास किया था परन्तु इन लेखकों को अपने प्रयासों में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी क्योंकि १९ वीं शताब्दी के प्रथम ५० वर्ष तक रिकार्डोवादी स्थिर-सन्तुलन विश्लेषण का अत्यधिक प्रभाव था । रिकार्डो तथा उनके अर्थशास्त्र की इंगलैंड तथा यूरोप में इतनी गहरी छाप थी कि माल्थस के समर्थ माँग के सामान्य अभाव सम्बन्धी विचार की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ । यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी क्योंकि यदि रिकार्डो के स्थान पर माल्थस १९ वीं शताब्दी के अर्थशास्त्र के स्रोत हुये होते तो आज संसार अधिक धनी तथा बुद्धिमान हुआ होता ।[8] १९ वीं शताब्दी के लगभग ६० वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात ही अर्थशास्त्रियों का ध्यान व्यापार चक्र के अध्ययन के महत्व की ओर आकर्षित हुआ । फ्रांसीसी अर्थशास्त्री क्लीमेंट जगलर ने १८६० ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक *Des Crises Commerciales* में व्यापार चक्र का क्रमबद्ध अध्ययन किया तथा व्यापार चक्र उत्पन्न होने के कारणों की व्याख्या की थी । १९ वीं शताब्दी की समाप्ति से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक अनेक अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्र का अध्ययन करके इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिये । इस सम्बन्ध में तुगन बरानोकी (Tugan Baranowsky), आर्थर स्पीथोफ (Arthur Spiethoff) तथा जोसफ ए० शुम्पीटर (Joseph A. Schumpeter); नट विक्सेल (Knut Wicksell); रॉबर्टसन (D. H. Robertson) हॉटरे (R. G. Hawtrey); अल्बर्ट अफटेलियन (Albert Aftalion); जीन लेसक्योर (Jean Lescure); थॉरन्सटिन वेबलन (Thornstein Veblen); तथा वेस्ले क्लेयर मिचल (Wesley Clair Mitchell) के नाम उल्लेखनीय हैं । यद्यपि १९०१ ई० से लेकर १९३६ ई० तक अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्र से सम्बन्धित काफी लेखनकार्य प्रकाशित किया था परन्तु व्यापार चक्रों का अध्ययन सामान्य आर्थिक सिद्धान्त से बाहर रहा था । केवल १९३६ ई० में कीन्स की *The General Theory of Employment, Interest and Money* शीर्षक पुस्तक में सामान्य आर्थिक सिद्धान्त तथा व्यापार चक्र सिद्धान्त का युग्मन सम्भव हो सका था । बचत तथा निवेश के विश्लेषण द्वारा कीन्स ने यह सिद्ध किया कि सन्तुलन में यह आवश्यक नहीं था कि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त होगी । रोजगार के भिन्न निर्धारक कारणों के विश्लेषण द्वारा कीन्स ने यह सिद्ध किया कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में वास्तविक रोजगार का स्तर पूर्ण रोजगार के स्तर से कम हो सकता था । पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर अपने सम्पूर्ण अर्थशास्त्र को आधारित करके परम्परावादी अर्थशास्त्रियों ने इस सत्य को भुला दिया था कि वास्तविक संसार में पूर्ण रोजगार केवल एक अपवाद था ।

यद्यपि कीन्स ने आर्थिक उच्चावचनों के विषय पर काफी महत्त्वपूर्ण लेखनकार्य लिखकर हमारे ज्ञान में भारी वृद्धि की है परन्तु कीन्स ने चक्रिय उच्चावचनों के उत्पन्न होने के कारणों के विषय में बहुत कम लिखा है । व्यापार चक्र के किसी पूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन न करने पर हिक्स ने कीन्स की आलोचना की है । हिक्स के विचारानुसार "यद्यपि कीन्सप्रेरित अर्थशास्त्र ने चक्रीय उच्चावचनों सम्बन्धी हमारे ज्ञान में काफी वृद्धि की है परन्तु यह उस प्रमुख बात को नहीं समझा सका है जो स्वयं व्यापार चक्र है । अब हम यह जानते हैं कि किसी दिये हुये समय पर

8. "...If only Malthus, instead of Ricardo, had been the parent stem from which nineteenth century economics proceeded what a much wiser and richer place the world would be today." (J. M. Keynes : *Essays and Sketches in Biography*, part I, p. 36.)

आर्थिक क्रियाओं का स्तर किन तत्वों द्वारा निर्धारित होता है। इस ज्ञान के द्वारा हम उस स्तर को जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं निर्धारित करने के साधनों का उपाय करते हैं।....कीन्स ने हमको यह नहीं दिखलाया तथा केवल कुछ संकेतों के अतिरिक्त यह दिखलाने का प्रयास भी नहीं किया कि गत समय में आर्थिक क्रियाओं के स्तर में एक निर्धारित प्रतिकृति के अनुसार क्यों उच्चावचन हुये हैं।"[9]

व्यापार चक्र की घटना के उत्पन्न होने के सम्बन्ध में अनेक कारणों की व्याख्या की गई है तथा प्रत्येक कारण को एक अलग सिद्धान्त का रूप दिया गया है। सामान्य रूप से इन सिद्धान्तों को मौद्रिक तथा अमौद्रिक सिद्धान्तों में विभाजित किया जा सकता है। जबकि हॉटरे के विचारानुसार व्यापार चक्र केवल एक मौद्रिक घटना है तुगन बेरोनोकी के विचार में व्यापार चक्र की घटना कम-उपभोग होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। शुम्पीटर व्यापार चक्र को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में समय समय पर विद्यमान होने वाली नवीन प्रक्रियाओं का परिणाम विचारते थे। मिचल के विचार में व्यापार चक्र एक लगातार उत्पन्न होने वाली प्रक्रिया थी तथा व्यापार चक्र की प्रत्येक अवस्था अपने पूर्व की अवस्था से जन्म लेती थी। उनके अनुसार व्यापार चक्र व्यावसायिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति में निहित एक घटना थी। कीन्स के मतानुसार व्यापार चक्र पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में सामयिक परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है यद्यपि आर्थिक प्रणाली के अन्य अल्पावधि निर्धारक कारणों के प्रभाव द्वारा यह अधिक पेचीदा हो जाता है।[10] पीगू के विचारानुसार सामयिक उच्चावचनों की समस्या उद्यमकर्ताओं की मनोभावना में परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होती है। मेटज्लर (Lloyd Appleton Metzler) ने व्यापार चक्र के चलसम्पत्ति सूची (inventory) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हिक्स ने यह बतलाकर कि व्यापार चक्र गुणक तथा त्वरक की शक्तियों की सम्मिलित क्रिया का परिणाम है, व्यापार चक्र के अध्ययन को एक नया मोड़ दिया है।

उपरोक्त संक्षिप्त वर्णन से यह विदित हो जाता है कि व्यापार चक्र के उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं तथा किसी एक कारण के द्वारा अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र की पेचीदा घटना की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक व्यापार चक्र अन्य व्यापार चक्रों से कुछ बातों में समान होता हुआ भी कुछ अन्य बातों में इनसे भिन्न होता है। इस कारण गत व्यापार चक्रों के आधार पर ज्ञात हुये ज्ञान के द्वारा भविष्य में विद्यमान होने वाले व्यापार चक्रों की घटना की पूर्णरूप से सही व्याख्या नहीं की जा सकती है। अब हम व्यापार चक्र सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की निम्नलिखित प्रकार विवेचना कर सकते हैं।

१. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

व्यापार चक्र का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त विलियम एच० बैवरिज, पीगू, जीन लेसक्योर तथा कीन्स के नाम से संबद्ध हैं। यह सिद्धान्त व्यापार चक्र की घटना को उद्यमकर्ताओं की मनोभावना में परिवर्तनों से सम्बन्धित करता है। १९०९ में प्रकाशित अपनी *Employment, A Problem of Industry* शीर्षक पुस्तक में बैवरिज ने अपने व्यापार चक्र सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक तत्वों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उनके विचारानुसार वह एक मात्र कारण जो चक्रीय उच्चावचनों के उत्पन्न होने के लिये उत्तरदायी हो सकता है अर्थव्यवस्था में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों से व्यवसायियों की अत्यधिक प्रभावित होने की वृत्ति है। १९०९ ई० में जीन लेसक्योर ने व्यापार चक्र को

9. J. R. Hicks : *A Contribution to the Theory of the Trade Cycle*, (O. U.P. 1960), p. 1.
10. J. M. Keynes : *op. cit.*, p. 313.

मनोवैज्ञानिक कारणों का परिणाम बताया था। लेसक्योर ने लिखा था कि अत्युत्पादन तथा न्यूनोत्पादन की चक्रीय लहरें व्यावसायियों की लाभ-आशंसाओं में उच्चावचनों का परिणाम थीं। कीन्स ने भी अपनी पुस्तक *General Theory* में व्यापार चक्र की घटना को व्यवसायियों की मनोभावना में परिवर्तनों का परिणाम बताया है।

पीगू के अनुसार औद्योगिक अस्थिरतायें व्यापारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तनों का परिणाम हैं। आधुनिक जगत में व्यापार क्रियायें विशेष रूप से व्यापारी वर्ग की भविष्य सम्बन्धी आशंसाओं पर निर्भर होती हैं। व्यापारियों के अपने भाव होते हैं। यदि कभी वे निराशाजनक होते हैं तो कभी वे आशाजनक होते हैं। आशा तथा निराशा एक दूसरे से दिन तथा रात के समान सम्बन्धित होती हैं। यदि कोई व्यापारी निराशावादी होता है तो उसका दूसरों पर भी निराशावादी खराब प्रभाव पड़ कर सारी अर्थव्यवस्था में मन्दी की घटना स्थापित हो जाती है। इस प्रकार कुछ व्यापारियों द्वारा मन्दी की भावना को अपनाने के परिणामस्वरूप कुछ समय पश्चात् समुचित अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र की घटना उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार कुछ व्यापारियों में तेजी की भावना उत्पन्न होने के कारण कुछ समय पश्चात सारी अर्थव्यवस्था में तेजी तथा अभिवृद्धि उत्पन्न हो जाती है।

यद्यपि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में काफी सत्य है परन्तु यह सिद्धान्त व्यापार चक्र की घटना की पूरी व्याख्या नहीं करता है। यह सिद्धान्त इस बात पर प्रकाश नहीं डालता है कि मन्दी किस प्रकार आरम्भ होती है तथा मन्दी-विमुक्ति की अवस्था किस प्रकार जन्म लेती है। इसके अतिरिक्त यद्यपि यह कहना सत्य है कि व्यापार पर व्यापारियों की मनोवृत्ति का गहरा प्रभाव पड़ता है परन्तु व्यापारियों की मनोवृत्ति अनेक बाह्य कारणों से प्रभावित होती है। व्यापार चक्र का यह सिद्धान्त इन बाह्य कारणों की व्याख्या नहीं करता है। कीन्स ने इस सम्बन्ध में यह व्यक्त किया है कि निवेशकर्ताओं की मनोवृत्ति पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है जो स्वयं अनेक मौद्रिक तथा अमौद्रिक तत्वों पर आधारित होती है। शुम्पीटर के विचारानुसार व्यापार चक्र के मनोवृत्ति सिद्धान्त का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि निवेशकर्ताओं की व्यक्तिगत गलतियों द्वारा अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र की घटना कदापि विद्यमान नहीं हो सकती थी।

२. शुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त

यद्यपि मुद्रा की ओर उन सभी व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित हुआ है जो आर्थिक घटनाओं, विशेषरूप से १९ वीं शताब्दी में उत्पन्न आवर्तक आर्थिक संकटों, के अध्ययन में रुचि रखते थे परन्तु आवर्तक आर्थिक उच्चावचनों की घटना की मौद्रिक व्याख्या करने के सम्बन्ध में अंग्रेज अर्थशास्त्री आर० जी हॉटरे का नाम उल्लेखनीय है। हॉटरे के विचार में व्यापार चक्र एक शुद्ध मौद्रिक घटना है। उनके विचारानुसार यद्यपि कभी कभी युद्ध, भूकम्प, बाढ़ इत्यादि अमौद्रिक कारण अर्थव्यवस्था में अल्पावधि के लिए आंशिक मन्दी अथवा तेजी की घटनाओं को जन्म दे सकते हैं परन्तु उनके द्वारा व्यापार चक्र की पेचीदा घटना कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है। हॉटरे ने अपने सिद्धान्त में इस बात पर प्रकाश डाला है कि अर्थव्यवस्था में आय तथा व्यय के चक्रीय प्रवाह में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप व्यापार चक्र का जन्म होता है। मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के आकार में होने वाले परिवर्तनों का एक मात्र कारण हैं। हॉटरे के अनुसार अर्थव्यवस्था में मन्दी उत्पन्न होने का एकमात्र कारण उपभोक्ताओं के व्यय में कमी का होना है जिसका प्रमुख कारण मुद्रा की मात्रा तथा इसके संचलन वेग में कमी होना होता है। इसके विपरीत अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार तथा अभिवृद्धि की अवस्थाएँ उप-

भोक्ताओं द्वारा अधिक व्यय करने के कारण उत्पन्न होती हैं। उपभोक्ता अधिक व्यय उस समय करते हैं जब द्रव्य की मात्रा तथा इसके संचलन वेग में वृद्धि हो जाने के कारण उनकी आयों में वृद्धि हो जाती है। हॉटरे के अनुसार मन्दी तथा अभिवृद्धि अर्थव्यवस्था में मुद्रा अवस्फीति तथा स्फीति का एक मात्र परिणाम हैं।

आधुनिक मुद्रा तथा साख-मुद्रा अर्थव्यवस्था की अस्थिर प्रकृति आर्थिक अस्थिरता की जननी है। बैंकों द्वारा उत्पन्न साख-मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण व्यापार चक्र की अवस्था में वृद्धि हो जाती है। ब्याज की दर में कमी होने के परिणामस्वरूप अत्यधिक मात्रा में बैंकों द्वारा ऋण प्राप्त करने के कारण व्यापारी अपने वस्तु भण्डारों (stocks) में वृद्धि कर लेते हैं। वे अत्यधिक मात्रा में उत्पादकों को वस्तुओं के आर्डर (order) भेजने लगते हैं। उत्पादकों के पास जब अधिक मात्रा में आर्डर पहुँचते हैं तो वे उनको पूरा करने के उद्देश्य से अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों की माँग में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इस कारण उत्पादन साधनों के पारितोषिकों में उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हुए बिना वृद्धि हो जाती है। इसका प्रभाव वस्तुओं की उत्पादन लागत पर वृद्धि के रूप में पड़ता है। इन सब बातों का प्रभाव यह होता है कि बाजार में उपभोग वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने लगती है।

परन्तु एक समय ऐसा आता है जब अभिवृद्धि की अवस्था में रुकावट पड़ जाती है। जब तक बैंक व्यापारियों को कम ब्याज की दर पर उधार ऋण सुविधायें प्रदान करती रहती हैं तब तक अर्थव्यवस्था ठीक प्रकार से कार्य करती रहती है। परन्तु बैंकों द्वारा ऋण प्रदान करने की एक निर्धारित निश्चित सीमा होती है। जब बैंकों को यह ज्ञात होता है कि ये इस सीमा को पार कर गई हैं तब वे व्यापारियों को ऋण देना बन्द कर देती हैं तथा उनसे अपने पुराने ऋणों का शीघ्र भुगतान करने को कहती हैं। बैंकों की ऋणदान नीति में अकस्मात परिवर्तन हो जाने के कारण व्यापारी अपने माल को बेचना आरम्भ कर देते हैं और वे उत्पादकों के पास नये आर्डर भेजना बन्द कर देते हैं तथा उन पुराने आर्डरों को भी रद्द कर देते हैं जिनका माल उत्पादकों ने उस समय तक नहीं भेजा होता है। पुराने आर्डरों को खतम तथा नये आर्डरों को समाप्त देख विनिर्माता उत्पादन करना कम कर देते हैं। इसके कारण विभिन्न उत्पादन साधनों की माँग कम हो जाती है तथा वे बेरोज़गार हो जाते हैं। उत्पादन साधनों की माँग में कमी हो जाने के कारण उनके पास आय का अभाव होने के कारण बाजार में उपभोग वस्तुओं की माँग और अधिक कम हो जाती है और व्यापारियों में निराशा उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण उद्योगों में उत्पादन की मात्रा पहले से और अधिक कम हो जाती है। इस प्रकार हॉटरे के सिद्धान्त में व्यापारी तथा बैंक साख का विशेष महत्व है। हॉटरे के इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार चक्र मुद्रा स्फीति तथा अवस्फीति का छोटा प्रतिरूप मात्र है। वर्तमान साख मुद्रा प्रणाली की अस्थिर प्रकृति अर्थव्यवस्था में आर्थिक उच्चावचनों की जननी है।

जो आधुनिक अर्थशास्त्री व्यापार चक्र की मौद्रिक व्याख्या के समर्थक हैं उनमें अमरीकी अर्थशास्त्री क्लार्क बारबर्टन (Clark Warburton) तथा मिल्टन फ्रीडमेन (Milton Friedman) के नाम उल्लेखनीय हैं। बारबर्टन के विचारानुसार जब कुल मुद्रा की पूर्ति में कुल उत्पादन में हुई वृद्धि की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है तो अर्थव्यवस्था में अत्यधिक मुद्रा पूर्ति की घटना उत्पन्न हो जाती है तथा कीमतों में वृद्धि होने लगती है। इसके विपरीत जब मुद्रा की पूर्ति में हुई वृद्धि उत्पादन में हुई वृद्धि की तुलना में कम होती है तो कीमतों में गिरावट होने लगती है। व्यापार चक्र

को रोकने के लिये इस प्रकार की उपयुक्त मौद्रिक नीति होना आवश्यक है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति में उत्पादन की मात्रा में हुये परिवर्तनों के समान परिवर्तन हो सकें। मिल्टन फ्रीडमेन के विचारानुसार भी मन्दी तथा अतिस्फीति को उत्पन्न करने में मौद्रिक तत्वों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि फ्रीडमेन ने व्यापार चक्र के किसी सम्पूर्ण मौद्रिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है परन्तु उनके विचार में आर्थिक क्रियाओं के स्तर तथा मुद्रा की पूर्ति के मध्य एक गहरा हेतुक सम्बन्ध है।

व्यापार चक्र के अन्य सिद्धान्तों के समान हॉटरे का सिद्धान्त भी दोष रहित नहीं है। नि:सन्देह वर्तमान समय में वित्त व्यापार की जान है क्योंकि वाणिज्य के लिये वित्त की आवश्यकता पड़ती है तथा यह भी सत्य है कि वित्तीय संस्थाओं का इस सम्बन्ध में विशेष महत्व है। परन्तु व्यापारी अपने निवेश निर्णयों में केवल ऋण प्राप्ति की सुविधाओं तथा ब्याज की दर से प्रभावित नहीं होते हैं। अपनी व्यापार नीति का निर्णय करते समय वे इस बात से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं कि भविष्य में कीमतों में वृद्धि होने की सम्भावना है अथवा नहीं। यदि उनके विचार में भविष्य आशाजनक होता है तो वे अधिक ब्याज की दर पर भी बैंकों से ऋण ले लेते हैं। परन्तु यदि भविष्य में कीमतों के गिरने की आशा की जाती है तो कम ब्याज की दर पर भी वे बैंकों से ऋण प्राप्त नहीं करते हैं। इस प्रकार मन्दी और अभिवृद्धि की अवस्थाओं का बैंकों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। व्यापार चक्र बैंकों की साख-मुद्रा निर्माण नीति का परिणाम नहीं है। हाटरे के विचार में यदि बैंक अपनी साख-मुद्रा नीति का इस प्रकार निर्माण करें कि अर्थव्यवस्था में विनिमय माध्यम की पूर्ति स्थिर रहे तो व्यापार चक्र की घटना का अन्त हो सकता है। परन्तु यदि किसी प्रकार यह सम्भव भी हो तो भी केवल ऐसा करने से व्यापार चक्र का अन्त नहीं हो सकता है क्योंकि जैसा कि कीन्स ने कहा है कि सारी कठिनाई पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, जिसमें अल्प-कालीन अस्थिरता तथा चिरकालीन गतिहीनता की प्रवृत्ति होती है, में परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होती है और इस पर बैंकों का कोई नियन्त्रण नहीं है।

हाटरे ने ब्याज की दर में परिवर्तनों के महत्त्व को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। अल्पावधि ब्याज दरों का विशेषरूप से व्यापारियों के स्टॉक सम्बन्धी निर्णयों पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है। अनुभव यह सिद्ध करता है कि अमौद्रिक कारण भी आय तथा व्यय के चक्रीय प्रवाह की गति में परिवर्तन उत्पन्न करके अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र को उत्पन्न कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि यद्यपि मुद्रा की पूर्ति में हुए परिवर्तन चक्रीय प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं परन्तु ये मौद्रिक परिवर्तन स्वयं अमौद्रिक शक्तियों का परिणाम होते हैं।

(२) मौद्रिक अधिनिवेश सिद्धान्त

व्यापार चक्र का मौद्रिक अधिनिवेश (overinvestment) सिद्धान्त आस्ट्रिया के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एफ० ए० वॉन हेयक (F. A. von Hayek) के नाम से सम्बद्ध है। हेयक की व्यापार चक्र व्याख्या के अनुसार मुद्रा की पूर्ति में बैंक ऋणों के परिणामस्वरूप शुद्ध वृद्धि होने के कारण अर्थव्यवस्था में कुल उपभोग की अपेक्षाकृत कुल निवेश अधिक हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि भारी पूँजीगत वस्तु उद्योगों तथा उपभोग वस्तु उद्योगों के मध्य असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। हेयक के विचारानुसार चक्रीय उच्चावचन मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाने के परिणाम-स्वरूप पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रियाओं के लम्बा अथवा छोटा हो जाने के परिणाम हैं। जब बैंकों द्वारा अत्यधिक साख-मुद्रा का निर्माण करने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति कुल

ऐच्छिक बचत (voluntary saving) की अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है तो प्राकृतिक अथवा सन्तुलन ब्याज दर[11] तथा बाजार ब्याजदर के मध्य असमानता उत्पन्न हो जाती है।

हेयक के विचारानुसार अभिवृद्धि की अवस्था में, जो स्वयं उत्पादन ढांचे के छोटा हो जाने का परिणाम होती है, बैंकों द्वारा साख-मुद्रा की पूर्ति में ऐच्छिक बचत की पूर्ति की अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि करने के परिणामस्वरूप ब्याज की बाजार दर के ब्याज की वास्तविक दर की तुलना में कम हो जाने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में निवेश में सहसा अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। बाजार ब्याज दर में कमी हो जाने के परिणामस्वरूप निवेशकर्ता उन क्षेत्रों में भी निवेश करने लग जाते हैं जिनमें यदि बाजार ब्याज दर सन्तुलन ब्याज दर से कम न हुई होती तो उन्होंने निवेश न किया होता। इसका यह परिणाम होता है कि अर्थव्यवस्था में कुल निवेश कुल ऐच्छिक बचत से अधिक हो जाता है। निवेश में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से उत्पादन प्रक्रिया अधिक लम्बी हो जाती है। हेयक के विचारानुसार उत्पादन प्रक्रिया की लम्बाई में हुई यह वृद्धि, जो ऐच्छिक बचत पर आधारित न होकर बैंकों द्वारा साख-मुद्रा निर्माण पर आधारित होती है, अस्थिर होती है तथा कुछ समय पश्चात उत्पादन में कमी हो जाने के कारण अर्थव्यवस्था में मन्दी को उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न अभिवृद्धि की स्थिति मन्दी की स्थिति को जन्म देती है। अभिवृद्धि की यह स्थिति केवल उस समय तक विद्यमान रह सकती है जब तक बाजार ब्याज दर प्राकृतिक ब्याज दर की अपेक्षाकृत कम रहती है। परन्तु बाजार ब्याज दर प्राकृतिक ब्याज से सदैव कम नहीं रह सकती है क्योंकि बैंक अनिश्चित समय तक मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि नहीं कर सकती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि जो उद्यमकर्ताओं को उत्पादन प्रक्रिया को अधिक लम्बी करने की प्रेरणा देती है अन्त में उनको उत्पादन प्रक्रिया को छोटा करने के लिये विवश करके मन्दी की घटना को किस प्रकार जन्म देती है?

साख-मुद्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति में दो प्रकार से वृद्धि हो सकती है। प्रथम, यह साख-मुद्रा उद्यमकर्ताओं को कम ब्याज की दर पर ऋणों के रूप में दी जा सकती है तथा उनके द्वारा उत्पादन साधनों के स्वामियों की आयों के रूप में उपभोक्ताओं को प्राप्त हो जावेगी। दूसरे, यह साख-मुद्रा प्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ताओं को उपभोक्ता साख-मुद्रा के रूप में भी दी जा सकती है। यद्यपि इन दोनों में से किसी भी विधि को अपनाया जा सकता है परन्तु अन्तिम परिणाम समान होंगे। जब अधिक साख-मुद्रा कम ब्याज की दर उद्यमकर्ताओं को प्राप्त होती है तो वे अपनी निवेश क्रियाओं में वृद्धि करते हैं। ऐसा होने से उत्पादन विधि पहले से अधिक पूँजी-प्रधान (capital intensive) हो जाती है तथा इसके कारण उत्पादन प्रक्रिया अधिक लम्बी बन जाती है। परिणामस्वरूप पूँजीगत वस्तुओं की माँग में उपभोग वस्तुओं की माँग की तुलना में अधिक वृद्धि हो जाती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि पूँजीगत अथवा उत्पादन वस्तुओं की कीमतों में उपभोग वस्तुओं की कीमतों की तुलना में अधिक वृद्धि हो जाती है तथा उद्यमकर्ताओं को पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन करना उपभोग वस्तुओं के उत्पादन की अपेक्षाकृत लाभप्रद सिद्ध होने लगता है। परिणामस्वरूप साधनों का व्यपवर्तन उपभोग वस्तु उद्योगों से पूँजीगत वस्तु उद्योगों की ओर हो जाता है। इसका यह परिणाम होता है कि उपभोग-वस्तु उद्योगों में साधनों की कमी हो जाती है तथा उपभोग वस्तुओं की पूर्ति में कमी हो जाती है। इसके विपरीत जब मुद्रा की अतिरिक्त पूर्ति उद्यमकर्ताओं द्वारा पूँजीगत वस्तुओं पर व्यय किये जाने के कारण

11. प्राकृतिक अथवा सन्तुलन ब्याज दर ब्याज की वह दर है जिस पर उधारदेय पूँजी (loanable funds) की कुल माँग ऐच्छिक-बचत की कुल पूर्ति के समान होती है।

उत्पादन साधनों के स्वामियों को पारितोषिकों के रूप में प्राप्त होकर क्रय-शक्ति का रूप धारण कर लेती है तो उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो जाती है। उत्पादन साधनों की आयों में वृद्धि हो जाने से उत्पादन साधनों के स्वामी अधिक खर्च करते हैं क्योंकि उपभोग की मात्रा आय के स्तर पर आश्रित होती है। ऐसा होने से उपभोग वस्तुओं की कीमतों में भी वृद्धि हो जाती है तथा उपभोग-वस्तु उद्योग उत्पादन साधनों को प्राप्त करने के लिये पूँजीगत-वस्तु उद्योगों से प्रतियोगिता करने लगते हैं। परन्तु अर्थव्यवस्था में साधनों की मात्रा सीमित होने के कारण इनकी माँग में वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप साधनों की कीमतों में वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि पूँजीगत-वस्तु उद्योगों की उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है तथा पूँजीगत-वस्तुओं के विनिर्माताओं के लाभों में कमी हो जाती है। जब यह घटना अर्थव्यवस्था में विद्यमान होती है तभी बैंकिंग प्रणाली साख-मुद्रा निर्माण की गति में कमी करने का का निर्णय करती है तथा बाजार ब्याज की दर प्राकृतिक ब्याज की दर की तुलना में अधिक हो जाती है। ऐसा होने से उद्यमकर्ता अपने निवेशों में कमी कर देते हैं तथा उत्पादन प्रक्रिया छोटी हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था में मन्दी विद्यमान हो जाती है।

यदि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप मुद्रा की बढ़ी हुई मात्रा उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त हो जाती है तो उपभोग वस्तुओं की माँग पूँजीगत वस्तुओं की माँग की अपेक्षाकृत अधिक हो जाने के कारण प्रथम श्रेणी की वस्तुओं की कीमतों में दूसरी श्रेणी की वस्तुओं की कीमतों की तुलना में अधिक वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उपभोग वस्तुओं के विनिर्माता उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में, उन उत्पादन विधियों को अपना कर जिनके द्वारा उत्पादन शीघ्र प्राप्त हो सकता है, भले ही ये उत्पादन विधियाँ उत्पादकता तथा कार्य क्षमता की दृष्टि से कम उत्तम क्यों न हों, वृद्धि करने का भरसक प्रयास करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विनिर्माता उत्पादन की प्रत्यक्ष अथवा श्रम-प्रधान विधियों को, जिनके परिणामस्वरूप उत्पादन-प्रक्रिया छोटी हो जाती है तथा मन्दी को जन्म देनी है, अपनाने लगते हैं।

हेयक का व्यापार चक्र सिद्धान्त यह व्यक्त करता है कि मन्दी तथा समृद्धि की यथाक्रम घटनाएँ उत्पादन प्रक्रियाओं की लम्बाई में कमी अथवा वृद्धि, जो स्वयं मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी होने के कारण बाजार ब्याज दर के सन्तुलन ब्याज दर की तुलना में कम अथवा अधिक हो जाने के परिणामस्वरूप होती हैं, होने का परिणाम हैं। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने के कारण उत्पादन प्रक्रिया की लम्बाई में हुई वृद्धि अस्थाई होने के कारण उत्पादन प्रक्रिया में छोटाई की घटना उत्पन्न हो जाती है। मुद्रा की पूर्ति को व्यापार चक्र की घटना के उत्पन्न होने का कारण बनने से रोकने के लिये, हेयक के विचारानुसार, संचलन में मुद्रा की पूर्ति को स्थिर रखा जाना चाहिये। इसकी पूर्ति में केवल वे परिवर्तन होने चाहिये जो इसके वेग में होने वाले परिवर्तनों को नष्ट करने के लिये आवश्यक हैं।

व्यापार चक्र के अन्य सिद्धांतों के समान हेयक का मौद्रिक अधिनिवेश सिद्धान्त भी दोष रहित नहीं है। अपने सिद्धान्त में हेयक ने ब्याज की दर में परिवर्तनों को अत्यधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार ब्याज की दर अर्थव्यवस्था में निवेश का प्रमुख निर्धारक है। सिद्धान्त में इस सत्य को भुला दिया गया है कि ब्याज की दर के अतिरिक्त तकनीकी परिवर्तन, नवीन प्रक्रियाएँ, जनसंख्या इत्यादि का भी निवेश को निर्धारित करने में भारी महत्व है। हेयक के विचारानुसार निवेश में होने वाले परिवर्तनों का एकमात्र कारण बाजार ब्याज की दर में सन्तुलन ब्याज की दर की तुलना में होने वाले परिवर्तन हैं। बाजार ब्याज की दर में हुए परिवर्तन उद्यमकर्ताओं को पूँजी-प्रधान उत्पादन विधियों अथवा श्रम-प्रधान उत्पादन विधियों को अपनाने की प्रेरणा प्रदान

करके पूँजी-उत्पादन अनुपात में परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं। सिद्धान्त में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है कि निवेश उपभोग माँग से किस प्रकार सम्बन्धित है। वास्तविकता यह है कि निवेश केवल बाजार ब्याज की दर के द्वारा निर्धारित नहीं होता है, यह अन्य अमौद्रिक शक्तियों द्वारा भी निर्धारित होता है।

इसके अतिरिक्त हेयक के सिद्धान्त के अनुसार व्यापार चक्र की घटना को रोकने के लिये मुद्रा की पूर्ति को तटस्थ (neutral) रखा जाना चाहिये क्योंकि जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी होने के हेतु बाजार ब्याज दर में परिवर्तनों द्वारा निवेश में भी वृद्धि अथवा कमी होती रहेगी तथा आर्थिक उच्चावचन विद्यमान होते रहेंगे। परन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि निवेश में होने वाले केवल वही परिवर्तन जो ऐच्छिक बचत द्वारा सम्भव नहीं हो पाते हैं अर्थव्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न करते हैं।

(४) अमौद्रिक अधिनिवेश सिद्धान्त

यद्यपि यह सिद्धान्त उपरोक्त वर्णित व्यापार चक्र के अधिनिवेश सिद्धान्त का रूप है परन्तु यह सिद्धान्त व्यापार चक्र के मौद्रिक अधिनिवेश सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि इस सिद्धान्त में मौद्रिक तथ्यों को अर्थव्यवस्था में मन्दी तथा अभिवृद्धि की लहरों के विद्यमान होने का कारण नहीं माना गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में तुगन बरानोकी, आर्थर स्पीथोफ, गस्टव कैसल तथा डी॰ एच रॉबर्टसन के नाम उल्लेखनीय हैं।

तुगन बरानोकी का लेखनकार्य कई बातों में प्राचीन विचारों से भिन्न था। उन्होंने यह व्यक्त किया कि यद्यपि से का बाजार नियम वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में लागू हो सकता है परन्तु मुद्रा अर्थव्यवस्था में यह लागू नहीं हो सकता है। मुद्रा अर्थव्यवस्था में, जहाँ वस्तुओं का मुद्रा द्वारा विनिमय होता है तथा जहाँ एक वस्तु-विनिमय क्रय-विक्रय दो पृथक क्रय-विक्रय क्रियाओं का रूप धारण कर लेता है, किसी एक वस्तु का अत्युपादन कुछ समय पश्चात अन्य वस्तुओं के अत्युत्पादन की घटना को उत्पन्न कर देता है। परन्तु यह सब किस प्रकार होता है?

जब किसी वस्तु की पूर्ति इसकी माँग की तुलना में अधिक होती है तो कीमत में कमी हो जाती है तथा इस वस्तु के उत्पादकों की आयों में कमी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं को कम मात्रा में खरीदते हैं तथा अपने खर्च में कमी करते हैं। उनके ऐसा करने के कारण इन अन्य वस्तुओं की पूर्ति में भी बेशी की घटना उत्पन्न हो जाती है तथा इनकी कीमतों में भी गिरावट आ जाती है। परिणामस्वरूप इन अन्य वस्तुओं के उत्पादकों की आयों में भी गिरावट आ जाती है तथा ये भी अपने खर्च में कमी करने पर विवश हो जाते हैं। कुछ समय पश्चात् सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मन्दी का शिकार बन जाती है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मुद्रा इन आर्थिक उच्चावचनों का कारण है तथा वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में इस प्रकार की कोई समस्या विद्यमान नहीं होती है। आर्थिक उच्चावचन उत्पन्न होने का कारण वास्तविक पूँजी-निवेश वस्तुओं की पूर्ति में कमी का होना हैं। निवेश वस्तुओं की पूर्ति में अधिक वृद्धि न हो सकने के कारण बैंकों द्वारा साख-मुद्रा का निर्माण किये जाने के परिणामस्वरूप वास्तविक पूँजी वस्तुओं की माँग में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से इनकी कीमतों में वृद्धि हो जाती है। जब तक साख-मुद्रा का विस्तार होता रहता है तब तक अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का भी विस्तार होता रहता है। परन्तु तब विस्तार की अन्तिम अवस्था में आकर साख-मुद्रा का विस्तार एकदम रुक जाता है तथा ब्याज की दर में वृद्धि हो जाती है तब अर्थव्यवस्था में मन्दी स्थापित हो जाती है। मन्दी की अवस्था में टिकाऊ पूँजीगत-वस्तु

उद्योगों को अधिक हानि सहन करनी पड़ती है तथा उपभोग-वस्तु उद्योगों की तुलना में इन उद्योगों को अधिक मन्दी का अनुभव करना पड़ता है।

तुगन बरानोकी के पश्चात आर्थर स्पीथोफ तथा गस्टव कैसल ने भी व्यापार चक्र के अमौद्रिक अधिनिवेश सिद्धान्त की पुन: व्याख्या की थी। स्पीथोफ के विश्लेषण के अनुसार व्यापार चक्र की घटना विद्यमान होने का प्रमुख कारण अर्थव्यवस्था के भिन्न भागों का अयुक्तिपूर्ण विकास था। स्पीथोफ ने अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है।

१. बेटिकाऊ अथवा शीघ्र नाशवान वस्तु उद्योग।

२. टिकाऊ तथा अर्ध-टिकाऊ उपभोग वस्तु उद्योग।

३. टिकाऊ पूँजीगत वस्तु उद्योग।

४. ये उद्योग जो उन वस्तुओं का, जो टिकाऊ वस्तु उद्योगों के काम आती है, उत्पादन करते हैं।

अर्थव्यवस्था के उपरोक्त चारों भागों के मध्य इस प्रकार का विशेष परस्पर सम्बन्ध है कि एक भाग में गति-विस्तार तथा संकुचन-होने पर अन्य भागों में भी गति विद्यमान हो जाती है। मन्दी के समय में जब टिकाऊ पूँजीगत वस्तु उद्योगों में बेशी उत्पादनक्षमता उत्पन्न हो जाती है तब अर्थव्यवस्था में तीसरी तथा चौथी श्रेणी के उद्योगों में कोई निवेश नहीं होता है। परन्तु जब विस्तार आरम्भ होता है तो भारी वस्तु (heavy goods) उद्योगों का विस्तार होना आरम्भ हो जाता है तथा उन अन्य उद्योगों का भी, जिनका उत्पादन भारी वस्तु उद्योगों में प्रयोग में लाया जाता है, विस्तार होने लगता है। उदाहरणार्थ, हलयन्त्र (tractor) विनिर्माण उद्योग का विस्तार होने के परिणामस्वरूप लोहे तथा इस्पात, कोयला तथा अन्य उद्योगों का भी विस्तार होता है। जब इन उद्योगों का विस्तार होने के परिणामस्वरूप इन उद्योगों में काम करने वाले उत्पादन साधनों की आयों में वृद्धि होती है तो उपभोग वस्तुओं पर किये जाने वाले खर्च में वृद्धि हो जाती है क्योंकि उपभोग तथा आय में एक प्रत्यक्ष तथा अनुपाती सम्बन्ध है। परिणामस्वरूप प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के उपभोग वस्तु उद्योगों का भी विकास होने लगता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में विकास की लहर विद्यमान हो जाती है।

यद्यपि गस्टव कैसल की व्याख्या भी स्पीथोंफ की व्याख्या के समान है परन्तु वे स्पीथोफ से एक बात में सहमत नहीं हैं। जबकि स्पीथोंफ के विचारानुसार विस्तार के संकुचन में परिवर्तित होने का कारण उपभोग वस्तु उद्योगों में अधिनिवेश की घटना थी कैसल के विचारानुसार विस्तार के संकुचन में परिवर्तित होने का कारण सामान्य अधिवेशन की वह घटना है जो अर्थव्यवस्था में कुल निवेश के कुल वास्तविक वचत की तुलना में अधिक होने का परिणाम होती है।

प्रोफेसर रॉबर्टसन का सिद्धान्त मौद्रिक तथा अमौद्रिक कारणों की कृत्रिम रचना है। उनके विचारानुसार यद्यपि मौद्रिक कारणों का भी अर्थव्यवस्था में चक्रीय परिवर्तनों को उत्तेजित करने में योगदान होता है परन्तु अमौद्रिक कारण आर्थिक उच्चावचनों के लिये विशेष रूप से उत्तरदायी हैं। १९२६ ई० में प्रकाशित अपनी *Banking Policy and the Price Level* शीर्षक पुस्तक में रॉबर्टसन ने 'बीसा' में मौद्रिक नीति को दिये गये महत्व पर असन्तोष व्यक्त करते हुए मौद्रिक कारणों की तुलना में वास्तविक अथवा अमौद्रिक कारणों को अधिक महत्व देने का अनुरोध किया था। रॉबर्टसन का कहना है कि यद्यपि आर्थिक विकास का पथ निर्विघ्न नहीं होता है तथा थोड़े उच्चावचन आर्थिक विकास के लिए हितकर होते हैं परन्तु कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब ये वाञ्छनीय उच्चावचन अर्थव्यवस्था में अन्य भीषण उच्चावचनों को उत्पन्न करके अर्थ-

व्यवस्था में अस्थिरता की घटना को उत्पन्न कर देते हैं। इन अनुपयुक्त उच्चावचनों के उत्पन्न होने का यह भी कारण है कि कुछ प्रकार के निवेशों में अविभाज्यता की विशेषता होती है। उदाहरणार्थ, रेल परिवहन की शक्ति में ५० प्रतिशत की वृद्धि करने के लिए १½ रेल पगडण्डी नहीं बना सकती है। कम्पनी को या तो केवल एक पगडण्डी से अपना कार्य चलाना पड़ेगा अथवा इसको दूसरी अतिरिक्त सम्पूर्ण पगडन्डी का निर्माण करने के लिए विवश होना पड़ेगा। आधी अतिरिक्त पगडण्डी बना कर रेल परिवहन क्षमता में ५० प्रतिशत की वृद्धि नहीं की जा सकती है। इस प्रकार जब कि एक पगडण्डी पर परिवहन की भीड़ हो जावेगी दूसरी अतिरिक्त पगडण्डी का इष्टतम उपयोग न होने के कारण यह आधे समय खाली रहेगी। इस प्रकार की योजनाओं में निवेश ढेर में होता है। एक बार निवेश करने के पक्ष में निर्णय करने के पश्चात घनी एकराशि का निवेश करने के परिणामस्वरूप उत्पादनक्षमता में वर्तमान माँग की अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हो जाने के कारण बेशी उत्पादन-क्षमता उत्पन्न हो जाती है। निवेश की अविभाज्यता के कारण कम धनराशि का निवेश करना सम्भव न हो सकने के कारण यह समस्या उत्पन्न होती है।

परन्तु समस्या का केवल यहीं अन्त नहीं होता है। कुछ निवेश केवल ढेर के रूप में ही सम्भव नहीं होते हैं बल्कि इनको पूरा करने में काफी घना समय भी लगता है। इस प्रकार की निवेश योजनाओं के पूरा होने का समय असाधारणतया दीर्घ होता है। निवेश योजना निर्णय तथा इसके पूरा होने के बीच काफी समय लगता है। इस समय प्रतियोगी प्रणाली में अन्य उद्यमकर्ता भी इसी प्रकार की निवेश योजनाओं को पूरा करने में व्यस्त रहते हैं। फलस्वरूप इन सब निवेश योजनाओं के एक साथ पूरा होने पर अधिनिवेश की समस्या उत्पन्न हो जाती है तथा बाजार में नई वस्तुओं की पूर्ति इनकी माँग की तुलना में अधिक हो जाती है। ऐसा होने से कीमतों में कमी तथा मन्दी उत्पन्न जाती हैं।

रॉबर्टसन के अनुसार अन्य कारण भी इन उच्चावचनों को, जो अमौद्रिक कारणों द्वारा उत्पन्न होते हैं, उत्तेजना प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, बैंकिंग प्रणाली अधिक साख-मुद्रा का निर्माण करके अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करके पूर्व विद्यमान असन्तुलन को अधिक भीषणता प्रदान कर देती है। यद्यपि रॉबर्टसन की व्यापार चक्र व्याख्या स्पीथोफ तथा तुगन बरानोकी की व्याख्याओं के समान है परन्तु यह उनसे इस बात में उत्तम है कि रॉबर्टसन ने मौद्रिक तथा अमौद्रिक कारणों का युग्मन कर दिया है।

अमौद्रिक अधिनिवेश सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार अत्यधिक वास्तविक निवेश ही अर्थव्यवस्था में उच्चावचनों के उत्पन्न होने का कारण है। यह सिद्धान्त व्यापार चक्र की घटना को उत्पन्न करने वाले अन्य कारणों की व्याख्या करने में असमर्थ है तथा इस कारण यह सिद्धान्त अधूरा है।

(५) कम-उपभोग (अथवा अधिबचत) सिद्धान्त

व्यापार चक्र का यह सिद्धान्त सबसे अधिक पुराना सिद्धान्त है। १९ वीं शताब्दी में जो आर्थिक संकट समय समय पर उत्पन्न हुये थे उनकी व्याख्या कुल समर्थ माँग के अभाव अथवा कमी के रूप में ही की गई थी। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप बढ़ते हुये उत्पादन (पूर्ति) के साथ साथ उपभोग (माँग) में पर्याप्त वृद्धि न होने के कारण अर्थव्यवस्था में अत्युत्पादन तथा बाजारों में बेशी पूर्ति की घटना उत्पन्न हो गई थी। इसका परिणाम अर्थव्यवस्था में मन्दी, बेरोजगारी, कीमतों तथा आयों में कमी के रूप में विद्यमान होता था। माल्थस ने से के बाजार नियम की आलोचना की थी तथा सिस्मॉन्डी ने यह स्पष्ट किया था कि पूँजीवादी अर्थ-

व्यवस्था में आर्थिक संकट का कारण श्रमिकों को कम मजदूरी प्राप्त होने के कारण कम उपभोग का होना था। श्रमिकों के पास अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादित वस्तुओं को क्रय करने के लिये पर्याप्त क्रयशक्ति का अभाव होने के कारण बाजार में क्रेताओं का अभाव होने से वस्तुओं की कम बिक्री होने से अत्युत्पादन का आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है। मार्क्स ने सिस्मांडी की व्याख्या के आधार पर यह व्यक्त किया था कि आर्थिक संकट पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अनिवार्य घटनाएँ थीं।

यद्यपि माल्थस, सिस्मांडी, जैम्स मेतलैंड तथा मार्क्स ने कम उपभोग को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक संकटों की घटना का कारण बतला कर से-रिकार्डो-मिल तर्क का, जिसके अनुसार सामान्य अत्युत्पादन एक मिथ्या था, खण्डन करने का प्रयास किया था परन्तु आर्थिक संकट के कम उपभोग अथवा अधिबचत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का श्रेय जे० ए० हॉबसन (J. A. Hobson) को प्राप्त है। १८१९ ई० में प्रकाशित *The Psychology of Industry*[12] शीर्षक पुस्तक, जिसके ए० एफ० ममेरी (A. F. Mummery) के साथ हॉबसन सह लेखक थे, में हॉबसन ने उस परम्परावादी सिद्धान्त पर, जिसके अनुसार अर्थव्यवस्था में सामान्य अत्युत्पादन की कोई सम्भावना नहीं हो सकती थी, कड़ा आक्रमण किया था। पुस्तक के लेखकों के अनुसार, जैसा कि पुस्तक की प्रस्तावना में लिखित वाक्यखण्डों से विदित है, पुस्तक लिखने का प्रमुख उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में "अधिबचत होना सम्भव है तथा ऐसा होने से समुदाय में गरीबी उत्पन्न हो जाती है, श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं, उनके वेतन कम हो जाते हैं तथा वाणिज्य संसार में निराशा, जिसको मन्दी कहते हैं, फैल जाती है।"

उत्पादन का लक्ष्य उपभोक्ताओं को उपयोगिताएँ तथा सुविधाएँ प्रदान करना है तथा कच्चे माल से लेकर उपभोक्ताओं को विनिर्मित वस्तु प्राप्त होने तक उत्पादन प्रक्रिया एक लगातार क्रम है। पूँजी का एकमात्र कार्य उत्पादन में सहायता प्रदान करना है तथा इस कारण उपभोग की गई कुल पूँजी की मात्रा दैनिक अथवा साप्ताहिक उपभोग की गई उपयोगिताओं तथा सुविधाओं की मात्रा द्वारा निर्धारित होगी। जबकि बचत एक ओर उपस्थित कुल पूँजी की मात्रा में वृद्धि करती है, दूसरी ओर उसी समय यह उपभोग की जाने वाली उपयोगिताओं तथा सुविधाओं की मात्रा में कमी कर देती है। इस प्रकार बचत करने की आदत का अनुपयुक्त प्रयोग करने से अर्थव्यवस्था में एक ओर पूँजी का इसकी आवश्यकता की तुलना में अधिक संचय होगा जो उपभोग वस्तुओं की अधिक पूर्ति के रूप में विद्यमान होगा तथा दूसरी ओर पूँजी की यह बेशी उपभोग माँग में कमी उत्पन्न होने के कारण सामान्य अत्युत्पादन का रूप धारण कर लेगी।

१८९६ ई० में प्रकाशित अपनी दूसरी *The Problem of the Unemployed* शीर्षक पुस्तक में हॉबसन ने व्यापार चक्र की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की थी। अपनी इस व्याख्या द्वारा हॉबसन ने से-रिकार्डो-मिल सिद्धान्त का विरोध तथा खण्डन किया था। से-रिकार्डो-मिल सिद्धान्त, जिसके अनुसार सामान्य अत्युत्पादन तथा बेरोजगारी असम्भव थे, की आलोचना करते हुये हॉबसन ने लिखा था कि यद्यपि "व्यापारिक मन्दी कीमतों तथा लाभों में सामान्य कमी के रूप में विद्यमान

---

12. पुस्तक के लेखकों की प्रशंसा करते हुए जॉन मेनार्ड कीन्स ने लिखा है कि "यद्यपि आज हम इस पुस्तक को पूर्णतया भूल गये हैं परन्तु इस पुस्तक का प्रकाशन एक प्रकार से आर्थिक विचारधारा में एक नये युग का निर्माण करता है।"
(*General Theory, p. 365.*)

होती है परन्तु औद्योगिक ढाँचे के रोग के रूप में यह सामान्य मन्दी अथवा भिन्न उत्पादन साधनों के सामान्य कम-उपयोग के रूप में विद्यमान होती है।"[13]

इस प्राचीन विचार को, जो से के बाजार नियम का एक प्रमुख अंग था, कि अर्थव्यवस्था में किसी एक उत्पादन क्षेत्र में अत्युत्पादन अर्थव्यवस्था में अन्य उत्पादन क्षेत्रों में न्यूनोत्पादन का सूचक है, अवास्तविक तथा रिकार्डो व उसके अनुयायियों के मस्तिष्कों की कल्पना बताते हुए हॉबसन ने यह बताया था कि समस्या किसी एक क्षेत्र में अत्युत्पादन तथा अन्य क्षेत्रों में न्यूनोत्पादन की न होकर यह समझाने की है कि एक ही समय अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में बेशी उत्पादन अथवा कम उपभोग की घटना क्यों विद्यमान होती है।

हॉबसन के विचारानुसार समस्या यह नहीं है कि एक उद्योग में अत्युत्पादन दूसरे उद्योग में न्यूनोत्पादन द्वारा नष्ट हो जाता है। समस्या यह है कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में अत्युत्पादन अथवा कमउपभोग की घटना बहुधा विद्यमान होती रहती है। इसको जीवन की महत्त्वपूर्ण सत्य बताते हुये हॉबसन ने लिखा है कि लाभप्रद निवेश के सभी अवसर पहले ही समाप्त हो चुके हैं। सभी व्यवसायों में यह स्पष्ट है कि उत्पादनक्षमता लाभप्रद मूल्य पर वर्तमान अथवा अनुमानित माँग की तुलना में अधिक है।

से के बाजार नियम की आलोचना करते हुये हॉबसन ने कहा था कि बहुत से व्यक्ति अपनी वर्तमान उपभोग आवश्यकताओं की तुलना में अधिक उत्पादन करते हैं तथा इस कारण उत्पादन की कुल माँग में उनका हिस्सा उत्पादन की कुल पूर्ति में उनके हिस्से की तुलना में कम होता है। मुद्रा अर्थव्यवस्था में किसी एक व्यक्ति के लिए वस्तुओं का क्रेता बने बिना वस्तुओं का विक्रेता बनना सम्भव है। यद्यपि पूर्ति (उत्पादन) करके विक्रेता (उत्पादक) मांग (उपभोग) उत्पन्न करने के योग्य अवश्य बन जाता है, अर्थात् वह क्रेता बनने की स्थिति में होता है परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह क्रय-शक्ति का उसी समय अवश्य ही उपभोग करेगा। यह आवश्यक नहीं है कि विक्रेता ठीक उसी समय बेची हुई वस्तु के समान मूल्य राशि की अन्य वस्तु को क्रय करके सम्पूर्ण क्रयशक्ति को खर्च करेगा। दूसरे शब्दों में, मुद्रा अर्थव्यवस्था में माँग का सदा पूर्ति के समान होना आवश्यक नहीं है। यदि विक्रेता अपनी वस्तु को बेचकर प्राप्त क्रयशक्ति (द्रव्य) को संचित रखना चाहता है तो ऐसी स्थिति में पूर्ति के उत्पन्न होने के उपरान्त शून्य मांग उत्पन्न होगी तथा कुल पूर्ति की तुलना में कुल माँग कम होगी; फलस्वरूप बचत उत्पन्न हो जाती है।

जब तक इस बचत का निवेश होता रहता है उस समय तक कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि कुल समर्थ माँग कुल पूर्ति अथवा उत्पादन के समान बनी रहती है। परन्तु निवेश में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन-क्षमता में भी वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप उपभोग के लिये उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। परन्तु वर्तमान कीमतों पर कुल समर्थ माँग का अभाव होने के कारण इन वस्तुओं का उपभोग सम्भव नहीं हो पाता है तथा इस कारण बाजार में बिन बिकी वस्तुओं का ढेर लग जाता है। ये वस्तुएँ बाजार में कीमतों में कमी करके ही बेची जा सकती हैं। वस्तुओं की कीमतों में कमी हो जाने से उद्यमकर्त्ताओं की आयों में कमी हो जाती है। इसका अर्थव्यवस्था पर और अधिक निराशाजनक बुरा प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में हॉबसन यह सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं कि कम उपभोग की घटना अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण है।

---

13. J. A. Hobson : *The Problem of the Unemployed*, p. 59.

व्यापार चक्र के कम-उपभोग सिद्धान्त का समर्थन अमरीकी अर्थशास्त्री प्रोफेसर फौस्टर (W. T. Foster) तथा वॉडिल कैचिंग्स (Waddill Catchings) ने किया है। वर्तमान शताब्दी में बीसा के काल में प्रकाशित अपने अनेक लेखनकार्यों में फौस्टर तथा कैचिंग्स ने बचत की उभयापत्ति (dilemma of thrift) की व्याख्या की है। बचत आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है क्योंकि निवेश के बिना विकास होना असम्भव है तथा बचत के बिना निवेश का होना असम्भव है। परन्तु बचत निवेश में वृद्धि करके आर्थिक विकास को सम्भव बना कर अर्थव्यबस्था में उपभोग वस्तुओं की बेशी पूर्ति की समस्या उत्पन्न करती है। समस्या के उत्पन्न होने का कारण यह हैं कि जब व्यक्तिगत तथा निगम बचतों का उत्पादन यन्त्रों तथा कच्चे माल आदि में निवेश किया जाता है तो यद्यपि इनका उत्पादन में दो बार उपयोग किया ज़ाता है परन्तु उपभोग में इन बचतों का केवल एक बार उपयोग हो पाता है। परिणामस्वरूप उत्पादन तथा उपभोग के मध्य असमानता उत्पन्न हो जाती है तथा उत्पादन उपभोग की तुलना में अधिक हो जाता है। ऐसा होने से अर्थ-व्यवस्था में मन्दी उत्पन्न हो जाती है।

यद्यपि हॉबसन अपने सिद्धान्त को उच्च सैद्धान्तिक स्तर पर प्रस्तुत नहीं कर सके थे तथा उनके सभी तर्क सन्तोषजनक नहीं हैं परन्तु उनका विश्लेषण गत वर्षों में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डोमर (Evsey D. Domar); हैरड (R. F. Harrod) तथा अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये उन विश्लेषणों से, जिनमें आर्थिक विकास के निर्धारक कारणों की व्याख्या की गई है, काफी मिलता जुलता है। वास्तव में प्रोफेसर डोमर ने हॉबसन की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि हॉबसन को विकास की समस्या के सम्बन्ध में काफी अधिक जानकारी प्राप्त थी तथा उनके विचारानुसार हॉबसन कीन्स की तुलना में वरिष्ठ थे क्योंकि हॉबसन को इस बात का ज्ञान था कि निवेश में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में भी वृद्धि होती है। यद्यपि कीन्स के विचारानुसार केवल बचत का निवेश होने से अर्थव्यवस्था में सन्तुलन स्थापित हो सकता था परन्तु हॉवसन का कहना था कि जब तक उपभोग में इतनी अधिक दर पर वृद्धि नहीं होगी कि बचत के निवेश किये जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई अतिरिक्त उत्पादन क्षमता द्वारा उत्पादित उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग संभव हो सके तब तक अर्थव्यवस्था में केवल बचत का निवेश होने से पूर्ण रोजगार सन्तुलन की स्थिति स्थापित नहीं हो सकती थी। हॉबसन की प्रशंसा करते हुये डोमर ने निम्नलिखित प्रकार लिखा है।

"यद्यपि कीन्स तथा हॉबसन दोनों ही बेरोजगारी के विद्यार्थी थे परन्तु दोनों ने दो भिन्न समस्याओं का अध्ययन किया था। कीन्स ने यह विश्लेषण किया था कि पहली समय अवधि की बचत का निवेश न होने का क्या परिणाम होता है। इस विश्लेषण द्वारा वे इस निष्कर्ष को पहुँचे थे कि इसका परिणाम बेरोजगारी होगा। परन्तु समस्या की इस कथन के रूप में व्याख्या करने से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि बचत का निवेश न होना ही बेरोजगारी का कारण है तथा बचत का निवेश होने से पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो सकती है। परन्तु हॉबसन ने एक पग अधिक आगे बढ़कर समस्या की व्याख्या इस प्रकार की थी। मानलीजिये कि बचत का निवेश हो जाता है। परन्तु क्या केवल इतना करने से ही नये उद्योग (अथवा उत्पादन क्षमता) अपने उत्पादन को बेच सकने में सफल सिद्ध हो सकेंगे? यद्यपि कीन्स[14] के मतानुसार समस्या की इस रूप में व्याख्या करना एक भारी गलती थी परन्तु ऐसा करना कदापि गलती नहीं थी। यह भिन्न तथा सम्भवतः अधिक गहरी तथा उपयुक्त व्याख्या थी।

14. कीन्स के विचारों का अध्ययन करने के लिए उनकी पुस्तक *General Theory* के पृष्ठ ३६७-३६८ को पढ़िये।

हॉबसन निवेश के[15] प्रभावों की समस्या से पूर्णतया परिचित थे तथा वे यह भली प्रकार जानते थे कि इसका उत्तर आर्थिक विकास के द्वारा ही प्राप्त हो सकता था। हॉबसन की व्याख्या की त्रुटि यह थी कि उन्होंने अपने विश्लेषण में गुणक प्रभावों की पूर्ण व्याख्या नहीं की थी। प्रमाण के स्थान पर उन्होंने प्रदर्शन प्रस्तुत किया था। परन्तु जिस समस्या को उन्होंने अपना विषय बनाया था वह समस्या आज भी उसी प्रकार जीवित (महत्त्वपूर्ण) है जिस प्रकार कि यह आज से ७० वर्ष पूर्व जीवित थी।"[16]

यद्यपि कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने फौस्टर तथा कैचिंग्स के विचारों[17] की आलोचना की है परन्तु प्रोफेसर डोमर ने उनकी प्रशंसा की है तथा उनके विचार में लेखकों की *Profits* शीर्षक पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण लेखनकार्य है। व्यापार चक्र के कम-उपभोग सिद्धान्त की प्रमुख त्रुटि यह है कि इसके द्वारा यह नहीं बताया जा सकता है कि अर्थव्यवस्था मन्दी की अवस्था से विस्तार की अवस्था की ओर किस प्रकार गतिमान होती है।

(६) नवीन प्रक्रिया सिद्धान्त

व्यापार चक्र का नवीन प्रक्रिया सिद्धान्त जोसेफ ए० शुम्पीटर के नाम से सम्बद्ध है। व्यापार चक्र को अविरामी प्रक्रिया विचारते हुये तथा क्लीमेंट जगलर के इस विचार से सहमत होते हुए कि समृद्धि ही मन्दी का कारण है, शुम्पीटर के विचारानुसार नवीन प्रक्रियाएँ अर्थ-व्यवस्था में व्यापार चक्र की उत्पत्ति का मौलिक कारण हैं। इस सम्बन्ध में शुम्पीटर ने निम्न-लिखित प्रकार लिखा है।

"व्यापार उत्कर्ष (booms) अर्थव्यवस्था के औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्र में नवीन प्रक्रियाओं को अपनाने के परिणामस्वरूप विद्यमान होते हैं। नवीन प्रक्रियाओं से मेरा आशय उत्पादन साधनों के अनुपातों में होने वाले उन परिवर्तनों से है जो धीरे से नहीं होते हैं। प्रमुखतः ये परिवर्तन उत्पादन तथा परिवहन विधियों, औद्योगिक संगठन में परिवर्तनों अथवा नई वस्तु के उत्पादन अथवा नये बाजारों अथवा कच्चे माल के नये स्रोतों की खोज के रूप में विद्यमान होते हैं। पूँजीवादी समाज में उन्नति समृद्धि की चक्रीय गतियों के रूप में होती है।"[18]

शुम्पीटर के अनुसार पूँजीवादी समाज में नवीन प्रक्रियाएँ चक्रीय उच्चावचनों के उत्पन्न होने के मौलिक कारण हैं। परन्तु शुम्पीटरवादी नवीन प्रक्रियाएँ आविष्कारों से भिन्न हैं। शुम्पीटर के अनुसार नवीन प्रक्रियायें नई उत्पादन तकनीकों तथा नई सामग्री की व्यावसायिक प्रयुक्ति है।

विस्तार के रूप में व्यापार चक्र का श्रीगणेश उस समय होता है जब उद्यमकर्त्ता नवीन प्रक्रियाओं को व्यवसायों में प्रयुक्त करने हेतु निवेश करते हैं। निवेश का आरम्भ अर्थव्यवस्था में

---

15. यूनानी भाषा का σ शब्द अर्थव्यवस्था में उत्पादन-क्षमता में हुई उस वृद्धि को सूचित करता है जो प्रत्येक रुपये का निवेश करने के कारण सम्भव होती है। यह उत्पादन-पूँजी अनुपात है, अर्थात् $\sigma = \frac{O}{K}$
16. E. D. Domar : *Essays in the Theory of Growth* (O. U. P. 1957), p. 104.
17. फौस्टर तथा कैचिंग्स के सिद्धान्त की आलोचनाओं के लिये हैबर्लर द्वारा लिखित *Prosperity and Depression* शीर्षक पुस्तक के चौथे संस्करण के १२५ पृष्ठ को देखिये।
18. J. A. Schumpeter : "*The Explanation of the Business Cycle,*" *Economica*, December 1927, p. 295.

कुछ नेता उद्यमकर्ताओं द्वारा होता है। शीघ्र ही इन उद्यमकर्ताओं को निवेश करते देख अन्य उद्यमकर्ता नई उत्पादन तकनीकों को अपनाने तथा औद्योगिक संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने लगते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में निवेश की लहर विद्यमान हो जाती है तथा यह लहर उस समय तक विद्यमान रहती है जब तक नई वस्तुओं के उत्पादन में घनी मात्रा में वृद्धि होने के रूप में इनके पूर्ण प्रभाव व्यक्त नहीं हो जाते हैं। जब आविष्कारों की व्यावसायिक प्रयुक्ति होने के परिणामस्वरूप बाजार में नई वस्तुओं की बाढ़ आ जाती है तब इन वस्तुओं की कीमतों में गिरावट होना आवश्यक हो जाता है। परन्तु नई वस्तुओं की कीमतों के गिरने से उद्यमकर्ताओं के लाभों में कमी हो जाती है तथा ऐसा होने से समाज में आर्थिक क्रियाओं की गति विधियों की दिशा विपरीत हो जाती है। अर्थव्यवस्था में सुस्ती, जो कुछ समय पश्चात् मन्दी में परिवर्तित हो जाती है, विद्यमान हो जाती है।

मन्दी की अवस्था चेतना को उस समय जन्म देती है जब कीमतें तथा उत्पादन लागतें गिरकर उस बिन्दु को प्राप्त हो जाती है जहाँ नवीन प्रक्रियाओं को प्रयुक्त करने वाले नेता उद्यमकर्ता यह आशा करने लगते हैं कि अब कीमतों में और अधिक गिरावट नहीं होगी, अर्थात् वे यह अनुमान करने लग जाते हैं कि इस बिन्दु के उपरान्त कीमतों में वृद्धि होगी। इस क्षण जो नवीन प्रक्रियाएँ उनके विचार आधीन होती हैं उनकी व्यावसायिक प्रयुक्ति करना लाभप्रद प्रतीत होने लगता है। इन नवीन प्रक्रियायों की व्यावसायिक प्रयुक्ति का क्रम आरम्भ होते ही अर्थव्यवस्था में चेतना आरम्भ हो जाती है। शुम्पीटर के विचारानुसार नवीन प्रक्रियाओं की व्यावसायिक प्रयुक्ति चेतना का कारण है तथा नई वस्तुओं के अत्युत्पादन के रूप में व्यक्त हुये इन नवीन प्रक्रियाओं के परिणाम अर्थव्यवस्था में सुस्ती तथा मन्दी के कारण होते हैं।

शुम्पीटर के सिद्धान्त में तीन बातें उल्लेखनीय हैं। प्रथम, शुम्पीटर की व्यापार चक्र की व्याख्या में नवीन प्रक्रियाओं के निरन्तर विद्यमान न होकर समय-समय पर भारी वेग के रूप में विद्यमान होने के कारण आर्थिक विकास अनिरन्तरित तथा पिण्डीभूत रूप में होता है।

दूसरे, नवीन प्रक्रियाओं का वित्तिकरण बैंकों द्वारा साख-मुद्रा निर्माण द्वारा होता है।[19] साख-मुद्रा निर्माण के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में लोगों की व्यय-शक्ति में वृद्धि हो जाने से कीमतों में वृद्धि तथा विस्तार की संचयी प्रक्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं। उद्यमकर्ताओं तथा व्यापारियों के सट्टेबाजी की क्रियाओं में व्यस्त हो जाने तथा अत्यधिक आशावादी बन जाने से अभिवृद्धि को और अधिक शक्ति प्राप्त होती है। अर्थव्यवस्था में सुस्ती आरम्भ होने का प्रथम कारण यह है कि जैसे-जैसे पूँजीगत योजनाएँ पूरी होती हैं तथा नवीन प्रक्रियाओं की प्रयुक्ति के परिणामस्वरूप बाजार में नई वस्तुएँ उपलब्ध होने लगजाती हैं वैसे-वैसे नये निवेश अवसर कम होते जाते हैं। परिणामस्वरूप उद्यमकर्त्ता बैंकों से प्राप्त ऋणों का भुगतान करने लगते हैं तथा अर्थव्यवस्था में सामान्य मन्दी फैल जाती है। सुस्ती उत्पन्न होने का दूसरा कारण यह भी है कि नई वस्तुओं की अत्यधिक पूर्ति बाजार में आजाने से कीमतों में गिरावट आ जाती है तथा उद्यमकर्ताओं के लाभों में भारी कमी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ उद्यमकर्ता अपने उत्पादन में कमी करते हैं

19. यदि नवीन प्रक्रियाओं का वित्तिकरण वास्तविक बचत द्वारा किया जावेगा तो इन प्रक्रियाओं की प्रयुक्ति की गति धीमी होगी। इसके अतिरिक्त स्फीति की अनुपस्थिति में, जो अर्थव्यवस्था में साख-मुद्रा के निर्माण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, कीमत ढाँचे में कम विघ्न उत्पन्न होंगे।

तथा अन्य कुछ उद्यमकर्ता उत्पादन करना समाप्त कर देते हैं तथा अर्थव्यवस्था मन्दी की दलदल में फँस जाती है।

तीसरे, शुम्पीटर के सिद्धान्त में सन्तुलन का अत्यधिक महत्व है। शुम्पीटर ने व्यापार चक्र की भिन्न अवस्थाओं की सन्तुलन अवस्था से विचलन के रूप में परिभाषा की है। शुम्पीटर के अनुसार समृद्धि की अवस्था का आरम्भ सन्तुलन से होता है। सुस्ती की अवस्था सन्तुलन की नई स्थिति की ओर गति के आरम्भ होने का प्रतीक है। इन दोनों अवस्थाओं में अर्थव्यवस्था सन्तुलन स्तर के ऊपर रहती है। इसके विपरीत मन्दी तथा चेतना की अवस्थाओं में अर्थव्यवस्था सन्तुलन स्तर के नीचे रहती है। शुम्पीटर की व्याख्या में चेतना व्यापार चक्र की अन्तिम अवस्था है तथा समृद्धि व्यापार चक्र की प्रथम अवस्था है।

शुम्पीटर के विचारानुसार भिन्न अवधि-लम्बाइयों के व्यापार चक्र साथ-साथ उत्पन्न होते हैं तथा एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। यद्यपि ये सभी व्यापार चक्र नवीन प्रक्रियाओं के कारण उत्पन्न होते हैं परन्तु व्यापार चक्रों की अवधियों में समानता का अभाव होने का कारण यह है कि किसी समय विशेष पर होने वाली सभी नवीन प्रक्रियाओं के हेतु होने वाली निवेश योजनाओं की गर्भावधि (gestation period) समान नहीं होती है। शुम्पीटर का कहना है कि एक साथ विद्यमान होने वाले व्यापार चक्रों को ६० वर्षीय (अथवा कोन्ड्रेटीफ) चक्र; १० वर्षीय (अथवा जगलर) चक्र; तथा ४० मासीय (अथवा किचिन) चक्रों में विभाजित किया जा सकता है।

व्यापार चक्र के अन्य सिद्धान्तों के समान शुम्पीटर का सिद्धान्त भी दोष रहित नहीं है। मन्दी की विषमता केवल नवीन प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न विघनों का परिणाम नहीं होती है। यह अन्य कारणों का भी परिणाम होती है। प्रथम, पहले व्यापार चक्र के समाप्त होने के पूर्व नवीन प्रक्रिया की प्रयुक्ति होने से व्यापार चक्र की गहराई तथा प्रकृति पर काफी गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी नवीन प्रक्रिया की प्रयुक्ति पहले व्यापार चक्र की मन्दी अवस्था के काल में हो जाती है तो ऐसा होने से अनेक ऐसी फर्मों को जो समाप्त हो गई होतीं, नया जीवन प्रदान हो जाता है। इस प्रकार समय से पूर्व नया समृद्धि युग विद्यमान होने से पहले मन्दी काल की समस्याएँ दूसरे मन्दी काल के लिये स्थगित हो जाती हैं।

दूसरे, समृद्धि अवस्था में बैंकों द्वारा उत्पन्न साख-मुद्रा राशि का भी व्यापार चक्र की प्रकृति तथा कारणों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि उस साख-मुद्रा की मात्रा जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था में पुराने उद्योगों में नवीन प्रक्रियाओं का वित्तिकरण हुआ है अधिक है तो कीमतों में वृद्धि अधिक होगी तथा परिणामस्वरूप कीमतों को पुनः सन्तुलन में लाने के लिये अधिक समायोजन की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त बैंक साख-मुद्रा निर्माण के परिणामस्वरूप जितनी अधिक मात्रा में सट्टेबाजी की क्रियाएँ उत्पन्न होंगी उतनी ही अधिक मात्रा में वित्तीय संकट उत्पन्न होने तथा बैंकों के फेल होने की सम्भावना होगी।

तीसरे, नवीन प्रक्रियाओं के प्रतियोगी प्रभाव की प्रकृति का भी व्यापार चक्र के आकार के निर्धारण में भारी महत्त्व है। यदि नई वस्तु की माँग का प्रभाव व्यापक है तथा इसके कारण अन्य सभी वस्तुओं की माँग में सामान्य रूप से कमी होती है तो पुराने उद्योग अपनी वस्तुओं की माँग में कोई विशेष कमी का अनुभव नहीं करेंगे तथा समायोजन आसानी से प्राप्त हो सकेगा। इसके विपरीत यदि नई वस्तु की माँग में वृद्धि होने का प्रभाव (माँग में कमी होने के रूप में) केवल कुछ उद्योगों पर पड़ता है तो इन उद्योगों में काफी फर्म फेल हो जावेंगी तथा अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी तथा भीषण मन्दी की समस्याएँ उत्पन्न हो जावेंगी।

चौथे, यदि वे उद्योग जिनकी वस्तुओं की माँग में नवीन प्रक्रियाओं की प्रयुक्ति के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली नई वस्तुओं की प्रतियोगी माँग के कारण कमी हुई है केवल किसी एक स्थान अथवा क्षेत्र में संकेन्द्रित हैं (उदाहरणार्थ, कपड़ा मिल उद्योग प्रमुखतया बम्बई क्षेत्र में संकेन्द्रित है) तो साधन गतिशीलता के अभाव के कारण श्रम तथा अन्य उत्पादन साधनों को उस स्थिति की तुलना में जब उद्योग एक स्थान पर संकेन्द्रित न होकर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में फैला होता है अधिक भीषण बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ेगा।

पाँचवें, नवीन प्रक्रियाओं की प्रयुक्ति करने तथा प्रयुक्ति करने के फलस्वरूप उत्पादन प्राप्त होने के मध्य जो निर्माण अवधि होती है उसका भी व्यापार चक्र की अवधि तथा आकार निर्धारण में काफी महत्व है। जितना अधिक दीर्घ समय नवीन प्रक्रियाओं की प्रयुक्ति में व्यतीत होगा समायोजन उतना ही अधिक प्रचण्ड होगा। यदि नवीन प्रक्रियाओं के लिए यन्त्रों तथा सज्जा का विनिर्माण शीघ्र हो सकता है तो नई वस्तु बाजार में शीघ्र उपलब्ध हो जाने से समायोजन अत्यधिक कुप्रबन्धन की समस्या उत्पन्न होने के पूर्व हो सकता है। इसके विपरीत यदि नये सज्जा को बनाने में दीर्घ गर्भावधि की समस्या उत्पन्न होती है (उदाहरणार्थ, नई रेल पटरी अथवा बाँध को बनाने में काफी समय लगता है) तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था निर्माण काल की अस्थाई माँग से समायोजित हो जाती है। दीर्घनिर्माण अवधि की समाप्ति पर जब माँग में परिवर्तन होते हैं तब अधिक व्यापक समायोजन अनिवार्य हो जाते हैं।

छटे, शुम्पीटर का नवीन प्रक्रिया सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार तथा नवीन प्रक्रियाओं का साख-मुद्रा द्वारा वित्तिकरण की अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। ऐसी अर्थव्यवस्था में जहाँ बेरोजगार उत्पादन साधनों की प्रचुरता है नवीन प्रक्रिया की प्रयुक्ति के परिणामस्वरूप साधनों की पूर्ति पुराने उद्योगों में कम नहीं होगी तथा न ही नवीन प्रक्रियाओं के प्रतियोगी प्रभाव के कारण पुराने उद्योगों की उत्पादन लागत में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त यदि नवीन प्रक्रियाओं का वित्तिकरण बैंकों द्वारा साख-मुद्रा निर्माण द्वारा न होकर वास्तविक बचत द्वारा होता है तो अर्थव्यवस्था में स्फीति उत्पन्न नहीं होगी। इससे यह स्पष्ट है कि यदि अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त नहीं है तथा नवीन प्रक्रियाओं का वित्तिकरण वास्तविक बचत द्वारा होता है तो नवीन प्रक्रियाओं को व्यापार चक्र की जननी नहीं कहा जा सकता है। आधुनिक वाणिज्य जगत में उत्पन्न होने वाली व्यापार चक्र की घटना का नवीन प्रक्रिया सिद्धान्त एक अपर्याप्त व्याख्या है। मौद्रिक कारणों की व्याख्या की सहायता बिना नवीन प्रक्रिया सिद्धान्त व्यापार चक्र की घटना की व्याख्या करने में असमर्थ है।

(७) कीन्स का सिद्धान्त

यद्यपि कीन्स ने व्यापार चक्र के किसी पूर्ण विकसित सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है परन्तु यह सत्य है कि व्यापार चक्र के विषय पर जो कुछ भी उन्होंने लिखा है वह हमारे लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कीन्स के विचारानुसार "व्यापार चक्र पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में चक्रीय परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है, यद्यपि आर्थिक प्रणाली के अन्य अल्पावधि महत्वपूर्ण तथ्यों में सम्बद्ध परिवर्तनों के हेतु यह बहुत पेचीदा तथा उत्तेजित हो जाता है।"[20] इस प्रकार चक्रीय उच्चावचनों के उत्पन्न होने का प्राथमिक कारण निवेश के आकार में होने

20. J. M. Keynes : *op. cit.*, Chapter 22, p. 313.

वाले वे परिवर्तन हैं जो स्वयं पूँजी की सीमान्त उत्पादकता[21] में होने वाले चक्रिय परिवर्तनों का परिणाम होते हैं।

अपनी पुस्तक *General Theory* में इसे स्पष्ट करते हुए कीन्स ने लिखा है कि व्यापार चक्र की व्याख्या पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर में परिवर्तनों के द्वारा की जा सकती है। ब्याज की दर मुद्रा की पूर्ति तथा इसकी माँग द्वारा निर्धारित होती है। मुद्रा की माँग नकदी अधिमान द्वारा निर्धारित होती है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पूँजीगत परिसम्पत्ति अथवा वर्तमान निवेश की लागत तथा निवेश द्वारा भविष्य में प्राप्त होने वाली आशंसित लाभ की दर पर निर्भर होती है।

कीन्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का महत्व ब्याज की दर की तुलना में अधिक है। वास्तव में कीन्स के विचारानुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की अस्थिरता शान्ति का प्रमुख शत्रु है तथा यह अर्थव्यवस्था में आर्थिक उच्चावचनों को उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त ब्याज की दर भी पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में अस्थिरता उत्पन्न करने में सहायता करती है। इन दोनों शक्तियों के अतिरिक्त कीन्स के सिद्धान्त में निवेश गुणक (Investment Multiplier) का भी विशेष महत्व है क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में व्यापार चक्र का आकार छोटा हुआ होता है।

व्यापार चक्र
↓
निवेश माँग में परिवर्तन
↓

↓ **ब्याज की दर** ↓
↓ नकदी अधिमान
↓ मुद्रा की पूर्ति

↓ पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ↓
↓ निवेश अथवा पूँजीगत परिसम्पत्ति की वर्तमान लागत
↓ निवेश द्वारा प्राप्त होने वाली आशंकित लाभ दर

मन्दी में जब पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अनेक कारणों से ऊँची होती है और ब्याज की दर भी बहुधा कम होती है, निवेष गुणक की क्रिया के कारण निवेश में किसी दी हुई मात्रा में आरंभिक वृद्धि होने से रोजगार के स्तर में शीघ्र वृद्धि होना आरम्भ हो जाता है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था आर्थिक क्रियाओं में व्यस्त हो जाती है और शीघ्र पूर्ण रोजगार को प्राप्त करके अभिवृद्धि की अस्थिर अवस्था की ओर गतिमान हो जाती है। अर्थव्यवस्था में आशा का वातावरण दिखाई देने लगता है। परन्तु दुर्भाग्यवश यह अवस्था अस्थाई सिद्ध होती है। कुछ ही समय पश्चात् वस्तुओं का अत्यधिक उत्पादन होने के कारण उद्यमकर्त्ताओं को हानि होने लगती है और वे निराशावादी बन जाते हैं। इसका आर्थिक परिणाम यह होता है कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में अकस्मात कमी हो जाती है और व्यक्तिगत निवेश में कमी विद्यमान हो जाती है। इसके कारण उत्पादन

---

21. कीन्स के अनुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता उस बट्टे दर के समान होती है जो किसी पूँजीगत परिसम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आशंसित कुल वार्षिक आय को पूँजीगत परिसम्पत्ति के वर्तमान पूर्ति मूल्य (अथवा लागत) के समान बनाती है।
(*op. cit.*, 135-37.)

साधनों में बेरोजगारी फैल जाती है तथा उपभोग वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। इस अवस्था में निवेश गुणक के विपरीत दिशा में क्रियाशील होने के कारण मन्दी की संचययी अवस्था शीघ्र अधिक गम्भीर बन जाती है।

कीन्स का सिद्धान्त[22] व्यापार चक्र की काफी सन्तोषजनक व्याख्या करता है। परन्तु कीन्स का सिद्धान्त दोष रहित नहीं है। कीन्स के सिद्धान्त में ब्याज की दर और पूँजी की सीमान्त उत्पादकता दो प्रमुख शक्तियाँ हैं। कीन्स के विचार में मन्दी की अवस्था में यदि ब्याज की दर में काफी कमी कर दी जावे तो अर्थव्यवस्था को मन्दी से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु यह विचार सत्य से काफी दूर है क्योंकि अध्ययनों से ज्ञात होता है कि ब्याज की दर का निवेश की मात्रा पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। दूसरे शब्दों में, निवेश माँग वक्र की ब्याज सापेक्षता मन्दी के काल में बहुत कम होती है। इस सम्बन्ध में बेनहम (Benham) ने लिखा है कि "उद्यमकर्त्ता अपने पुराने व्यवसायों में तभी वृद्धि अथवा नये व्यवसायों को तभी स्थापित करेंगे जब वे भविष्य में माँग में वृद्धि होने की आशा करते हैं जिसके कारण वे अधिक उत्पादन को अधिक कीमत पर बेचकर अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं।" क्राउथर के विचार में भी ब्याज का निवेश की मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि कीन्स के अनुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का उद्यमकर्त्ताओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है परन्तु कीन्स ने स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया है कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता किन बातों पर निर्भर होती है। कीन्स के विचार में यह निवेशकर्त्ताओं की मनोभावना, जो अनेक व्यक्तिपरक तथा वस्तुपरक कारणों द्वारा प्रभावित होती है, पर निर्भर होती है। यदि यह सत्य है तो हम कह सकते हैं कि कीन्स का सिद्धान्त पीगू के व्यापार चक्र के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के समान है।

मन्दी काल में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का इतना अधिक शक्तिपात हो जाता है कि उद्यमकर्त्ताओं में कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् ही विश्वास की पुनः प्राप्ति हो पाती है तथा ब्याज की दर में कमी करके भी (यदि ब्याज दर में कमी करना सम्भव है) व्यक्तिगत निवेश क्रियाओं में चेतना उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। परन्तु मन्दी विद्यमान हो जाने के पश्चात् चेतना का श्रीगणेश किस प्रकार तथा कब होता है? समय व्यतीत होने के साथ अर्थव्यवस्था में वस्तुओं का निरन्तर उपभोग होते रहने के कारण इनका स्टाक कम होता जाता है तथा उत्पादन यन्त्रों व सज्जा की मात्रा में घिसावट होने के कारण कमी होती जाती है। इससे उपभोग तथा पूँजीगत वस्तुओं की माँग में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप निवेश में शनैः शनैः वृद्धि होने लगती है। उद्यमकर्त्ताओं में विश्वास की पुनः स्थापना हो जाने के पश्चात अर्थव्यवस्था में चेतना की संचयी लहर विद्यमान हो जाती है।

---

22. इस बात पर बल देते हुए कि मन्दी में ब्याज की दर का प्रभाव बहुत कमजोर होता है तथा इसमें कमी करने के द्वारा मन्दी का उपाय करना अविश्वसनीय है, कीन्स ने ब्याज दर की कुत्ते तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की कलहंस से तुलना करते हुए लिखा है कि मन्दी में कलहंस (पूँजी की सीमान्त उत्पादकता) गहरी डुबकी लगाकर ताल की तली में जाकर बैठ जाता है। इसको पानी की सतह पर पुनः लाने के लिये एक अत्यधिक चतुर कुत्ते की आवश्यकता होती है तथा यह कुत्ता (ब्याज दर) इतना अधिक चतुर नहीं है कि इसको पानी की सतह पर ला सके। वास्तव में मन्दी में ब्याज की दर गिरने के स्थान पर, नकदी अधिमान अधिक होने के कारण, बढ़ जाती है तथा मन्दी की घटना को और अधिक बल प्रदान कर देती है।

(८) मकड़ी जाला सिद्धान्त

वर्तमान शताब्दी में 'तीसा' के युग में प्रतिपादित व्यापार चक्र का मकड़ी जाला सिद्धांत सामयिक उतार चढ़ावों की गत्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। व्यापार चक्र की पुरानी व्याख्यायें स्थिर थीं तथा इनमें अर्थव्यवस्था की व्याख्या समय के एक क्षण पर की गई थी तथा समय अवधि में होने वाली अर्थव्यवस्था की गतियों के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इन व्याख्याओं में माँग तथा पूर्ति में समायोजन तत्काल होते माने जाते थे। इसके विपरीत व्यापार चक्र का मकड़ी जाला सिद्धान्त समायोजन प्रक्रिया की गत्यात्मक व्याख्या का एक उत्तम उदाहरण है। यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि माँग तथा पूर्ति का संतुलन भंग होने पर यह सन्तुलन गत्यात्मक प्रक्रिया के द्वारा तुरन्त पुनः स्थापित न होकर कुछ समय पश्चात् पुनः स्थापित होता है। सन्तुलन भंग होने तथा इसकी पुनः स्थापना के मध्य समय अवधि में सन्तुलन स्थापना की गत्यात्मक शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं।

यह सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से लगभग एक ही समय तीन भिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किया गया था। यद्यपि 'मकड़ी जाला' शब्द का प्रयोग १९३४ ई० में प्रोफेसर निकलस कालडर द्वारा किया गया था परन्तु हेनरी शुल्ज (Henry Schultz), जेन टिनबरगन (Jan Tingbergen) तथा आर्थर हनो (Arthur Hanau) के नाम इस सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं। मकड़ी जाला सिद्धान्त समय-पिछड़न (lag in time) की धारणा पर आधारित है। सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि माँग की बदलती हुई परिस्थितियों, जो कीमत में परिवर्तनों के रूप में व्यक्त होती हैं, के परिणामस्वरूप पूर्ति में समायोजन तुरन्त स्थापित न होकर कुछ समय पश्चात् संभव होता है। पूर्ति का माँग के साथ समायोजन होने में जो समय लगता है उसको *lag* कहते हैं। इस प्रकार किसी दी हुई समय अवधि t में उपलब्ध कुल पूर्ति मात्रा तत्काल पूर्व समय अवधि t-1 में विद्यमान कीमत का परिणाम होती है जबकि समय अवधि t में माँग मात्रा इस समय अवधि में प्रचलित कीमत द्वारा निर्धारित होती है। सिद्धान्त का प्रमुख निष्कर्ष यह है कि कीमत परिवर्तनों का पूर्ति पर तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ता है।

व्यापार चक्र के मकड़ी जाला सिद्धान्त का प्रमुख प्रयुक्ति क्षेत्र कृषि पदार्थ हैं जिनकी पूर्ति को कृषि पदार्थों की कीमतों में परिवर्तन होने के हेतु बढ़ने अथवा घटने में समय लगता है। बहुत सी फसलें वर्ष में केवल एक बार बोई तथा काटी जाती हैं। उदाहरणार्थ, यदि गेहूँ की कीमत में अप्रैल १९७२ ई० में वृद्धि हो जाती है तो गेहूँ की कीमत में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप गेहूँ की पूर्ति में तुरन्त वृद्धि संभव नहीं हो सकेगी। यद्यपि निस्सन्देह प्रत्येक कृषक कीमत वृद्धि से प्रेरित होकर भविष्य फसल-वर्ष में अधिक भूमि पर गेहूँ की खेती करेगा जिसके परिणामस्वरूप गेहूँ की कुल पूर्ति में वृद्धि होगी। परन्तु फसल तैयार होने में लगभग एक वर्ष का समय लगेगा तथा कीमत में वृद्धि होने के हेतु गेहूँ की पूर्ति में वृद्धि तुरन्त न होकर एक वर्ष पश्चात् संभव होगी। इस प्रकार १९७३ ई० में गेहूँ की पूर्ति गेहूँ की उस कीमत पर निर्भर होगी जो १९७२ ई० में थी तथा जिससे प्रेरित होकर कृषकों ने अधिक भूमि पर गेहूँ की खेती की थी (यहाँ मान्यता यह है कि कृषकों के लिये अधिक भूमि पर गेहूँ की खेती करना सम्भव है, अर्थात् जिस भूमि पर १९७१ ई० में अन्य खाद्यान्न की खेती की गई थी १९७२ ई० में उस भूमि पर गेहूँ की खेती की जा सकती है।)

टिनबरगन ने मकड़ी जाला सिद्धान्त को उन टिकाऊ-पदार्थों (durable goods) के उत्पादन पर प्रयुक्त करने का प्रयास किया है जिनकी पूर्ति में दीर्घ गर्भावधि होने के कारण, उनकी मांग में परिवर्तन होने के हेतु, कुछ समय पश्चात परिवर्तन होते हैं।

मकड़ी जाले को निम्नलिखित तीन प्रकार के जालों में विभाजित किया गया है।

(१) केन्द्र भिमुख मकड़ी जाले (Convergent Cobwebs)
(२) केन्द्र विचलन मकड़ी जाले (Divergent Cobwebs)
(३) अनुबद्ध मकड़ी जाले (Continuous Cobwebs)

अनुबद्ध मकड़ी जालों में कीमत तथा उत्पादन में होने वाले सामायिक उच्चावचन सन्तुलन के चारों ओर समान स्तर पर स्वयं को दोहराते रहते हैं। उच्चावचनों के आकार में न तो कमी होती है तथा न कोई वृद्धि होती है। केन्द्र भिमुख अथवा एक केन्द्र पर मिलते हुये मकड़ी जालों की स्थिति में यदि अर्थव्यवस्था सन्तुलन से हट जाती है तो इसमें उच्चावचनों की श्रेणीमाल के द्वारा अर्थव्यवस्था में सन्तुलन को पुनः प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है। उच्चावचनों की श्रेणीमाल के क्रम में प्रत्येक उच्चावचन अपने पूर्व उच्चावचन की तुलना में छोटा होता है। उच्चावचनों के आकार में यह कमी उस स्थिति में सम्भव होती है जब पूर्ति वक्र माँग वक्र की अपेक्षाकृत अधिक ढालू होता है, अर्थात पूर्ति की कीमत लोच माँग की कीमतलोच की तुलना में कम होती है। केन्द्र विचलन अथवा केन्द्र से दूर हटते हुये मकड़ी जाले उस समय उत्पन्न होते हैं जब यदि अर्थव्यवस्था किसी कारण अपनी आरम्भिक सन्तुलन स्थिति से हट जाती है तो यह सन्तुलन को पुनः प्राप्त करने के स्थान पर अधिक विषम उतार-चढ़ावों के सागर में फँस जाती है तथा सन्तुलन से दूर हटती चली जाती है। यह उस समय होता है जब माँग वक्र पूर्ति वक्र की तुलना में अधिक ढालू होता है, अर्थात जब माँग पूर्ति की अपेक्षाकृत कम लोचदार होती है। चित्र १२.४ (a); १२.४ (b) तथा १२.४ (c) में क्रमशः अनुबद्ध, केन्द्र भिमुख तथा केन्द्र विचलन मकड़ी जालों को प्रदर्शित किया गया है।

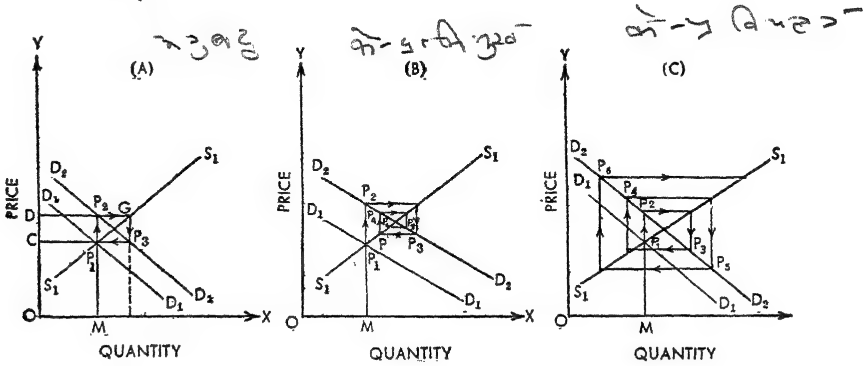

चित्र १२.४

चित्र १२.४ (a) अनुबद्ध मकड़ी जाले को स्पष्ट करता है। इस मकड़ी जाले में माँग तथा पूर्ति वक्रों के ढाल समान हैं तथा कीमत P_1 $(=P_3)$ तथा P_2 होती रहती है। चित्र से यह भी ज्ञात होता है कि उतार-चढ़ाव समान रहते हैं तथा कीमत व उत्पादन में नियमित रूप से सन्तुलन के चारों ओर समान स्तर पर उच्चावचन होते रहते हैं।

चित्र १२.४ (b) केन्द्र भिमुख प्रकार के मकड़ी जालों को प्रदर्शित करता है तथा प्रत्येक उतार-चढ़ाव में अर्थव्यवस्था को पुनः सन्तुलन की ओर धकेलने की प्रवृत्ति पाई जाती है। चित्र में पूर्ति वक्र का ढाल माँग वक्र के ढाल से अधिक है। चित्र १२.४ (c) केन्द्र विचलन प्रकार के मकड़ी जाले को प्रदर्शित करता है। इस चित्र में प्रत्येक उच्चावचन अपने से अधिक प्रचण्ड उच्चावचन

को उत्पन्न करके अर्थव्यवस्था को सन्तुलन मार्ग से दूर फेंक देता है। चित्र से विदित होता है कि पूर्ति वक्र का ढाल माँग वक्र के ढाल से कम है।

व्यापार चक्र के अन्य सिद्धान्तों के समान इस सिद्धान्त में भी कुछ त्रुटियाँ विद्यमान हैं। यह सिद्धान्त केवल उसी स्थिति में प्रयुक्त होता है जहाँ (अ) वस्तुओं की कीमतें उनकी उपलब्ध पूर्ति द्वारा निर्धारित होती हैं; (ब) उत्पादन केवल कीमत द्वारा निर्धारित होता है, जैसा कि उदाहरणार्थ पूर्ण प्रतियोगिता में होता है; तथा (स) उत्पादन में समय की एक पूर्ण अवधि के पूर्व परिवर्तन होना असम्भव है। यह सिद्धान्त इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि जो फसल कृषक १९७३ ई० में बोता है वह केवल १९७२ की कीमत द्वारा निर्धारित होती है। यद्यपि १९७२ ई० की कीमत का १९७३ ई० में बोई जाने वाली फसल सम्बन्धी निर्णय पर गहरा प्रभाव पड़ता है परन्तु उत्पादकों के उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों पर उनके भविष्य अनुमानों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि इस वर्ष कीमत अधिक है तो उत्पादकों के निर्णय इस बात से भी प्रभावित होंगे कि वे यह भी सोचेंगे कि अन्य सभी उत्पादकों द्वारा गेहूँ की खेती अधिक करने के परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होने से अगले वर्ष कीमत में कमी हो सकती है।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की एक अन्य त्रुटि यह है कि केन्द्र विचलन मकड़ी जालों की उपस्थिति में यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि एक बार सन्तुलन से दूर हट जाने के पश्चात अर्थव्यवस्था अनिश्चित समय अथवा सदा के लिए असन्तुलित हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति सामान्य स्थिति का अपवाद है। व्यावहारिक ज्ञान हमें यह बतलाता है कि जीवन में ऐसा नहीं होता है। वास्तव में माँग तथा पूर्ति वक्रों के ढाल इस प्रकार के होते हैं कि विघ्न उत्पन्न होने के पश्चात् समाप्त भी होते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी तर्कपूर्ण है कि अनुबद्ध मकड़ी जाला व्यापार चक्र अनिश्चित समय तक विद्यमान रहेगा। यदि यह माना जावे कि उद्योग प्रतियोगी है तथा कीमत औसत लागत के समान है तो जैसा कि चित्र १२.१ (a) से विदित है जब OM मात्रा का उत्पादन किया जाता है तो कुल आय OMP_2D तथा कुल लागत OMP_1C है तथा कुल शुद्ध लाभ CP_1P_2D है। जब सन्तुलन G बिन्दु को प्राप्त होता है तो कुल उत्पादन की मात्रा ON तथा कुल आय व कुल लागत क्रमशः ONP_3C तथा ONGD हैं। परिणामस्वरूप कुल शुद्ध हानि CP_3GD है। इस प्रकार अनुबद्ध मकड़ी जाला व्यापार चक्र में यद्यपि उत्पादकों को लाभ तथा हानि की वैकल्पिक अवधियों का अनुभव करना पड़ता है परन्तु कुल हानि के कुल लाभ की तुलना में सदा अधिक होने के कारण अन्त में उनके दिवालिया हो जाने के कारण इस प्रकार के व्यापार चक्र का अन्त हो जावेगा। इससे यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक जीवन में जो मकड़ी जाला व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं वे या तो केन्द्र भिमुख प्रकार के होते हैं जो अर्थव्यवस्था को नई सन्तुलन स्थिति की ओर ले जाते हैं अन्यथा वे अस्थाई घटना होते हैं जिसकी उद्यमकर्ताओं के दिवालिये होने पर समाप्ति हो जाती है। परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी व्यापार चक्र का मकड़ी जाला सिद्धांत कृषि पदार्थों के उत्पादन में प्रयुक्त होता है। यह सिद्धांत हमारा ध्यान इस सत्य की ओर केन्द्रित करता है कि वर्तमान घटनायें गत घटनाओं का परिणाम होती हैं।

(९) मिचल का सिद्धान्त

सुप्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री वेस्ले क्लेयर मिचल (Wesley Clair Mitchell), जिनकी *Business Cycles* शीर्षक पुस्तक १९१३ ई० में प्रकाशित हुई थी, के विचारानुसार व्यापार चक्र एक अविरत प्रक्रिया है तथा समृद्धि-मन्दी-समृद्धि के मध्य एक निरन्तर श्रृंखला

अथवा सम्बन्ध है। ऐसा होने के कारण व्यापार चक्र की प्रत्येक अवस्था पर इसकी पूर्ववर्ती-अवस्था का प्रभाव पड़ता है तथा यह स्वयं अपनी पश्चावर्ती अवस्था पर प्रभाव डालती है। प्रोफेसर बर्नस (A.F. Burns) ने मिचल की पुस्तक *Business Cycles* की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि "मार्शल की पुस्तक *Principles* तथा कीन्स की पुस्तक *General Theory* के मध्य प्रकाशित किसी भी अन्य पुस्तक ने पश्चिमी संसार में आर्थिक विचारधारा पर इतना अधिक प्रभाव नहीं डाला है जितना कि मिचल की पुस्तक ने डाला है।" शुम्पीटर के विचारानुसार मिचल की १६१३ ई० में प्रकाशित पुस्तक ने हमारे समय के व्यापार चक्र विश्लेषण के अत्याधिक महत्वपूर्ण भाग का श्रीगणेश किया है।

मिचल की व्यापार चक्र व्याख्या में सब सिद्धान्तों के सर्वोत्तम भागों को ग्रहण किया गया है। अपनी व्याख्या में मिचल ने किसी एक कारण पर बल नहीं दिया है। मिचल इसमें विश्वास करते थे कि अर्थव्यवस्था के अवलोकित व्यवहार के आधार पर ही सामान्य अनुमान प्राप्त किये जाने चाहिए। मिचल के विचारानुसार अस्थिरता व्यावसायिक अर्थव्यवस्था में निहित होती है। मुक्त व्यावसायिक अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियायें आय तथा लाभ प्राप्ति के उद्देश्य पर निर्भर होती हैं। परन्तु लाभ, लागत तथा कीमत के सम्बन्धों पर निर्भर होते हैं तथा ये उन लाभों से भिन्न हो सकते हैं जिनसे प्रेरित होकर उद्यमकर्ताओं ने निवेश किया था। इसके अतिरिक्त मिचल ने अर्थ-व्यवस्था के भिन्न भागों को परस्पर निर्भरता पर वल दिया है। मिचल के विचार में अन्त में मन्दी चेतना के आरम्भ के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करती है। मन्दी काल में उत्पादन लागतों में कमी हो जाती है तथा अन्त में उद्यमकर्ताओं के लाभों में वृद्धि हो जाती है। व्यापारियों के पास वस्तुओं के स्टाकों में कमी हो जाने से इन को पुनः पूरा करना आवश्यक हो जाता है। कमजोर फर्मों के फैल जाने के कारण स्पर्धा का भय समाप्त हो जाता है। बैंकों के पास अधिक नकदी होने के कारण वे अधिक उदार शर्तों पर ऋण देने के लिये तैयार रहती हैं। ये सब बातें चेतना के आरम्भ होने के लिये अनुकूल हैं। अर्थव्यवस्था में चेतना एक बार आरम्भ हो जाने के पश्चात यह संचयी रूप धारण कर लेती है। उत्पादन में वृद्धि होने के हेतु आयों में वृद्धि होने के परिणाम-स्वरूप उत्पादन साधनों के स्वामियों की खर्च करने की शक्ति में वृद्धि होने से वस्तुओं की खुरदा बिक्री में वृद्धि हो जाती है तथा खुरदा व्यापारी अपने माल पोर्ट (stock-in-trade) में वृद्धि करने लग जाते हैं। उत्पादन सज्जा घिस जाने के कारण बेकार हो जाने से टिकाऊ पदार्थों की स्थानापन्न माँग उत्पन्न हो जाती है। इन कारणों के परिणामस्वरूप व्यावसायिक आशंसाओं में काफी सुधार हो जाता है। कीमतों में वृद्धि हो जाती है तथा व्यवसायी यह आशा करने लगते हैं कि भविष्य में कीमतों में और अधिक वृद्धि होगी। इससे उत्पादन, रोजगार, आय तथा खर्च में और अधिक वृद्धि होतो है। एक बार आरम्भ होने पर विस्तार का क्रम संचययी रूप में गतिमान हो जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि विस्तार असीमित काल तक विद्यमान क्यों नहीं रह पाता है, अर्थात अर्थ-व्यवस्था में सुस्ती का आरम्भ क्यों होता है?

मिचल के विचारानुसार गिरावट आने का कारण व्यवसाय की सन्तुलन प्रणाली में धीमे-धीमे उन दबावों का संचय होना है जो अन्त में उन परिस्थितियों को समाप्त कर देते हैं जिन पर समृद्धि आधारित होती है। मिचल ने इस बात पर बल दिया है कि जैसे ही विस्तार संचययी क्रम में जारी रहता है अर्थव्यवस्था में दबाव उत्पन्न होने लगते हैं तथा साधनों की कमी होने के कारण उत्पादन लागतों में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप लागत-कीमत सम्बन्धों में वक्रता उत्पन्न हो जाने से लाभों में कमी हो जाती है। व्यापार उत्कर्ष लागत वृद्धि की प्रतिकूल स्थिति को जन्म देने के अतिरिक्त दुर्लभ मुद्रा बाजार की स्थिति को भी उत्पन्न करता है क्योंकि

बैंकों के सीमित नकदी कोषों पर व्यवसायियों द्वारा ऋणों की अधिक माँग का दबाव पड़ने के कारण बैंकों की उधारदान दर में वृद्धि हो जाती है।

उपरोक्त कारणों से वस्तुओं की उत्पादन लागतों में वृद्धि हो जाती है तथा इसे प्राप्त करने के लिये कीमतों में वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु कुछ उद्योग यह अनुभव करते हैं कि कीमतों में पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव नहीं है तथा इन उद्योगों में लाभ की दर में कमी हो जाने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था के कुछ भागों में पीड़ा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अर्थव्यवस्था के भिन्न भागों के मध्य परस्पर निर्भरता होने के कारण शीघ्र यह पीड़ा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में फैल जाती है। लोग नकदी को प्राप्त करने के लिये अधिक प्रयास करने लगते हैं, व्यापारी अपने स्टाकों में कमी कर देते हैं तथा वे नये आर्डरों को रद्द कर देते हैं। कीमत में गिरावट एक बार आरम्भ होने के पश्चात संचययी रूप में विद्यमान रहती है तथा अर्थव्यवस्था में संकुचन की संचययी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। संकुचन तथा गिरावट की यह प्रक्रिया अर्थव्यवस्था में उस समय तक विद्यमान रहती है जब तक शोधन शक्तियाँ पर्याप्त शक्तिशाली नहीं बन जाती हैं।

मिचल के अनुसार व्यापारचक्र एक ऐसी अत्यधिक पेचीदा घटना है जिसका विश्लेषण केवल कुछ कारणों की व्याख्या करके नहीं किया जा सकता है। मिचल के विचारानुसार व्यापारचक्र व्यवसाय लाभों पर पेचीदा वाणिज्य तथा वित्तीय सम्बन्धों के पड़ने वाले प्रभावों का परिणाम है। वर्तमान ज्ञान की अवस्था में व्यापारचक्र की व्याख्या करने की कठिनाई के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए मिचल ने इस प्रकार लिखा है: "परन्तु यह सब उन्नति होते हुए भी जिन सिद्धान्त प्रतिपादकों ने व्यापार चक्र की व्याख्या करने का प्रयास किया था उन सभी को व्यापार चक्र की घटना के सम्बन्ध में अपर्याप्त ज्ञान प्राप्त था तथा उनकी व्याख्या का अधिकांश भाग अपरीक्षित मान्यताओं पर आधारित था। आर्थिक संगठन की पेचीदगी के कारण कुशल अर्थशास्त्रियों को सत्याभासी उपकल्पना गृहीत पक्ष को अपनाने के लिये विवश होना पड़ा था। कोई भी यह निर्धारित नहीं कर सका कि इन अनेक कारणों में कौन कारण महत्वपूर्ण था तथा कौन महत्वहीन था।"[23]

मिचल के "वाणिज्य अर्थव्यवस्था" व्यापार चक्र सिद्धान्त की प्रमुख त्रुटि यह है कि यह सारी कहानी की व्याख्या करने में असमर्थ है। यह सिद्धान्त उन वास्तविक तथ्यों की व्याख्या नहीं करता है जो निर्णायक अवस्थाओं में सक्रिय होते हैं। आशावाद तथा निराशावाद की गलतियाँ तथा आंशिक अत्युत्पादन की सम्भावना यद्यपि छोटे आकार के सामयिक उतार-चढ़ावों को समझा सकती हैं परन्तु निवेश में होने वाले उन भारी उतार-चढ़ावों को जो बड़े व्यापार चक्रों की उत्पत्ति के कारण होते हैं नहीं समझा सकती हैं।

(१०) हिक्स का सिद्धान्त

हिक्स द्वारा प्रतिपादित व्यापार चक्र सिद्धान्त की व्याख्या १९५० ई० में प्रकाशित उनकी *A Contribution to the Theory of the Trade Cycle* शीर्षक पुस्तक में की गई है। हिक्स के अनुसार व्यापार चक्र गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया का परिणाम है। व्यापार चक्र को जन्म देने में गुणक तथा त्वरक के महत्व को समझाते हुए हिक्स ने लिखा है कि "जिस प्रकार माँग तथा पूर्ति के सिद्धान्त कीमत सिद्धान्त की दो भुजायें हैं, ठीक उसी प्रकार गुणक सिद्धान्त तथा त्वरक सिद्धान्त उच्चावचनों के सिद्धान्त की दो भुजायें हैं।"[24]

23. W. C. Mitchell : *What Happens During Business Cycles*, p. 3.
24. Hicks : *A Contribution to the Theory of the Trade Cycle*, p. 35.

हिक्स के व्यापार चक्र की प्रतिमा (model) में गुणक, त्वरक तथा विकास की प्रमाणित दर का विशेष महत्त्व है। विकास की प्रमाणित दर वह विकास दर है जो स्वयं को बनाये रखती है। यह वह विकास दर है जो निवेश तथा बचत के मध्य सन्तुलन के अनुकूल होती है, अर्थात् निवेश तथा बचत में सन्तुलन बनाये रखने के लिए अर्थव्यवस्था का इस दर पर विकास होना अनिवार्य होता है। दूसरे शब्दों में, जब अर्थव्यवस्था में वास्तविक निवेश तथा वास्तविक बचत की दरों में समानता होती है तो अर्थव्यवस्था का विकास आर्थिक विकास की प्रमाणित दर के अनुकूल होता है। गुणक तथा त्वरक की संयुक्त क्रिया अपने आर्थिक उच्चावचनों के पथ का विकास की प्रमाणित दर के समीप निर्माण करती है।

हिक्स ने गुणक की व्याख्या पिछड़े सम्बन्ध (lagged relation) के रूप में यह कहकर की है कि किसी समय अवधि t का कुल उपभोग उस समय अवधि की आय का फलन न होकर उससे पूर्ववर्ती समय अवधि t_{-1} में प्राप्त आय का फलन होता है अर्थात्

उपरोक्त समीकरण में C_t समय अवधि t में कुल उपभोग मात्रा को तथा Y_{t-1} समय अवधि t_{-1} में प्राप्त कुल आय की मात्रा को सूचित करता है। इस सम्बन्ध में हिक्स ने रॉबर्टसन की पद्धति को अपनाया है जो हैरड की पद्धति से भिन्न है। हैरड ने किसी समय अवधि t में होने वाले कुल उपभोग को उसी समय अवधि की आय का फलन माना है। समीकरण के रूप में हैरड के विचार को निम्नलिखित प्रकार व्यक्ति किया जा सकता है।

जहाँ C_t तथा Y_t समय अवधि t में हुये कुल उपभोग तथा प्राप्त हुई कुल आय के सूचक हैं।

हिक्स के विचारानुसार अर्थव्यवस्था में होने वाले कुल निवेश को प्रेरित निवेश (induced investment) तथा स्वायत्त निवेश (autonomous investment) में विभाजित किया जा सकता है। उनके अनुसार स्वायत्त निवेश पर उत्पादन (आय) में होने वाले परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तथा इस कारण यह उत्पादन में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, यह अर्थव्यवस्था में हुये कुल शुद्ध निवेश का वह भाग है जो अर्थव्यवस्था के विकास से असम्बद्ध होता है। यह स्पष्ट करते हुए कि स्वायत्त निवेश उत्पादन की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर नहीं होता है हिक्स ने लिखा है कि "जबकि इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि उस शुद्ध निवेश का, जो सामान्य स्थितियों में होता है, काफी घना अनुपात प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उत्पादन में हुये पूर्व परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होता है, निश्चित रूप से कुछ निवेश इस प्रकार का भी होता है जिस पर यह प्रभाव इतना कम पड़ता है कि यह न पड़ने के समान होता है। लोक निवेश, आविष्कारों के परिणामस्वरूप होने वाला निवेश तथा दीर्घावधि निवेश का काफी घना भाग स्वायत्त निवेश के उदाहरण हैं।"[25]

प्रेरित निवेश वह निवेश है जो उत्पादन अथवा आय में परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होता है तथा यह निवेश इस कारण अर्थव्यवस्था की विकास दर का परिणाम होता है। हिक्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त में प्रेरित निवेश का केन्द्रीय महत्त्व है क्योंकि त्वरक सिद्धान्त, जो हिक्स की व्यापार चक्र व्याख्या की आधारशिला है, की क्रिया अर्थव्यवस्था में प्रेरित निवेश पर आधारित

25. *op. cit.* p. 59.

है। किसी दी हुई समय अवधि से लेकर किसी दूसरी समय अवधि तक उत्पादन में वृद्धि होने के कारण अर्थव्यवस्था में प्रेरित निवेश होता है जो गुणक के माध्यम द्वारा परस्पर कार्य करता है। यही हिक्सवादी त्वरक है।

अपनी व्याख्या में गुणक के समान त्वरक का प्रयोग भी हिक्स ने पिछड़े सम्बन्ध (lagged relation) के रूप में किया है। इसका अर्थ यह है कि उपभोग के समान प्रेरित निवेश में भी परिवर्तन उत्पादन में परिवर्तन होने के कुछ समय पश्चात् उत्पन्न होते हैं। किसी दी हुई समय अवधि में उत्पादन में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप प्रेरित निवेश में परिवर्तन उसी अवधि में न होकर दूसरी पश्चावृर्ती समय अवधि में होंगे। इसके अतिरिक्त हिक्स की व्याख्या की एक मान्यता यह है कि उत्पादन तथा प्रेरित निवेश में परिवर्तनों के मध्य एक स्थिर अनुपाती सम्बन्ध है। इस प्रकार हिक्स ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या इस मान्यता के आधार पर की है कि व्यापार चक्र की भिन्न अवस्थाओं में उपभोग तथा निवेश का आय से एक स्थिर सम्बन्ध है तथा व्यापार चक्र की सम्पूर्ण अवधि में इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, व्यापार चक्र की अवधि में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा सीमान्त निवेश प्रवृत्ति स्थिर रहती है तथा गुणक व त्वरक के अंकीय मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

यद्यपि सिद्धान्त की व्याख्या गुणक तथा त्वरक के स्थिर अंकीय मूल्यों की मान्यता के आधीन की गई है परन्तु व्यापार चक्र की सभी अवस्थाओं में केवल गुणक प्रवर्ती रूप में उपस्थित रहता है। मन्दी की अवस्था में त्वरक निषक्रिया-साधक हो जाता है। व्यापार चक्र की विस्तार अथवा चेतना अवस्था में गुणक तथा त्वरक के साथ-साथ क्रियाशील होने के कारण विस्तार संचयी रूप धारण कर लेता है। गुणक के प्रभाव द्वारा निवेश में हुई वृद्धि के परिणामस्वरूप आय तथा उपभोग खर्च में वृद्धि हो जाती है। खर्च में हुई वृद्धि के परिणामस्वरूप त्वरक के प्रभाव द्वारा अतिरिक्त प्रेरित निवेश सम्भव हो पाता है। अर्थव्यवस्था में जब यह सब होता रहता है, स्वायत्त निवेश कुल उत्पादन के दिये हुये स्थिर अनुपात में स्थिरता के साथ निरन्तर होता रहता है।

ऊपरी निर्णायक अवस्था प्राप्त हो जाने के पश्चात् अर्थव्यवस्था में बेशी उत्पादन क्षमता की घटना उपस्थित हो जाती है तथा निवेश में कमी होना आरम्भ हो जाता है। गुणक के क्रियाशील होने के कारण निवेश में हुई प्रत्येक गिरावट के परिणामस्वरूप कुल आय तथा कुल उपभोग खर्च में और अधिक कमी हो जाती है। चेतना की अवस्था में, जो निचली निर्णायक अवस्था के पश्चात् विद्यमान होती है, तथा सुस्ती की अवस्था में जो ऊपरी निर्णायक अवस्था के पश्चात् उत्पन्न होती है एक बात में यथाप्रमाणता का अभाव होता है। जबकि ऊपरी दिशा में चेतना की अवस्था में कुल उपभोग में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप प्रेरितनिवेश में वृद्धि होने के कारण त्वरक क्रियाशील रहता है सुस्ती तथा मन्दी की अवस्थाओं में त्वरक का प्रभाव निषक्रिया-साधक हो जाता है क्योंकि निवेश शून्य से अधिक कम नहीं हो सकता है तथा निवेश में अधिकतम कमी केवल इतनी की जा सकती है कि उत्पादन प्रक्रिया में घिसावट होने के कारण नष्ट हुये सज्जा को पुनः स्थापित न किया जाय। इस मन्दी की अवस्था में कुल निवेश में जिस यथासम्भव सीमा तक कमी की जा सकती है वह सीमा त्वरक-सम्बन्ध के अनुसार निर्धारित नहीं होती है, यद्यपि विस्तार की अवस्था में त्वरक-सम्बन्ध इस सीमा को निर्धारित करता है। मन्दी में यह सीमा इस बात द्वारा निर्धारित होती है कि निवेश में कमी स्वायत्त निवेश—वह निवेश जो घिसे टूटे यन्त्रों का प्रतिस्थापन करने के लिए आवश्यक है—की शून्य मात्रा से अधिक नहीं हो सकती है क्योंकि अर्थव्यवस्था में मन्दी के समय में बेशी उत्पादन क्षमता उपस्थित होने के कारण उत्पादन प्रक्रिया में घिसावट होने के परिणामस्वरूप नष्ट हुये सज्जा का पुनःस्थापन (replacement)

करना अनावश्यक हो जाता है। संक्षेप में, जबकि विस्तार गुणक तथा त्वरक की परस्पर संयुक्त क्रिया का परिणाम है मन्दी प्रमुखतः केवल गुणक की क्रिया का परिणाम होती है क्योंकि मन्दी में त्वरक निषक्रिया-साधक होता है।

यद्यपि हिक्स की उपरोक्त व्याख्या द्वारा हमें ऊपरी भूप तथा निचलीभूप की व्याख्या का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है परन्तु ऊपरी तथा निचली निर्णायक अवस्थाओं के उत्पन्न होने का क्या कारण है? हिक्स के विचारानुसार निचली निर्णायक अवस्था प्रमुखतः स्वायत्त निवेश की क्रिया का परिणाम है क्योंकि निचली भूप की अवस्था में अर्थव्यवस्था में प्रेरित निवेश शून्य होता है। संकुचन की अवस्था में यद्यपि कुछ उत्पादन होता है परन्तु यह उत्पादन अर्थव्यवस्था की कुल उत्पादन क्षमता का उपयोग करने के लिये अपर्याप्त होता है। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था में इस समय उपस्थित कुल पूँजी स्टाक उस पूँजी स्टाक की अपेक्षाकृत अधिक होता है जो इस समय कुल उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करने के लिये पर्याप्त होता है। परन्तु वस्तुओं का उत्पादन करने की प्रक्रिया में पूँजी सज्जा की टूट फूट तथा घिसावट होने के कारण कुल उत्पादन क्षमता को स्थिर बनाये रखने के लिये इस टूटी फूटी तथा घिसीपिटी सज्जा को पुनःस्थापित करना आवश्यक है। परन्तु इस समय अर्थव्यवस्था में बेशी यंत्र तथा सज्जा उपस्थित होने के कारण इस घिसीटूटी सज्जा को पुनःस्थापित किये बिना काम चल जाता है। इसका परिणाम यह होता है। कि प्रत्येक समय अवधि के अन्त में अर्थव्यवस्था में बेशी उत्पादन क्षमता में कमी होती है तथा अन्त में अर्थव्यवस्था उस अवस्था को प्राप्त हो जाती है जहाँ अर्थव्यवस्था में बेशी सज्जा यन्त्र-उत्पादन क्षमता शून्य हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन क्षमता को समान बनाये रखने के लिये उत्पादन प्रक्रिया में घिसने तथा टूटने के कारण नष्ट होने वाले यन्त्रों तथा सज्जा का प्रतिस्थापन करना आवश्यक हो जाता है। इससे स्वायत्त निवेश का श्रीगणेश हो जाने से अर्थव्यवस्था को मन्दी की अवस्था में उत्तेजना प्राप्त होती है। जब अर्थव्यवस्था उस स्थिति को प्राप्त हो जाती है जहाँ माँग की पूर्ति करने के लिये स्वायत्त निवेश का होना अनिवार्य हो जाता है तो अर्थव्यवस्था निचली निर्णायक अवस्था को प्राप्त हो जाती है। एक बार शुद्ध निवेश में वृद्धि हो जाने पर कुल आय तथा व्यय में गुणक तथा त्वरक के प्रभावों द्वारा संचयी वृद्धि होने लगती है। गुणक तथा त्वरक की संयुक्त क्रिया के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में विस्तार की संचयी लहर विद्यमान हो जाती है।

हिक्स के विचारानुसार ऊपरी निर्णायक अवस्था का विश्लेषण करना अधिक कठिन कार्य है। ऊपरी निर्णायक अवस्था की व्याख्या करने के हेतु हिक्स ने अपने सिद्धान्त में हैरड की प्राकृतिक विकास दर[26] (natural rate of growth) का प्रयोग किया है। हिक्स के मतानुसार व्यापार चक्रों के कमजोर तथा शक्तिशाली अन्त होते हैं। जिन व्यापार चक्रों का अन्त कमजोर होता है उनको हिक्स ने मुक्त चक्रों का नाम दिया है तथा जिन व्यापार चक्रों का अन्त शक्तिशाली होता है उनको हिक्स ने दमित चक्रों का नाम दिया है। मुक्त व्यापार चक्र अर्थव्यवस्था में उस समय उत्पन्न होता है जब गुणक तथा त्वरक की संयुक्त क्रिया अर्थव्यवस्था को उत्पादन की उस अधिकतम

---

26. हैरड के अनुसार प्राकृतिक विकास-दर विकास की वह दर है जो जनसंख्या की वृद्धि, पूँजी संचय, तकनीकी विकास तथा अर्थव्यवस्था में लोगों के कार्य-अवकाश अधिमान द्वारा निर्धारित होती है। हिक्स की शब्दावली में यह उत्पादन की वह ऊपरी सीमा है जिसके पश्चात् अर्थव्यवस्था का विस्तार होना असम्भव है।

सीमा तक, जो विकास की प्राकृतिक दर द्वारा निर्धारित होती है, ले जाने में असफल सिद्ध होती है। इस प्रकार के व्यपार चक्र में ऊपरी निर्णायक अवस्था विद्यमान होती है। दमित अथवा शक्तिशाली व्यापार चक्र उस समय उत्पन्न होता है जब गुणक तथा त्वरक की शक्तिशालो संयुक्त क्रिया अर्थव्यवस्था को विस्तार के पथ पर उस अन्तिम बिन्दु तक ले जाती है जहाँ उत्पादन क्षमता की चरम सीमा प्राप्त हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था इस सीमा से टकराती है। इस सीमा के पश्चात और अधिक विस्तार सम्भव नहीं होता है। हिक्स ने ऐसे व्यापार चक्र को इस कारण दमित व्यापार चक्र का नाम दिया है क्योंकि विस्तार अवस्था उत्पादन सीमा द्वारा सीमित हो जाती है। सीमा प्राप्त हो जाने के पश्चात अर्थव्यवस्था में विकास स्वयं उत्पादन क्षमता सीमा की विकास दर से अधिक तीव्र गति से नहीं हो सकता है। परन्तु जिस दर के अनुसार अधिकतम उत्पादन सीमा में वृद्धि अथवा विकास हो सकता है वह दर जनसंख्या के आकार, तकनीकी अवस्था, पूँजी की मात्रा तथा अन्य निर्धारक कारणों द्वारा निर्धारित होती है।

उत्पादन क्षमता की ऊपरी सीमा प्राप्त हो जाने के पश्चात् गुणक तथा त्वरक की शक्ति विस्तार की अवस्था को अधिक समय तक विद्यमान रखने के लिये अपर्याप्त हो जाती है। अधिकतम उत्पादनक्षमता सीमा से टकराने के उपरान्त अर्थव्यवस्था को ऊपरी गति एक कठिन स्थिति को प्राप्त हो जाती है। अधिक वृद्धि असंगत होने के कारण अर्थव्यवस्था का विस्तार पथ केवल उत्पादन सीमा के साथ-साथ रेंग (creep) सकता है। परन्तु हिक्स के विचारानुसार जब तक विस्तार पथ उन शक्तियों के प्रभाव के आधीन कार्य करता है जिनकी हमने व्याख्या की है उस समय तक इसके लिये ऐसा करना (रेंगना) सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में, अल्प समय से अधिक अर्थव्यवस्था इस पथ पर नहीं रेंग सकती है। उत्पादन सीमा (production ceiling) से टकराने के पश्चात् इसका एकाएक इससे (उत्पादन सीमा से) दूर हटकर नीचे की ओर गतिमान होना अनिवार्य है।

हिक्स की व्यापार चक्र व्याख्या इस सत्य पर विशेष बल देती है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में जहाँ टिकाऊ सज्जा की अधिक मात्रा होती है, संकुचन अनिवार्य रूप से विस्तार का अनुकरण करेगा। अर्थव्यवस्था में वास्तविक उत्पादन के पूर्ण रोजगार उत्पादन को विकास दर की अपेक्षाकृत अधिक तीव्र दर से बढ़ने के कारण—ऐसा होना अनिवार्य है अन्यथा पूर्ण रोजगार की अवस्था कभी प्राप्त नहीं हो सकती है—उत्पादन सीमा की उपस्थिति उत्पादन की वृद्धि दर में कमी कर देती है। प्रेरित निवेश उत्पादन (अथवा आय) में वृद्धि होने का परिणाम होता है तथा उत्पादन की वृद्धि दर धीमी अथवा कम हो जाने के परिणामस्वरूप प्रेरित निवेश में कमी हो जाती है तथा कुल निवेश पहले की अपेक्षाकृत कम हो जाता है।

हिक्स का सिद्धान्त हमारा ध्यान इस सत्य की ओर भी केन्द्रित करता है कि तकनीकी उन्नति, जनसंख्या में वृद्धि, पूँजी-निसंचय तथा विकास के अन्य शक्तिशाली निर्धारक कारणों की अनुपस्थिति में अर्थव्यवस्था दीर्घावधि के लिये मन्दी की दलदल में डूबी रहेगी। ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम, तकनीकी विकास की अनुपस्थिति में स्वायत्त निवेश में वृद्धि नहीं होगी तथा परिणामस्वरूप काफी दीर्घ समय तक प्रेरित निवेश में, जो त्वरक को क्रियाशील बनाता है, भी वृद्धि नहीं होगी। यह वृद्धि उस समय तक नहीं होगी जब तक अर्थव्यवस्था उस स्थिति की प्राप्त नहीं हो जाती है जिसमें सज्जा की अत्यधिक घिसावट होने के परिणामस्वरूप इस सज्जा को पुनः स्थापित करने के हेतु स्वायत्त निवेश में वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है। दूसरे, तकनीकी उन्नति की अनुपस्थिति में निष्प्रयोग यंत्रों तथा सज्जा (obsolete plants) की समस्या उत्पन्न न होने के कारण यंत्रों तथा सज्जा के पुनःस्थापन की गति धीमी होगी।

हिक्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त की प्रमुख त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि व्यापार चक्र की भिन्न अवस्थाओं में गुणक तथा त्वरक के अंकीय मूल्य स्थिर रहते हैं। स्थिर गुणक मूल्य स्थिर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है। अभिनव अध्ययनों द्वारा यह ज्ञात हो गया है कि आय में सामयिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर नहीं रहती है, यद्यपि स्थायी उपभोग स्थायी आय के सम्बन्ध में स्थिर रहता है। जैसा कि प्रोफेसर मिल्टन फ्रीडमेन[27] ने अपने अध्ययन द्वारा स्पष्ट किया है अस्थाई उपभोग तथा अस्थाई आय के मध्य कोई स्थिर तथा आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार का निष्कर्ष प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेम्स एस० डयूजनबरी का भी है। जब अर्थव्यवस्था व्यापार चक्र को एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करती है तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में परिवर्तन होने के कारण गुणक में भी परिवर्तन होते हैं। इसके अतिरिक्त व्यापार चक्र की भिन्न अवस्थाओं में आय के वितरण में भी परिवर्तन होने से सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (तथा इस कारण गुणक में) में वृद्धि अथवा कमी हो सकती है। यदि आय का पुनर्वितरण धनिकों के प्रतिकूल तथा गरीबों के अनुकूल हो जाता है तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा गुणक के अंकीय मूल्य में वृद्धि हो जावेगी। आय का पुनर्वितरण इसके विपरीत दिशा में होने पर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा गुणक में कमी होना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार त्वरक के अंकीय मूल्य को भी स्थिर मानना प्रश्नीय है। यह कहना एक बात है कि आय तथा उपभोग व्यय में हुई वृद्धि तथा पूँजी सुविधाओं की मात्रा के मध्य एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तथा यह कहना बिल्कुल भिन्न बात है कि यह सम्बन्ध स्थिर प्रकार का सम्बन्ध है। यह आवश्यक नहीं है कि पूँजी-उत्पादन अनुपात सदा स्थिर रहता है। अर्थव्यवस्था के भिन्न उत्पादन क्षेत्रों के मध्य इस अनुपात में काफी अधिक भिन्नता होती है तथा इन सभी क्षेत्रों में समान दर पर वृद्धि नहीं होती है। इसके अतिरिक्त भिन्न उत्पादन पदार्थों के उत्पादन की गर्भावधि भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने की योजना शीघ्र पूरी हो सकती है परन्तु नई रेल पटरी अथवा नदी बाँध का निर्माण करने में काफी दीर्घ समय लगता है। जबकि कुछ ऊपरी निर्णायक अवस्थाओं में टिकाऊ पदार्थों का आरम्भिक विस्तार हो सकता है अन्य अवस्थाओं में कृषि अथवा उपभोग वस्तुओं का विकास हो सकता है। व्यापार चक्र की भिन्न अवस्थाओं में भिन्न वस्तुओं का विस्तार होने के कारण त्वरक के स्थिर अंकीय मूल्य की मान्यता अवास्तविक है। प्रोफेसर काल्डर के मतानुसार हिक्स के सिद्धान्त की प्रमुख त्रुटि त्वरक सिद्धान्त का बेढंगे तथा अनुपयुक्त रूप में प्रयोग करने में निहित है।

व्यापार चक्र का नियन्त्रण

व्यापार चक्र आर्थिक तथा सामाजिक हितों के लिए घातक होता है। अभिवृद्धि की अवस्था में यद्यपि व्यापारियों तथा सट्टेबाजों को अधिक लाभ प्राप्त होते हैं परन्तु श्रमिकों तथा स्थिर आय प्राप्तकर्ता वर्ग को अत्यधिक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मन्दी की अवस्था में बेरोजगारी उत्पन्न हो जाने के कारण गरीबों को अनेक मुसीबतों को सहन करना पड़ता है। व्यापारियों को हानि सहन करनी पड़ती है। अनेक उद्यमकर्ता दिवालिया हो जाते हैं। बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थायें फेल हो जाती हैं। इस कारण समाज में प्रत्येक व्यक्ति, विशेषरूप से श्रमिक, व्यापार चक्रों की पेचीदा घटना से सदा बचना चाहते हैं। परन्तु आज तक काफी प्रयत्न करने के पश्चात भी समाज इस पेचीदा घटना से मुक्त नहीं हो पाया है। प्रथम,

---

27. Milton Friedman : *A Theory of the Consumption Function* (1957) ; and James S. Duesenberry : *Income Saving and the Theory of Consumer Behaviour*.

इसका यह कारण है कि व्यक्ति तथा सरकार मन्दी की मुसीबतों को कुछ सयय पश्चात पूर्ण रोजगार की अवस्था विद्यमान होने के उपरान्त भूल जाते हैं और मन्दी को समाप्त करने का कोई स्थाई उपाय निकालने का प्रयास नहीं किया जाता है। दूसरे, श्रमिक तथा उनके प्रतिनिधि व्यापार चक्र के बुरे प्रभावों को बुरी तरह से समझने का प्रयास नहीं करते हैं। तीसरे, उद्यमकर्ता भी इस कठिन समस्या को भली प्रकार समझने का प्रयास नहीं करते हैं। चौथे, प्रत्येक व्यापार चक्र कुछ बातों में नवीन होने के कारण समस्या का पर्याप्त उपाय प्राप्त नहीं हो पाता है। व्यापार चक्र की रोकथाम सम्बन्धी उपायों को सोचने के पूर्व व्यापार चक्र के उत्पन्न होने के कारणों को ठीक प्रकार से समझना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त युद्धों को रोकने का प्रयास किया जाना चाहिये क्योंकि युद्ध स्फीति तथा युद्ध-पश्चात अवस्फीति की घटनाओं को जन्म देता है।

व्यापार चक्रों के नियन्त्रण की समस्या अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता स्थापित करने की समस्या है। परन्तु आर्थिक स्थिरता के अनेक अर्थ हो सकते हैं तथा हमें यह ज्ञात होना चाहिये कि आर्थिक स्थिरता से हमारा क्या अभिप्राय है। वर्तमान सन्दर्भ में जब हम आर्थिक स्थिरता की बात करते हैं तो हमारा प्रमुख लक्ष्य सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करना होता है, इसके अंगों की स्थिरता को प्राप्त करना नहीं। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि सम्पूर्ण स्वयं उन भागों से भिन्न नहीं है जो परस्पर मिलकर इसे बनाते हैं परन्तु ऐसा होते हुए भी अर्थव्यवस्था के व्यक्तिगत भाग उस भिन्न विश्लेषण की विषय सामग्री हैं जिसे अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक व्यष्टिभाव (microeconomics) का नाम दिया है। आर्थिक स्थिरता के सम्बन्ध में हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की स्थिरता को प्राप्त करना होता है।

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि क्या स्थिर रखा जाना है? दूसरे शब्दों में, आर्थिक स्थिरता का क्या लक्ष्य है? आर्थिक स्थिरता का दोहरा लक्ष्य अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना तथा कीमतों में अनुचित सामयिक उतार चढ़ावों को समाप्त करना है। वर्तमान समय में आर्थिक स्थिरता के इन दोनों लक्ष्यों के अतिरिक्त एक तीसरा लक्ष्य यह भी है कि अर्थव्यवस्था का आर्थिक विकास होना चाहिये। अमरीकी संसद की संयुक्त समिति के अनुसार आर्थिक स्थिरता का उद्देश्य ऊँचे तथा स्थाई रोजगार स्तर, राष्ट्रीय उत्पादन तथा उत्पादन क्षमता में ऊँची वृद्धि दर तथा सामान्य कीमत स्तर में स्थिरता को प्राप्त करना है।

आर्थिक स्थिरता के उपरोक्त तीनों उद्देश्यों के सम्बन्ध में इतना कहने के पश्चात प्रत्येक तीनों उद्देश्यों की परिभाषा अथवा अर्थ भी समझाना आवश्यक है। प्रथम, पूर्ण रोजगार के विषय में यह बतलाना आवश्यक है कि पूर्ण रोजगार का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की मात्रा शून्य होनी चाहिये। इस का केवल यह अर्थ है कि ऐच्छिक बेरोजगारी की समस्या अर्थव्यवस्था में उपस्थित नहीं होनी चाहिये। अर्थव्यवस्था में ऐच्छिक तथा उपलब्ध रोजगार अवसरों सम्बन्धी अपूर्ण ज्ञान प्राप्त होने हेतु अस्थाई बेरोजगारी की उपस्थिति का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान नहीं है। वास्तव में ऐच्छिक तथा अस्थाई बेरोजगारी तथा पूर्ण रोजगार एक समय पर तथा एक साथ अर्थव्यवस्था में उपस्थित हो सकते हैं।

पूर्ण रोजगार की सर्वोत्तम परिभाषा १९५० ई० में अमरीकी आर्थिक संघ (American Economic Association) की समिति द्वारा इस प्रकार की गई थी : "पूर्ण रोजगार का अर्थ यह

है कि वे योग्य व्यक्ति जो वर्तमान प्रचलित वेतन दरों पर रोजगार प्राप्त करना चाहते हैं उनको बिना किसी कठिनाई तथा विलम्ब के उत्पादक कार्यों में रोजगार प्राप्त होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति पूरे समय के लिये काम चाहते हैं उनको पूरे समय के लिये रोजगार प्राप्त होना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि गृहणियों तथा विद्यार्थियों आदि के समान व्यक्तियों को जिनको काम की आवश्यकता नहीं है, काम करने के लिये बाध्य किया जावे अथवा श्रमिकों को उनकी इच्छा के विरुद्ध समयोत्तर कार्य करने के लिये बाध्य किया जावे। इसका अर्थ यह नहीं है कि देश में बेरोजगारी शून्य होनी चाहिये"।[28] राष्ट्र संघ के आर्थिक मन्दी पर नियुक्त शिष्टमण्डल ने अपनी रिपोर्ट में पूर्ण रोजगार के विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा था कि "पूर्ण रोजगार उस समय विद्यमान होता है जब प्रत्येक वह स्त्री तथा पुरुष जो काम करने के योग्य तथा काम करने का इच्छुक है यथासम्भव इससे अधिक समय के लिये रोजगार प्राप्त करने में असफल नहीं होना चाहिये जितना समय कि व्यक्तियों को एक व्यवसाय से अन्य किसी व्यवसाय में स्थानान्तरण करने में अथवा नया काम सीखने में लगता है।"[29] अमरीका के १९४६ ई० के रोजगार अधिनियम के अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति का अर्थ उस स्थिति से है जिसमें सभी काम करने योग्य तथा इच्छुक व्यक्तियों को उपयोगी रोजगार अवसर प्राप्त होने चाहिये। संक्षेप में, पूर्ण रोजगार का अर्थ उस अवस्था अथवा स्थिति से होता है जिसमें देश में प्रत्येक उस व्यक्ति के लिये जो काम करना चाहता है तथा काम करने के योग्य है प्रचलित वेतन दर पर उपयोगी अथवा उत्पादक कार्य प्राप्त हो सकता है।

मूल्य स्थिरता की परिभाषा के सम्बन्ध में अमरीकी आर्थिक संघ की समिति के विचारानुसार मूल्य स्थिरता का अर्थ यह है कि सामान्य मूल्य स्तर में अल्पावधि तथा तीव्र उतार चढ़ाव नहीं होने चाहिये।[30] मूल्य स्थिरता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये। इसका केवल यह अर्थ है कि यद्यपि मूल्यों में कुछ लचीलापन अवश्य होना चाहिये परन्तु इनमें ऊँचे उतार चढ़ाव नहीं होने चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि उत्पादन लागत अथवा उपभोक्ताओं की रुचियों में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप कीमतों में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये। वास्तविक सत्य इसके विपरीत है। मूल्य स्थिरता का अर्थ यह है कि थोक तथा फुटकर कीमतों में किसी पूर्व निर्धारित सीमा के पश्चात् उच्चावचनों को रोका जावेगा।

आर्थिक स्थिरता के लक्ष्य का अध्ययन दीर्घावधि तथा अल्पावधि दृष्टिकोणों से किया जाना आवश्यक है। केवल अल्पावधि दृष्टिकोण से मूल्य स्थिरता का एक मात्र लक्ष्य व्यावसायिक क्षेत्र में सामयिक अथवा चक्रिय उतार चढ़ावों की रोकथाम करना है। परन्तु सम्पूर्ण स्थिरता को प्राप्त करने के लिये केवल अल्पावधि स्थिरता पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त दीर्घावधि उच्चावचनों की रोकथाम करना भी बहुत आवश्यक है। सामयिक स्थिरता प्राप्त करने के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में चिरकालीन गतिहीनता तथा चिरकालीन स्फीति की समस्याओं को विद्यमान होने से रोकना भी समान आवश्यक है।

आर्थिक स्थिरीकरण इस प्रकार से किया जाना चाहिये कि अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा उत्पादन क्षमता का तीव्र गति से विकास हो सके। परन्तु इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय आवश्यकताओं

---

28. Committee of the A. E. A. "The Problem of Economic Instability," *The American Economic Review*, Vol, 40. Sept 1950. p. 506.
29. League of Nations : *Economic Stability in the Postwar World*, Report of the Delegation on Economic Depressions (Geneva, 1945), p. 21.
30. *Op. Cit.*, p. 506.

तथा राष्ट्रीय साधनों को ध्यान में रखते हुए उचित विकास दर को निर्धारित करना अत्यन्त आवश्यक है। उचित विकास दर क्या होनी चाहिये, इस प्रश्न का कोई एक उत्तर नहीं हो सकता है। विकास की उचित दर भिन्न देशों में भिन्न हो सकती है तथा होती भी है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र की आवश्यकताएँ तथा साधनों की पूर्ति भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, जापान के समान राष्ट्र के लिये १० प्रतिशत वार्षिक दर विकास की सामान्य दर कही जा सकती है। परन्तु भारत के लिये निकट भविष्य में इस ऊँची विकास दर को प्राप्त करना असम्भव है। यदि आर्थिक स्थिरीकरण का लक्ष्य पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना है तो आर्थिक विकास की दर स्वयं श्रम-पूर्ति की वृद्धि दर, उत्पादन तकनीक तथा पूँजी निसंचय द्वारा निर्धारित हो जायेगी।

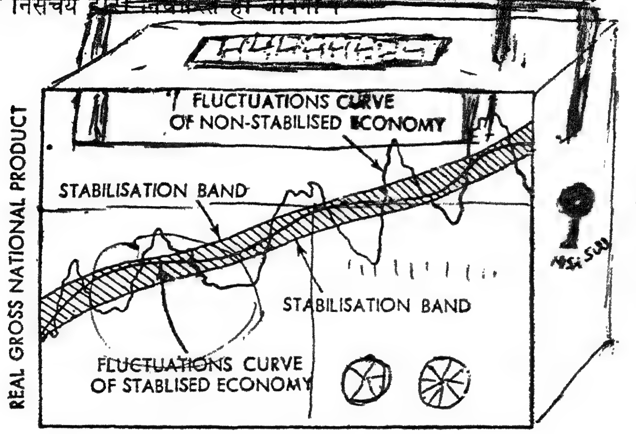

चित्र १२·५

आर्थिक विकास को सम्भव बनाने के लिये आर्थिक स्थिरीकरण नीति का लचीला होना आवश्यक है। स्थिरीकरण घेरे की सीमाओं तक होने वाले उतार-चढ़ावों को सहन करना आवश्यक है। दीर्घावधि विकास तभी सम्भव हो सकता है जब स्थिरीकरण नीति में पर्याप्त लचीलापन विद्यमान हो जिससे कि उन कुछ उद्योगों के लिये, जिनकी वस्तुओं की अर्थव्यवस्था में अधिक माँग है, कम कुशल उद्योगों अथवा उन उद्योगों से जिन की वस्तुओं की माँग में कमी हो गई है, साधनों को प्राप्त करके अपना विकास करना सम्भव हो सके। संक्षेप में आर्थिक स्थिरता के साथ आर्थिक विकास को सम्भव बनाने के लिये इस नीति का लचीले रूप में प्रशासन किया जाना चाहिये। जब तक उच्चावचन स्थिरीकरण घेरे की सीमा को पार नहीं करते हैं उस समय तक अर्थव्यवस्था को सरकारी नियन्त्रणों से मुक्त रहने दिया जाना चाहिये। केवल उसी अवस्था में उच्चावचन निर्धारित सीमा को पार करके अर्थव्यवस्था के लिये अभिशाप सिद्ध होने लगते हैं आर्थिक स्थिरता की नीति को लागू किया जाना चाहिये।

चित्र १२·५ से यह स्पष्ट है कि जब तक आर्थिक उच्चावचन स्थिरीकरण घेरे (stabilisation band) की सीमाओं के अन्दर रहते हैं उस समय तक आर्थिक स्थिरता को कोई भय उत्पन्न नहीं होता है तथा इस कारण आर्थिक स्थिरीकरण की नीति के प्रशासन की समस्या उत्पन्न नहीं होती है। केवल उसी समय जब उच्चावचनों का प्रकोप इतना अधिक शक्तिशाली हो जाता है कि ये स्थिरीकरण घेरे द्वारा निर्धारित सीमा को पार कर जाते है सरकार को आर्थिक स्थिरता की नीति को सक्रिय रूप से कार्यान्वित करना चाहिये।

व्यापार चक्रों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में गत वर्षों में मौद्रिक नीति को काफी अधिक प्रयोग में लाया गया है। इस नीति में केन्द्रीय बैंक व्यापारी बैंकों पर बैंक दर, न्यूनतम वैधानिक निधि अनुपात, खुले बाजार की क्रियाओं तथा प्रत्यक्ष नियन्त्रण द्वारा नियन्त्रण करके अर्थव्यवस्था में साख-मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण स्थापित करके अर्थव्यवस्था में स्थिरता स्थापित करने का प्रयास करती है। परन्तु मौद्रिक नीति की सफलता की निश्चित सीमाएँ हैं तथा केवल मौद्रिक नीति के द्वारा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र की रोकथाम नहीं की जा सकती है। १९२९ ई० की महान् मन्दी के काल में यह अनुभव किया गया था कि केन्द्रीय बैंक की बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा व्यापार चक्र पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी तथा काफी समय तक बैंक दर नीति को बहुत कम महत्व प्राप्त रहा था। परन्तु १९४३ ई० से बैंक दर नीति को पुनः काफी महत्व प्राप्त हुआ है तथा गत वर्षों में विद्यमान स्फीति प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने के हेतु इंगलैंड, जर्मनी, फ्रान्स, भारत, तथा अन्य देशों में बैंक दर नीति को प्रयोग में लाया गया है तथा मौद्रिक नीति के लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त हुई है।

प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री प्रोफेसर इर्विंग फिशर ने व्यावसायिक क्षेत्र में स्थिरता प्राप्त करने के हेतु मूल्य नियन्त्रण नीति का सुझाव दिया था। फिशर के विचारानुसार मूल्य नियन्त्रण के द्वारा लाभों पर नियन्त्रण करके व्यवसायियों को व्यवसायों के आकार में अनुचित वृद्धि करने से रोका जा सकता था। परन्तु यह देखने में आया है कि वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुये बिना भी व्यापारी अपने व्यापार के आकार में वृद्धि कर लेते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार व्यापार चक्र की रोकथाम के लिये अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को विद्यमान नहीं होने दिया जाना चाहिये। ऐसा करने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार द्वारा बेरोजगारी बीमा योजना का प्रयोग किया जाना चाहिये जिससे कि अर्थव्यवस्था में प्रत्येक उस व्यक्ति को जो रोजगार चाहता है तथा काम करने के योग्य है बेरोजगारी का शिकार न होना पड़े। प्रत्येक देश की सरकार को बेरोजगारी कोष स्थापित करना चाहिये जिसमें से मन्दी की अवस्था में श्रमिकों को वित्तिय सहायता दी जा सके। यद्यपि निःसन्देह यह योजना सैद्धान्तिक रूप से उपयुक्त प्रतीत होती है परन्तु इसको कार्यान्वित करते समय अनेक प्रशासनिक तथा वित्तीय कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

गत वर्षों में अमरीकी सरकार ने कृषि वस्तुओं की गिरती हुई कीमतों की समस्या पर नियन्त्रण करने के हेतु मूल्य-सहायता (price support) नीति का प्रयोग किया है। इस नीति के अन्तर्गत जब बाजार में कृषि वस्तुओं की कीमतें सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम प्रत्याभूत कीमतों की तुलना में गिर जाती हैं तो सरकार बाजार में वस्तुओं को न्यूनतम प्रत्याभूत कीमतों पर खरीद कर कीमतों को गिराने से रोकती है। परन्तु इस नीति की सफलता के लिये तीन बातों का होना आवश्यक है। प्रथम, सरकार के पास बेशी उत्पादन को खरीदने के लिये पर्याप्त वित्तीय साधन होने चाहिये क्योंकि पर्याप्त साधन प्राप्त न होने की स्थिति में मन्दी में सरकार पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं को नहीं खरीद सकेगी। दूसरे, सरकार जिन वस्तुओं को अपनी न्यूनतम प्रत्याभूत कीमत नीति के अन्तर्गत खरीदती है वह उन वस्तुओं को बाजार में बेचने के योग्य होनी चाहिये। तीसरे, सरकारी प्रशासन कुशल तथा योग्य होना चाहिये। अर्धविकसित देशों में उपरोक्त तीनों बातों का अभाव पाया जाता है।

१९३० ई० की महान मन्दी के पश्चात व्यापार चक्रों की घटना पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से राजकोषीय नीति (fiscal policy) को अधिक प्रयोग में लाया गया है। इंगलैण्ड में जॉन मेनार्ड कीन्स तथा अमरीका में प्रोफेसर आलविन एच० हैनसन के मतानुसार राजकोषीय नीति

आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन थी। इस नीति के अन्तर्गत सरकार मन्दी में अपनी आय की तुलना में अधिक खर्च करके अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी समाप्त करने की चेष्टा करती है। जब व्यक्तिगत क्षेत्र में व्यापार तथा उद्योग में मन्दी उत्पन्न हो जाती है तब सरकार घाटे वाले बजट प्रस्तुत करके सड़कों, पार्कों, बाँधों, अस्पताओं इत्यादि समाज कल्याण कार्यों पर अधिक व्यय करती है। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों के स्वामियों की आयों में वृद्धि होती है। उत्पादन साधनों की आय में वृद्धि होने से कुल उपभोग माँग में वृद्धि होती है तथा इस वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल निवेश मांग में वृद्धि होती है। इस प्रकार अपनी कुल आय की तुलना में अधिक खर्च करके सरकार अर्थव्यवस्था को मन्दी की दलदल से बाहर निकालने का प्रयास करती है। इसके विपरीत अभिवृद्धि में बेशी वाले बजट बनाकर सरकार अपने व्यय में कमी करके अर्थ-व्यवस्था में कीमतों, उत्पादन तथा रोजगार में स्थिरता स्थापित करने का प्रयास करती है। इस प्रकार मन्दी में अपनी आय से अधिक तथा अभिवृद्धि में आय की तुलना में कम व्यय करके सरकार अर्थव्यवस्था में स्थिरता स्थापित करने का प्रयास करती है। अमरीका में स्वर्गीय राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रशासन काल में 'तीसा' में आरम्भ की गई न्यू डील नीति तथा फ्रांस का ब्लम प्रयोग (Blum Experiment) इस नीति के प्रयोग के वास्तविक उदाहरण हैं। इन दोनों देशों में राजकोषीय नीति के माध्यम द्वारा अपनी आय की तुलना में अधिक व्यय करके सरकार ने १९३० ई० के महान अवसाद को समाप्त करने की चेष्टा की थी और सरकार को अपने इस उद्देश्य में सीमित सफलता भी प्राप्त हुई थी। अमरीका में सरकार द्वारा भारी मात्रा में व्यय करने के कारण व्यापार, उत्पादन तथा रोजगार की स्थिति में सुधार हुआ था और अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की दिशा में गतिमान होने लगी थी। परन्तु राजकोषीय नीति के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रथम, यह आवश्यक है कि सरकारी अतिरिक्त व्यय का प्रभाव निजी औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर खराब नहीं पड़ना चाहिये। इसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि सरकार को केवल सड़क निर्माण, अस्पताल, स्कूल, बाँध निर्माण आदि समाज कल्याण कार्यों पर व्यय करना चाहिए जिससे कि सरकारी व्यय का व्यक्तिगत निवेश पर बुरा प्रभाव न पड़े तथा निजी आर्थिक क्षेत्र में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ऊँची बनी रहे। दूसरे, अधिक व्यय को सम्भव बनाने के लिये अधिक आय को इस प्रकार से प्राप्त किया जाना चाहिये कि समाज में व्यक्तियों की आयों पर बुरा प्रभाव न पड़े। तीसरे, यह भी सम्भव है कि सरकारी व्यय के उचित दिशा में न किये जाने के परिणामस्वरूप आर्थिक स्थिरता प्राप्त न हो पावे। चौथे, लोक कल्याण योजनाएँ मन्दी की घटना का पूर्ण तथा स्थाई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकती हैं। इनके द्वारा केवल अस्थाई रूप में समस्या का निवारण करने का प्रयास किया जा सकता है। संक्षेप में लोक कल्याण योजनाओं का श्रीगणेश सावधानी से किया जाना चाहिये तथा अर्थ व्यवस्था में चेतना की अवस्था आरम्भ होने पर इनको समाप्त कर दिया जाना चाहिये।

गत वर्षों में राजकोषीय नीति के जिस अन्य रूप को अधिक विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई है उसके अनुसार बजट को इस प्रकार बनाया जाना चाहिये कि बजट में वार्षिक सन्तुलन प्राप्त करने के स्थान पर इसको व्यापार चक्र की सम्पूर्ण अवधि में सन्तुलित रखा जाना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि बजट का प्रति वर्ष सन्तुलित होना आवश्यक नहीं है। इस में मन्दी की अवधि में घाटे के तथा अभिवृद्धि की अवधि में बेशी के बजट बनाकर पूर्ण व्यापार चक्र अवधि में बजट को सन्तुलित रखने का प्रयास किया जाता है यद्यपि ऐसा करने से बजट का वार्षिक सन्तुलन भंग हो जाता है। आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के लिये इस प्रकार के बजट का महत्व स्पष्ट करते हुये अमरीकी संसद द्वारा नियुक्त की गई आर्थिक रिपोर्ट सम्बन्धी संयुक्त समिति की मौद्रिक, साख

मुद्रा तथा राजकोषीय नीतियों सम्बन्धी उप-समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने में उसी नीति का भारी योगदान हो सकता है जिसके अन्तर्गत अभिवृद्धि तथा पूर्ण रोजगार की अवस्था में व्यय की तुलना में आय अधिक होती है तथा मन्दी व बेरोजगारी की स्थिति में आय की तुलना में व्यय अधिक होता है। इस प्रकार वह बजट जो सम्पूर्ण व्यापार चक्र की अवधि में सन्तुलित होगा साधारणतया वार्षिक आधार पर असन्तुलित होगा। वार्षिक बजट केवल उसी असाधारण स्थिति में सन्तुलित होगा जब अर्थव्यवस्था में मन्दी तथा अभिवृद्धि विद्यमान नहीं होती है, अर्थात जब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की अवस्था को अनुभव करती है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यापार चक्र की पेचीदा घटना के समाधान का कोई एक तथा सरल उपाय प्राप्त नहीं है। कार्लमार्क्स के विचार में व्यापार चक्र पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की आवश्यक बीमारी थे और उनके विचार में समाज को व्यापार चक्रों की घटना से समाज से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को नष्ट करके ही मुक्त किया जा सकता था। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यदि अर्थव्यवस्था स्वस्थ अवस्था में प्रवेश कर जावे तो इसे व्यापार चक्र की घटना से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु ऐसा सोचना भूल है। हैनसन के विचारानुसार "व्यापार चक्र आधुनिक अर्थव्यवस्था की एक ऐसी विचित्र विशेषता है कि इस पर नियन्त्रण करना सरल कार्य नहीं है। व्यापार चक्र गत्यात्मक समाज की एक ऐसी निहित विशेषता है जिसकी उपस्थिति का प्रमुख कारण अर्थव्यवस्था में निवेश के आकार में होने वाले निरन्तर परिवर्तन हैं। ये परिवर्तन उस समय भी विद्यमान रहेंगे जब अर्थव्यवस्था की स्वस्थ अवस्था हो जावेगी।"[31] गत वर्षों में जब जब अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र की घटना संसार में विद्यमान हुई है तब तब मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों का एक साथ प्रयोग किया गया है।

अध्ययन सूची

1. George N. Halm : Monetary Theory (2nd Ed.), Chapters 20, 21 and 22.
2. J. R. Hicks : A Contribution to the Theory of the Trade Cycle.
3. W. C. Mitchell Business Cycles.
4. R. G. Hawtrey : Trade and Credit.
5. James S. Duesenberry : Business Cycle and Economic Growth.
6. F. A. von Hayek : Prices and Production.
7. Alvin H. Hansen : Business Cycles and National Income. (expanded edition 1964.)
8. Joseph A. Schumpeter : Business Cycles.
9. Geoffrey Crowther : An Outline of Money, Chapter III.
10. R. A. Gordon : Business Fluctuations (2nd Ed.1961).
11. M. W. Lee : Macroeconomics : Fluctuations, Growth and Stability (3rd. Ed.). Chapters 2, 3 and 20 to 24
12. Thomas Wilson : Fluctuations in Income and Employment.
13. J. M. Keynes : The General Theory of Employment Interest and Money, Chapter 22.
14. American Economic Association : Readings in Business Cycle Theory.
15. Andrew Shonfield : Economic Growth and Inflation.

---

31. A. H. Hansen : *Monetary Theory and Fiscal Policy* p. 178.

प्रश्न

1. What are' Trade Cycles' ? Explain fully some of the theories that have been advanced to explain the occurrence of trade cycles.
2. Summarise the views of Hayek and Keynes on 'Trade Cycles' suggesting remedies to eliminate their harmful effects.
3. "The trade cycle is purely a monetary phenomenon." (Hawtrey). Do you agree with this view ? Are there any non-monetary factors which affect a trade cycle ?
4. Is it correct to say that the trade cycle is generated by the interaction of the Multiplier and the Acceleration principles ?
5. What are the main theories which have been formulated to explain the trade cycle ? What do you understand by the term "the marginal efficiency of capital" ? Explain why it is possible that there may be plenty of money but little industrial activity.
6. Differentiate between Hayek's and Hicks' theories of trade cycles. Suggest measures to contro trade crisis.
7. Discuss the measures proposed for controlling trade cycles in recent years.

स्फीति तथा अवस्फीति
(Inflation and Deflation)

अर्थशास्त्रियों ने 'स्फीति' शब्द की परिभाषा अनेक प्रकार से की है। चैम्बर के बीसवीं शताब्दी शब्दकोष के अनुसार "स्फीति उस स्थिति को कहते हैं जिसमें मुद्रा अथवा साख-मुद्रा अथवा इन दोनों की मात्रा में क्रय करने के लिये उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा की तुलना में अचानक तीव्र वृद्धि हो जाती है। स्फीति सदैव कीमत-स्तर में वृद्धि उत्पन्न करदेती है।"[1] कैमरर के अनुसार "स्फीति उस समय विद्यमान होती है जब एक ओर मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है तथा दूसरी ओर वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा बहुत कम हो जाती है।"[2] क्राउथर के विचार में "स्फीति उस अवस्था को कहते हैं जिसमें मुद्रा की क्रय-शक्ति गिरती रहती है अथवा कीमतों में वृद्धि होती रहती है।"[3] ग्रेगरी (T. E. Gregory) के विचार में स्फीति मुद्रा की क्रय-शक्ति में सामान्य गिरावट से सम्बन्धित होती है। हाटरे के विचारानुसार स्फीति उस समय उत्पन्न होती है जब अर्थव्यवस्था में मुद्रा के अतिप्रचालन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पीगू के विचार में स्फीति उस समय उत्पन्न होती है जब "द्रव्य-आय में उत्पादन की तुलना में अधिक वृद्धि हो जाती है।"[4]

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि स्फीति की अवस्था में अर्थव्यवस्था में कीमतों में सामान्य वृद्धि होती है तथा भिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में

---

1. Inflation is a "disproportionate and a relatively sharp and sudden increase in the quantity of money or credit or both, relative to goods available for purchasing. Inflation always produces a rise in the price levels." (*Chamber's Twentieth Century Dictionary*)
2. "Inflation is too much money and deposit currency—that is, curreney in relation to the physical volume of business being done." (E. W. Kemmerer : *ABC of Inflation*," p. 6.)
3. "Inflation is a state in which the value of money is falling, i. e. prices are rising. (G. Crowther : *An Outline of Money*, *1958 reprint*, p. 107.)
4. "Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income earning activity." (A. C. Pigou : *Types of War Inflation*', *Economic Journal*, December 1941, p. 439.)

यह केवल द्रव्य आय में वृद्धि को सूचित करता है। इसके विपरीत यदि स्वायत्त निवेश में कमी होने के कारण निवेश मांग वक्र I से नीचे खिसक कर I″ वक्र को प्राप्त हो जाता है जिसके परिणाम-

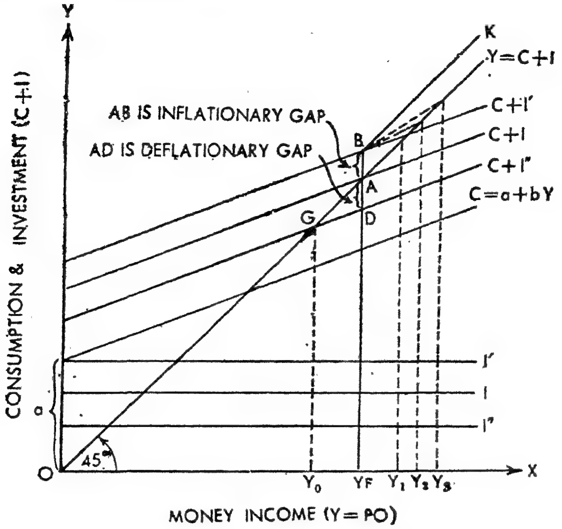

चित्र १३·४

स्वरूप कुल खर्च वक्र C+I नीचे की ओर खिसक कर C+I″ वक्र को प्राप्त हो जाता है तो सन्तुलन द्रव्य-आय Y_FD पूर्ण रोजगार आय OY_F $(=Y_FA)$ से AD राशि कम होगी। AD अवस्फीति-अन्तराल (deflationary gap) है।

पूर्ण रोजगार आय OY_F से आरम्भ करके यदि निवेश व्यय I से घट कर I″ हो जाता है तो सन्तुलन आय OY_F से घटकर OY_0 हो जाती है। इस प्रकार सन्तुलन आय में हुई कुल कमी Y_0Y_F अवस्फीति अन्तराल AD तथा गुणक $(1/1-c)$ का गुणनफल है। द्रव्य-आय में हुई यह कुल कमी वास्तविक आय में हुई कमी को सूचित करती है। कुल द्रव्य-आय OY_0 के के समक्ष कुल वास्तविक आय पूर्ण रोजगार आय OY_F का OY_0/OY_F गुना है। परन्तु OY_0/OY_F का अंकीय मूल्य एक से कम है तथा इस कारण प्रचलित कीमतों के आधार पर कुल द्रव्य-आय पूर्ण रोजगार वास्तविक आय की तुलना में कम है।

पूर्ण रोजगार आय OY_F से पुनः आरम्भ करते हुये यदि कुल निवेश माँग वक्र I ऊपर की ओर खिसक कर I′ वक्र को प्राप्त हो जाता है तो नई सन्तुलन द्रव्य-आय OY_1 होगी जो कुल व्यय वक्र C+I′ तथा समानता अथवा ४५°—रेखा के मध्य छेदन बिन्दु द्वारा निर्धारित होती है। द्रव्य-आय में हुई कुल वृद्धि $Y_F—Y_1$ स्फीति अन्तराल AB तथा गुणक $(1/1—c)$ के गुणनफल के बराबर है। परन्तु कीमत स्तर में कितनी वृद्धि होगी? OY_1 सन्तुलन द्रव्य-आय के समक्ष वास्तविक आय केवल OY_F है तथा कीमत स्तर (P) में उसी अनुपात में वृद्धि होगी जिस अनुपात में द्रव्य-आय (Y) में वृद्धि होती है, अर्थात् कीमत स्तर पहले की तुलना में OY_1/OY_F गुना हो जावेगा। प्रतिशत के रूप में कीमत स्तर में $\left(\frac{OY_1}{OY_F}-1\right)\times 100$ प्रतिशत की वृद्धि होगी। परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या कीमत स्तर में हुई यह वृद्धि नये सन्तुलन को स्थापित करेगी? कीमत-वृद्धि नई सन्तुलन स्थिति को केवल उसी समय स्थापित करेगी जब कीमत-वृद्धि के

परिणामस्वरूप वास्तविक मांग घटेगी। कुल खर्च में AB राशि की आरम्भिक वृद्धि हो जाने पर वास्तविक मांग में कमी होने के लिये द्रव्य मांग में द्रव्य आय की तुलना में कम वृद्धि होनी चाहिए। अर्थव्यवस्था में स्फीति-अन्तराल की उपस्थिति कुल द्रव्य आय में वृद्धि होने का पर्याप्त प्रमाण है। केवल उसी स्थिति में जब द्रव्य मांग में या तो C+I′ वक्र के पथ पर अथवा BK रेखा तथा ४५°—रेखा के मध्य बिन्दु-अंकित रेखाओं के पथ पर वृद्धि होती है वास्तविक मांग में द्रव्य आय में वृद्धि होने के साथ कमी होगी तथा सन्तुलन OY_1 ; OY_2 अथवा OY_3 अथवा इन द्रव्य आयों से कम अथवा अधिक किसी अन्य द्रव्य-आय पर प्राप्त हो जावेगा। परन्तु यदि कुल द्रव्य व्यय में वृद्धि BK रेखा अथवा इसके ऊपर स्तिथ किसी अन्य रेखा के अनुसार होती है तो अर्थव्यवस्था में सन्तुलन प्राप्ति की सम्भावना नहीं होगी क्योंकि कुल मांग (अथवा व्यय) वक्र समानता अथवा ४५°—रेखा को कदापि नहीं काटेगा। द्रव्य-आय में प्रत्येक वृद्धि होने के साथ कीमतों में और अधिक वृद्धि होगी तथा अर्थव्यवस्था अनन्त स्फीति के भंवर में डूब जावेगी। स्फीति अन्तराल की उपरोक्त व्याख्या से यह ज्ञात होता है कि स्फीति अन्तराल केन्द्र भिमुख (Convergent) तथा केन्द्र विचलन (Divergent) प्रकार का हो सकता है। चित्र १३·५ तथा १३·६ में क्रमशः केन्द्रभिमुख तथा केन्द्र विचलन स्फीति अन्तराल को प्रदर्शित किया गया है।

पूर्ण रोजगार आय OP_1O (इसे चित्र १३·४ में OY_F द्वारा व्यक्त किया गया था। चित्र १३·५ तथा १३·६ में X-अक्ष पर कीमत-परिवर्तनों को पृथक करने के हेतु Y के स्थान पर PO को व्यक्त किया गया है) से आरम्भ करते हुये यदि स्वायत्त निवेश आरम्भिक मात्रा I_1 से बढ़कर I'_1 हो जाता है तो अर्थव्यवस्था में AE राशि का स्फीति-अन्तराल उत्पन्न हो जाता है। वर्तमान प्रचलित कीमत स्तर P_1 पर कुल मांग (कुल उपभोग तथा कुल निवेश व्यय) कुल पूर्ण-रोजगार उत्पादन मात्रा O की तुलना में स्फीति अन्तराल की मात्रा में अधिक है। आरम्भ में कुल

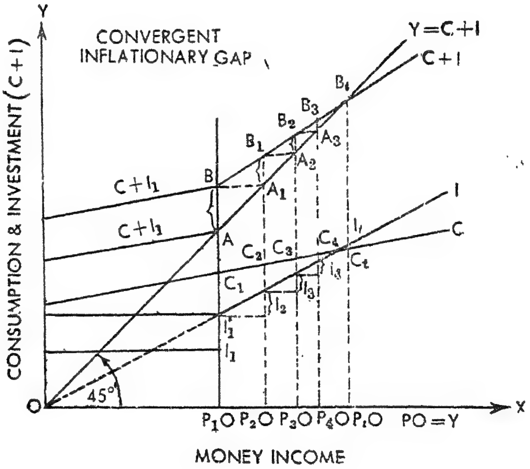

चित्र १३·५

निवेश व्यय में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल द्रव्य-आय में भी समान मात्रा में वृद्धि हो जावेगी, अर्थात् द्रव्य-आय OP_1O से बढ़कर OP_2O $(=OP_1O+AB)$ हो जावेगी। कुल द्रव्य-आय में हुई यह वृद्धि केवल कीमत वृद्धि का परिणाम है। वास्तविक आय पूर्ण-रोजगार उत्पादन मात्रा O पर स्थिर रहती है तथा केवल कीमत स्तर P_1 से बढ़कर P_2 हो जाता है। कीमत-स्तर में उसी

अनुपात में वृद्धि होगी जिस अनुपात में कुल द्रव्य-व्यय में वृद्धि होती है। यदि AB राशि आरम्भिक कुल व्यय P_1OA का २० प्रतिशत है तो कीमत-स्तर (P) में भी २० प्रतिशत की वृद्धि होगी। कीमतों में २० प्रतिशत की वृद्धि होने से निवेशकर्त्ता यह अनुभव करते हैं कि ऊँची कीमतों पर उनके लिये अब निवेश वस्तुओं की नियोजित अथवा इच्छित मात्रा क्रय करना कठिन है। २० प्रतिशत अधिक कीमतों पर वे कुल नियोजित निवेश के केवल ८३ प्रतिशत भाग की मांग कर सकते हैं।

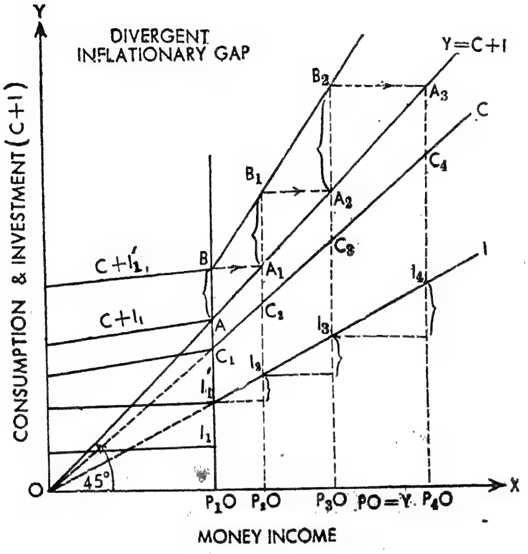

चित्र १३·६

यदि यह मानलिया जावे कि निवेशकर्त्ता प्रत्येक समय अवधि में नियोजित वास्तविक निवेश को पूरा करने के लिये दृढ़ संकल्प हैं तो उनको प्रत्येक समय अवधि में अपने कुल द्रव्य निवेश व्यय में वृद्धि करनी होगी। यदि द्रव्य की पूर्ति पूर्णतया ब्याजसापेक्ष है जिसके कारण किसी दी हुई आरंभिक ब्याज की दर पर निवेशकर्त्ताओं को अधिक ऋण पूँजी प्राप्त हो सकती है तो मुद्रा की वह मात्रा जिसको निवेशकर्त्ता प्रत्येक समय अवधि में अपने कुल नियोजित निवेश को पूरा करने के हेतु खर्च करेंगे कीमत-स्तर द्वारा निर्धारित होगी। P_1 कीमत-स्तर पर कुल नियोजित निवेश की कुल मात्रा I'_1 हैं। परन्तु I'_1 निवेश तथा P_1 कीमत-स्तर परस्पर असंगत हैं। परन्तु कीमत-स्तर में प्रत्येक समय वृद्धि होने के साथ द्रव्य-आय में भी समान अनुपात में वृद्धि होने के कारण निवेश-कर्त्ता अपने कुल नियोजित वास्तविक निवेश में केवल उसी समय वृद्धि करने में सफल सिद्ध होंगे जब वे अपने कुल द्रव्य निवेश के आकार में उतनी पर्याप्त वृद्धि करेंगे कि द्रव्य-आय के प्रत्येक स्तर पर उनके कुल निवेश व्यय तथा द्रव्य-आय के मध्य वही अनुपात है जो कुल निवेश I'_1 तथा आरम्भिक द्रव्य-आय OP_1O के मध्य है। OP_1O के पश्चात द्रव्य-आय में वृद्धि केवल कीमत वृद्धि का परिणाम है तथा P_1O पर कुल निवेश माँग वक्र I'_1 में खम उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि निवेश माँग वक्र I द्वारा ज्ञात हैं OP_1O द्रव्य-आय के समक्ष निवेश I'_1 से बढ़कर I_2 हो जावेगा। निवेश में इस वृद्धि के होने के कारण स्फीति-अन्तराल पुनः उत्पन्न होगा क्योंकि कुल स्फीति-अन्तराल A_1B_1 कुल निवेश में हुई वृद्धि की तुलना में अधिक है। स्फीति-अन्तराल में वृद्धि होने का कारण यह है कि द्रव्य-आय में वृद्धि (OP_2O-OP_1O) होने के हेतु कुल निवेश व्यय में

वृद्धि होने के अतिरिक्त कुल उपभोग व्यय में भी आय वृद्धि तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के गुणन-फल के बराबर वृद्धि हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जब कुल द्रव्य-आय OP_1O से बढ़कर OP_2O हो जाती है तो कुल उपभोग व्यय में c $(OP_2O - OP_1O)$ मात्रा की वृद्धि हो जाती है (c सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का चिह्न है)। अर्थव्यवस्था में नया स्फीति-अन्तराल उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप द्रव्य-आय OP_3O हो जाती है जिसके समक्ष नया स्फीति-अन्तराल A_2B_2 आकार का उत्पन्न होता है। परन्तु प्रत्येक पश्चाद्वर्ती स्फीति-अन्तराल का आकार अपने तत्काल पूर्ववर्ती स्फीति अन्तराल की तुलना में कम हैं। शनः शनः स्फीति-अन्तराल के आकार में कमी हो जाती है तथा समय अवधि t में जब कीमत-स्तर बढ़कर P_t तथा कुल द्रव्य-आय OP_tO हो जाती है तो स्फीति-अन्तराल समाप्त हो जाता है। स्फीति-अन्तराल की समाप्ति का कारण यह है कि प्रत्येक उच्चतर सन्तुलन द्रव्य-आय के समक्ष द्रव्य उपभोग व्यय में उतनी अधिक गति से वृद्धि नहीं हो पाती है जितनी अधिक गति से द्रव्य-आय में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप वास्तविक उपभोग में कमी होती जाती है। कुल वास्तविक आय, जो पूर्णरोजगार उत्पादन O पर स्थिर रहती है, का वह भाग जो उपभोक्ताओं को प्राप्त होता है P_2 कीमत स्तर के समक्ष वास्तविक आय के उस भाग की तुलना में कम है जो उपभोक्ताओं को P_1 कीमत-स्तर के समक्ष प्राप्त होता है। P_t कीमत-स्तर पर उनको कुल वास्तविक आय का सब से कम भाग प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में

$$\frac{C_t}{O_tO} < \frac{C_{t-1}}{P_{t-1}O} < \frac{C_{t-2}}{P_{t-2}} \ldots\ldots\ldots\ldots < \frac{C_3}{P_3O} < \frac{C_2}{P_2O} < \frac{D_1}{P_1O}$$

PO कुल द्रव्य-आय को तथा C उस द्रव्य-आय के समक्ष कुल उपभोग व्यय को तथा १, २, ३,........t चिन्ह विभिन्न समय अवधियों को व्यक्त करते हैं। इसके विपरीत कुल वास्तविक आय में निवेशकर्त्ताओं के हिस्से में वृद्धि होती चली जाती है, अर्थात्

$$\frac{I_t}{P_tO} > \frac{I_{t-1}}{P_{t-1}} \ldots\ldots\ldots\ldots > \frac{I_2}{P_2O} > \frac{I_1}{P_1O}$$

उपरोक्त निष्कर्ष पीगू प्रभाव (Pigou Effect) अथवा द्रव्य माया (money illusion) अथवा अन्य किसी कारण का परिणाम हो सकता है। पीगू प्रभाव के अन्तर्गत द्रव्य उपभोग व्यय में उस तीव्र गति से वृद्धि नहीं होगी जिस तीव्र गति से कुल द्रव्य-आय में वृद्धि होती है। इसी प्रकार द्रव्य माया के अन्तर्गत यदि उपभोक्ता कीमतों में हुई आनुपातिक वृद्धि को भूलकर अपनी द्रव्य-आय में वृद्धि को अपनी वास्तविक आय में वृद्धि विचारते हैं तो दिए हुए उपभोग माँग वक्र के समक्ष वे अपनी द्रव्य आय में हुई वृद्धि के उसी भाग को बचावेंगे जिसको वे अपनी वास्तविक आय में हुई वृद्धि के सम्बन्ध में बचाते हैं। परिणामस्वरूप जैसे जैसे द्रव्य-आय में वृद्धि होती है वैसे वैसे कुल स्थिर वास्तविक आय का वह भाग जिसको बचाया जाता है अधिक होता जाता है तथा वह भाग जिसका उपभोग किया जाता है कम होता जाता है। वास्तविक उपभोग में कमी हो जाने के परिणामस्वरूप वास्तविक साधन वास्तविक बचत के रूप में निवेश माँग की पूर्ति करने के लिए उपलब्ध हो जाते हैं।

परन्तु जब उपभोक्ता पीगू प्रभाव तथा द्रव्य माया के अधीन नहीं होते हैं तब वे स्फीति के परिणामस्वरूप उच्चतर द्रव्य-आय पर भी उसी वास्तविक उपभोग को प्राप्त करने का भरसक प्रयास करेंगे जो उनको पूर्ण रोजगार द्रव्य आय OP_1O पर प्राप्त था। उपभोक्ताओं में बढ़ती हुए कीमतों की स्थिति में अपने कुल वास्तविक उपभोग को सुरक्षित बनाये रखने की इच्छा के परिणामस्वरूप P_1O के समक्ष उपभोग माँग वक्र में खम (kink) उत्पन्न हो जाता है। जैसाकि

चित्र १३·६ से विदित है C_1 के पश्चात उपभोग वक्र C का ढाल यह व्यक्त करता है कि OP_1O के पश्चात कुल द्रव्य-उपभोग व्यय तथा कुल द्रव्य-आय के मध्य वही अनुपात है जो पूर्ण रोजगार आय OP_1O तथा इसके समक्ष कुल उपभोग व्यय के मध्य है। इस कारण जब कीमतों में वृद्धि होने के कारण कुल द्रव्य-आय OP_1O से बढ़कर OP_2O हो जाती है तब कुल उपभोग में भी द्रव्य आय तथा कीमत वृद्धि के समान अनुपात में वृद्धि हो जाती है। यदि P_2 कीमत P_1 कीमत की तुलना में १० प्रतिशत अधिक है तो कुल उपभोग व्यय C_2 भी C_1 की तुलना में १० प्रतिशत अधिक होगा। जब कुल द्रव्य-आय OP_1O से बढ़कर OP_2O हो जाती है तब उपभोग व्यय में हुई वृद्धि ($P_2OC_2-P_1OC_1$) तथा निवेश व्यय में हुई वृद्धि ($P_2OI_2-P_2OI'_2$) अर्थव्यवस्था में A_1A_2 स्फीति-अन्तराल को उत्पन्न करती है जो पूर्ववर्ती समय अवधि में उत्पन्न AB स्फीति-अन्तराल की तुलना में अधिक है। प्रत्येक समय अवधि में स्फीति-अन्तराल के आकार में वृद्धि हो जाती है। यह इस घटना का प्रतीक है कि एक बार स्फीति का श्री गणेश हो जाने पर जब तक कुल वास्तविक उपभोग तथा कुल वास्तविक निवेश व्यय पूर्ण रोजगार उत्पादन से अधिक होगा तब तक अर्थ-व्यवस्था में स्फीति विद्यमान रहेगी तथा शीघ्र अतिस्फीति अर्थव्यवस्था में उत्पन्न हो जावेगी।

यद्यपि केन्द्र भिमुख तथा केन्द्र विचलन स्फीति-अन्तरालों का विश्लेषण अर्थव्यवस्था को केवल दो क्षेत्रों—उपभोग क्षेत्र तथा निवेश क्षेत्र—में विभाजित करके किया गया है परन्तु इसी विश्लेषण के द्वारा तीन क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था में स्फीति-अन्तराल की व्याख्या की जा सकती है। इस तीन क्षेत्रीय मॉडल में जहाँ निजी उपभोग व्यय; निजी निवेश व्यय तथा सरकारी व्यय को अलग अलग व्यक्त किया जाता है पूर्ण रोजगार आय OP_2O इन तीनों क्षेत्रों में कुल व्यय के योग के समान होगी, अर्थात

$$P_1O=C_1+I_1+G_1$$

किसी भी एक क्षेत्र अथवा तीनों क्षेत्रों में व्यय में वृद्धि होने से अर्थव्यवस्था में स्फीति-अन्तराल की समस्या उत्पन्न हो जावेगी। स्फीति-अन्तराल का अन्त केवल उसी दशा में होगा जब तीनों क्षेत्रों की सम्मिलित द्रव्य सीमान्त खर्च प्रवृत्ति का अंकीय मूल्य एक से कम है, अर्थात जब

$$\frac{\triangle C}{\triangle PO}+\frac{\triangle I}{\triangle PO}+\frac{\triangle G}{\triangle PO}<1$$

इसके विपरीत यदि तीनों क्षेत्रों की सीमान्त खर्च प्रवृत्तियों का सम्मिलित अंकीय मूल्य एक से अधिक अथवा एक है तो स्फीति अन्तराल के आकार में वृद्धि होती जावेगी अथवा इसके आकार में कोई कमी नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, स्फीति अर्थव्यवस्था में विद्यमान रहेगी यदि

$$\frac{\triangle C}{\triangle PO}+\frac{\triangle I}{\triangle PO}+\frac{\triangle G}{\triangle PO}\geqq$$

उपरोक्त विश्लेषण की व्याख्या करते समय यह मानलिया गया था कि द्रव्य की पूर्ति पूर्णतया ब्याजसापेक्ष थी जिसके कारण ब्याज की दर एक दिए हुए स्तर पर स्थिर थी। परन्तु यदि द्रव्य की पूर्ति पूर्णतया ब्याजसापेक्ष नहीं हैं तो द्रव्य की मांग में वृद्धि होने पर ब्याज की दर में बृद्धि होगी। परिणामस्वरूप निवेश व्यय तथा उपभोग व्यय में कम वृद्धि होगी। ऐसा होने से कुल वास्तविक माँग में कमी हो जावेगी तथा स्फीति कुछ समय पश्चात समाप्त हो जावेगी।

स्फीति की हानियाँ

अर्थव्यवस्था के सभी भागों पर स्फीति के खराब प्रभाव पड़ते हैं। यद्यपि समाज के कुछ वर्गों के लिए स्फीति लाभदायक सिद्ध होती है परन्तु अन्य वर्गों को स्फीति के कारण अनेक आर्थिक कठिनाइयों को सहन करना पड़ता है। स्फीति के आर्थिक तथा सामाजिक परिणाम इतने अधिक गम्भीर होते हैं कि सभी व्यक्ति इससे बचने का प्रयत्न करते हैं। स्फीति समाज में धन तथा आय का अन्यायपूर्ण पुनः वितरण कर देती है। प्रोफेसर सी० एन० वकील ने स्फीति की तुलना उस डाकू से की है जो व्यक्ति का धन लूटकर अपने पास रख लेता है। "स्फीति एक डाकू के समान है। दोनों ही किसी की वस्तु छीनते हैं। डाकू दिखाई देता है परन्तु स्फीति दिखाई नहीं देती है। डाकू का शिकार किसी समय विशेष पर केवल एक अथवा कुछ व्यक्ति ही होते हैं परन्तु स्फीति का शिकार कुल राष्ट्र की जनता होती है। डाकू को न्यायलय में दण्ड प्राप्त करने के लिए भेजा जा सकता है परन्तु स्फीति को कानूनी अधिकार प्राप्त होता है"।[8]

स्फीति की कठिनाइयों को युवकों, बूढ़े, बीमार, विधवाओं तथा अल्प बचत करने वाले उन सभी व्यक्तियों को सहन करना पड़ता है जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं। स्फीति स्थिर आय वाले व्यक्तियों के लिए अनेक प्रकार की आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न कर देती है। यदि स्फीति समाज में दीर्घकाल तक विद्यमान रहती है तो यह समाज की स्थायी बुनियादों को कमजोर कर देती है। यह मनुष्य की वृद्ध अवस्था का सहारा समाप्त कर देती है क्योंकि कीमतों में वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप लोगों की जीवन की सारी बचत का वास्तविक मूल्य बहुत कम हो जाता है। मध्यमवर्ग को स्फीति के कारण अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। ऐनजल (J. W. Angell) ने जर्मनी में मध्यम वर्ग के व्यक्तियों को युद्ध-पश्चात् स्फीति के कारण जिन मुसीबतों को सहन करना पड़ा था उनका वर्णन इस प्रकार किया है: "स्फीति के कारण उस वर्ग को सबसे अधिक कष्ट सहन करना पड़ा था जो स्वयं अपनी रक्षा सबसे कम कर सकता था। शहर में रहने वालों में मध्यम वर्ग, जिसमें अधिकतर वेतन प्राप्त करने वाले अधिकारी, क्लर्क, पैन्सन प्राप्तकर्त्ता वृद्ध अवस्था के व्यक्ति तथा ब्याज की आय व मकान के किराये के सहारे जीवन निर्वाह करने वाले व्यक्ति शामिल थे, को स्फीति के बुरे परिणामों का शिकार होना पड़ा था। इस वर्ग को न तो स्फीति से लड़ने का ज्ञान प्राप्त था और न अवसर ही प्राप्त था।"[9] केमरर का विचार भी ऐनगल के समान है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये है: "मध्यम वर्ग जो अपनी कड़े परिश्रम की क्रिया तथा बचत करने की आदत के द्वारा अपने बच्चों को शिक्षा देने व भविष्य में बीमारी तथा वृद्ध अवस्था का सामना करने के उद्देश्य से कुछ बचत का निसंचय करता हैं स्फीति के दिनों में अपने को गम्भीर स्थिति में पाता है। आय की तुलना में रहन-सहन का खर्च अधिक बढ़ जाता है, सारी बचत समाप्त हो जाती है, कठिन परिश्रम, स्वतन्त्रता तथा बचत करने की आदत झूठे देवता के समान हो जाती है। ऐसी स्थिति में मध्यम वर्ग पर निराशा तथा असफलता की भावना के बादल छा जाते हैं।"[10]

---

8. Inflation may be compared to a robber. Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible ; the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are the whole nation ; the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal." (C N. Vakil : *Financial Burden of War on India*)
9. J. W. Angell : *The Recovery of Germany*, p. 38.
10. E. W. Kemmerer : *The ABC of Inflation*, p. 94.

अर्थव्यवस्था में स्फीति के सबसे अधिक शिकार मध्यम वर्ग के वे लोग होते हैं जो प्रत्येक समाज में इसकी स्थिरता की आधारशिला होते हैं। स्फीति समाज के भवन को मिटाकर खण्डहर कर देती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी, पोलैण्ड, आस्ट्रिया आदि देशों में अतिस्फीति के कारण मध्यम वर्ग का अन्त हो गया था। जर्मनी में अनेक ऐसे पुराने परिवार जो युद्ध के पूर्व धनी तथा सम्मानजनक अवस्था में थे वे पूर्णतया बरबाद हो गये थे क्योंकि इन परिवारों की अधिकांश परिसम्पत्ति का स्थिर आय प्रदान करने वाले ऋण पत्रों में निवेश होने के कारण वास्तविक मूल्य की दृष्टि से इन परिवारों की परिसम्पत्ति लगभग समाप्त हो गई थी।

आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्फीति समाज में व्यक्तियों का नैतिक पतन भी कर देती है। समाज में धन तथा आय का अन्यायपूर्ण पुनर्वितरण करके स्फीति जनता में सरकार तथा नैतिकता के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देती है। जिन लोगों का धन तथा जीवन की सारी बचत स्फीति द्वारा लूट ली जाती है वे सरकार तथा समाज का कड़ा विरोध करते हैं। इतिहास इसका साक्षी है कि स्फीति के युग में जनता का नैतिक पतन हो जाता है। अतिस्फीति के दिनों में जनता के अत्यधिक नैतिक पतन का अनुमान फ्रांस में फ्रान्सीसी क्रांति के असाधारण काल में कागजीमुद्रा प्रसार के कारण उत्पन्न होने वाले नैतिक पतन की इस व्याख्या से किया जा सकता है। "बीमारी (स्फीति) का सबसे मुख्य चिह्न फ्रांस की जनता के मन से बचत करने की भावना की समाप्ति में निहित था। यद्यपि फ्रांस के लोग स्वभाव से बचत करने वाले होते हैं। परन्तु संचलन में मुद्रा की मात्रा इतनी अधिक हो गई थी कि इसका भविष्य मूल्य अनिश्चित हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण मनुष्य में बचाने की इच्छा का अभाव हो गया था और सारे देश में विलासिता की भावना विद्यमान हो गई थी। इससे भी अधिक बुरी तथा भयानक बात यह थी कि सट्टेबाजी तथा जुए की क्रियाओं में वृद्धि हो गई थी। फ्रांस के प्रमुख शहरों में विलासिता तथा दुराचार, जो लूटने की अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर दोष थे, चारों ओर फैल गये थे। देश में जुए की भावना प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। यह दुराचार केवल व्यापारियों तक ही सीमित नहीं था; इसका अभिशाप उन उच्च सरकारी अधिकारियों तथा नेताओं में भी फैल गया था जो कुछ समय पूर्व विलासता, बेईमानी तथा बेपरवाही के दोषों से मुक्त समझे जाते थे।"[11]

इससे भी अधिक नैतिक पतन की गम्भीर स्थिति जर्मनी में युद्ध-पश्चात् काल में अतिस्फीति की अवस्था में विद्यमान हुई थी। जर्मनी में उन दिनों लोगों का इतना अधिक नैतिक पतन हो गया था कि मनुष्य स्त्रियों के वस्त्र पहन कर बर्लिन के नाचघरों में पुलिस अफसरों की आँखों के सामने नाचा करते थे। "नवयुवतियाँ अपने दोषों की घमण्डीशाली ढंग से व्याख्या करती थीं। सोलह वर्ष की अवस्था तक पवित्र कुमारी रहना उन दिनों बर्लिन में लज्जाजनक समझा जाता था। प्रत्येक लड़की अपने दूषित अनुभवों को बताने में गर्व समझती थी।"[12]

---

11. Andrew D. White : Fiat Money Inflation in France, p 27.
12. "Young girls bragged proudly of their perversion; to be sixteen and under the suspicion of virginity would have been considered a disgrace in any school of Berlin at that time : every girl wanted to be able to tell of her adventures, and the more exotic the better." (*In The World Yesterday* by Stefan Zweig quoted on page 10 *From Hyperinflation* by S.K. Muranjan)

जिस प्रकार की भयानक अतिस्फीति की परिस्थिति युद्ध-पश्चात् काल में यूरोप के देशों में उत्पन्न हुई थी उसके परिणामस्वरूप केवल अर्थव्यवस्था ही अस्त-व्यस्त नहीं होती है बल्कि इसके कारण सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों का भी जन्म होता है। युद्ध-पश्चात् काल में जर्मनी में हिटलर को राजनीतिक सत्ता प्राप्त होने का तत्कालीन कारण जर्मनी में उस समय विद्यमान अतिस्फीति की भयानक परिस्थिति थी। जर्मन नागरिक किसी भी ऐसी सरकार के पक्ष में थे जो अर्थव्यवस्था में स्थिरता स्थापित करके उनको स्फीति के भयानक रोग से मुक्ति प्रदान कर सकती थी। जर्मन अतिस्फीति के अपने अध्ययन में कान्स्टेन्टीनो ब्रेस्यानी तरोनी (Constantino Bresciani Turroni) ने निम्नलिखित शब्दों में अतिस्फीति के सामाजिक तथा राजनैतिक दोषों की व्याख्या की है। "१९१४-२३ ई० का मार्क का मूल्यह्रास बीसवीं शताब्दी के इतिहास में एक प्रमुख घटना है। इतिहास में अपने प्रकार की यह सबसे अधिक भयानक घटना थी। सम्भवतः महायुद्ध के पश्चात् हमारी पीढ़ी की अधिकांश राजनीतिक तथा आर्थिक कठिनाइयों की जिम्मेदारी इसी पर है। इसने जर्मन समाज के स्थाई वर्गों के धन को नष्ट कर दिया था तथा अपने पीछे नैतिक व आर्थिक असन्तुलन की स्थिति को, जो अस्थिरता की जननी होती है, शेष छोड़ दिया था। हिटलर स्फीति की ही गौण उत्पत्ति था। इसी प्रकार तीसा की महान मन्दी की वित्तीय कठिनाइयाँ भी काफी अंश तक अन्तर्राष्ट्रीय उधारदान प्रणाली की उस अस्त-व्यस्तता का परिणाम थीं जो स्वयं स्फीति के रोग के परिणाम के रूप में उत्पन्न हुई थीं। यदि हम यूरोप की वर्तमान स्थिति को सही प्रकार से समझना चाहते हैं तो हमारे लिए जर्मन अतिस्फीति का अध्ययन करना अतिआवश्यक है। यदि हम भविष्य में आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के उद्देश्य से योजना बनाना चाहते हैं तो हमें उन भूलों को कदापि नहीं दोहराना चाहिये जिनके कारण यह स्फीति उत्पन्न हुई थी।"[13]

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टि से यदि देखा जावे तो यह सत्य है कि स्फीति के कारण उद्यमकर्त्ता वर्ग की बचत करने की शक्ति तथा इच्छा में कमी हो जाने से अर्थव्यवस्था में पूँजी का निसंचय कम हो जाता है। स्फीति के द्वारा होने वाले अपव्यय को स्पष्ट करते हुये शिमित (Schmidt) ने लिखा है कि "जर्मनी में स्फीति काल में जो मशीन इत्यादि उत्पादन के क्षेत्र में लगाई गई थीं, उनमें से अधिकांश स्फीति के पश्चात् व्यर्थ सिद्ध हुई थीं। इस कारण देश को स्फीति की पाँच वर्ष की अवधि में जो भारी हानि हुई थी उसका सही अनुमान लगाना कठिन है।"[14]

यद्यपि ऋणियों, उत्पादकों तथा व्यापारियों को स्फीति काल में बेशी लाभ प्राप्त होती है परन्तु ऋणदाताओं को हानि होती है। श्रमिकों को भी कीमतों में वृद्धि होने के कारण अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परन्तु सभी श्रमिकों को समान कठिनाइयों का अनुभव नहीं करना पड़ता है। जो श्रमिक प्रतिदिन वेतन के आधार पर अस्थायी आधार पर काम करते हैं उनको स्थायी वेतन पाने वाले श्रमिकों की तुलना में कम आर्थिक कष्ट का अनुभव होता है। व्यापारियों को अत्यधिक लाभ प्रदान करके स्फीति पूँजीवादी समाज की आधारशिला के लिए घातक सिद्ध होती है। सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त होने के कारण व्यापार क्रिया सट्टेबाजी की अनुचित क्रियाओं को जन्म दे देती है। यद्यपि अभिवृद्धि की अवस्था आर्थिक क्रियाओं तथा रोजगार के स्तर को ऊपर उठाने में सहायक सिद्ध होती है परन्तु कुछ

13: Constantino Bresciani Turroni : *The Economics of Inflation*, p.5.
14. C.T. Schmidt : *German Business Cycles*, 1924-33, p. 15.

समय के पश्चात् यही अभिवृद्धि घातक सिद्ध होती है। स्फीति की अवधि में बचत करने की भावना को मुद्रा की क्रय-शक्ति में कमी होने के कारण भारी ठेस पहुँचती है। प्रोफेसर नील एच० जेकबी ने अमरीका में स्फीति के बुरे प्रभावों की व्याख्या करते हुए अपनी पुस्तक *Can Prosperity be Sustained* ? में निम्नलिखित प्रकार लिखा है।

"गत दशाब्दी में कीमत स्फीति ने स्थिर डालर सेवावृत्ति तथा वार्षिक वृत्ति पर निर्भर रहने वाले लाखों वृद्ध तथा दुर्बल अमरीकियों को दरिद्र बना दिया है। इसने स्कूल शिक्षकों, सरकारी कर्मचारियों तथा स्थिर वेतन पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों के जीवन स्तर को गहरी क्षति पहुँचाई है। १९४१ ई० के पश्चात् अमरीकी जनता को उपभोग वस्तुओं की कीमतें दुगना हो जाने से बहुत अधिक कठिनाइयों को सहन करना पड़ रहा है। इस वास्तविकता के समक्ष इस बात से किसको इन्कार हो सकता है कि स्थिर मूल्य के डालर का लोगों के लिये पूर्ण रोजगार की तुलना में कम महत्व नहीं है।"[15]

स्फीति किसी भी प्रकार की क्यों न हो तथा किसी भी कारण से उत्पन्न क्यों न हुई हो समाज के लिये इसके इतने अधिक गम्भीर परिणाम होते हैं कि समाज को इसे रोकने के उपायों की तलाश करने में कभी भी भूल नहीं करनी चाहिए। यह एक ऐसी खतरनाक बीमारी है जो समय बीतने के साथ अधिक गम्भीर होती जाती है। इस सम्बन्ध में चेतावनी देते हुये श्री सी० केन्बी बाल्डरस्टान (C. Canby Balderston), जो अमरीकी केन्द्रीय बैंक की गवर्नर परिषद् (Federal Reserve Board of Governors) के उपाध्यक्ष थे, ने मई १९५७ ई० में कहा था कि "यह हमारी सबसे बड़ी भूल है कि हम यह विचारने लगते हैं कि थोड़ी सी स्फीति अच्छी होती है। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि इतनी थोड़ी सी स्फीति से भी जब कीमतों में केवल २ प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि होती है कीमत-स्तर केवल ३५ वर्ष में दुगना हो जाता है। यदि एक बार रेंगती हुई स्फीति को समाज स्वीकार कर लेता है तब कुछ ही समय पश्चात् यह बच्चा रेंगना बन्द करके चलने, दौड़ने तथा कूदने लग जाता है।"[16]

स्फीति को रोकने के उपाय

स्फीति के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिणाम इतने अधिक गम्भीर होते हैं कि स्फीति को रोकना प्रत्येक देश की सरकार का परम कर्तव्य समझा जाता है। अर्थव्यवस्था

---

15. "Price inflation during the past decade has pauperised millions of elderly and disabled Americans living on fixed dollar pensions and annuities. It has painfully squeezed the living standards of the school teachers, Government clerks and others on low and inflexible salaries. Since 1941 more human suffering has been visited upon Americans by doubling of consumer prices than by unemployment. In the face of this record who will say we need not be as much concerned about a dollar of stable value as about full employment. (Neal H. Jacoby : *Can Prosperity be Sustained* ?)

16. "A misconception that is part of intellectual currency today is that a little inflation is a good thing. A little inflation sometimes thought of as roughly 2 per cent a year, would double the price level every 35 years However, even if we accept this inevitability of creeping inflation and I certainly do not, it is not possible to have just a 'little' inflation. Once community accepts the prospect of continued inffation and begins to make its business decisions in the light of that prospect, the infant ceases to creep. It learns to walk, run and finally gallop even though the gallop may carry it over the brink of the precipice that everyone agrees must be avoided," (*Address of Mr. C. Canby Balderston, Vice Chairman of Federal Reserve Boord of Governors before the Health Insurance Association of America, i May 1957*)

को सन्तुलित अवस्था में रखने के लिये स्फीति को आरम्भ होते ही समाप्त कर दिया जाना चाहिये। स्फीति विद्यमान होने का मुख्य कारण यह होता है कि प्रचलित कीमतों पर अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग समस्त उत्पादन की अपेक्षा अधिक हो जाती है। इसलिए स्फीति का अन्त करने के लिने माँग को कम करने के उपायों की खोज करना आवश्यक है। इसके लिए अर्थव्यवस्था में लोगों के पास उपलब्ध क्रय-शक्ति को मुद्रा की मात्रा में उपयुक्त कमी करके कम किया जाना चाहिये क्योंकि जब तक अर्थव्यवस्था में उपभोक्ताओं की क्रयशक्ति कम नहीं होगी तब तक वस्तुओं की माँग में कमी नहीं होगी। अर्थव्यवस्था में लोगों की क्रयशक्ति में कमी करने के हेतु मुद्रा की मात्रा को निम्नलिखित उपायों द्वारा कम किया जा सकता है।

(१) विमुद्रीकरण द्वारा पुरानी मुद्रा को नष्ट करके देश में नई मुद्रा को इस प्रकार संचलन में विद्यमान किया जा सकता है कि स्थिति के अनुसार पुरानी मुद्रा की अधिक इकाइयों को नई मुद्रा की एक इकाई में परिवर्तन करके संचलन में कुल मुद्रा की मात्रा कम कर दी जाये। ऐसा करने से अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाने से कुल समर्थ माँग में कमी होगी तथा कीमतों में स्थिरता प्राप्त करने की प्रवृत्ति प्राप्त हो सकेगी।

(२) पुराने करों में वृद्धि करके तथा नए अवरोही करों को लगाकर जनता की उपभोग्य आय में पर्याप्त कमी की जा सकती है। ऐसा करने से लोगों की उपभोग्य आय (disposable income) में कमी होने के परिणामस्वरूप कुल समर्थ माँग में कमी हो जाने से कीमत वृद्धि की समस्या का अन्त हो जावेगा।

(३) सरकार जनता से ऋण प्राप्त करके संचलन में मुद्रा की मात्रा कम कर सकती है। स्फीति को समाप्त करने के हेतु सरकार जनता को, जिसके पास अत्यधिक क्रयशक्ति का निसंचय हो गया है, ऊँची ब्याज दर की प्रेरणा देकर उस से ऋणों के रूप में बेशी क्रयशक्ति को प्राप्त कर सकती है।

(४) कम्पनियों द्वारा लाभांश का वितरण करने पर प्रतिबन्ध लगाकर अधिक क्रयशक्ति को जनता के हाथों में जाने से रोका जा सकता है।

(५) सरकार अपने व्यय में कमी करके कुल समर्थ माँग में कमी कर सकती है। इसके लिये स्फीति काल में सरकार को बेशी वाले बजट (surplus Budgets) बनाने चाहिये। बेशी वाले बजट को तैयार करते समय वित्त मन्त्री को एक ओर करों में वृद्धि करके सरकारी आय में वृद्धि करना चाहिए तथा दूसरी ओर सरकारी व्यय में यथासंभव कमी करना चाहिए।

(६) केन्द्रीय बैंक द्वारा न्यूनतम वैध नकद निधि अनुपात में वृद्धि करके बैंकों की साख-मुद्रा निर्माण शक्ति में कमी करके तथा केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की उपयुक्त क्रियाओं के द्वारा भी स्फीति को रोकने का प्रयास किया जा सकता है। व्यापारी बैंकों को अधिक साख-मुद्रा का निर्माण करने से रोकने के हेतु केन्द्रीय बैंक की बैंक दर में वृद्धि करके व्यापारी बैंकों के लिए केन्द्रीय से ऋण प्राप्त करने की लागत में वृद्धि की जा सकती है। केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर में वृद्धि करने का परिणाम यह होगा कि व्यापारी बैंक भी अपनी उधारदान दरों में वृद्धि करेंगी तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता स्थिर रहते हुये उद्यमकर्त्ता बैंकों से कम मात्रा में ऋण प्राप्त करेंगे। उनके द्वारा बैंकों से कम ऋण प्राप्त करने के हेतु अर्थव्यवस्था में कुल निवेश में कमी होगी तथा माँग में कमी संभव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष साख-मुद्रा नियन्त्रण की नीति द्वारा भी केन्द्रीय बैंक व्यापारी बैंकों को विशेष कार्यों के लिए अथवा वस्तुओं के समर्थक

ऋणाधार के रूप में ऋण न देने का आदेश देकर इन वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि को रोक सकती हैं।

(७) स्फीति पर कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग के द्वारा भी नियन्त्रण किया जा सकता है। राशनिंग की नीति के द्वारा आवश्यक वस्तुओं की माँग को सीमित कर दिया जाता है और अर्थव्यवस्था में उपभोक्ताओं में अधिक माँग वाली वस्तुओं का समान प्रकार वितरण कर दिया जाता है। परन्तु कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग की नीति की सफलता कुशल प्रशासकों की योग्यता पर निर्भर रहती है।

परन्तु स्फीति पर नियंत्रण करने सम्बन्धी उपरोक्त उपायों को केवल सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा लागू करने से स्फीति पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता है। सफलता प्राप्त करने के लिए सरकार को स्फीति-विरोधी नीतियों के प्रति जनता का सहयोग प्राप्त होना चाहिये। इस सम्बन्ध में फेड्रल रिजर्व बैंक, बोस्टन के संचालक मण्डल द्वारा १९५६ ई० में किये गये एक अध्ययन के निष्कर्ष को दोहराना उपयुक्त होगा। इस अध्ययन में यह बतलाया गया था कि साधारणतया फ़ेड्रल बैंक अथवा किसी अन्य संस्था के लिये मन्दी विरोधी उपायों के प्रति जनता का सहयोग प्राप्त करना सरल होता है। उन उपायों के प्रति भी जो अर्थव्यवस्था को मन्दी से चेतना की ओर ले जाते है जनता का सहयोग प्राप्त करना सरल होता है। परन्तु बढ़ती हुई समृद्धि के काल में जब अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति अभिवृद्धि की ओर होती है तब स्फीति-विरोधी उपायों के प्रति जनता का सहयोग प्राप्त करना कठिन होता है। प्रजातन्त्रवादी मुक्त अर्थव्यवस्था में निजी उद्योगपतियों तथा उपभोक्ताओं के सहयोग के बिना सरकारी स्फीति-विरोधी नीतियों को पर्याप्त सफलता प्राप्त होना असंभव है।

अवस्फीति (Deflation)

स्फीति के समान अवस्फीति भी गम्भीर आर्थिक बीमारी है। अवस्फीति की स्थिति अर्थव्यवस्था में कीमतों, उत्पादन तथा रोजगार में गिरावट से सम्बद्ध होती है। यद्यपि साधारण भाषा में कीमतों की प्रत्येक गिरावट को अवस्फीति कहा जाता है परन्तु जिस प्रकार कीमतों की प्रत्येक वृद्धि को स्फीति नहीं कहा जा सकता है इसी प्रकार कीमतों की प्रत्येक गिरावट को अवस्फीति नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब स्फीति के पश्चात् कीमतें गिरती हैं तो कीमतों में यह कमी अवस्फीति नहीं बल्कि विस्फीति (disinflation) होती है क्योंकि कीमतों में इस कमी के कारण अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी उत्पन्न नहीं होती है। संक्षेप में अवस्फीति वस्तुओं की कीमतों में हुई उस गिरावट को कहते हैं जिसके कारण अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी तथा कम उत्पादन की घटनाएँ उत्पन्न होती हैं।

अवस्फीति के परिणाम

अर्थव्यवस्था में अवस्फीति विद्यमान होने का प्रमुख कारण कुल समर्थ मांग की कमी में निहित होता है। अवस्फीति समाज के लिए कितनी अधिक कष्टदायक बन सकती है यह वर्तमान शताब्दी में अनुभव की गई 'तीसा' की प्रसिद्ध महान् मन्दी का अध्ययन करने से ज्ञात हो जाता है। अमरीका में १९३० ई० अत्याधिक मन्दी के समय लगभग १½ करोड़ लोग बेरोजगार थे। ये लोग देश के प्रधान नगरों की सड़कों पर 'काम चाहिए' के नारे लगाते थे परन्तु इनको कोई काम प्राप्त नहीं था। इंगलैंड में भी मन्दी काल में बेरोजगारी काफी अधिक मात्रा में उपस्थिति थी तथा १९३१ ई० में कुल श्रमिकों में से लगभग २० प्रतिशत बेरोजगार थे। बेरोजगारी

मनुष्य का नैतिक पतन कर देती है और इसको दूर करने का हर संभव प्रयास किया जाना चाहिए। बेरोजगारी के कारण देश में कुल उत्पादन में कमी हो जाती है तथा लोगों की उत्पादन-क्षमता कम हो जाती है। बेरोजगार व्यक्ति देश द्रोही बन कर देश की स्थाई शान्ति को भंग कर देते हैं। वे समाज के कट्टर शत्रु बन जाते हैं। इसलिए सामाजिक हितों की दृष्टि से उनको किसी भी प्रकार के काम पर लगा दिया जाना चाहिए। कीन्स का विचार इस सम्बन्ध में इतना दृढ़ था कि उनके अनुसार बेरोजगार व्यक्तियों को यदि समाज उत्पादन कार्य प्रदान नहीं कर सकता है तो इनको अनुत्पादक कार्यों पर भी लगाना बेरोजगारी की अपेक्षा अधिक उत्तम सिद्ध हो सकता है। इसीलिए उनके विचार में पिरामिड बनाना, गड्ढे खोदना तथा उनको सायंकाल भर देना यद्यपि बिल्कुल अनुत्पादक कार्य है परन्तु ये बेरोजगारी की तुलना में उत्तम हैं।

अवस्फीति काल में कीमतों में गिरावट होने के कारण लोगों की आयों में कमी हो जाती है और अनेक उद्योग फैल हो जाते हैं। उत्पादकों को हानि होने के कारण देश की समस्त उत्पादन प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती है। श्रमिकों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है। सभी लोग भविष्य के सम्बन्ध में निराशावादी बन जाते हैं। राष्ट्रीय आय में गिरावट होने के कारण समाज के सभी वर्गों को अत्याधिक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

अवस्फीति को रोकने के उपाय

अवस्फीति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ व्यवस्था में कुल उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु यह उस समय तक सम्भव नहीं हो सकता है जब तक वस्तुओं की कुल माँग में वृद्धि नहीं होती है। इसलिए सरकार की आर्थिक नीतियों—मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों—का उद्देश्य कुल उपभोग तथा कुल निवेश मांग में वृद्धि करके कुल समर्थ मांग में वृद्धि करना होना चाहिए। अवस्फीति को निम्नलिखित उपायों द्वारा रोका जा सकता है।

(१) **सरकारी खर्च में वृद्धि**—केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारें घाटे के बजट बना कर अपनी कुल वार्षिक आय की तुलना में अधिक खर्च करके अर्थव्यवस्था में कुल उपभोग मांग में वृद्धि कर सकती हैं। उस सम्बन्ध में 'तीसा' में अमरीकी न्यू डील (New Deal) नीति तथा फ्रांसीसी ब्लाम प्रयोग (Blum Experiment) सिद्ध करते हैं कि सरकारी अधिक व्यय की नीति के द्वारा मन्दी की समस्या को कम किया जा सकता है। १९२९ ई० की महान् मन्दी के पश्चात् अमरीका में न्यू डील योजना के अन्तर्गत जंगलों को साफ करने, सड़कें बनाने इत्यादि अनेक कार्यों पर लोगों को काम पर लगाकर बेरोजगारी को समाप्त करने का सफल प्रयास किया गया था। इस योजना के कारण अमरीका में बेरोजगारी काफी कम हो गई थी तथा देश की अर्थव्यवस्था में काफी सुधार हुआ था।

(२) प्रत्यक्ष करों में छूट देकर करदाताओं की उपभोग-आय में वृद्धि करके कुल उपभोग व्यय में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु यह नीति कहाँ तक सफल सिद्ध होगी यह करदाताओं की उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर है। यदि करदाताओं की सीमान्त व्यय प्रवृत्ति ऊँची है तो कर-छूट नीति अधिक सफल होगी। इसके विपरीत यदि करदाताओं का स्वभाव कम व्यय करने का है तो करों में छूट देने से कुल समर्थ माँग में अधिक वृद्धि संभव नहीं होगी।

(३) मौद्रिक नीति द्वारा अवस्फीति को रोकने का सफल प्रयास किया जा सकता है। अर्थव्यवस्था में बैंकों को साख-मुद्रा का निर्माण करने के सम्बन्ध में अधिक उदार सुविधाएँ देकर,

बैंकदर में कमी करके तथा खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा ऋणपत्रों को अधिक कीमतों पर खरीदकर केन्द्रिय बैंक अर्थव्यवस्था में कुल निवेश में वृद्धि करने में उत्साह प्रदान कर सकती है। परन्तु इस नीति की सफलता उद्यमकर्ताओं की मनोवृत्ति पर निर्भर करती है। यदि उद्यमकर्ता भविष्य के सम्बन्ध में निराशावादी है तो केन्द्रिय बैंक को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता प्राप्त होगी। क्राउथर ने केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति की सीमाओं को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में उद्यमकर्ताओं की तुलना घोड़े से करते हुये वे कहते हैं कि केन्द्रीय बैंक घोड़े के सामने पीने के लिये अधिक पानी रख सकती है परन्तु यह घोड़े को पानी पीने पर बाध्य नहीं कर सकती है। यदि उद्यमकर्ता निराशावादी है तो वे केन्द्रीय बैंक द्वारा दी गई सुविधाओं का उपयोग नहीं करेंगे।

(४) अवस्फीति की अवधि में पुराने ऋणों का भुगतान करके भी सरकार अवस्फीति को रोकने में कुछ सीमा तक सफल सिद्ध हो सकती है। जब सरकार अपने पुराने ऋणों का भुगतान करती है तो ऋणदाताओं को आय प्राप्त होती है तथा वे अपने कुल व्यय में वृद्धि कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप कुल समर्थ मांग में कुछ वृद्धि अवश्य होने के कारण अवस्फीति के आकार में कुछ कमी हो सकेगी।

स्फीति तथा अवस्फीति की तुलना

यद्यपि स्फीति तथा अवस्फीति दोनों समाज के लिये भयानक रोग हैं परन्तु अवस्फीति की तुलना में स्फीति कई कारणों से कम भयानक रोग है। प्रथम, जबकि स्फीति के कारण केवल कीमतों में वृद्धि होती है अवस्फीति के कारण कीमतों में गिरावट होने के साथ साथ अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी भी उत्पन्न हो जाती है। समाज में बेरोजगारी की घटना तथा आय के असमान वितरण की समस्या को ध्यान में रखकर कीन्स ने कहा है कि अवस्फीति साधारण स्फीति की तुलना में अधिक खराब है। अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की घटना उत्पन्न हो जाने के परिणामस्वरूप श्रमिकों की उत्पादन क्षमता का क्षय होने लगता है। श्रमिक कुछ समय तक बेरोजगार रहने के पश्चात् काम करने के अयोग्य हो जाता है तथा दीर्घकालीन बेरोजगारी के अर्थव्यवस्था के लिये भीषण परिणाम होते हैं। बेरोजगार व्यक्ति समाज के ऊपर भार बन जाते हैं। दीर्घकाल तक बेरोजगार रहने के कारण वे कोई काम नहीं कर सकते हैं परन्तु उनको प्रतिदिन भोजन तथा जीवन निर्वाह सम्बन्धी अन्य सामग्री प्राप्त होनी चाहिये। स्फीति काल में कीमतों में वृद्धि हो जाने के कारण लोगों का नैतिक पतन हो जाता है क्योंकि अधिकांश लोगों के लिए स्फीति दो समय खाना प्राप्त करना भी कठिन बना देती है। कीन्स ने स्फीति के दोषों को बताते हुए कहा है कि स्फीति यद्यपि लोगों को खर्च करने का अधिकार प्रदान करती है परन्तु यह उस खर्च से प्राप्त होने वाले फलों को उनसे छीन लेती है। परन्तु अवस्फीति में स्थिति इससे भी अधिक बुरी होती है क्योंकि बेरोजगार होने के कारण लोगों को व्यय करने का अधिकार भी प्राप्त नहीं होता है। इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है कि बिल्कुल रोटी न मिलने की तुलना में आधी रोटी मिल जाना अधिक अच्छा है। स्फीति में श्रमिक को वह आधी रोटी उसे काम प्राप्त होने के कारण प्राप्त हो जाती है परन्तु अवस्फीति में बेरोजगार होने के कारण उससे वह आधी रोटी छिन जाती है। स्फीति उत्पादकों के लाभों में अत्यधिक वृद्धि को सम्भव करके उनको उत्साह प्रदान करती है जिसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था में स्फीतिकाल में निवेश का स्तर ऊँचा बना रहता है। इसके विपरीत अवस्फीति उद्यमकर्त्ताओं को किसी प्रकार का उत्साह प्रदान नहीं करती है। हानि होने के कारण देश का उत्पादक वर्ग निराशावादी बन जाता है। अवस्फीति लगान तथा किराये की आय पर जीवित रहने वाले अनुत्पादक वर्ग को उत्साह प्रदान करती है।

कीन्स के विचार में समाज में बेरोजगारी उत्पन्न करने तथा उत्पादक वर्ग को हतोत्साहित करने की तुलना में किराये पर आश्रित अनुत्पादक वर्ग (rentier class) को निराश करना कम बुरा है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि स्फीति प्रत्यवस्फीति (reflation) की स्वस्थ अवस्था की तुलना में भी उत्तम है। प्रत्येक देश की सरकार का उद्देश्य प्रत्यवस्फीति को प्राप्त करना होना चाहिये।[17]

अध्ययन सूची

1. Kenneth K. Kurihara : Monetary Theory and Public Policy, Chapters 4 and 5.
2. Edwin Walter Kemmerer : The A B C of Inflation, Chapters I & IV to XII.
3. Dudley Dillard : The Economics of John Maynard Keynes, Chapter X.
4. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy, Chapter XI.
5. William Fellner : A Treatise on War Inflation.
6. Bent Hansen : A Study in the Theory of Inflation.
7. Milton Friedman : Inflation : Causes and Consequences.
8. Gardner Ackley : Macroeconomic Theory, Chapter XVI.
9. J. M. Keynes : A Tract on Monetary Reform, Chapter II.

प्रश्न

1. "Inflation is unjust and deflation is inexpedient. Of the two deflation is worse." Comment.
2. "Inflation is an excess of demand over the supply of everything." Discuss the above and analyse the factors that result in inflation.
3. What are the effects of inflation ? How can inflation be controlled ?
4. Analyse carefully the nature of 'repressed inflation' and distinguish it from 'open inflation.' Discuss the economic effects of 'repressed inflation' as against 'open inflation'.
5. Explain various types of inflation. Why is inflation regarded as undesirable ?

---

17. J.M. Keynes : A Tract on *Monetary Reform*, pp. 12-13.

१४

गुणक
(Multiplier)

नवीन अर्थशास्त्र में गुणक का विचार रोजगार सिद्धान्त के क्षेत्र में हुई नवीन प्रगति का प्रतीक है। उपभोग प्रवृत्ति, बचत प्रवृत्ति, निवेश प्रवृत्ति तथा पूर्ण रोजगार इत्यादि आर्थिक समष्टिभाव विचारों के समान गुणक का विचार भी वर्तमान शताब्दी में 'तीसा[1] की महान मन्दी' की गौण उत्पत्ति है। वर्तमान आर्थिक साहित्य में गुणक का महत्वपूर्ण स्थान है तथा आर्थिक नीति के क्षेत्र में यह आर्थिक विश्लेषण का एक अति महत्वपूर्ण अंग बन गया है। तीसा की मन्दी के काल में गुणक सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्यत: सरकार द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्यों की नीति का समर्थन करने के हेतु किया गया था। कीन्स ने इस विचार का समर्थन किया था कि अर्थव्यवस्था में मन्दी की घटना का, जिसके परिणामस्वरूप समाज को अनेक कठिनाइयां सहन करनी पड़ती हैं, अन्त करना सरकार का परम कर्त्तव्य था तथा इस मन्दी को सरकार द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अपनी आय की तुलना में अधिक व्यय करके समाप्त किया जा सकता था। कीन्स के विचारानुसार सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर किसी दी हुई धन राशि का आरम्भिक व्यय करने के परिणामस्वरूप कुल आय तथा रोजगार में गुणक के अंकीय मूल्य के अनुसार आरम्भिक व्यय की गुणक गुना वृद्धि हो जावेगी।

---

1. वास्तव में न्यू डील नीति के आरम्भिक वर्षों में अर्थशास्त्री समुद्दीपन सिद्धान्त (pump-priming theory) में विश्वास करते थे। इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थव्यवस्था को मन्दी के रोग से मुक्त करने के हेतु सरकारी व्यय में केवल एक बार सीमित मात्रा में वृद्धि करना पर्याप्त था। इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह विश्वास था कि सरकारी व्यय अथवा निवेश में किसी दी हुई राशि की आरम्भिक वृद्धि होने के परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र में निवेश मांग में पर्याप्त वृद्धि होने के कारण अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के पथ पर अग्रसर हो जावेगी। परन्तु तीसा की महान मन्दी में यह अनुभव किया गया था कि अर्थव्यवस्था को मन्दी से मुक्त करने के लिए सरकारी व्यय में केवल एक बार वृद्धि न करके प्रतिवर्ष वृद्धि करना आवश्यक था क्योंकि निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल निवेश में केवल सीमित मात्रा में वृद्धि होती है। फलस्वरूप मन्दी काल में समुद्दीपन सिद्धान्त को त्याग कर गुणक सिद्धान्त पर ध्यान केन्द्रित किया गया था।

गुणक सिद्धान्त का प्रतिपादन १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री नट विकसेल (Knut Wicksell) ने अपनी *Interest and Prices* शीर्षक पुस्तक में स्फीति के जिस सिद्धान्त की व्याख्या की है वह गुणक सिद्धान्त है यद्यपि विकसेल ने स्पष्ट रूप से गुणक शब्द का प्रयोग नहीं किया है। जर्मन अर्थशास्त्री जोहानसेन(N. Johannsen) ने १९०३ ई० में गुणक सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या की थी। १९१३ ई० में प्रकाशित अपनी *Die Steu der Zukunft* शीर्षक पुस्तक में जोहानसेन द्वारा गुणक सिद्धान्त की व्यापक रूप में पुन: व्याख्या की गई थी। इस पुस्तक के *"The Multiplying Principle"* तथा *"The Importance of the Multiplying Principle"* शीर्षक दो खण्डों में जोहानसेन ने गुणक-प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन किया है। गुणक सिद्धान्त की व्याख्या करने के पश्चात् जोहानसेन ने गुणक की परिमाणात्मक माप करने का भी प्रयास किया है।

तीसा की मन्दी के काल में गुणक सिद्धान्त के अध्ययन की ओर अर्थशास्त्रियों का ध्यान पुन: आकर्षित हुआ। १९३१ ई० में आर० एफ० काहन (R. F. Kahn) ने *Economic Journal* पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में, जिसका शीर्षक *"The Relation of Home Investment to Unemployment"* था, रोजगार गुणक प्रक्रिया का सविस्तार विश्लेषण प्रस्तुत किया था। अपने इस लेख में काहन ने उन्हीं विचारों का प्रतिपादन किया था जिनका प्रतिपादन जोहानसेन ने १९०३ ई० में किया था। दोनों लेखकों के विश्लेषणों में केवल यह अन्तर था कि जबकि जोहानसेन ने गुणक का अध्ययन अवस्फीति-प्रक्रिया (deflationary process) के अन्तर्गत किया था, काहन का अध्ययन स्फीति-प्रक्रिया (inflationary process) से सम्बद्ध था। परन्तु गुणक सिद्धान्त के अध्ययन तथा इसके आर्थिक महत्व की ओर अर्थशास्त्रियों का विशेष ध्यान उस समय आकर्षित हुआ जब कीन्स ने १९३६ ई० में प्रकाशित अपनी *General Theory of Employment, Interest and Money* शीर्षक पुस्तक में इसे अपने सिद्धान्तों की व्याख्या का एक सम्पूर्ण अंग बनाया था। तत्पश्चात् गुणक का अध्ययन अर्थशास्त्रियों का विशेष अध्ययन विषय बन गया तथा इन अध्ययनों के परिणामस्वरूप गुणक सिद्धान्त का काफी विकास हुआ है। फ्रिज मेचलुप (Fritz Machlup); गार्डनर एक्ले (Gardner Ackley); रिचार्ड गुडविन (Richard Goodwin) तथा शेकिल (G. L. S. Shackle) ने अपने लेखनकार्यों द्वारा गुणक सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक विवादास्पद समस्याओं का अध्ययन किया है। कीन्स की पुस्तक के प्रकाशन के लगभग तीस वर्ष पश्चात् आज भी इस विषय पर विवाद जारी है। कीन्स ने गुणक की व्याख्या अपनी पुस्तक के दसवें अध्याय में की है।

काहन के रोजगार गुणक (employment multiplier) के विचार से कीन्स ने निवेश गुणक (investment multiplier) का विचार प्राप्त किया है। *General Theory* में कीन्स ने निवेश गुणक को k का नाम दिया है तथा इसकी परिभाषा इस प्रकार की है "यह (गुणक) हमको यह बतलाता है कि जब कुल निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है तब इस वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल आय में वृद्धि होती है जो कुल निवेश में हुई वृद्धि की k गुना होती है।"[2] अपने गुणक को काहन के गुणक से भिन्न बताते हुए कीन्स ने लिखा है कि "श्री काहन का गुणक इस (मेरे गुणक) से थोड़ा भिन्न है क्योंकि उनका गुणक रोजगार-गुणक है, तथा इसको हम

2. "Let us call k the *investment multiplier*. It tells us that when there is an increment of aggregate investment, income will increase by an amount which is k times of the increment of investment." (Keynes : *General Theory*, p. 115.)

k' शब्द चिन्ह से सम्बोधित कर सकते हैं। यह गुणक निवेश उद्योगों में आरम्भिक रोजगार की मात्रा में वृद्धि होने के फलस्वरूप कुल रोजगार की मात्रा में हुई वृद्धि की माप करता है। अतः यदि, निवेश में $\triangle I\omega$ मात्रा की वृद्धि होने के फलस्वरूप निवेश उद्योगों में प्राथमिक रोजगार (primary employment) की मात्रा में कुल $\triangle N_2$ की वृद्धि होती है तो कुल रोजगार की मात्रा में होने वाली वृद्धि ($\triangle N$) प्राथमिक रोजगार की मात्रा में हुई वृद्धि ($\triangle N_2$) का k' गुना होगी, अर्थात् $\triangle N = k' \triangle N_2$.

k तथा k' के मध्य परस्पर समानता होना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि भिन्न उद्योगों के कुल पूर्ति वक्रों के ढाल इस प्रकार के होंगे कि रोजगार वृद्धि तथा माँग वृद्धि, जिसके परिणामस्वरूप रोजगार में वृद्धि हुई है, के मध्य भिन्न उद्योगों में समान अनुपात होगा। वास्तव में ऐसी स्थितियों की कल्पना की जा सकती है—उदाहरणार्थ जब सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति औसत प्रवृत्ति से बहुत भिन्न है—जिनमें उपभोग वस्तुओं तथा निवेश वस्तुओं की मांगों में भिन्न आनुपातिक परिवर्तन होने के कारण $\frac{\triangle Y\omega}{\triangle N}$ तथा $\frac{\triangle I\omega}{\triangle N_2}$ के मध्य कुछ असमानता होगी।.... परन्तु विचारों को सरल रूप म व्यक्त करने के हेतु उस सरल स्थिति की कल्पना की जा सकती है जिसमें $k = k'$।"[3]

निवेश गुणक, जो निवेश में हुए आरम्भिक परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप आय में हुये कुल परिवर्तन का अनुपात $\left(\frac{\triangle Y}{\triangle I}\right)$ है सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति से इस विशेष प्रकार सम्बन्धित है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति अधिक होने पर गुणक ऊँचा होगा तथा इसके कम होने की स्थिति में गुणक कम होगा। गुणक तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के मध्य यह विशेष सम्बन्ध होने के कारण यहाँ उपभोग प्रवृत्ति की संक्षिप्त व्याख्या करना उपयुक्त होगा।

उपभोग प्रवृत्ति

कोन्स के विचारानुसार उपभोग प्रवृत्ति मजदूरी इकाइयों के रूप में व्यक्त किसी दी हुई स्थिर कुल आय $Y\omega$ तथा इस आय के समक्ष कुल उपभोग खर्च $C\omega$ के मध्य एक स्थिर अनुपात X है तथा इसको निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

$$C\omega = X(Y\omega)$$ [4]

यद्यपि कीन्स ने उपभोग प्रवृत्ति को प्रभावित करने वाले अनेक व्यक्तिपरक (subjective) तथा वस्तुपरक (objective)[5] कारणों की व्याख्या की है परन्तु कीन्स के विचारानुसार उपभोग

3. J.M. Keynes : op.cit., pp. 115-16.
4. J.M. Keynes : op. cit., p. 90.
5. कीन्स ने उपभोग पर प्रभाव डालने वाले वस्तुपरक कारणों की व्याख्या अपनी पुस्तक *General Theory* के आठवें अध्याय में की है। ये कारण निम्नलिखित हैं।
(१) मजदूरी इकाई में परिवर्तन; (२) कुल आय तथा शुद्ध आय के मध्य अन्तर में परिवर्तन; (२) पूँजी के मूल्य में होने वाले वे आकस्मिक परिवर्तन जिनको शुद्ध आय का अनुमान लगाते समय शामलि नहीं किया जाता है; (४) समय की बट्टा-कटौती दर, अथवा वर्तमान

(फुटनोट २५६ पर देखो)

प्रवृत्ति प्रमुख रूप से वास्तविक आय द्वारा निर्धारित होती है। समस्त उपभोग को समस्त आय से विशेष रूप से सम्बन्धित बताते हुए कीन्स ने लिखा है कि "जब कि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्य कारणों का भी समस्त मांग के उपभोग भाग को निर्धारित करने में महत्व हो सकता है यह सत्य है कि वह प्रमुख कारण जिस पर कुल उपभोग आश्रित होता है समस्त वास्तविक आय है।"[6]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपभोग प्रवृत्ति कुल वास्तविक उपभोग तथा कुल वास्तविक आय के मध्य परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करती है। यह सम्बन्ध उपभोग वक्र द्वारा, जो यह बतलाता है कि, अन्य बातें समान रहते हुये, कुल आय में परिवर्तन होने के हेतु कुल उपभोग में स्थिर अनुपात में परिवर्तन होते हैं, व्यक्त किया जा सकता है। चित्र १४·१ में CC उपभोग मांग वक्र कुल वास्तविक आय तथा कुल वास्तविक उपभोग के मध्य सम्बन्ध का द्योतक है। यह वक्र यह ज्ञान प्रदान करता है कि यदि कुल आय में किसी दिये हुये अनुपात में परिवर्तन होता है तो इसके परिणामस्वरूप कुल उपभोग में भी स्थिर आनुपातिक परिवर्तन कुल उपभोग वक्र CC के ढाल के अनुसार होगा। जैसा कि चित्र से विदित है यदि कुल आय OY_1 है तो कुल उपभोग OC_1 है। परन्तु जब कुल आय OY_1 से बढ़कर OY_2 हो जाती है तब कुल उपभोग भी OC_1 से बढ़कर OC_2 हो जाता है। इसी प्रकार जब कुल आय OY_1 से घटकर OY_3 हो जाती है तब कुल उपभोग भी OC_1 से घटकर OC_3 हो जाता है। अन्य बातों के समान न रहने पर CC वक्र की स्थिति में परिवर्तन हो जावेगा।

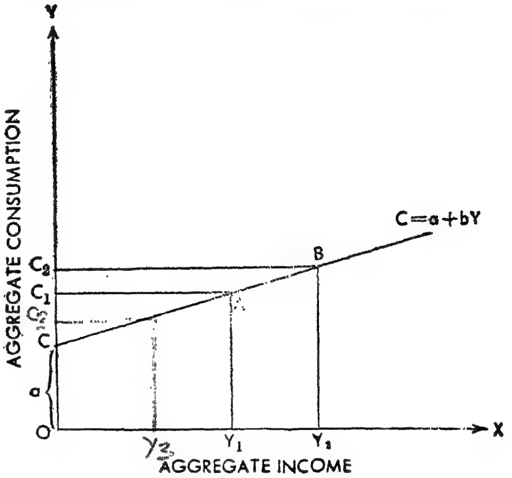

चित्र १४·१

(पेज २५५ का फुटनोट देखिये)

तथा भविष्य पदार्थों के विनिमय अनुपात में परिवर्तन; (५) राज्यकोषीय नीति में परिवर्तन; तथा (६) वर्तमान तथा भविष्य आय के सम्बन्ध सम्बन्धी आशंसाओं में परिवर्तन। उपभोग पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तिपरक कारणों की व्याख्या कीन्स ने पुस्तक के नवें अध्याय में की है तथा ये कारण निम्नलिखित हैं।

(१) आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन का निसंचय करने हेतु; (२) अपनी अथवा अपने परिवार की आवश्यकताओं तथा आय सम्बन्धी उस अनुमानित सम्बन्ध, जो आय तथा आवश्यकताओं के वर्तमान सम्बन्ध से भिन्न है, का प्रबन्धन करने के हेतु; (३) ब्याज तथा परिसम्पति में मूल्य-वृद्धि को प्राप्त करने हेतु; (४) शनैः शनैः बढ़ते हुये खर्च की पूर्ति करने हेतु; (५) स्वाधीनता तथा शक्ति की भावनाओं की पूर्ति करने हेतु; (६) व्यापार करने अथवा सट्टेबाजी के उद्देश्य की पूर्ति करने हेतु; (७) धन कीं वसीयत करने के हेतु; तथा (८) केवल कंजूसीपन के हेतु।

6. "For whilst the other factors are capable of varying (and this must not be forgotten) the aggregate income measured in terms of the wage.unit is as a rule, the principal variable upon which the consumption constituent of the aggregate demand function will depend." (*op. cit.*, p.96.)

उपभोग प्रवृत्ति की व्याख्या करने के सम्बन्ध में कीन्स ने औसत उपभोग प्रवृत्ति (Average Propensity to Consume) तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume) का प्रयोग किया है। औसत उपभोग प्रवृत्ति (इसको हम APC संकेत करेंगे) कुल उपभोग तथा कुल आय का अनुपात है। उदाहरणार्थ, यदि कुल वास्तविक आय ८०० इकाई है तथा कुल वास्तविक उपभोग ६०० इकाई है तो औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC) $\frac{६००}{८००}$ अथवा ०·७५ होगी। यदि हम कुल आय को Y तथा कुल उपभोग को C से संकेत करें तो APC अथवा औसत उपभोग प्रवृत्ति $\frac{C}{Y}$ होगी। चित्र १४·१ में जब कुल आय OY_1 है तब इस आय के समक्ष कुल उपभोग OC_1 है तथा इस कारण औसत उपभोग प्रवृत्ति $\frac{OC_1}{OY_1}$ है। OY_2 वास्तविक आय के समक्ष औसत उपभोग प्रवृत्ति $\frac{OC_2}{OY_2}$ है तथा OY_3 आय के समक्ष औसत उपभोग प्रवृत्ति $\frac{OC_3}{OY_3}$ है।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (इसे हम MPC कहेंगे) कुल आय में हुये इकाई परिवर्तन[7] तथा इस परिवर्तन के हेतु कुल उपभोग में हुये परिवर्तन का अनुपात है। जब कि औसत उपभोग प्रवृत्ति का सम्बन्ध कुल आय तथा कुल उपभोग से है सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का सम्बन्ध आय तथा उपभोग में परिवर्तनों से है। उदाहरणार्थ, जब कुल आय ८०० से बढ़कर ८०१ हो जाती है तथा कुल आय में हुई इस वृद्धि के हेतु कुल उपभोग की मात्रा ६०० से बढ़कर ६००·७ हो जाती है तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) कुल उपभोग में हुई वृद्धि (६००·७—६००) तथा कुल आय में हुई वृद्धि (८०१—८००) का अनुपात $\frac{०·७}{१}$ अथवा ०·७ होगी। यदि हम परिवर्तन को यूनानी भाषा के चिन्ह $\triangle$ अथवा अंग्रेजी भाषा के शब्द d से संकेत करें तो हम MPC को $\frac{\triangle C}{\triangle Y}$ अथवा $\frac{dC}{dY}$ द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। चित्र १४·१ में $MPC = \frac{C_1C_2}{Y_1Y_2}$। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को चित्र १४·२ द्वारा व्यक्त किया गया है।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\left(\frac{dC}{dY}\right)$ शून्य से अधिक तथा एक से कम होती है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की ये दो विशेषताएँ--इसका शून्य से अधिक तथा एक से कम होना—

7. गणितीय भाषा में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति कुल आय में हुये अनन्तसूक्ष्म परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप कुल उपभोग में हुये परिवर्तन का अनुपात है। इस कारण
$$MPC = \triangle C/\triangle Y$$

उपभोग सम्बन्धी अनुभव पर आधारित हैं। प्रथम, जब तक कुल आय में वृद्धि होने पर कुल उपभोग में भी वृद्धि होती है तब तक सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति शून्य से अधिक होगी। दूसरे शब्दों में, जब तक हम यह न कल्पना करें कि उपभोक्ताओं की आय बढ़ने पर उपभोग व्यय स्थिर रहता है अथवा इसमें पहिले की तुलना में कमी हो जाती है तब तक MPC शून्य अथवा ऋणात्मक नहीं हो सकती। दूसरे, जब तक उपभोग आय में हुई सम्पूर्ण वृद्धि (अथवा कमी) के बराबर में नहीं बड़ता है तब तक MPC एक से कम होगी। उपभोग सम्बन्धी अनुभव इसकी भली प्रकार पुष्टि करता है कि आय में परिवर्तन होने के हेतु उपभोग में परिवर्तन न तो शून्य होता है तथा न ही यह परिवर्तन आय में हुये परिवर्तन के समान होता है। कुल उपभोग में जो परिवर्तन होता है वह इन दोनों सीमाओं की अपेक्षाकृत कम होता है। इस से हम इस निकर्ष को प्राप्त होते हैं कि MPC एक से कम परन्तु शून्य से अधिक होती है, अर्थात् :

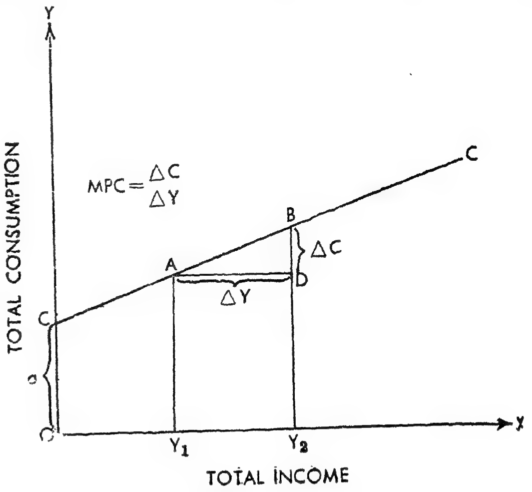

चित्र १४·२

$$1 > MPC > 0$$

चित्र १४·२ में MPC की माप $\frac{\Delta C}{\Delta Y}$ द्वारा, जो उपभोग माँग वक्र CC का ढाल है, की जा सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति उपभोग माँग वक्र का ढाल होती है।

औसत तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्तियों में सम्बन्ध

औसत तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्तियों के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध है। वह दर जिस पर कुल आय में परिवर्तन होने के हेतु कुल उपभोग में परिवर्तन होते हैं, कुल उपभोग तथा कुल आय के मध्य अनुपात में परिवर्तन उत्पन्न करके औसत उपभोग प्रवृत्ति पर प्रभाव डालती है। यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि होती है तो औसत उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि होती है तथा सीमान्त उपभोग प्रवृति में कमी होने पर औसत उपभोग प्रवृत्ति में भी कमी होती है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि औसत उपभोग प्रवृति में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की अपेक्षाकृत कम वृद्धि अथवा कमी होती है। यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर होती है तो औसत उपभोग प्रवृत्ति भी स्थिर होती है। औसत तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्तियों में वही सम्बन्ध है जो कीमत सिद्धान्त में औसत लागत (अथवा आय) तथा सीमान्त लागत (अथवा आय) में है।

परन्तु इस नियम का कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर होने पर औसत उपभोग प्रवृत्ति भी स्थिर होती है एक अपवाद है। जब सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर होती है तब उपभोग वक्र रेखीय होता है। औसत उपभोग प्रवृत्ति केवल तभी स्थिर होगी जब उपभोग वक्र अक्षों के आरम्भ अथवा निकास बिन्दु से होकर गुजरता है, अर्थात जब शून्य आय के समक्ष उपभोग शून्य होता है।

जब उपभोग वक्र यद्यपि रेखीय होता है परन्तु निकास बिन्दु इस उपभोग वक्र के पथ पर स्थित नहीं होता है तब सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर होते हुये भी औसत उपभोग प्रवृति स्थिर नहीं होगी। ऐसी दशा में औसत उपभोग प्रवृत्ति घटती अथवा बढ़ती हुई होगी। यदि उपभोग वक्र समतल अक्ष को निकास बिन्दु O के बाईं ओर काटता है तो इसका अर्थ यह है कि शून्य आय के समक्ष उपभोग धनात्मक है—शून्य आय पर औसत उपभोग प्रवृत्ति अनन्त होगी—तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति गिरती हुई होगी यद्यपि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर है। यदि उपभोग वक्र समतल अक्ष को निकास बिन्दु O के दांई ओर काटता है तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर होते हुये भी औसत उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती हुई होगी। दोनों दशाओं में आय में वृद्धि होने के साथ औसत उपभोग प्रवृत्ति सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के समीप आती जावेगी।

चित्र १४·३ (A); १४·३ (B) तथा १४·३ (C) क्रमश: स्थिर सीमान्त उपभोग प्रवृति तथा स्थिर, घटती तथा बढ़ती औसत उपभोग प्रवृति को व्यक्त करते हैं। चित्र १४·३ (A) में, जहाँ उपभोग वक्र दोनों अक्षों के निकास बिन्दु से होकर गुजरता है, सीमान्त तथा औसत उपभोग प्रवृत्तियाँ परस्पर समान तथा स्थिर हैं, अर्थात $APC=MPC=b$; चित्र १४·३ (B) में, जहाँ उपभोग वक्र आय-अक्ष को निकास बिन्दु O के बांई ओर काटता है यद्यपि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर है परन्तु औसत उपभोग प्रवृत्ति गिरती हुई तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति से अधिक है, अर्थात $APC>MPC=b$; तथा चित्र १४·३ (C) में, जहाँ उपभोग वक्र आय-अक्ष को निकास बिन्दु O के दाहिनी ओर काटता हैं औसत उपभोग प्रवृत्ति स्थिर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति से कम है, अर्थात् $APC<MPC=b$। इस प्रकार चित्र १४·३ (B) तथा चित्र १४·३ (C) में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति में परस्पर असमानता है यद्यपि आय तथा उपभोग में वृद्धि होने के साथ-साथ यह असमानता घटती जाती है। इस से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि यदि औसत उपभोग प्रवृत्ति स्थिर है तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति भी स्थिर होगी। परन्तु इसका विपरीत यह निष्कर्ष आवश्यक रूप से सत्य नहीं है कि यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर है तो औसत उपभोग प्रवृत्ति भी स्थिर होगी।

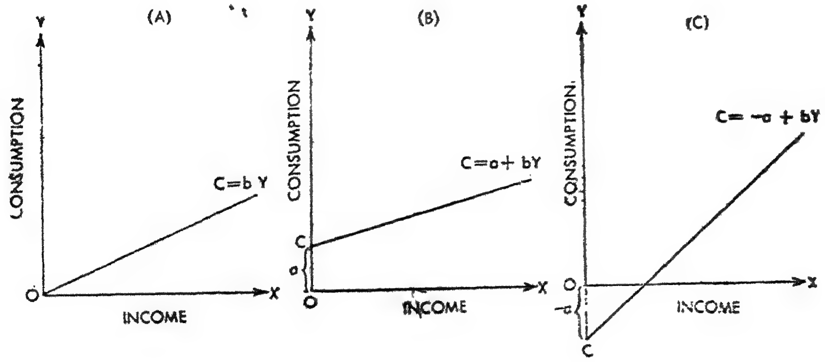

चित्र १४·३

कीन्स के अनुसार उपभोग तथा आय के मध्य स्थिर सम्बन्ध है तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति शून्य से अधिक तथा एक से कम होती है। परन्तु कीन्स ने स्पष्टतया यह नहीं बताया कि इन दोनों सीमाओं के मध्य सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की सही प्रकृति क्या होती है। दूसरे शब्दों

में, केवल इतना बताने से कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति शून्य से अधिक तथा एक से कम होती है, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि धनात्मक तथा एक से कम होते हुये यह स्थिर हो सकती है, गिरती हुई हो सकती है अथवा बढ़ती हुई भी हो सकती है। परन्तु कीन्स के वर्णन में यह अवक्षेप ध्वनित है[8] कि अल्पावधि में, जब उपभोक्ताओं की आदतों में वस्तुपरक परिस्थितियों में परिवर्तनों के अनुकूल परिवर्तन नहीं हो पाते हैं, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर नहीं होती हैं। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि कीन्स ने लिखा है कि सामयिक चढ़ाव (cyclical upswing) की अवधि में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति गिरती हुई तथा सामयिक उतार के समय में बढ़ती हुई होगी यद्यपि दोनों अवस्थाओं में यह एक से कम होगी। इस कथन की कि सामयिक अथवा चक्रीय सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर नहीं होती है तथा सामयिक उतार-चढ़ाव के समय बढ़ती घटती रहती है प्रोफेसर आल्विन एच० हैनसन ने पुष्टि की है। हैनसन के विचारानुसार सामयिक रूप से कुल बचत कुल आय के प्रतिशत के रूप में कुल आय में वृद्धि तथा कमी होने के साथ बढ़ती तथा घटती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कीन्स का यह भ्रम था कि अधिक धनी समुदायों में दीर्घावधि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति गिरने लगती है क्योंकि कीन्स ने लिखा है कि "धनी समुदाय में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति नीची ही नहीं होती है बल्कि पूँजी संचय (अथवा बचत) अधिक होने के कारण अधिक निवेश क्रियायें उस समय तक आकर्षक प्रतीत नहीं होती है जब तक ब्याज की दरों में काफी तीव्र कमी नहीं होती है।"[9] परन्तु जैसा कि हैनसन ने कहा है यह सदा आवश्यक नहीं है कि धनी समुदाय की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति नीची होगी।[10]

कीन्स-पश्चात आर्थिक साहित्य में यह व्यक्त किया गया है कि दीर्घावधि अथवा स्थाई कुल आय तथा दीर्घावधि अथवा स्थाई कुल उपभोग के मध्य स्थिर आनुपातिक सम्बन्ध होता है जो स्थिर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। परन्तु अल्पावधि में कुल आय तथा कुल उपभोग के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि क्षणिक अथवा अस्थाई कुल उपभोग तथा क्षणिक अथवा अस्थाई कुल आय के मध्य स्थिर सम्बन्ध नहीं होता है। अनेक अध्ययनों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि कुल उपभोग तथा कुल आय के मध्य मौलिक सम्बन्ध आनुपातिक होता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री साईमन कुजनेटिस के राष्ट्रीय आय तथा कुल उपभोग व्यय सम्बन्धी प्रसिद्ध अध्ययन के अनुसार दीर्घावधि औसत उपभोग प्रवृत्ति (तथा इस कारण सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति भी) स्थिर थी तथा इसका अंकीय मूल्य ०·८६ के लगभग था।

१९५७ ई० में प्रकाशित अपने *A Theory of the Consumption Function* शीर्षक लेखनकार्य में मिल्टन फ्रीडमेन ने यह सिद्ध किया है कि स्थाई कुलउपभोग तथा स्थाई कुल आय

8. J.M. Keynes : op. cit., p.97, first para.
9. *Op cit*, p. 31.
10. प्रोफेसर हैनसन के विचारानुसार कीन्स ने उपभोग वक्र के स्तर तथा उपभोग वक्र के ढ़ाल को समझने में भूल की है। अत्याधिक दरिद्र समुदाय अपनी पूर्ण रोजगार आय के बहुत कम प्रतिशत भाग की बचत (तथा निवेश) करते हैं, इस कारण इन समुदायों की औसत बचत प्रवृत्ति बहुत नीची होती है। धनी तथा विकसित समुदाय अथवा राष्ट्र पूर्ण रोजगार आय के अधिक प्रतिशत भाग की बचत (तथा निवेश) करते हैं। इस कारण इनकी औसत बचत प्रवृत्ति अधिक अथवा ऊँची होती है। परन्तु इस कथन से यह निष्कर्ष आवश्यक रूप से प्राप्त नहीं होता है कि धनी समुदायों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति दरिद्र समुदायों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की तुलना में कम होती है। यह केवल तभी संभव है जब उपभोग वक्र रेखावंत होते हैं तथा अक्षों के निकास बिन्दु से आरम्भ होते हैं। ऐसा हो भी सकता है अथवा नहीं भी। कीन्स ने सीमान्त तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति के मध्य भेद न करने में भूल की है।

के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि दीर्घावधि कुल उपभोग वक्र औसत उपभोग प्रवृत्ति तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के मध्य समानता को व्यक्त करता है। फ्रीडमेन ने यह भी बताया है कि किसी एक दी हुई समय अवधि (अल्पावधि) में कुल वास्तविक उपभोग तथा कुल वास्तविक आय के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होती है क्योंकि अल्पावधि की वास्तविक आय तथा वास्तविक उपभोग अस्थाई तथा क्षणिक तत्व होते हैं तथा ये क्षणिक तत्व इस प्रकार आनुपातिक रूप में परस्पर सम्बन्धित नहीं होते हैं जिस प्रकार कि स्थाई कुल आय तथा स्थाई कुल उपभोग परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

चित्र १४·४ में OC स्थाई उपभोग वक्र है जो औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC) तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) के मध्य समानता व्यक्त करता है। यह वक्र स्थाई कुल आय तथा स्थाई कुल उपभोग के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध व्यक्त करता है। C′C′ अल्पावधि उपभोग

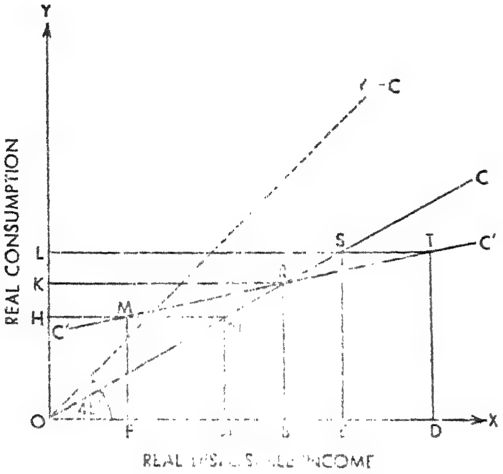

चित्र १४·४

वक्र है जो किसी एक दी हुई अल्प समय अवधि में कुल वास्तविक आय तथा कुल वास्तविक उपभोग के मध्य सम्बन्ध व्यक्त करता है। इस वक्र से यह स्पष्ट है कि औसत उपभोग प्रवृत्ति सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की अपेक्षाकृत अधिक है (APC > MPC)। जब औसत दीर्घावधि आय OB है तब क्षणिक आय तत्व शून्य है तथा औसत स्थाई अथवा दीर्घावधि उपभोग OK (=BR) है जो अल्पावधि उपभोग के समान है। OB आय में क्षणिक तत्व शून्य है क्योंकि R बिन्दु दीर्घावधि उपभोग वक्र OC तथा अल्पावधि उपभोग वक्र C′C′ पर स्थित है। परन्तु जब कुल आय OA है तब वास्तविक अथवा अस्थाई कुल उपभोग की मात्रा OH है जो केवल OF स्थाई आय के समक्ष सम्भव हो सकता है। OA स्थाई आय के समक्ष स्थाई उपभोग की मात्रा केवल OH(=AN) हो सकती थी। हम यह जानते हैं कि स्थाई उपभोग तथा स्थाई आय के मध्य स्थिर आनुपातिक सम्बन्ध होता है। कुल आय राशि OF होते हुये कुल उपभोग का OF स्तर पर बना रहना इस सम्भावना का प्रतीक है किसी कारण से परिवारों की आयों में अस्थाई कमी हो गई है तथा इसकी ओर वे ध्यान नहीं देते हैं क्योंकि अपने कुल उपभोग को अपनी वार्षिक आय, जिसमें काफी मात्रा में अस्थाई क्षणिक तत्व उपस्थित हो सकते हैं, द्वारा निर्धारित न करके वे इसे अपनी दीर्घावधि औसत आय द्वारा निर्धारित करते हैं। चित्र में FA अल्पावधि अथवा वर्तमान तथा स्थाई आय

के अन्तर की माप करता है तथा वर्तमान आय में ऋणात्मक क्षणिक अथवा अस्थाई तत्व की उपस्थिति का द्योतक है।

जेम्स एस० ड्यूजनबरी (James S. Duesenberry) ने भी १९४९ ई० में प्रकाशित[11] अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि दीर्घावधि में कुल आय तथा कुल उपभोग में आनुपातिक सम्बन्ध है। ड्यूजनबरी के विचारानुसार दीर्घावधि में कुल उपभोग में कुल आय में हुये परिवर्तनों के समान अनुपात में परिवर्तन होते हैं। परन्तु व्यापार चक्र की अल्पावधि में कुल आय तथा कुल उपभोग के मध्य यह सम्बन्ध आनुपातिक न होकर अनआनुपातिक होता है। व्यापार चक्र की चढ़ाव अवस्था में कुल उपभोग में कुल आय में हुई वृद्धि की तुलना में कम अनुपात में वृद्धि हो पाती है। इसके विपरीत व्यापार चक्र की उतार अवस्था में कुल उपभोग में कुल आय में हुई कमी की तुलना में कम अनुपात में कमी होती है। उदाहरणार्थ, यदि कुल आय में ५० प्रतिशत की वृद्धि अथवा कमी होती है तो कुल उपभोग में समान प्रतिशत की वृद्धि अथवा कमी न होकर यह वृद्धि अथवा कमी इससे कम प्रतिशत में होती है—उपभोग में वृद्धि अथवा कमी ५० प्रतिशत न होकर केवल ३० प्रतिशत हो सकती है। व्यापार चक्र की अल्पावधि में कुल आय में किसी दिये हुये अनुपात में परिवर्तन होने के हेतु कुल उपभोग में समान आनुपातिक परिवर्तन न होने का कारण यह है कि कुल उपभोग वर्तमान आय के अतिरिक्त पूर्वावधि की अधिकतम आय द्वारा भी प्रभावित होता है।

ड्यूजनबरी ने इस घटना को **'ratchet effect'** का नाम दिया है। परिणामस्वरूप जब मन्दीकाल में उपभोक्ताओं की कुल आय में कमी होती है तब कुल उपभोग में कुल आय की अपेक्षाकृत कम कमी होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वर्तमान कुल आय के अतिरिक्त कुल उपभोग पूर्वावधि की अधिकतम आय द्वारा भी निर्धारित होता है। जब वर्तमान मन्दी के पूर्व अवधि में कुल आय अधिक होगी तो यह अधिक आय कुल उपभोग को बृद्धि की ओर खींचती हैं तथा ऐसा होने से कुल उपभोग पर वर्तमान कम आय में गिरावट का प्रभाव कुछ नष्ट हो जाता है। परिणामस्वरूप मन्दी काल में कुल आय में कमी होने के हेतु कुल उपभोग में कमी तो होती है परन्तु यह कमी कुल आय में हुई कमी की अपेक्षाकृत कम होती है।

कुल उपभोग तथा कुल आय के मध्य दीर्घावधि तथा अल्पावधि सम्बन्ध चित्र १४·५ (A).

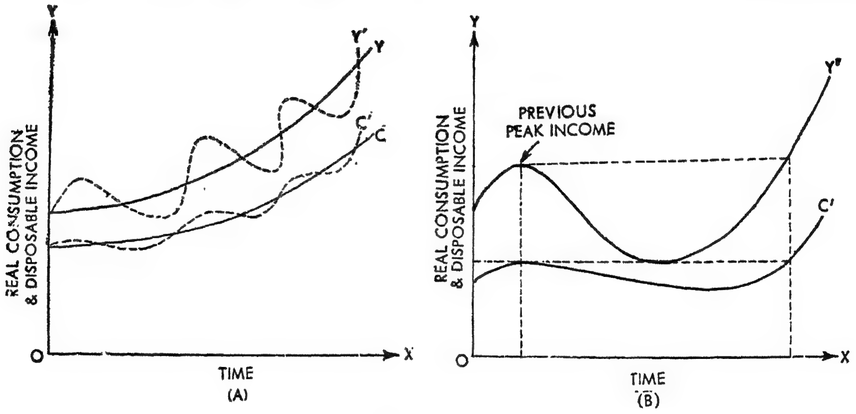

चित्र १४·५

11. James S. Duesenberry : *Income, Saving and the Theory of Consumer Behaviour* (Harvard University Press, 1949)

तथा चित्र १४·५ (B) द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। चित्र १४·५ (A) के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कुल आय तथा कुल उपभोग में हुये दीर्घावधि परिवर्तनों में समानता है तथा कुल उपभोग में उसी अनुपात में परिवर्तन होते हैं जिस अनुपात में कुल आय में परिवर्तन होते हैं। परन्तु चित्र १४·५ (B) से ज्ञात होता है कि अल्पावधि में कुल उपभोग तथा कुल आय के मध्य इस आनुपातिक सम्बन्ध में अस्त-व्यस्तता आ जाती है। जैसा कि कुल आय वक्र YY तथा कुल उपभोग वक्र CC से विदित है कुल आय में किसी दिये हुये अनुपात में वृद्धि अथवा कमी होने पर कुल उपभोग में तुलनात्मक कम वृद्धि अथवा कमी होती है।[12]

गुणक (Multiplier)

गुणक तथा उपभोग के मध्य इस प्रकार का विशेष सम्बन्ध है कि यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) ऊँची होती है तो गुणक भी ऊँचा अथवा अधिक होता है तथा यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति कम होती है तो गुणक भी कम होता है। गुणक प्रत्यक्ष रूप से सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होता है तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का अंकीय मूल्य ज्ञात होने पर गुणक के अंकीय मूल्य को निम्नलिखित समीकरण द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

$$k = \frac{१}{१ - \frac{\triangle C}{\triangle Y}}$$

उपरोक्त समीकरण में k गुणक तथा $\frac{\triangle C}{\triangle Y}$ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के चिन्ह हैं।

समीकरण से ज्ञात होता है कि गुणक का अंकीय मूल्य एक में से सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के अंकीय मूल्य को घटाने के पश्चात् प्राप्त शेषफल का उल्टा होता है। उदाहरणार्थ, यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ०·८ है तो गुणक (k) का अंकीय मूल्य $\frac{१}{१ - ०·८}$ अथवा ५ होगा।

गुणक को सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) द्वारा भी ज्ञात किया जा सकता है। अतिरिक्त आय के जिस भाग को अतिरिक्त उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता है उसे बचाया जाता है। इस प्रकार सीमान्त बचत प्रवृत्ति अतिरिक्त आय ($\triangle Y$) तथा अतिरिक्त उपभोग ($\triangle C$) के अन्तर ($\triangle Y - \triangle C$) तथा अतिरिक्त आय ($\triangle Y$) का अनुपात होती है। सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) को निम्नलिखित समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

---

12. कुछ अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार, जिनमें आर्थर स्मीथीज (Arthur smithies) तथा जेम्स टोबिन (James Tobin) के नाम उल्लेखनीय हैं, दीर्घावधि आय तथा दीर्घावधि उपभोग के मध्य अनआनुपातिक सम्बन्ध है। इन अर्थशास्त्रियों के विचारों का व्यापक अध्ययन करने के लिये इनके निम्नलिखित लेखों को पढ़िये।
    1. Arthur Smithies : "Forecasting Postwar Demand : I", in *Econometrica*, January 1945.
    2. James Tobin : "Relative Income, Absolute Income, and Saving," in *Money Trade, and Economic Growth*, Macmillan & Co. 1951

$$\text{MPS}\left(\frac{\triangle S}{\triangle Y}\right)=\frac{\triangle Y-\triangle C}{\triangle Y}$$

$$=\frac{\triangle Y}{\triangle Y}-\frac{\triangle C}{\triangle Y}$$

$$=१-\frac{\triangle C}{\triangle Y}$$

परन्तु $\frac{\triangle C}{\triangle Y}$ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति है। इस प्रकार गुणक के समीकरण

$k=\frac{१}{१-\frac{\triangle C}{\triangle Y}}$ में हम $१-\frac{\triangle C}{\triangle Y}$ के स्थान पर सीमान्त बचत प्रवृत्ति, $\frac{\triangle S}{\triangle Y}$ जिसके लिये हम s चिन्ह् का प्रयोग कर सकते हैं, का स्थानापन्न कर सकते हैं। $१-\frac{\triangle C}{\triangle Y}$ के स्थान पर s लिखने पर गुणक समीकरण को निम्नलिखित प्रकार लिखा जा सकता है।

$$k=\frac{१}{s}$$

दूसरे शब्दों में, गुणक तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति के मध्य इस प्रकार का सम्बन्ध है कि यदि सीमान्त बचत प्रवृत्ति ऊँची होती है तो गुणक का अंकीय मूल्य कम होता है तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति कम होने की दशा में गुणक का अंकीय मूल्य अधिक होता है। उदाहरणार्थ, यदि सीमान्त बचत प्रवृत्ति $\frac{१}{५}$ अथवा ०·२ है तो गुणक ५ होगा तथा यदि सीमान्त बचत प्रवृत्ति $\frac{४}{५}$ अथवा ०·८ है तो गुणक केवल १·२५ होगा। उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि गुणक तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष तथा सीधा सम्बन्ध है जिसके परिणामस्वरूप ऊँची (अथवा नीची) सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ऊँचे (अथवा नीचे) गुणक की द्योतक होती है। इसके विपरीत गुणक तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति के मध्य प्रत्यक्ष परन्तु उल्टा सम्बन्ध होता है जिसके परिणामस्वरूप ऊँची (अथवा नीची) सीमान्त बचत प्रवृत्ति नीचे (अथवा ऊँचे) गुणक की द्योतक होती है।

यह निष्कर्ष कि गुणक का अंकीय मूल्य $१-\frac{\triangle C}{\triangle Y}$ के अंकीय मूल्य का उल्टा होता है निम्नलिखित समीकरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। कुल वास्तविक आय कुल उपभोग व्यय तथा कुल निवेश व्यय का योग होती है तथा इसे हम निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं।

$$Y=C+I \qquad (१)$$

उपरोक्त समीकरण में Y, C तथा I क्रमशः कुल आय, उपभोग तथा निजी व लोक क्षेत्रों में कुल निवेश को व्यक्त करते हैं। आगे चलकर हम इस कुल निवेश को निजी तथा सरकारी निवेश में विभाजित करेंगे। उपभोग तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन से यह विदित है

कि कुल उपभोग तथा कुल आय के मध्य स्थिर सम्बन्ध है तथा यह सम्बन्ध सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति, जो धनात्मक परन्तु एक से कम होती है, द्वारा निर्धारित होता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को c द्वारा व्यक्त करने पर कुल उपभोग कुल आय द्वारा निम्नलिखित प्रकार सम्बन्धित होगा।

$$C=cY \quad (२)$$

समीकरण (१) में C के स्थान पर cY लिखने से वह समीकरण निम्नलिखित समीकरण (३) का रूप धारण कर लेता है।

$$Y=cY+I \quad (३)$$

$$Y-cY=I$$

$$Y\ (१-c)=I$$

$$\therefore \quad Y=\frac{I}{१-c}$$

इसमें c का अंकीय मूल्य एक से कम तथा शून्य से अधिक है, अर्थात $0<c<१$

अब यदि कुल निवेश में $\triangle I$ राशि की वृद्धि होती है तो इस वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल आय में भी समान मात्रा में वृद्धि हो जावेगी क्योंकि कुल निवेश कुल आय के दो अंगों में से एक है। इस नई कुल आय को हम Y_1 द्वारा व्यक्त कर सकते हैं तथा इस नई कुल आय को निम्नलिखित समीकरण का रूप दिया जा सकता है।

$$Y_1=cY_1+I+\triangle I \quad (४)$$

$$=\frac{I+\triangle I}{१-c} \quad (५)$$

यह ज्ञात करने के लिये कि कुल निवेश में $\triangle I$ राशि की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में कुल आय में कुल कितनी वृद्धि हुई है हमको नई (अधिक) आय में से पुरानी (कम) आय को घटाना चाहिए।

$$Y_1-Y=\triangle Y=\frac{I+\triangle I}{१-c}-\frac{I}{१-c} \quad (६)$$

$$\triangle Y=\frac{I+\triangle I-I}{१-c} \quad (७)$$

$$=\frac{\triangle I}{१-c}=\triangle I\ \frac{१}{१-c} \quad (८)$$

इससे यह सिद्ध होता है कि कुल आय में हुई कुल वृद्धि ($\triangle Y$) कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि ($\triangle I$) का $\frac{१}{१-c}$ गुना होगी। परन्तु $\frac{१}{१-c}$ गुणक k है। इस प्रकार कुल आय में हुई वृद्धि कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि का गुणक गुना होती है, अर्थात्

$$\triangle Y=\triangle Ik \quad (९)$$

$$\frac{\triangle Y}{\triangle I}=k$$

इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में केवल एक यही मान्यता है कि c अथवा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का अंकीय मूल्य धनात्मक तथा एक से कम है अर्थात c धनात्मक प्रभाग (fraction) है। दूसरे शब्दों में।

$$१ > c > 0$$

c का अंकीय मूल्य एक से कम तथा शून्य से अधिक होने का अर्थ यह है कि समीकरण (८) में गुणक k का अंकीय मूल्य उतना ही अधिक होगा जितना अधिक c का अंकीय मूल्य १ के समीप होगा। दूसरे शब्दों में जितना अधिक c—सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति—का अंकीय मूल्य होगा उतना ही कम $१-c$ का अंकीय मूल्य होगा तथा गुणक, जो $१-c$ का उल्टा है, का अंकीय मूल्य उतना ही अधिक होगा। c का अंकीय मूल्य शून्य अथवा एक होने की दशा में गुणक का अंकीय मूल्य एक अथवा अनन्त—असीमित-होगा। परन्तु जब तक c का मूल्य शून्य नहीं होता है तब तक गुणक का मूल्य १ से अधिक होता है तथा इस कारण कुल आय में हुई वृद्धि कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि की तुलना में अधिक होती है। दूसरे शब्दों में, कुल आय में वृद्धि कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि का गुणक गुना होती है।

गुणक-क्रिया

परन्तु प्रश्न यह है कि कुल आय में वृद्धि जो कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि का गुणक गुना होती है, किस प्रकार प्राप्त होती है? क्या कुल आय में वृद्धि कुल स्वायत्त निवेश में आरम्भिक वृद्धि होने के तत्काल पश्चात प्राप्त हो जाती है अथवा कुल आय में वृद्धि होने में कुछ समय लगता है? इस सम्बन्ध में हम निम्नलिखित दो प्रकार के गुणकों[13] का वर्णन कर सकते हैं।

(१) एककालिक गुणक (simultaneous multiplier)

(२) अवधि गुणक (period multiplier)

(१) एककालिक गुणक का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि कुल निवेश, कुल उपभोग तथा कुल आय में एक साथ परिवर्तन होते हैं। एककालिक गुणक विश्लेषण की यह मान्यता है कि कुल आय तथा कुल निवेश में एक ही काल में परिवर्तन होते हैं।

कुल आय (Y) कुल उपभोग (C) तथा कुल निवेश (I) व्यय का योग होती है, अर्थात् $Y=C+I$। प्रश्न यह है कि जब कुल निवेश में किसी दी हुई मात्रा ($\triangle I$) में वृद्धि होती है तो इसका कुल आय पर क्या प्रभाव होता है? वास्तविक बचत वास्तविक निवेश के समान होने के कारण, कुल निवेश में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप वास्तविक कुल बचत में भी वृद्धि होनी चाहिये तथा यह वृद्धि कुल निवेश में हुई आरंभिक वृद्धि के समान होनी चाहिये। परन्तु कुल बचत राशि कुल आय राशि तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होती है तथा इस कारण अधिक वास्तविक बचत राशि को प्राप्त करने के लिए कुल वास्तविक आय में इतनी पर्याप्त वृद्धि होना अनिवार्य है कि सीमान्त बचत प्रवृत्ति ($१-MPC$) स्थिर रहते हुये, कुल बचत में कुल निवेश

13. प्रोफेसर हैन्सन ने एक तीसरे प्रकार के गुणक, जिसको उन्होंने तुलनात्मक स्थिरावस्था गुणक (comparative static multiplier) का नाम दिया है, की व्याख्या भी की है। इस प्रकार के गुणक में हम समय अवधि की समस्या से मुक्त रहते हैं तथा विश्लेषण प्रत्याशित (ex-ante) सन्तुलन अवस्था से आरम्भ होकर वास्तविक (ex-post) सन्तुलन अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस गुणक में केवल दो सन्तुलन अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है तथा उस पथ का जिससे होकर सन्तुलन की प्रथम अवस्था सन्तुलन की दूसरी अवस्था को प्राप्त होती है अध्ययन नहीं किया जाता है।

में हुई आरंभिक वृद्धि ($\triangle I$) के समान मात्रा में वृद्धि हो सके। उदाहरणार्थ, यदि सीमान्त बचत प्रवृत्ति ०·२५ है (अर्थात् यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ०·७५ है) तथा यदि कुल निवेश में एक करोड़ रुपये की राशि की वृद्धि होती है तो समस्त आय में $\frac{१}{१-०·७५}$ $\left(=\frac{१}{०·२५}\right)$ अर्थात ४ करोड़ रुपये राशि की वृद्धि होगी तथा आय में इससे कम वृद्धि होने पर समस्त बचत मात्रा में एक करोड़ रुपये की वृद्धि नहीं होगी। इससे यह ज्ञात होता है कि सीमान्त बचत प्रवृत्ति स्थिर रहते हुये, कुल निवेश में किसी दी हुई मात्रा ($\triangle I$) में वृद्धि होने के हेतु कुल आय में इतनी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो जाती है कि कुल बचत में कुल निवेश में हुई आरंभिक वृद्धि के समान वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार सीमान्त बचत प्रवृत्ति (अथवा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति) ज्ञात होने पर उस सन्तुलन आय को ज्ञात किया जा सकता है जो कुल निवेश में किसी दी हुई राशि की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप प्राप्त हो सकेगी।

कीन्स का गुणक सिद्धान्त सम्बन्धी अधिकांश वर्णन गुणक के उस सिद्धान्त से सम्बन्धित है जो समय अन्तर की अनुपस्थिति में समय के सभी क्षणों में लागू होता है। कीन्स की पुस्तक *General Theory* के सम्पूर्ण दसवें अध्याय में (केवल चौथे खण्ड को छोड़कर) गुणक की व्याख्या की गई है। गुणक का वर्णन इस आधार पर किया गया है कि कुल निवेश में होने वाले परिवर्तन के सम्बन्ध में पर्याप्त समय के पूर्व अनुमान लगा लिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप उपभोग वस्तु उद्योगों में पूँजी वस्तु उद्योगों के साथ साथ विकास संभव हो पाता है।[14]

तार्किक अथवा एककालिक गुणक सिद्धान्त को, जिसके अन्तर्गत कुल निवेश में किसी दी हुई मात्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल उपभोग में हुई वृद्धि के द्वारा कुल आय में हुई वृद्धि के मध्य कोई समय नहीं लगता है, चित्र १४·७ द्वारा समझाया जा सकता है।

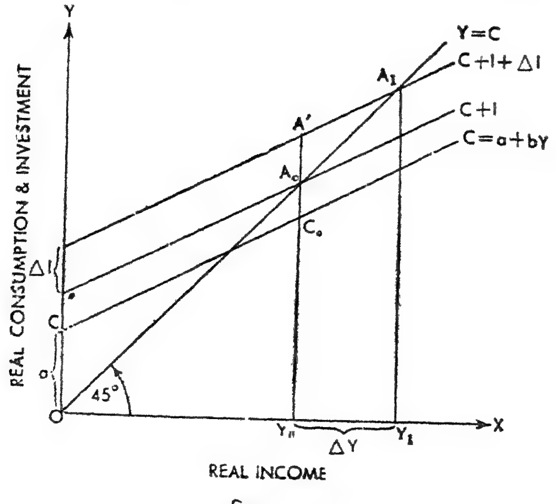

चित्र १४·७

चित्र १४·७ से ज्ञात होता है कि निवेश में वृद्धि होने के पूर्व सन्तुलन आय OY_0 है जो

14. General Theory, p. 122.

कुल उपभोग व्यय C_oY_o तथा कुल निवेश व्यय A_oC_o के योग (AY) के समान है। परन्तु कुल निवेश व्यय में $\triangle I$ मात्रा की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल आय OY_o से बढ़कर OY_1 हो जाती है, अर्थात् कुल आय में $\triangle Y$ ($=Y_oY_1$) मात्रा की वृद्धि होती है जो कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि $\triangle I(=DE)$ का गुणक (k) गुना है।

एककालिक गुणक सिद्धान्त की अनेक कारणों से आलोचना की गई है। कीन्स के विश्लेषण की प्रमुख आलोचना वह मान्यता है जिसके अनुसार कुल उपभोग तथा कुल निवेश में साथ साथ परिवर्तन होते हैं। वास्तविकता यह है कि कुल निवेश में वृद्धि होने के हेतु उत्पादन साधनों के रूप में उद्योगों में सेवाएँ प्रदान करके उपभोक्ताओं की आयों में वृद्धि होने तथा इस वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल उपभोग में वृद्धि होने में समय लगता है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जावे कि कुल उपभोग व्यय में तत्काल वृद्धि हो जाती है जिससे कि कुल निवेश व्यय में वृद्धि होने के हेतु प्राप्त अधिक आय तथा उपभोग वस्तुओं पर अधिक खर्च करने सम्बन्धी निर्णयों के मध्य समय नष्ट नहीं होता है—इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ताओं की आयों में वृद्धि होते ही वे अपने उपभोग खर्च में वृद्धि करने का निर्णय कर लेते हैं—तो भी उपभोग वस्तु उद्योगों पर ऐच्छिक प्रभावों का अनुभव उस समय तक संभव नहीं होगा जब तक यह भी न माना जावे कि उपभोग माँग में होने वाली वृद्धि का अनुमान लगाकर उपभोग वस्तु उद्योगों का विकास भी एक साथ सम्भव हो पाता है। परन्तु वास्तविक गत्यात्मक संसार में, जहाँ संशय पग-पग पर सक्रिय रूप से उपस्थित रहती है, उपभोग वृद्धि का सही अनुमान लगाना अतिकठिन है।

एककालिक गुणक सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी तर्क प्रस्तुत किया गया है कि एककालिक गुणक सिद्धान्त जो समय-अन्तर (period-lag) की समस्या की अनुपस्थिति में समय के प्रत्येक क्षण में निरन्तर लागू होता है उस समय पथ का अध्ययन नहीं करता है जिस पर यात्रा करके एक सन्तुलन आय दूसरी सन्तुलन आय को प्राप्त होती है। इस कारण यह विश्लेषण स्थिर विश्लेषण है। यह विश्लेषण चित्र अथवा बीजगणितीय समीकरण द्वारा हमको केवल इतना बता पाता है कि कुल निवेश की भिन्न निर्धारित मात्राओं के समक्ष, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर रहते हुये, सन्तुलन आय कितनी होगी। यह हमको अर्थव्यवस्था में उत्पन्न होने वाले उन अनेक प्रभावों का, जो अर्थव्यवस्था के एक सन्तुलन अवस्था से हटकर दूसरी सन्तुलन अवस्था को प्राप्त करने की समायोजय प्रक्रिया की अवधि में उत्पन्न होते हैं, ज्ञान प्रदान नहीं करता है। प्रोफेसर हैबरलर ने कीन्स के गुणक सिद्धान्त की आलोचना करते हुये कहा है कि यह एक पुनरुक्ति मात्रा है। हैबरलर के विचारानुसार कीन्स का गुणक सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का दूसरा नाम मात्र है। हैबरलर ने लिखा है कि "गुणक की परिभाषा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के रूप में की गई है। गुणक के स्थान पर हम सदा $\frac{१}{१-\frac{\triangle C}{\triangle Y}}$ को स्थानापन्न कर सकते हैं तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के स्थान पर हम सदा $१-\frac{१}{k}$ को रख सकते हैं। एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

....कीन्स का यह भ्रम गलत है कि यह सम्बन्ध जो परिभाषा पर आधारित है निवेश तथा आय के मध्य हेतुक अथवा वास्तविक सम्बन्ध को व्यक्त करता है।"[15] प्रोफेसर ए० जी० हार्ट ने भी

---

15. G. V. Haberler : *Mr. Keynes' Theory of the Multiplier : A Methodlogical Criticism'*, *Readings Business Cycle Theory, p. 195.*

गुणक के विचार को व्यर्थ बताते हुये लिखा है कि यह गाड़ी के पाँचवें पहिये के समान है तथा इससे हमारे उस ज्ञान में जो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है तनिक भी वृद्धि नहीं होती है।

(२) अवधि गुणक

कुल निवेश व्यय में किसी दी हुई मात्रा आरम्भिक परिवर्तन होने के हेतु कुल आय में तत्काल तथा एक साथ परिवर्तन न होकर परिवर्तन होने में कुछ समय लगता है। दूसरे शब्दों में, कुल निवेश में वृद्धि अथवा कमी होने के फलस्वरूप यद्यपि कुल आय में भी वृद्धि अथवा कमी होती है परन्तु आय में यह वृद्धि अथवा कमी तत्काल न होकर कुछ समय पश्चात होती है। इस कारण गुणक को अवधि विश्लेषण द्वारा सही प्रकार से समझाया जा सकता है। निवेश में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप उपभोग व्यय में वृद्धि तत्काल न होकर कुछ समय पश्चात होती है। इस विचार को हम यह कहकर भी व्यक्त कर सकते हैं कि किसी दी हुई समय अवधि t में होने वाला उपभोग व्यय C_t, अन्य बातें समान रहते हुये, पूर्ववर्ती समय अवधि $_{t-1}$ में प्राप्त आय Y_{t-1} द्वारा निर्धारित होता है, अर्थात्

$$C_t = f\,(Y_{t-1})$$

किसी प्रथम समय अवधि की कुल आय दूसरी समय अवधि में कुल उपभोग को निर्धारित करती है। अवधि गुणक की प्रक्रिया का विश्लेषण हम निम्नलिखित दो मान्यताओं पर आधारित कर सकते हैं।

(१) कुल निवेश में केवल एक बार वृद्धि होती है, अर्थात् प्रत्येक समय अवधि में निवेश वृद्धि के इस क्रम को पुनः दोहराया नहीं जाता है।

(२) कुल निवेश में जो आरम्भिक वृद्धि होती है वह पश्चावर्ती समय अवधियों में निरन्तर होती रहती है।

इस सम्बन्ध में हमारी तीसरी मान्यता यह है कि कुल निवेश में जो वृद्धि होती है वह कुल निवेश के उस भाग से सम्बद्ध है जिसको स्वायत्त निवेश[16] (autonomous investment) कहते हैं। प्रथम स्थिति, जिसमें कुल निवेश में केवल एक बार अथवा एक समय अवधि में वृद्धि होती है, में कुल आय में कुल वृद्धि जो आरंभिक समय अवधि १ से लेकर अन्तिम समय अवधि t तक अनेक समय अवधियों में होगी कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि तथा गुणक के गुणाफल के समान होगी। प्रत्येक पश्चावर्ती समय अवधि में कुल आय में होने वाली वृद्धि कम होती जावेगी तथा t समय अवधि के अन्त में कुल आय में वृद्धि शून्य को प्राप्त हो जावेगी। दूसरे शब्दों में समय अवधि t में सन्तुलन आय निवेश में वृद्धि होने के पूर्व समय अवधि में आय के स्तर को प्राप्त हो जावेगी।

यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को ०·७५ माना जावे तथा इस कारण गुणक को ४ माना जावे तो कुल निवेश में १०० करोड़ रुपये राशि की आरम्भिक वृद्धि होने के हेतु t समय अवधि पश्चात कुल आय में ४०० करोड़ रुपये राशि की वृद्धि होगी। निम्नलिखित तालिका तथा चित्र १६·८ गुणक कार्य की प्रक्रिया को व्यक्त करते हैं।

---

16. स्वायत्त निवेश कुल निवेश का वह भाग है जो आय अथवा ब्याज की दर द्वारा निर्धारित नहीं होता है। स्वायत्त निवेश, तकनीकी प्रगति राज्य की सार्वजनिक नीति, जनसंख्या का आकार, आविष्कार आदि बाह्य कारणों द्वारा निर्धारित होता है।

आरम्भिक निवेश वृद्धि का उपभोग तथा आय पर प्रभाव

(करोड़ रुपयों में)

समय अवधि	कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि	कुल उपभोग में हुई वृद्धि $\frac{\Delta C}{\Delta Y}=०\cdot७५$	प्रत्येक अवधि में कुल आय में हुई वृद्धि ΔY	कुल आय में हुई संचयी वृद्धि
१	१००	०	१००	१००
२	....	७५	७५	१७५
३	....	५६·२५	५६·२५	२३१·२५
४	....	४२·१३	४२·१९	२७३·४४
५	....	३१·६४	३१·६४	३०५·०८
६	....	२३·७३	२३·७३	३२८·८१
७	....	१७·६०	१७·६०	३४६·४१
८	....	१३·३२	१३·३२	३५९·६१
९	....	९·९०	९·९०	३६९·५८
१०	....	७·४२	७·४२	३७६·९३
११	....	५·५८	५·५८	३८२·५१
....	....	....	....	....
....	....	....	....	....
t= ∞	....	०	०	४००·००
	....			

चित्र १४·८ उपरोक्त तालिका के आँकड़ों पर आधारित है। कुल निवेश में १०० करोड़ रुपये राशि की आरम्भिक वृद्धि होने के परिणामस्वरूप प्रथम समय अवधि में कुल आय में १००

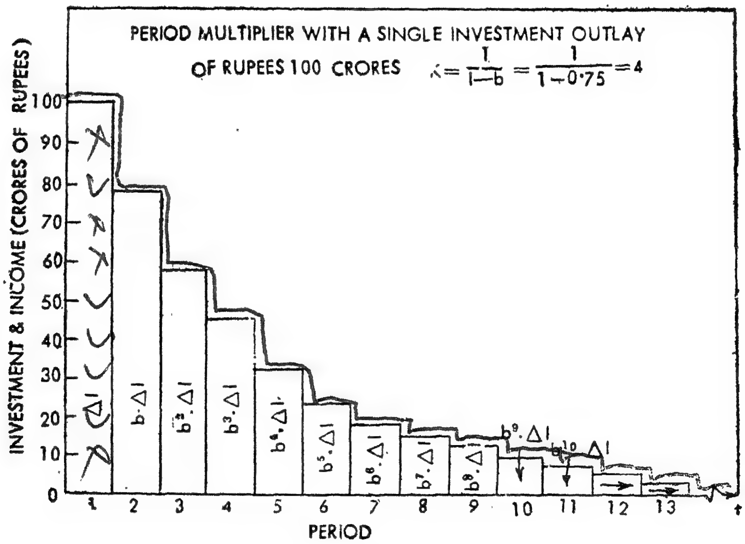

चित्र १४·८

करोड़ रुपये की वृद्धि हो जाती है। परन्तु द्वितीय समय अवधि में निवेश में वृद्धि न होने के कारण, इस समय अवधि में आय में केवल उस उपभोग खर्च मात्रा की वृद्धि होगी जो प्रथम समय अवधि में आय

में हुई वृद्धि द्वारा प्रेरित होता है। प्रेरित उपभोग में कितनी वृद्धि होगी यह आय में हुई आरम्भिक वृद्धि तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। परन्तु जैसा कि हम जानते हैं सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति एक से कम तथा शून्य से अधिक होने के कारण उपभोक्ता प्रथम समय अवधि में प्राप्त हुई सम्पूर्ण अतिरिक्त आय को उपभोग पर व्यय नहीं करेंगे। फलस्वरूप दूसरी अवधि में कुल आय में जो वृद्धि होगी वह प्रथम अवधि में कुल आय में हुई कुल वृद्धि, जो स्वयं निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि राशि के समान है, तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के गुणनफल के समान होगी, अर्थात् यह वृद्धि १००×०·७५=७५ करोड़ रुपये होगी। इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय समय अवधियों को मिलाकर कुल आय में १७५ करोड़ रुपये की कुल वृद्धि होगी।

तीसरी समय अवधि में कुल आय में वृद्धि दूसरी अवधि में कुल आय में हुई वृद्धि तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के गुणाफल के समान अथवा ७५×०·७५ (=५६·२५) करोड़ रुपये होगी। इस प्रकार प्रथम, द्वितीय तथा तीसरी समय अवधियों में कुल आय में कुल वृद्धि २३१·२५ करोड़ रुपये (१००+७५+५६.२५) होगी। चौथी समय अवधि में कुल आय में तीसरी अवधि की तुलना में कम वृद्धि होगी तथा यह केवल ४२·१९ करोड़ रुपये (५६·२५×०·७५) होगी तथा चारों समय अवधियों को मिलाकर आय में कुल २७३·४४ करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। आय तथा उपभोग वृद्धि की यह प्रक्रिया उस समय तक कार्यशील रहेगी जब तक कुल उपभोग तथा कुल आय में होने वाली वृद्धि शून्य को प्राप्त नहीं हो जाती है। इस अवस्था में कुल आय ४०० करोड़ रुपये के अधिकतम स्तर को प्राप्त हो जावेगी जो कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि ($\triangle I$) का गुणक (k) गुना होगी।

उपरोक्त वर्णित अवधि विश्लेषण को निम्नलिखित समीकरण अनुक्रम के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है।

$$\triangle Y=\triangle I+c\,\triangle I+c^2\,\triangle I+c^3\,\triangle I+c^4\,\triangle I+\cdots+c^{t-1}\,\triangle I \quad (१०)$$

समीकरण की दोनों भुजाओं को c द्वारा गुणा करने पर हमको निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है।

$$\triangle Y\,c=c\triangle I+c^2\triangle I+c^3\triangle I+c^4\triangle I+\ldots+c^t\triangle I \quad (११)$$

समीकरण (११) को समोकरण (१०) में से घटाने पर हमें निम्नलिखित प्राप्त होता है।

$$\triangle Y-\triangle Y\,c=\triangle I-c^t\,\triangle I$$

$$\triangle Y(१-c)=\triangle I-c^t\triangle I$$

$$\triangle Y=\frac{\triangle I-c^t\,\triangle I}{१-c}$$

परन्तु अन्त में जब t समय अवधि अनन्त को प्राप्त हो जाती है तब $\triangle I$ का मूल्य शून्य को प्राप्त हो जाता है तथा इस कारण $c^t\triangle I$ का अंकीय मूल्य शून्य हो जाता है। परिणामस्वरूप उपरोक्तसमीकरण निम्नलिखित सरल समीकरण का रूप धारण कर लेता है।

$$\triangle Y=\frac{\triangle I}{१-c}$$

$$=\triangle I\frac{१}{१-c} \quad (12)$$

उपरोक्त समीकरण में $\frac{१}{१-c}$ गुणक k है तथा $\triangle I$ कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि है।

उपरोक्त वर्णित स्थिति में यह मान्यता थी कि कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि केवल एक बार आरम्भिक अवधि में होती है तथा इसको पश्चावर्ती अवधियों में पुनः दुहराया नहीं जाता है। परन्तु यदि स्वायत्त निवेश में प्रत्येक पश्चावर्ती समय अवधि में $\triangle I$ राशि की वृद्धि निरन्तर जारी रखी जाती है तो अन्त में t समय अवधि में समस्त आय में निवेश में हुई वृद्धि के गुणक गुना वृद्धि होगी। विभिन्न अवधियों में आय वृद्धि की प्रक्रिया उस समय तक विद्यमान रहेगी जब तक t समय अवधि के अन्त में कुल आय में जो कुल वृद्धि होती है वह निवेश वृद्धि तथा गुणक के गुणनफल के समान होगी। गुणक की इस प्रक्रिया को निम्नलिखित तालिका तथा चित्र १९·९ के द्वारा समझाया जा सकता है।

निवेश में हुई निरन्तर वृद्धि के भिन्न समय अवधियों में उपभोग तथा आय पर पड़ने वाले प्रभाव

समय अवधि	आरंभिक निवेश वृद्धि ($\triangle I$)	उपभोग में हुई वृद्धि $\frac{\triangle C}{\triangle Y}=$ ०·७५	अवधि आय में हुई वृद्धि ($\triangle Y$)
१	१००		१००·००
२	१००	७५	१७५·००
३	१००	७५+५६·२५	२३१·२५
४	१००	७५+५६·२५+४२·१९	२७३·४४
५	१००	७५+५६·२५+४२·१९+३१·६४	३०५·०८
६	१००	७५+५६·२५+४२·१९+३१·६४+२३·७३	३२८·८१
७	१००	७५+५६·२५+४२·१९+३१·६४+२३·७३+१७·६०	३४६·४१
८	१००	७५+५६·२५+४२ १९+३१·६४+२३·७३+१७·६०+१३·२०	३५९·६१
९	१००	७५+५६·२५ .... +९·९०	३६९·५१
१०	१००	७५+.... .... +७·४२	३७६·९३
११	१००	७५+.... .... +५·५८	३८२·५१
....	....	....	....
....	....	....	....
$t=\infty$	१००	७५+.... .... +०	४००·००

उपरोक्त तालिका में प्रस्तुत सामग्री पर के आधारित चित्र १४·९ में गुणक प्रक्रिया को समझाया गया है।

गुणक प्रक्रिया का यह विश्लेषण भी एककालिक गुणक विश्लेषण के समान है। दोनों विश्लेषणों में केवल इतना अन्तर है कि जबकि एककालिक गुणक में हमने प्रथम अवधि से लेकर t समय अवधि तक आय में हुई कुल वृद्धि की प्रक्रिया का विश्लेषण किया था अवधि गुणक में जहाँ प्रत्येक समय अवधि में निवेश में दी हुई राशि $\triangle I$ की निरन्तर वृद्धि होती है हम प्रत्येक समय अवधि में आय प्रसारण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हैं। अन्त में हम t समय अवधि को प्राप्त होते हैं जिसमें कुल आय में जो वृद्धि होती है वह कुल निवेश में हुई $\triangle I$ वृद्धि की गुणक गुना होती है। प्रथम समय अवधि से लेकर t समय अवधि तक आय में कुल वृद्धि भिन्न समय अवधियों में कुल आय में हुई वृद्धि के योगफल के समान होगी। चित्र १४·९ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्वायत्त निवेश में प्रत्येक समय अवधि में १०० करोड़ रुपये राशि की वृद्धि होती है तथा इस कारण प्रत्येक

पश्चावर्ती समय अवधि में आय में कुल वृद्धि पूर्ववर्ती समय अवधि की तुलना में अधिक होती है। परन्तु जैसे जैसे समय अवधि में वृद्धि होती जाती है प्रत्येक पश्चावर्ती अवधि में आय में हुई वृद्धि तत्काल पूर्ववर्ती अवधि में आय में हुई वृद्धि की तुलना में कम होती जाती है।

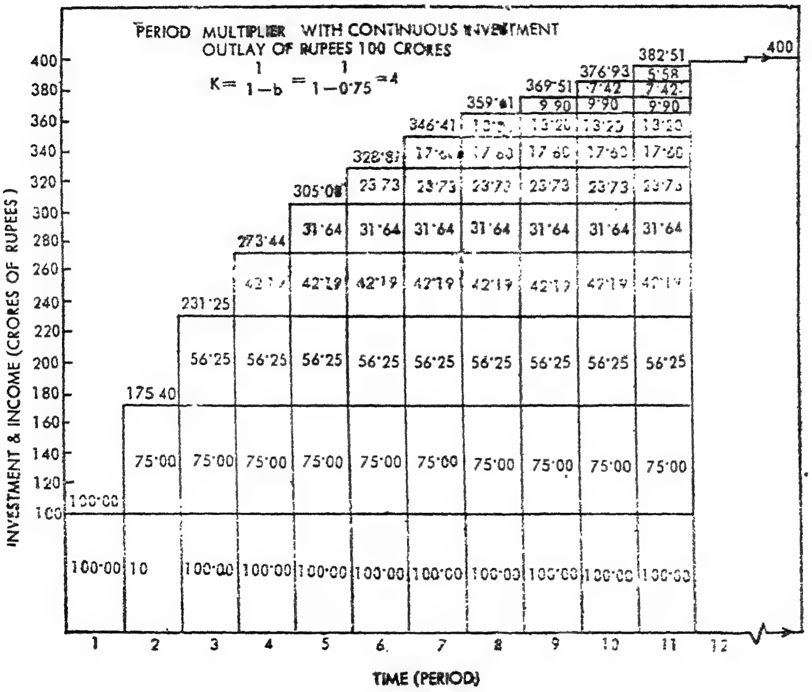

चित्र १४९

एककालिक गुणक सिद्धान्त की अपेक्षाकृत अवधि अथवा अनुक्रम गुणक सिद्धान्त उत्तम है क्योंकि यह हमारा ध्यान निवेश तथा उपभोग के मध्य उपस्थित उस परस्पर सम्बन्ध कार्य की ओर

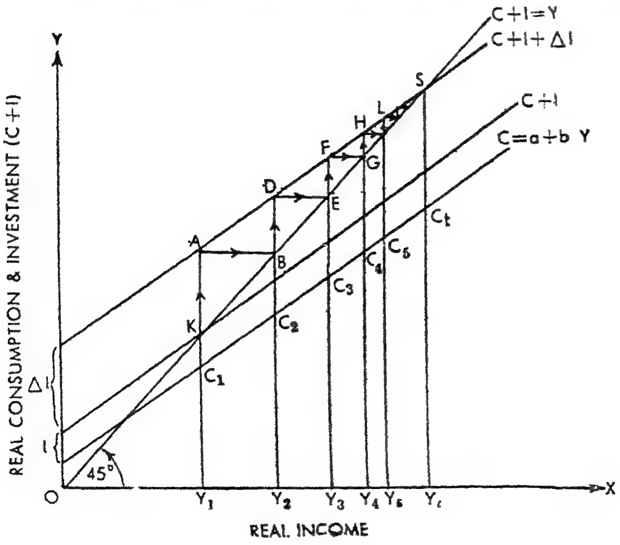

चित्र १४·१०

केन्द्रित करता है जो अर्थव्यवस्था में अनेक व्यक्तियों के व्यवहार तथा निर्णयों का परिणाम होता है। यह सिद्धान्त हमें उन शक्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करता है जो निवेश व्यय में वृद्धि होने के समय अर्थव्यवस्था में सक्रिय रूप में उपस्थित रहती हैं। अवधि गुणक प्रक्रिया को, जिसमें स्वायत्त निवेश में प्रत्येक समय अवधि में स्थिर मात्रा $\triangle I$ को वृद्धि होती रहती है चित्र १४.१० के द्वारा समझा जा सकता है।

चित्र १४.१० में विभिन्न समय अवधियों में कुल वास्तविक उपभोग, कुल वास्तविक निवेश तथा कुल वास्तविक बचत Y–अक्ष तथा कुल वास्तविक आय X–अक्ष पर दिखलाई गई है। आय-उपभोग सम्बन्ध CC वक्र द्वारा व्यक्त किया गया है तथा यह सम्बन्ध इस विशेष प्रकार का है कि किसी एक दी हुई समय अवधि का कुल उपभोग उसकी पूर्ववर्ती समय अवधि की कुल आय द्वारा निर्धारित होता है। II स्वायत्त निवेश वक्र है। आरम्भिक कुल स्वायत्त निवेश $C+I$ तथा $C=a+bY$ वक्रों के मध्य खड़े अन्तर के समान है। कुल उपभोग व्यय तथा कुल निवेश व्यय $C+I$ वक्र द्वारा व्यय किये जाने पर अर्थव्यवस्था में आरम्भिक समय-अवधि O_1 और सन्तुलन आय OY_1 है।

स्वायत्त निवेश में वृद्धि होने के पूर्व आरम्भ में कुल सन्तुलन आय OY_1 है तथा कुल उपभोग C_1Y_1 है। आरम्भिक समय अवधि में कुल निवेश, जो कुल बचत के बराबर है, KC_1 है। अब मानलीजिये कि प्रथम समय अवधि में स्वायत्त निवेश में $\triangle I$ राशि की वृद्धि होती है तथा यह वृद्धि सभी पश्चावर्ती समय अवधियों में विद्यमान रहती है–कुल निवेश में $\triangle I$ आकार की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप $C+I$ कुल व्यय वक्र $C+I+\triangle I$ वक्र को प्राप्त हो जाता है तथा सन्तुलन आय $KY_1(=OY_1)$ से बढ़कर $AY_1(=BY_2)$ हो जाती है। परन्तु प्रथम समय अवधि में कुल आय में वृद्धि हो जाने पर कुल उपभोग व्यय में तत्काल कोई वृद्धि नहीं होती है तथा यह C_1Y_1 राशि पर स्थिर रहता है क्योंकि हमारी मान्यता के अनुसार प्रथम समय अवधि का कुल उपभोग व्यय इस अवधि की कुल आय द्वारा निर्धारित न होकर इसकी पूर्ववर्ति अवधि O की आय KY_1 द्वारा निर्धारित होता है। आरम्भ में कुल उपभोग तथा कुल निवेश दोनों मिलकर कुल सन्तुलन आय KY_1 के बराबर थे तथा इस आय के समक्ष कुल बचत KC_1 राशि थी जो कुल निवेश राशि KC_1 के समान थी। परन्तु कुल निवेश में $\triangle I$ राशि की वृद्धि होने के कारण कुल निवेश की मात्रा KC_1 से बढ़कर AK हो जाती है तथा यह प्रत्याशित बचत राशि KC_1 की तुलना में AK मात्रा मे अधिक है। प्रथम समय अवधि में कुल आय में कुल निवेश मे हुई आरम्भिक वृद्धि $\triangle I$ की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, अर्थात् कुल आय $OY_1+Y_1Y_2$ अथवा $OY_2(=AY_1)$ हो जाती है। दूसरी समय अवधि में OY_2 आय के समक्ष कुल उपभोग व्यय की मात्रा C_2Y_2 है तथा कुल बचत मात्रा BC_2 है। परन्तु इस समय अवधि में कुल निवेश की मात्रा C_2D $(I+\triangle I)$ है जो कुल बचत राशि BC_2 की तुलना में BD मात्रा में अधिक है। कुल निवेश कुल बचत की तुलना में अधिक होने के कारण दूसरी समय अवधि में कुल आय OY_2 $(=BY_2)$ से बढ़कर OY_3 $(=DY_2)$ हो जाती है।

अब तीसरी समय अवधि में क्या स्थिति है? तीसरी समय अवधि में कुल आय OY_3 है। इस आय के समक्ष कुल उपभोग C_3Y_3 है तथा प्रत्याशित कुल बचत C_3E राशि है। परन्तु इस समय अवधि में कुल निवेश C_3F $(I+\triangle I)$ है जो कुल बचत की तुलना में EF मात्रा में अधिक है। कुल निवेश प्रत्याशित कुल बचत की तुलना में अधिक होने के कारण चौथी समय अवधि में कुल आय बढ़कर GY_4 $(=OY_4)$ हो जाती है। चौथी समय अवधि में कुल निवेश पुनः प्रत्याशित कुल

बचत की तुलना में HG मात्रा में अधिक है तथा इस कारण पांचवी समय अवधि में कुल आय में और अधिक वृद्धि हो जाती है। आय विस्तारण की यह प्रक्रिया प्रत्येक पश्चावर्ती अवधि में विद्यमान रहती है तथा प्रत्येक समय अवधि में कुल निवेश तथा कुल बचत के मध्य अन्तर कम होता जाता है। अन्त में समय अवधि t में कुल आय बढ़कर OY_t हो जाती है तथा इस कुल आय के समक्ष कुल निवेश तथा कुल बचत के मध्य सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस प्रकार स्वायत्त निवेश में प्रत्येक समय अवधि में $\triangle I$ राशि की निरन्तर वृद्धि होने के परिणामस्वरूप t समय अवधि में कुल आय OY_1 से बढ़कर OY_t हो जाती है तथा आय में हुई कुल वृद्धि (Y_1Y_t) गुणक (k) तथा स्वायत्त निवेश में हुई आरंभिक वृद्धि $\triangle I$ के गुणनफल ($\triangle Ik$) के समान होती है।

गुणक में सामयिक परिवर्तन

गुणक के अंकीय मूल्य को सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि गुणक में होने वाले परिवर्तन सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में परिवर्तनों से सम्बद्ध होंगे। इस अध्याय में ऊपर यह बताया जा चुका है कि दीर्घावधि उपभोग तथा आय के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध होता है। परन्तु अल्पावधि में, जब सामयिक परिवर्तन होते रहते हैं, आय तथा उपभोग के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होता है। व्यापार चक्र की अवधि में ऊपरी अवस्था के अन्तिम भाग में कुल उपभोग में कुल आय में हुई वृद्धि के समान अनुपात में वृद्धि न होने के कारण सामयिक सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति गिर जाती है तथा यह स्थाई दीर्घावधि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की तुलना में कम हो जाती है। इसके विपरीत व्यापार चक्र की अवधि में गिरावट की अवस्था में कुल आय में गिरावट होते रहने के हेतु कुल उपभोग में बढ़ती हुई दर से गिरावट होती है।

व्यापार चक्र की अवधि में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की इस विशेषता का गुणक के सम्बन्ध में विशेष महत्त्व है। व्यापार चक्र की चेतना तथा अभिवृद्धि की अवस्थाओं में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में गिरावट होने के कारण गुणक में भी गिरावट आ जाती है। गुणक में कमी होने के परिणामस्वरूप विस्तारण की गति, जैसे-जैसे शिखर समीप आता जाता है, धीमी होती जाती है। संकुचन की अवस्था में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती हुई होने के कारण गुणक में भी वृद्धि हो जाती है तथा आरम्भिक मन्द सुस्ती प्रचण्ड मन्दी का रूप धारण कर लेती है। चित्र १४·११ में गुणक में सामयिक परिवर्तनों तथा इन परिवर्तनों के व्यापार चक्र की ऊपरी तथा निचली अवस्थाओं की लम्बाई पर पड़ने वाले प्रभावों को व्यक्त करता है।

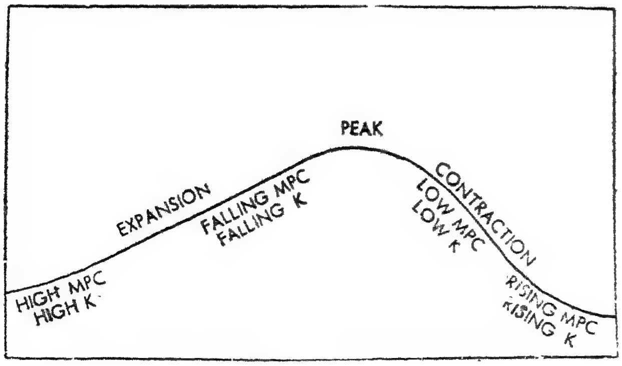

चित्र १४·११

गुणक प्रभाव में क्षति (Leakages)

अर्थव्यवस्था में उपस्थित कई कारणों से गुणक के प्रभाव में कमी हो जाती है। विदेशों से वस्तुयें आयात करने के कारण कुल उपभोग व्यय का कुछ भाग विदेशी वस्तुओं के उपभोग पर व्यय किया जाता है। परिणामस्वरूप इस व्यय का गुणक प्रभाव विदेशों को प्राप्त होता है। निर्विदेश व्यापार अर्थव्यवस्था में आयातों के कारण गुणक में कमी की समस्या उत्पन्न नहीं हो पाती है। परन्तु आयातों के कारण जो गुणक में कमी होती है वह केवल अल्पकालीन समस्या है क्योंकि दीर्घकाल में देश के आयातों तथा निर्यातों में सन्तुलन होना आवश्यक है। जिस प्रकार आयातों के कारण अर्थव्यवस्था में गुणक कम हो जाता है इसी प्रकार देश के निर्यातों के कारण गुणक में वृद्धि हो जाती है।

गुणक में कमी करने वाला दूसरा कारण स्फीति है। कीमतों में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप द्रव्य व्यय में वृद्धि होते हुये भी वास्तविक कुल उपभोग में वृद्धि नहीं हो पाती है। जे० एम० कलार्क ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि कीमत स्फीति के कारण गुणक में कमी इस कारण होती है क्योंकि अतिरिक्त क्रयशक्ति उत्पादन तथा वास्तविक आय में वृद्धि उत्पन्न न करके स्वयं बढ़ती हुई कीमतों में खो जाती है। अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की अवस्था विद्यमान होने के पश्चात् वास्तविक निवेश तथा आय गुणक क्रियाशील नहीं होते हैं।

गुणक के प्रभाव में कमी करने वाली तीसरी शक्ति बचत है। ऊँची सीमान्त बचत प्रवृत्ति के कारण गुणक नीचा होता है तथा नीची सीमान्त बचत प्रवृत्ति से गुणक ऊँचा होता है। धनी समाजों के लिए, जहाँ आय तथा उपभोग के मध्य काफी अन्तर होने के कारण सीमान्त बचत प्रवृति ऊँची होती है, आय को ऊँचे स्तर पर स्थिर बनाये रखने के लिए निवेश में अधिकाधिक वृद्धि करना अनिवार्य होता है।

सन्तुलित बजट गुणक (Balanced Budget Multiplier)

सरकार को सन्तुलित बजट की नीति का अर्थ यह है कि सरकार सदा अपने कुल खर्च को बजट में बेशी अथवा घाटा उत्पन्न किये बिना अपनी कर आय द्वारा पूरा करती है। यदि देश के लोग सरकारी खर्च को, जिसकी पूर्ति सरकार उन पर कर लगा कर करती है, अपनी भविष्य आय में वृद्धि नहीं विचारते हैं तो वे अपने उपभोग को अपनी कुल आय द्वारा निर्धारित करने के स्थान पर अपनी वर्तमान उपभोग्य आय—वह आय जो उनके पास सरकारी करों का भुगतान करने के पश्चात् शेष बचत रहती है—द्वारा निर्धारित करेंगे। दूसरे शब्दों में, कुल उपभोग कुल आय द्वारा निर्धारित न होकर कुल उपभोग्य आय (disposable income) द्वारा निर्धारित होगा। अर्थात्

$$C = cY_d \text{[17]}$$
$$Y_d = Y - T$$
$$\therefore \quad C = c(Y - T) \qquad (१३)$$

---

17. यदि हम यह विचारें कि कुल उपभोग का कुछ भाग ऐसा होता है जो उपभोक्ताओं की आय से सम्बन्धित नहीं होता है तथा इसे स्थिर धनात्मक मात्रा a द्वारा व्यक्त करें तो कुल उपभोग (C) स्थिर राशि a तथा उपभोग्य आय के स्थिर अनुपात cY_d के योग के बराबर होगा, अर्थात्,

$$C = a + cY_d.$$

इस स्थिति में उपभोग वक्र अक्षों के निकास बिन्दु से आरंभ न होकर Y–अक्ष, जिस पर उपभोग को व्यक्त किया गया है, से a मात्रा की धनात्मक दूरी के पश्चाव आरंभ होगा।

जहाँ C; Y; Y_d क्रमशः कुल उपभोग; कुल आयः कुल उपभोग्य आय; तथा स्वायत्त रूप में निर्धारित करराशि को व्यक्त करते हैं। परन्तु कर केवल सरकारी व्यय E की वित्त व्यवस्था करने के लिए लगाये जाते हैं तथा इस कारण सरकारी कर (T) तथा सरकारी व्यय (E) परस्पर समान होंगे, अर्थात् T=E। समीकरण (१३) में T के स्थान पर E लिखकर इसे निम्नांकित रूप में भी लिखा जा सकता है।

$$C=c(Y-E) \tag{१४}$$

परन्तु हमें ज्ञात है कि

$$Y=C+I+E \tag{१५}$$

उपरोक्त समीकरण में Y; C;I; तथा E क्रमशः कुल आय, कुल उपभोग; व्यक्तिगत कुल निवेश; तथा सरकारी कुल व्यय को व्यक्त करते हैं।

अब यदि सरकार स्कूलों, अस्पतालों, सड़कों तथा अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर पहले की तुलना में अधिक खर्च करना चाहती है तथा यदि इस अतिरिक्त खर्च को $\triangle E$ द्वारा व्यक्त किया जाता है तो सरकार को इस अतिरिक्त व्यय को सम्भव बनाने के लिए अतिरिक्त नये कर लगाकर अथवा पुरानी कर दरों में पर्याप्त वृद्धि करके $\triangle E$ मात्रा में अधिक कर आय प्राप्त करनी होगी। यदि करदाता करों का पूरा भुगतान करते हैं तो उनकी कुल उपभोग्य आय में करों की मात्रा के समान कमी हो जावेगी। दूसरे शब्दों में समाज में लोगों की कुल उपभोग्य आय **Y—T** होगी।

$$\begin{aligned} Y&=C+I+E \qquad (१६)\\ &=c(Y-T)+I+E\\ &=cY-cT+I+E\\ Y-cY&=-cT+I+E\\ Y(१-c)&=-cE+I+E \qquad (\text{क्योंकि } T=E) \end{aligned}$$

$$Y=\frac{I+E-cE}{१-c} \tag{१७}$$

सरकारी व्यय में $\triangle E$ राशि वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल आय में वृद्धि होगी तथा यह Y से बढ़कर Y_1 हो जावेगी।

$$Y_1=\frac{I+E-cE+\triangle E}{१-c} \tag{१८}$$

कुल आय में हुई वृद्धि ($\triangle Y$) नई आय (Y_1) तथा पुरानी आय (Y) के अन्तर के समान होगी तथा इसे समीकरण (१८) में से समीकरण (१७) को घटाकर ज्ञात किया जा सकता है।

$$Y_1-Y=\frac{I+E-cE+\triangle E}{१-c}-\frac{I+E-cE}{१-c}$$

$$\therefore \quad \triangle Y=\frac{\triangle E}{१-c}=\frac{१}{१-c}\triangle E \tag{१९}$$

परन्तु अतिरिक्त सरकारी व्यय का वित्तिकरण समान राशि के अतिरिक्त कर लगाकर किया गया है। इस कारण कुल उपभोग व्यय में कुल कर राशि का सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति गुना कमी हो जावेगी। यह ज्ञात करने के लिए कि अतिरिक्त कर लगने के कारण कुल आय में कुल

कितनी कमी होगी हमें $c\triangle E$ को गुणक अथवा $\frac{१}{१-c}$ से गुणा करना चाहिये । सन्तुलित बजट के अन्तर्गत सरकारी व्यय में $\triangle E$ राशि की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल आय में हुई शुद्ध वृद्धि ($\triangle Y$) को ज्ञात करने के लिए हमको $\frac{१}{१-c}$ $\triangle E$ में से $\frac{१}{१-c}$ $c\triangle E$ को घटाना चाहिए ।

$$\triangle Y = \frac{१}{१-c}\triangle E - \frac{१}{१-c}\,c\triangle E \qquad (२०)$$

$$= \frac{१}{१-c}\triangle E(१-c)$$

$$\triangle Y = \triangle E$$

$$\frac{\triangle Y}{\triangle E} = K = १$$

इससे यह सिद्ध होता है कि सन्तुलित बजट में कुल आय में जो कुल वृद्धि हाती है वह केवल सरकारी व्यय में हुई वृद्धि के समान होती है तथा गुणक का अंकीय मूल्य १ होता है । ऐसा होने का एक मात्र कारण समीकरण (२०) में ऋणात्मक संख्या $\frac{१}{१-c}$ $\triangle E$ की उपस्थिति है । लोगों पर अतिरिक्त कर लगाये जाने के कारण गुणक का ऋणात्मक प्रभाव इसके धनात्मक प्रभाव को काफी मात्रा में नष्ट कर देता है ।

अब तक हमने यह कल्पना की थी कि कर स्वायत्त रूप में इस प्रकार निर्धारित होते हैं कि करदाताओं की कुल आय में परिवर्तन होने का करों पर प्रत्यक्ष कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । परन्तु यह मान्यता अवास्तविक है । यद्यपि यह सत्य है कि सम्पत्ति कर, स्थिर पानी कर, यात्री कर आदि इस प्रकार के कर हैं जो शुद्ध राष्ट्रीय आय के आकार द्वारा निर्धारित नहीं होते हैं परन्तु आय कर, बिक्री कर, प्रमण्डल आय कर आदि, जिनसे राज्य को काफी आय प्राप्त होती है, ऐसे करों के उदाहरण हैं जो प्रत्यक्ष रूप से करदाताओं की आय पर निर्भर होते हैं । उदाहरणार्थ, करदाताओं की आय में कमी अथवा वृद्धि होने के परिणामस्वरूप सरकार की आय तथा प्रमण्डल आयकर द्वारा प्राप्त होने वालो कुल आय में कमी अथवा वृद्धि हो जाती है । ऐसी स्थिति में कर-आय सम्बन्ध को रेखावत्त समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है । यदि कुछ कर ऐसे हैं जो आय द्वारा निर्धारित न होकर स्वायत्त रूप से निर्धारित होते हैं तथा यदि इनके द्वारा प्राप्त कुल आय दी हुई स्थिर राशि b है तथा अन्य कुछ कर आय की मात्रा द्वारा इस प्रकार निर्धारित होते हैं कि इनके द्वारा प्राप्त कुल आय कुल राष्ट्रीय आय का स्थिर अनुपात t है तो कुल कर आय (T) को निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है ।

$$T = b + tY \qquad (२१)$$

उपरोक्त समीकरण में t को, जो कुल द्रव्य आय में इकाई परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप कुल कर में होने वाले परिवर्तन $\left(\frac{\triangle T}{\triangle Y}\right)$ की माप करती है, सीमान्त कर प्रवृत्ति की संज्ञा दी जाती है । पहले के समान एक बार पुनः

$$
\begin{aligned}
Y &= C+I+E \\
&= c(Y-T)+I+E \\
&= c[Y-(b+tY)]I+E \\
&= cY-cb-ctY+I+E \qquad (२२)
\end{aligned}
$$

$$\therefore\ Y-cY+ctY=-cb+I+E$$

$$Y(I-c+ct)=-cb+I+E$$

$$\therefore\ Y = \frac{I+E-cb}{I-c+ct} \qquad (२३)$$

इसी प्रकार $Y_1 = \dfrac{I+E+\triangle E-cb}{I-c+ct}$

$$Y_1-Y=\triangle Y=\frac{I+E+\triangle E-cb}{I-c+ct}-\frac{I+E-cb}{I-c+ct}=\frac{\triangle E}{१-c+ct} \qquad (२४)$$

परन्तु सरकारी खर्च में $\triangle$ E राशि की वृद्धि को में करदाताओं पर $\triangle$ T ($=\triangle$E) राशि के अतिरिक्त कर लगाकर प्राप्त किया गया है। इस कारण उपभोक्ताओं की कुल उपभोग्य आय में उस राशि के समान कमी हो जाती है। परिणामस्वरूप कुल उपभोग व्यय में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति c के अंकीय मूल्य के अनुसार $c\triangle T$ $(=c\triangle E)$ राशि की कमी हो जावेगी जिसके कारण कुल आय में $c\triangle E\dfrac{१}{१-c+ct}$ राशि की कमी हो जावेगी। सरकारी खर्च में $\triangle$E राशि की वृद्धि होने के कारण कुल आय में हुई शुद्ध वृद्धि को ज्ञात करने के लिये $\triangle E\dfrac{१}{१-c+ct}$ में से $c\triangle E\dfrac{१}{१-c+ct}$ को घटाया जाना चाहिये।

इस कारण

$$\triangle Y=\frac{\triangle E}{१-c+ct}-\frac{c\triangle E}{१-c+ct} \qquad (२५)$$

$$=\frac{\triangle E(१-c)}{१-c+ct}$$

परन्तु $\dfrac{१-c}{१-c+ct}$ का अंकीय मूल्य एक से कम है तथा इस कारण $\dfrac{\triangle E(१-c)}{१-c+ct}$ का अंकीय मूल्य $\triangle$E से कम होगा, अर्थात् सन्तुलित बजट गुणक एक से कम होगा। दूसरे शब्दों में, कुल आय में वृद्धि सरकारी खर्च मे हुई कुल वृद्धि की तुलना में कम होगी।

सन्तुलित बजट गुणक विश्लेपण इस प्राचीन गलत भ्रम को दूर करता है कि राष्ट्रीय आय पर उस सरकारी व्यय का प्रभाव जिसकी पूर्ति करों में समान मात्रा की वृद्धि करके की जाती है शून्य होता है।

उपरोक्त विश्लेपण इस मान्यता पर आधारित है कि जबकि एक ओर लोग अतिरिक्त कर को अपनी कुल उपभोग्य आय में समान राशि की कटौती विचारते हैं दूसरी ओर वे अतिरिक्त

सरकारी व्यय के आय प्रभावों को भुला देते हैं। अब हमको इस मान्यता को समाप्त करके यह अध्ययन करना चाहिए कि यदि लोग अतिरिक्त सरकारी व्यय को अपनी कुल आय में हुई वृद्धि विचारने लगते हैं तो उपरोक्त निष्कर्ष में क्या परिवर्तन होगा। बजट को सन्तुलित रखने की दशा में यदि लोग अतिरिक्त सरकारी व्यय को अपनी आय विचारते हैं तो अतिरिक्त करों का उपभोग पर पड़ने वाला प्रतिकूल प्रभाव नष्ट हो जावेगा तथा गुणक साधारण k, जो सीमान्त बचत प्रवृत्ति का उलटा है, होगा।

अब हमको एक अन्य स्थिति का अध्ययन करना चाहिए। मान लीजिये कि बजट सन्तुलित होने के स्थान पर करों से प्राप्त कुल आय स्थिर है तथा सरकारी व्यय में $\triangle E$ राशि की वृद्धि की जाती है। कर-आय स्थिर होने के कारण सरकारी व्यय में वृद्धि होने से लोगों की उपभोग्य आय में कोई कमी नहीं होगी। परन्तु सरकारी व्यय में हुई वृद्धि के कारण सार्वजनिक ऋण में सरकारी व्यय में वृद्धि के समान वृद्धि हो जावेगी। यदि लोग सरकारी व्यय तथा सरकारी ऋणभार जिस में इस व्यय की वित्त व्यवस्था करने के हेतु वृद्धि हुई है, को अपने उपभोग व्यय सम्बन्धी निर्णयों में शामिल नहीं करते हैं तो गुणक साधारण k होगा। यह निम्नलिखित समीकरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

$$Y = \frac{१}{१-c}(1+G-cT) \qquad (२६)$$

$$Y_1 = \frac{१}{१-c}(I+G-cT+\triangle E) \qquad (२७)$$

समीकरण (२६) को समीकरण (२७) में से घटाने पर

$$Y_1 - Y = \triangle Y = \frac{१}{१-c}\triangle E$$

$$= k\triangle E \qquad (२८)$$

विदेशी व्यापार गुणक (Foreign Trade Multiplier)

विदेशी व्यापार गुणक सिद्धान्त के दो रूप हैं। प्रथम रूप, जिसको विदेशी व्यापार गुणक का स्थिर सिद्धान्त कहा जा सकता है, प्रोफेसर हैरड तथा जेम्स मीड के सफल प्रयासों का फल है। यह सिद्धान्त विभिन्न समय अवधियों में सन्तुलन दशाओं की तुलना करता है तथा इस कारण इसको तुलनात्मक सिद्धान्त का नाम भी दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार गुणक का दूसरा रूप, जिसको विदेशी व्यापार गुणक का गत्यात्मक सिद्धान्त कहा जा सकता है, मुख्यतया प्रोफेसर फ्रिटज मेचलुप तथा लॉयड एपिल्टन मेटजलर के सफल योगदानों का फल है। गत्यात्मक सिद्धान्त एक सन्तुलन अवस्था से दूसरी सन्तुलन अवस्था के मध्य परिवर्तन अथवा गति का अध्ययन करता है, अर्थात् यह दो सन्तुलन अवस्थाओं के मध्य उपस्थित असन्तुलन अवस्था का अध्ययन करता है।

विदेशी व्यापार गुणक सामान्य गुणक, जो निर्विदेश व्यापार व्यवस्था में लागू होता है, का विकसित रूप है जो विदेशी व्यापार अर्थव्यवस्था में लागू होता है। विदेशी व्यापार अर्थव्यवस्था में आयातों पर किये जाने वाले व्यय को उस कुल व्यय में जोड़ा जाना चाहिए जो आय में से किया जाना है। परन्तु आयातों पर किया गया व्यय बचत के समान है जिसके कारण अर्थव्यवस्था में आय-धारा के प्रवाह में कमी हो जाती है। यद्यपि आयातों पर किया गया व्यय कुल उप-

भोग व्यय का भाग है परन्तु इसका लाभ उन देशों को जिनसे वस्तुएं आयात की जाती हैं प्राप्त होता है। आयातों के परिणामस्वरूप घरेलू वस्तुओं का उपभोग कुल उपभोग तथा आयातों के अन्तर के समान होगा। कुल आय का एक स्थिर भाग उपभोग पर खर्च किया जाता है। इस उपभोग व्यय का कुछ भाग घरेलू वस्तुओं पर व्यय किया जाता है तथा शेष भाग आयातों पर व्यय किया जाता है। जिस प्रकार हमने साधारण गुणक के सम्बन्ध में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का प्रयोग किया था इसी प्रकार अब हम सीमान्त कुल उपभोग प्रवृत्ति तथा सीमान्त आयात प्रवृत्ति[18] $\left(\frac{\Delta M}{\Delta Y}\right)$ का प्रयोग कर सकते हैं। प्रथम को हम c तथा दूसरी को हम m कह सकते हैं।

इस प्रकार

$$Y = C - M + I + G \qquad (२९)$$
$$= cY - mY + I + G$$
$$Y - cY + mY = I + G$$
$$Y(१ - c - m) = I + G$$
$$Y = \frac{I+G}{१ - c + m} \qquad (३०)$$

परन्तु दीर्घावधि में आयातों का भुगतान केवल निर्यातों द्वारा ही संभव है तथा इस कारण हमको समीकरण में निर्यातों को भी शामिल करना चाहिये। जिस प्रकार आयातों का प्रभाव घरेलू अर्थव्यवस्था पर गुणक के द्वारा बुरा पड़ता है, निर्यातों का प्रभाव अच्छा पड़ता है, तथा इनके कारण घरेलू वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में गुणक गुना वृद्धि होती है। इस कारण निर्यातों को, जिनको हम X द्वारा व्यक्त कर सकते हैं, हमे राष्ट्रीय आय में शामिल करना चाहिये। परिणामस्वरूप समीकरण (२९) समीकरण (३१) का रूप धारण कर लेता है। (३१)

$$Y = C - M + I + X + G$$
$$= cY - mY + I + X + G$$
$$Y - cY + mY = I + X + G$$
$$Y(१ - c + m) = I + Y + G$$
$$Y = I + X + G \frac{१}{१ - c + m} \qquad (३२)$$

इस प्रकार विदेशी व्यापार गुणक $\frac{१}{१-c+m}$ है तथा गुण्य (multiplicand) में स्वायत्त निवेश तथा सरकारी व्यय के अतिरिक्त निर्यात भी हैं। उपरोक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता

18. एक प्रकार से सीमान्त आयात प्रवृत्ति का प्रयोग करना अनुचित है क्योंकि यद्यपि आयात आय परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होते हैं परन्तु आय के अतिरिक्त आयात अन्य कारणों से भी प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ, इससे किसको इन्कार हो सकता है कि आय के अतिरिक्त आयात उपभोक्ताओं की अभिरूचियों, घरेलू तथा विदेशी कीमत अनुपात तथा राष्ट्रीय भाव नाओं आदि द्वारा भी प्रभावित होते हैं।

है कि सीमान्त आयात प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी विदेशी व्यापार का उतना ही अधिक प्रभाव पड़ेगा तथा विदेशी व्यापार गुणक का अंकीय मूल्य कम होगा।

निष्कर्ष

निवेश गुणक का व्यावहारिक महत्व इस बात में है कि रोजगार गुणक[19] के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करता है। तीसा की महान मन्दी के काल में सार्वजनिक निर्माण कार्यों के पक्ष में प्रस्तुत तर्क गुणक सिद्धान्त पर ही आधारित थे। यद्यपि १९३१ ई० में आर० एफ० काहन ने अपने लेख में गुणक सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या की थी परन्तु कीन्स तथा हेण्डरसन (H. D. Henderson) ने १९२९ ई० में लिखित अपनी *Can Lloyd George Do it ? An Examination of the Liberal Pledge* शीर्षक पुस्तिका में सार्वजनिक निर्माण कार्यों की नीति के समर्थन में शक्तिशाली तर्क प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया था कि लायड जार्ज[20] नए कर लगाए बिना सार्वजनिक निर्माण कार्यों को पूरा करके देश में बेरोजगारी को कम करने में सफल सिद्ध हो सकेंगे। गुणक के सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व अमरीका में स्वर्गीय राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रशासन काल में तीसा की मन्दी के युग में आरम्भ की गई प्रसिद्ध न्यू डील नीति में भी देखने को मिलता है। १९३४ ई० में न्यू डील नीति के अन्तर्गत लगभग ३०० मिलियन डालर राशि प्रति मास व्यय करने के परिणामस्वरूप कुल राष्ट्रीय आय में कुल व्यय की तुलना में लगभग चार गुनी वृद्धि हो गई थी। यह इस बात का प्रमाण थी कि गुणक का अंकीय मूल्य ४ के लगभग था।

अनेक दोष उपस्थित होते हुए भी गुणक सिद्धान्त का भारी व्यावहारिक महत्व है। गुणक सिद्धान्त हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करता है कि निवेश में दी हुई आरम्भिक वृद्धि होने के गुणक परिणामों के परिणामस्वरूप कुल आय में कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि की तुलना में अधिक वृद्धि होती है तथा यह वृद्धि गुणक k के अंकीय मूल्य पर निर्भर करती है। इससे व्यावहारिक नीति में महत्वपूर्ण मार्ग दर्शन प्राप्त होता है। अर्थ व्यवस्था को मन्दी से मुक्त कराने के लिए निवेश में थोड़ी सी आरंभिक वृद्धि करना पर्याप्त सिद्ध हो सकता है। गुणक सिद्धान्त यह बताता है कि अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को समाप्त करने का सामाजिक व्यय उस व्यय की तुलना में कम होता है जो प्राचीन सिद्धान्त के समर्थक विश्वास करते थे।

परन्तु गुणक सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि यह स्थिर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की मान्यता पर आधारित है। इसके अतिरिक्त गुणक सिद्धान्त का एक अन्य दोष यह है कि यह प्रेरित निवेश की ओर ध्यान नहीं देता है। गुणक सिद्धान्त स्वायत्त निवेश में हुई वृद्धि के परिणामस्वरूप केवल उपभोग व्यय में हुई वृद्धि पर ध्यान केन्द्रित करता है। परन्तु उपभोग व्यय में वृद्धि होने के कारण प्रेरित निवेश में भी वृद्धि होती है।

कीन्स प्रेरित निवेश में वृद्धि की ओर कोई ध्यान इस कारण नहीं दे सके थे क्योंकि मन्दी के समय में अर्थव्यवस्था में काफी मात्रा में बेशी उत्पादन-क्षमता अथवा पूँजी उपकरण उपस्थित

---

19. रोजगार गुणक रोजगार की मात्रा में हुई आरम्भिक वृद्धि तथा इस वृद्धि के फलस्वरूप रोजगार की मात्रा में हुई कुल वृद्धि का अनुपात होता है। उदाहरणार्थ, जब यह कहा जाता है कि रोजगार गुणक ५ है तो इसका अर्थ यह है कि रोजगार में दी हुई मात्रा में हुई आरम्भिक वृद्धि के फलस्वरूप कुल रोजगार की मात्रा में इस आरम्भिक वृद्धि का पाँच गुना वृद्धि होती है।

20. Lloyd George was the Liberal Party candidate in the British elections of 1929.

होते हैं तथा उपभोग वस्तुओं का उत्पादन निवेश में वृद्धि किए बिना बढ़ाया जा सकता है। कीन्स की पुस्तक तीसा की महान मन्दी का परिणाम थी तथा अर्थव्यवस्था में बेशी पूँजी उपकरण उपस्थित होने के कारण प्रेरित निवेश में वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं थी।

अध्ययन सूची

1. J. M. Keynes : The General Theory of Employment, Interest and Money, Chapter 10.
2. T. F. Dernburg & D. M. McDougall : Macro-Economics (Second Edition), Chapters 5 and 6.
3. Martin J. Bailey : National Income and the Price Level, Chapter II.
4. A. H. Hansen : A Guide to Keynes, Chapter 4.
5. A.H. Hansen : Business Cycles and National Income (Expanded Edition) Chapter 10.
6. Gardner Ackley : Macroeconomic Theory, Chapter XIII.
7. R. A. Gordon : Business Fluctuations (Second Ed.). Chapter 5
8. American Economic Association : Readings in Business Cycle Theory (1944), articles by G. Haberler: "Mr. Keynes' Theory of Multiplier : A Methodological Criticism" pp. 193—202; and by Fritz Machlup. 'Period Analysis and Multiplier Theory,' pp. 203—234.
9. Barry N. Siegel : Aggregate Economics and Public Policy (Third Edition), Chapter 5.
10. Edward Shapiro : Macroeconomic Analysis (Second Edition), Chapter 8.
11. W. J. Baumol and M. H. Peston : "More on the Multiplier Effects of a Balanced Budget," *American Economic Review*, March 1955, pp. 140-48.

प्रश्न

1. What do you understand by 'Investment Multiplier' ? In what way does it defend the policy of public works on the part of state in depression ?
2. What is meant by 'propensity to consume' ? Explain the relation between marginal propensity to consume and the investment multiplier.
3. Explain balanced-budget multiplier. How does it differ from the simple investment multiplier ?
4. Define average and marginal propensities to consume and explain their relationship.

१५

त्वरक
(Accelerator)

यद्यपि त्वरक के विषय पर किया गया अधिकांश लेखनकार्य कीन्स-पश्चात् युग की विशेषता है परन्तु १९३६ ई० में कीन्स की पुस्तक *General Theory* के प्रकाशन के पूर्व त्वरक के विषय पर कुछ विचार व्यक्त किये जा चुके थे। १९१७ ई० में जॉन मोरिस क्लार्क ने *Journal of Political Economy* नामक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक लेख में व्यावसायिक उतार-चढ़ावों की समस्या का त्वरक सिद्धान्त के रूप में विश्लेषण किया था। क्लार्क ने सामयिक उतार-चढ़ावों को निवेश में होने वाले उन परिवर्तनों से जो वास्तविक आय अथवा उत्पादन में होने वाले परिवर्तनों के कारण होते हैं, सम्बन्धित किया था। क्लार्क का लेख प्रकाशित होने के पश्चात् १९३४ ई० तक इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। परन्तु १९३४ ई० में रॉगनर फ्रिश ने अपने एक लेख में इस क्षेत्र में नई सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला था। तत्पश्चात् त्वरक के विषय पर हैरड; सेमुलसन तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने अपने लेखनकार्यों द्वारा महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत किये थे। इस क्षेत्र में प्रकाशित हुए अभिनव योगदानों में हिक्स का लेखनकार्य विशेष रूप से सराहनीय है। हिक्स ने यह सिद्ध करके कि व्यापार चक्र गुणक तथा त्वरक की सम्मिलित कार्यवाही का परिणाम है, त्वरक सिद्धान्त के विकास को एक नया मोड़ प्रदान किया है।

कीन्स ने अपनी पुस्तक *General Theory* में त्वरक के विषय पर कुछ नहीं लिखा है। कीन्स के त्वरक के सम्बन्ध में न लिखने का कारण उस आर्थिक स्थिति में निहित है जो उनकी पुस्तक के प्रकाशन के समय विद्यमान थी। कीन्स की महान पुस्तक तीसा की महान मन्दी का परिणाम थी। शुम्पीटर ने कीन्स प्रेरित अर्थशास्त्र को 'मन्दी का अर्थशास्त्र' कहा है तथा इस कथन में सत्यता भी है क्योंकि सम्पूर्ण पुस्तक में लेखक पूर्ण रोजगार को वास्तविक स्थिति का रूप प्रदान करने के हेतु भिन्न नीति तथा अन्य सुझाव प्रस्तुत करता है। मन्दी की अवधि में अर्थव्यवस्था में काफी मात्रा में बेशी उत्पादन क्षमता उपस्थित होने के कारण त्वरक शून्य हो जाता है। इस कारण इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि कीन्स का ध्यान त्वरक की ओर आकर्षित न होकर केवल गुणक सिद्धान्त पर केन्द्रित हुआ था।

गुणक केवल स्वायत्त निवेश व्यय अथवा सार्वजनिक व्यय में हुई आरम्भिक वृद्धि तथा इस वृद्धि के हेतु प्रेरित उपभोग में हुई वृद्धि के मध्य सम्बन्ध व्यक्त करता है। परन्तु कुल उपभोग व्यय कुल आय के दो अंगों में से एक है तथा इस कारण गुणक सिद्धान्त हमको केवल यह ज्ञान प्रदान करता है कि स्वायत्त निवेश में किसी दी हुई मात्रा $\triangle I$ की आरम्भिक वृद्धि होने के हेतु उपभोग में स्वायत्त निवेश में हुई वृद्धि का गुणक गुना वृद्धि होने के कारण कुल आय में कितनी वृद्धि होगी। परन्तु वास्तव में कुल आय में उस अनुपात में, जो गुणक सिद्धान्त बताता है, वृद्धि हो पावेगी अथवा नहीं यह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि कुल आय के अन्य अंग अर्थात् प्रेरित निवेश में कुल आय में परिवर्तन होने पर क्या परिवर्तन होते हैं।

स्वायत्त निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि के कुल आय पर पड़ने वाले कुल प्रभावों के अध्ययन के सम्बन्ध में हमको यह सरल सत्य याद रखना चाहिये कि जब स्वायत्त निवेश में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल आय में वृद्धि होती है तो आय में इस वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल उपभोग व्यय में भी वृद्धि होती है। परन्तु उपभोग व्यय में वृद्धि को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये बाजार में अधिक मात्रा में उपभोग वस्तुओं का उपलब्ध होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, कुल आय में कुल स्वायत्त निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि की गुणक गुना वृद्धि को प्राप्त करने के लिये अधिक उपभोग वस्तुओं का उत्पादन किया जाना चाहिए। परन्तु उपभोग वस्तुओं का अधिक उत्पादन अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करके सम्भव हो सकता है। उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करने के लिये निवेश में वृद्धि करना आवश्यक है। इस प्रकार के निवेश को, जो कुल आय में वृद्धि होने पर कुल उपभोग में वृद्धि होने का परिणाम होता है, प्रेरित निवेश कहते हैं। परन्तु निवेश उपभोग के समान आय का भाग है तथा इस कारण प्रेरित निवेश में हुई वृद्धि के परिणामस्वरूप आय में पुनः वृद्धि होगी। इस कारण स्वायत्त निवेश में किसी दी हुई मात्रा $\triangle I$ में आरम्भिक वृद्धि होने के हेतु कुल आय में हुई कुल वृद्धि के सम्बन्ध में सही ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपभोग व्यय में हुई कुल वृद्धि के अतिरिक्त, प्रेरित निवेश में हुई उस कुल वृद्धि की भी माप की जानी चाहिये जो उपभोग में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप होती है तथा जिसके हुए बिना उपभोग व्यय में वृद्धि होना सम्भव नहीं है।[1] जबकि गुणक स्वायत्त निवेश में हुई वृद्धि के परिणामस्वरूप उपभोग व्यय में वृद्धि के माध्यम द्वारा समस्त आय में हुई वृद्धि का वर्णन करता है, त्वरक सिद्धान्त कुल उपभोग में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल निवेश में होने वाली वृद्धि की व्याख्या करता है। इससे यह व्यक्त हो जाता है कि स्वायत्त निवेश में आरम्भिक वृद्धि होने के परिणामस्वरूप समस्त आय में हुई कुल वृद्धि को ज्ञात करने के लिये गुणक तथा त्वरक के सम्मिलित प्रभावों को ज्ञात करना आवश्यक है क्योंकि आय में हुई कुल वृद्धि गुणक तथा त्वरक की सम्मिलित क्रिया का परिणाम होती है। गुणक तथा त्वरक सिद्धान्तों का एक साथ अध्ययन करने का विशेष लाभ यह है कि हमें यह सत्य ज्ञात हो जाता है कि स्वायत्त निवेश में आरम्भिक वृद्धि (अथवा कमी) होने के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं तथा समस्त आय में होने वाले परिवर्तन इन दोनों प्रभावों का परिणाम होते हैं। प्रत्यक्ष प्रभाव प्रेरित उपभोग तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव प्रेरित निवेश में वृद्धि होने का परिणाम होता है।

त्वरक सिद्धान्त निवेश पर कुल उपभोग व्यय में हुये परिवर्तनों के प्रभाव की तथा गुणक सिद्धान्त कुल उपभोग पर निवेश में हुए परिवर्तनों के प्रभावों की व्याख्या करता है। वह

---

1. यह कथन इस मान्यता पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था की कुल उत्पादन-क्षमता इष्टतम है तथा अर्थव्यवस्था में वेशी उत्पादन क्षमता उपलब्ध नहीं है।

निवेश जिसका त्वरक वर्णन करता है प्रेरित अथवा उपभोग-निर्धारित निवेश है तथा वह निवेश जिसके परिणामस्वरूप गुणक कार्यशील होता है, स्वायत्त अथवा उपभोग-निर्धारक निवेश है।

गुणक तथा त्वरक की सम्मिलित क्रिया को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

स्वायत्त निवेश में वृद्धि होने के हेतु →	कुल आय में वृद्धि होती है। →	कुल आय में वृद्धि होने के हेतु कुल → उपभोग में वृद्धि होती है	कुल उपभोग में वृद्धि होने के हेतु प्रेरित निवेश में वृद्धि होती है।

$$(\triangle I\alpha) \rightarrow (\triangle Y) \rightarrow (\triangle C) \rightarrow (\triangle Ip)$$

त्वरक पर प्रभाव डालने वाला प्रमुख कारण तकनीकी है। यदि उत्पादन फलन (production function) इस प्रकार का है कि पूँजी-उत्पादन अनुपात पूर्णतया स्थिर है तो त्वरक पूँजी का स्थिर तकनीकी उत्पादन गुणांक (fixed technical coefficient of production of capital) अथवा स्थिर पूँजी-उत्पादन अनुपात होगा। परन्तु वास्तविकता यह है कि साधनों के मध्य कुछ अंश में स्थानापन्न सम्भव होता है तथा इस कारण स्थिर पूँजी-उत्पादन अनुपात की मान्यता पर आधारित त्वरक गुणांक अवास्तविक है तथा संसार में होने वाले आर्थिक उच्चावचनों के अध्ययन के लिये उपयुक्त नहीं है।

कुल पूँजी स्टाक तथा कुल उत्पादन के मध्य एक इस प्रकार का सम्बन्ध है कि इन दोनों के मध्य एक स्थिर अनुपात होता है। इस सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन में किसी दी हुई मात्रा में परिवर्तन करने के लिये पूँजी-स्टाक में भी पूँजी-उत्पादन अनुपात के अनुसार परिवर्तन करना होगा। इस सीमान्त पूँजी-उत्पादन अनुपात $\left(\frac{\triangle K}{\triangle Y}\right)$ को हम α कह सकते हैं। कुल उत्पादन में $\triangle Y$ मात्रा की वृद्धि करने के लिये कुल निवेश में $\alpha \triangle Y$ मात्रा में वृद्धि करना आवश्यक होगा। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि कुल निवेश में हुई वृद्धि ($\triangle Ip$),$\alpha \triangle Y$ के समान है तो यदि कुल आय में हुई वृद्धि ($\triangle Y$) शून्य है तो निवेश में भी शून्य वृद्धि होगी। इस निष्कर्ष के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि कुल उत्पादन में वृद्धि (अथवा कमी) करने के लिये निवेश में भी स्थिर दर पर, जो उत्पादन वृद्धि तथा त्वरक गुणांक द्वारा निर्धारित होती है, वृद्धि (अथवा कमी) करना आवश्यक होगा।

त्वरक सिद्धान्त यह बताता है कि अर्थव्यवस्था में कुल निवेश का वह भाग, जिसे प्रेरित निवेश कहते हैं उपभोग वस्तुओं की माँग में होने वाले परिवर्तनों की दर द्वारा निर्धारित होता है। हेयक ने त्वरक सिद्धान्त के सार को इन शब्दों में व्यक्त किया है : "साधारणतया किसी दी हुई अल्पावधि (उदाहरणार्थ एक वर्ष) में उपभोग वस्तुओं की किसी दी हुई मात्रा का उत्पादन करने के लिये कई गुना अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ने के कारण उपभोग वस्तुओं की

---

२. उपभोग व्यय में हुये परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के फलस्वरूप प्रेरित निवेश व्यय में हुये परिवर्तन के अनुपात को त्वरक गुणांक (acceleration coefficient) अथवा 'सम्बन्ध' (relation) कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि उपभोग व्यय में हुई १५ करोड़ रुपये राशि की वृद्धि होने के हेतु प्रेरित निवेश में ३० करोड़ रुपये राशि की वृद्धि होती है तो त्वरक गुणांक २ होगा। इस प्रकार त्वरक गुणांक उपभोग व्यय में हुई वृद्धितथा इस वृद्धि के फल स्वरूप प्रेरित निवेश में हुई वृद्धि के अनुपात को व्यक्त करता है।

माँग में किसी दी हुई मात्रा में वृद्धि होने के फलस्वरूप पूँजी वस्तुओं (capital goods) की माँग में नई उपभोग माँग की तुलना में कई गुना वृद्धि होगी।"[3]

त्वरक की क्रिया को एक सरल उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मानलीजिये कि बाइसिकल उद्योग में १ लाख बाइसिकलों का विनिर्माण करने के लिये बाइसिकल बनाने वाली १,००० मशीनों की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ यह है कि एक मशीन द्वारा १०० बाईसिकलें विनिर्मित की जाती हैं। यह भी मानलीजिये कि एक मशीन की आयु १० वर्ष की अवधि है। इसका अर्थ यह है कि कुल उत्पादन-क्षमता को स्थिर बनाए रखने के लिए बाइसिकल मशीनों की संख्या १,००० बनी रहनी चाहिये तथा मशीनों की संख्या को १,००० बनाये रखने के लिये प्रतिवर्ष १०० मशीनों की पुनःस्थापन माँग (replacement demand) उत्पन्न होगी। सन्तुलन स्थिति से आरम्भ करते हुये, बाईसिकलों की उपभोग माँग में परिवर्तन—वृद्धि अथवा कमी—होने के कारण बाईसिकल बनाने वाली मशीनों की कुल माँग में निम्नलिखित सारिणी के अनुसार परिवर्तन होंगे।

बाईसिकलों की माँग में परिवर्तन होने के त्वरक प्रभाव

समय अवधि	बाईसिकलों की कुल माँग	बाईसिकल बनाने वाली मशीनों की कुल माँग	मशीनों की प्रतिस्थापन मांग	मशीनों की नई मांग	मशीनों की कुल माँग (४+५)
१	२	३	४	५	५
०	०	०	०	०	०
१	१००,०००	१,०००	१००	०	१००
२	११०,०००	१,१००	१००	१००	२००
३	१२०,०००	१,२००	११०	१००	२१०
४	१२०,०००	१,२००	१२०	०	१२०
५	११०,०००	१,१००	१२०	—१००	२०
६	१००,०००	१,०००	११०	—१००	१०
७	८०,०००	८००	१००	—२००	०(—१००)

उपरोक्त सारणी के अध्ययन से कुछ रोचक निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। समय अवधि २ में बाइसिकलों की माग में १० प्रतिशत की वृद्धि (बाइसिकलों की माँग १००,००० से बढ़कर ११०,००० हो जाने पर) हो जाने के कारण बाईसिकल बनाने वाली मशीनों की माँग १०० से बढ़कर २०० हो जाती है, अर्थात् मशीनों की माँग में १०० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि उपभोग वस्तु—बाइसिकल—की माँग में १० प्रतिशत की वृद्धि होने से पूँजीगत वस्तु—बाईसिकल बनाने वाली मशीनों—की माँग में १०० प्रतिशत की त्वरक वृद्धि (accelerated increase) हो जाती है। परन्तु जब समय अवधि ३ में बाईसिकलों की माँग ११०,००० से बढ़कर १२०,००० हो जाती है (अर्थात् समय अवधि २ की अपेक्षा समय अवधि ३ में बाईसिकलों की

३. "Since the production of any given amount of final output usually requires an amount of capital several times larger than the output produced with it during any short period (say, a year) any increase in final demand will give rise to an additional demand for capital goods several times larger than that new final demand." (F. A. von Hayek : *Profit, Interest and Investment*, p. 18 ff.)

माँग में ९ प्रतिशत की वृद्धि होती है) तो मशीनों की कुल माँग २०० से बढ़कर केवल २१० होती है, अर्थात् समय-अवधि ३ में समय-अवधि २ की तुलना में मशीनों की माँग में केवल ५ प्रतिशत की वृद्धि होती है जबकि समय-अवधि २ में समय-अवधि १ की तुलना में इस माँग में १०० प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। समय-अवधि ४ में बाईसिकलों की माँग स्थिर रहती है अर्थात् इसमें समय अवधि ३ की अपेक्षा वृद्धि नहीं होती है। परन्तु समय-अवधि ४ में बाईसिकल बनाने वाली मशीनों की कुल माँग २१० से घटकर केवल १२० रह जाती है अर्थात् समय-अवधि ३ की तुलना में समय-अवधि ४ में मशीनों की माँग में ९० की कमी हो जाती है। बाईसिकल बनाने वाली मशीनों की माँग में इतनी तीव्र तथा अधिक कमी होने का कारण यह है कि समय अवधि ४ में मशीनों की नई माँग घटकर शून्य हो जाती है तथा इस कारण इस समय अवधि में मशीनों की कुल माँग केवल पुनः स्थापन माँग है। समय अवधि ५ में बाईसिकलों की कुल माँग १,२०,००० से घटकर १,१०,००० हो जाने के फलस्वरूप मशीनों की कुल माँग १२० से घटकर केवल २० हो जाती है। समय-अवधि ५ में मशीनों की कुल माँग में इस तीव्र तथा असाधारण कमी होने का यह कारण है कि मशीनों की नई माँग ऋणात्मक १०० होने के कारण बाईसिकल उद्योग में कुल उत्पादन-क्षमता पर्याप्त से अधिक हो जाती है तथा कुल उत्पादनक्षमता को कुल उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करने के योग्य बनाये रखने के लिये—अर्थात् १२० मशीनों की कमी को पूरा करने के लिये—केवल २० नई मशीनों की आवश्यकता होती है क्योंकि बाईसिकलों की कुल माँग में कमी हो जाने के कारण १०० मशीनें फालतू हो जाती हैं। अब यदि बाईसिकलों की माँग समय अवधि ६ में पुनः कम हो जाती है तथा घटकर १,१०,००० के स्थान पर १,००,००० हो जाती है तो मशीनों की नई माँग ऋणात्मक १०० हो जाती है। यद्यपि मशीनों की पुनःस्थापन माँग धनात्मक ११० है परन्तु मशीनों की कुल माँग केवल १० होगी क्योंकि १०० मशीन फालतू होने के कारण केवल १० अतिरिक्त मशीन प्राप्त करने से कुल उत्पादन क्षमता कुल उपभोग माँग की पूर्ति करने के योग्य बनी रहेगी। यदि समय अवधि ७ में बाईसिकलों की माँग घटकर ८०,००० हो जाती है तो बाईसिकल बनाने वाली मशीनों की कुल माँग ऋणात्मक हो जावेगी। इसका अर्थ यह है कि बाईसिकल विनिर्माण उद्योग की उत्पादन क्षमता इतनी अधिक हो जावेगी कि मशीनों के घिस जाने के कारण हुई क्षति की पूर्ति करने के पश्चात् भी १०० मशीनें फालतू होंगी। परन्तु वास्तविक रूप से मशीनों की माँग शून्य से अधिक कम नहीं होगी क्योंकि घिसी मशीनों का पुनःस्थापन न करने के अतिरिक्त अन्य कुछ सम्भव नहीं है।

उपरोक्त सारणी के अध्ययन द्वारा ज्ञात होता है कि मशीनों अथवा पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) की परोक्ष माँग अत्यधिक सचेतन होती है तथा उपभोग वस्तुओं (बाईसिकलों) की माँग में थोड़ा सा परिवर्तन होने से पूँजीगत वस्तुओं की कुल माँग में भारी परिवर्तन हो जाता है। पूँजीगत वस्तुओं की परोक्ष माँग में अत्यधिक परिवर्तन होने की इस प्रवृत्ति के कारण अर्थ-व्यवस्था में समय समय पर आर्थिक अस्थिरता की घटना विद्यमान होती रहती हैं। इसके अतिरिक्त सारणी के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि त्वरक-प्रभाव की शक्ति पूँजीगत वस्तुओं (मशीनों) की नई माँग तथा पुनःस्थापन माँग के अनुपात अर्थात् पूँजीगत वस्तुओं (मशीनों) की चिरस्थायिता (durability) पर निर्भर होती है। यदि पूँजीगत वस्तुओं की चिरस्थायिता अधिक होती है तो पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में प्रचण्ड उतार-चढ़ाव होंगे। इसके विपरीत यदि पूँजीगत वस्तुओं में

टिकाऊपन का अभाव है अथवा इनकी आयु कम है तो इनके उत्पादन में केवल साधारण प्रकार के उतार-चढ़ाव होंगे ।[4]

गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया (Interaction of Multiplier and Accelerator)

यदि निवेश में वृद्धि कई त्वरक समय अवधियों तक लगातार होती रहती है तो, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति स्थिर रहते हुए, प्रत्येक पश्चावर्ती गुणक अवधि में उपभोग व्यय में शुद्ध वृद्धि होती रहेगी, यद्यपि प्रत्येक पश्चावर्ती गुणक अवधि में कुल उपभोग व्यय में यह वृद्धि घटती हुई दर पर होगी । उपभोग व्यय में वृद्धि होने के कारण निवेश में भी वृद्धि होती है । उपभोग व्यय में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप प्रेरित निवेश में कितनी अधिक अथवा कम वृद्धि होगी यह नई उपभोग माँग की दिशा तथा अर्थव्यवस्था में उपस्थित बेशी उत्पादन-क्षमता पर निर्भर करेगी । यदि त्वरक गुणक २ है तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ०·५ है तो गुणक तथा त्वरक के सम्मिलित प्रभाव (combined effect) को निम्नलिखित सारणी द्वारा समझाया जा सकता है ।

समय अवधि	स्वायत्त निवेश	प्रेरित उपभोग $\left(\frac{\triangle C}{\triangle Y} = ०·५\right)$	प्रेरित निवेश $\left(\frac{\triangle K}{\triangle Y} = \alpha = २\right)$	आय में कुल वृद्धि
०	०	०	०	०
१	१००	०	०	१००
२	१००	५०	१००	२५०
३	१००	११५	१५०	३७५
४	१००	१८७·५०	१२५	४१२.५०
५	१००	२०६·२५	३७·५०	३४३·७५
६	१००	१७१·८७	—६८·७५५	२०३·१२
७	१००	१०१·५६	—१४०·६२	६१ ९४
८	१००	३०·९७	—१४१·१८	−१०·२१

उपरोक्त सारणी के अध्ययन से स्पष्ट है कि गुणक तथा त्वरक का सम्मिलित प्रभाव अकेले गुणक के प्रभाव की तुलना में अधिक शक्तिशाली होता है । गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया के परिणामस्वरूप कुल राष्ट्रीय आय में तीव्रगति से अत्यधिक वृद्धि होती है । केवल गुणक के प्रभाव के कारण राष्ट्रीय आय में हुई वृद्धि इस वृद्धि की तुलना में काफी कम होती है । इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि गुणक तथा त्वरक के सम्मिलित प्रभाव के कारण समस्त आय में किसी दी हुई मात्रा में वृद्धि करने के लिये स्वायत्त निवेश की मात्रा में इतनी अधिक वृद्धि करने की जितनी कि साधारण गुणक सिद्धान्त द्वारा ज्ञात होती है आवश्यकता नहीं है । स्वायत्त निवेश में कम मात्रा में वृद्धि करके राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती

4. उपरोक्त बाइसिकल तथा मशीनों के उदाहरण मे यदि यह मान लिया जावे कि प्रत्येक मशीन की आयु अथवा चिरस्थायिता २० वर्ष है तो उपरोक्त सारणी में चौथी पंक्ति में मशीनों की प्रतिस्थापन माँग १००, १००, ११० १२०, ११० तथा १०० के स्थान पर ५०, ५०, ५५, ६०, ५५ तथा ५० होगी । सारणी की पाँचवी पंक्ति में नई माँग स्थिर रहने के कारण सारणी की अन्तिम पंक्ति में मशीनों की कुल माँग सम्बन्धी आँकड़े १००, २००, २१०, १२०, २० १० तथा शून्य के स्थान पर ५०, १५०, १५५, ६०, शून्य (−४०), शून्य (−८५) तथा शून्य (−१४५) होंगे ।

है। गुणक तथा त्वरक के सम्मिलित प्रभाव द्वारा स्वायत्त निवेश की मात्रा में तुलनात्मक रूप में कम वृद्धि करके अर्थव्यवस्था में मन्दी समाप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त गुणक तथा त्वरक का सम्मिलित प्रभाव अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्रों के उत्पन्न होने के कारणों को भी सही प्रकार से समझने में सहायक सिद्ध होता है।

त्वरक सिद्धान्त की आलोचनायें

गुणक सिद्धान्त के समान त्वरक सिद्धान्त भी अर्थशास्त्रियों के लिये घने वादविवाद का विषय बन गया है। कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अचल पूंजीगत वस्तुओं (fixed capital goods) के सम्बन्ध में त्वरक का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। यदि उपभोग वस्तुओं की माँग में हुई वृद्धि अल्पकालीन है तो प्रेरित निवेश में वृद्धि नहीं होगी तथा त्वरक क्रियाशील नहीं होगा। इस तर्क में काफी तथ्य है क्योंकि उद्योगपति नई उत्पादन इकाइयों का निर्माण अथवा पुरानी उत्पादन इकाइयों का विस्तार केवल तभी करते हैं जब वे यह आशा करते हैं कि उपभोग वस्तुओं की माँग में होने वाली वृद्धि दीर्घकालीन है।

दूसरे, त्वरक सिद्धान्त उस समय लागू नहीं होता है जब अर्थव्यवस्था में बेशी उत्पादन क्षमता उपस्थित होती है। उदाहरणार्थ, मन्दीकाल में जब अर्थव्यवस्था में काफी उत्पादन इकाइयाँ —मिलें—अर्थव्यवस्था में पर्याप्त उपभोग माँग न होने के कारण बन्द पड़ी होती हैं, उपभोग व्यय में वृद्धि होने के कारण प्रेरित निवेश में उस समय तक कोई वृद्धि सम्भव नहीं हो सकेगी जब तक कि समस्त उत्पादन क्षमता का इष्टतम उपयोग नहीं होगा। समस्त उपलब्ध उत्पादन क्षमता का इष्टतम उपयोग होने के पश्चात् ही अर्थव्यवस्था में नवीन अतिरिक्त निवेश किया जावेगा। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि त्वरक सिद्धान्त उस समय लागू होता है जब अर्थव्यवस्था में सभी उत्पादन इकाइयाँ इष्टतम उत्पादन करती होती हैं, अर्थात् जब अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान होती है। मन्दी के समय में त्वरक सिद्धान्त का लागू न होना इस रहस्य को समझाता है कि कीन्स की पुस्तक *General Theory* में यद्यपि गुणक सिद्धान्त की व्याख्या की गई है परन्तु त्वरक की व्याख्या नहीं की गई है। कीन्स की पुस्तक 'तीसा' की महान मन्दी का परिणाम होने के कारण इसमें त्वरक की व्याख्या नहीं की गई है क्योंकि मन्दी काल में अर्थव्यवस्था में बेशी उत्पादनक्षमता उपस्थित होने के कारण त्वरक क्रियाशील नहीं होता है।

त्वरक सिद्धान्त की तीसरी आलोचना यह है कि यह स्थिर पूँजी-उत्पादन अनुपात (fixed capital-output ratio) की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है। गत्यात्मक संसार में प्रोद्योगिकी विकास तथा नवीन प्रक्रियाओं का निर्माण होते रहने के कारण पूँजी-उत्पादन अनुपात में परिवर्तन होते रहते हैं।

इसके अतिरिक्त त्वरक सिद्धान्त केवल इस मान्यता पर आधारित है कि वर्तमान उपभोग व्यय में वृद्धि होने के कारण प्रेरित निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है। वर्तमान उपभोग व्यय में वृद्धि होने के अतिरिक्त निवेश की मात्रा पर भविष्य माँग सम्बन्धी आशंसाओं का भी प्रभाव पड़ता है। यदि विनिर्माता भविष्य में उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने की आशा करते हैं तो वे अपने निवेश में वृद्धि करेंगे भले ही वर्तमान उपभोग माँग कम क्यों न हो। इसके विपरीत

5. अर्थव्यवस्था के संदर्भ में ऋणात्मक प्रेरित निवेश का यह अर्थ है कि इस समय अवधि में अर्थव्यवस्था में कुल निवेश उस निवेश की तुलना में कम है जो उस समय संभव हुआ होता जब प्रेरित निवेश ऋणात्मक न हुआ होता।

यदि विनिर्माता भविष्य के सम्बन्ध में निराशावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं तो वर्तमान उपभोग माँग अधिक होते हुये भी वे निवेश में वृद्धि नहीं करेंगे ।

अन्तिम, त्वरक सिद्धान्त उपभोग व्यय में परिवर्तन होने के फलस्वरूप केवल निवेश की माँग में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करता है । यह सिद्धान्त उन परिस्थितियों का अध्ययन नहीं करता है जिनमें कुल उपभोग वस्तुओं की समस्त माँग समान रहते हुए कुछ उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि तथा अन्य कुछ उपभोग वस्तुओं की माँग में कमी होने के कारण निवेश में वृद्धि हो जाती है ।

परन्तु उपरोक्त दोष होते हुये भी त्वरक सिद्धान्त गुणक सिद्धान्त के साथ मिलकर व्यापार चक्र के विश्लेषण में बहुत उपयोगी यन्त्र सिद्ध हुआ है । गुणक तथा त्वरक के सम्मिलित प्रभाव की अनुपस्थिति में व्यापार चक्रों का आकार साधारण हुआ होता तथा इनका नियंत्रण करना भी अधिक सरल हुआ होता ।

अतिगुणक (Super-multiplier)

अतिगुणक गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया द्वारा प्राप्त गणितीय परिणाम है । अतिगुणक स्वायत्त निवेश तथा सन्तुलन उत्पादन के अनुपात को व्यक्त करता है । अतिगुणक ज्ञात होने से हम स्वायत्त निवेश में किसी दी हुई राशि $\triangle I$ की वृद्धि होने के हेतु आय में हुई कुल वृद्धि $\triangle Y$ को ज्ञात कर सकते हैं । अतिगुणक स्थिर रहते हुए स्वायत्त निवेश में अधिक वृद्धि होने पर सन्तुलन आय में भी अतिगुणक गुना वृद्धि होगी ।

त्वरक तथा गुणक के संयुक्त प्रभाव के उपरोक्त वर्णन से हमें यह ज्ञात है कि स्वायत निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि उपभोग में वृद्धि करने के अतिरिक्त प्रेरित निवेश में भी वृद्धि उत्पन्न करती है । इस कारण स्वायत्त निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि के हेतु समस्त आय में हुई कुल वृद्धि को ज्ञात करने के लिये हमको उपभोग तथा प्रेरित निवेश में हुई उस वृद्धि का पता लगाना चाहिए जो स्वायत्त निवेश में हुई किसी दी हुई वृद्धि $\triangle I$ का परिणाम है । कुल आय (Y) कुल उपभोग (C), कुल स्वायत्त निवेश (I_A) तथा कुल प्रेरितनिवेश (I_P) का योग होगी, अर्थात्

$$Y=C+I_A+I_P \qquad (१)$$

उपभोग के साथ प्रेरित निवेश भी उपभोग के माध्यम द्वारा आय का परिणाम होता है । प्रेरित निवेश में होने वाले परिवर्तनों—वृद्धि अथवा कमी—का प्रमुख कारण उपभोग व्यय में होने वाले परिवर्तन—वृद्धि अथवा कमी—होते हैं । परन्तु उपभोग व्यय स्वयं आय का स्थिर फलन होता है । आय तथा उपभोग के मध्य यह स्थिर सम्बन्ध सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होता है ।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\left(\frac{\triangle C}{\triangle Y}\right)$ के समान सीमान्त निवेश प्रवृत्ति (MPI) की भी कल्पना की जा सकती है । यह कुल आय में हुए इकाई परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के कारण प्रेरित निवेश में हुए परिवर्तन का अनुपात होगी । सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को c तथा सीमान्त निवेश प्रवृत्ति को a द्वारा व्यक्त करने पर उपरोक्त समीकरण (१) को निम्नांकित प्रकार लिखा जा सकता है ।

$$Y=cY+I_A+aY \qquad (२)$$

$$Y-cY-aY=I_A$$

$$Y(१-c-a)=I_A$$

$$Y = \frac{१}{१ - c - a} I_A \qquad (३)$$

स्वायत्त निवेश में किसी दी हुई मात्रा $\triangle I_A$ की वृद्धि होने के हेतु कुल आय में वृद्धि होगी तथा नई आय (Y′) के समीकरण को निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$Y' = cY + I_A + aY + \triangle I_A$$
$$= \frac{१}{१ - c - a} I_A + \triangle I_A \qquad (४)$$

यह ज्ञात करने के लिए कि स्वायत्त निवेश में $\triangle I_A$ मात्रा की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप आय में कुल कितनी वृद्धि ($\triangle Y$) होती है नई आय (Y′) में से पुरानी आय (Y) को घटाना होगा, अर्थात्

$$\triangle Y = Y' - Y = \frac{I_A + \triangle I_A}{१ - c - a} - \frac{I_A}{१ - c - a}$$

$$= \frac{\triangle I_A}{१ - c - a} = \frac{१}{a - c - १} \triangle I_A \qquad (५)$$

उपरोक्त समीकरण में $\frac{१}{१ - c - a}$ अतिगुणक है। कीन्स के साधारण गुणक k तथा इसके मध्य भिन्नता रखने के लिए इसे k' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। $\frac{१}{१ - c - a}$ में c तथा a प्रत्येक का पृथक अंकीय मूल्य शून्य से अधिक तथा एक से कम है। इसके अतिरिक्त स्थिरता के लिये $a + c$ का संयुक्त अंकीय मूल्य भी एक से कम है।

c तथा a के अंकीय मूल्य सम्बन्धी उपरोक्त दोनों मान्यताओं के अन्तर्गत सन्तुलन आय निर्धारित हो सकती है तथा यह स्वायत्त निवेश का अतिगुणक (k') गुना होगी। उदाहरणार्थ, यदि c का मूल्य ०·६ तथा a का मूल्य ०·२ है तथा स्वाग्रत्त निवेश में १०० करोड़ रुपये की राशि की वृद्धि होती है तो कुल आय में ५०० करोड़ रुपये की कुल वृद्धि होगी। इसको निम्नलिखित प्रकार सिद्ध किया जा सकता है।

$$\triangle Y = \frac{१}{१ - c - a} \triangle I_A$$

$$= \frac{१}{१ - ०·६ - ०·२} १००$$

$$= \frac{१}{०·२} १०० = ५००$$

यहाँ साधारण गुणक (k) तथा अतिगुणक (k') के मध्य अन्तर को सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। साधारण गुणक $\left(\frac{१}{१-c}\right)$ के अनुसार आय में कुल वृद्धि केवल २५० करोड़ रुपये होगी जबकि अतिगुणक $\left(\frac{१}{१-c-a}\right)$ के अनुसार आय में कुल वृद्धि [illegible]० करोड़ रुपये की राशि की होगी।

अध्ययन सूची

1. J. R. Hicks : A Contribution to the Theory of the Trade Cycle.
2. Kenneth K. Kurihara : Introduction to Keynesian Dynamics, Chapter 6.
3. J. M. Clark : "Business Acceleration and the Law of Demand : A Technical Factor in Economic Cycles." *J. P. E. Vol. XXV, March* 1917.
4. G. von Haberler : Prosperity and Depression (4th edition), 1958), pp. 85-105.
5. Paul A. Samuelson : "Interaction between the Multiplier Analysis and the Principle of Acceleration", *Review of Economic Statistics*, May 1939, reprinted in A. E. A's *Readings in Business Cycle Theories.*
6. A. H. Hansen : Business Cycles and National Income, (expanded edition), Chapter 11.
7. J. S. Duesenberry : "Hicks on the Trade Cycle", Quarterly Journal of Economics, August 1950.
8. Dernburg & McDougal : Macroeconomics (3rd edition.). Chapter 18.
9. R. A. Gordon : Business Fluctuations (second ed.), Chapter 6.

प्रश्न

1. Explain the working of the combined action of the multiplier and acceleration. Do you think this combined action causes the income to fluctuate more violently and rapidly than the simple action of the multiplier ?
2. Is it correct to say that the trade cycle is caused by the interaction of the multiplier and the accelerator ?
3. The principle of acceleration does not operate at all times. It operates when the economy is working at the full or near-full capacity. Discuss

१६

मौद्रिक नीति
(Monetary Policy)

आर्थिक साहित्य में 'मौद्रिक नीति' शब्द का श्रीगणेश गत ६० वर्षों में हुआ है क्योंकि १९ वीं शताब्दी के आर्थिक साहित्य, राजनीतिक विवादों तथा पत्रों में इसका जिक्र नहीं है। परन्तु ऐसा होते हुये भी यह कहना सत्य है कि आदिकाल से मौद्रिक नीति का प्रयोग किया जाता रहा है। प्लेटो, अरस्तु तथा जीनोफन के प्राचीन समय से ही मुद्रा के विषय पर लिखने वाले लेखकों ने मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में, 'मौद्रिक नीति' शब्द का प्रयोग किये बिना लिखा था तथा इन लेखकों के लेखनकार्यों के प्रकाशित होने के काफी पूर्व समय से प्रशासक मौद्रिक प्रणाली से संबद्ध प्रश्नों पर निर्णय लेते रहे थे।

अर्थव्यवस्था में राज्य द्वारा किसी विशेष आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति (उदाहरणार्थ, कीमत स्थिरता, विदेशी विनिमय दर स्थिरता, पूर्ण रोजगार अथवा विकास) के हेतु संचलन में मुद्रा की मात्रा के प्रसार तथा संकुचन के प्रबन्धन को मौद्रिक नीति कहते हैं। हैरी जॉनसन (Harry G. Johnson) के अनुसार मौद्रिक नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक की "उस नियन्त्रण नीति से है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक सामान्य आर्थिक नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से द्रव्य की पूर्ति पर नियन्त्रण करती है"।[1] पॉल आइंजिग (Paul Einzig) के अनुसार मौद्रिक नीति मे "वे सब मौद्रिक निर्णय तथा उपाय, उनके उद्देश्य मौद्रिक हों अथवा अमौद्रिक हों, तथा वे सब अमौद्रिक निर्णय सम्मिलित होते हैं जिनका उद्देश्य मौद्रिक प्रणाली पर प्रभाव डालना होता है। इस परिभाषा के अन्तर्गत मौद्रिक नीति के विषय क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार के उन उपायों के अतिरिक्त, जो द्रव्य के मूल्य तथा इसकी पूर्ति पर प्रभाव डालने के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे मौद्रिक उपाय भी सम्मिलित किये जा सकते हैं जो अमौद्रिक-आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक-लक्ष्यों की प्राप्ति के हेतु किये जाते हैं। इसी प्रकार कीमत तथा वेतन नियन्त्रण, निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी करने, बेरोजगारी को समाप्त करने, बजट नीति, आय नीति सम्बन्धी वे उपाय भी

---

1. Harry G. Johnson: 'Monetary Theory and Policy', *American Economic Review*, 1962, p 337.

मौद्रिक नीति में सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य मौद्रिक स्थिति को प्रभावित करना होता है"।[2] साधारणतया सभी प्रकार के मौद्रिक तथा बैंकिंग विनियम मौद्रिक नीति के रूप हैं क्योंकि इन सभी विनियमों का लक्ष्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल उपलब्ध मात्रा का, इसको कम अथवा अधिक करके तथा इसको निवेशकर्त्ताओं के लिये मंहगी अथवा सस्ती बनाकर, अर्थव्यवस्था में किसी निर्धारित आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु नियमन करना होता है। इन विनियमों में ब्याज दरों में परिवर्तन, नये बैंकों की स्थापना सम्बन्धी नियम, बैंकों की उधारदान नीति का नियमन, बैंकों की न्यूनतम पूँजी तथा नकदी कोष सम्बन्धी अधिनियम, न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात, न्यूनतम गौण आरक्षण, गुणात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण नीति इत्यादि सम्मिलित हैं। संक्षेप में मौद्रिक नीति की दो प्रमुख विशेषताएं हैं। प्रथम, मौद्रिक नीति का निर्माण करने वाले प्राधिकारियों के समक्ष कोई निश्चित उद्देश्य होना चाहिये। दूसरे, इस उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु उनको निरन्तर तथा शीघ्र मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण रखने वाले यन्त्रों का प्रयोग करते रहना चाहिये।

मौद्रिक नीति के यंत्र परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दो प्रकार के होते हैं। निश्चित निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से केन्दीय बैंक आवश्यकतानुसार एक साथ दोनों यंत्रों का प्रयोग कर सकती है। परिमाणात्मक यंत्रों में बैंक दर, खुले बाजार की क्रियायें जिनके अन्तगर्त केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में सरकारी ऋणपत्रों का क्रय-विक्रय करता है तथा न्यूनतम कानूनी आरक्षित अनुपात के यंत्र सम्मिलित हैं। गुणात्मक यंत्रों में अर्थव्यवस्था में अंगीय स्फीति अथवा अवस्फीति पर नियंत्रण करने के उद्देश्य से विशेष कार्यों के लिये ऋण प्रदान करने के सम्बन्ध में बैंकों की अधिकतम उधारदान सीमा को निर्धारित करना, बैंकों को उनकी औद्योगिक ऋण सम्बन्धी नीति पर आदेश जारी करना, केन्द्रीय बैंक द्वारा सदस्य बैंको का निरीक्षण करना तथा अपराधी बैंकों के सम्बन्ध में विशेष प्रकार की प्रत्यक्ष कार्यवाही करना सम्मिलित हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मौद्रिक नीति का संसार के देशों में आन्तरिक आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने के उद्देश्य काफी घना उपयोग किया गया है। स्वर्णमान का परित्याग हो जाने के पश्चात् तथा 'तीसा' की महान मन्दी के समय से लेकर द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने के समय तक मौद्रिक नीति को केवल सस्ती मुद्रा (cheap money) उत्पन्न करने का साधन मात्र समझा जाता था। परन्तु वर्तमान समय में मौद्रिक नीति को सभी देशों में आर्थिक सुधारों तथा आर्थिक स्थिरता तथा देश में आर्थिक सुधारों तथा आर्थिक स्थिरता व सन्तुलित आर्थिक विकास को सम्भव बनाने का प्रमुख साधन स्वीकार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, वर्तमान समय में मौद्रिक नीति को संसार के सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं में उच्च स्थान प्राप्त है। वर्तमान समय में मौद्रिक नीति को यह महान महत्व प्राप्त होने के कई कारण हैं। संसार के देशों की सरकारों का मौद्रिक नीति की ओर ध्यान आकर्षित होने का प्रथम कारण युद्ध तथा युद्धपश्चात काल में बड़े पैमाने पर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाने के कारण स्फीति के भयानक रोग के उत्पन्न होने से है। दूसरे, युद्ध के पश्चात मौद्रिक नीति में पुन: विश्वास उत्पन्न होने का कारण यह था कि संसार के विकसित देशों की सरकारें केवल अमौद्रिक नीतियों के प्रयोग के द्वारा स्फीति की समस्या को सुलझाने में असमर्थ सिद्ध हुई थीं। तीसरे, इस सत्य को भी समझा जाने लगा था कि यद्यपि कर नीति, निवेश, कीमत तथा वेतन सम्बन्धी नियन्त्रणों का स्फीति को रोकने में विशेष स्थान होता है परन्तु

2. Paul Einzig : *Monetary Policy : Ends and Means*, p. 50.

इन सब के उपयोग की निश्चित सीमायें अन्तर्राष्ट्रीय तथा आन्तरिक राजनीतिक स्थितियों द्वारा निर्धारित होती हैं। इस कारण मौद्रिक नीति का उपयोग किये बिना स्फीति पर विजय प्राप्त करना कठिन है। मौद्रिक नीति का उपयोग अमौद्रिक नीति की सहायता करने के लिये आवश्यक है।

स्फीति को उत्पन्न करने में मौद्रिक कारणों का जो विशेष महत्व रहा है तथा इसको रोकने के लिये मौद्रिक यन्त्रों के प्रयोग के विशेष महत्व को एम० एच० डी० कॉक ने इस प्रकार व्यक्त किया हैं : "संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'तीमा' में आरम्भ होने वाली स्फीति की अनेक अवस्थाओं की उत्पत्ति का प्रथम मूल कारण द्वितीय महायुद्ध में सरकार के व्यय में अत्यधिक वृद्धि का होना था। इसका दूसरा कारण यह था कि युद्ध-पश्चात काल में देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण कार्यों पर बहुत अधिक मात्रा में व्यय करना पड़ा था। तीसरे, कोरिया युद्ध को लड़ने तथा युद्ध की तैयारी करने के हेतु आवश्यक युद्ध सामग्री को प्राप्त करने के हेतु अमरीका, इंगलैंड, रूस, फ्रांस इत्यादि अधिकांश देशों में भारी मात्रा में व्यय किया गया था। चौथे, इन सब बातों के अतिरिक्त युद्ध-पश्चात काल में संसार के लगभग सभी देशों ने समाज कल्याण सेवाओं पर, जो प्रत्यक्ष रूप से तत्काल अवधि में उत्पादक नहीं थी, घनी मात्रा में व्यय किया था। इन विभिन्न अनुत्पादक खर्चों के होने के कारण संचलन में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो गई थी, जिसके कारण समाज में लोगों की कुल मौद्रिक आय, क्रय-शक्ति, करदान क्षमता तथा उनकी बचत शक्ति में वृद्धि हो गई थी। यद्यपि युद्धकाल में करों तथा बचत में काफी वृद्धि हो गई थी और ये कर तथा बचत व्यक्तिगत क्षेत्र में होने वाले व्यय पर अप्रत्यक्ष रूप से रोक का कार्य करते थे परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में निरन्तर बढ़ते हुए व्यय के कारण इनका सब प्रभाव नष्ट हो जाता था। इसके अतिरिक्त समय समय पर नोटों का मुद्रण करके मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाकर सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय किया जाता था। उत्पादन तथा व्यापार की मात्रा में वृद्धि न होने के कारण इस सबका यह परिणाम होता था कि कीमतों में वृद्धि हो जाती थी तथा स्फीति को समस्या और अधिक जटिल होती जाती थी"।[3] आज संसार के सभी देशों में आर्थिक स्थिरता स्थापित करने में मौद्रिक नीति के प्रत्यक्ष महत्व को समझा जाने लगा है।

मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्य

(१) विदेशी विनिमय दर स्थिरता (Foreign Exchange Rate Stability)
(२) कीमत स्थिरता (Price Stability)
(३) पूर्ण रोजगार (Full Employment) ; तथा
(३) आर्थिक विकास (Economic Growth)

मौद्रिक नीति के उपरोक्त प्रमुख उद्देश्यों का क्रमशः सविस्तार विवरण निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है।

विदेशी विनिमय दर स्थिरता

उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी में स्वर्णमान का खण्डन होने के पूर्व तक विनिमय दर स्थिरता प्रत्येक स्वर्णमान देश की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य था। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उपयुक्त प्रोत्साहन प्राप्त होता था। यही कारण था कि स्वर्णमान में अनेक दोष होते

3. M. H. de kock : *Central Banking*, 3rd edition, p. 293.

हुए भी संसार के लगभग सभी देशों ने इसे अपनाया था। परन्तु 'तीसा' की मन्दी के आर्थिक संकट के अनुभव के पश्चात् विचारधारा विदेशी विनिमय दर स्थिरता के विपक्ष में होकर कीमत स्थिरता के पक्ष में हो गई थी। विदेशी विनिमय दर अस्थिरता की समस्या विभिन्न देशों में कीमतों में परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होती है क्योंकि यदि सभी देशों में कीमतें स्थिर रहती हैं तो विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन की समस्या उत्पन्न नहीं होती है। परन्तु जब संसार के विभिन्न देशों में वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में असमान परिवर्तन होते हैं तब विदेशी विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने के कारण किसी देश विशेष के घरेलू लागत-कीमत ढाँचे में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में देश की सरकार को विदेशी विनिमय दर स्थिरता तथा कीमत स्थिरता के बीच निर्णय करना पड़ता है।

मौद्रिक नीति द्वारा विदेशी विनिमय दर स्थिरता प्राप्त करने के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम, विदेशी विनिमय दर स्थिरता के पक्ष में यह कहा जाता है कि विनिमय दर अस्थिरता की ओर संसार का ध्यान आकर्षित होने के कारण इसकी कीमत स्तर की अस्थिरता की अपेक्षाकृत अधिक चर्चा होती है। यदि किसी देश की विदेशी विनिमय दर में तनिक सा भी परिवर्तन हो जाता है तो सभी देशों को इसका पता हो जाता है और उस देश की आर्थिक स्थिति अन्य देशों की चर्चा का विषय बन जाती है। परन्तु यदि विदेशी विनिमय दर स्थिर रहती है तथा इस स्थिरता के कारण आन्तरिक कीमत-स्तर में उच्चावचन होते हैं तो इन उच्चावचनों का संसार के बहुत कम देशों को पता लग पाता है। उदाहरणार्थ; जब किसी देश की विदेशी विनिमय दर में १० प्रतिशत की वृद्धि अथवा कमी होती है तो इसका सभी को पता लग जाता है। परन्तु आन्तरिक कीमतों में १० प्रतिशत की कमी अथवा वृद्धि सभी देशों का ध्यान आकर्षित नहीं करती है। उदाहरणार्थ, १९२५ ई० में इंगलैण्ड द्वारा स्वर्णमान को युद्ध-पूर्व समता दर पर पुनः अपनाने का प्रमुख कारण यह था कि ऐसा न करने से तथा स्वर्णमान को पौंड-स्टर्लिंग को नीचे डालर मूल्य पर अपनाने से इंगलैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय वित्तिय प्रतिष्ठा की क्षति होती।

दूसरे, विदेशी विनिमय दर स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास के लिए आवश्यक है। विदेशी विनिमय दर की अस्थिरता के कारण देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तिय तथा व्यापारिक सम्बन्ध अस्त व्यस्त हो जाते हैं। विदेशी विनिमय दर में अस्थिरता विदेशी विनिमय बाजार में सट्टेबाजी की क्रियाओं को प्रोत्साहित करती है। अस्थिर विदेशी विनिमय दर का अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की गतियों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। जिस देश की विदेशी विनिमय दर में अस्थिरता उत्पन्न होती रहती है उस देश की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्टा कम हो जाती है तथा सरकार को विदेशी ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है। ऋणी देश के लिए विदेशी विनिमय दर स्थिरता कीमत स्थिरता की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होती है। तीसा का महान् आर्थिक संकट इस सत्य का साक्षी है कि विदेशी विनिमय दर में अस्थिरता उत्पन्न होने के कारण एक ओर देश का विदेशी व्यापार अस्तव्यस्त हो जाता है तथा दूसरी ओर देश को विदेशी ऋण प्राप्त होने समाप्त हो जाते हैं तथा पुराने ऋणों के भुगतानों की माँग होने लगती है। इन सब बातों का देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर खराब प्रभाव पड़ता है तथा देश का सन्तुलित आर्थिक विकास करना कठिन कार्य हो जाता है। तीसा के महान संकट के समय स्वर्णगुट देशों के स्वर्ण कोषों पर जो अत्यधिक दबाव पड़ा था वह इस सत्य की पुष्टि करता है कि अस्थिर विदेशी विनिमय दर राष्ट्र के लिये घातक प्रभाव उत्पन्न करती है। देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य—विदेशी विनिमय दर—में आकस्मिक भारी उच्चावचनों के परिणामस्वरूप संसार में सट्टेबाज

पूँजी को यथासम्भव तरलरूप में संचित रखते हैं जिससे कि वे अनुकूल अवसर प्राप्त होने पर इसे अधिक सुरक्षित मुद्रा में परिवर्तित कर सकें। निवेशकर्ताओं में अपनी पूँजी को नकदी में संचित रखने की प्रवृत्ति उत्पन्न होने से स्वर्ण का भारी मात्रा में निसंचय होने लगता है; परिणामस्वरूप देश में अवस्फीति उत्पन्न हो जाती है।

तीसरे, स्वीडन, नार्वे, जापान, डेनमार्क, न्यूजीलैंड तथा इङ्गलैंड के समान उन छोटे राष्ट्रों के लिए, जो राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा आर्थिक समृद्धि के लिये घरेलू माँग की अपेक्षा विदेशी माँग (व्यापार) पर अधिक आश्रित होते हैं, विदेशी विनिमय दर स्थिरता बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि विदेशी विनिमय दर अस्थिरता के कारण देश का विदेशी व्यापार अस्तव्यस्त हो जाता है जिसके कारण राष्ट्रीय आय में उच्चावचन उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप देश की अर्थ-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है। ऐसे देशो की मौद्रिक नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय दर को स्थिर बनाये रखना होना चाहिए। ऐसे देश के लिए विदेशी विनिमय दर स्थिरता का महत्व उस समय और अधिक हो जाता है जब विदेशी व्यापार पर आश्रित होने के अतिरिक्त देश आर्थिक समृद्धि के लिये विदेशी ऋणों पर भी आश्रित होता है। संक्षेप में अधिक आर्थिक सहयोग तथा संतुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास की दृष्टि से विदेशी विनिमय दर स्थिरता देश की मौद्रिक नीति का उद्देश्य होना चाहिए।

परन्तु विदेशी विनिमय दर स्थिरता की नीति का एक गम्भीर दोष यह है कि यह देश में कीमत अस्थिरता की घटना को जन्म देकर देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था का सन्तुलन नष्ट कर देती है। कीमत अस्थिरता के परिणामस्वरूप देश में आर्थिक अशान्ति उत्पन्न होने के अतिरिक्त कुछ समय पश्चात् सामाजिक तथा राजनीतिक अस्थिरता विद्यमान हो जाती है। संसार का आर्थिक इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि स्फीति तथा अवस्फीति के समय में सामाजिक तथा राजनीतिक उथलपुथल उत्पन्न होती हैं। जर्मनी में हिटलर तथा इटली में मुसोलिनी का उदय अस्थिर कीमतों—स्फीति तथा अवस्फीति के काल में हुआ था। इससे स्पष्ट है कि विदेशी विनिमय दर स्थिरता के साथ-साथ राष्ट्रीय आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिरता के लिये कीमत स्थिरता का भी होना आवश्यक है।

२. कीमत स्थिरता

विदेशी विनिमय दर स्थिरता के लक्ष्य के प्रति अविश्वास व्यक्त करते हुए कुछ अर्थ-शास्त्रियों ने इस तर्क पर भारी बल दिया है कि केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का लक्ष्य सामयिक अथवा चिरकालीन कीमत स्थिरता प्राप्त करना होना चाहिये तथा तीसा की महान् मन्दी के पश्चात् विदेशी विनिमय दर स्थिरता के स्थान पर कीमत स्थिरता को मौद्रिक नीति का उद्देश्य स्वीकार किया जाने लगा है। विदेशी विनिमय दर स्थिरता प्राप्त करने के लिए बहुधा देश को आन्तरिक कीमत स्थिरता का त्याग करना पड़ता था। देश में कीमतों में अस्थिरता उत्पन्न होने के कारण देश की अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती थी। देश में बेरोजगारी, निवेश में गिरावट तथा वेतन अस्थिरता उत्पन्न हो जाती थीं। गस्टव कैसल तथा कीन्स ने इस बात का समर्थन किया है कि देश की मौद्रिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता प्राप्त करना होना चाहिए क्योंकि कीमत अस्थिरता के कारण देश में स्फीति तथा अवस्फीति की घटनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। गिरती तथा बढ़ती कीमतें देश में सामाजिक अन्याय को जन्म देकर आर्थिक तथा सामाजिक अशान्ति उत्पन्न करती हैं। बढ़ती हुई कीमतें श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के लिए आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देती हैं। गिरती हुई कीमतें उद्यमकर्ताओं को हानिकारक सिद्ध होकर देश में निवेश को हतोत्साहित

करती हैं। इससे भी अधिक भयानक बात यह है कि कीमत अस्थिरता प्रकृति में संचयी होती है, अर्थात एक बार आरम्भ होने के पश्चात् यह बढ़ती चली जाती है और कुछ समय पश्चात् देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नींवों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इतिहास इसका साक्षी है कि कीमत अस्थिरता का काल अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक गड़बड़ों का काल सिद्ध हुआ है। तीसा की मन्दी तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् कीमतों में वृद्धि के अनुभव के उपरान्त अर्थशास्त्रियों का यह विचार हो गया कि देश की मौद्रिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता होना चाहिये। मौद्रिक नीति के कीमत स्थिरता उद्देश्य को अमरीका की न्यू डील योजना में अमरीकी सरकार द्वारा उस समय कार्यान्वित किया गया था जब ६ जनवरी, १९३७ ई० को राष्ट्रपति फ्रेन्कलिन डिलानों रूजवैल्ट ने अमरीकी संसद को अपने वार्षिक व्याख्यान में यह बतलाया था कि राष्ट्र के हितों को सुरक्षित रखने के लिये सरकार के लिये कीमतों की अस्थिरता को समाप्त करना अतिआवश्यक था।

कीमत स्थिरता मौद्रिक नीति की निम्नलिखित आलोचनाएँ हैं।

(i) इस नीति को कार्यान्वित करने में यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि कौनसी कीमतों को स्थिर रखा जाना चाहिये—थोक कीमतों को स्थिर रखा जावे अथवा खेरीज कीमतों को अथवा वेतनों को स्थिर रखा जावे ? इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था की दृष्टि से कीमतों में हुए निरपेक्ष परिवर्तन कीमतों में हुए सापेक्ष परिवर्तनों की तुलना में कम हानिकारक होते हैं। इसका यह अर्थ है कि सामान्य कीमतों की स्थिरता की तुलना में सापेक्ष कीमतों की स्थिरता अधिक आवश्यक है। परन्तु सापेक्ष कीमतों को स्थिर रखना सम्भव नहीं है। केवल सामान्य कीमत स्तर को स्थिर रखकर व्यक्तिगत वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखना सम्भव नहीं है। कीन्स ने भी यह स्वीकार किया कि सामान्य कीमत स्तर अनेक व्यक्तिगत कीमतों का औसत है तथा व्यक्तिगत कीमतों की परिवर्तन प्रवृत्ति में परस्पर टक्कर हो सकने के कारण सामान्य औसत कीमत स्तर स्थिर रहते हुए भी विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन हो सकते हैं।

(ii) कीमतों में हुये परिवर्तन आर्थिक जीवन की अस्थिरता के लक्षण होते हैं, ये उसके कारण नहीं होते हैं।-अतः कीमतों की स्थिरता से कोई लाभ प्राप्त नहीं हो सकता है। कीमतें स्थिर रहते हुए भी आर्थिक सम्बन्धों तथा उत्पादन में उथल पुथल होना सम्भव है। कीमतों की अस्थिरता आर्थिक परिवर्तनों का कारण नहीं होती है; यह उनका परिणाम होती है क्योंकि कीमतों में उच्चावचनों के पूर्व ही अर्थव्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। इस कारण केवल कीमतों को स्थिर रखने से आर्थिक अस्थिरता की समस्या समाप्त नहीं हो सकती है।

(iii) कीमतों में होने वाले सभी परिवर्तनों का अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। परन्तु कीमत स्थिरता की नीति इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि कीमतों में सभी परिवर्तन आर्थिक विकास तथा स्थिरता के लिए घातक होते हैं। सत्य तो यह है कि स्थिर कीमतें देश में आर्थिक गतिहीनता का प्रतीक होती हैं। इसके विपरीत कीमतों में हल्की वृद्धि उद्यमकर्ताओं को प्रोत्साहित करके राष्ट्रीय आर्थिक विकास का साधन बन जाती है। हेयक (Hayek) ने कीमत स्थिरता की नीति की आलोचना करते हुए कहा है कि यह नीति गत्यात्मक समाज की वास्तविक आवश्यकताओं को भुला देती है। कीमत स्थिरता की नीति की आलोचना करते हुये उन्होंने १९३२ ई० में प्रकाशित अपनी *Monetary Theory and the Trade Cycle* शीर्षक

पुस्तक में लिखा है कि "कीमत स्थिरता की मौद्रिक नीति को अपना कर भी अभिवृद्धि (boom) तथा मन्दी (slump) की घटनाएँ पहले के समान अब भी समाज के लिये आर्थिक कठिनाइयों के उत्पन्न होने का कारण बनी हुई हैं। गत छः अथवा आठ वर्ष में संसार के विभिन्न देशों में, विशेष रूप से अमेरिका में, केन्द्रीय बैंकों ने कीमत स्थिरता की नीति के समर्थकों के उपदेश का पालन किया है तथा साख द्रव्य निर्माण के द्वारा मन्दी को समाप्त करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इसका परिणाम केवल यह हुआ है कि समाप्त होने के स्थान पर मन्दी और अधिक समय तक जीवित रही है। इस नीति को अपनाने के कारण काफी हानि हो चुकी है। अतः इस नीति के समर्थकों के उपदेश को जितना शीघ्र सम्भव हो सके भुला देना चाहिये।"[4]

(iv) कीमत स्थिरता नीति को कार्यान्वित करने में वास्तविक कठिनाई यह भी है कि कीमतों में किस प्रकार स्थिरता लाई जाये। यह कहा जाता है कि संचलन में मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखकर तथा अर्थव्यवस्था में मौद्रिक व्यय की दर को स्थिर रखकर कीमतों को स्थिर रखा जा सकता है। परन्तु केवल मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखने से कीमत स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती है। वास्तव में देश में कीमत स्थिरता बनाये रखने के लिए व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार संचलन में मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक व्यय की दर भी सदा स्थिर नहीं रहती है।

पूर्ण रोजगार

वर्तमान समय में हम सभी कल्याणकारी राज्य तथा पूर्ण रोजगार नीतियों के युग में रह रहे हैं। तीसा की महान आर्थिक मन्दी के पश्चात मौद्रिक नीति का उपयुक्त लक्ष्य विदेशी विनिमय दर स्थिरता अथवा कीमत स्थिरता को प्राप्त करने के स्थान पर अर्थव्यवस्था में आर्थिक साधनों को पूर्ण रोजगार प्रदान करने की आवश्यकता की ओर केन्द्रित हो गया था। मौद्रिक नीति का लक्ष्य अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों के इष्टतम उपयोग द्वारा पूर्ण रोजगार होना चाहिये क्योंकि यह लक्ष्य कीमत तथा विदेशी विनिमय दर स्थिरता के लक्ष्यों को भी प्राप्त करता है। मौद्रिक नीति के विभिन्न लक्ष्यों की विवेचना करते हुए क्राऊथर इस निष्कर्ष को पहुँचते हैं कि मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत तथा निवेश के मध्य सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिये। परिणामस्वरूप, वर्तमान समय में प्रत्येक राष्ट्र में केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का उद्देश्य राष्ट्रीय उत्पादन साधनों का इष्टम उपयोग करके अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त करना होता है।

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार दीर्घकाल में समाज में उत्पादन साधनों की बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नहीं होती है। यदि अर्थव्यवस्था में किसी समय उत्पादन साधन बेरोजगार हो जाते हैं तो कुछ समय पश्चात बाजार में माँग तथा पूर्ति की प्राकृतिक शक्तियाँ कार्यशील होकर अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की अवस्था को स्वयं उत्पन्न कर देती हैं। परम्परावादी अर्थशास्त्र में फ्रांसीसी अर्थशास्त्री जे० बी० से द्वारा १८०३ ई० में प्रतिपादित माँग तथा पूर्ति के प्रसिद्ध से के बाजार नियम का बहुत अधिक महत्व था। इस प्रसिद्ध नियम के अनुसार पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न करके अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को समाप्त कर देती है। इस नियम के अनुसार सामान्य अत्युपादन एक भ्रम मात्र था। परम्परावादी अर्थशास्त्र पूर्ण रोजगार सन्तुलन का अध्ययन था। १९वीं शताब्दी में जे० बी० से तथा उनके समर्थकों का प्रभाव इतना अधिक शक्ति-

4. F. A. von Hayek : *Monetary Theory and the Trade Cycle*, pp. 18-22.

शाली था कि माल्थस के इस सही विचार को कि बाजार में वस्तुओं की कुल समर्थ माँग अपर्याप्त होने के परिणामस्वरूप मुद्रा-विनिमय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अत्युत्पादन की घटना उत्पन्न हो जाती है कोई प्रसिद्ध प्राप्त न हो सकी तथा से -माल्थस-रिकार्डो संघर्ष में दुर्भाग्यवश से तथा रिकार्डो को विजय प्राप्त हुई । यदि इस संघर्ष में, माल्थस विजयी हुये होते तो सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का विकास भिन्न प्रकार का हुआ होता तथा मध्य १९वीं शताब्दी के पश्चात परम्परावादी अर्थशास्त्र के आलोचकों को अत्यधिक शक्ति कदापि प्राप्त नहीं होती । सरकार को चाहिये कि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत उद्यम के साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे ।

यह विचारधारा काफी समय तक विद्यमान रही तथा अनेक प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने इस विचार का काफी समय तक समर्थन किया था । परन्तु तीसा की महान मन्दी के काल में इस सत्य का अनुभव किया गया कि केवल अधिक उत्पादन करने से अधिक उपभोग नहीं हो जाता है । ऐसा होने के लिए यह भी आवश्यक है कि इस अधिक उत्पादन का समाज के सभी सदस्यों में समान वितरण होना चाहिये । 'तीसा' की महान मन्दी में संसार में प्रचुरता के मध्य निर्धनता और अत्युत्पादन के साथ भुखमरी की घटना विद्यमान थी । एक ओर तो आर्थिक समृद्धि में वृद्धि करने के लिये भारी मात्रा में आर्थिक साधन प्राप्त थे तथा दूसरी ओर भारी मात्रा में बेरोजगार व्यक्ति लन्दन तथा न्यूयार्क के बाजारों में 'हमको काम चाहिये' के नारे लगाते थे । परन्तु उद्यमकर्त्ताओं ने मिलों तथा दफ्तरों के दरवाजों पर 'कोई स्थान खाली नहीं है' की तख्तियाँ लटका दी थीं । अमरीका में मन्दी के शिखर के समय १५ मिलियन काम करने योग्य व्यक्ति बेरोजगार थे तथा १९३७ ई० में भी, जब मन्दी लगभग समाप्त हो गई थी, बेरोजगार व्यक्तियों की सख्या ७·५ मिलियन थी । इंगलैंड में भी बेरोजगार श्रमिकों की संख्या अन्तरयुद्ध काल में कभी भी कुल श्रमिकों की १० प्रतिशत से कम नहीं रही थी तथा मन्दी के समय में यह २२ प्रतिशत तक हो गई थी । इस वास्तविकता ने परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के इस भ्रम को नष्ट कर दिया था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियायें पूर्ण रोजगार स्तर पर सन्तुलन में होती हैं । प्राचीन विचारधारा के विपरीत तीसा की आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप इस काल में नई विचारधारा उत्पन्न हुई और समाज में पूर्ण रोजगार स्थापित करने के लिये आर्थिक क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप को आवश्यक समझा जाने लगा । तीसा की मन्दी के समय उन अर्थशास्त्रियों ने भी जो कुछ समय पूर्व परम्परावादी अर्थशास्त्र के समर्थक थे अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित रिकार्डोवादी आर्थिक विचारधारा को त्याग दिया था । कीन्स, जो स्वयं मार्शल के विश्वसनीय शिष्य थे तथा जिन्होंने काफी समय तक केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में स्नातक के रूप में मार्शलवादी नवपरम्परावादी अर्थशास्त्र को पढ़ा तथा तत्पश्चात शिक्षक के रूप में पढ़ाया था, ने भी प्राचीन विचारधारा का अपनी प्रसिद्ध पुस्तक General Theory लिखकर कड़ी आलोचना की थी ।

पूर्ण रोजगार का अर्थ

परन्तु प्रश्न यह है कि पूर्ण रोजगार का क्या अर्थ है ? इस सम्बन्ध में प्राचीन तथा नई विचारधारायें एक दूसरे से भिन्न हैं । पुरानी विचारधारा, जो जे० बी० से द्वारा प्रतिपादित बाजार नियम पर आधारित है, तीसा की मन्दी के पूर्व विद्यमान थी । नई विचारधारा, जिसका कीन्स तथा हैनसन आदि ने प्रतिपादन किया है, तीसा की मन्दी के काल में लोकप्रिय बनी थी । साधारणतया पूर्ण रोजगार का यह अर्थ है कि चालू वेतन दरों पर समाज में उन सब व्यक्तियों को काम प्राप्त होना चाहिये जो काम करना चाहते हैं तथा काम करने के योग्य हैं । सर विलियम

बेवरीज के विचारानुसार पूर्ण रोजगार का अभिप्राय अर्थव्यवस्था में उस स्थिति के उपस्थित होने से है जिसमें काम करने के अवसरों की संख्या काम खोजने वालों की संख्या की तुलना में अधिक होती है। दूसरे शब्दों में, श्रम बाजार में स्थिति श्रम सेवाओं के विक्रेताओं के अनुकूल होती है। पूर्ण रोजगार-प्राप्त अर्थव्यवस्था में अनैच्छिक बेरोजगारी (involuntary unemployment) नहीं होनी चाहिये। परन्तु पूर्ण रोजगार का विचार अर्थव्यवस्था में ऐच्छिक बेरोजगारी (voluntary unemployment) तथा विभिन्न सामाजिक अपूर्णताओं के कारण उत्पन्न निर्घर्षक बेरोजगारी (frictional unemployment) की उपस्थित से पूरी तरह से सहमत है। ऐच्छिक बेरोजगारी की घटना उस समय उत्पन्न होती है जब देश में आलसी व्यक्ति चालू वेतन दर पर काम प्राप्त होते हुये भी काम करना नहीं चाहते हैं। प्रत्येक देश अथवा समाज में हर समय कुछ ऐसे आलसी व्यक्ति मौजूद होते हैं जिनकी, काम प्राप्त होने पर भी, काम करने की इच्छा नहीं होती है। ऊँचे वेतन प्राप्त करने के लिये हड़ताल करने वाले श्रमिक ऐच्छिक बेरोजगारी का उदाहरण हैं। समाज में आर्थिक निर्घर्षों के कारण उत्पन्न होने वाली बेरोजगारी श्रमिकों को रोजगार अवसरों तथा उद्योगों का पूर्ण ज्ञान न होने तथा उनमें पर्याप्त गतिशीलता का अभाव होने के कारण उत्पन्न होती है।

जहाँ तक ऐच्छिक बेरोजगारी का प्रश्न है इसकी कोई सामाजिक समस्या नहीं है क्योंकि जो श्रमिक चालू मजदूरी दर प्राप्त होने पर भी काम करना नहीं चाहता है उस को बेरोजगार नहीं कहा जा सकता है क्योंकि हमारी परिभाषा के अनुसार बेरोजगार वह श्रमिक है जो चालू मजदूरी दर पर काम चाहता है परन्तु जिसको काम प्राप्त नहीं है। निर्घषक बेरोजगारी भी अल्पावधि समस्या है जो दीर्घावधि में समाप्त हो जाती है।

यद्यपि पूर्ण रोजगार की स्थिति में भी अर्थव्यवस्था में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बेरोजगार रहते हैं परन्तु इन व्यक्तियों की संख्या अधिक नहीं होती है। ये व्यक्ति वे व्यक्ति हो सकते हैं जो आलसी होने के कारण काम करना नहीं चाहते हैं अथवा वे व्यक्ति हो सकते हैं जिनको अर्थव्यवस्था में रोजगार अवसरों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं है अथवा उनका प्रशिक्षण किसी विशेष प्रकार का है अथवा काम ऐसे स्थान पर प्राप्त है जहाँ ये व्यक्ति जाना नहीं चाहते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी अस्थाई होती है जो कुछ समय पश्चात समाप्त हो जानी चाहिये। पूर्ण रोजगार का अर्थ यह नहीं है कि अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी शून्य होती है। इसका अर्थ केवल यह है कि अर्थव्यवस्था में अनैच्छिक बेरोजगारी शून्य होनी चाहिये अर्थात अर्थव्यवस्था में एक भी ऐसा व्यक्ति उपस्थित नहीं होना चाहिये जो काम करने योग्य है तथा जो काम करना चाहता हैं परन्तु जिसको चालू मजदूरी दर पर काम प्राप्त नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, पूर्ण रोजगार की अवस्था में भी अर्थव्यवस्था में ऐच्छिक बेरोजगारी तथा निर्घर्षक बेरोजगारी उपस्थिति हो सकती है। ऐच्छिक तथा निर्घर्षक बेरोजगारी के परिणामस्वरूप देश में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या कुल कार्यकर जनसंख्या का ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये।

अब हमें यह देखना है कि कुल आय, कुल बचत, कुल उपभोग तथा कुल निवेश के मध्य क्या सम्बन्ध है। राष्ट्रीय आय किसी दी हुई समय अवधि में, जो साधारणतया एक वर्ष होती है, अर्थव्यवस्था में उत्पादित कुल वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा अथवा इन वस्तुओं तथा सेवाओं का कुल द्रव्य मूल्य होती है। अर्थशास्त्र में कुल उत्पादन मात्रा को उपभोग तथा निवेश वस्तुओं में विभाजित किया जाता है। इस का अर्थ यह है कि कुल आय कुल उपभोग तथा कुल निवेश के योग के समान होती है। इसी प्रकार कुल बचत कुल आय का वह भाग है जो कुल

उपभोग को कुल आय में से घटाने के पश्चात शेष बच रहता है। समीकरण के रूप में इन संबंधों को निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

कुल आय (Y)=कुल उपभोग (C)+कुल निवेश (I)
कुल बचत (S)=कुल आय (Y)—कुल उपभोग (C)
कुल निवेश (I)=कुल आय (Y)—कुल उपभोग (C)
∴ कुल निवेश (I)=कुल बचत (S)

उपरोक्त समीकरणों से स्पष्ट है कि यदि आय की प्राप्ति तथा खर्च साथ साथ होते हैं तो बचत तथा निवेश के मध्य सन्तुलन बना रहेगा। परन्तु संसार में उत्पादक क्रियाओं द्वारा उत्पादन साधनों को प्राप्त आय तथा इस आय को खर्च करने के समय के मध्य अनुरूपता नहीं होती है। वास्तव में कुल प्राप्त आय तथा कुल उत्पादित आय के मध्य भी समानता नहीं होती है। यदि किसी दी हुई समय अवधि में बचत निवेश से अधिक होती है तो अर्थव्यवस्था में उत्पादन, रोजगार तथा आय में गिरावट उत्पन्न हो जावेगी। इस के विपरीत निवेश के बचत की तुलना में अधिक होने पर अर्थव्यवस्थाओं में आय, रोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि होगी। मौद्रिक नीति का उद्देश्य बचत तथा निवेश के मध्य इस प्रकार सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिये कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार स्थिति विद्यमान हो सके।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति की प्राप्ति स्वयं लक्ष्य न होकर अधिकतम आर्थिक कल्याण को प्राप्त करने का साधन मात्र है। इस कारण यद्यपि मौद्रिक नीति का पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना उद्देश्य होना चाहिये परन्तु अधिकतम आर्थिक कल्याण को प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि दुर्लभ आर्थिक साधनों का अधिकतम कुशलता के साथ उपयोग होना चाहिये।

पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए मौद्रिक नीति के प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण अमरीका में स्वर्गीय राष्ट्रपति डीलानो रूजवेल्ट के प्रशासन काल में लागू की गई न्यू डील (New Deal) नीति में मिलता है। न्यू डील योजना के द्वारा अमरीकी सरकार ने देश की अर्थव्यवस्था को 'तीसा' की महान मन्दी के उपरान्त उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त करने का सफल प्रयास किया था। न्यू डील योजना के अन्तर्गत सस्ती मुद्रा नीति (cheap money policy) के प्रयोग के कारण लगभग चार वर्ष के अल्पसमय में देश में कुल उत्पादन तथा रोजगार में लगभग १८ प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी। न्यूडील नीति के परिणामस्वरूप १९२९ ई० से लेकर १९४५ ई० तक अमरीका के आर्थिक विकास की रूपरेखा इस प्रकार है: १९२९ ई० में आरम्भ हुई महान आर्थिक मन्दी १९३२ ई० की सरदी तक अपनी चरमसीमा को प्राप्त हो गई थी। १९३३ ई० से लेकर १९३७ ई० तक अर्थव्यवस्था का तीव्रगति से विस्तारण हुआ था। १९३७ ई० में जब लगभग ८ मिलियन लोग बेरोजगार थे तीव्र सुस्ती उत्पन्न हुई थीं। विस्तारण १९३८ ई० में पुनः आरम्भ हुआ तथा १९४० ई० तक जारी रहा जब अर्थव्यवस्था युद्ध अवस्था में प्रवेश कर गई थी। १९२९ ई० से लेकर १९३८ ई० तक की शताब्दी अमरीका में अत्यधिक गम्भीर तथा अत्यधिक दीर्घावधि मन्दी की द्योतक है। फलस्वरूप १९३४ ई० के आरम्भिक महीनों में सरकारी खर्च को १०० मिलियन डालर मासिक से बढ़ाकर २०० मिलियन डालर मासिक धनराशि कर दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप १९३४ ई० के प्रथम छः मास की अवधि में उत्पादन तथा रोजगार में लगभग १५ प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी। अमरीका की न्यूडील नीति यह सिद्ध करती है कि मौद्रिक नीति के प्रयोग द्वारा पूँजीवादी देशों में बेरोजगारी की समस्या को समाप्त करके पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

आर्थिक विकास

पूर्ण रोजगार के स्थान पर आर्थिक विकास को मौद्रिक नीति का लक्ष्य बनाना कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर एक पग बढ़ने के समान था। अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञों का यह कहना था कि लोगों को उच्च जीवन स्तर प्रदान करने के लिये अर्थव्यवस्था में केवल पूर्ण रोजगार को संभव बनाना काफी नहीं था। इसके लिये यह भी आवश्यक था कि अर्थव्यवस्था का तीव्र आर्थिक विकास होना चाहिये। अमरीका में १९४६ ई० के रोजगार अधिनियम के अनुसार उद्योग, कृषि, श्रम, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की सहायता तथा सहयोग द्वारा वास्तविक साधनों का अधिकतम उपयोग करके राष्ट्र में रोजगार, उत्पादन तथा क्रयशक्ति में अधिकतम वृद्धि करना संघीय सरकार की जिम्मेदारी थी। अधिकतम उत्पादन अथवा विकास के इस लक्ष्य को, जिसे १९४६ ई० के रोजगार अधिनियम की आधारशिला बनाया गया था, प्राप्त करने में मौद्रिक नीति को विशेष स्थान प्राप्त था। आर्थिक रिपोर्ट समिति द्वारा १९४९ ई० में नियुक्त डगलस उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट में १९५० ई० में यह सिफारिश की थी कि एक उपयुक्त, लचीली तथा शक्तिशाली मौद्रिक नीति को, जिसका प्रयोग राजकोषीय तथा अन्य नीतियों के साथ किया जाना चाहिये, रोजगार अधिनियम के लक्ष्य को प्राप्त करने के एक प्रमुख साधन के रूप में अपनाया जाना चाहिये।

आर्थिक विकास का अर्थ

प्रत्येक अर्थव्यवस्था का उद्देश्य—अर्थव्यवस्था समाजवादी हो अथवा पूँजीवादी—नागरिकों के लिये उच्च जीवन स्तर को वास्तविकता प्रदान करने के हेतु अधिक उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करना होता है। मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था में इस कथन में कि 'उपभोक्ता राजा है' काफी सत्य है क्योंकि उपभोक्ता अपने क्रय-निर्णयों द्वारा उन वस्तुओं तथा सेवाओं को निर्धारित करता है जिनका उत्पादकों को उत्पादन करना चाहिये। तानाशाही अर्थव्यवस्था में, जहाँ क्या तथा कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाना चाहिये सम्बन्धी निर्णय कुछ उच्च राजकीय अधिकारियों द्वारा लिये जाते हैं, उपभोक्ता को कोई स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है तथा उसे केवल उन्हीं वस्तुओं का, जिनका उत्पादन तानाशाह के आदेश अनुसार किया गया है, उपभोग करना पड़ता है।

मुक्त अर्थव्यवस्था में मुद्रा इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सुविधा प्रदान करती है। मुद्रा आर्थिक लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है। आर्थिक विकास का अर्थ अधिक मुद्रा की पूर्ति से कदापि नहीं है क्योंकि मुद्रा व्यक्ति के दृष्टिकोण से उसकी समृद्धि के लिये कितनी भी अधिक महत्वपूर्ण क्यों न हो, राष्ट्र के लिये केवल वास्तविक उत्पादन—वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा—की वृद्धि ही महत्वपूर्ण होती है। कोई भी राष्ट्र केवल अधिक नोट छापने से धनवान नहीं बन सकता है। अधिक मुद्रा केवल उसी अंश तक महत्वपूर्ण है जिस अंश तक वह अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं का अधिक उत्पादन करने में सहायक सिद्ध होती है। आर्थिक विकास का सम्बन्ध वस्तुओं तथा सेवाओं के परिमाणात्मक तथा गुणात्मक अधिक उत्पादन से है तथा मुद्रा केवल उसी अंश तक आर्थिक विकास का साधन हो पाती है जिस अंश तक यह अर्थव्यवस्था में वास्तविक उत्पादन की वृद्धि का साधन बनती है।

संक्षेप में आर्थिक विकास का सम्बन्ध तीन बातों से है। प्रथम, इसका सम्बन्ध अर्थव्यवस्था में भौतिक अथवा वास्तविक उत्पादन में वृद्धि से है। दूसरे, आर्थिक विकास के अन्तर्गत जिन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन होता है उनकी मात्रा तथा गुण इस प्रकार के

होने चाहिये कि उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति सम्भव हो सके क्योंकि सभी आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। तीसरे, आर्थिक विकास आर्थिक स्वाधीनता के अन्तर्गत होना चाहिये क्योंकि यदि आर्थिक विकास को स्वाधीनता का त्याग करके प्राप्त किया जावेगा तो विकास का महत्व समाप्त हो जावेगा।

बाजार-आधारित अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास के लिये दो बातों का होना आवश्यक है। प्रथम, अर्थव्यवस्था की उत्पादनक्षमता में वृद्धि होना आवश्यक है। दूसरे, जिन वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि होती है उनकी माँग में भी उपयुक्त वृद्धि होना आवश्यक है क्योंकि यदि उत्पादन-क्षमता माँग के स्तर की तुलना में अधिक है अथवा इस क्षमता के द्वारा उन वस्तुओं तथा सेवाओं का, जिनकी उपभोक्ता माँग करते हैं, उत्पादन नहीं किया जा सकता है तो अर्थव्यवस्था में बेशी उत्पादन-क्षमता तथा श्रमिकों की बेरोजगारी की समस्याएँ उत्पन्न हो जाने से आर्थिक विकास की गति मन्द हो जावेगी। इसके विपरीत यदि माँग उत्पादन क्षमता की तुलना में अधिक है तो कीमतों में वृद्धि होगी तथा इससे सट्टे बाजी को प्रोत्साहन प्राप्त होगा तथा आर्थिक साधनों का उत्पादक उपयोगों में कुशल उपयोग नहीं हो सकेगा। कीमतों में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में अभिवृद्धि का जन्म होगा जो स्वयं मन्दी को उत्पन्न करेगी। इस प्रकार अभिवृद्धि तथा मन्दी द्वारा उत्पादन साधनों का अकुशल उपयोग होने के कारण तीव्र आर्थिक विकास सम्भव नहीं हो पावेगा। इससे यह स्पष्ट है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिये कुल माँग तथा कुल उत्पादन क्षमता के मध्य सन्तुलन होना चाहिये। विकास के लिये यह आवश्यक है कि कुल माँग तथा सम्पूर्ण उत्पादन में वृद्धि, जो स्वयं विकास का परिणाम होती है, के मध्य निकटतम परस्पर सम्बन्ध होना चाहिये जिससे कि कुल माँग में केवल उतनी तथा उसी प्रकार की वृद्धि होनी चाहिये जिस अंश तथा प्रकार की वृद्धि कुल उत्पादन में आर्थिक विकास के कारण हुई है।

मौद्रिक नीति अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में दो प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकती है। प्रथम, मुद्रा अधिकारी अर्थव्यवस्था में कुल द्रव्य माँग तथा कुल उत्पादन क्षमता के मध्य सन्तुलन स्थापित करके अर्थव्यवस्था में कीमत स्थिरता को सम्भव बनाकर आर्थिक विकास कार्य में योगदान प्रदान कर सकता है। इस जिम्मेदारी को सफलतापूर्वक निभाने के लिये मौद्रिक नीति का लचीला होना आवश्यक है जिससे कि जब कुल द्रव्य माँग अर्थव्यवस्था में कीमत वृद्धि को जन्म देती है तब साख मुद्रा में उपयुक्त कमी की जा सके तथा विपरीत परिस्थिति में साख मुद्रा की पूर्ति में उपयुक्त वृद्धि करना सम्भव हो सके। ऐसा करना इसलिये आवश्यक है क्योंकि द्रव्य माँग में कमी होने पर कीमतों, उत्पादन तथा रोजगार में गिरावट आती है तथा द्रव्य माँग में अनुपयुक्त वृद्धि होने से अर्थव्यवस्था में स्फीति उत्पन्न होती है। दूसरे, बचत तथा निवेश के लिये अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करके मौद्रिक नीति आर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती हैं। परन्तु बचत तथा निवेश तथा इसके द्वारा आर्थिक विकास के लिये अनुकूल वातावरण किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? दूसरे शब्दों में, मुद्रा अधिकारी को बचत तथा निवेश को प्रोत्साहित करने के लिये क्या उपाय करने चाहिये? इतिहास इस सत्य की पुष्टि करता है कि बढ़ती हुई कीमतें बचत को हतोत्साहित करती हैं। बढ़ती हुई कीमतों के काल में जब द्रव्य की क्रयशक्ति निरन्तर गिरती रहती है बचतकर्ताओं में बचत करने की अरुचि उत्पन्न हो जाती। अतिस्फीति के युग में लोगों ने अपनी नकदी राशि में अधिकतम कमी की है। स्फीति के समय द्रव्य लोगों की जेबों को जला देता है। स्फीति नकदी पर कर लगाने के समान होती हैं। ऐसे समय में जब बचत करने के परिणामस्वरूप बचतकर्ता को कुछ नहीं प्राप्त होता है कौन व्यक्ति बचाएगा। परन्तु कीमत

स्थिरता बचत को प्रोत्साहित करती है। बचत अर्थव्यवस्था में पूँजी निर्माण का एकमात्र स्रोत है। पूँजी संचय के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं हो सकता है। परन्तु पूँजी संचय बचत के बिना सम्भव नहीं है तथा बचत केवल उसी समय सम्भव हो सकती है जब बचतकर्ता भविष्य में कीमतों के स्थिर रहने की आशा करते हैं। इस प्रकार मौद्रिक नीति आर्थिक विकास को प्राप्त करने में कीमतों के अनुचित उतार-चढ़ावों को रोक कर तथा अर्थव्यवस्था में लोगों को बचत व निवेश करने के लिये उपयुक्त अनुकूल वातावरण उपस्थित करके सहायक सिद्ध हो सकती है।

यहाँ सस्ती तथा मँहगी मुद्रा नीति की संक्षिप्त व्याख्या करना उपयुक्त होगा। कभी कभी यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि मँहगी मुद्रा नीति आर्थिक विकास में बाधक होती है तथा सस्ती मुद्रा नीति आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है। परन्तु वास्तविक सत्य इन दोनों तर्कों के मध्य कहीं है। वास्तविकता यह है कि मँहगी मुद्रा नीति आर्थिक विकास में केवल उसी समय बाधक सिद्ध होगी जब इसका अत्यधिक प्रयोग होता है तथा यह अतिमँहगी मुद्रा नीति का रूप धारण कर लेती है। इसके अतिरिक्त दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न इसको कार्यान्वित करने के समय से सम्बन्धित है। उपयुक्त मँहगी मुद्रा नीति का उद्देश्य सम्पूर्ण द्रव्य माँग को उत्पादन क्षमत-र्पूति —से अधिक होने से रोकना है तथा इस कारण यह समझना कठिन है कि मँहगी मुद्रा नीति आर्थिक विकास में किस प्रकार बाधक सिद्ध हो सकती है। यह नीति आर्थिक विकास को केवल उसी स्थिति में हतोत्साहित कर सकती है जब यह उस समय लागू की जाती है जब कुल द्रव्य माँग अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को अपेक्षाकृत कम होती है। यही बात सस्ती मुद्रा नीति के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

विरोधी लक्ष्यों के मध्य चयन करना

यद्यपि सामान्यता पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक विकास के उपरोक्त वर्णित लक्ष्य परस्पर सुसंगत होते हैं परन्तु परिस्थिति विशेष में इन लक्ष्यों की प्राप्ति में परस्पर टक्कर हो सकती है। उदाहरणार्थ, युद्ध-पश्चात् सुस्ती के काल में उत्पादन, रोजगार तथा आय में गिरावट उत्पन्न होने के महीनों पश्चात तक उपभोग वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती रहती है। ऐसी स्थिति में यद्यपि कीमतों को स्थिर रखने के हेतु मँहगी मुद्रा नीति को प्रयोग में लाया जाना चाहिये परन्तु रोजगार, आय तथा व्यवसाय को उत्तेजित करने के हेतु सस्ती मुद्रा नीति को लागू किया जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में मुद्रा नीति के दोनों उद्देश्यों में परस्पर टक्कर है तथा मुद्रा अधिकारी को दोनों उद्देश्यों में से केवल किसी एक उद्देश्य को अपनी मुद्रा नीति का लक्ष्य बनाना होगा। इस सम्बन्ध में निर्णय लेते समय मुद्रा अधिकारी को उस लक्ष्य के पक्ष में निर्णय लेना चाहिये जो राष्ट्रीय हितों के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है।

अर्धविकसित देशों के लिये उपयुक्त मौद्रिक नीति

आर्थिक विकास अर्धविकसित राष्ट्रों की आर्थिक नीतियों का इतना अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य बन गया है कि वर्तमान युग को आर्थिक विकास युग कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। परन्तु इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मौद्रिक नीति का इन देशों में आर्थिक विकास को प्राप्त करने में क्या योगदान अथवा महत्व हो सकता है? दूसरे शब्दों में, मौद्रिक नीति अर्धविकसित देशों में यथासम्भव स्थाई आर्थिक विकास कार्य में क्या सहायता प्रदान कर सकती है? इस सम्बन्ध में यह कहना गलत नहीं होगा कि स्थिर कीमतें तथा स्थिर विदेशी विनिमय दर आर्थिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। कहने का अभिप्राय यह है कि तीव्र गति से बढ़ती हुई कीमतें तथा अस्थिर

विदेशी विनिमय दर अर्धविकसित देशों में स्थाई आर्थिक विकास की गति को अर्थव्यवस्था में बचत को हतोत्साहित स करके तथा देश में विदेशी पूंजी के अन्वाह, जिसका उत्पादक निवेश किया जा सकता था, की गति में भारी कमी करके मन्द कर देती है। इसके अतिरिक्त कीमतों तथा विदेशी विनिमय दर की अस्थिरता के कारण अर्थव्यवस्था में उपलब्ध सीमित साधनों का विभिन्न उत्पादक उपयोगों के मध्य कुशल आवंटन कठिन हो जाता है। परन्तु यहाँ यह कहना गलत नहीं होगाकि स्फीति को दमित रखने तथा विदेशी विनिमय दर को आयातों पर रोक लगाकर ऊँची रखने की नीति भी आर्थिक विकास के लिये घातक सिद्ध होगी। दमित स्फीति अर्थव्यवस्था में सीमित साधनों का अधिक आवश्यक उपयोगों से कम आवश्यक उपयोगों की ओर व्यपवर्तन कर देती है। बाजार विनिमय दर को उस दर की तुलना में जो मुक्त विदेशी विनिमय बाजार में पूर्ति तथा माँग की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है ऊँची दर पर निर्धारित करने से आयात व्यापार सट्टेबाजों की क्रियाओं का क्षेत्र बन जाता है तथा निर्यात उद्योगों के विकास को धक्का लगता है। निर्यात उपादनों के द्वारा निर्यातों में स्थाई रूप से वृद्धि नहीं की जा सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अर्धविकसित देश के सन्दर्भ में मौद्रिक नीति को औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने में सहायक सिद्ध होने के अतिरिक्त कीमत स्थिरता तथा वास्तविक दर पर विमिमय दर स्थिरता को भी बनाये रखने का प्रयास करना चाहिये। ब्याज की दर में उपयुक्त कमी करके निवेश को प्रोत्साहन प्रदान करके मौद्रिक नीति अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में रोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। परन्तु ब्याज की दर नीति के द्वारा आर्थिक विकास को जिस सीमा तक सम्भव बनाया जा सकता है वह लोगों के नकदी अधिमान अथवा नकदी की माँग तथा निवेश की ब्याजसापेक्षता द्वारा निर्धारित होगी। नकदी अधिमान ब्याज-निरपेक्ष तथा निवेश माँग ब्याज सापेक्ष होने की स्थिति में मौद्रिक नीति आर्थिक विकास के कार्य में अधिक सहायक सिद्ध होगी। इसके विपरित नकदी अधिमान ब्याज-सापेक्ष तथा निवेश माँग ब्याज-निरपेक्ष होने पर मौद्रिक नीति ब्याज की दर द्वारा आर्थिक विकास कार्य में अधिक सहायक सिद्ध नहीं हो सकती है।

अध्ययन सूची

1. M. H. de Kock : Central Banking (2nd ed.), Chapter XVI.
2. L. V. Chandler : The Economics of Money and Banking, Part VI.
3. R. P. Kent : Money and Banking (4th ed.), Chapter 16,
4. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy, Chapters 11 and 12.
5. Geoffrey Crowther : An Outline of Money (reviced edition), Chapter VI.
6. F. A. von Hayek : Prices and Production.
7. Paul Einzig : Monetary Policy : Ends and Means.

प्रश्न

1. "The obvious object of the monetary policy of a country is to attain equilibrium between saving and investment at the point of full employment." Explain this view clearly.

2. "Monetary stability is in itself good and worth-pursuing, provided we do not make the mistake either of pursuing it as only good or of confusing it with a rigidity of supply which may in fact induce not stability, at a satisfactory level of economic activity, but economic depression." (*Cole*). Discuss.
3. Discuss the relative merits of price stability and exchange stability as objectives of monetary policy.
4. 'The ability of monetary policy to control inflation is more circumscribed today than was the case before World War II.' Discuss the statement and account for the revival of monetary policy in recent years.
5. "The objects of monetary policy have varied from time to time. The Macmillan Committee, the Radcliffe Committee and the Keynesian view are important landmarks in the evolution of the scope of monetary policy."

   Discuss the above with particular reference to the shift in emphasis on objectives of monetary policy.
6. Outline an appropriate monetary policy for the planned economic development of an underdeveloped country.

१७

राजकोषीय नीति
(Fiscal Policy)

राजकोषीय नीति का सम्बन्ध विशेष रूप से सरकारी कर तथा व्यय नीति के निर्धारण से है यद्यपि वर्तमान समय में सरकार की सार्वजनिक ऋण नीति भी राजकोषीय नीति का एक महत्वपूर्ण अंग है। किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु (उदाहरणार्थ पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना अथवा युद्ध लड़ने के लिये पर्याप्त वित्तीय साधनों को प्राप्त करके वास्तविक साधनों को प्राप्त करना इत्यादि) अर्थव्यवस्था में कर ढांचे तथा कर आय के आकार के निर्धारण तथा सरकारी व्यय के आकार व दिशा निर्धारण को राजकोषीय नीति कहते हैं। इस प्रकार सरकारी कर तथा सरकारी व्यय राजकोषीय नीति के दो प्रधान अंग हैं। वर्तमान समय में सार्वजनिक ऋण को राजकोषीय नीति का तीसरा अंग स्वीकार किया जाता है। भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर जो अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा समय समय पर लगाये जाते हैं तथा अनेक प्रकार से अनेक मदों पर—प्रतिरक्षा, प्रशासन, आर्थिक विकास, आरक्षी विभाग, इत्यादि—राज्य द्वारा किया गया व्यय, जिसमें व्यक्तिगत उद्योगों तथा नगरपालिकाओं को प्रदान किये गये अनुदान भी सम्मिलित होते हैं, राजकोषीय नीति के यन्त्र हैं। सरकार की कर नीति का सम्बन्ध उन निर्णयों से है जिनके द्वारा सरकार यह निर्धारित करती है कि देश में लोगों से कितनी क्रयशक्ति किस प्रकार प्राप्त की जानी है। राज्य की व्यय नीति में वे निर्णय सम्मिलित होते हैं जिनका अर्थव्यवस्था में आय तथा व्यय के प्रवाह पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कर नीति के समान राज्य की ऋण नीति का सम्बन्ध भी अर्थव्यवस्था में लोगों से ऋणों द्वारा क्रयशक्ति प्राप्त करने से है। सरकार की ऋण प्रबन्धन नीति का सम्बन्ध भिन्न प्रकार के ऋणों पर ब्याज का भुगतान करने, समय पूरा होने पर विभिन्न ऋणों का भुगतान करने, पुराने ऋणों को नये ऋणों में बदलने तथा भिन्न ऋणों को बाजार में चालू करने सम्बन्धी निर्णयों से है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजकोषीय नीति का सम्बन्ध मूल रूप से अर्थव्यवस्था में आय को निजी व्यय तथा बचत की दिशा से हटाकर सरकार की ओर मोड़ना है।

यद्यपि प्राचीन समय में राजकोषीय नीति के कर अंग का प्रधान उद्देश्य आय प्राप्त करना तथा व्यय अंग का उद्देश्य राष्ट्र की प्रतिरक्षा करना तथा राष्ट्र में आन्तरिक शान्ति की व्यवस्था बनाये रखना था, वर्तमान समय में राजकोषीय नीति के अनेक उद्देश्य हैं। वर्तमान

समय में कार्यात्मक वित्त सिद्धान्त का विचार (concept of functional finance), जिसके अनुसार राजकोषीय नीति के लक्ष्य अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार स्थिति प्राप्त करना, आर्थिक स्थिरता को बनाये रखना, देश में आर्थिक विकास को सम्भव बनाना तथा आय का समाज में न्यायोचित वितरण करना इत्यादि हैं, लोकप्रिय हो गया है। वर्तमान समय मे राज्य का बजट अर्थव्यवस्था में स्थिरता तथा पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त करने का एक प्रधान साधन है तथा संसार के सभी देशों की सरकारें अपनी अर्थव्यवस्था को सन्तुलित अवस्था में रखने के हेतु इस साधन का प्रयोग करती हैं। केवल समाजवादी देशों, जहाँ राज्य को पूर्ण सत्ता प्राप्त होती है, में ही नहीं बल्कि पूँजीवादी देशों में भी आज राज्य को अर्थव्यवस्था का संरक्षक स्वीकार किया जाने लगा है। युद्ध-पश्चात स्फीति तथा तीसा की महान मन्दी के परिणामस्वरूप संसार के देशों में असन्तुलन की गम्भीर घटनायें उत्पन्न होने से अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार सन्तुलन की स्थापना करने के हेतु राजकोषीय नीति को नये रूप से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

आज से लगभग ७० वर्ष पूर्व राजकोषीय नीति का अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का नियमन करने में महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं था। परन्तु आज परिस्थिति बिल्कुल भिन्न है तथा सरकारी बजट—सरकारी व्यय तथा आय—का अर्थव्यवस्था में कुल आय तथा रोजगार के निर्धारण में एक विशेष महत्व है।

बजट तथा आर्थिक क्रिया

वर्तमान समय में सरकार अपने बजट के द्वारा अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण करती है। वर्तमान अर्थव्यवस्था में सरकारी आय तथा व्यय कीमतों, रोजगार तथा राष्ट्रीय आय के वितरण के महत्वपूर्ण नियामक हैं। सरकारी व्यय में कमी अथवा वृद्धि होने के परिणामस्वरूप वर्तमान उत्पादन की माँग में भी प्रत्यक्ष रूप से कमी अथवा वृद्धि हो जाती है। इसके कारण अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों को प्राप्त रोजगार तथा आय में भी कमी अथवा वृद्धि हो जाती है। जब सरकार अपने कर्मचारियों के वेतनों में वृद्धि करके, सार्वजनिक ऋण पर ब्याज का भुगतान करके, वयोवृद्धों की देख रेख तथा समाज सुरक्षा योजनाओं पर अधिक व्यय करती है तो इससे अर्थव्यवस्था में लोगों की उपभोग्य-आय में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि होती है तथा विनिर्माता तथा उद्योगपति अपनी उत्पादन इकाइयों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करते हैं। ऐसा करने से अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों की माँग में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में रोजगार तथा आय के स्तरों में वृद्धि हो जाती है।

बजट के दूसरे अंग अर्थात करों का भी अर्थव्यवस्था में आय तथा रोजगार की स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक कर जनता के ऊपर भार होता है। कर लगाने के परिणामस्वरूप करदाताओं को उपभोग्य-आय में कर की मात्रा के समान कमी हो जाती है। इसका अर्थव्यवस्था में उपभोग तथा बचत पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कुल उपभोग तथा कुल बचत कुल आय द्वारा औसत उपभोग प्रवृत्ति तथा बचत प्रवृत्ति के अनुसार निर्धारित होते हैं। कर लगने के कारण अर्थव्यवस्था में लोगों को आय में कमी हो जाने से लोगों की उपभोग तथा बचत शक्ति में कमी हो जाती है। उपभोग में कमी हो जाने के परिणामस्वरूप उपभोग वस्तुओं की माँग में कमी हो जाती है जिसके कारण उत्पादनकर्त्ताओं तथा उत्पादन साधनों की आयों में भी कमी हो जाती है। लोगों की बचत शक्ति में कमी हो जाने का अर्थव्यवस्था में पूँजी-निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा पूँजी निर्माण का अभाव होने के कारण पर्याप्त मात्रा में पूँजी उपलब्ध न होने के कारण नये उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों का विस्तार करना कठिन हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्तिगत कर का भुगतान करने के फलस्वरूप करदाता की आय कम हो जाती है। अर्थशास्त्र के सभी विद्यार्थी इस नियम से भली प्रकार परिचित हैं कि उपभोग की मात्रा आय की मात्रा पर निर्भर होती है। आय कम हो जाने के कारण उपभोग व्यय भी कम हो जाता है तथा अर्थव्यवस्था में मन्दी की लहर उत्पन्न होने का भय उपस्थित हो जाता है। वस्तु-करों के लगने के कारण उत्पादकों के लिए वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है तथा परिणामस्वरूप साधारण माँग नियम के अनुसार वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। ऐसा होने से उद्योगों के विकास में बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं। सरकार की कर नीति का देश में शेयर बाजार, निवेश की अवस्था तथा पूँजी निर्माण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में सरकारी व्यय तथा कर सम्बन्धी नीतियों का, समाज में व्यक्तियों की व्यक्तिगत आयों में वृद्धि अथवा कमी करके तथा निवेश की मात्रा पर गहरा प्रभाव डाल कर, अर्थव्यवस्था का नियमन करने में विशेष महत्व है।

बजट के प्रभाव केवल केन्द्रीय सरकार के बजट तक ही सीमित नहीं होते हैं। राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं—नगरपालिकाओं व जनपद परिषदों—के बजटों का भी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु केन्द्रीय सरकार का बजट के परिमाणात्मक दृष्टि से बड़ा होने के कारण अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव राज्य सरकारों के छोटे बजटों की तुलना में अधिक पड़ता है।[1] इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के बजट का प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर पड़ता है, परन्तु राज्य सरकारों के बजटों का प्रभाव राज्य विशेष तक ही सीमित होता है। इसी प्रकार नगरपालिकाओं तथा जनपद परिषदों के बजटों का प्रभाव इन संस्थाओं की स्थानीय सीमाओं तक सीमित रहता है।

सरकारी व्यय तथा आय के संयोजित कार्य के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में समस्त माँग तथा आर्थिक क्रियाओं पर बुरे तथा अच्छे प्रभाव पड़ सकते हैं। साधारणतया बेशी वाले बजटों का अर्थव्यवस्था पर अवस्फीति-प्रभाव (deflationary effect) पड़ता है तथा घाटे वाले बजट अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के विस्तार को प्रेरणा प्रदान करते हैं। इससे यह सामान्य निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मन्दी के समय में जब अर्थव्यवस्था में आय-प्रवाह (income flow) में वृद्धि करने की आवश्यकता होती है, घाटे वाले बजटों तथा अभिवृद्धि के समय में जब अर्थव्यवस्था में आय-प्रवाह अत्यधिक होने के कारण इस में कमी करने की आवश्यकता होती है बेशी वाले बजटों को प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

परन्तु उपरोक्त निष्कर्षों से हमें यह नहीं समझना चाहिये कि सन्तुलित बजट का राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक क्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अर्थव्यवस्था के लिये सन्तुलित बजट भी उतना ही कम अथवा अधिक महत्वपूर्ण होता है जितना कम अथवा अधिक महत्वपूर्ण असन्तुलित बजट—घाटे अथवा बेशी का बजट—होता है। अर्थव्यवस्था में सरकार की राजकोषीय नीति के आर्थिक क्रियाओं पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करने में सरकारी आय तथा व्यय के आकार के अतिरिक्त इन दोनों की बनावट (composition) का अध्ययन करना भी आवश्यक है। सरकार किसी दी हुई राशि की आय को कई प्रकार से प्राप्त कर सकती है। यह आय करों, वाणिज्य क्रियाओं अथवा ऋणों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। परन्तु भिन्न प्रकार से आय

1. भारत सरकार का बजट देश में सारी राज्य सरकारों के कुल बजटों के योगफल से भी अधिक है।

प्राप्त करने के कारण अर्थव्यवस्था पर भिन्न प्रभाव पड़ेंगे। जब सरकार इस आय को करों द्वारा प्राप्त करने का निर्णय करती है तब भी भिन्न प्रकार के करों का अर्थव्यवस्था पर भिन्न प्रभाव पड़ेगा। उदाहरणार्थ, आय की दी हुई मात्रा को आय कर अथवा बिक्री कर के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु दोनों प्रकार के करों का अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं पर भिन्न प्रभाव पड़ेगा। आय कर के कारण अर्थव्यवस्था में पूँजी-निर्माण तथा बचत पर तत्कालीन बुरा प्रभाव पड़ेगा तथा बिक्री कर का उपभोग पर तत्कालीन बुरा प्रभाव पड़ेगा।

इसी प्रकार किसी दी हुई धनराशि को खर्च की अनेक मदों पर व्यय किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सरकार १०० करोड़ रुपये की राशि को देश में रेल उद्योग के विकास, लोह-इस्पात उद्योग की स्थापना, सड़क निर्माण, गन्दी बस्तियों को सुधारने, पार्क बनाने समाज सुरक्षा आदि योजनाओं पर व्यय कर सकती है। परन्तु प्रत्येक दिशा में व्यय करने के भिन्न आर्थिक प्रभाव होंगे। यदि सरकार १०० करोड़ रुपये देश में सड़क निर्माण तथा गन्दी बस्तियों को सुधारने पर व्यय करती है तो इस व्यय का व्यक्तिगत क्षेत्र में होने वाले निवेश पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि इस व्यय के कारण निजी क्षेत्र में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है तथा अर्थव्यवस्था में १०० करोड़ रुपये का अधिक व्यय होने के कारण राष्ट्रीय आय तथा रोजगार में वृद्धि होगी। परन्तु यदि सड़क निर्माण तथा गन्दी बस्तियों के सुधार पर व्यय न करके सरकार इस १०० करोड़ रुपये के द्वारा देश में ऊनी वस्त्र मिलें स्थापित करती है तो इसका व्यक्तिगत निवेश पर बुरा प्रभाव पड़ेगा क्योंकि ऊनी वस्त्र उद्योग में विनिर्माता निवेश करना स्थगित कर देंगे। व्यक्तिगत क्षेत्र में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में कमी हो जाने के कारण कुल व्यक्तिगत अथवा प्रेरित निवेश में कमी होने की प्रवृत्ति आरम्भ हो जावेगी तथा सरकारी व्यय के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ सकते हैं।

उपरोक्त व्याख्या से ज्ञात होता है कि सरकार की सन्तुलित बजट नीति के भी अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं के निर्धारण पर गहरे प्रभाव पड़ते हैं। प्रत्येक वर्ष कुल बजट आय तथा व्यय समान रहते हुए आय तथा व्यय के स्रोतों में परिवर्तन हो जाने के कारण अर्थव्यवस्था पर प्रत्येक वर्ष के बजट के भिन्न प्रभाव पड़ सकते हैं। राजकोषीय नीति किस सीमा तक अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने का साधन सिद्ध हो सकती है यह इस बात पर निर्भर करेगा कि राजकोषीय नीति द्वारा सरकार किस सीमा तक अर्थव्यवस्था में आय तथा व्यय के प्रवाहों में सन्तुलन तथा इनकी बनावट में उपयुक्त परिवर्तन कर सकती है।

राजकोषीय नीति का उद्देश्य

अर्थशास्त्रियों में इस विषय पर काफी सहमति है कि राजकोषीय नीति को अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार के स्तर पर आर्थिक स्थिरता प्राप्ति के साधन के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्री आर्थिक स्थिरता की इस प्रकार संकुचित रूप में व्याख्या करते थे कि आर्थिक स्थिरता से उनका अभिप्राय केवल सामान्य कीमत-स्तर की स्थिरता से था। वे पूर्ण रोजगार को अर्थव्यवस्था में विद्यमान मानते थे क्योंकि से के बाजार नियम के अनुसार अत्युत्पादन मिथ्या था। परन्तु तीसा की महान मन्दी में इस परम्परानिष्ठ विचार का विस्फोट हो गया तथा तत्पश्चात अर्थशास्त्रियों व राजनीतिज्ञों का ध्यान अर्थव्यवस्था में उपस्थित बेरोजगारी को दूर करने की ओर आकर्षित हुआ। अमरीकी संसद ने १९४६ ई० का रोजगार अधिनियम (Employment Act of 1946) बनाकर राजकोषीय नीति के आर्थिक उद्देश्य को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था।

"अपनी आवश्यकताओं तथा दायित्वों, उद्योग, कृषि, श्रम, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संघीय सरकार की यह जिम्मेदारी है कि वह अपनी सभी योजनाओं तथा क्रियाओं के मध्य समायोजन स्थापित करे, मुक्त प्रतियोगी उद्यम को प्रोत्साहित करे तथा सामान्य कल्याण की उस स्थिति को जिसमें उन सभी लोगों को जो काम करने के योग्य तथा काम करने के इच्छुक हैं उपयोगी रोजगार प्राप्त हो सके, प्रोत्साहित करे तथा अधिकतम रोजगार, उत्पादन तथा क्रयशक्ति को सम्भव बनावे ।"[2]

प्रथम महायुद्ध के समय से स्फीति तथा अवस्फीति संसार के लगभग सभी राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं की आर्थिक स्थिरता को भंग करती रही है । परिणामस्वरूप राजकोषीय नीति का आर्थिक उद्देश्य कीमत स्थिरता को प्राप्त करने के साथ पूर्ण रोजगार को भी प्राप्त करना है । यह निर्णय करने के पश्चात कि राजकोषीय नीति का उद्देश्य अर्थव्यवस्था में कीमत-स्थिरता तथा पूर्ण रोजगार के द्वारा आर्थिक स्थिरता प्राप्त करना है, पूर्णरोजगार तथा कीमत-स्थिरता के अर्थ को समझना आवश्यक है । विलियम एच० बेवरिज के अनुसार पूर्ण रोजगार का विचार "उस विशेष स्थिति को संकेत करता है जिस में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या की तुलना में काम करने के अधिक स्थान प्राप्त होते हैं ।"[3] बर्टिल ओहलिन के विचारानुसार पूर्ण रोजगार "रोजगार की उस मात्रा को कहते हैं जो अर्थव्यवस्था में उस स्थिति में उपस्थित होती है जब वस्तुओं की समस्त माँग प्रचलित कीमतों पर समस्त घरेलू पूर्ति के साथ सन्तुलन में होती है ।....अधिरोजगार (overemployment) का अर्थ केवल यह है कि अधिकांश उद्योगों में काम खोजने वाले व्यक्तियों की तुलना में रिक्त स्थानों की संख्या बहुत अधिक है ।"[4] पूर्ण रोजगार की सबसे अधिक उपयुक्त परिभाषा अमरीकी आर्थिक संघ (American Economic Association) को आर्थिक स्थिरता उपसमिति द्वारा दी गई है । इस परिभाषा के अनुसार "पूर्ण रोजगार का अर्थ यह है कि उन सभी योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को जो प्रचलित वेतन पर काम खोजते है, अधिक विलम्ब बिना उत्पादक कार्यों में काम प्राप्त हो सकता है । इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति पूर्णकालिक आधार पर काम करना चाहते हैं उनको पूर्णकालिक कार्य प्राप्त हो सकता है ।....इसका यह अर्थ नहीं है कि अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी शून्य होती है ।"[5]

पूर्ण रोजगार की व्याख्या करने के पश्चात् अब हमें कीमत-स्थिरता का अर्थ समझना चाहिये । इस सम्बन्ध में भी अमरीकी आर्थिक संघ द्वारा कीमत-स्थिरता की दी गई परिभाषा सर्वश्रेष्ठ है । अमरीकी आर्थिक संघ के अनुसार कीमत-स्थिरता का यह अर्थ है कि सामान्य कीमत-स्तर में तीव्र अल्पकालीन उतार-चढ़ावों की प्रवृत्ति नहीं है । उस राजकोषीय नीति को, जिसका उद्देश्य कीमत-स्तर में स्थिरता बनाये रखना है, कीमत-स्तर में अल्पकालीन उतार-चढ़ावों को रोकने का प्रयास करना चाहिये ।

यद्यपि कीमत-स्तर स्थिरता तथा पूर्ण रोजगार की परस्पर प्राप्ति राजकोषीय नीति के

---

2. U. S. Employment Act, of 1946.
3. William H. Beveridge : *Full Employment in a Free Society*, p. 182.
4. Bertil Ohlin : *Overfull Employment* printed in *Redings in Money and Banking*, edited by C. R. Whittlesay.
5. "Full employment means that qualified people who seek jobs at prevailing wage rate can find them in productive activities without considerable delay. It means full time jobs for people who want to work full time.........It does not mean that unemployment is ever zero." (Committee of the A. E. A : *The Problem of Economic Instability* A. E. R., Sept. 1950.)

प्रशंसनीय लक्ष्य हैं परन्तु इन दोनों लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। हमारी आर्थिक प्रणाली पूर्ण नहीं है। इसमें अनेक अपूर्णतायें तथा असंगत तत्व पाये जाते हैं जिनके कारण कीमत स्थिरता का परित्याग किये बिना पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना कठिन है। पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए थोड़ी कीमत-स्फीति को सहन करना अनिवार्य है। स्थिर कीमत स्तर तथा पूर्ण रोजगार परस्पर असंगत विचार हैं। एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये दूसरे लक्ष्य का कुछ त्याग करना पड़ता है।

प्रतिचक्रीय राजकोषीय नीति

आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति में सफल होने के लिये राजकोषीय नीति प्रतिचक्रीय होनी चाहिये। अपनी कुल आय से अधिक व्यय करके सरकार अर्थव्यवस्था में आय, रोजगार तथा आर्थिक क्रियाओं का विस्तारण करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। इसके विपरीत सरकार अपने कुल व्यय में कमी तथा करों में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था में रोजगार, आय तथा आर्थिक क्रियाओं के स्तर में गिरावट उत्पन्न कर सकती है। सरकार अपनी बजट नीति के द्वारा अर्थव्यवस्था का नियमन करती है। यदि सरकार अपनी राजकोषीय नीति का प्रयोग आर्थिक स्थिरता के यंत्र के रूप में करना चाहती है तो बजट के आकार तथा समय का नियमन करना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, बजट नीति आर्थिक स्थिरता प्राप्ति का सफल साधन तभी बन सकती है जब सरकार को इस बात का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो कि किस समय इसको अपनी कुल आय की तुलना में अधिक व्यय तथा किस समय इसे अपनी कुल आय की तुलना में कम व्यय करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि स्फीति के समय में सरकार घाटे के बजटों की नीति को अपनाकर अपनी आय की तुलना में अधिक व्यय करने लग जाती है तो राजकोषीय नीति आर्थिक स्थिरता के लिए घातक सिद्ध होगी क्योंकि स्फीति के समय अर्थव्यवस्था में समस्या अधिक व्यय को कम करने की होती है परन्तु यह तभी सम्भव है जब सरकार बेशी के बजट की नीति द्वारा अपने कुल व्यय में कमी तथा करों में वृद्धि करके अपनी कुल आय में वृद्धि करती है। करों में वृद्धि करने का एक अच्छा परिणाम यह होगा कि अर्थव्यवस्था में लोगों की उपभोग्य-आय में कमी हो जाने से उनकी खर्च करने की शक्ति में कमी हो जावेगी तथा अर्थव्यवस्था सन्तुलन की ओर गतिमान हो जावेगी। मन्दी में बेशी वाले बजटों की नीति को लागू करने से अर्थव्यवस्था में मन्दी कम न होकर अधिक हो जावेगी तथा राजकोषीय नीति आर्थिक स्थिरता को प्राप्त न करके उपस्थित आर्थिक अस्थिरता को अधिक प्रचंड बना देगी। परन्तु यही नीति स्फीति में आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने का उपयुक्त साधन सिद्ध हो सकती है।

राजकोषीय नीति को आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति का उत्तम साधन बनाने के लिये यह आवश्यक है कि रोजगार तथा आय में उतार चढ़ाव होने के समय वार्षिक बजट को सन्तुलित बनाने की वर्तमान प्रथा का परित्याग कर दिया जाय। ऐसे समय में सरकार की बजट नीति लचीली होनी चाहिये। आर्थिक स्थिरता के हित में राजकोषीय नीति में स्वयं स्थिरता प्राप्त करने का गुण होना चाहिए जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर करों तथा व्यय में परिवर्तन करके स्थिरता को प्राप्त किया जा सके। इसके लिये राजकोषीय नीति में स्थिरता प्राप्त करने वाले साधनों का होना आवश्यक है। आय कर तथा बेरोजगारी बीमा योजना पर किया जाने वाला व्यय स्थिरीकरण साधनों के उदाहरण हैं।

आर्थिक स्थिरता को अधिक सुगमता के साथ प्राप्त करने के लिए सरकार को प्रतिवर्ष बजट को सन्तुलित रखने की अपनी वर्तमान नीति के स्थान पर बजट को समस्त व्यापार चक्र

की अवधि में सन्तुलित रखने का प्रयास करना चाहिये। इस नीति के अनुसार आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने के हेतु सरकार को अत्यधिक आर्थिक समृद्धि तथा अतिपूर्ण रोजगार के समय में बेशी का बजट तथा बेरोजगारी तथा मन्दी के युग में घाटे का बजट प्रस्तुत करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि व्यापार चक्र की अवधि के अधिकांश समय में बजट असन्तुलित रहना चाहिये। सन्तुलित बजट केवल पूर्ण रोजगार की आदर्श अवस्था में उपयुक्त होता है।

स्फीति में राजकोषीय नीति

अर्थव्यवस्था में स्फीति पर नियंत्रण करने तथा आर्थिक स्थिरता स्थापित करने में राजकोषीय नीति का एक विशेष महत्त्व है। राजकोषीय नीति का स्फीति को रोकने में निम्नलिखित तीन प्रकार से उपयोग किया जा सकता है।

(१) **सरकारी व्यय**—स्फीति का अभिप्राय अर्थव्यवस्था में उत्पन्न उस स्थिति मे है जिसमें अर्थव्यवस्था में कुल द्रव्य मौद्रिक व्यय की मात्रा पूर्वस्फीति कीमतों पर कुल उपलब्ध वस्तुओं की पूर्ति की तुलना में अधिक होती है। ऐसे समय में सरकारी व्यय में यथासम्भव मात्रा में कमी होना अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता स्थापित करने के हित में सिद्ध होगा। सरकारी व्यय में कमी करने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि पुराने करों में वृद्धि करके तथा नये कर लगाकर समाज में लोगों के हाथों से अतिरिक्त क्रय शक्ति को वापस ले लिया जावे।

परन्तु सरकारी व्यय में कमी करने की निश्चित सीमायें हैं। समय विशेष पर प्रतिरक्षा, आन्तरिक स्थिति तथा गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के कारण यह सम्भव है कि सरकारी व्यय में कमी करने के स्थान पर वृद्धि करना अनिवार्य हो जाये। उदाहरणार्थ, १९४९ ई० में अमरीकी बजट में कुल सरकारी व्यय का ४/५ भाग प्रतिरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सहायता इत्यादि ऐसी आवश्यक मदों से सम्बद्ध था जिनमें किसी प्रकार की कमी करना राष्ट्रीय हितों के लिये घातक सिद्ध हो सकता है।

(२) **कर**—करों मे वृद्धि करके भी स्फीति की रोकथाम की जा सकती है। स्फीति विरोधी कर वृद्धि नीति के दो उद्देश्य होने चाहिये। प्रथम, कर इस प्रकार से लगाये जाने चाहिये कि इनके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में कुल उपभोग व्यय में कमी हो जानी चाहिये। दूसरे, उपभोग व्यय में कमी होने के साथ साथ निवेश व्यय में वृद्धि नहीं होनी चाहिये क्योंकि स्फीति की अवधि में अर्थव्यवस्था में वास्तविक साधनों की कमी होती है तथा मौद्रिक निवेश में वृद्धि होने के हेतु वास्तविक निवेश में कोई वृद्धि नहीं होती है। स्फीति के समय में अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर होती है। ऐसी अवस्था में वस्तुओं की पूर्ति में और अधिक वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है तथा कीमतों को स्थिर रखने का एकमात्र उपाय वस्तुओं—विशेष रूप से उपभोग वस्तुओं—की माँग को सीमित रखना है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब अधिक करों के माध्यम द्वारा अर्थव्यवस्था में लोगों की उपभोग्य आय इतनी अधिक कम हो जाये कि वे कुल उपभोग पर केवल इतना द्रव्य व्यय करें कि कुल माँग तथा पूर्ति के मध्य सन्तुलन स्थापित रहे। आय कर में इस प्रकार वृद्धि करके कि मध्यम तथा निम्न आय वर्ग के सदस्यों पर आय कर का अधिक भार पड़ सके, बिक्री कर में वृद्धि करके, तथा उत्पादन करों में वृद्धि करके समाज में कुल उपभोग में उपलब्ध कुल पूर्ति के अनुसार कमी की जा सकती है। संक्षेप में स्फीति के दिनों में राजकोषीय नीति के अन्तर्गत कर जाल की गहराई तथा आकार में वृद्धि होनी चाहिये।

(३) **ऋण**—ऋण भी राजकोषीय नीति का महत्त्वपूर्ण अंग है। स्फीति में लोगों की आयों में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि केवल सरकारी व्यय में कमी तथा करों में वृद्धि करके

स्फीति पर विजय प्राप्त करना कठिन होता है। एक सीमा के पश्चात करों में वृद्धि करने का कड़ा विरोध होने के कारण सरकार के लिए करों में अधिक वृद्धि करना कठिन हो जाता है। प्रतिपक्षी राजनैतिक दल सरकार की कर नीति का विरोध करने लगते है तथा सरकार की लोकप्रियता समाप्त हो जाती है। इस कारण प्रजातन्त्र राष्ट्रों के करों में उस उपयुक्त सोमा तक वृद्धि करना संभव नहीं होता है जो स्फीति को रोकने के लिए अनिवार्य होती है। इसके अतिरिक्त करों में अत्यधिक वृद्धि करने से इनका अपवंचन होता है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सरकार जनता से आकर्षित ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त करके जनता के हाथों से बेशी क्रय-शक्ति को प्राप्त कर सकती है। सरकार की यह ऋण नीति स्फीति निवारक सिद्ध होगी। अनिवार्य बचत योजना को लागू करके भी स्फीति की समस्या पर काबू पाया जा सकता है। इंगलैंड, भारत तथा अन्य देशों में पुरस्कार बचत बाँड योजना को भी देश में स्फीति की रोकथाम करने के हेतु लागू किया गया है। परन्तु भारत में यह योजना, जो अप्रैल १९६० ई० मे सरकार द्वारा बड़े उत्साह के साथ आरम्भ की गई थी, सफल सिद्ध नहीं हो सकी तथा लगभग तीन वर्ष के अल्प समय पश्चात इसको समाप्त कर दिया गया। १९६३ ई० में चालू की गई प्रब्याजि पुरस्कार बाँड योजना भी लोकप्रिय सिद्ध नहीं हो सकी।

मन्दी में राजकोषीय नीति

मन्दी काल में अर्थव्यवस्था मे बढ़ती हुई बेरोजगारी तथा गिरती हुई राष्ट्रीय आय की घटना विद्यमान हो जाती है। व्यक्तिगत क्षेत्र में निवेश की मात्रा न्यूनतम हो जाती है। पुराने उद्योगों का विस्तार तथा नये उद्योगों की स्थापना समाप्त हो जाती है। अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधन उपलब्ध होते हुए भी उत्पादन नहीं किया जाता है। उपभोग वस्तुओं की माँग में कमी होने के कारण उत्पादन साधनों की माँग में भी कमी होती है। अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों की प्रचुरता के मध्य वास्तविक दरिद्रता की घटना उपस्थित हो जाती है। मन्दी काल में सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिक व्यय करके अर्थव्यवस्था में कुल समर्थ माँग के स्तर को इतना ऊँचा कर देना चाहिए कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत तथा निवेश में सन्तुलन स्थापित हो सके। मन्दी में राज्य को बेरोजगारी बीमा, वयोवृद्धों की देखभाल तथा अन्य समाज कल्याण कार्यों पर अधिक व्यय करना चाहिये। सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिक व्यय करने का प्रधान लाभ यह है कि ऐसा करने से अर्थव्यवस्था में कुल आय में आरम्भिक व्यय के गुणक गुणा वृद्धि हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था चेतना की ओर गतिमान हो जाती है। मन्दी की रोकथाम परोक्ष करों में कमी करके लोगों की खर्च-शक्ति में वृद्धि करके भी की जा सकती है।

अर्थव्यवस्था को मन्दी के रोग से मुक्त कराने के लिए निजी क्षेत्र में निवेश की मात्रा में भी वृद्धि की जानी चाहिये। निवेश में वृद्धि होने के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था मे कुल रोजगार तथा आय में वृद्धि होगी तथा कुल आय में वृद्धि होने से कुल उपभोग में वृद्धि होगी। इस प्रकार कुल निवेश की मात्रा में वृद्धि होने के संचयी प्रभाव होंगे तथा अर्थव्यवस्था में मन्दी शीघ्र समाप्त हो सकेगी। व्यक्तिगत क्षेत्र में निवेश क्रिया को करों में उपयुक्त छूट देकर प्रेरित किया जा सकता है। निगम कर, परिसम्पत्ति कर, आय कर तथा लाभ कर में उपयुक्त कमी करके व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्योगपतियो को नये उद्योगों का निर्माण तथा पुराने उद्योगों का विस्तार करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। सरकार की ऋण नीति का प्रबन्धन भी इस प्रकार किया जाना चाहिये कि मन्दी के समय ऋणदाताओं को उनके ऋणों का भुगतान किया जाना चाहिए। ऐसा करने से

ऋणदाताओं की कुल उपभोग्य-आय में वृद्धि होने से उनके कुल उपभोग व्यय में भी वृद्धि अवश्य होगी तथा समस्त माँग में वृद्धि होने से अर्थव्यवस्था में कुल आय तथा रोजगार में वृद्धि सम्भव हो सकेगी।

मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति में सम्बन्ध

मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियाँ परस्पर पूरक होनी चाहिये। मौद्रिक नीति अर्थ-व्यवस्था में आय, रोजगार तथा व्यय की मात्रा को, मुद्रा की मात्रा तथा इसको प्राप्त करने के व्यय पर प्रभाव डालकर प्रभावित करती है। राजकोषीय नीति अर्थव्यवस्था में आय, रोजगार तथा व्यय की मात्रा को सरकारी व्यय, कर तथा ऋण में कमी तथा वृद्धि करके प्रभावित करती है। पूरक के रूप में कार्य करने से मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के द्वारा अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को शीघ्र प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए मौद्रिक नीति तथा राज-कोषीय नीति के प्रवन्धकों के मध्य निकटतम सम्बन्ध होना आवश्यक है।

स्फीति के समय बेशी बजट की नीति के साथ ब्याज की दर में वृद्धि करके मँहगी मुद्रा नीति का निर्माण करने से आर्थिक स्थिरता को शीघ्र प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत आर्थिक मन्दी के समय घाटे के बजट के साथ ब्याज की दर में उपयुक्त कमी करके सस्ती मुद्रा नीति को कार्यान्वित करके अर्थव्यवस्था में चेतना को शीघ्र प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने के लिए इन दोनों स्थिरीकरण यन्त्रों के मध्य समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने में मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के महत्व को श्री जे० केमरोन थॉमसन (J. Cameron Thomson) ने डगलास उपसमिति के समक्ष अपना ब्यान देते हुए निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था।

"राजकोषीय मौद्रिक तथा ऋण प्रवन्धन नीतियाँ मुक्त समाज में अस्थिरता की समस्या पर आक्रमण करने के उपयुक्त यन्त्र हैं। अस्थिरता की समस्या उन शक्तियों पर नियन्त्रण रखने की समस्या है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालती है। यह समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब लाखों श्रमिक बेरोजगार हो जाते है अथवा जब कीमतों में असमान गति से सामान्य वृद्धि होती है। राजकोषीय, मौद्रिक तथा ऋण नीतियों का विशेष लाभ यह है कि ये नीतियाँ सरकार को उन सभी शक्तियों पर, जो अर्थव्यवस्था में स्थिरता निर्धारित करती है, अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किये बिना, नियन्त्रण करने के योग्य बनाती हैं। निसन्देह यद्यपि इन नीतियों के समाज में भिन्न व्यक्तियों तथा व्यवसायों पर भिन्न प्रभाव पड़ते हैं परन्तु ये भिन्नतायें सरकारी निर्णयों द्वारा निर्धारित न होकर बाजार प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होती हैं।" जे० केमरोन थॉमसन के विचारानुसार मौद्रिक, राजकोषीय तथा ऋण नीतियाँ मुक्त अर्थव्यवस्था में आर्थिक अस्थिरता की समस्या पर आक्रमण करने के उपयुक्त यन्त्र हैं।

अध्ययन सूची

1. Dudley Dillard : The Economics of John Maynard Keynes, Chapter 6.
2. Kenneth K. Kurihara : Monetary Theory and Public Policy, Chapter 5.
3. George N. Halm : Economics of Money and Banking, Chapter 36.
4. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy.

5. A. H. Hansen : Economic Policy and Full Employment, Chapters 11, 16-19.

प्रश्न

1. Discuss the role of fiscal policy in achieving economic stability.
2. Discuss how far fiscal policy of the state can succeed in bringing about full employment in the country.
3. If fiscal policy has to achieve the desired objective of economic stability, great care must be exercised with regard to its timing and size. Discuss.

तीसरा भाग

बचत, निवेश तथा ब्याज

१८

बचत
(Saving)

बचत वह वेशी आय है जो कुल आय में से कुल उपभोग खर्च घटाने के पश्चात् शेष बचती है। कुल बचत कुल आय तथा कुल खर्च के अन्तर के समान होती है। इस सम्बन्ध में

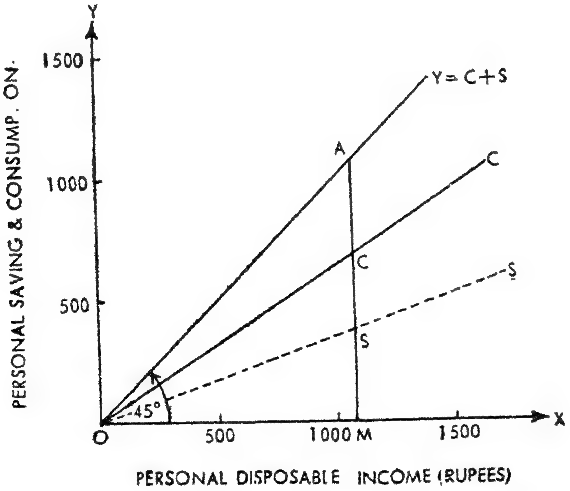

चित्र १८.१

पुरानी तथा नवीन विचारधाराएँ समान हैं।[1] बचत की यह परिभाषा व्यक्तिगत बचत तथा समुदाय बचत के सम्बन्ध में उपयुक्त है। यदि किसी व्यक्ति की कुल वार्षिक आय ४,००० रुपये

---

1. मार्शल के विचारानुसार बचत करने की शक्ति आवश्यक खर्च की तुलना में वेशी आय द्वारा निर्धारित होती है तथा धनी लोगों में यह शक्ति अधिक होती है। कीन्स का भी इसी प्रकार का मत है क्योंकि उन्होंने लिखा है कि सभी इस सम्बन्ध में सहमत हैं कि बचत कुल उपभोग खर्च की तुलना में आय की वेशी होती है।

है तथा वह ३,६०० रुपये वार्षिक उपभोग पर खर्च करता है तो उसकी कुल वार्षिक बचत ४०० रुपये होगी। इसी प्रकार यदि किसी देश में कुल वार्षिक राष्ट्रीय उत्पादन २०० करोड़ रुपये है तथा कुल उपभोग खर्च (व्यक्तिगत तथा सरकारी) १८० करोड़ रुपये है तो कुल राष्ट्रीय बचत २० करोड़ रुपये होगी। व्यक्तिगत बचत निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

$$S_p = Y_d - C_p$$

उपरोक्त समीकरण में S_p; Y_d तथा C_p क्रमशः व्यक्तिगत बचत, व्यक्तिगत उपभोग्य-आय तथा व्यक्तिगत उपभोग को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय बचत (S) को निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

$$S = Y - C$$

कीन्स के विचारानुसार कुल बचत की मात्रा औसत बचत प्रवृत्ति तथा कुल आय द्वारा निर्धारित होती है। औसत बचत प्रवृत्ति एक (१) तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति के अन्तर के बराबर होती है। परन्तु उपभोग तथा आय के मध्य भी स्थिर सम्बन्ध होता है तथा इस कारण हम यह कह सकते हैं कि कुल आय तथा कुल बचत के मध्य भी स्थिर सम्बन्ध होता है। बचत तथा आय के मध्य सम्बन्ध को चित्र १८.१ तथा चित्र १८.२ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

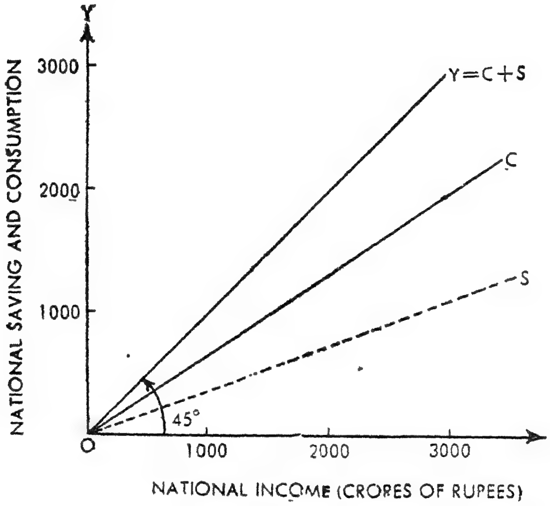

चित्र १८.२

चित्र १८·१ से यह ज्ञात होता है कि कुल उपभोग्य-आय तथ बचत के मध्य इस प्रकार का सम्बन्ध है कि कुल उपभोग्य-आय में वृद्धि होने पर बचत में भी वृद्धि होती है। SS बचत वक्र, जो आय तथा बचत के मध्य सम्बन्ध व्यक्त करता है, को विभिन्न उपभोग्य-आयों के समक्ष समानता रेखा Y=C+S तथा उपभोग वक्र CC के अन्तर द्वारा प्राप्त किया गया है। इसी प्रकार चित्र १८.२ में समस्त बचत तथा राष्ट्रीय आय का परस्पर सम्बन्ध व्यक्त किया गया है। चित्र से ज्ञात होता है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप समस्त बचत में वृद्धि होती है, अर्थात

$$\frac{dS_p}{dY_d} > 0; \text{तथा } \frac{dS}{dY} > 0$$

प्राचीन विचारधारा में बचत करने की क्रिया को अच्छा विचारा जाता था। प्राचीन अर्थशास्त्री राष्ट्रीय बचत को व्यक्तिगत बचतों का योग मात्र विचारते थे। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी अर्थशास्त्री जे० बी० से द्वारा प्रतिपादित बाजार नियम के अनुसार बचत तथा निवेश एक दूसरे से भिन्न नहीं हो सकते थे। यह नियम इस मान्यता पर आधारित था कि जिस राशि को बचाया जाता है उसका स्वयं निवेश हो जाता है। कमउपभोगवादियों ने, जिनमें हॉबसन का नाम उल्लेखनीय है, इस विचारधारा की कड़ी आलोचना की थी। फ्रान्स में १९०९ ई० में अफटे-लियन ने से के बाजार नियम पर आक्रमण किया था। कमउपभोगवादियों के विचारानुसार बचत करने की क्रिया में कोई अच्छाई नहीं थी। उनके विचार मे बचत अर्थव्यवस्था मे कुल समर्थ मांग में कमी उत्पन्न करके निरन्तर उत्पन्न होने रहने वाले अत्युत्पादन संकटों को, जो अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को उत्पन्न करते है, को जन्म देती है। परन्तु इस सम्बन्ध में कीन्स का विचार भिन्न था। उनके विचार मे न तो बचत को सदा अच्छा कहा जा सकता था तथा न इसे सदा खराब कहा जा सकता था। किन्स ने यह बतलाया कि बचत तथा बचत करने की क्रिया सामाजिक हितों के लिए अच्छी है अथवा बुरी है, इसका निर्णय करने के लिये हमको प्रश्न की गहराई में जाना चाहिये तथा इस प्रश्न का उत्तर खोजना चाहिये कि आय के जिस भाग का उपभोग नहीं किया जाता है, अर्थात जिस भाग को बचाया जाता है उसका क्या होता है? यदि बचत-राशि का निवेश हो जाता है तो अर्थव्यवस्था मे कुल समर्थ मांग मे कमी उत्पन्न नहीं होगी। कीन्स के विचारानुसार बचत करने के परिणामस्वरूप कुल समर्थ मांग मे कमी की घटना, जो अर्थव्यवस्था मे बेरोजगारी को जन्म देती है, केवल उस समय उत्पन्न होती है जब बचत का निवेश नही हो पाता है। कीन्स के इस विचार मे अधिक वास्तविकता है क्योंकि वे न तो परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्रियों के समान बचत को सदा अच्छा विचारते है तथा न ही वे कमउपभोगवादियों के समान बचत को सदा बुरा समझते है।

यद्यपि व्यक्तिगत बचत तथा समुदाय बचत की परिभाषाएँ समान है परन्तु ऐसा होते हुए भी इन दोनों बचतों मे कुछ मौलिक अन्तर है। समुदाय बचत का अध्ययन करते समय उन तत्वों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनको व्यक्तिगत बचत का अध्ययन करते समय भुलाया जा सकता है। यद्यपि व्यक्तिगत बचत तथा समुदाय अथवा राष्ट्रीय बचत समान है तथा यह भी कहना सत्य है कि राष्ट्रीय बचत व्यक्तिगत बचतों का योग होती है परन्तु व्यक्तिगत बचत मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय बचत में सदा वृद्धि नही होती है। कोई क्रिया जो व्यक्तिगत दृष्टि से अच्छी है यह आवश्यक नहीं है कि वह क्रिया राष्ट्रीय दृष्टि से भी अच्छी हो। बचत के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है। कीन्स ने इस सत्य को व्यक्त किया है कि यद्यपि कोई व्यक्ति अपनी स्थिर आय मे से कम खर्च करके अधिक बचत कर सकता है परन्तु उसके करने से सामाजिक बचत में वृद्धि नहीं होती है। उपभोग पर व्यय न करने को बचत कहते हैं। यद्यपि उपभोग पर पहले की अपेक्षाकृत कम खर्च करके कुछ व्यक्ति निःसन्देह अपनी बचत में वृद्धि कर सकते है परन्तु उनके ऐसा करने के कारण अर्थव्यवस्था म अन्य लोगों की आयों में कमी हो जावेगी क्योंकि एक व्यक्ति का खर्च दूसरे व्यक्तियों की आय होती है। उदाहरणार्थ, जब मै कोई मकान १०० रुपये मासिक किराये पर लेता हूँ तो १०० रुपये प्रतिमास जो मैं मकान पर खर्च करता हूँ मेरे लिये खर्च है परन्तु यह मेरे मकान मालिक की आय है। इसी प्रकार जब मैं टिकट खरीद कर रेल में यात्रा करता हूँ तो टिकट की कीमत मेरे लिये खच है परन्तु रेल कम्पनी की यह आय है। आय समान रहते हुए मैं अपने अधिक बचत करने के प्रयास मे केवल अपने उपभोग व्यय में कमी करके सफल हो सकता हूं। परन्तु मेरे ऐसा करने का अर्थ यह होगा कि अब मैं पहले की तुलना मे रेल यात्रा तथा मकान पर कम खर्च करूंगा। फलस्वरूप मकान

मालिक तथा रेल कम्पनी की आय में समान मात्रा में कमी हो जावेगी तथा पहले की अपेक्षाकृत वे कम बचत कर पावेंगे। कीन्स ने यह सत्य व्यक्त करके कि अर्थव्यवस्था में एक व्यक्ति का खर्च दूसरों की आय होता है यह बतलाया कि आय स्थिर रहते हुये अपने कुल खर्च में कमी करके यद्यपि एक व्यक्ति अपनी कुल व्यक्तिगत बचत में वृद्धि कर सकता है परन्तु इससे अर्थव्यवस्था मे कुल बचत में वृद्धि नहीं होती है क्योंकि जितना यह एक व्यक्ति अधिक बचाता है समुदाय में अन्य व्यक्ति उसी मात्रा में कम बचा पाते हैं।

प्राचीन तथा कीन्स प्रेरित विचारधाराओं में दूसरा अन्तर बचत तथा ब्याज दर के मध्य परस्पर सम्बन्ध की विवेचना से सम्बन्धित है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार बचत ब्याज-सापेक्ष (interest elastic) थी। इसका अर्थ यह है कि बचत की मात्रा ब्याज की दर द्वारा इस प्रकार निर्धारित होती है कि ब्याज की दर में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप बचत में भी वृद्धि होती है। बचत तथा ब्याज की दर में धनात्मक सम्बन्ध है। जब ब्याज की दर ऊँची होती है तब व्यक्ति अपनी आय के अधिक भाग को बचाते हैं तथा ब्याज की दर नीची होने पर वे अपनी आय में से कम बचत करते हैं। इस प्रकार प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार बचत ब्याज की दर का परिणाम है।

$$S=f(r) \text{ तथा } \frac{dS}{dr}>0$$

उपरोक्त समीकरण में S बचत को, r ब्याज की दर को तथा d अनन्तसूक्ष्म परिवर्तन को सूचित करता है।

कीन्स का कहना था कि यद्यपि ब्याज की दर तथा बचत में कुछ सम्बन्ध अवश्य है तथा संभवतः दी हुई आय में से ऊँची ब्याज की दर पर अधिक बचाने का प्रयास किया जाता है परन्तु बचत मुख्य रूप से आय द्वारा निर्धारित होती है कीन्स ने आय को बचत का महत्वपूर्ण निर्धारक बताकर वर्तमान आय-रोजगार सिद्धान्त के प्रतिपादन तथा विकास में भारी योगदान दिया है। ऊँची ब्याज की दर पर स्थिर आय में से किसी व्यक्ति द्वारा अधिक बचाने के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में कुल बचत में कोई वृद्धि नहीं होगी क्योंकि उस व्यक्ति के ऐसा करने से अन्य लोगों की आयों में कमी हो जाती है तथा अन्य व्यक्तियों की बचत शक्ति में कमी हो जाती है। कीन्स ने यह व्यक्त किया कि बचत तथा ब्याज की दर के मध्य इतना अधिक निकट तथा विश्वसनीय सम्बन्ध नहीं है जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री समझते थे। यदि राष्ट्र में लोगों की आय इतनी अधिक कम है कि यह उनके न्यूनतम उपभोग व्यय के लिये अपर्याप्त है तो ब्याज की दर ऊँची होने पर भी लोग बचत करने में असमर्थ रहेंगे। बचत करने की संभावना उस समय हो सकती है जब लोगों की आय उनके कुल उपभोग व्यय से अधिक होती है। कीन्स के विचारानुसार बचत मुख्यतः आय का परिणाम है यद्यपि इस पर कुछ अंश में ब्याज की दर का भी प्रभाव पड़ता है।

बचत तथा निवेश में समानता

बचत के सम्बन्ध में मूल सत्य यह है कि यह आय के स्तर द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु आय (उपभोग व्यय स्थिर रहते हुए) स्वयं निवेश की मात्रा पर आश्रित होती है। निवेश आय तथा खर्च के माध्यम द्वारा बचत को निर्धारित करता है। इस प्रकार बचत आय के माध्यम द्वारा निवेश द्वारा निर्धारित होती है। बचत को निवेश के समान होना चाहिए। बचत तथा निवेश के मध्य इस प्रकार का सम्बन्ध है कि ये दोनों एक दूसरे के समान होते हैं।

यदि किसी समय इनके मध्य असमानता उत्पन्न हो जाती है तो कुछ समय पश्चात् समानता पुनः स्थापित हो जाती है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार यह समानता ब्याज की दर मे परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती थी। परन्तु कीन्स के विचारानुसार बचत तथा निवेश मे समानता आय मे परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती है। बचत की मात्रा आय द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु आय स्वयं, उपभोग व्यय स्थिर रहते हुए, निवेश द्वारा निर्धारित होती है। यदि किसी समय बचत तथा निवेश मे असमानता उत्पन्न हो जाती है तो आय मे परिवर्तनों द्वारा यह समानता पुनः स्थापित हो जाती है। उदाहरणार्थ, कुल आय स्थिर रहते हुए यदि बचत की मात्रा निवेश की तुलना मे अधिक हो जाती है तो उपभोग व्यय मे कमी हो जाती है। उपभोग व्यय मे कमी होने का प्रभाव कुल समर्थ माँग पर कमी के रूप मे पड़ता है जिसके कारण उत्पादन तथा निवेश मे कमी हो जाती है। निवेश मे कमी होने के कारण आय मे कमी हो जाती है। आय मे कमी होने पर कुल बचत की मात्रा मे भी कमी हो जाती है क्योंकि औसत उपभोग प्रवृत्ति स्थिर रहते हुए कम आय के द्वारा कम ही बचत प्राप्त हो सकती है। निवेश मे कमी होने के कारण आय मे कमी होने का यह क्रम उस समय तक जारी रहता है जब तक बचत और निवेश पुनः समान नहीं हो जाते है। आय, बचत तथा निवेश के मध्य सम्बन्ध को निम्नलिखित समीकरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

Y (आय) = C (उपभोग) + I (निवेश)
S (बचत) = Y (आय) — C (उपभोग)
∴ C (उपभोग) + I (निवेश) = Y = C (उपभोग) + S (बचत)
∴ निवेश (I) = बचत (S)

उपरोक्त विवेचना से सिद्ध होता है कि बचत तथा निवेश मे परस्पर समानता होती है। यहाँ प्रत्याशित (*ex ante*) निवेश तथा बचत तथा वास्तविक (*ex-post*) निवेश तथा बचत के मध्य अन्तर को समझना आवश्यक है। प्रत्याशित तथा वास्तविक बचत तथा प्रत्याशित तथा वास्तविक निवेश के मध्य अन्तर को व्यक्त करने का श्रेय रोबर्टसन तथा स्टॉकहॉम सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों को प्राप्त है। प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित निवेश का सम्बन्ध बचत तथा निवेश की उस मात्रा से है जो किसी दी हुई समय अवधि के आरम्भ मे होती है। वास्तविक बचत तथा वास्तविक निवेश बचत तथा निवेश की उस मात्रा को सूचित करते है जो किसी दी हुई समय अवधि के अन्त मे होती है। बचत तथा निवेश का प्रत्याशित तथा वास्तविक रूप में अध्ययन करने का प्रमुख लाभ यह है कि इससे उस प्रक्रिया के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था में बचत तथा निवेश के मध्य सन्तुलन स्थापित होता है। यद्यपि प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित निवेश का परस्पर समान होना आवश्यक नहीं है परन्तु वास्तविक बचत तथा वास्तविक निवेश सदा परस्पर समान होते हैं। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि किसी दी हुई समय अवधि के आरम्भ मे बचत तथा निवेश असन्तुलन में हो सकते है परन्तु समय अवधि की समाप्ति पर इन दोनों मे समानता होगी।

वर्तमान निवेश वर्तमान बचत की तुलना मे अधिक हो सकता है। ऐसा उस समय होता है जब वास्तविक निवेश के कुल वास्तविक बचत से अधिक होने के कारण इसका वित्तिकरण बैंको से प्राप्त साख मुद्रा द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार जब बचतकर्त्ता धन का निसंचय करने लग जाते हैं तब वर्तमान बचत वर्तमान निवेश की तुलना मे अधिक हो सकती है। अर्थव्यवस्था अधिकांश समय असन्तुलन की अवस्था मे रहती है क्योंकि प्रत्याशित निवेश तथा प्रत्याशित बचत के मध्य अधिकांश समय असमानता होती है।

अर्थव्यवस्था में सन्तुलन आय उस समय स्थापित होती है जब बचतकर्त्ता तथा निवेश कर्त्ता सन्तुलन मे होते हैं। बचतकर्त्ता उस समय सन्तुलन में होते हैं जब कुल वास्तविक बचत कुल ऐच्छिक बचत के समान होती है। इसके अतिरिक्त निवेशकर्त्ताओं की दृष्टि से सन्तुलन उस समय प्राप्त होता है जब वास्तविक निवेश तथा ऐच्छिक निवेश समान होते हैं। सन्तुलन की दोनों बातें उस समय पूरी होती हैं जब अर्थव्यवस्था में :

ऐच्छिक बचत=वास्तविक बचत

ऐच्छिक निवेश=वास्तविक निवेश

वास्तविक बचत उत्पादन का वह भाग है जिसका उपभोग नहीं किया जाता है, अर्थात् $S = Y - C$। वास्तविक निवेश भी उत्पादन तथा उपभोग के अन्तर के समान होता है, अर्थात् $I = Y - C$। इस कारण वास्तविक बचत तथा वास्तविक निवेश में समानता होती है। स्थाई सन्तुलन मे वास्तविक बचत; ऐच्छिक बचत; वास्तविक निवेश तथा ऐच्छिक निवेश के मध्य समानता होती है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित निवेश में असमानता होते हुये भी वास्तविक बचत तथा वास्तविक निवेश के मध्य समानता किस प्रकार स्थापित होती है। वास्तविक बचत तथा वास्तविक निवेश आय में परिवर्तनों के द्वारा एक दूसरे के समान होते हैं। बचत तथा निवेश के मध्य समायोजन की इस प्रक्रिया को समय अवधि विश्लेषण कहते हैं। प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित निवेश के मध्य असन्तुलन से आरम्भ करके वास्तविक बचत तथा वास्तविक निवेश के मध्य स्थापित सन्तुलन स्थिति की सम्पूर्ण प्रक्रिया को निम्नलिखित सारणी द्वारा समझाया जा सकता है।

(राशि करोड़ों रुपयों में)

	समय-अवधि								
	१	२	३	४	५	६	....	....	
उपभोग	१२०	१२३	१२७	१३१	१३४	१३६	....	....	१४०
प्रत्याशित निवेश	६०	७०	७०	७०	७०	७०	....	....	.... ७०
कुल राष्ट्रीय आय	१८०	१९०	१९७	२०१	२०४	२०६	...	....	२१०
प्रत्याशित बचत	६०	६३	६६	६७	६८·५		....	....	७०

उपरोक्त सारणी से ज्ञात होता है कि समय-अवधि १ में बचत तथा निवेश में समानता है क्योंकि इस समय-अवधि में प्रत्याशित निवेश तथा प्रत्याशित बचत ६० करोड़ रुपये है। समय-अवधि २ में प्रत्याशित निवेश ६० करोड़ रुपये से बढ़कर ७० करोड़ रुपये हो जाता है यद्यपि प्रत्याशित बचत की राशि ६० करोड़ रुपये रहती है। निवेश में १० करोड़ रुपये राशि की वृद्धि होने से कुल राष्ट्रीय आय १८० करोड़ रुपये से बढ़कर १९० करोड़ रुपये हो जाती है। परिणाम-स्वरूप प्रत्याशित बचत समय-अवधि २ की समाप्ति पर ६० करोड़ रुपये से बढ़कर ६३ करोड़ रुपये हो जाती है। प्रत्याशित बचत में वृद्धि का यह क्रम समय-अवधि t तक क्रियात्मक रहता है। समय अवधि t के अन्त मे प्रत्याशित बचत बढ़कर प्रत्याशित निवेश के समान हो जाती है।

कीन्स द्वारा वर्णित बचत तथा निवेश की व्याख्या की प्रमुख विशेषता यह है कि प्रथम, कीन्स यह सफलतापूर्वक व्यक्त करते हैं कि मुक्त अर्थव्यवस्था में बचत तथा निवेश पूर्ण रोजगार से कम स्तर पर सन्तुलन में होते हैं। दूसरे, कीन्स के मतानुसार बचत तथा निवेश के मध्य परस्पर समानता आय में परिवर्तनों के द्वारा स्थापित होती है। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार यह समानता ब्याज की दर में परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती थी। तीसरे, कीन्स ने यह सिद्ध किया है कि व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय बचतों में अनुरूपता का अभाव होता है। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्री व्यक्तिगत बचत को अच्छा विचारते थे। उनका यह विचार इस मान्यता पर आधारित था कि समाज व्यक्तियों का समूह मात्र था तथा राष्ट्रीय बचत व्यक्तिगत बचतों का योग मात्र थी। कीन्स ने इस विचार को गलत बताते हुए यह व्यक्त किया है कि यद्यपि कम खर्च करके एक व्यक्ति अपनी स्थिर आयों में से अधिक बचत कर सकता है परन्तु इससे कुल राष्ट्रीय बचत में वृद्धि नहीं हो पाती है क्योंकि इस व्यक्ति के अपने खर्च में कमी करने के कारण समाज में अन्य व्यक्तियों की आयों में कमी हो जाती है तथा वे कम बचा पाते है। कीन्स ने बरनार्ड डी मेण्डेविलि[2] नामक वणिकवादी लेखक द्वारा १७०५ ई० में लिखित *Fable of the Bels or Private Vices Publick Benefits* शीर्षक नामक कविता का अध्ययन किया था। इसके अध्ययन द्वारा वे यह समझ सके थे कि व्यक्तिगत बचत तथा सादा जीवन सामाजिक हितों के अनुकूल नहीं होता है। कीन्स की बचत की व्याख्या व्यष्टिभाव बचत (micro-saving) तथा समष्टिभाव बचत (macro-saving) के अन्तर को समझने मे सहायक सिद्ध होती है। यह हमें इस सत्य का ज्ञान प्रदान करती है कि यदि समुदाय स्थिर आय में से अधिक बचत करने का प्रयास करेगा तो इसे अपने इस प्रयास में सफलता प्राप्त नही होगी। यदि बचत मे वृद्धि होने के साथ निवेश में भी समान मात्रा में वृद्धि नहीं होगी तो समुदाय में आर्थिक दरिद्रता फैल जावेगी। परन्तु इन गुणों के होते हुये भी कीन्स की बचत सम्बन्धी व्याख्या गत्यात्मक नहीं है।

अध्ययन सूची

1. J. M. Keynes : General Theory of Employment Interest and Money, Chapter 6, pp. 61—65.
2. A. H. Hansen : A Guide to Keynes, Chapter 2, pp. 58-64.

2. बरनार्ड डी मेण्डेविलि का जन्म हालैण्ड में हुआ था। वे एक चिकित्सक थे तथा हालैण्ड छोड़कर इंगलैण्ड में आ बसे थे। उनकी दर्शन के अध्ययन में काफी अधिक रुचि थी। मेण्डेविलि १७०५ ई० में प्रकाशित एक प्रसिद्ध पुस्तिका के लेखक थे। यह पुस्तिका जिसका शीर्षक प्रथम संस्करण में *The Grumbling Hive or Knaves Turned Honest* था तथा जो १७१४ ई० में प्रकाशित दूसरे संस्करण में बदल कर A *Fable of the Bees, or Private Vices, Publick Benefits* कर दिया गया था, उस समय नैतिक दृष्टि से सादा पवित्र जीवन व्यतीत करने सम्बन्धित विचारधारा पर एक आक्षेपात्मक कविता थी। मेण्डेविलि की यह कविता लार्ड शेफ्टस्बरी तथा उनके विचारों पर कड़ा आक्रमण था। अपनी कविता में मेण्डेविलि ने यह व्यक्त किया था कि व्यक्ति की जो क्रिया अथवा आदत नैतिक आधार पर बुरी है वही आदत आर्थिक दृष्टि से समाज की आर्थिक प्रगति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि पुस्तिका के शीर्षक से स्पष्ट है लेखक ने इस कविता में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यक्तिगत बुरी आदतें तथा क्रियायें (मदिरा, तम्बाकू, पान इत्यादि का उपभोग) समाज के लिये हितकर सिद्ध होती हैं क्योंकि जब व्यक्ति अपनी इन बुरी आदतों की तुष्टि करता है तो वह अपनी आय का व्यय करता है जिससे समाज के अन्य वर्गों को आय प्राप्त होती है। यदि मनुष्य की बुरी आदतों की तुष्टि न हुई होती तो वर्तमान सभ्यता का विकास सम्भव न हुआ होता।

3. Dudley Dillard : The Economics of John Maynand Keynes, Chapter 4.

प्रश्न

1. While saving is a virtue for the individual, it might prove a vice for the community. Comment.
2. What do you understand by *ex-post* and *ex-ante* saving and *ex-post* and *ex-ante* investment ? In what sense saving is always equal to investment ?

१९

निवेश

(Investment)

निवेश का अध्ययन व्यक्तिगत तथा सामाजिक दृष्टि से किया जा सकता है। व्यक्तिगत दृष्टि से निवेश उस समय होता है जब कोई व्यक्ति अपनी बचत के द्वारा किसी पुरानी कम्पनी के अंश अथवा सरकारी बांडों को खरीदता है अथवा नये मकान तथा नई फैक्टरी का निर्माण करता है। व्यक्तिगत निवेश वित्तीय (financial) तथा वास्तविक (real) हो सकता है। इन दोनों प्रकार के निवेशों के मध्य अन्तर को एक उदाहरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति पंजाब नेशनल बैंक के पुराने शेयर खरीदता है तो उस व्यक्ति की दृष्टि से जितनी राशि के शेयर उसने खरीदे हैं उतनी राशि का निवेश हुआ है। यद्यपि उस व्यक्ति ने बैंक के शेयर खरीद कर अपने रुपये का निवेश किया है परन्तु अर्थव्यवस्था में वास्तविक निवेश में वृद्धि नहीं हुई है क्योंकि जिस समय एक व्यक्ति शेयर खरीदता है तो दूसरा व्यक्ति उनको बेचता है। इस कारण समाज अथवा देश में कुल निवेश की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं हो पाती है। इस प्रकार के निवेश को वित्तीय निवेश कहते हैं।

अर्थव्यवस्था की दृष्टि से इस प्रकार के निवेश का कोई महत्व नहीं है क्योंकि इससे राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता में कोई वृद्धि नहीं होती है। परन्तु यदि वह व्यक्ति बैंक के पुराने शेयर खरीदने के स्थान पर किसी नई फैक्टरी का निर्माण करता है तो उसकी यह क्रिया वास्तविक निवेश की क्रिया कहलावेगी क्योंकि अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो जाती है। अर्थव्यवस्था की दृष्टि से इस प्रकार का वास्तविक निवेश महत्वपूर्ण होता है। कीन्स अपनी पुस्तक '*General Theory*' में इस प्रकार के वास्तविक निवेश को महत्वपूर्ण समझते हैं। अर्थव्यवस्था की दृष्टि से वास्तविक निवेश उस समय होता है जब किसी नई फैक्टरी, नये स्कूल, पुल, अस्पताल तथा सड़क का निर्माण होने के कारण वास्तविक पूँजी (real capital) की मात्रा में वृद्धि हो जाने से कुल राष्ट्रीय उत्पादन-क्षमता में वृद्धि हो जाती है। कीन्स ने निवेश शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। उनके विचार में अर्थव्यवस्था का आर्थिक विकास उस समय सम्भव होता है जब अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण वास्तविक निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है।

नियोजित तथा अनियोजित वास्तविक निवेश

वास्तविक निवेश, जिसका अभिप्राय अर्थव्यवस्था में पूँजी पदार्थों का निर्माण करके राष्ट्र की कुल उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने से है, नियोजित तथा अनियोजित प्रकार का होता है। अर्थव्यवस्था में अधिकांश निवेश नियोजित प्रकार का होता है जिसको निवेशकर्ता सोच-समझ कर करते हैं। व्यक्तिगत क्षेत्र में निवेश लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। जब निवेशकर्ता भविष्य में वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि तथा अधिक बिक्री होने का अनुमान लगाते हैं तब वे पुरानी मिलों की उत्पादन क्षमता का विस्तार तथा नई मिलों की स्थापना करते हैं। इस प्रकार के निवेश को नियोजित निवेश कहा जाता है। फर्म की दृष्टि से अनियोजित निवेश उस समय होता है जब बाजार में बिक्री का अभाव होने के कारण बिना बिकी वस्तुओं का संचयन हो जाता है। यद्यपि कुछ अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार नियोजित तथा अनियोजित निवेश का अन्तर महत्वपूर्ण है परन्तु कीन्स ने इस अन्तर को विशेष महत्व नहीं दिया है।

कुल (gross) तथा शुद्ध (net) निवेश

किसी दी हुई समय अवधि में अर्थव्यवस्था में जो कुल वास्तविक निवेश किया जाता है वह कुल निवेश कहलाता है। परन्तु यह सम्पूर्ण निवेश अर्थव्यवस्था में उत्पादन-क्षमता में वृद्धि का सूचक नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि एक वर्ष में अर्थव्यवस्था में २०० करोड़ रुपये के मूल्य का कुल वास्तविक निवेश होता है तो इससे हमें यह नहीं समझना चाहिये कि अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता में २०० करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई है। कुल निवेश का कुछ भाग प्रतिस्थापन माँग का रूप धारण करता है, अर्थात् कुल निवेश का कुछ भाग उत्पादन सज्जा तथा यन्त्रों की टूट-फूट तथा घिसावट के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में उत्पादन-क्षमता को स्थिर बनाये रखने—इन यन्त्रों तथा सज्जा का प्रतिस्थापन करने—के लिये आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि १९७२ ई० में अर्थव्यवस्था में कुल १०,००० मोटर गाड़ियों तथा १,००० रेल इंजनों का उत्पादन होना है तो यद्यपि यह उत्पादन कुल निवेश होगा परन्तु यह शुद्ध निवेश नहीं होगा क्योंकि अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में १९७२ ई० में विनिर्मित कुल मोटरगाड़ियों तथा इंजनों की मात्रा के बराबर वृद्धि नहीं होती है। यदि १९७१ ई० में ८०० रेल इंजन तथा ८,००० मोटर गाड़ियाँ घिसावट तथा टूट-फूट के परिणामस्वरूप व्यर्थ हो जाती हैं तो यद्यपि १९७२ ई० में कुल निवेश १०,००० मोटर-गाड़ियाँ तथा १,००० रेल इंजन होंगे परन्तु शुद्ध निवेश केवल २,००० मोटर गाड़ियाँ तथा २०० रेल इंजन होंगे।

शुद्ध निवेश कुल निवेश का वह भाग है जो अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन-क्षमता में हुई शुद्ध वृद्धि का द्योतक होता है। केवल उसी अर्थव्यवस्था में जहाँ उत्पादन सज्जा तथा यन्त्रों की घिसावट व टूट-फूट की समस्या नहीं होती है कुल निवेश तथा शुद्ध निवेश में परस्पर समानता होगी क्योंकि ऐसी अर्थव्यवस्था में पूँजी उपकरणों की टूट-फूट तथा घिसावट न होने के कारण पुराने पूँजी यन्त्रों के प्रतिस्थापन की समस्या नहीं होती है। परन्तु वास्तविक आर्थिक जगत में उत्पादन सज्जा तथा यन्त्रो की घिसावट तथा तथा टूट-फूट होते रहने के कारण शुद्ध निवेश कुल निवेश की तुलना में कम होता है।

कुल निवेश तथा शुद्ध निवेश का अन्तर स्थिरात्मक अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में काफी महत्वपूर्ण है। स्थिर अर्थव्यवस्था में, जहाँ कुल उत्पादन स्थिर रहता है, कुल पूँजीगत पदार्थ तथा सज्जा, जो इस स्थिर उत्पादन का उत्पादन करने के लिये आवश्यक है, का कुल स्टॉक भी स्थिर रहेगा। ऐसी अर्थव्यवस्था में शुद्ध निवेश की समस्या नहीं होती है क्योंकि अर्थव्यवस्था में कुल

उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु स्थिर अर्थव्यवस्था में विद्यमान कुल पूँजी स्टॉक को स्थिर बनाये रखने की समस्या उपस्थित रहती है क्योंकि यन्त्रों तथा सज्जा की टूट-फूट तथा घिसावट के कारण पूँजीगत पदार्थों की मात्रा कम हो जाती है। इस कमी को पूरा करने के लिये अर्थव्यवस्था में प्रति वर्ष कुल निवेश आवश्यक होता है यद्यपि शुद्ध निवेश शून्य होता है।

स्वायत्त (autonomous) **तथा प्रेरित** (induced) **निवेश**

वास्तविक निवेश स्वायत्त निवेश तथा प्रेरित निवेश दो प्रकार का होता है। वह निवेश जो आय द्वारा निर्धारित होता है प्रेरित निवेश कहलाता है। व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्यमकर्ता पूँजी वस्तुओं का क्रय अथवा उत्पादन उस समय करते हैं जब वे भविष्य में उपभोग वस्तुओं की अधिक बिक्री अथवा माँग होने की आशा करते हैं। परन्तु उपभोग वस्तुओं की माँग कम होगी अथवा अधिक यह समाज में उपभोक्ताओं की उपभोग्य-आय, जो स्वयं आय के स्तर तथा व्यक्तिगत करों की मात्रा द्वारा निर्धारित होती हैं, तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर होती है। औसत उपभोग प्रवृत्ति स्थिर रहते हुये आय में वृद्धि होने पर कुल समर्थ माँग में भी स्थिर दर पर वृद्धि होती है।

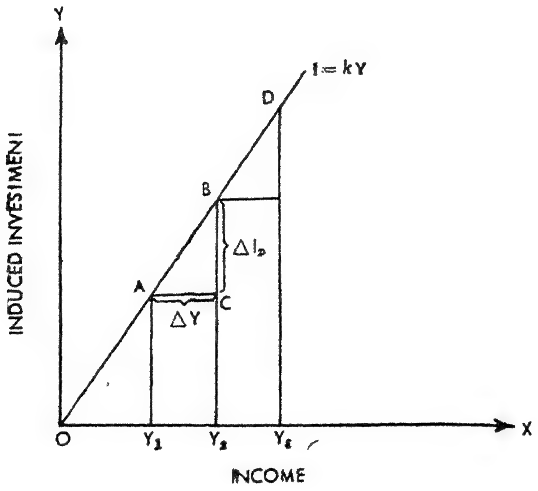

चित्र १९·१

इसके विपरीत आय में कमी होने पर कुल समर्थ माँग में भी कमी हो जाती है। संक्षेप में अर्थव्यवस्था में प्रेरित निवेश की मात्रा आय तथा इनमें होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होती है। आय में वृद्धि अथवा कमी होने के साथ साथ अर्थव्यवस्था में प्रेरित निवेश में भी वृद्धि अथवा कमी होती है। प्रेरित निवेश आय-सापेक्ष (income elastic) होता है। अल्पकाल में पूँजी-उत्पादन अनुपात स्थिर होने के कारण आय तथा प्रेरित निवेश के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध होता है। अल्पकाल में इस मान्यता का व्यावहारिक महत्त्व यह है कि प्रेरित निवेश आय में परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होता है क्योंकि कुल समर्थ माँग में वृद्धि आय में वृद्धि का परिणाम होती है। यदि प्रेरित निवेश आय तथा इसमें होने वाले परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होता है तो यह स्पष्ट है कि प्रेरित निवेश की आय-सापेक्षता धनात्मक होगी। प्रेरित निवेश की आय-सापेक्षता शून्य तथा अनन्त के

मध्य होगी, तथा यह सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा पूँजी-उत्पादन अनुपात द्वारा निर्धारित होगी। इसका यह अर्थ है कि प्रेरित निवेश वक्र आय में परिवर्तनों के सम्बन्ध में न तो पूर्णतया आय सापेक्ष होगा तथा न यह पूर्णतया आयनिर्पेक्ष होगा। उपभोग्य-आय में हुये परिवर्तन द्वारा प्रेरित निवेश में उत्पन्न परिवर्तन धनात्मक होगा, अर्थात् $\frac{dI_P}{dY}$ (dI_P तथा dY प्रेरित निवेश तथा उपभोग्य आय में हुये परिवर्तनों को सूचित करते हैं) का अंकीय मूल्य शून्य से अधिक होगा। प्रेरित निवेश वक्र चित्र १९·१ के अनुसार धनात्मक ढालू होगा।

चित्र १९·१ में I_P I_P वक्र प्रेरित निवेश की उन भिन्न राशियों को सूचित करता है जिनका निवेश अर्थव्यवस्था में भिन्न उपभोग्य-आयों पर होता है। शून्य आय के समक्ष प्रेरित निवेश की मात्रा शून्य है। इस के पश्चात् उपभोग्य-आय में वृद्धि होने के हेतु प्रेरित निवेश में भी वृद्धि होती है। जब उपभोग्य-आय में शून्य से बढ़कर OY_1 हो जाती है तब उपभोग्य-आय में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप प्रेरित निवेश शून्य से बढ़कर A_1Y_1 हो जाता है। जब आय में और अधिक वृद्धि होती है तथा यह OY_1 से बढ़ कर OY_2 हो जाती है तो प्रेरित निवेश में भी वृद्धि होती है तथा इसको मात्रा A_1 Y_1 से बढ़कर Y_2B हो जाती है। यदि I_P I_P प्रेरित निवेश वक्र अधिक ढालू है तथा इसमें Y-अक्ष के समानान्तर होने की प्रवृत्ति है तो निवेश उपभोग्य-आय में परिवर्तनों द्वारा अधिक प्रेरित होता है अर्थात् प्रेरित निवेश की आय-सापेक्षता अधिक है। इसके विपरीत यदि I_P I_P वक्र का ढाल कम है तथा इसमें X-अक्ष के समानान्तर होने की अधिक प्रवृत्ति है तो प्रेरित निवेश में आय में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप कम परिवर्तन होंगे अर्थात् प्रेरित निवेश की आय-सापेक्षता बहुत कम होगी।

प्रेरित निवेश का विचार ब्याज की दर के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। निवेश, अन्य बातें स्थिर रहते हुये, ब्याज की दर का ऋणात्मक फलन होता है। दूसरे शब्दों में, ब्याज की

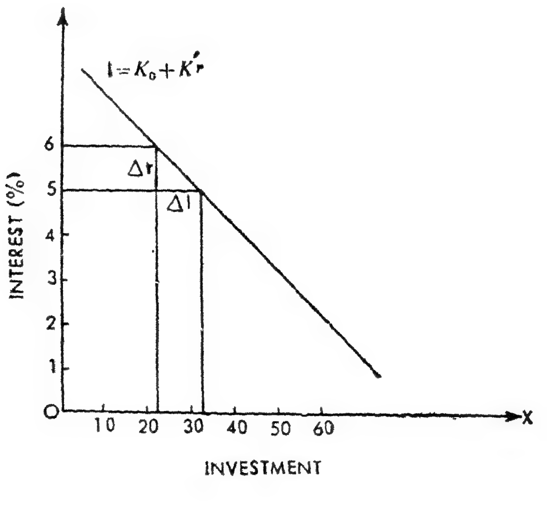

चित्र १९·२

दर में कमी होने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में निवेश की मात्रा में वृद्धि तथा ब्याज की दर में वृद्धि होने से निवेश की मात्रा में कमी होती है। निवेश तथा ब्याज की दर के मध्य इस सम्बन्ध को चित्र १९·२ के द्वारा प्रदर्शित किया गया है । निवेश वक्र को निम्नलिखित समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$I = K_o + K'r \text{ तथा } K' < 0$$

चित्र १९·२ से स्पष्ट है कि जब ब्याज की दर ६ प्रतिशत से गिरकर ५ प्रतिशत हो जाती है तब कुल निवेश राशि २४ करोड़ रुपये से बढ़कर ३४ करोड़ रुपये हो जाती है।

स्वायत्त निवेश आय में परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता है। स्वायत्त निवेश पूर्णतया आयनिरपेक्ष होता है। स्वायत्त निवेश में उत्पादन में होने वाली नवीन प्रक्रियाओं, जनसंख्या का आकार, आविष्कार सरकारी नीति तथा युद्ध इत्यादि कारणों से परिवर्तन होते हैं। वह पूँजी व्यय जो प्रत्यक्ष रूप में समर्थ माँग में होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता है स्वायत्त निवेश कहलाता है। आय में परिवर्तनों द्वारा प्रभावित न होने के कारण आय में परिवर्तन होते हुये भी स्वायत्त निवेश स्थिर रह सकता है तथा आय स्थिर रहते हुये भी स्वायत्त निवेश में परिवर्तन हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में स्वायत्त निवेश पूर्णतया आय-निरपेक्ष होता है। सड़क निर्माण, जो राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र का विकास करने के हेतु किया जाता है, लोगों के स्वास्थ्य में सुधार करने हेतु अस्पताल निर्माण, आविष्कारों के फलस्वरूप किया जाने वाला निवेश तथा अनुसन्धान व विकास पर किया जाने वाला दीर्घावधि निवेश स्वायत्त निवेश के उदाहरण हैं। स्वायत्त निवेश को निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$I_A = \bar{I}_1$$

यहाँ $\bar{I}_1$ उस स्थिर निवेश राशि का सूचक है जो सरकारी नीति, तकनीकी परिवर्तन आविष्कार तथा अन्य कारणों द्वारा निर्धारित होता है। यह निवेश आय तथा ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता है। चित्र १९·३ में $I_A = \bar{I}_1$ तथा $I_A = \bar{I}_2$ वक्र स्वायत्त निवेश को सूचित करते हैं। चित्र १९·३ में Y-अक्ष पर स्वायत्त निवेश तथा X-अक्ष पर उपभोग्य-आय को व्यक्त किया गया है।

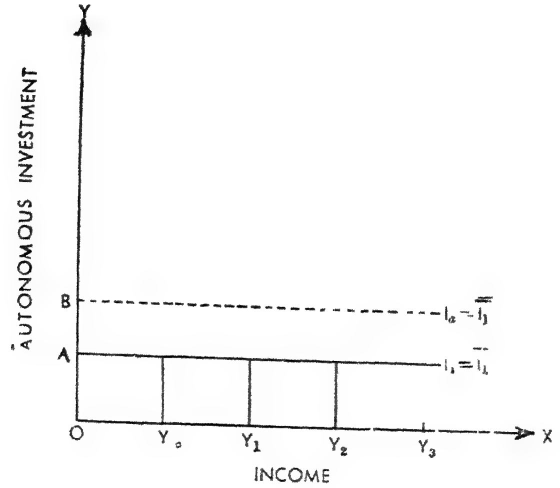

चित्र १९·३

चित्र १९.३ में उपभोग्य आय को X-अक्ष तथा स्वायत्त निवेश को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। स्वायत्त निवेश में आय में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप परिवर्तन न होने के कारण इसे X-अक्ष के समानान्तर खींचे गये $I_A=\bar{I}_1$ तथा $I_A=\bar{I}_2$ वक्रों द्वारा व्यक्त किया गया है। इन वक्रों से ज्ञात होता है कि उपभोग्य आय कुछ भी क्यों न हो—चाहे यह OY_0 हो, अथवा OY_1 अथवा OY_2 अथवा OY_3 हो—स्वायत्त निवेश $\bar{I}_1$ (=OA) अथवा $\bar{I}_2$ (=OB) स्तर पर स्थिर रहता है।

जबकि प्रेरित निवेश आय के स्तर, आय में परिवर्तन की दर, औसत उपभोग प्रवृत्ति, पूँजी, विशेषरूप से अचल पूँजी स्टाक, वेतन इत्यादि आन्तरिक (endogenous) कारणों द्वारा प्रभावित होता है, स्वायत्त निवेश प्रमुखतः आविष्कारों; नवीन प्रक्रियाओं, जनसंख्या की वृद्धि; युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थिति; श्रम आन्दोलन; क्रान्ति; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार; सामाजिक-वैधानिक संस्था, ऋतु आदि बाह्य कारणों से प्रभावित होता है। स्वायत्त निवेश का विचार युद्ध अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था में, जहाँ निवेश की मात्रा लाभ की दर द्वारा निर्धारित न होकर अन्य कारणों द्वारा निर्धारित होती है, लागू होता है।

अर्थव्यवस्था में कुल निवेश स्वायत्त निवेश तथा प्रेरित निवेश का योग होने के कारण अर्थव्यवस्था में कुल निवेश की मात्रा उपरोक्त वर्णित आन्तरिक तथा बाह्य कारणों द्वारा निर्धारित होती है। अर्थव्यवस्था में कुल वास्तविक निवेश का कुछ भाग व्यक्तिगत क्षेत्र में व्यक्तिगत निवेश तथा शेष सार्वजनिक क्षेत्र में सरकारी निवेश के रूप में होता है। व्यक्तिगत क्षेत्र में जो निवेश होता है उसका कुछ भाग निजी तथा अन्य कुछ भाग संस्थानिक निवेश हो सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र में सरकारी निवेश सामान्य रूप से रेल, डाक व तार, सड़क तथा अस्पताल निर्माण, विद्युतशक्ति का उत्पादन इत्यादि सार्वजनिक सेवाओं में किया जाता है। अर्थव्यवस्था में कुल निवेश की गणना करने के लिये राष्ट्र के नागरिकों तथा सरकार द्वारा विदेशों में किये गये निवेश की भी गणना करना आवश्यक है। इसी प्रकार विदेशियों द्वारा देश में किये गये निवेश को कुल निवेश में से घटा देना चाहिये। किसी दिये हुये समय में अर्थव्यवस्था की दृष्टि से कुल वास्तविक निवेश में निम्नलिखित सम्मिलित होते हैं।

(१) स्थिर यंत्र, मशीन तथा अन्य अचल पूँजी।

(२) कच्ची सामग्री का स्टॉक तथा अन्य चल पूँजी।

(३) आवासिक भवन।

(४) सार्वजनिक निर्माण कार्य।

(५) शुद्ध विदेशी निवेश।

कुल निवेश को चित्र द्वारा व्यक्त करने के लिये प्रेरित तथा स्वायत्त निवेशों को व्यक्त करने वाले चित्र १९.१ तथा चित्र १९.३ को एक साथ मिलाकर एक चित्र बनाया जा सकता है। यह चित्र १९.४ में किया गया है जो चित्र १९.१ तथा १९.३ को मिलाकर बनाया गया है। चित्र में X-अक्ष पर उपभोग्य आय तथा Y-अक्ष पर स्वायत्त व प्रेरित निवेश को व्यक्त किया गया है। $I_PI_P=f(Y)$ वक्र प्रेरित निवेश को तथा $I_A=\bar{I}_1$ वक्र स्वायत्त निवेश को व्यक्त करता है। I_A+I_P वक्र कुल निवेश माँग को व्यक्त करता है। यह वक्र तथा प्रेरित निवेश वक्र I_PI_P तथा स्वायत्त निवेश वक्र $I_A=\bar{I}_1$ को मिला कर प्राप्त किया गया है। कुल निवेश वक्र I_A+I_P यह

व्यक्त करता है कि कुल निवेश कुल उपभोग्य आय से इस प्रकार धनात्मक रूप में सम्बन्धित होता है कि कुल उपभोग्य आय में वृद्धि (कमी) होने के हेतु कुल निवेश में भी वृद्धि (कमी) होती है।

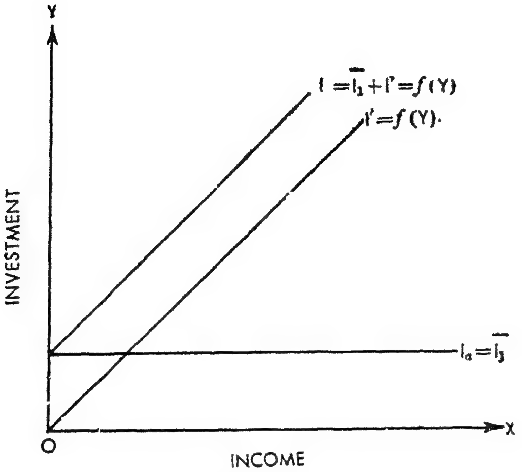

चित्र १९·४

इसका अर्थ यह है कि उपभोग्य आय में परिवर्तन तथा कुल निवेश में परिवर्तन का अनुपात धनात्मक होता है अर्थात् $\frac{dI}{dY} > 0;$

निवेश को निर्धारित करने वाले कारण

अर्थव्यवस्था में कुल निवेश को निर्धारित करने वाली दो प्रधान शक्तियाँ पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर हैं। कीन्स प्रेरित अर्थशास्त्र में निवेश इन्हीं दोनों शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु इन दोनों शक्तियों का निवेश की मात्रा पर समान प्रभाव नहीं पड़ता है। यद्यपि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के साथ ब्याज की दर भी अर्थव्यवस्था में होने वाले कुल निवेश को निर्धारित करती है परन्तु अर्थव्यवस्था में कुल निवेश को निर्धारित करने में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की तुलना में ब्याज की दर का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। ब्याज की दर कुल निवेश को निवेश लागत में वृद्धि अथवा कमी करके प्रभावित करती है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता स्थिर रहते हुये, ब्याज की दर में कमी होने के कारण बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण प्राप्त करना सस्ता हो जाता है तथा उद्यमकर्ताओं को नवीन निवेश क्रियाओं—नये मिलों तथा उद्योगों को स्थापित करने का उत्साह प्राप्त होता है। इसके विपरीत ब्याज की दर में वृद्धि होने से अर्थव्यवस्था में नई क्रियाएँ हतोत्साहित होती हैं क्योंकि बैंकों से ऋण प्राप्त करने की कीमत—ब्याज—में वृद्धि हो जाती है तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाने से लाभ की मात्रा में कमी हो जाती है। लाभ में कमी होने से उद्यम-कर्त्ताओं को निवेश करने की प्रेरणा कम हो जाती है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार निवेश ब्याजसापेक्ष था। निवेश तथा ब्याज की दर के मध्य इस प्रकार का ऋणात्मक सम्बन्ध था कि ब्याज की दर में कमी होने से निवेश में वृद्धि होती थी तथा ब्याज की दर में वृद्धि होने से निवेश की मात्रा में कमी हो जाती थी। उनका

यह विश्वास था कि ब्याज की दर अर्थव्यवस्था में निवेश क्रियाओं का प्रधान नियामक थी। उनके विचारानुसार अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के चक्रीय उच्चावचनों को ब्याज की दर में उपयुक्त परिवर्तनों द्वारा समाप्त किया जा सकता था। उनके मतानुसार मौद्रिक नीति द्वारा अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को स्थापित किया जा सकता था। बैंक दर में उचित परिवर्तनों के द्वारा अर्थ-व्यवस्था को स्थिर अवस्था में रखा जा सकता था। मन्दी काल में केवल बैंक दर में कमी करके अर्थव्यवस्था को मन्दी की दलदल से बचाया जा सकता था। यह विचार इस मान्यता पर आधारित था कि बैंक दर तथा वाणिज्य बैंकों द्वारा अपने ऋणों पर ऋणियों से प्राप्त की जाने वाली ब्याज की दर के मध्य गहरा सम्बन्ध है तथा बैंक दर में वृद्धि (कमी) होने पर ब्याज की दर में भी उपयुक्त वृद्धि (कमी) हो जाती है। इसके विपरीत बैंक दर में उपयुक्त वृद्धि करके अर्थव्यवस्था में स्फीति तथा अभिवृद्धि की अवस्था को समाप्त किया जा सकता था। तीसा की महान मन्दी के पूर्व कीन्स का भी यही विश्वास था कि ब्याज की दर में कमी अथवा वृद्धि करके अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को प्राप्त किया जा सकता था।

परन्तु तीसा की महान मन्दी में प्राचीन विचारधारा की परीक्षा हुई तथा इस परीक्षा में प्राचीन विचारधारा असफल सिद्ध हुई। तीसा की मन्दी में यह ज्ञात हो गया कि बैंक दर में कमी करके अर्थव्यवस्था को मन्दी से मुक्त नहीं किया जा सकता था। अब यह सिद्ध हो गया था कि परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का यह विचार गलत था कि निवेश ब्याज सापेक्ष था। निवेश तथा ब्याज की दर में ऐसा निकटतम सम्बन्ध नहीं था कि इसका निवेश पर गहरा प्रभाव पड़ सकता था। तीसा की मन्दी में इस बात का अनुभव किया गया कि कम ब्याज की दर पर भी अर्थव्यवस्था में पर्याप्त निवेश का भारी अभाव था। कीन्स ने *General Theory of Employment Interest and Money* शीर्षक पुस्तक में प्राचीन विचारधारा की आलोचना की थी। कीन्स ने यह व्यक्त किया कि निवेश इतना अधिक ब्याज सापेक्ष नहीं था जितना कि परम्परावादी अर्थ-शास्त्रियों का विश्वास था। १९३६ ई० में प्रकाशित अपनी इस पुस्तक में कीन्स ने इस सत्य को व्यक्त किया कि निवेश ब्याज की अपेक्षाकृत पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा अधिक प्रभावित होता है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में अल्पकालीन अस्थिरता तथा चिरकालीन गतिहीनता की प्रवृत्ति होती है।

अपनी पुस्तक में कीन्स ने निवेश के निर्धारण में ब्याज की दर को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं बतलाया है। निवेश के निर्धारण में ब्याज की दर की सीमाओं की व्याख्या करते समय कीन्स ने इस की तुलना उस कुत्ते से की है जो कलहंस—पूँजी की सीमान्त उत्पादकता—को, जो डुबकी लगाकर ताल के धरातल को प्राप्त हो जाता है, पानी की सतह पर खींच लाने में असमर्थ सिद्ध होता है।[1] कीन्स के विचारानुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता निवेश की एक अतिमहत्वपूर्ण निर्धारक शक्ति है। यह शक्ति वह शत्रु है जिस पर ब्याज की दर में परिवर्तन करके विजय प्राप्त करना कठिन है।

---

1. मन्दी में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के शक्तिपात का चित्रण करते हुए कीन्स ने जंगली कलहंस की उपमा देते हुए इस प्रकार लिखा है: "जंगली कलहंस ने झील की तली की ओर यथासंभव गहराई पर डुबकी लगाई है तथा वहाँ पहुँच कर यह तली पर उगी घास तथा दलदल में पूर्णतया फंस कर बैठ जाता है। इस का शिकार करके इसे पुन: पानी की सतह पर लाने के लिए एक अत्यधिक चालाक कुत्ते की आवश्यकता होगी।" (*General Theory p.* 183.)

कीन्स का यह दृढ़ विश्वास था कि मन्दी में निवेश की ब्याजसापेक्षता बहुत कम होती है तथा धनात्मक ब्याज की दर पर अर्थव्यवस्था में बचत तथा निवेश के मध्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर सन्तुलन स्थापित नहीं हो सकता था। कीन्स का कहना था कि अर्थव्यवस्था में ब्याज की दर एक न्यूनतम धनात्मक दर—कीन्स के अनुसार यह दर २ प्रतिशत के लगभग थी—से नीचे नहीं गिरेगी क्योंकि ब्याज की इस न्यूनतम दर पर लोगों द्वारा असीमित मात्रा में मुद्रा की माँग करने के कारण नकदी अधिमान वक्र पूर्णतया ब्याजसापेक्ष हो जाता है। ब्याज की इस दर पर सम्पत्ति स्वामी अपनी सम्पत्ति को सरकारी बाँडों के रूप में संचित न रखकर नकदी के रूप में संचित रखना पसन्द करते हैं। निवेश माँग वक्र के अधिक ब्याज सापेक्ष न होने के कारण ब्याज की इस दर पर अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार आय के समक्ष जो कुल निवेश होगा वह उस कुल बचत की तुलना में कम होगा जो अर्थव्यवस्था में इस ब्याज की दर पर पूर्ण रोजगार आय के समक्ष उपलब्ध होगी। ब्याज की इस न्यूनतम धनात्मक दर पर पूर्ण रोजगार बचत पूर्ण रोजगार निवेश की तुलना में अधिक होगी। जब तक बचत तथा निवेश के मध्य उपस्थित इस दरार को अतिरिक्त निवेश अथवा अतिरिक्त उपभोग व्यय द्वारा नहीं पाटा जावेगा तब तक अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार को प्राप्त नहीं कर सकेगी। जहाँ तक उपभोग में वृद्धि करने का प्रश्न है यह आय तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होता है। यद्यपि गरीबों के पक्ष में आय का पुनर्वितरण करके उपभोग में कुछ वृद्धि की जा सकती है परन्तु पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इस प्रकार आय का पुनर्तिवरण करने की निश्चित सीमायें हैं तथा उपभोग में पर्याप्त वृद्धि करना कठिन है। पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने का दूसरा उपाय निवेश में वृद्धि करना है। कीन्स का कहना था कि जब तक सरकार द्वारा भारी मात्रा में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके पूर्ण रोजगार बचत को पूर्ण रोजगार निवेश के बराबर नहीं किया जावेगा तब तक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान नहीं हो पावेगी। इस के लिये समाज कल्याण कार्यों पर सार्वजनिक व्यय में पर्याप्त वृद्धि करके कुल प्रेरित निवेश तथा कुल सार्वजनिक व्यय को पूर्ण रोजगार आय के स्तर पर उपलब्ध बचत के समान किया जा सकता है।

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार निवेश ब्याज सापेक्ष था तथा इस कारण ब्याज की दर में थोड़ी सी कमी करके अर्थव्यवस्था में कुल निवेश में अधिक वृद्धि हो सकती थी तथा धनात्मक ब्याज की दर पर पूर्ण रोजगार आय बचत तथा पूर्ण रोजगार आय-निवेश के मध्य समानता स्थापित हो सकती थी। परन्तु निवेश के ब्याज निरपेक्ष होने की स्थिति में भी परम्परावादी अर्थशास्त्रियों को कोई चिन्ता नहीं थी क्योंकि यदि धनात्मक ब्याज की दर पर कुल बचत तथा कुल निवेश के मध्य दरार विद्यमान थी तो यह दरार लचीली ब्याज की दर में पर्याप्त कमी करके भरी जा सकती थी। इन अर्थशास्त्रियों के मतानुसार ब्याज की दर शून्य हो सकती थी। इसके विपरीत यदि निवेश बचत की तुलना में अधिक था तो ब्याज की दर में पर्याप्त वृद्धि करके दोनों के मध्य समानता स्थापित की जा सकती थी।

कीन्स तथा परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के मध्य विवाद प्रमुखतः दो बातों से सम्बन्धित था। प्रथम विवाद निवेश की ब्याज सापेक्षता से सम्बन्धित था तथा दूसरा विवाद ब्याज की दर की लचीली प्रकृति से सम्बन्धित था। कीन्स का कहना था कि निवेश की ब्याजसापेक्षता बहुत कम थी तथा मन्दी में निवेश की ब्याजसापेक्षता इतनी अधिक कम थी कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण-रोजगार को प्राप्त करने के हेतु केवल ब्याज की दर में कमी करके निवेश की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि नहीं की जा सकती थी। कीन्स का यह भी कहना था कि ब्याज की दर नीचे की दिशा में

लचीली नहीं थी। कीन्स के विचारानुसार ब्याज की दर एक निश्चित न्यूनतम धनात्मक दर पर पहुँचने के पश्चात और अधिक कम नहीं होगी क्योंकि इस सीमावृत्ति दर पर नकदी की माँग पूर्णतया ब्याज सापेक्ष हो जाती है। मुद्रा अधिकारी मुद्रा की मात्रा में कितनी भी अधिक वृद्धि

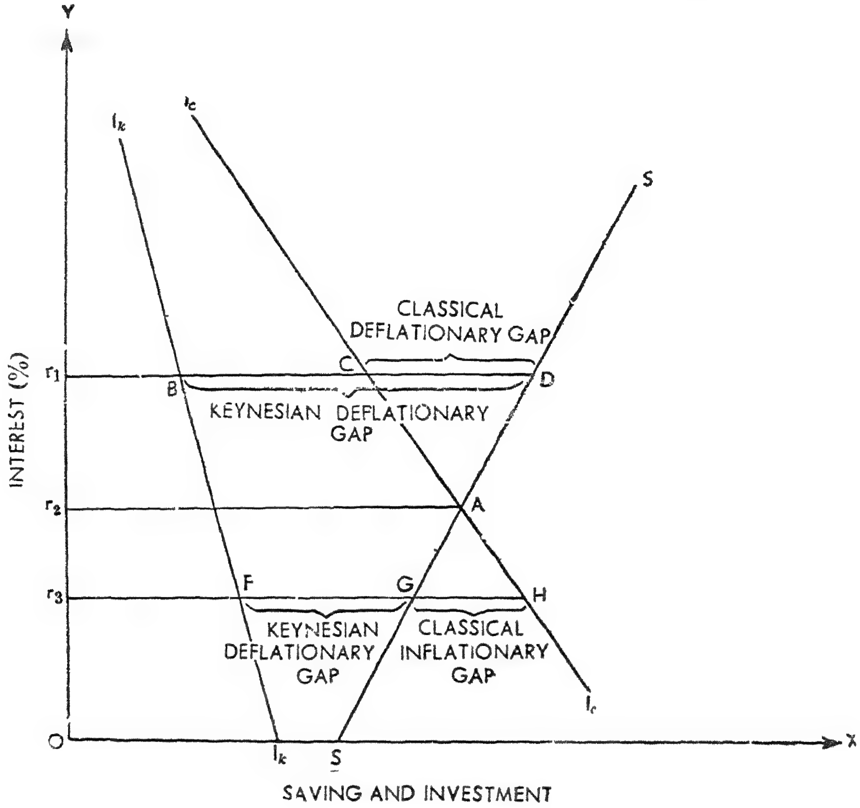

चित्र १९·५

क्यों न करे परन्तु ब्याज की दर में और अधिक गिरावट कदापि नहीं होगी तथा केन्द्रीय बैंक ब्याज की दर पर प्रभाव डालने में शक्तिहीन हो जाती है। ब्याज की इस सीमावृत्ति धनात्मक दर पर अर्थव्यवस्था में नकदी-जाल (liqidity trap) की घटना उपस्थित हो जाती है। कीन्सवादी तथा परम्परावादी विचारों के मध्य इस अन्तर को चित्र १९·५ द्वारा समझाया जा सकता है।

चित्र १९·५ में $I_K I_K$; $I_c I_c$ तथा SS वक्र पूर्ण रोजगार आय के स्तर पर क्रमशः कीन्सवादी निवेश माँग वक्र, परम्परावादी निवेश माँग वक्र तथा बचत वक्र को व्यक्त करते हैं। परम्परावादी विचारधारा के अनुसार निवेश माँग वक्र तथा बचत पूर्ति वक्र की स्थिति इस प्रकार की है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति Or_1 धनात्मक ब्याज की दर पर प्राप्त हो जाती है। परन्तु कीन्स के विचारानुसार निवेश माँग वक्र $I_K I_K$ बचत वक्र SS को धनात्मक ब्याज की दर पर नहीं काटता है। दोनों वक्र एक दूसरे को ऋणात्मक ब्याज दर के समक्ष काटते हैं। परन्तु निवेश माँग तथा बचत पूर्ति वक्रों के एक दूसरे को शून्य ब्याज की दर पर काटने की सम्भावना शून्य है क्योंकि Or_3 धनात्मक ब्याज की दर पर अर्थव्यवस्था में 'नकदी-जाल' की घटना उपस्थित

हो जाने के कारण ब्याज की दर शून्य नहीं होगी। इस धनात्मक ब्याज की दर पर कुल प्रेरित निवेश कुल बचत की तुलना मे FG राशि कम है। कीन्स के विचारानुसार इस कमी को सार्वजनिक कार्यों पर सरकारी व्यय में वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है।

चित्र में Or_2 ब्याज की दर पर परम्परावादी तथा कीन्स प्रेरित सिद्धान्तों के अनुसार अवस्फीति-अन्तर अथवा दरार है यद्यपि कीन्सवादी अन्तर (BD) परम्परावादी अन्तर (CD) की तुलना में अधिक है। Or_2 ब्याज की दर पर परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार कोई अन्तर नहीं है क्योंकि इस ब्याज दर पर परम्परावादी निवेश माँग वक्र तथा बचत पूर्ति वक्र परस्पर काटते हैं, अर्थात् निवेश तथा बचत के मध्य समानता है। परन्तु इस ब्याज की दर पर कीन्स के अनुसार अवस्फीति अन्तर है कीन्स के अनुसार ऋणात्मक ब्याज दर के अतिरिक्त किसी भी अन्य ब्याज की दर पर कुल निवेश कुल बचत की तुलना में कम होने के कारण अवस्फीति अन्तर की घटना विद्यमान है। Or_3 ब्याज की दर पर यद्यपि परम्परावादी विचारधारा के अनुसार स्फीति-अन्तर का आकार GH है परन्तु कीन्स के अनुसार इस ब्याज दर के समक्ष FG अवस्फीति-अन्तर की घटना है।

गत वर्षों में इस विषय पर किये सर्वेक्षणों तथा शोध कार्यों से ज्ञात होता है कि निवेश ब्याज सापेक्ष नहीं है तथा ब्याज की दर में परिवर्तनों का निवेश के आकार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। वर्तमान समय में जब कि अधिकांश पूँजी व्यय निगमों द्वारा अपने संचित विकास कोषों की धनराशि में से किया जाता है ब्याज की दर में परिवर्तनों का महत्व और भी अधिक कम हो गया है। आलविन एच० हैन्सन ने इस सम्बन्ध में मौद्रिक नीति की सीमाओं की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "ऐतिहासिक अनुभव इस विश्वास की पुष्टि नहीं करता है कि मौद्रिक उपायों द्वारा स्फीति पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण किया जा सकता है। ब्याज की ऊँची दरों ने १९१९–१९२० ई० में कीमतों में स्फीति की प्रवृत्ति की रोकथाम नहीं की थी तथा न ही ऊँची ब्याज की दर ने १९२० ई० में परिसम्पत्ति तथा हुण्डी बाजारों में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया था।"[2]

दूसरी प्रधान शक्ति जिसका निवेश पर गहरा प्रभाव पड़ता है पूँजी की सीमान्त उत्पादकता है।[3] पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पूँजी परिसम्पति की वर्तमान लागत (पूर्ति मूल्य)

---

2. A. H. Hansen: *Monetary Theory and Fiscal Policy*, p. 261.
3. According to Keynes the credit for introducing the concept of marginal efficiency of capital in economic theory goes to Irving Fisher who discussed the idea under the name of '*rate of return over cost*' in his *Theory of Interest* (1930). Keynes defines the marginal efficiency of capital "as being equal to that rate of discount which would make the present value of the series of annuities given by the returns expected from the capital asset during its life just equal to its supply price." (*General Theory* p. 135). This definition can be explained as follows: Suppose an entrepreneur plans to construct a new durable capital asset which according to his expectations would yield him Rs. 550 at the end of first year and Rs. 1,210 at the end of second year after which it will become worthless scrap. If the supply price or cost of constructing the asset is Rs. 1,500, the rate of discount which would make the present value of the series of annuities given by the returns expected from the capital asset during its life just equal to its supply price would be 10 per cent. At this discount rate the expected yield would be just equal to the present supply price of the asset in the following manner.

[पृष्ट ३४० पर देखो]

तथा उद्यमकर्ताओं की पूँजी परिसम्पत्ति से भविष्य में प्राप्त होने वाली आय सम्बन्धी आशंसाओं द्वारा निर्धारित होती है। उद्यमकर्ताओं की लाभ सम्बन्धी ये आशंसायें अल्पकालीन तथा दीर्घ-कालीन आशंसायें होती हैं। अल्पकालीन आशंसायें उद्यमकर्ताओं तथा व्यापारियों को वर्तमान पूँजी पदार्थों से निकट भविष्य में प्राप्त होने वाली अनुमानित आय से सम्बन्धित होती हैं। दीर्घकालीन आशंसायें भविष्य में प्राप्त होने वाली उस अनुमानित आय से सम्बन्धित होती हैं जिसे उद्यमकर्ता नये निवेश द्वारा वर्तमान पूँजी पदार्थों में वृद्धि करके प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

अल्पकालीन आशंसायें, जो निकट अतीत में हुई घटनाओं पर आधारित होती हैं दीर्घकालीन आशंसाओं की तुलना में अधिक स्थिर होती हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि दूरस्थ भविष्य, जिस पर दीर्घकालीन आशंसायें आधारित होती हैं, अनिश्चित होता है। इनके सम्बन्ध में केवल भविष्यवाणी की जा सकती है जिसका सत्य सिद्ध होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, १०० वर्ष के दूरस्थ भविष्य की तुलना में निकट भविष्य में होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में अधिक सही अनुमान लगाये जा सकते हैं। अल्पकालीन आशंसायें मूल्य, लाभ, माँग, वेतन तथा ब्याज की दर आदि आन्तरिक कारणों द्वारा प्रभावित होती हैं। दीर्घकालीन आशंसायें युद्ध, जनसंख्या की वृद्धि, आविष्कार, नवीन प्रक्रिया, विदेशी व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति, ऋतु इत्यादि अनेक बाह्य कारणों द्वारा प्रभावित होती हैं।

उद्यमकर्ताओं की भविष्य में आय प्राप्त करने की आशंसाओं से प्रभावित होने के अतिरिक्त पूँजी की सीमान्त उत्पादकता राज्य की कर नीति द्वारा भी प्रभावित होती है। आय कर, निगम कर तथा अन्य प्रत्यक्ष व परोक्ष करों में कमी होने से उद्यमकर्ता वर्ग को निवेश में वृद्धि करने का उत्साह प्राप्त होता है। इसके विपरीत पुराने करों की दरों में वृद्धि करने तथा नये कर लगाने से उद्यमकर्ता वर्ग के हतोत्साहित होने के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता गिर जाती है।

निवेश की मात्रा पर प्रभाव डालने वाले अन्य कारण वेतन दर, तकनीकी सुधार, जनसंख्या की वृद्धि, ऋतु, आदि हैं। जहाँ तक निवेश पर वेतनदरों के प्रभाव का प्रश्न है वेतन दरों में कमी हो जाने से व्यावसायिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये मुद्रा की माँग में कमी हो जाने से नकदी अधिमान कम हो जाता है तथा ऐसा होने से संचलन में मुद्रा की मात्रा स्थिर रहते हुए ब्याज की दर गिर जाती है। परिणामस्वरूप अन्य बातें—विशेष रूप से पूँजी की सीमान्त उत्पादकता—समान रहते हुए ब्याज की दर में कमी हो जाने से निवेश में वृद्धि हो जाती है।

[पृष्ट ३३९ का फुटनोट]

Supply Price = Discounted Value of Expected Returns.

$$\text{Rs. } 1{,}500 = \frac{\text{Rs. } 500}{1{\cdot}10} + \frac{\text{Rs. } 1{,}210}{(1{\cdot}10)^2}$$

$$= \text{Rs. } 500 + \text{Rs. } 1{,}000$$

Thus, the marginal efficiency of capital is 10 per cent. The most characteristic feature of the marginal efficiency of capital is its tendency towards secular decline resulting from accumulation of capital stock over longer period of time depressing the rate of prospective yields. Abundance of capital assets leads to an over-abundance of output. This depresses prices and expected yields. The scarcity value of the capital assets falls to zero.

जहाँ तक निवेश पर तकनीकी परिवर्तनों के प्रभाव का प्रश्न है इन दोनों के मध्य धनात्मक सम्बन्ध है। उत्पादन में तकनीकी सुधार होने के फलस्वरूप निवेश में वृद्धि होती है। परन्तु उत्पादन के क्षेत्र में होने वाले तकनीकी परिवर्तनों का निवेश पर धनात्मक प्रभाव पड़ेगा अथवा ऋणात्मक प्रभाव पड़ेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि तकनीकी विकास किस दिशा में होना है। यदि नई उत्पादन तकनीक श्रम-प्रधान है तो निवेश की मात्रा में कमी हो जावेगी। इसके विपरीत यदि नई उत्पादन तकनीक पूँजी-प्रधान है तो निवेश में वृद्धि होगी।

जनसंख्या में वृद्धि का भी निवेश पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है तथा इसमें वृद्धि होती है। अन्य बातें समान रहते हुए, उपभोग वस्तुओं की माँग में जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ वृद्धि होती है तथा उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप उद्यमकर्ताओं को अपने उत्पादन के पैमाने में वृद्धि करने की प्रेरणा प्राप्त होती है जिसके परिणामस्वरूप प्रेरित निवेश में वृद्धि होती है।

उद्यमकर्ता उस समय तक निवेश करेंगे जब तक वे यह आशा करते हैं कि निवेश करने से उनको लाभ प्राप्त होगा। परन्तु प्रश्न यह है कि उद्यमकर्ता यह किस प्रकार ज्ञान करते है कि कोई निवेश योजना लाभप्रद सिद्ध होगी अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में उन विभिन्न बातों का, जिन पर फर्म अपना निवेश सम्बन्धी निर्णय करते समय विचार करेगी, विवेचन किये बिना यहाँ केवल यह बताना पर्याप्त होगा कि फर्म की दृष्टि में केवल वही निवेश-योजना लाभप्रद होगी जिसके परिणामस्वरूप फर्म की कुल आय में हुई वृद्धि इसकी कुल लागत में हुई उस वृद्धि की तुलना में अधिक होती है जो इस निवेश योजना के परिणामस्वरूप होती है। संक्षेप में फर्म अपने निवेश में उसी समय वृद्धि करेगी जब

$$\frac{dR}{dI} > \frac{dC}{dI} \text{ अथवा } \frac{dR}{dI} - \frac{dC}{dI} > 0$$

अर्थात् जब फर्म के निवेश में परिवर्तन (dI) होने के हेतु कुल आय में परिवर्तन (dR) फर्म के निवेश में परिवर्तन होने के हेतु इसकी कुल लागत में परिवर्तन (dC) की तुलना में अधिक होता है।

फर्म की दृष्टि से अतिरिक्त पूँजीगत परिसम्पत्ति की लागत मशीन की कीमत होती है तथा फर्म इसकी तुलना इस मशीन से प्राप्त होने वाली आय से करेगी। परन्तु इस लागत के अतिरिक्त फर्म उस खर्च को भी लागत में शामिल करेगी जो इसे मशीन तथा अन्य उत्पादन सज्जा को खरीदने के लिये वित्तीय संस्थाओं—बैंकों—से प्राप्त ऋणों पर ब्याज के रूप में करना पड़ता है। अपनी वर्तमान उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करने अथवा नया निवेश करने सम्बन्धी निर्णय करते समय फर्म उस विशेष बट्टा-दर को ज्ञात करने का प्रयास करेगी जिस पर ऋण प्राप्त करने से मशीन तथा अन्य उत्पादन सज्जा की वर्तमान लागत इस सज्जा द्वारा भिन्न वर्षों की अवधि में प्राप्त होने वाली कुल आय के समान होगी। यदि यह बट्टा-दर वर्तमान ब्याज की दर से अधिक है तो फर्म निवेश योजना को कार्यान्वित करके निवेश करेगी अन्यथा नहीं।

किसी दी हुई समय अवधि में फर्म के समक्ष अनेक निवेश अवसर उपस्थित होते हैं जिससे फर्म को भिन्न आय दर प्राप्त हो सकती है। इन भिन्न निवेश अवसरों को इनसे प्राप्त होने वाली आय की दर के आधार पर क्रमबद्ध रूप में स्थापन करने से यह ज्ञात होगा कि कुछ निवेश अवसरों से प्राप्त होने वाली आर्रांभिक लाभदर बहुत अधिक है। कम लाभ की दर प्रदान करने वाले निवेश अवसरों की मात्रा अधिक लाभ की दर प्रदान करने वाले निवेश अवसरों

की तुलना में अधिक होती है क्योंकि इन निवेश अवसरों में कम लाभ दर प्रदान करने वाले निवेशों के अतिरिक्त अधिक लाभ दर प्रदान करने वाले निवेश भी सम्मिलित होते हैं। जैसे-जैसे निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है वैसे-वैसे लाभ की दर कम होती जाती है। यदि इन निवेश अवसरों को X-अक्ष पर तथा आशंसित लाभ दर को Y-अक्ष पर व्यक्त करके प्रदर्शित किया जावे तो हमें चित्र १९·६ में व्यक्त AB वक्र पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का वक्र

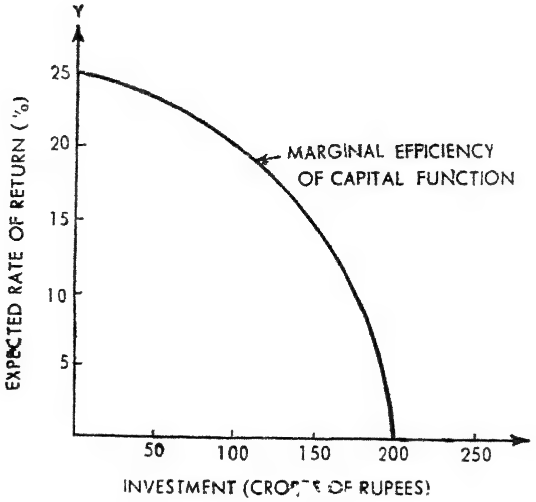

चित्र १९·६

प्राप्त होगा। इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु आशंसित (expected) लाभ दर तथा इस लाभ दर पर किये जाने वाले अधिकतम निवेश की मात्रा को सूचित करता है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता वक्र का ऋणात्मक ढाल यह व्यक्त करता है कि निवेश की मात्रा तथा लाभ की दर के मध्य इस प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है कि निवेश की मात्रा में वृद्धि (कमी) होने पर लाभ की दर कम (अधिक) हो जाती है। ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम, किसी भी उद्योग में निवेश में वृद्धि हो जाने के हेतु उत्पादन में वृद्धि होने से लाभ की दर में कमी हो जाती है। उदाहरणार्थ, होटल उद्योग में अधिक निवेश होने के परिणामस्वरूप होटलों की संख्या में वृद्धि होगी तथा इनमें ग्राहकों को प्राप्त करने के लिये परस्पर प्रतियोगिता बढ़ जावेगी। माँग तथा पूर्ति के प्राथमिक विश्लेषण के अध्ययन द्वारा यह ज्ञात होता है कि माँग स्थिर रहते हुये, वस्तु की पूर्ति में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप इसकी कीमत में कमी हो जावेगी। कीमत मे कमी होने से, उत्पादन लागत समान रहते हुये, प्रति इकाई लाभ की दर में कमी हो जावेगी तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कम हो जावेगी। दूसरे, निवेश में वृद्धि होने के हेतु पूँजी की सीमान्त उत्पादकता गिरने का एक अन्य कारण यह भी है कि होटलों की पूर्ति में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप नये होटलों की निर्माण लागत में वृद्धि हो जाती है क्योंकि उत्पादन साधनों तथा कच्ची सामग्री की माँग में वृद्धि हो जाने से इनकी कीमतों में वृद्धि हो जाती है।

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का वक्र ज्ञात होते हुये ब्याज की दर ज्ञात होने से उस अधिकतम निवेश मात्रा को ज्ञात किया जा सकता है जिसे व्यवसायी वर्ग कार्यरूप प्रदान करेगा क्योंकि निवेश उस सीमा तक किया जावेगा जहाँ पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज

की दर के मध्य समानता होती है । चित्र १९.७ में निवेश को X-अक्ष तथा ब्याज की दर व पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है । AB निवेश वक्र है । इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु निवेश की उस अधिकतम मात्रा को व्यक्त करता है जिसे व्यवसायी भिन्न

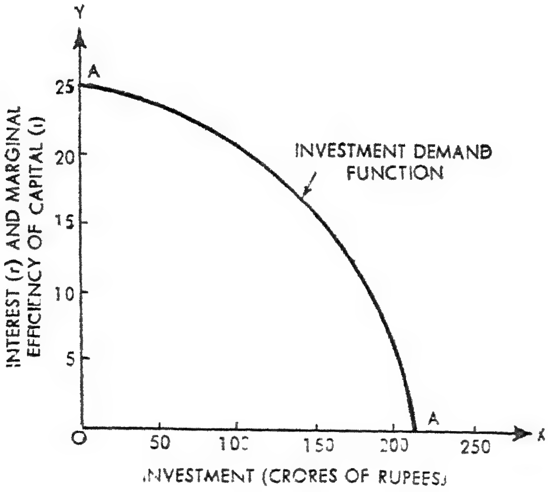

चित्र १९.७

ब्याज की दरों पर कार्यान्वित करेंगे । AB वक्र द्वारा निर्धारित निवेश राशि की सीमान्त उत्पादकता ब्याज की दर के समान है । AB वक्र अर्थव्यवस्था में ब्याज की भिन्न दरों के समक्ष होने वाले कुल निवेश की अधिकतम मात्रा को व्यक्त करता है ।

अध्ययन सूची

1. J. M. Keynes : General Theory of Employment Interest and Money, Chapters 6, 7 and 11.
2. Dudley Dillard : The Economics of John Maynard Keynes, Chapter 4.
3. A. H. Hansen : Business Cycles and National Income (Expanded Edition), Chapter 9
4. K K. Kurihara : Monetary Theory and Public Policy, Chapter 11.
5. A. H. Hansen : A Guide to Keynes, Chapters 2 and 5.

प्रश्न

1. Discuss how investment depends upon the marginal efficiency of capital ? On what factors does the marginal efficiency of capital depend ?
2. Explain the relationship between investment and the rate of interest according to Keynes and the classicists.
3. Distinguish between autonomous and induced investment.

२०

नकदी अधिमान
(Liquidity Preference)

'नकदी अधिमान' शब्द धनी व्यक्तियों द्वारा अपने धन को नकदी अथवा मुद्रा में निर्संचय करने के अधिमान का सूचक है। धन के संचक के रूप मे मुद्रा अन्य पदार्थों की तुलना में उत्तम विचारी जाती है क्योंकि अपने धन को मुद्रा में निर्मंचित रखकर परिसम्पत्तीस्वामी अपने धन को आवश्यकता पड़ने पर अन्य पदार्थों तथा हुण्डियों में परिवर्तित कर सकते है। यह लाभ, जो मुद्रा को समाज मे सर्वमान्यता होने के कारण प्राप्त होता है उन्हें अपने धन को अन्य रूप में संचित रखने से प्राप्त नहीं होता है। नकदी अधिमान का प्रमुख कारण मुद्रा की उस माँग से संबद्ध है जो समाज में धनियो द्वारा अपने धन को मुद्रा में निर्संचित रखने के कारण उत्पन्न होती हे। द्रव्य की यह माँग प्रमुख रूप में सट्टेबाजो के उद्देश्य द्वारा निर्धारित होती है।

परन्तु धन के संचक के अतिरिक्त मुद्रा समाज में विनिमय-माध्यम का कार्य भी सम्पन्न करती है। आरम्भ में मुद्रा का आविष्कार समाज को वस्तु विनिमय की कठिनाइयों से मुक्त करने के हेतु विनिमय माध्यम के रूप में हुआ था। अर्थव्यवस्था में विनिमय-माध्यम के रूप में अनेक वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय करने के हेतु इसकी माँग की जाती है। विनिमय-माध्यम के रूप मे मुद्रा की माँग व्यावसायिक तथा एहतियात्मक उद्देश्यों से उत्पन्न होती है। समाज में व्यक्ति किसी अमौद्रिक परिसम्पत्ति को रखने के बजाय अपने पास नकदी अथवा द्रव्य को रखते है। वे ऐसा अनेक कारणों से करते हैं। कीन्स ने इन अनेक कारणों को व्यावसायिक उद्देश्य, एहतियात्मक उद्देश्य तथा सट्टेबाजी उद्देश्य का नाम दिया है।[1] कीन्स के विचारानुसार नकदी अधिमान के पहले दोनों उद्देश्य व्याजनिरपेक्ष है तथा नकदी अधिमान का तीसरा उद्देश्य

---

1. तत्पश्चात् १९३७ ई० में *Economic journal* नामक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक लेख में कीन्स ने नकदी अधिमान के उपरोक्त तीन उद्देश्यों के अतिरिक्त चौथे उद्देश्य की भी चर्चा की थी। यह चौथा उद्देश्य वित्तीय उद्देश्य था तथा कीन्स के विचारानुसार यह ब्याज-सापेक्ष था। ब्याज की दर में कमी होने पर उद्यमकर्ता निवेश के लिये रुपया उधार लेते हैं यद्यपि निवेश परियोजना को तत्काल कार्यान्वित नहीं किया जा सक है।

व्याजसापेक्ष है। इस प्रकार नकदी की सम्पूर्ण माँग—नकदी अधिमान—मुद्रा की उस कुल माँग द्वारा प्राप्त होती है जो अर्थव्यवस्था में इसके विनिमय माध्यम तथा धन के संचय का कार्य करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। नकदी अधिमान के उपरोक्त तीनों निर्धारक उद्देश्यों की सविस्तार व्याख्या निम्नलिखित प्रकार की जा सकती है।

व्यावसायिक उद्देश्य
(Transactions Motive)

मुद्रा का एक आवश्यक कार्य अर्थव्यवस्था में विनिमय माध्यम का कार्य करके अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय को सरल बनाकर आर्थिक विकास को सम्भव बनाना है। समाज में उपभोक्ताओं, उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा अन्य लोगों को अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ सम्पन्न करने के हेतु मुद्रा की आवश्यकता होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के हेतु भुगतान करने के लिये मुद्रा की आवश्यकता होती है। उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप व्यावसायिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जाती है।

कीन्स ने व्यावसायिक उद्देश्य को आय उद्देश्य (Income-motive) तथा व्यापारिक उद्देश्य (Business-motive) में विभाजित किया है। नकदी संचित रखने का एक कारण आय की प्राप्ति तथा इसे खर्च करने के बीच समय की खाई को पाटना होता है। इसी प्रकार नकदी को उत्पादन लागत तथा बिक्री द्वारा प्राप्त आय के मध्य समय की खाई को पाटने के लिये भी संचित रखा जाता है। आय उद्देश्य की पूर्ति के लिये नकदी की मांग मात्रा आय की राशि तथा आय प्राप्ति व खर्च करने के मध्य समय की अवधि द्वारा निर्धारित होती है। व्यापारिक उद्देश्य की पूर्ति करने के हेतु नकदी की माँग उत्पादन के मूल्य द्वारा निर्धारित होती है।

व्यावसायिक कार्यों—वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय करने के हेतु—के लिये उपभोक्ताओं को जिस कुल नकदी अथवा मुद्रा की आवश्यकता होती है वह उनकी आय, खर्च करने की आदतों तथा आय प्राप्त होने की अवधि द्वारा निर्धारित होती है। उपभोक्ताओं की खर्च करने की आदतों में कोई परिवर्तन न होते हुये उनकी आयों में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप वे उपभोग पर पहले की अपेक्षाकृत अधिक खर्च करेंगे तथा परिणामस्वरूप व्यावसायिक कार्यों के लिए उनको अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। उपभोक्ताओं की आय तथा द्रव्य की मांग अथवा नकदी अधिमान के मध्य इस प्रकार का सीधा सम्बन्ध है कि आय में वृद्धि (कमी) होने पर नकदी अधिमान अथवा द्रव्य की माँग में भी वृद्धि (कमी) होती है। द्रव्य की व्यावसायिक माँग के व्यापारिक भाग को, आय का परिणाम कहा जा सकता है। व्यावसायिक नकदी माँग का प्रमुख निर्धारक आय है। आय तथा नकदी मांग के मध्य इस हेतुक सम्बन्ध को निम्नलिखित समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$M_1 = L_1 (Y)$$

उपरोक्त समीकरण में M_1 नकदी की उस कुल राशि को सूचित करता है जो अर्थव्यवस्था में व्यावसायिक उद्देश्य द्वारा निर्धारित लोगों के नकदी अधिमान की तुष्टि करने के लिये आवश्यक है; Y द्रव्य आय को संकेत करता है तथा L_1 आय का वह अनुपात है जिसकी नकदी में माँग की जाती है। द्रव्य अथवा नकदी की व्यावसायिक माँग में अधिक तथा आकस्मिक परिवर्तन नहीं होते हैं। यह स्थिर होती है तथा इसके संबन्ध में काफी सही भविष्यवाणी की जा सकती है।

नकदी की व्यावसायिक माँग आय का धनात्मक फलन होती है तथा आय मे वृद्धि होने पर इस मे भी वृद्धि होती है । गणितीय भाषा मे इसे निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है ।

$$1 > \frac{dM_1}{dY} > 0$$

आय मे इकाई परिवर्तन (dY) होने के परिणामस्वरूप द्रव्य की व्यावसायिक माँग मे होने वाले परिवर्तन ($d\ M_1$) के मध्य अनुपात का अंकीय मूल्य शून्य मे अधिक तथा एक से कम होता है । चित्र २०.१ मुद्रा की व्यावसायिक माँग तथा आय के मध्य परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करता है । चित्र से ज्ञात होता है कि मुद्रा की व्यावसायिक माँग आयसापेक्ष है तथा व्यावसायिक उद्देश्यों द्वारा निर्धारित नकदी अधिमान की आयसापेक्षता धनात्मक होती है । चित्र २० १ मे आय को X-अक्ष तथा द्रव्य की व्यावसायिक माँग को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है । $M_1 = L_1 (Y)$ वक्र आय तथा द्रव्य की व्यावसायिक माँग के मध्य सम्बन्ध को व्यक्त करता है । वक्र से ज्ञात होता है कि जब द्रव्य आय OY_1 से बढकर OY_2 हो जाती है तो द्रव्य की व्यावसायिक माँग OM_1 से बढकर OM'_1 हो जाती है ।

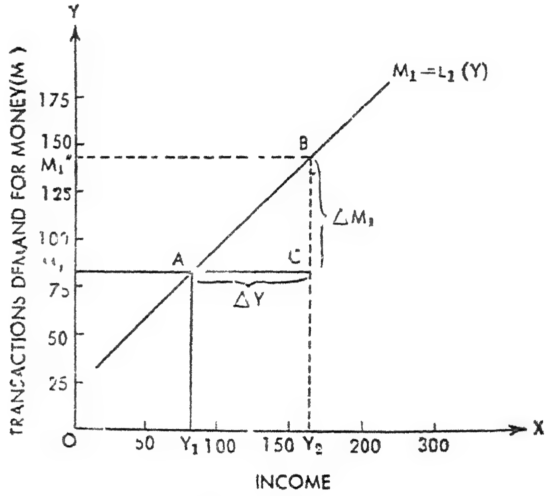

चित्र २०·१

अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति पर खर्च करने के लिये उपभोक्ताओ को कुल कितनी मुद्रा की आवश्यकता होगी, यह आय के अतिरिक्त इस बात पर भी निर्भर करेगा कि उपभोक्ताओ को आय कितने समय के पश्चात प्राप्त होती है । खर्च करने तथा आय प्राप्त होने के मध्य जितनी कम अन्तरावधि होगी वस्तुओं के क्रय करने के हेतु उतनी ही कम नकदी की आवश्यकता होगी । यदि मासिक वेतन प्राप्त होने के स्थान पर हमको साप्ताहिक वेतन प्राप्त होने लगे तो, अन्य बाते समान रहते हुये, द्रव्य की व्यावसायिक माँग मे कमी हो जावेगी ।

आय अथवा व्यवसाय का स्तर स्थिर रहते हुये, द्रव्य की कुल व्यावसायिक माँग समाज की भुगतान पद्धति द्वारा निर्धारित होगी । उदाहरणार्थ, यदि ५०० रुपये मासिक वेतन का भुगतान ३० दिन के पश्चात एक बार करने के स्थान पर मास मे दो बार प्रत्येक १५ दिन के पश्चात २५० रुपये की दो किस्तो मे किया जावे तो कुल वस्तुओं का क्रय करने के लिये पहले की तुलना म आधी नकदी पर्याप्त होगी । भुगतान पद्धति मे केवल आय के भुगतान की प्रायिकता को

शामिल करने के अतिरिक्त हमे व्यवसाय बिलों के भुगतानों की प्रायिकता (frequency) को भी शामिल करना चाहिये । उदाहरणार्थ, यदि उपभोक्ता प्रत्येक समय वस्तुओं को क्रय करते समय नकद भुगतान करने के स्थान पर विक्रेताओ को वर्ष मे केवल एक बार नकद भुगतान करते है तो उनको कम नकदी की आवश्यकता पडेगी । द्रव्य की व्यावसायिक माँग अर्थव्यवस्था में बैंकिग प्रणाली तथा भुगतानों मे चैक प्रथा के प्रयोग के विकास पर भी निर्भर करेगी । अमरीका के समान विकसित देश में जहाँ बैंकिग प्रणाली अत्यधिक विकसित है तथा जहाँ उपभोक्ता वस्तुओं तथा सेवाओ को चैक द्वारा भुगतान करके क्रय करते हैं, बहुत कम नकदी के द्वारा घनी मात्रा मे क्रय-विक्रय किया जा सकता है । चित्र २०·२ द्रव्य की व्यावसायिक माँग तथा भुगतानावधि के मध्य सम्बन्ध को व्यक्त करता है ।

चित्र २०.२ मे भुगतानावधि को X-अक्ष पर तथा द्रव्य की व्यावसायिक माँग को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है । चित्र से ज्ञात होता है कि जब ५०० रुपये का भुगतान मास में केवल एक बार किया जाता है तब इस भुगतान को करने के लिए ५०० रुपये की आवश्यकता होती है । परन्तु यदि यह भुगतान मास में एक बार करने के स्थान पर दो बार प्रत्येक दो सप्ताह

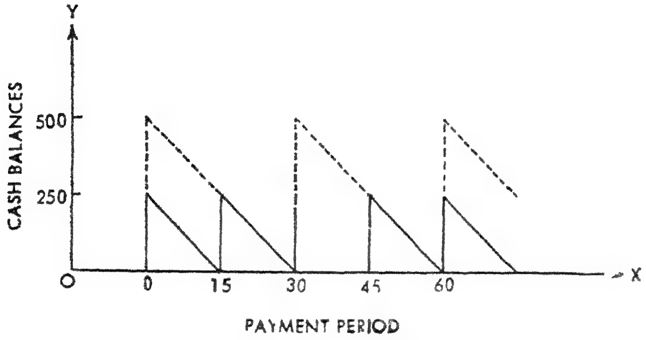

चित्र २०·२

के पश्चात् किया जाता है तो प्रत्येक दो सप्ताह की अवधि मे केवल २५० रुपये का भुगतान करने से ५०० रुपये का भुगतान सम्भव हो जाता है तथा द्रव्य की व्यावसायिक माँग घट कर आधी हो जाती है यद्यपि भुगतान की प्रायिकता दुगुनी हो जाती है । प्रतिमास भुगतान करने की स्थिति मे द्रव्य की व्यावसायिक माँग कुल वार्षिक भुगतानों का १/१२ भाग होगी । परन्तु प्रतिमास के स्थान पर प्रति दो सप्ताह भुगतान करने की स्थिति मे द्रव्य की माँग कुल वार्षिक व्यावसायिक माग का केवल १/२४ भाग होगी ।

द्रव्य की व्यावसायिक माँग औद्योगिक ढांचे की प्रकृति पर भी निर्भर करती है । यदि अर्थव्यवस्था मे विभिन्न औद्योगिक इकाइयों के मध्य युग्मन है तो कम नकदी की आवश्यकता होगी । यदि भिन्न औद्योगिक इकाइयों का प्रबन्धन एक ही व्यवस्थापक अभिकर्ता द्वारा किया जाता है तो अन्तर-इकाई व्यवसायों—विभिन्न इकाइयों के मध्य होने वाले लेन-देन—को थोडी सी नकदी अथवा बिना नकदी के पूरा किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, टेक्समेको (Texmaco) से कपड़ा मशीन खरीदने के लिये सेन्चुरी टेक्सटाइल मिल्स (Century Textile Mills) को नकद भुगतान करने की आवश्यकता नही है क्योंकि इन दोनों औद्योगिक इकाइयों के व्यवस्थापक अभिकर्ता बिरला ब्रादर्स प्राइवेट लिमिटेड (Birla Brothers Private Limited)

है। एक ही व्यवस्थापक अभिकर्ता द्वारा प्रबन्धन किये जाने के कारण इन मिलो के मध्य लेन-देन इन दोनों मिलो के खातो मे केवल इन्दराज करके संभव हो जाते है।

द्रव्य की व्यावसायिक माँग की व्याजसापेक्षता

द्रव्य की व्यावसायिक माँग ब्याजनिरपेक्ष (interest inelastic) होती है। ब्याज की दर में परिवर्तनों का इस पर विशेष प्रभाव नही पडता है। द्रव्य की इस माँग के ब्याज निरपेक्ष होने का कारण यह है कि व्यावसायिक माँग की पूर्ति करने के लिये जिस नकदी की आवश्यकता होती है वह व्यक्ति के पास फालतू नकदी नही होती है जिसका अधिक ब्याज प्राप्त करने के लालच में वह त्याग कर सकता है। वास्तव मे व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति द्रव्य को नकदी के रूप मे संचित रखकर ही की जा सकती है। यदि व्यक्ति इस नकदी का निवेश करने के लिये इच्छुक भी हों तो भी यह निवेश केवल अतिअल्प समय के लिये जा सकता है क्योंकि दीर्घावधि के लिये निवेश करने की स्थिति मे उपभोक्ता अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे असमर्थ रहेगे। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को व्यावसायिक कार्यो के लिये प्रतिमास ३०० रुपये की आवश्यकता होती है तथा यदि वह १० रुपये प्रतिदिन खर्च करता है तो वह २९० रुपये केवल एक दिन के लिये ब्याज पर उधार दे सकता है अथवा एक दिन की अवधि के पश्चात भुनाये जाने वाले बांड को खरीद सकता है। वह केवल १० रुपये २९ दिन के लिये ब्याज पर उधार दे सकता है। निवेश करने के सम्बन्ध मे निवेशकर्ता को आरंभ में मुद्रा द्वारा बांड का विनिमय करने तथा तत्पश्चात बांड को मुद्रा में बदलने में दलाली, कमीशन, स्टाम्प शुल्क आदि के रूप में खर्च करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त असुविधा भी होती है तथा समय भी नष्ट होता है। प्रत्येक असुविधा का मूल्य होता है। इस कारण जब तक ब्याज की दर बहुत अधिक नही होगी तब तक द्रव्य की व्यावसायिक माँग पर ब्याज की दर में परिवर्तनों का कोई प्रभाव नही पड़ेगा। दूसरे शब्दो मे, यद्यपि अधिक ऊँची ब्याज की दर पर द्रव्य की व्यावसायिक माँग ब्याजसापेक्ष हो सकती है परन्तु मध्यम तथा निम्न ब्याज की दरों पर द्रव्य की व्यावसायिक माँग पूर्णतया ब्याज-निरपेक्ष होती है। बहुत ऊँची ब्याज की दर पर द्रव्य की व्यावसायिक माँग तथा ब्याज की दर के मध्य ऋणात्मक सम्बन्ध होगा, अर्थात्

$$\frac{dM_1}{dr} < 0$$

चित्र २०.३ ब्याज की दर तथा द्रव्य की व्यावसायिक माँग के मध्य सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

चित्र २०·३ में द्रव्य की व्यावसायिक माँग (M_1) को X-अक्ष पर तथा ब्याज की दर को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। Y_1 आय (=४०० करोड़ रुपये) के समक्ष द्रव्य की व्यावसायिक माँग १०० करोड़ रुपये है। १३ प्रतिशत ब्याज की दर तक द्रव्य की व्यावसायिक माँग पूर्णतया ब्याजनिरपेक्ष है। Y_2 आय (=७०० करोड़ रुपये) पर द्रव्य की व्यावसायिक माँग १५० करोड़ रुपये है तथा Y_3 आय (=१,२०० करोड़ रुपये) पर द्रव्य की व्यावसायिक माँग २०० करोड़ रुपये है। Y_1, Y_2 तथा Y_3 वक्र यह व्यक्त करते हैं कि १३ प्रतिशत ब्याज की दर तक द्रव्य की व्यावसायिक माँग पूर्णतया ब्याजनिरपेक्ष है। केवल उसी समय जब ब्याज की दर १३ प्रतिशत से अधिक हो जाती है द्रव्य की व्यावसायिक माँग कुछ ब्याजसापेक्ष बन जाती है।

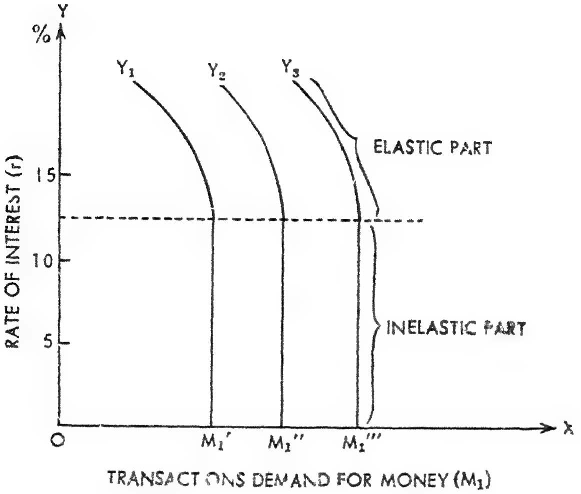

चित्र २०·३

कुछ लेखकों के मतानुसार द्रव्य की व्यावसायिक माँग ब्याजसापेक्ष थी। हैन्सन (A. H. Hansen) ने सर्वप्रथम १९४९ ई० में अपनी पुस्तक Monetary Theory and Fiscal Policy में इस ओर संकेत किया था। तत्पश्चात् बामौल (W. J. Baumol) तथा जेम्सटोबिन (James Tobin) ने द्रव्य की व्यावसायिक माँग तथा ब्याज की दर के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन किया था। इन दोनों अर्थशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों द्वारा यह व्यक्त किया है कि व्यावसायिक नकदी को फालतू में संचित रखने की विकल्प लागत (opportunity cost) होती है जो उस ब्याज आय की हानि के बराबर होती है जो इस नकदी को बैंक जमा अथवा हुण्डी के रूप में संचित रखकर प्राप्त हो सकती थी। आय को नकदी में संचित न रखकर इसे ब्याज आय प्रदान करने वाली अल्पावधिहुण्डियों में निवेश करके कुछ आय प्राप्त की जा सकती थी। इन हुण्डियों को उपयुक्त अल्पावधि पश्चात् नकदी में परिणित किया जा सकता था। परन्तु यह हुण्डियों पर प्राप्त होने वाली ब्याज की दर तथा हुण्डियों को क्रय-विक्रय करने सम्बन्धी व्यय पर निर्भर होगा। जैसे-जैसे व्यय की तुलना में हुण्डियों द्वारा अधिक ब्याज आय प्राप्त होगी वैसे-वैसे लोगों को व्यावसायिक नकदी में कमी करने की अधिक प्रेरणा प्राप्त होगी। व्यावसायिक नकदी की माँग तथा आय के मध्य समान दिशाई तथा नकदी की व्यावसायिक माँग तथा ब्याज की दर के मध्य विपरीत दिशाई सम्बन्ध होता है।

जिस प्रकार व्यावसायिक नकदी की माँग में आय में परिवर्तन होने पर धनात्मक परिवर्तन होते हैं इसी प्रकार इस बात की भी सम्भावना की जा सकती है कि व्यावसायिक नकदी की माँग में ब्याज की दर में परिवर्तन होने पर विपरीत दिशा में परिवर्तन हो जाते हैं—ब्याज की दर में कमी (वृद्धि) होने पर इसमें वृद्धि (कमी) हो जाती है। उदाहरणार्थ, एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिये जिसको १,००० रुपये प्रत्येक महीने की पहली तिथि को प्राप्त होते हैं तथा जो अपनी इस कुल आय को प्रत्येक महीने में समान दर से खर्च करता है। उस व्यक्ति की बचत मास तथा वर्ष में शून्य है। यदि प्रत्येक महीने में केवल चार सप्ताह हैं तो महीने में किसी भी समय इस व्यक्ति की द्रव्य की व्यावसायिक माँग को चित्र २०.४ (A) के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ, प्रथम सप्ताह के मध्य मे यह माँग ८७५ रुपये तथा अन्तिम सप्ताह के मध्य मे केवल १२५ रुपये होगी। सम्पूर्ण महीने के लिये उसकी द्रव्य की औसत व्यावसायिक माँग ५००

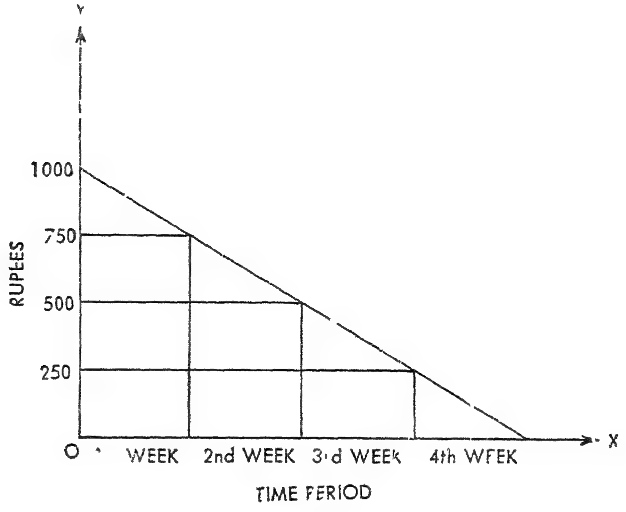

(A)

रुपये होगी। यदि महीने को केवल चार सप्ताह मे विभाजित किया जावे तो स्पष्ट है कि इस व्यक्ति के पास प्रथम सप्ताह मे ७५० रुपये, दूसरे सप्ताह मे ५०० रुपये तथा तीसरे सप्ताह मे २५०

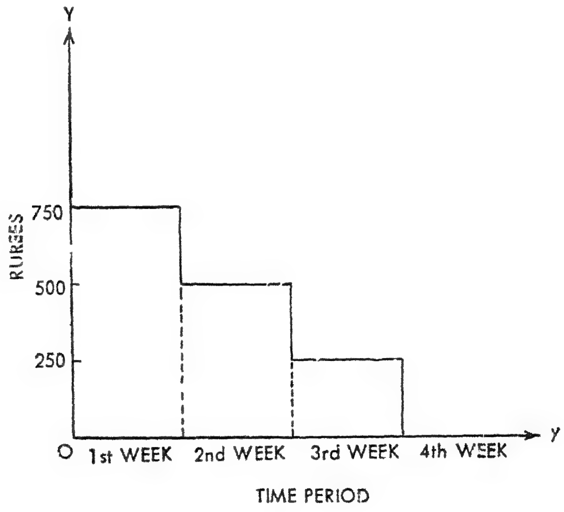

(B)

रुपये फालतू नकदी के रूप मे होगे। ऐसी स्थिति मे यह व्यक्ति उपयुक्त समय अवधि के लिये इस फालतू नकदी को ब्याज आय प्रदान करने वाली हुण्डियों मे परिणीत करके आय प्राप्त कर सकता है। चित्र २०·४ (B) तथा (C) यह व्यक्त करते है कि वह व्यक्ति क्या करेगा। जैसा कि चित्र २०·४ (B) से स्पष्ट है प्रथम सप्ताह के प्रथम दिन वह प्रथम सप्ताह की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के

हेतु २५० रुपये अपने पास रखकर शेष ७५० रुपये द्वारा एक सप्ताह की अवधि की हुण्डी खरीद लेगा। ऐसा करने से उसे व्याज आय प्राप्त होगी।

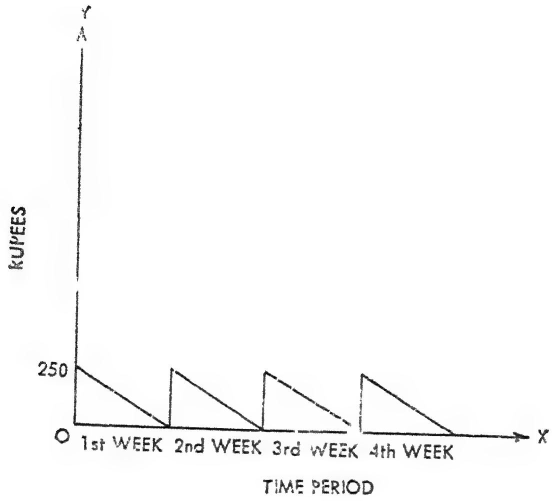

(C)
चित्र २०·४

प्रथम सप्ताह की समाप्ति पर वह इस हुण्डी को भुना लेगा तथा दूसरे सप्ताह की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये २५० रुपये अपने पास रखकर शेष ५०० रुपये की एक सप्ताह की ब्याज आय प्रदान करने वाली हुण्डी खरीद लेगा। दूसरे सप्ताह को समाप्ति पर वह इस हुण्डी को भुना कर तीसरे सप्ताह के लिये २५० रुपया अपने पास रखकर शेष २५० रुपये की एक सप्ताह की अवधि के लिये पुन: हुण्डी खरीद लेगा जिसे वह चौथे सप्ताह के आरम्भ में भुना लेगा। वास्तव में प्रत्येक सप्ताह के आरम्भ में हुण्डी खरीदने तथा प्रत्येक सप्ताह की समाप्ति पर हुण्डी भुनाने की अपेक्षा वह व्यक्ति २५० रुपये की हुण्डी ३ सप्ताह की अवधि के लिये ; २५० रुपये की हुण्डी २ सप्ताह की अवधि के लिये तथा २५० रुपये की हुण्डी एक सप्ताह की अवधि के लिये प्रथम सप्ताह के आरम्भ में ही खरीद लेगा क्योंकि ऐसा करने से उसको कम असुविधा होगी। चित्र २०·४ (C) व्यक्ति की इस क्रिया को व्यक्त करता है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या सामान्यत: व्यक्ति ऐसा करते है ? यदि बैंक बचत जमाओं पर साप्ताहिक ब्याज देने लग जावें अथवा मुद्रा बाजार में उपर्युक्त प्रकार की व्याज-आय प्रदान करने वाली हुण्डियाँ उपलब्ध है तो व्यक्ति नकदी का इस प्रकार निवेश करके आय प्राप्त कर सकते है। प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा बाजार में एक, दो तथा तीन सप्ताह की अल्पावधि की सरकारी हुण्डियों को खरीद कर आय प्राप्त करना चाहेगा। इस प्रकार की क्रियाओं की सम्भावना उस समय अधिक होगी जब नकदी राशि अधिक है, इस नकदी के निवेश पर प्राप्त होने वाली व्याज की दर ऊँची है तथा हुण्डियो को क्रय-विक्रय करने की लागत बहुत कम है।

ऐहतियात्मक उद्देश्य (Precautionary Motive)

दैनिक व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त मनुष्य अपने पास कुछ नकदी भविष्य आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये संचित रखते है। किसी वस्तु

की आवश्यकता न होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी जेब में कुछ रुपये अथवा पैसे अवश्य रखता है। जब उससे यह कहा जाता है कि यदि कुछ खरीदना नहीं है तो रुपये साथ लेना व्यर्थ है तो इसका उत्तर यह मिलता है कि आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये जेब में कुछ नकदी होना आवश्यक है। कीन्स ने इसे ऐहतियात्मक उद्देश्य (precautionary motive) का नाम दिया है। जब हम पारिवारिक आवश्यकताओं की तुष्टि करने हेतु वस्तु खरीदने के उद्देश्य से बाजार जाते है तो हम अपने साथ अपनी आवश्यकता से अधिक रुपये ले जाते हैं क्योंकि बाजार में हम कुछ ऐसी वस्तुओं को खरीद सकते है जिनके सम्बन्ध में हमने विचार नही किया था। इसके अतिरिक्त भविष्य अनिश्चित होने के कारण इन अनिश्चितताओं का सामना करने के हेतु मनुष्य कुछ नकदी ऐहतियात के तौर पर अपने पास संचित रखना पसन्द करते हैं। उदाहरणार्थ, परिवार में किसी सदस्य के बीमार हो जाने अथवा बाहर से अतिथि आ जाने के कारण दवाओं अथवा अतिथि के आदरसत्कार पर व्यय करना आवश्यक हो जाता है।

आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से जिस नकदी की आवश्यकता होती है उसकी राशि प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यवसायी के लिये भिन्न होती है और उनकी मनोवृत्ति, मुद्रा बाजार से शीघ्र मुद्रा प्राप्त करने की सुविधा, व्यवसाय की स्थिति इत्यादि बातों पर निर्भर होती है। यदि ब्यापारियों को यह आशा होती है कि आवश्यकता पड़ने पर उनको मुद्रा बाजार से पर्याप्त मात्रा में शीघ्र नकदी प्राप्त हो सकती है तो वे अपनी आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से बहुत कम नकदी अपने पास संचित रखेंगे। परन्तु यदि देश में मुद्रा बाजार संगठित नहीं है और व्यापारियों को इस बात की आशा नहीं है कि आवश्यकता पड़ने पर उनको पर्याप्त नकदी प्राप्त हो सकेगी तो वे अपनी आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से अपने पास अधिक नकदी रखेंगे। अविकसित देशों में जहाँ मुद्रा बाजार से पर्याप्त मात्रा में शीघ्र ऋण प्राप्त करने की सुविधाएँ अपर्याप्त होती हैं व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को अपनी आकस्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये काफी नकदी को अपने पास संचित रखना पड़ता है। एहतियात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी नकदी की माँग स्थिर होती है तथा इसमें भारी परिवर्तन नहीं होते है। कीन्स के विचारानुसार द्रव्य की व्यावसायिक माँग के समान द्रव्य की एहतियात्मक माँग में भी ब्याज की दर में परिवर्तनों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है तथा यह आय के स्तर पर निर्भर करती है। कीन्स ने द्रव्य की व्यावसायिक तथा एहतियात्मक माँगों को एक साथ मिलाकर इसे M_1 द्वारा व्यक्त किया है।

सट्टेबाजी का उद्देश्य (Speculative Motive)

सट्टेबाजी का उद्देश्य नकदी की माँग के तीनों निर्धारक उद्देश्यों में सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण है। जबकि व्यावसायिक तथा एहतियात्मक उद्देश्यों द्वारा निर्धारित नकदी की माँग स्थिर होती है तथा भारी उच्चावचनों से मुक्त होती है सट्टेबाजी के उद्देश्य में समय-समय पर भारी उतार-चढ़ाव होते रहने के कारण द्रव्य की सट्टा माँग मे भारी परिवर्तन होते रहते हैं। लोग सट्टे द्वारा लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने पास नकदी निसंचित रखते हैं। सट्टेबाजी के उद्देश्य का नकदी अधिमान पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जिस नकदी राशि को संचित रखा जाता है वह अनिश्चित तथा शीघ्र परिवर्तनशील होती है। समाज में ब्याज की दर में परिवर्तन होते रहते है। बहुत से लोग अपने धन को दीर्घकालीन बौंडों तथा ऋणपत्रों मे संचित न रखकर द्रव्य के तरल रूप मे भविष्य में ब्याज की दर में होने वाले अनुकूल परिवर्तनों द्वारा लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से संचित रखते हैं। मुद्रा समाज में धन के संचक (store of value) का कार्य करती है। भविष्य अनिश्चित होने के कारण सट्टेबाज अपने धन को

मुद्रा के तरल रूप में संचित रखकर भविष्य में अधिक ब्याज आय प्राप्त करने के अवसर को प्राप्त करके अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा करते हैं। धन को मुद्रा के रूप में संचित रखकर अनुकूल अवसर प्राप्त होने पर इसे किसी भी परिसम्पत्ति में बदला जा सकता है। नकदी अन्य सभी प्रकार की परिसम्पत्तियों (assets) की तुलना में अधिक परिवर्तनीय होती है। इंगलैंड तथा अमरीका के समान विकसित देशों में सट्टेबाजी का नकदी अधिमान पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जब लोग भविष्य में ब्याज की दर में वृद्धि होने की आशा करते हैं तो वे बौंड खरीदने के स्थान पर अपने धन को मुद्रा के रूप में संचित रखना आरम्भ कर देते हैं क्योंकि ऐसा करने से इस नकदी को भविष्य में किसी भी समय अन्य परिसम्पत्ति में बदला जा सकता है। भविष्य में ब्याज की दर में वृद्धि होने की आशा होने के कारण नकदी अधिमान में भी वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत जब भविष्य में ब्याज की दर में कमी होने की आशा की जाती है तो नकदी अधिमान में कमी हो जाती है।

मुद्रा की वह मात्रा जिसकी सट्टेबाजी के उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये माँग की जाती है वह ब्याज की प्रचलित दर तथा सट्टेबाजों के विचारानुसार इस दर में भविष्य में होने वाले परिवर्तनों सम्बन्धी आशंसाओं द्वारा निर्धारित होती है। भविष्य में ब्याज की दर में वृद्धि होने की आशा की जा सकती है अथवा नहीं यह मुख्यतः प्रचलित ब्याज की दर पर निर्भर करता है। यदि ब्याज की वर्तमान दर ऊँची है तो भविष्य में इसके और अधिक ऊँचा होने की कम सम्भावना होती है तथा सट्टेबाजी के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कम नकदी की माँग की जायेगी। परिणामस्वरूप सट्टेबाजी के उद्देश्य की पूर्ति के लिये नकदी अधिमान कम होगा। इसके विपरीत यदि ब्याज की वर्तमान दर कम अथवा नीची है तो भविष्य में इस में वृद्धि होने की अधिक आशा की जा सकती है। परिणामस्वरूप सट्टेबाजी के उद्देश्य द्वारा निर्धारित नकदी अधिमान अधिक होगा। इस प्रकार द्रव्य की सट्टा माँग वर्तमान ब्याज की दर तथा भविष्य में ब्याज की दर में होने वाले (संभव) परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होती है। द्रव्य की सट्टा माँग ब्याज-सापेक्ष होती है। दोनों के मध्य इस प्रकार का ऋणात्मक सम्बन्ध होता है कि ब्याज की दर में वृद्धि होने पर द्रव्य की सट्टा माँग में कमी तथा ब्याज की दर में कमी होने पर द्रव्य की सट्टा माँग में वृद्धि होती है। यदि M_2 तथा r क्रमशः द्रव्य की सट्टा माँग तथा ब्याज की दर को सूचित करते हैं तो द्रव्य की सट्टा माँग तथा ब्याज की दर के मध्य सम्बन्ध को निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$M_2 = L_2(r)$$

ब्याज की दर तथा द्रव्य की सट्टा-माँग के मध्य ऋणात्मक सम्बन्ध को $\frac{dM_2}{dr} < 0$ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। द्रव्य की सट्टा-माँग को चित्र २०·५ के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

चित्र २०·५ में द्रव्य की सट्टा माँग को X-अक्ष तथा ब्याज की दर को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। सट्टेबाजी के उद्देश्य द्वारा निर्धारित नकदी अधिमान वक्र $M_2 = L_2(r)$ यह व्यक्त करता है कि द्रव्य की सट्टा माँग ब्याज की दर में कमी होने के साथ अधिक ब्याज-सापेक्ष होती जाती है तथा ब्याज की दर में किसी दिये हुये अनुपात में परिवर्तन होने के हेतु इसमें अधिक अनुपात में परिवर्तन होते है। उदाहरणार्थ, Or_1 ब्याज की दर पर द्रव्य की कुल सट्टा माँग केवल OM_2 है। परन्तु ब्याज की दर में कमी होने पर यह माँग अधिक हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब ब्याज की दर Or_1 से गिर कर Or_2 हो जाती है तो द्रव्य की सट्टा माँग OM_2 से बढ़कर OM'_2 हो जाती है—अर्थात् ब्याज की दर मे r_1 r_2 प्रतिशत की कमी होने के हेतु

द्रव्य की सट्टा माँग में $M'_2 \ M''_2$ मात्रा की वृद्धि हो जाती है। परन्तु Or_3 ब्याज की दर के समक्ष विचित्र स्थिति विद्यमान हो जाती है तथा ब्याज की इस निम्नतम दर पर द्रव्य की सट्टा माँग असीमित हो जाती है, अर्थात् नकदी अधिमान वक्र पूर्णतया ब्याजसापेक्ष हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि ब्याज की दर के गिरने की निम्नतम सीमा प्राप्त हो गई है तथा ब्याज की दर में अब और अधिक कमी करना असम्भव है क्योंकि Or_3 ब्याज की दर पर धनिकों द्वारा द्रव्य की माँग पूर्णतया असीमित हो जाती है तथा ब्याज की इस दर पर वे द्रव्य तथा हुण्डियों को समान विचारने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, Or_3 धनात्मक ब्याज की दर पर धनी व्यक्ति अपने धन को हुण्डियों में संचित न रखकर इसे नकदी में संचित रखना पसन्द करते हैं। चित्र में Or_3 धनात्मक ब्याज की दर के समक्ष नकदी अधिमान वक्र $M_2 = L_2\,(r)$ पर A_3 बिन्दु पर तथा इसके पश्चात 'नकदी जाल' (liquidity trap) की घटना विद्यमान हो जाती है।

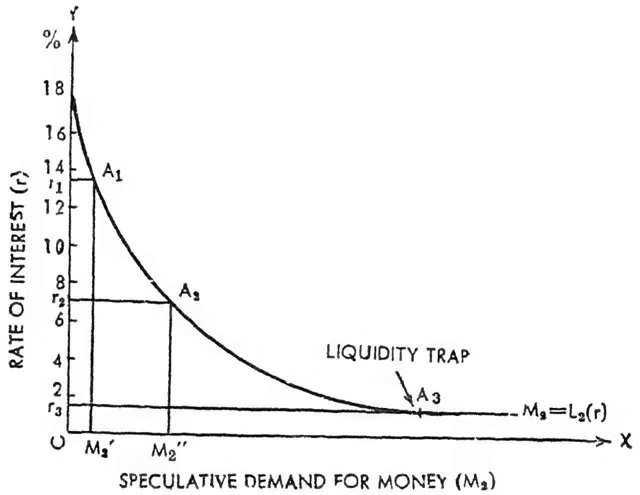

चित्र २०·५

नकदी-जाल की घटना का सम्बन्ध नकदी अधिमान वक्र के ऋणात्मक ढाल से न हो कर इसके उस भाग से है जहाँ यह वक्र पूर्णतया समतल हो जाता है, अर्थात् ब्याज की उस दर से है जिस पर द्रव्य की माँग असीमित हो जाती है। दूसरे शब्दों में, नकदी जाल की घटना से यह ज्ञात होता है कि नकदी अधिमान वक्र का ढाल ब्याज की निम्नतम धनात्मक दर पर शून्य को प्राप्त हो जाना चाहिये। नकदी जाल की घटना ऋणात्मक ढालू नकदी अधिमान वक्र के उस भाग से सम्बद्ध है जो पूर्णतया ब्याजसापेक्ष होता है। A_3 बिन्दु के पश्चात $M_2 = L_2\,(r)$ नकदी अधिमान वक्र और अधिक ढालू नहीं है। A_3 बिन्दु पर तथा इस बिन्दु के पश्चात इस वक्र का ढाल शून्य को प्राप्त हो जाता है तथा Or_3 निम्नतम ब्याज की दर पर, जो A_3 बिन्दु के समक्ष है, ब्याज की दर पूर्णतया स्थिर हो जाती है तथा इसमें और अधिक गिरावट की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।

नकदी-जाल की घटना हमें यह चेतावनी देती है कि मौद्रिक नीति की निश्चित सीमाएँ निर्धारित हैं तथा मुद्रा अधिकारी का कुछ बातों पर कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता है। यह घटना हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करती है कि द्रव्य ब्याज दर कभी भी ऋणात्मक नहीं होगी तथा यह उस दर से कम नहीं होगी जो नकदी-जाल द्वारा निर्धारित

होती है। ब्याज की इस दर पर मुद्रा अधिकारी का शक्तिपात हो जाता है क्योंकि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करने के परिणामस्वरूप ब्याज की दर में इस निम्नतम सीमावर्ती ब्याज दर (Or_3) के पश्चात कमी संभव नही होगी। मौद्रिक नीति के महत्वपूर्ण निर्णयों की दृष्टि से नकदी-जाल की घटना यह चेतावनी देती है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके मुद्रा अधिकारी केवल एक निश्चित सीमा तक ही ब्याज की दर में कमी उत्पन्न कर सकता है तथा ब्याज की दर में सीमित मात्रा में कमी करके अर्थव्यवस्था में निवेश की मात्रा, आय तथा रोजगार के स्तर में केवल सीमित मात्रा में ही वृद्धि कर सकता है। मुद्रा अधिकारी की शक्ति की यह सीमा ब्याज की उस निम्नतम दर द्वारा निधारित होती है जो स्वयं नकदी-जाल द्वारा निर्धारित होती है। इस घटना से यह ज्ञात होता है कि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था को मन्दी से मुक्त कराने में मुद्रा अधिकारी की शक्ति सीमित होती है।

जैसा कि चित्र २०·५ मे स्पष्ट है ब्याज की ऊँची दर पर द्रव्य की सट्टा-माँग कम है तथा २५ प्रतिशत ब्याज की दर के समीप द्रव्य की सट्टा-माँग शून्य हो जाती है। ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम, ऊँची ब्याज की दर पर धन को नकदी में संचित रखने की विकल्प लागत (उस ब्याज आय के त्याग के रूप में जो धन को नकदी में संचित रखने के स्थान पर इस को हुण्डियों में संचित करने पर प्राप्त हो सकती थी) अधिक हो जाती है। दूसरे, वर्तमान ब्याज की दर जितनी अधिक ऊँची होती है भविष्य में इसमें और अधिक वृद्धि होने की सम्भावना उतनी ही अधिक कम होती है तथा ब्याज की उस दर के पश्चात जिसे धनी लोग अधिकतम विचारते है भविष्य में वृद्धि होने की सम्भावना शून्य हो जाती है। इसके विपरीत नीची ब्याज की दर पर प्रथम तो धन को नकदी के रूप में संचित रखने की विकल्प लागत बहुत कम होती है तथा दूसरे भविष्य में ब्याज की दर में वृद्धि होने की सम्भावना अधिक होती है इस कारण ब्याज की दर में अनुकूल परिवर्तनों द्वारा लाभ प्राप्त करने की आशा अधिक होती है। परिणामस्वरूप ऊँची ब्याज की दर पर सट्टा नकदी अधिमान (माँग) अधिक होता है।

इस सम्बन्ध में एक न्य प्रश्न पर भी ध्यान देना आवश्यक है। बहुधा यह कहा जाता है कि यदि धनी लोग भविष्य में ब्याज की दर वृद्धि होने की आशा करते हैं तो वे अपने धन को बां तथा ऋणपत्रों में संचित न करके इसे नकदी के रूप मे निसंचित रखेंगे। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि धनिकों को अपने धन को ब्याज आय प्रदान करने वाले ऋणपत्रों के रूप में संचित न रखने के स्थान पर इसे नकदी के रूप में संचित रखने के लिए केवल भविष्य में ब्याज की दर में वृद्धि होने की आशंका पर्याप्त नहीं है। ब्याज की दर में भविष्य में वृद्धि होने की आशंसा के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि ब्याज की दर में सीमावर्ती (critical) स्तर से अधिक वृद्धि होनी चाहिये। ब्याज की इस सीमावर्ती दर को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिये कि बेमियादी बांड, जिसको कोन्सोल (Consol) कहते हैं तथा जिस भुनाने की मुद्दत नहीं होती है, पर १० प्रतिशत ब्याज प्राप्त होता है तथा इसका वर्तमान अंकित मूल्य १०० रुपये है। इसके अतिरिक्त यह भी मान लीजिये कि आजसे एक वर्ष पश्चात ब्याज की दर ११ प्रतिशत हो जाने की आशंसा की जाती । ऐसी स्थिति में ब्याज की दर में एक प्रतिशत की वृद्धि हो जाने की आशंसा का एक सामान्य धनी व्यक्ति के निवेश निर्णय पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या सामान्य धनी आज बांड न खरीद कर अपने धन को एक वर्ष पश्चात, जब ब्याज की दर ११ प्रतिशत हो जावेगी तथा उसको अधिक ब्याज प्राप्त हो सकेगा, बांड खरीदने के हेतु नकदी के रूप में निसंचित रखेगा? इस सम्बन्ध में निर्ण लेते समय वह दो बातों पर ध्यान देगा। प्रथम, यदि एक वर्ष पश्चात बांड खरीदने के बजाय वह आज बांड खरीदता है तो एक वर्ष

पश्चात उसको दस रुपये ब्याज आय के रूप में प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु इसके दूसरी ओर एक वर्ष पश्चात् ब्याज की दर ११ प्रतिशत होने के कारण वह अपने इस बांड को १०० रु०–इस मूल्य पर उसने बांड को एक वर्ष पूर्व खरीदा था–में नहीं बेच सकेगा। यह बांड उस मूल्य पर बिक सकेगा जिसे ११ प्रतिशत ब्याज की दर पर उधार देकर १० रुपये ब्याज आय प्राप्त की जा सकती, अर्थात यह $\frac{१०}{११}$ × १००=९०·९ रुपये पर बिक सकेगा। इस प्रकार यह धनी एक ओर तो आज बांड खरीदकर एक वर्ष पश्चात बांड बेचकर ९·१ रुपये की हानि सहन करता है तथा दूसरी ओर १० रुपये की ब्याज आय प्राप्त करता है। इस आय की उसे उस समय हानि हुई होती जब उसने बांड खरीदने के स्थान पर धन को नकदी में निसंचित रखने के पक्ष में निर्णय किया होता। यद्यपि यह धनी बांड के बिक्री मूल्य पर ९·१ रुपये की हानि सहन करता है परन्तु इसी बांड को खरीदने के कारण वह १० रुपये की ब्याज आय प्राप्त करता है। लाभ हानि की तुलना में अधिक होने के कारण ब्याज की दर में भविष्य में एक प्रतिशत की वृद्धि होने की आशंसा होने के परिणामस्वरूप उसके आज बांड खरीदने के निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

परन्तु यदि एक वर्ष पश्चात् ब्याज की दर के ११·१ प्रतिशत होने की आशंसा है तो बांड का बिक्री मूल्य केवल ९० रुपये होगा। ऐसी स्थिति में सामान्य धनी को समान हानि तथा लाभ होता है। इस कारण ११·१ ब्याज की सीमावर्ती दर है—यह वह दर है जिस पर धनी अपने धन को नकदी अथवा बांड के रूप में संचित रखने के मध्य अनाधिमानात्मक स्थिति में होता है। केवल उसी स्थिति में जब एक वर्ष पश्चात ब्याज की दर के ११·१ प्रतिशत से अधिक होने की आशंसा की जावेगी सामान्य धनी वर्तमान में बांड खरीदने के स्थान पर अपने धन को नकदी में संचित रखना पसन्द करेगा।

मुद्रा की कुल माँग

मुद्रा की कुल माँग मुद्रा की व्यावसायिक, एहतियात्मक तथा सट्टा माँगों का योग होती है। मुद्रा की कुल माँग को M द्वारा व्यक्त करने पर मुद्रा की कुल माँग को निम्नलिखित समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$M = M_1 + M_2$$
$$= L_2(Y) + L(r)$$

$M_1 = L_1(Y)$ तथा $M_2 = L_2(r)$ वक्रों को एक साथ जोड़ने पर हम $M = L(Y, r)$ वक्र को प्राप्त कर सकते हैं जो भिन्न द्रव्य आयों तथा भिन्न ब्याज की दरों पर मुद्रा अथवा नकदी की कुल माँग को व्यक्त करेगा। मुद्रा के कुल माँग वक्र को प्राप्त करने के हेतु चित्र २०·३ तथा चित्र २०·५ को एक साथ मिलाकर चित्र २०·६ को प्राप्त किया जा सकता है।

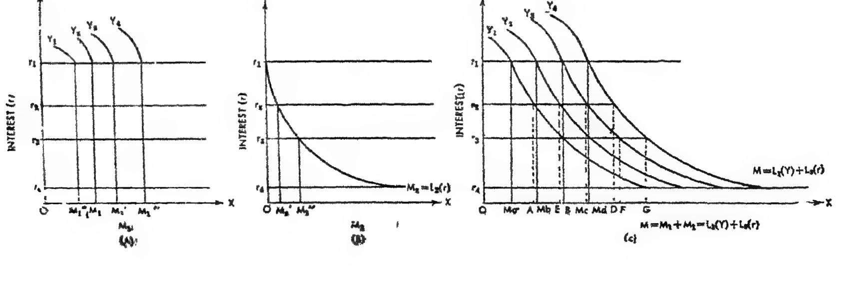

चित्र २०·६ द्रव्य की व्यावसायिक, एहतियात्मक तथा सट्टा माँगों के एकीकरण को व्यक्त करता है। इस चित्र के तीन भाग है। चित्र (A) भिन्न द्रव्य आयों तथा ब्याज की भिन्न दरों के समक्ष द्रव्य की व्यावसायिक तथा एहतियात्मक माँग (M_1) को व्यक्त करता । चित्र (B) द्रव्य की सट्टा-माँग (M_2) को प्रदर्शित करता है। चित्र (C) चित्र (A) तथा चित्र (B) के एकीकरण द्वारा प्राप्त हुआ है। चित्र से ज्ञात होता है कि Or_1; Or_2; Or_3 तथा Or_4 ब्याज की दरों था Y_1; Y_2; Y_3 तथा Y_4 द्रव्य आयों के समक्ष द्रव्य की व्यावसायिक माँग क्रमश: OM_1; OM'_1; OM_1'' तथा OM_1''' है। उपरोक्त ब्याज की दरों पर द्रव्य की सट्टा-माँग क्रमश: शून्य; OM_2; OM'_2 तथा अनन्त है। परिणामस्वरूप उपरोक्त द्रव्य आयों तथा ब्याज की दरों पर द्रव्य की कुल माँग निम्नलिखित तालिका द्वारा व्यक्त की जा सकती है।

आय / ब्याज	Y_1	Y_2	Y_3	Y_4
Or_1	OM	OA	OR	OE
Or_2	ON	OR	OC	OF
Or_3	OR	OB	OD	OG
Or_4	∞	∞	∞	∞

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि Or_4 ब्याज की दर पर अर्थव्यवस्था में नकदी-जाल की घटना विद्यमान है क्योंकि इस ब्याज की दर पर नकदी की माँग अनन्त हो जाने के कारण मुद्रा अधिकारी के लिये संचलन मे मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करके ब्याज की दर में और अधिक कमी करना असंभव है। इस ब्याज की दर पर नकदी अधिमान वक्र पूर्णतया ब्याज सापेक्ष हो जाता है। इस सम्बन्ध में कीन्स की विचारधारा प्राचीन विचारधारा से टक्कर खाती है। जबकि प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह मत था कि ब्याज की दर में बचत तथा निवेश की स्थिति अनुसार किसी भी मात्रा में गिरावट होना सम्भव था तथा यह शून्य भी हो सकती थी कीन्स का कहना था कि ब्याज की दर में गिरावट होने की एक निश्चित निम्नतम सीमा थी तथा यह २ प्रतिशत के लगभग से कम नहीं हो सकती थी।

अध्ययन सूची

1. K. K. Kurihara : An Introduction to Keynesian Dynamics, Chapter 4.
2. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy, Chapter 4.
3. Dudley Dillard : The Economics of John Maynard Keynes, Chapter 8.
4. Gerald Sirkin : Introduction to Macroeconomic Theory, Chapter 7.
5. J. M. Keynes : General Theory of Employment Interest and Money, Chapters 13 and 15.
6. A. H. Hansen : A Guide to Keynes, Chapter 6.

प्रश्न

1. Define liquidity preference. What are its determinants ? Trace its relationship with the rate of interest.
2. How do changes in the quantity of money affect liquidity preference ? Is there any limit beyond which changes in the quantity of money will exercise no influence upon the liquidity preference ?
3. Define "liquidity trap" and discuss its implications for the monetary policy.

२१

ब्याज
(Interest)

ब्याज को सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र तथा व्यावसायिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्याज का महत्व इस सत्य से स्पष्ट है कि इस की चर्चा बहुत प्राचीन समय से होती रही है। प्राचीन प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लैटो, अरस्तू तथा सिसरो ने उधारदाताओं द्वारा ऋण पर ब्याज लेने की अवांछनीयता के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किये थे। इन विचारकों के मतानुसार द्रव्य स्वयं अनुत्पादक था तथा ऋण पर ब्याज प्राप्त करना ऋणियों का शोषण करना था। *Laws* शीर्षक नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में प्लैटो ने ऋणों पर ब्याज लेने को मना लिखा था। अरस्तू ने भी *Politics* नामक अपनी पुस्तक में ब्याज का विरोध करते हुये इसको अप्राकृतिक बताकर इसके प्रति घृणा व्यक्त की थी। प्राचीन हिन्दू समाज में भी ब्याज के विषय पर कौटिल्य के विचार यूनानी विचारकों के विचारों के समान थे तथा हिन्दू विधान में अत्यधिक ब्याज की दर पर दामदुपत के नियमानुसार प्रतिबन्ध लगाया गया था क्योंकि इस नियम के अनुसार ब्याज की राशि मूलधन की राशि से अधिक नहीं हो सकती थी। मध्यकालीन युग में गिरजे के प्रभाव द्वारा प्रेरित चर्च प्रधानतावादी विचारधारा में भी ब्याज का कड़ा विरोध किया गया था तथा ईसाई धर्म के अनुयायियों के लिये ब्याज आय को स्वीकार करना पाप था।

एडम स्मिथ के समय से लेकर वर्तमान समय तक ब्याज के विषय से सम्बद्ध प्रचुर मात्रा में आर्थिक साहित्य उपलब्ध है। वर्तमान समय में ब्याज का महत्व इतना अधिक है कि इस की सविस्तार विवेचना करना वांछनीय है। ब्याज दर द्वारा वर्तमान व्यावसायिक तथा औद्योगिक विकास का नियमन किया जाता है तथा केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर में उपयुक्त परिवर्तनों द्वारा अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता प्राप्त करती है। परन्तु यह होते हुये भी दुर्भाग्यवश "काफी दीर्घ समय तक ब्याज अर्थशास्त्र विज्ञान में कमजोर स्थल रहा है तथा ब्याज की दर की विवेचना तथा इस के निर्धारण के सम्बन्ध में आज भी अर्थशास्त्रियों के मध्य सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के अन्य भागों की अपेक्षाकृत अधिक मतभेद है।"[1]

---

1. Gottfried von Haberler : *Prosperity and Depression* (1914), p. 195.

परिभाषा

साधारण भाषा में ब्याज का अर्थ उस द्रव्य आय से है जो उधारदाता को उधारकर्ता द्वारा उधार द्रव्य पूँजी का उपभोग करने के कारण प्राप्त होती है। सैलिगमैन के विचारानुसार "ब्याज पूँजी निधि द्वारा प्राप्त आय है।" कार्वर की परिभाषा के अनुसार "ब्याज वह आय है जो पूँजी के स्वामी को प्राप्त होती है।"[2] विक्सेल के विचारानुसार "ब्याज वह भुगतान है जो पूँजी की उत्पादकता के कारण पूँजी के उधारकर्ता द्वारा उधारदाता को उसके त्याग के प्रतिफल के रूप में दिया जाता है।"[3] मार्शल के अनुसार ब्याज "वह भुगतान है जो उधारकर्ता द्वारा किसी दी हुई समय अवधि के लिये ऋण अथवा पूँजी का उपयोग करने के परिणामस्वरूप उधारदाता को किया जाता है।"[4] कीन्स के विचारानुसार 'ब्याज मौद्रिक घटना है तथा किसी दिये हुये समय में ब्याज की दर नकदी अधिमान को त्याग करने का प्रतिफल है। यह वह मूल्य है जो धन को नकदी में निसंचित रखने की इच्छा (द्रव्य की माँग अथवा नकदी अधिमान) तथा द्रव्य की उपलब्ध पूर्ति के मध्य सन्तुलन स्थापित करता है। यह द्रव्य के स्वामियों का द्रव्य के प्रति अधिमान की माप करता है।"[5]

कुल तथा शुद्ध ब्याज

अर्थशास्त्री कुल (gross) ब्याज तथा शुद्ध (net) ब्याज में भेद करते हैं। यह कहा जाता है कि पूँजी के स्वामी अथवा उधारदाता द्वारा प्राप्त कुल आय कुल ब्याज होती है। दूसरे शब्दों में, कुल ब्याज वह आय है जो उधारदाता को उधारकर्ता से अपनी पूँजी को उधार देने के कारण प्राप्त होती है। इस आय में पूँजी के उपयोग के भुगतान के अतिरिक्त उधारदाता द्वारा उधार देने की क्रिया से सम्बन्धित अन्य संशयों तथा असुविधाओं को सहन करने का प्रतिफल भी शामिल होता है। कुल ब्याज में पूँजी को उधार देने का भुगतान, हानि होने की जोखिम, जो व्यक्तिगत जोखिम अथवा व्यावसायिक जोखिम से सम्बद्ध होती है, का भुगतान तथा निवेश करने से सम्बद्ध असुविधा का भुगतान शामिल होते हैं। शुद्ध ब्याज पूँजी को उधार देने का वह भुगतान है जब उधारदाता को ऋण से सम्बद्ध अन्य किसी जोखिम तथा असुविधा को सहन नहीं करना होता है। मार्शल के विचारानुसार शुद्ध ब्याज केवल प्रतीक्षा करने का प्रतिफल होता है जबकि कुल ब्याज में प्रतीक्षा के प्रतिफल के अतिरिक्त अन्य भुगतान भी सम्मिलित होते हैं। इन अन्य भुगतानों में जोखिम का बीमा तथा प्रबन्धन की आय शामिल है। जोखिम का बीमा दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम, व्यक्तिगत जोखिम है जो उधारकर्ता द्वारा बेईमानी करने के कारण उत्पन्न होती है तथा दूसरी व्यावसायिक जोखिम है जो उस व्यवसाय में उत्पन्न होने वाले उच्चावचनों से सम्बन्धित होती है जिसमें उधार पूँजी का निवेश किया जाता है।

क्या ब्याज की दर ऋणात्मक हो सकती है ?

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार द्रव्य ब्याज का ऋणात्मक होना सम्भव था क्योंकि उनके अनुसार यह वह मूल्य था जो पूँजी की पूर्ति (बचत) तथा इसकी माँग (निवेश) द्वारा निर्धारित होता था। यदि ब्याज की धनात्मक दर पर पूँजी की पूर्ति (बचत) पूँजी की माँग की अपेक्षाकृत अधिक थी तो ब्याज की दर में कमी होकर यह शून्य अथवा ऋणात्मक हो सकती थी। ब्याज की दर में उस समय तक कमी होती रहेगी जब तक यह उस विशेष दर को प्राप्त नहीं

2. T.N. Carver : *Principles of Political Economy*, p. 418.
3. Knut Wicksell : *Lectures on Political Economy*.
4. A. Marshall : *Principles* (Reprint, 8th ed.), pp. 61 and 534.
5. J. M. Keynes : *General Theory*, p. 167.

हो जाती है जिसके समक्ष अर्थव्यवस्था में निवेश तथा बचत में सन्तुलन स्थापित होता है। परन्तु प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार निवेश माँग ब्याजसापेक्ष होने के कारण ऋणात्मक ब्याज दर का केवल सैद्धान्तिक महत्व था। वास्तविक संसार में निवेश (माँग) तथा बचत (पूर्ति) वक्रों का ढाल इस प्रकार का होता है कि धनात्मक ब्याज की दर पर निवेश तथा बचत के मध्य सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

१८८६ ई० में प्रकाशित अपने *Some Social Aspects of Banking* शीर्षक लेख में फोक्सवेल ने उस स्थिति की कल्पना की थी जिसमें द्रव्य ब्याज की दर ऋणात्मक हो सकती थी। इर्विंग फिशर ने भी अपनी *The Theory of Interest* शीर्षक पुस्तक में ब्याज की दर शून्य अथवा ऋणात्मक होने की सम्भावना के पक्ष में लिखा है। मार्शल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Principles* में ब्याज की दर के ऋणात्मक होने की सम्भावना पर प्रकाश डाला है। जब मनुष्य ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जावेगा कि प्रतीक्षा करने में त्याग तथा असुविधा का अनुभव करने के स्थान पर वह आनन्द का अनुभव करने लगेगा तब ब्याज की दर ऋणात्मक होगी तथा बचत-कर्ता को प्रतीक्षा का प्रतिफल प्राप्त होने के स्थान पर उसको इसका दण्ड देना होगा।[6] जॉनस्टवार्ट मिल का भी यह विचार था कि आर्थिक विकास के हेतु पूँजी संचय के परिणामस्वरूप ब्याज की दर में भारी कमी हो सकती थी। कीन्स भी ब्याज की दर के ऋणात्मक होने की सैद्धान्तिक सम्भावना से इन्कार नहीं करते थे यद्यपि उनका यह विश्वास था कि कुछ संस्थानिक कारणों से ब्याज की दर ऋणात्मक नहीं हो सकती थी।[7] वास्तविक संसार में ऐसी स्थिति की कल्पना करना जिसमें ब्याज की दर ऋणात्मक होगी एक मिथ्या मात्र है। जब तक पूँजी का उत्पादक उपयोग हो सकता है तब ब्याज की दर धनात्मक रहेगी तथा आर्थिक विकास के साथ पूँजी की उत्पादकता में भी वृद्धि होगी। ब्याज की दर ऋणात्मक होने का वास्तविक संसार में कोई सम्भावना नहीं है। जे० के० मेहता ने ऋणात्मक ब्याज की दर की आलोचना करते हुए लिखा है कि "ऋणात्मक ब्याज की दर विरोधाभास का एक विचित्र उदाहरण है। ब्याज पूँजी की आय है तथा उत्पादन का साधन होने के कारण पूँजी उत्पादक होती है। इस कारण ब्याज की दर सदा धनात्मक होगी।"[8] जनसंख्या में वृद्धि होने तथा उपभोक्ताओं की अभिरुचियों का विकास होने के हेतु उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने के कारण एक ओर तो उत्पादन साधनों की माँग में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप पूँजी की माँग में वृद्धि होगी तथा दूसरी ओर यदि ब्याज की दर शून्य अथवा ऋणात्मक होगी तो बचत अथवा पूँजी की पूर्ति में कमी हो जावेगी। इस कारण ब्याज की दर शून्य अथवा ऋणात्मक नहीं होगी।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि ब्याज की द्रव्य दर कभी ऋणात्मक नहीं होगी परन्तु ब्याज की वास्तविक दर का ऋणात्मक होना सम्भव है। सामान्य मूल्य वृद्धि के समय में ब्याज की द्रव्य दर धनात्मक होते हुये भी ब्याज की वास्तविक दर ऋणात्मक हो जाती है। उदाहरणार्थ, मूल्य स्तर में १० प्रतिशत की वृद्धि होने की स्थिति में ब्याज की ५ प्रतिशत धनात्मक द्रव्य दर ब्याज की ४$\frac{६}{७}$ प्रतिशत ऋणात्मक वास्तविक दर से सम्बन्धित होगी।

प्राकृतिक तथा बाजार ब्याज दर

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के मतानुसार ब्याज की प्राकृतिक दर वह दर थी जिसके समक्ष बचत की माँग (अथवा निवेश) तथा बचत की पूर्ति संतुलन में थीं। इन अर्थशास्त्रियों का विश्वास

---

6. A. Marshall : *op cit*, pp. 192-93.
7. J.M. Keynes : *op. cit.*, *p.* 218.
8. J. K. Mehta : *Studies in Advanced Economic Theory*, p. 274.

था कि बाजार ब्याज की दर सदा प्राकृतिक अथवा सन्तुलन ब्याज की दर के समान होगी। बाजार तथा प्राकृतिक ब्याज की दरों के मध्य अनुरूपता स्थापित होने के पक्ष में परम्परावादी अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत तर्क इस प्रकार थे। यदि ब्याज की बाजार दर ब्याज की प्राकृतिक दर से अधिक होगी तो ब्याज की इस बाजार दर पर बचत की पूर्ति बचत की माँग की तुलना में अधिक होगी। परिणामस्वरूप बचत की पूर्ति इसकी माँग से अधिक होने के हेतु बाजार ब्याज दर कम होकर प्राकृतिक ब्याज दर के समान हो जावेगी। यदि बाजार ब्याज दर वास्तविक ब्याज दर से कम होगी तो बचत की माँग बचत की पूर्ति की तुलना में अधिक होगी तथा बाजार ब्याज दर बढ़कर प्राकृतिक ब्याज दर के समान हो जावेगी।

परम्परावादी सिद्धान्त, जिसे १९वीं शताब्दी में सर्वमान्यता प्राप्त थी, के अनुसार दीर्घावधि में बाजार ब्याज दर के प्राकृतिक ब्याज दर से भिन्न नहीं हो सकती थी। यह विश्लेषण उस विचारधारा का परिणाम था जिसके अनुसार द्रव्य का अर्थव्यवस्था में केवल एक निष्क्रिय महत्व था। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास था कि अर्थव्यवस्था में द्रव्य का प्रवेश होने के हेतु उत्पादन की वास्तविक प्रक्रियाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है। द्रव्य के प्रवेश के हेतु केवल वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता में सुधार होता है। इसके अतिरिक्त इसका अर्थव्यवस्था पर अपना अलग कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार बचत ऋण निधि की पूर्ति का स्रोत थी। परम्परावादी अर्थशास्त्री इस सत्य को भूल गये थे कि बैंकों द्वारा निर्मित साख-मुद्रा ऋण निधि की पूर्ति में वृद्धि करके बाजार ब्याज की दर में कमी करके अर्थव्यवस्था में उत्पादन की वास्तविक प्रक्रियाओं पर अपना प्रभाव डाल सकती थी। प्राचीन सिद्धान्त में मुद्रा विनिमय माध्यम का साधन मात्र थी तथा मुद्रा के मूल्य संचय कार्य को महत्वपूर्ण नहीं विचारा जाता था। परम्परावादी अर्थशास्त्री इस सत्य को भूल गये थे कि मुद्रा का महत्व वर्तमान तथा भविष्य के मध्य शृंखला का महत्वपूर्ण कार्य करने में निहित था। प्राचीन विचारधारा मौद्रिक समस्याओं को सही प्रकार से समझने तथा आर्थिक सिद्धान्त के मौद्रिक व अमौद्रिक अंगों के मध्य समन्वय स्थापित करने में असफल सिद्ध हुई थी। नट विक्सैल ने इस विचारधारा की आलोचना की थी। उन्होंने यह व्यक्त किया था कि साख-मुद्रा ऋण निधि पर अपना प्रभाव डालकर बाजार ब्याज की दर में कमी अथवा वृद्धि उत्पन्न करके इसको प्राकृतिक ब्याज की दर से भिन्न कर सकती थी। १८९८ ई० में प्रकाशित अपनी *Interest and Prices* शीर्षक पुस्तक में विक्सैल ने उन भिन्नताओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया था जो बाजार ब्याज की दर तथा प्राकृतिक ब्याज की दर के मध्य उत्पन्न हो सकती थीं।

विक्सैल के विचारानुसार "प्राकृतिक अथवा वास्तविक ब्याज की दर वह दर है जिस पर (१) ऋण पूँजी की माँग तथा पूर्ति (बचत) समान होती हैं; (२) जो नई निर्मित पूँजी की आशंसित आय के समान होती है; (३) जिस पर सामान्य कीमत स्तर स्थिर रहता है; तथा (४) जो उस समय स्थापित होती है जब वास्तविक पूँजी प्राकृतिक रूप में ऋण पर दी जाती है।"[9]

जबकि परम्परावादी अर्थशास्त्री प्राकृतिक ब्याज दर तथा बाजार ब्याज दर के मध्य विचलन को प्राकृतिक घटना विचारते थे विक्सैल का कहना था कि ब्याज की इन दरों के मध्य विद्यमान विचलन प्राकृतिक घटना नहीं थी। यह विचलन अर्थव्यवस्था में बैंकों द्वारा साख-मुद्रा

---

9. Knut Wicksell : *Interest and Prices* and *Lectures on Political Economy*, Vol. II., Money.

का निर्माण करने अथवा इसे नष्ट करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। जब बैंक साख-मुद्रा का निर्माण करती है तो अर्थव्यवस्था में निवेश करने के लिए उपलब्ध पूँजी की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप बाजार ब्याज की दर प्राकृतिक ब्याज की दर की तुलना में कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था में कुल निवेश माँग कुल बचत पूर्ति की तुलना में अधिक हो जाती है तथा से के बाजार नियम का कार्य अस्तव्यस्त हो जाता है। कुल निवेश माँग का वित्तिकरण साख-मुद्रा द्वारा किये जाने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में समस्त माँग समस्त पूर्ति की अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है तथा कीमतों में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत बैंकों द्वारा साख-मुद्रा में कमी करने के हेतु बाजार ब्याज की दर प्राकृतिक ब्याज की दर की तुलना में अधिक हो जाती है। ऐसा होने से निवेश माँग बचत पूर्ति की तुलना में कम हो जाती है। परिणामस्वरूप समस्त माँग समस्त पूर्ति की तुलना में कम हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था में कीमतों में कमी की घटना उत्पन्न हो जाती है।

यह स्पष्ट है कि द्रव्यप्रेरित अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तन बचत तथा निवेश के मध्य परस्पर सम्बन्ध पर प्रभाव डालकर आर्थिक प्रक्रिया पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालेंगे। से के बाजार नियम के कार्य में बाधक बन कर मुद्रा स्वयं अर्थव्यवस्था में कीमतों में वृद्धि अथवा गिरावट की समस्या को उत्पन्न करेगी। से का बाजार नियम केवल उस अवस्था में लागू हो सकता है जब बैंकिंग प्रणाली प्राकृतिक ब्याज की दर तथा बाजार ब्याज की दर की समानता को भंग न करे। ब्याज की इन दोनों दरों की समानता केवल उस समय सम्भव है जब कीमतों में उच्चावचन उत्पन्न न हों। कीमत स्थिरता बाजार ब्याज की दर तथा प्राकृतिक ब्याज की दर के मध्य समानता स्थापित होने का द्योतक थी। इस महान सत्य को कि ब्याज की घटना को केवल अमौद्रिक व्याख्या द्वारा सही प्रकार से नहीं समझाया जा सकता था, बतलाने का श्रेय विक्सैल को प्राप्त है। पूँजी की पूर्ति पर मौद्रिक शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है तथा ब्याज के किसी भी सिद्धान्त को ब्याज की घटना का विश्लेषण मौद्रिक तथा अमौद्रिक कारणों की व्याख्या द्वारा करने के योग्य होना चाहिए।

फ्रान्सीसी अर्थशास्त्री जे० बी० से ने ब्याज की व्याख्या पूँजी की उत्पादकता के रूप में की थी। माँग की शक्ति की ओर से उधारकर्ता ब्याज का भुगतान उस अतिरिक्त उत्पादन द्वारा प्राप्त आय में से करते हैं जो उनको पूँजी का निवेश करने से प्राप्त होती है। तत्पश्चात् पूँजी माँग के सिद्धान्त की व्याख्या पूँजी के सीमान्त उत्पादकता के रूप में की गई थी। जे० बी० क्लार्क ने १८९९ ई० में प्रकाशित अपनी *The Distribution of Wealth* शीर्षक पुस्तक में सीमान्त उत्पादकता के विचार का प्रतिपादन किया था। क्लार्क के पश्चात् ब्याज के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त में अनेक सुधार किये गये तथा पूँजी की कुल उत्पादकता तथा पूँजी की शुद्ध उत्पादकता के मध्य भेद किया गया। उत्पादन प्रक्रिया में पूँजी सज्जा कुछ समय के पश्चात् घिसावट तथा टूट फूट होने के परिणामस्वरूप नष्ट हो जाती है तथा पूँजी की शुद्ध उत्पादकता को ज्ञात करने के लिए पूँजी की कुल उत्पादकता में से पूँजी के मूल्यह्रास को घटा देना चाहिए। ब्याज इस प्रकार प्राप्त पूँजी की शुद्ध सीमान्त उत्पादकता के समान होता है। ब्याज का वर्तमान सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पूँजी की भौतिक सीमान्त उत्पादकता के स्थान पर इस भौतिक सीमान्त उत्पादकता के द्रव्य मूल्य पर ध्यान केन्द्रित करता है।

पूँजी की पूर्ति पर आधारित ब्याज के अमौद्रिक सिद्धान्तों की व्याख्या समय-अधिमान के रूप में की गई थी। जो व्यक्ति पूँजी की पूर्ति उपलब्ध करते थे वे वर्तमान उपभोग को भविष्य

उपभोग की तुलना में पसन्द करते थे। पूँजी को उधार देने के परिणामस्वरूप उधारदाताओं को वस्तुओं को वर्तमान में खरीदने के अपने अधिकार को भविष्य के लिए स्थगित करना पड़ता है। परन्तु ऐसा करने में उधारदाताओं को त्याग—प्रतीक्षा—का अनुभव करना पड़ता है। ब्याज इस प्रतीक्षा का प्रतिफल है। ब्याज के समय-अधिमान सिद्धान्त का प्रतिपादन कई नामों से किया गया था। सीनियर ने इसे उपभोग-स्थगन (abstinence) सिद्धान्त का नाम दिया था। उधार देने के लिए बचत करना अनिवार्य है तथा बचत करने में पूँजीपतियों को अपने वर्तमान उपभोग में उपभोग-स्थगन का अनुभव करना पड़ता है। ब्याज इस उपभोग-स्थगन की, जिसे बचतकर्ताओं को सहन करना पड़ता है, हानिपूर्ति है।

'उपभोग-स्थगन' शब्द की आलोचना की गई थी। इसके विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि बचत करने में धनिकों को उपभोग-स्थगन सहन नहीं करना पड़ता है तथा ये व्यक्ति अपने वर्तमान उपभोग में कमी किये बिना बचत करते हैं। यदि ब्याज उपभोग-स्थगन की हानिपूर्ति है तो धनिकों को अपनी पूँजी पर ब्याज प्राप्त नहीं होना चाहिए। मार्शल तथा गस्टव कैसल ने ब्याज की व्याख्या प्रतीक्षा के आधार पर की थी। मार्शल का विश्वास था कि सीनियर द्वारा प्रयोग में लाये गये 'उपभोग-स्थगन' शब्द के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त था क्योंकि उधारदाताओं को पूँजी को उधार देने में प्रतीक्षा करनी पड़ती है जिसके लिए उन को ब्याज प्राप्त होना चाहिए।

बॉम बावर्क ने ब्याज के अग्रधन (premium) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। बॉम बावर्क के अनुसार व्यक्ति वर्तमान वस्तुओं को भविष्य वस्तुओं की अपेक्षाकृत पसन्द करते है। वे ऐसा तीन कारणों से करते हैं। प्रथम, वर्तमान आवश्यकताएँ भविष्य आवश्यकताओं की तुलना में अधिक आवश्यक होती हैं। दूसरे, भविष्य अनिश्चित होता है तथा तीसरे, वर्तमान वस्तुएँ भविष्य वस्तुओं की तुलना मे तक़नीकी दृष्टि से उत्तम होती हैं। कुछ समय पश्चात् इर्विग फिशर ने बॉम बावर्क के विचारों मे सुधार किया। यद्यपि दोनों लेखकों के निष्कर्षो में काफी समानता है परन्तु इनके अन्तरों के प्रति उदासीन होना उचित नही है। फिशर के सिद्धान्त में माँग तथा पूर्ति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है जबकि बॉम बावर्क की व्याख्या संदेहजनक है। फिशर के अनुसार पूँजी की माँग इसके निवेश द्वारा प्राप्त होने वाली आय तथा इसको प्राप्त करने की लागत द्वारा निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों मे, कीन्स की भाषा मे पूँजी की माँग पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर द्वारा निर्धारित होती है। इसके दूसरी ओर पूँजी की पूर्ति समय-अधिमान द्वारा निर्धारित होती है।

ब्याज के सिद्धान्त

ब्याज दर निर्धारण के निम्नलिखित चार प्रमुख सिद्धान्त हैं।

(१) परम्परावादी (Classical) सिद्धान्त।

(२) ऋण निधि (Loanable funds) अथवा नव-परम्परावादी (Neoclassical) सिद्धान्त।

(३) कीन्सप्रेरित (Keynesian) अथवा नकदी-अधिमान सिद्धान्त।

(४) नवकीन्सप्रेरित (Neo-Keynesian) अथवा आधुनिक सिद्धान्त।

यद्यपि परम्परावादी सिद्धान्त की सही व्याख्या करना अति-कठिन है परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर बचत तथा निवेश के मध्य सन्तुलन स्थापित करने का प्रमुख साधन थी।

परम्परावादी सिद्धान्त में निवेश पूँजी की माँग का तथा बचत पूँजी की पूर्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा ब्याज वह कीमत है जिस पर निवेश साधनों की माँग तथा पूर्ति समान होती हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु की सन्तुलन कीमत उस बिन्दु द्वारा निर्धारित होती है जहाँ इस वस्तु की माँग इसकी पूर्ति के समान होती है, इसी प्रकार ब्याज की दर भी बाजार शक्तियों के क्रियाशील होने के परिणामस्वरूप उस स्तर पर निर्धारित होती है जहाँ उस ब्याज की दर पर कुल निवेश माँग उस ब्याज की दर पर उपलब्ध कुल बचत पूर्ति के समान होती है। ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार ब्याज वह मूल्य था जो बचत की माँग तथा पूर्ति के मध्य संतुलन स्थापित करता था। परम्परावादी अर्थशास्त्री बचत तथा निवेश को वास्तविक प्रवाहों के रूप मे विचारते थे। ब्याज का परम्परावादी सिद्धान्त ब्याज दर निर्धारण की घटना की वास्तविक अथवा अमौद्रिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

ब्याज का ऋण निधि अथवा परम्परावादी सिद्धान्त स्वीडन के अर्थशास्त्रियों[10] द्वारा अन्तर्युद्ध काल में परम्परावादी सिद्धान्त को कीन्सवादी आक्रमणों से सुरक्षित रखने के हेतु प्रतिपादित किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज के निर्धारण में मौद्रिक तथा अमौद्रिक दोनों कारणों का महत्व है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार ऋण निधि की पूर्ति समष्टि (composite) पूर्ति होती है तथा यह बचत तथा साख-मुद्रा द्वारा निर्धारित होती है। ऋण निधि की माँग भी निवेश माँग तथा नकदी माँग का योग होती है। ऋण निधि सिद्धान्त ने ब्याज के निर्धारण में पूर्ति की शक्ति की ओर से साख-मुद्रा तथा माँग की ओर से नकदी निसंचय के प्रभावों को समझा कर ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त की कमी को पूरा किया है।

कीन्स ने अपनी *General Theory of Employment Interest and Money* शीर्षक प्रसिद्ध पुस्तक में ब्याज के नकदी अधिमान सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कीन्स के तर्कानुसार ब्याज नकदी निसंचय न करने अथवा नकदी अधिमान को त्यागने का प्रतिफल है। नकदी अधिमान तथा ब्याज की दर एक दूसरे से विपरीत रूप में सम्बन्धित थे। ऊँची ब्याज की दर पर नकदी निसंचय अथवा नकदी अधिमान कम होगा तथा नीची ब्याज की दर पर नकदी निसंचय अथवा नकदी अधिमान अधिक होगा। कीन्स के अनुसार ब्याज बचत करने का प्रतिफल नहीं है क्योंकि यदि कोई बचतकर्ता अपनी बचत को नकदी मे संचित रखता है तो बचत करने से उसे ब्याज आय के रूप में प्रतिफल प्राप्त नही होता है। उसे उधारकर्ता से ब्याज उसी समय प्राप्त होता है जब वह अपनी इस बचत को ऋण के रूप में उधार देता है। किसी दी हुई समय अवधि मे ब्याज अर्थ-व्यवस्था में नकदी की कुल माँग (नकदी अधिमान) तथा द्रव्य की पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।

ब्याज का नवकीन्सप्रेरित अथवा आधुनिक सिद्धान्त एक प्रकार से ब्याज के परम्परावादी तथा कीन्सप्रेरित सिद्धान्तों को एक साथ मिलाने का परिणाम है। सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हिक्स द्वारा *Econometrica* नामक पत्रिका में १९३७ ई० में प्रकाशित एक लेख में जिसका शीर्षक "Mr. Keynes and the 'Classics': A Suggested Interpretation" था, किया गया था। यह सिद्धान्त इस सत्य पर बल देता है कि यद्यपि ब्याज के कीन्सप्रेरित तथा परम्परावादी सिद्धान्त पृथक रूप में अधूरे है तथा ब्याज के निर्धारण की पूर्ण व्याख्या करने में असमर्थ है परन्तु

10. नट विक्सैल के नायकत्व में स्वीडन के जिन अर्थशास्त्रियों ने ऋण निधि सिद्धान्त के विकास मे विशेष योगदान दिया है उन में बर्टिल ओहलिन; ऐरिक लिन्डल; गुनार मिर्डल तथा बैंट हैन्सन के नाम उल्लेखनीय हैं। अंग्रेज अर्थशास्त्री डेनिस एच० रोबर्टसन का भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा सुधार करने में विशेष महत्त्व है।

दोनों को एक साथ मिलाने से ब्याज निर्धारण के एक नये सिद्धान्त का जन्म हो जाता है जो ब्याज निर्धारण की पूर्ण व्याख्या करता है। ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त परम्परावादी तथा कीन्सप्रेरित सिद्धान्तों का मिश्रण है। ब्याज के भिन्न सिद्धान्तों की सक्षिप्त विवेचना करने के पश्चात् अब प्रत्येक सिद्धान्त की सविस्तार व्याख्या करना उपयुक्त है।

१. परम्परावादी सिद्धान्त

ब्याज का परम्परावादी सिद्धान्त बचत की माँग तथा पूर्ति का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर निवेश निधि की माँग तथा निवेश निधि की पूर्ति के मध्य सन्तुलन स्थापित करने का साधन है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार ब्याज की दर अर्थव्यवस्था में समस्त ऐच्छिक बचत तथा कुल निवेश के मध्य समानता स्थापित करती है। यदि किसी समय अर्थव्यवस्था में प्रचलित ब्याज की दर पर कुल बचत पूर्ति कुल निवेश माँग की तुलना में अधिक होती है तो ब्याज की दर में कमी हो जाती है। ब्याज की दर मे कमी हो जाने के हेतु अर्थव्यवस्था में बचतकर्ताओं को बचत करने के प्रतिफल के रूप में कम ब्याज-आय प्राप्त होने के कारण वे कम बचत करने लग जाते हैं। परिणामस्वरूप कुल बचत पूर्ति में कमी हो जाती है। दूसरी ओर ब्याज की दर में कमी हो जाने से उद्यमकर्ताओं के लिए ऋण प्राप्त करने की लागत में कमी हो जाती है। परिणामस्वरूप, अन्य बातें समान रहते हुए, निवेश में वृद्धि करना लाभप्रद हो जाता है। निवेश मे वृद्धि हो जाने से ऋण पूँजी की माँग मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार बचत पूर्ति में कमी तथा निवेश माँग में वृद्धि उत्पन्न करके ब्याज की दर में परिवर्तनों के माध्यम द्वारा बचत तथा निवेश के मध्य समानता स्थापित हो जाती है। ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार बचत तथा निवेश ब्याज की दर द्वारा निर्धारित होते है अर्थात् गणितीय भाषा में ये दोनों ब्याज की दर के फलन (functions) है। बचत ब्याज की दर का धनात्मक फलन है तथा निवेश ब्याज की दर का ऋणात्मक फलन है; अर्थात् $\frac{dS}{dr} > 0$ तथा $\frac{dI}{dr} < 0$। ब्याज, बचत तथा निवेश के मध्य यह सम्बन्ध चित्र २१·१ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

चित्र २१·१ में ब्याज की दर को Y-अक्ष तथा बचत व निवेश को X-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। चित्र में SY_1 वक्र बचत की उस मात्रा को, जो Y_1 आय द्वारा ब्याज की भिन्न दरों पर निवेश के लिये उपलब्ध होती है, व्यक्त करता है। ID_1 तथा ID_2 वक्र निवेश माँग को, जो भिन्न ब्याज की दरों पर की जाती है, व्यक्त करते हैं। बचत पूर्ति तथा निवेश माँग वक्रों की दी हुई स्थिति मे केवल एक सन्तुलन ब्याज दर होगी जो दीर्घावधि में विद्यमान होगी। ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त में ब्याज की दर का SY_1 वक्र तथा ID_1 वक्र के मध्य सन्तुलन स्थापित करने में

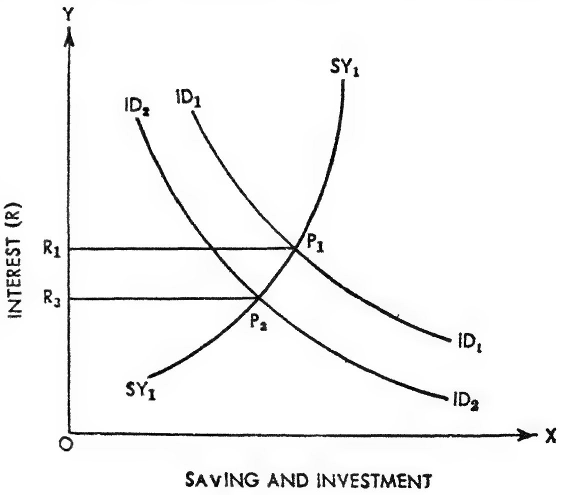

चित्र २१·१

सक्रिय महत्व है । दोनों वक्रों की स्थिति चित्र में व्यक्त किये गये SY_1 तथा ID_1 वक्रों के समान होने की दशा में ब्याज की दर Or_1 होगी क्योंकि इस ब्याज की दर के समक्ष निवेश तथा बचत परस्पर समान हैं । जब अर्थव्यवस्था में निवेश माँग घट जाती है, जैसा कि उपरोक्त चित्र में व्यक्त ID_2 निवेश माँग वक्र से स्पष्ट है, तब परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर Or_1 से घट कर Or_2 हो जावेगी ।

ब्याज की दर के परम्परावादी सिद्धान्त में सन्तुलन स्थापित होने के लिये निम्नलिखित तीन बातों का होना आवश्यक है ।

निवेश $(I)=f\ (r)$
बचत $(S)=g\ (r)$
बचत $(S)=$ निवेश (I)

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का कहना था कि सामान्यतया व्यक्तियों की भविष्य सम्बन्धी दृष्टि दोषयुक्त होने के कारण वे भविष्य की तुलना में वर्तमान को पसन्द करते हैं। उनको अपने इस समय-अधिमान का त्याग करने के लिये ब्याज प्राप्त होना आवश्यक है ।

ब्याज की दर के परम्परावादी सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रथम यह उल्लेखनीय है कि यह सिद्धान्त पूर्णतया प्रवाह (flow) सिद्धान्त है । निवेश तथा बचत का विश्लेषण प्रवाह के अर्थ में किया गया है। दूसरे, बचत तथा निवेश के मध्य समानता ब्याज की दर में परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती है । प्रथम विशेषता का यह अर्थ है कि वस्तु बाजार के समान पूँजी बाजार में बचत पूँजी की पूर्ति का प्रवाह उत्पन्न करती है तथा निवेश की माँग बाजार से पूँजी के प्रवाह को समाप्त करती है। पूँजी बाजार में सन्तुलन स्थापित करने के लिए दोनों प्रवाहों का सन्तुलन में होना आवश्यक है—बचत तथा निवेश समान होने चाहिये । दूसरी विशेषता का अर्थ यह है कि जब इन दोनों प्रवाहों—बचत तथा पूर्ति—में अनुरूपता का अभाव होता है तो यह अनुरूपता ब्याज की दर में परिवर्तनों के द्वारा पुनः स्थापित हो जाती है ।

ब्याज की दर के परम्परावादी सिद्धान्त में अनेक दोष हैं। प्रथम, इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थव्यवस्था में कुल बचत तथा कुल निवेश के मध्य समानता ब्याज की दर के माध्यम द्वारा स्थापित होती है । यद्यपि यह सत्य है कि ब्याज, निवेश तथा बचत के मध्य कुछ सम्बन्ध है परन्तु इससे हमें यह नहीं समझना चाहिये कि बचत तथा निवेश के मध्य ब्याज की दर के माध्यम द्वारा समानता स्थापित की जाती है । परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का दोष यह था कि उन्होंने अपने विश्लेषण में आय के महत्व को पूर्णतया भुला दिया था । कीन्स ने सत्य कहा है कि बचत तथा निवेश के मध्य समानता ब्याज की दर में परिवर्तनों द्वारा स्थापित न होकर आय में परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती है ।

दूसरे, परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार बचत तथा निवेश ब्याजसापेक्ष थे । महत्वपूर्ण अध्ययनों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का यह तर्क अवास्तविक है। निवेश इतना अधिक ब्याजसापेक्ष नहीं है जितना कि ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त के प्रतिपादकों का विश्वास था । निवेश तथा ब्याज की दर के मध्य एक कमजोर सम्बन्ध है । यद्यपि यह सम्भव है कि नीची ब्याज दर के समक्ष निवेश मांग की मात्रा अधिक हो सकती है परन्तु निवेश मांग पर ब्याज की दर की अपेक्षा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का अधिक प्रभाव पड़ता है । बचत पूर्ति की मात्रा भी सदा ब्याज की दर द्वारा प्रभावित नहीं होती है । ब्याज के अतिरिक्त बचत के निर्धारण पर आय का प्रभाव पड़ता है । वास्तव में बचत पर ब्याज की दर की अपेक्षाकृत आय का अधिक

प्रभाव पड़ता है। अत्यधिक कम आय पर जहाँ व्यक्ति के लिये बचत करना असम्भव होताहै बचत पूर्णतया ब्याजनिरपेक्ष हो जाती है तथा ब्याज की दर बहुत अधिक ऊँची होने पर भी गरीब समाज में बचत का अभाव होता है। वास्तविकता यह है कि समुदाय की बचत प्रवृत्ति तथा ब्याज की दर के मध्य कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि बचत की मात्रा पर ब्याज की दर का थोड़ा प्रभाव अवश्य पड़ता है परन्तु ब्याज की दर की अपेक्षाकृत बचत की मात्रा पर आय का अधिक प्रभाव पड़ता है। आय समान रहते हुये यद्यपि किसी स्थिति विशेष में ब्याज की दर में वृद्धि होने के हेतु बचत में भी वृद्धि हो सकती है परन्तु एक विशेष आय पर तथा इस आय से कम आयों पर बचत पूर्णतया ब्याज निरपेक्ष होगी। वास्तव में आय के निम्न स्तरों पर व्यक्ति ऊँची ब्याज की दर पर भी बचत न करके अधिव्यय (dis-save) के जाल में फँस जावेंगे। ब्याज की दर का परम्परावादी सिद्धान्त इस वास्तविक सम्भावना की व्याख्या करने में असमर्थ है। तीसरे, ब्याज की दर के परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार निवेश माँग में परिवर्तन होने पर भी आय स्थिर रहती है क्योंकि जैसा कि चित्र २१·१ से ज्ञात होता है जब निवेश माँग वक्र ID_1 नीचे की ओर खिसककर ID_2 की स्थिति को प्राप्त हो जाता है तब बचत पूर्ति वक्र SY_1 में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि आय में कोई परिवर्तन नहीं होता है। ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त में इस सत्य पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है कि निवेश आय का भाग है तथा इसमें परिवर्तन होने पर आय में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। निवेश का आय के निर्धारण में एक विशेष महत्त्व है तथा आय के निर्धारण में महत्वपूर्ण होने के कारण इसका बचत के निर्धारण में भी विशेष महत्व है क्योंकि बचत आय द्वारा निर्धारित होती है। निवेश तथा बचत के मध्य समानता ब्याज की दर में परिवर्तनों द्वारा स्थापित न होकर आय में परिवर्तनों द्वारा, जो स्वयं निवेश में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम होते हैं, स्थापित होती है। बदलते हुये निवेश माँग वक्र (ID) के समक्ष स्थिर बचत पूर्ति वक्र (SY) की मान्यता ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त की गम्भीर त्रुटि है तथा इस मान्यता पर आधारित निष्कर्ष भी त्रुटिपूर्ण हैं। परम्परावादी सिद्धान्त की मान्यता के विपरीत बचत पूर्ति वक्र SY की स्थिति में निवेश माँग वक्र ID में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप परिवर्तन होता है। उपभोग तथा निवेश आय के अंग हैं तथा आय उपभोग तथा निवेश के योग के समान होती है। कुल उपभोग व्यय आय तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होता है तथा उपभोग व्यय और आय के मध्य स्थिर सम्बन्ध होता है। उपभोग व्यय स्थिर रहते हुये यदि निवेश में वृद्धि (कमी) होती है तो आय में भी वृद्धि (कमी) होगी। दूसरे शब्दों में, निवेश की मात्रा में परिवर्तन होने पर आय स्थिर नहीं रह सकती है। यदि यह सत्य है कि जब निवेश में परिवर्तन होता है तब आय में भी परिवर्तन होता है तो निवेश माँग वक्र ID की स्थिति में परिवर्तन होने पर बचत पूर्ति वक्र SY की स्थिति में भी परिवर्तन होगा। जब दोनों वक्रों की स्थिति में परिवर्तन होता है तब समस्त स्थिति संदिग्ध हो जाती है तथा ब्याज की दर को केवल इन वक्रों के कटाव बिन्दु द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता है।

ब्याज की दर एक मौद्रिक घटना है। यह नकदी अधिमान तथा द्रव्य की कुल उपलब्ध पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। ब्याज की दर ID तथा SY वक्रों के कटाव बिन्दु द्वारा निर्धारित नहीं हो सकती है। मौद्रिक घटना होने के कारण ब्याज की दर ID तथा SY वक्रों द्वारा निर्धारित न होकर स्वयं मुद्रा बाजार में मुद्रा की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होकर बचत पूर्ति वक्र SY को निर्धारित करने में सहायक सिद्ध होती है। यह चित्र २१·२ द्वारा समझाया जा सकता है।

जब ब्याज की दर OR_1 से गिर कर OR_2 हो जाती है तब निवेश माँग वक्र ID_1 खिसक कर ID_2 वक्र की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप बचत पूर्ति वक्र SY की

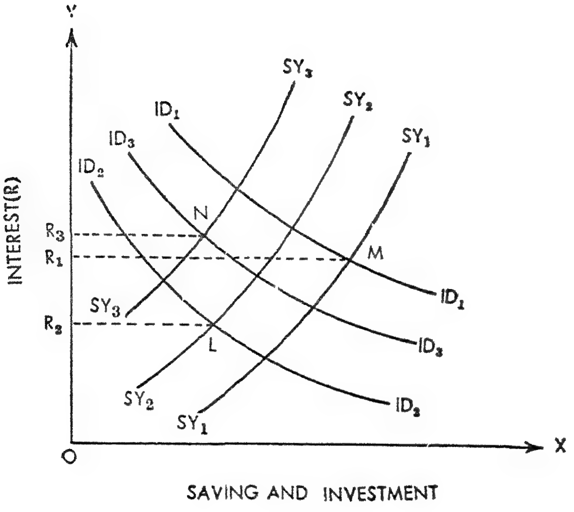

चित्र २१·२

स्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है तथा नये बचत पूर्ति वक्र SY_2 को पुराने बचत पूर्ति वक्र SY_1 के समानान्तर L बिन्दु से गुजरता हुआ वक्र खींचकर प्राप्त किया जा सकता है।

परम्परावादी सिद्धान्त व्याज की दर के निर्धारण में साख-मुद्रा के महत्त्व पर ध्यान नहीं देता है। यद्यपि १८वीं शताब्दी में साख मुद्रा का अधिक महत्त्व नहीं था परन्तु वर्तमान समय में साख-मुद्रा का ब्याज के निर्धारण में विशेष महत्व है। इस सिद्धान्त के अनुसार निवेश माँग में वृद्धि होने पर ब्याज की दर में वृद्धि होना अनिवार्य है क्योंकि ऐसा होने से ही बचत में पर्याप्त वृद्धि हो सकेगी। परन्तु यह तर्क केवल सरल प्राथमिक अर्थव्यवस्था के लिये, जहाँ साख-मुद्रा का कोई महत्व नहीं है, उपयुक्त हो सकता है। आधुनिक युग मे निवेश पूँजी की पूर्ति मे बचत के अतिरिक्त साख-मुद्रा का भी महत्व है तथा यह सम्भव है कि निवेश माँग में वृद्धि होने के हेतु व्याज की दर मे वृद्धि न हो क्योंकि निवेश माँग की पूर्ति वाणिज्य बैंक साख-मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके कर सकती हैं।

ब्याज की दर के परम्परावादी सिद्धान्त की केवल यही त्रुटि नही है कि यह ब्याज की दर के निर्धारण में साख-मुद्रा के महत्त्व को भुलाता है। सिद्धान्त की अन्य त्रुटि यह भी है कि यह नक़दी निर्मंचय के ब्याज की दर पर पड़ने वाले प्रभाव को भी महत्त्वहीन समझता है। मुद्रा की कुल माँग पूँजी बाजार में नये ऋणपत्रों की पूर्ति तथा मुद्रा की सट्टा माँग का योग होती है। मुद्रा की सट्टा माँग पर ध्यान न देने के कारण यह सिद्धान्त अधूरा है।

२. ऋणनिधि अथवा नवपरम्परावादी सिद्धान्त

ब्याज की दर निर्धारण के ऋण निधि अथवा नवपरम्परावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम नट विक्सैल के हाथों द्वारा हुआ था। विक्सेल के पश्चात् गुनार मिर्डल; बर्टिल ओहिलिन; एरिक लिन्डहल तथा बेंट हैन्सन ने इस सिद्धान्त में सुधार किये थे। इंगलैंड में इस सिद्धान्त के विकास में रॉबर्टसन ने विशेष योगदान दिया। इस सिद्धान्त में ब्याज की दर निर्धारित करने में मौद्रिक तथा अमौद्रिक कारणों का संकलन किया गया है। परम्परावादी सिद्धान्त में ब्याज की दर

का अध्ययन केवल अमौद्रिक कारणों की व्याख्या करके किया गया था तथा मौद्रिक कारणों—साख-मुद्रा—को व्याज के निर्धारण में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। मुद्रा की माँग केवल निवेश द्वारा उत्पन्न होती थी तथा मुद्रा की सट्टा माँग को भुला दिया गया था। परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर बचत तथा निवेश का परिणाम थी।

ऋणनिधि सिद्धान्त ब्याज के निर्धारण में बचत तथा निवेश के अतिरिक्त नकदी निसंचय तथा साख-मुद्रा को भी महत्वपूर्ण विचारता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर बचत (S); निवेश (1), नकदी निसंचय (L) तथा संचलनशील मुद्रा की मात्रा (M) द्वारा निर्धारित होती है, अर्थात्

$$r=f\,(I, S, L, M)$$

विक्सैल का कहना था कि ऋण निधि की पूर्ति में वास्तविक एच्छिक बचत के अतिरिक्त बैंकों द्वारा उत्पन्न साख-मुद्रा की मात्रा भी सम्मिलित होती है। इस कारण कुल ऋणनिधि के पूर्ति वक्र को प्राप्त करने के हेतु परम्परावादी बचत पूर्ति वक्र (SY) में साख-मुद्रा वक्र को जोड़ा जाना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त बचत पूर्ति तथा साख-मुद्रा युक्त वक्र कुल ऋण निधि का पूर्ति वक्र होगा जो निवेश माँग वक्र के साथ ब्याज की दर को निर्धारित करेगा। विक्सैल का विश्वास था कि साख-मुद्रा की पूर्ति ब्याजसापेक्ष नहीं थी। उनके अनुसार साख-मुद्रा की वह मात्रा जो बैंकिंग प्रणाली उपलब्ध कर सकती थी बैंकों की नकदी स्थिति द्वारा निर्धारित होती थी। साख-मुद्रा पूर्ति वक्र (M) पूर्णतया ब्याजनिरपेक्ष होने के कारण Y-अक्ष के समानान्तर होगा। विक्सैल द्वारा प्रतिपादित ब्याज निर्धारण का ऋण निधि सिद्धान्त चित्र २१·३ द्वारा समझाया जा सकता है।

चित्र २१·३ में ऋण-निधि की माँग तथा पूर्ति को X-अक्ष पर तथा ब्याज की दर को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। MM वक्र साख-मुद्रा का पूर्तिवक्र है। SS वक्र बचत पूर्ति वक्र है। M+S वक्र MM तथा SS वक्रों को जोड़कर प्राप्त किया गया है तथा यह कुल ऋण निधि पूर्ति वक्र है। II वक्र निवेश माँग वक्र है। ब्याज की दर M+S वक्र तथा II वक्र द्वारा उस बिन्दु के समक्ष निर्धारित होगी जिस पर दोनों वक्र एक दूसरे को काटते हैं। चित्र में ये दोनों वक्र एक दूसरे को B बिन्दु पर काटते हैं तथा ब्याज की दर OR_1 होगी।

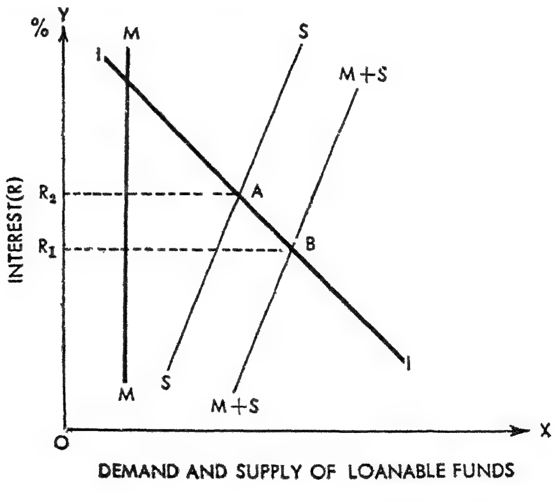

चित्र २१·३

ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त तथा विक्सैल द्वारा प्रतिपादित ऋण निधि सिद्धान्त के मध्य अब भेद स्पष्ट है। जब कि परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर SS तथा II वक्रों के एक दूसरे को A बिन्दु पर काटने के द्वारा इस बिन्दु के समक्ष OR_2 स्तर पर निर्धारित होती है, विक्सैल के अनुसार ब्याज की दर M+S तथा II वक्रों के एक दूसरे को B बिन्दु पर काटने के द्वारा इस बिन्दु के समक्ष OR_2 स्तर पर निर्धारित होती है। अपनी इस व्याख्या के आधार पर विक्सैल ने प्राकृतिक ब्याज की दर $(OR)_2$ तथा बाजार ब्याज की दर $(OR)_1$ के मध्य अन्तर को समझाया था। अर्थव्यवस्था में मुद्रा निष्क्रिय न हो कर बाजार ब्याज की दर पर अपना प्रभाव डाल कर आर्थिक क्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है।

सिद्धान्त में पश्चाद्वर्ती सुधार

यद्यपि विक्सैल का ब्याज निर्धारण विश्लेषण परम्परावादी सिद्धान्त की तुलना में वरिष्ठ था परन्तु इसमें कुछ गम्भीर दोष उपस्थित थे। प्रथम, विक्सैलवादी ऋणनिधि सिद्धान्त में ऋणों की माँग को केवल निवेश का परिणाम बताया गया था। सिद्धान्त में यह नहीं बताया गया था कि मुद्रा की माँग नकदी निसंचय के परिणामस्वरूप भी उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त साख मुद्रा की पूर्ति को ब्याजनिरपेक्ष (Interest inelastic) बताया गया था—अर्थात् MM वक्र को Y-अक्ष के समानान्तर खींचा गया था। परन्तु ऐसा विचारना सत्य नहीं है। बैंकिंग प्रणाली में बैंकों की ऋण नीति पर ब्याज की दर का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है तथा नीची ब्याज की दर पर बैंक कम ऋण प्रदान करेंगी। इसके विपरीत ऋणों द्वारा अधिक ब्याज आय प्राप्त होने की स्थिति में बैंक अधिक मात्रा में ऋण देकर अधिक साख-मुद्रा का निर्माण करेंगी। इस प्रकार यह कहना अनुचित नहीं होगा कि साख-मुद्रा की पूर्ति ब्याज सापेक्ष होती है तथा MM वक्र ब्याजसापेक्ष होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब इस वक्र का ढाल धनात्मक होता है जैसा कि चित्र २१·४ में खींचा गया है।

चित्र २१·४ में ब्याज की दर को Y-अक्ष तथा ऋण निधि की पूर्ति व माँग को X-अक्ष पर दिखाया गया है। MM वक्र ब्याज की भिन्न दरों पर बैंकिंग प्रणाली द्वारा ऋण के लिए उपलब्ध साख-मुद्रा की पूर्ति को व्यक्त करता है। LL वक्र नकदी अधिमान वक्र है जो विभिन्न

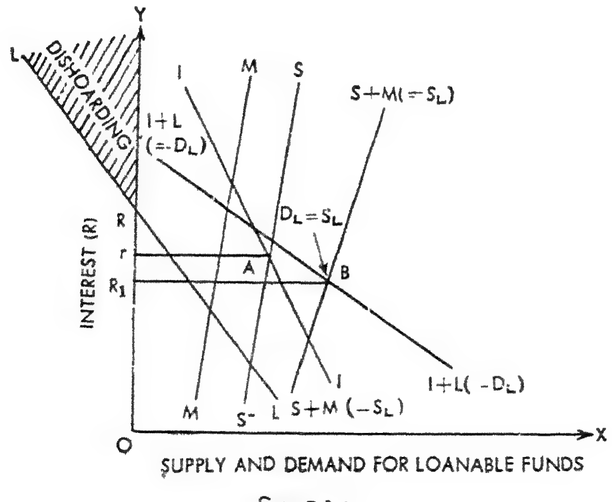

चित्र २१·४

ब्याज की दरों पर नकदी की माँग को व्यक्त करता है। *OR* से अधिक ब्याज की दर पर नकदी की माँग ऋणात्मक है, अर्थात् अर्थव्यवस्था में विनिवेश (Dishoarding) होने लगता है। *OR* ब्याज की दर पर नकदी की निसंचय माँग शून्य है तथा ऋण निधि की कुल माँग केवल निवेश माँग के समान है। *OR* से नीची ब्याज की दर पर नकदी अधिमान धनात्मक होने के परिणामस्वरूप नकदी की सट्टा माँग धनात्मक है। II वक्र ब्याज की भिन्न दरों पर निवेश माँग को तथा SS वक्र ब्याज की भिन्न दरों पर उपलब्ध बचत-पूर्ति को व्यक्त करते हैं। $I+L\ (=D_L)$ वक्र II वक्र तथा LL वक्र को मिलाकर प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार $S+M(=S_L)$ वक्र SS तथा MM वक्रों का योग है। $I+L(=D_L)$ वक्र भिन्न ब्याज की दरों के समक्ष ऋण निधि की कुल माँग तथा $S+M\ (=S_L)$ वक्र भिन्न ब्याज की दरों पर ऋण निधि की कुल पूर्ति को व्यक्त करते हैं। ब्याज की दर इन दोनों वक्रों के कटाव बिन्दु B के समक्ष OR_1 होगी क्योंकि ब्याज की इस दर पर ऋण निधि की कुल माँग तथा कुल पूर्ति परस्पर समान हैं।

ब्याज का ऋण निधि सिद्धान्त ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त की तुलना में वरिष्टहै। ब्याज को नकदी अधिमान, बचत, निवेश तथा साख-मुद्रा से सम्बन्धित करके इस सिद्धान्त में ब्याज की घटना का वास्तविक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। ऋण निधि की पूर्ति बचत की पूर्ति से भिन्न है क्योंकि बचत के अतिरिक्त ऋण निधि की पूर्ति में साख-मुद्रा की मात्रा में होने वाली वृद्धि अथवा कमी को भी सम्मिलित किया गया है। सिद्धान्त में इस बात पर भी बल दिया गया है कि नकदी निसंचय भी ऋण निधि की माँग में वृद्धि करके ब्याज की दर पर अपना प्रभाव डाल सकता है। ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त में निसंचय का महत्व नहीं था। यह सिद्धान्त यह भी बतलाने योग्य है कि बाजार ब्याज की दर प्राकृतिक ब्याज की दर से भिन्न क्यों होती है।

परन्तु ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त से वरिष्ट होते हुये भी यह सिद्धान्त अनेक त्रुटियों का भण्डार है। गार्डनर एक्ले ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुये लिखा है कि ब्याज की दर का परम्परानिष्ट ऋण निधि सिद्धान्त अत्यधिक संशयात्मक है क्योंकि सिद्धान्त में बचत, निवेश तथा आय का प्रयोग प्रवाह विचारों (flow concepts) के रूप में तथा निसंचय व विनिवेश का प्रयोग स्टाक विचार (stock concept) के रूप में किया गया है। इन आकारों (magnitudes) की परिभाषा समय अवधि के अभ्युद्देश (reference) बिना नहीं की जा सकती है। इसलिये उस समय अवधि को जिसमें यह सिद्धान्त लागू होता है स्पष्ट करना आवश्यक है। एक्ले का कहना है कि किसी विशेष समय अवधि से सम्बन्धित होने के कारण इस सिद्धान्त को असन्तुलन का सिद्धान्त, जो गत्यात्मक विश्लेषण से सम्बद्ध है, कहा जा सकता है।[11] इस सिद्धान्त में $I+L\ (=D_L)$ वक्र तथा $M+S(=S_L)$ वक्र दो असंगत वक्रों को मिलाकर प्राप्त किये गए हैं। II वक्र, जो निवेश माँग को व्यक्त करता है, प्रवाह के रूप में है तथा LL वक्र, जो नकदी की निसंचय माँग को व्यक्त करता है, स्टाक के रूप में है। इसी प्रकार SS वक्र प्रवाह विचार है तथा MM वक्र स्टाक विचार है। प्रवाह तथा स्टाक विचारों को एक साथ मिलाना गलत है तथा इस कारण यह सिद्धान्त प्रवाह तथा स्टाक विचारों का विचित्र मिश्रण है। यह कहना एक बात है कि किसी दी हुई समय अवधि में नई मुद्रा की पूर्ति मुद्रा बाजार में ऋण निधि की पूर्ति पर प्रभाव डालकर ब्याज की दर पर प्रभाव डालती है परन्तु यह कहना बिलकुल भिन्न बात है कि मुद्रा अधिकारी प्रति समय इकाई (प्रति वर्ष) स्थिर दर पर नई मुद्रा का निर्माण करेगा। मुद्रा अधिकारी की कार्यवाही अनिरन्तर

11. Gardner Ackley : *Macroeconomic Theory*, pp. 200-207.

होती है। यदि मुद्रा अधिकारी प्रति समय इकाई (प्रति माह) स्थिर दर (१० करोड़ रुपये) पर द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि करने लगे तो शीघ्र अर्थव्यवस्था में अतिस्फीति विद्यमान हो जावेगी।

इसी प्रकार जब निसंचय, जो चित्र में LL वक्र द्वारा व्यक्त किया गया है, की व्याख्या प्रवाह के रूप में की जाती है तो विश्लेषण में असंगति विद्यमान हो जाती है। यह कहना एक बात है कि समय के किसी दिये हुये क्षण पर, प्रचलित ब्याज की दर पर, लोग पहले की तुलना में अधिक नकदी निसंचय करना चाहते हैं। परन्तु यह कहना बिल्कुल भिन्न बात है (निसंचय की प्रवाह के रूप में व्याख्या करने से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है) कि किसी दी हुई ब्याज की दर पर धनी लोग प्रत्येक समय अवधि में स्थिर दर पर अपनी नकदी में वृद्धि करते हैं। ऐसा कहना भारी भूल होगी। निसंचय तथा साख-मुद्रा के विचारों को जो स्टाक के रूप में प्रयोग किए गए हैं प्रवाह वक्रों के द्वारा व्यक्त करना सही नहीं है।

३. नकदी अधिमान अथवा कीन्सप्रेरित सिद्धान्त

१९३६ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक *The General Theory of Employment Interest and Money* में कीन्स ने ब्याज की दर के नकदी अधिमान सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। कीन्स के विचारानुसार ब्याज एक मौद्रिक घटना है। सभी व्यक्ति अपने धन को नकदी के तरल रूप में संचित रखने के लिये आतुर रहते हैं। ब्याज वह भुगतान अथवा प्रतिफल है जो धनी व्यक्तियों को अपने नकदी अधिमान का त्याग करने के लिये दिया जाता है। यह वह मूल्य है जो लोगों को अपनी नकदी को अचल करने के हेतु प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति नकदी अथवा मुद्रा के रूप में संचित रखना पसन्द करता है तथा ब्याज नकदी अधिमान का त्याग करने का प्रलोभन है। मुद्रा अन्य सभी प्रकार की परिसम्पत्ति से अधिक तरल है तथा मुद्रा की प्राप्ति से हमारी चिन्ता समाप्त होती है। ब्याज वह प्रव्याजि है जिसकी हमें मुद्रा का त्याग करने के लिए आवश्यकता होती है। कीन्स के शब्दों में "ब्याज वह 'मूल्य' नहीं है जो निवेश करने के लिये साधनों की माँग तथा वर्तमान उपभोग को स्थगित करने की इच्छा के मध्य सन्तुलन स्थापित करता है। यह वह मूल्य है जो धन को नकदी में संचित रखने की इच्छा तथा द्रव्य की उपलब्ध मात्रा में समानता स्थापित करता है। इसका अर्थ यह है कि यदि नकदी त्याग करने के प्रतिफल में कमी हो जावेगी तो नकदी की वह समस्त मात्रा जिसे लोग अपने पास संचित रखना चाहेंगे मुद्रा की कुल उपलब्ध पूर्ति की तुलना में अधिक हो जावेगी तथा यदि ब्याज की दर में वृद्धि हो जावेगी तो नकदी की पूर्ति इसकी माँग की तुलना में अधिक हो जावेगी। यदि यह व्याख्या सही है तो मुद्रा की मात्रा दूसरी शक्ति है जो नकदी अधिमान (नकदी की माँग) के साथ मिलकर किसी दी हुई स्थिति में वास्तविक ब्याज दर को निधारित करती है।"[12]

कीन्सप्रेरित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर अर्थव्यवस्था में द्रव्य की कुल माँग (यह माँग द्रव्य की सट्टा माँग M_2 तथा व्यावसायिक माँग M_1का योग होती है) तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। ब्याज की दर उस बिन्दु पर निर्धारित होगी जहाँ द्रव्य की कुल माँग द्रव्य की उस पूर्ति के समान है जो इस माँग की तुष्टि करने के लिए उपलब्ध है। चित्र २१·५ ब्याज की दर निर्धारण को प्रदर्शित करता है।

चित्र २१·५ में ब्याज की दर को Y-अक्ष पर तथा द्रव्य की माँग व पूर्ति को X-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। द्रव्य की पूर्ति स्वायत्तरूप में मुद्रा अधिकारी—केन्द्रीय बैंक—द्वारा

12. Keynes : op. cit., pp. 167-68.

निर्धारित की जाती है तथा चित्र में यह स्थिरमात्रा OM_S है जो M_SM_S वक्र द्वारा व्यक्त की गई है। $M=L_1(Y)+L_2(r)$ वक्र द्रव्य की कुल माँग को व्यक्त करता है। ब्याज की दर उस स्तर पर निर्धारित होती है जहाँ द्रव्य की कुल माँग तथा कुल पूर्ति समान हैं अर्थात् जहाँ दोनों

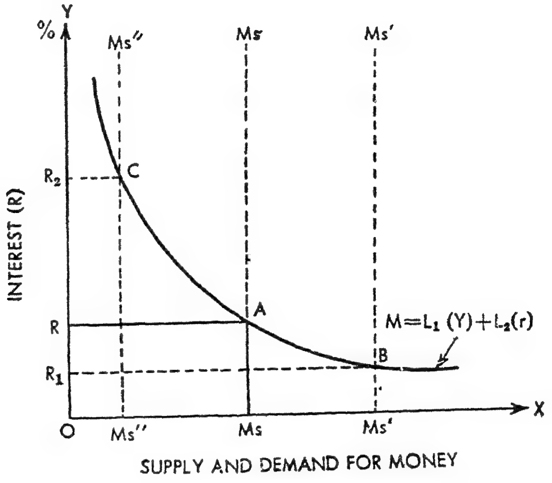

चित्र २१·५

वक्र एक दूसरे को काटते है। ब्याज की वह दर जिसके समक्ष दोनों वक्र परस्पर काटते हैं OR है। चित्र २१·५ यह व्यक्त करता है कि OR से भिन्न ब्याज की दर पर द्रव्य की मांग तथा पूर्ति के मध्य असन्तुलन है। OR_2 ब्याज की दर पर द्रव्य की माँग (M_d) द्रव्य की पूर्ति से कम है तथा इस कारण ब्याज की दर गिरकर OR हो जावेगी। इसी प्रकार OR_1 ब्याज की दर के समक्ष द्रव्य की माँग इसकी पूर्ति से अधिक है तथा ब्याज की दर बढ़कर OR हो जावेगी। यदि द्रव्य की पूर्ति OM_S से बढ़कर OM'_S हो जाती है तो, नकदी अधिमान वक्र स्थिर रहते हुए, ब्याज की दर OR से गिरकर OR_1 हो जाती है। इसके विपरीत यदि द्रव्य की पूर्ति OM_S घटकर OM''_S हो जाती है तो ब्याज की दर OR से बढ़कर OR_2 हो जाती है।

आलोचनायें

अन्य सिद्धान्तों के समान ब्याज की दर निर्धारण का यह सिद्धान्त भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। प्रथम, यदि मुद्रा की माँग नकदी निसंचय द्वारा उत्पन्न होती है तथा यदि ब्याज नकदी अधिमान का त्याग करने का मूल्य है तो मुद्रा की पूर्ति का आशय मुद्रा अथवा नकदी की केवल उस मात्रा से होना चाहिए जो नकदी अधिमान की पूर्ति करती है। परन्तु इस सम्बन्ध में कीन्स के कथन में विरोधाभास है। कीन्स ने नकदी में सामान्य क्रय-शक्ति पर प्राप्त उन सभी अधिकारों को सम्मिलित किया है जिनको नकदी के स्वामी ने तीन मास से अधिक की अवधि के लिये त्याग नहीं किया है। इसका अर्थ यह है कि तीनमास की अल्पावधि की हुण्डियाँ भी नकदी में सम्मिलित होंगी। परन्तु इनको नकदी में सम्मिलित करना उपयुक्त नहीं है।

दूसरे, कीन्स के विचारानुसार ब्याज की दर निवेश निधि की माँग द्वारा निर्धारित नहीं होती है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। व्यावसायियों की नकदी माँग अधिकांश उनकी निवेश करने हेतु उत्पन्न पूँजी माँग द्वारा निर्धारित होती है। पूँजी की माँग इसकी सीमान्त उत्पादकता

पर निर्भर होती है तथा इसलिए ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के माध्यम द्वारा निवेश माँग से पृथक निर्धारित नहीं की जा सकती है।

तीसरे, यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि नकदी अधिमान का ब्याज की दर के निर्धारण में विशेष महत्व है परन्तु यह पर्याप्त नहीं है। नकदी की पूर्ति तथा माँग ब्याज की दर निर्धारित करने वाले अनेक कारणों में से केवल दो कारण हैं। एक प्रकार से यह कहना सत्य है कि ब्याज नकदी को त्यागने की कीमत है क्योंकि विनिवेश ऋण निधि की पूर्ति के निर्धारकों में से एक है। इस प्रकार ब्याज की दर निर्धारण करने वाले अन्य कारणों को पृथक करके कीन्स का ब्याज सिद्धान्त उसी प्रकार एक पक्षीय है जिस प्रकार ब्याज का परम्परावादी सिद्धान्त एकतरफा है, जो उधार दी जाने वाली मुद्रा राशि की पूर्ति के केवल एक स्रोत—बचत—पर ध्यान केन्द्रित करता है। राबर्टसन ने कहा है कि "जिस प्रकार ब्याज की दर नकदी को संचित करने की सीमान्त सुविधा की माप करती है, उसी प्रकार यह उपभोग स्थगन की सीमान्त असुविधा की भी माप कर सकती है। धन के वैकल्पिक उपयोग किये जा सकते हैं। इसका निवेश किया जा सकता है अथवा निवेश न करके इसे खर्च किया जा सकता है अथवा इसे नकदी में संचित किया जा सकता है। यह भ्रष्ट कथन कि ब्याज खर्च न करने का प्रतिफल नहीं है वरन् नकदी संचय न करने का प्रतिफल है इस बात का परिणाम है कि हम एक ही समय में दो से अधिक सम्भावनाओं का ध्यान नहीं करते हैं।"[13]

चौथे, ब्याज की दर का नकदी अधिमान सिद्धान्त दीर्घकाल में ब्याज की भिन्न दरों को नहीं समझा सकता है। यह केवल अल्पकाल में ब्याज निर्धारण के कारणों को समझाता है।

पाँचवें, "यदि कीन्स का यह कथन कि ब्याज की दर मुद्रा की पूर्ति तथा माँग में समानता स्थापित करती है सुसंगत है तो उनके समक्ष उधार दी जाने वाली धनराशि की पूर्ति तथा माँग के निर्धारण में महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाली साख-मुद्रा का व्यवहार में समय तत्व को समझाने का कोई साधन नहीं रहता है। नकदी अधिमान सिद्धान्त के आधार पर ब्याज की भिन्न दरों के सह-अस्तित्व को समझना असम्भव है, क्योंकि नकदी में पूर्ण समानता होने के कारण ब्याज की दर भी सदा समान रहेगी।"[14] कीन्स का सिद्धान्त ब्याज की दर निर्धारण की पूर्ण तथा त्रुटि मुक्त व्याख्या नहीं है।

कीन्स के अनुसार ब्याज की दर "केवल बचत अथवा प्रतीक्षा का प्रतिफल नहीं है।" परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि बचत अथवा प्रतीक्षा निवेश करने के लिए धनराशि प्राप्त करने का एक आवश्यक साधन है। जैसाकि जैकब वाइनर ने लिखा है "बचत किये बिना त्याग करने के लिए कोई नकदी प्राप्त नहीं हो सकती है—ब्याज की दर नकदी रहित बचत करने का प्रतिफल है।"

कीन्स ने यह भी लिखा है कि ब्याज की दर "नकदी त्याग का प्रतिफल है।" आर्थिक प्रणाली के बारे में यह सोचना कि इसका महत्वपूर्ण कार्य किसी को इनाम देना तथा किसी को दन्ड देना है, गलत है। ब्याज इसलिए नहीं दिया जाता है कि उधारकर्ता उधारदाताओं को इनाम देना चाहते हैं। उधारकर्ता ब्याज इसलिए देते हैं क्योंकि वे ऋण का निवेश करके ब्याज का भुगतान करने की अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा करते हैं। उधारदाता अपनी धन

---

13. D. H. Robertson : "*Alternative Theories of Rate of Interest*," Economic Journal, Vol. 47, 1937, p. 431.
14. G. N. Halm : *Monetary Theory*, p. 448

राशि को उधारकर्ताओं को निवेश करने के लिए उधार न देकर इसका स्वयं निवेश कर सकता है। उसको प्राप्त होने वाली ब्याज की दर यह निर्णय करने में सहायक होगी कि वह अपने धन का स्वयं निवेश करे अथवा इसे उधारकर्ताओं को निवेश करने के लिए उधार दे।

कीन्स ने ब्याज के प्राचीन सिद्धान्तों की हँसी की थी। कीन्स ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि "मार्शल की ब्याज सम्बन्धी विवेचना में जो त्रुटि उपस्थित है उसका मेरे विचार में मूल कारण यह है कि मार्शल ने ब्याज की व्याख्या को, जिसका सम्बन्ध मुद्राप्रेरित अर्थव्यवस्था से है, अपनी पुस्तक में, जिसमें मुद्रा की कोई व्याख्या नहीं है, सम्मिलित किया है। मार्शल की पुस्तक *Principles of Economics* में ब्याज की व्याख्या कदापि नहीं की जानी चाहिये थी।" कीन्स के विचारानुसार ब्याज एक मौद्रिक घटना है जो मुद्रा की माँग तथा पूर्ति का परिणाम है। परन्तु इस प्रकार का सिद्धान्त अल्पज्ञ है क्योंकि हमें यह भी समझना चाहिये कि मुद्रा की माँग तथा पूर्ति किन कारणों द्वारा निर्धारित होती है तथा मुद्रा की माँग तथा पूर्ति की व्याख्या अधिकांशत: वास्तविक कारणों के रूप में ही की जा सकती है यद्यपि कीन्स के मतानुसार वास्तविक कारणों का ब्याज के निर्धारण में कोई स्थान नहीं है। कीन्स की पुस्तक *General Theory* के प्रकाशित होने के काफी समय पश्चात् लर्डविग वॉन माईजिज ने कीन्स के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा था कि "यह सिद्धान्त ब्याज को व्यापक अर्थ में मुद्रा का अस्थाई रूप में त्याग करने की हानि पूर्ति विचारता है। वैज्ञानिक आलोचकों द्वारा की गई इस सिद्धान्त की आलोचना पूर्णतया उचित है। यह सिद्धान्त क्षिप्र व्याख्या के योग्य भी नहीं है।"[15]

कीन्स का सिद्धान्त गलत है क्योंकि यह सिद्धान्त उन्हीं तथ्यों का विरोध करता है जिनको यह समझाने का प्रयास करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मन्दी में अल्पकालीन ब्याज की दर सबसे अधिक ऊँची होनी चाहिये क्योंकि उस समय मनुष्य प्राय: अत्यधिक नकदी को संचित रखना पसन्द करते हैं और वे नकदी का त्याग करने में हिचकिचाते हैं। मन्दी में लोगों के नकदी अधिमान में अकस्मात अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तथा धन को नकदी में संचित रखना अधिक लाभप्रद हो जाता है। परन्तु मन्दी में सब वस्तुओं के मूल्यों के समान ब्याज की दर भी कम हो जाती है। यदि कीन्स का सिद्धान्त सत्य हुआ होता तो चेतना तथा तेजी के शिखर पर ब्याज की दर सबसे कम होनी चाहिये थी क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने धन को नकदी में संचित न रखकर इसका निवेश करना चाहेगा तथा नकदी अधिमान नीचा होगा। परन्तु तेजी के युग में ब्याज की दर कम न होकर अधिक होती है। कुछ लेखकों के मतानुसार कीन्स ने ब्याज की दर के निर्धारण के विषय पर कोई महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत नहीं किया है।

परम्परावादी तथा नकदी अधिमान सिद्धान्तों की तुलना

ब्याज की दर के परम्परावादी तथा नकदी अधिमान सिद्धान्तों की तुलना को परम्परावादी तथा कीन्सप्रेरित रोजगार तथा आय सिद्धान्तों के रूप में समझाया जा सकता है।

परम्परावादी सिद्धान्त पूर्ण रोजगार तथा स्थिर आय का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। कीन्स का सिद्धान्त रोजगार का सामान्य सिद्धान्त है, जो आय तथा रोजगार में परिवर्तनों की मान्यता पर आधारित है।

परम्परावादी सिद्धान्त आय की मात्रा में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों का ध्यान नहीं रखता है तथा इसलिए यह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ब्याज की दर द्वारा बचत तथा निवेश

15. Ludwig Von Mises : *The Theory of Money and Credit*, pp. 133.

में समानता स्थापित होती है, अर्थात् निवेश की जाने वाली धनराशि की माँग तथा बचत द्वारा प्राप्त होने वाली धनराशि की पूर्ति समान हो जाती है। यहाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि बचत की मात्रा किसी दिये हुये रोजगार तथा आय के स्तर के समक्ष निर्धारित होती है। इसलिए ब्याज की दर निवेश माँग वक्र द्वारा निर्धारित होती है। कीन्स के सिद्धान्त की विशेषता यह है कि विभिन्न रोजगार स्तरों के समक्ष आय की मात्रा भिन्न होगी और आय की प्रत्येक मात्रा के समक्ष भिन्न बचत पूर्ति वक्र (SY) प्राप्त होगा।

कीन्स इस बात पर बल देते हैं कि आय के स्तर में परिवर्तनों की व्याख्या आय द्वारा की जाने वाली बचत के सम्बन्ध में की जानी चाहिए। परम्परावादी सिद्धान्त, जिस के अनुसार ऊँची ब्याज की दर पर अधिक बचत होती है, को गलत बताते हुए कीन्स ने बताया है कि ऊँची ब्याज की दर पर बचत अधिक न होकर कम होगी क्योंकि ऊँची ब्याज की दर पर निवेश में कमी हो जाने के हेतु आय कम हो जाती है तथा बचत की मात्रा आय के स्तर द्वारा निर्धारित होती है।

परम्परावादी सिद्धान्त में मुद्रा की माँग केवल निवेश द्वारा उत्पन्न होती है। इस सिद्धान्त में नकदी अधिमान अथवा नकदी निसंचय के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली मुद्रा की माँग को महत्व नहीं दिया गया है। नकदी अधिमान सिद्धान्त में नकदी अधिमान का ब्याज की दर को निर्धारित करने में एक विशेष महत्व है। नकदी अधिमान सिद्धान्त पूर्णतया स्टाक सिद्धान्त है जब कि परम्परावादी सिद्धान्त पूर्णतया प्रवाह सिद्धान्त है। नकदी अधिमान सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में मौद्रिक क्षेत्र के सन्तुलन से सम्बन्धित हैं जब कि परम्परावादी सिद्धान्त वास्तविक क्षेत्र के सन्तुलन से सम्बन्धित है।

ऋण निधि तथा नकदी अधिमान सिद्धान्तों की तुलना

ब्याज की दर का ऋण निधि सिद्धान्त कीन्स के सिद्धान्त से कुछ महत्वपूर्ण बातों में भिन्न है। प्रथम, जबकि नकदी अधिमान सिद्धान्त में मुद्रा की माँग तथा पूर्ति की व्याख्या स्टाक के रूप में की गई है ऋण निधि सिद्धान्त में ऋण निधि की माँग तथा पूर्ति की व्याख्या स्टाक तथा प्रवाह के रूपों का मिश्रण है। परिणामस्वरूप ब्याज की दर का नकदी अधिमान सिद्धान्त ब्याज की दर की व्याख्या किसी दी हुई समय अवधि में करता है। ऋण निधि सिद्धान्त में मुद्रा के स्टाक का महत्व न होकर मुद्रा के प्रवाह में होने वाले उच्चावचनों का महत्त्व है।

दूसरे, नकदी अधिमान सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति स्वायत्त रूप से मुद्रा अधिकारी द्वारा निर्धारित होती है तथा ब्याज की दर का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परन्तु ऋण निधि सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति ब्याज सापेक्ष है, अर्थात् ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तनों का मुद्रा की उस कुल पूर्ति पर जो ऋण के लिए उपलब्ध होती है प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में जब कि नकदी अधिमान सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा पर ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, ऋण निधि सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति का वक्र धनात्मक ढालू होता है जो यह व्यक्त करता है कि मुद्रा की पूर्ति ब्याजसापेक्ष है।

तीसरे, नकदी अधिमान सिद्धान्त में नकदी अधिमान वक्र (M_d) ब्याज की भिन्न दरों पर नकदी की कुल माँग को व्यक्त करता है जब कि ब्याज दर के ऋण निधि सिद्धान्त में नकदी अधिमान L L वक्र ब्याज की भिन्न दरों पर नकदी की माँग में होने वाले परिवर्तनों को व्यक्त करता है।

आधुनिक सिद्धान्त

ब्याज की दर का आधुनिक अथवा नवकीन्सप्रेरित सिद्धान्त परम्परावादी, ऋण निधि तथा नकदी अधिमान सिद्धान्तों की तुलना में वरिष्ठ है क्योंकि यह सिद्धान्त बचत, निवेश, मुद्रा की सट्टा अथवा नकदी माँग तथा मुद्रा की पूर्ति का एकीकरण करता है। आधुनिक सिद्धान्त ब्याज की दर निर्धारण की समस्या का अध्ययन मौद्रिक तथा वास्तविक क्षेत्रों के सन्तुलन को अध्ययन में सम्मिलित करके करता है। ब्याज की दर के परम्परावादी सिद्धान्त में केवल वास्तविक निर्धारक कारणों—बचत तथा निवेश—की व्याख्या की गई थी तथा मौद्रिक कारणों को इस सिद्धान्त में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इसके विपरीत नकदी अधिमान सिद्धान्त में केवल मौद्रिक कारणों—मुद्रा की पूर्ति तथा माँग—को ब्याज के निर्धारण मे महत्वपूर्ण विचारा गया था। कीन्स के मतानुसार बचत तथा निवेश का ब्याज के निर्धारण में कोई सम्बन्ध नहीं था। यद्यपि ब्याज की दर निर्धारण के ऋणनिधि सिद्धान्त के प्रतिपादकों को यह ज्ञात था कि ब्याज के पूर्ण सिद्धान्त में वास्तविक तथा मौद्रिक कारणों को सम्मिलित करके वास्तविक तथा मौद्रिक क्षेत्रों का युग्मन किया जाना चाहिए तथा उन्होंने ऐसा करने का प्रयास भी किया था परन्तु वे इन दोनों क्षेत्रों का सही प्रकार से युग्मन करने में असफल रहे थे। उनकी इस असफलता का प्रमुख कारण यह था कि जबकि वास्तविक क्षेत्र के कारणों की प्रकृति प्रवाह की थी मौद्रिक क्षेत्र में निर्धारण कारण स्टाक प्रकृति के थे।

ऋण निधि सिद्धान्त के समान स्टाक तथा प्रवाह तत्वों को गलत प्रकार से युग्मन करने के बजाय आधुनिक सिद्धान्त में IS तथा LM दो वक्र हैं। IS वक्र अर्थव्यवस्था के वास्तविक क्षेत्र (real sector) में बचत तथा निवेश प्रवाह कारकों के मध्य सन्तुलन को व्यक्त करता है। LM वक्र मौद्रिक क्षेत्र (monetary sector) में मुद्रा की माँग तथा पूर्ति के मध्य सन्तुलन को व्यक्त करता है। इन दोनों वक्रों के कटाव बिन्दु पर मुद्रा, ब्याज तथा आय का सन्तुलन प्राप्त होता है तथा इस कटाव बिन्दु के समक्ष विद्यमान ब्याज की दर ब्याज की सन्तुलन दर है जिस पर अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक तथा मौद्रिक क्षेत्र सन्तुलन में हैं। ब्याज की इस दर पर वास्तविक क्षेत्र में निवेश तथा बचत के मध्य परस्पर समानता है तथा मौद्रिक क्षेत्र मे मुद्रा की कुल माँग तथा पूर्ति के मध्य समानता है। किसी अन्य ब्याज की दर पर ये दोनों क्षेत्र एक साथ सन्तुलन में नहीं होगे।

ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त की विवेचना करने के हेतु हमको IS तथा LM वक्रों को खींचना चाहिये। IS वक्र, जो अर्थव्यवस्था के वास्तविक क्षेत्र में सन्तुलन का द्योतक है उन भिन्न आय स्तरों (Y) तथा ब्याज की दरों (r) के संयोजनों को व्यक्त करता है जिन के समक्ष समस्त वास्तविक बचत तथा समस्त वास्तविक निवेश के मध्य सन्तुलन है। LM वक्र, जो अर्थव्यवस्था के मौद्रिक क्षेत्र में सन्तुलन को व्यक्त करता है, आय (Y) तथा ब्याज की दर के उन भिन्न संयोजनों को व्यक्त करता है जिन पर मुद्रा की समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति सन्तुलन में हैं।

हमें यह ज्ञात है कि ब्याज की दर के परम्परावादी सिद्धान्त में सन्तुलन के लिये निम्न-लिखित तीन बातों का होना आवश्यक है।

$$I=f(r)$$

$$S=g(r, Y)$$

$$I=S$$

उपरोक्त समीकरणों में I, S, r तथा Y क्रमशः समस्त निवेश, समस्त बचत, ब्याज की दर तथा आय को सूचित करते हैं। कीन्सप्रेरित सिद्धान्त में सन्तुलन के लिये निम्नलिखित तीन बातों का होना आवश्यक है।

$$M_d = L(r, Y)$$
$$Ms = \overline{M}$$
$$M_d = Ms$$

उपरोक्त समीकरणों में M_d, M_s तथा $\overline{M}$ क्रमशः मुद्रा की समस्त माँग, मुद्रा की समस्त पूर्ति तथा मुद्रा की स्थिर पूर्ति को सूचित करते हैं।

उपरोक्त परम्परावादी तथा कीन्सप्रेरित प्रतिरूपों (models) अथवा सिद्धान्तों का किसी एक सिद्धान्त के रूप में एकीकरण करने के लिये सन्तुलन की निम्नलिखित दोहरी शर्त पूरी होनी चाहिये,

$$S = I$$

तथा

$$M_d = Ms$$

सन्तुलन आय तथा सन्तुलन ब्याज की दर आय तथा ब्याज दर के केवल उस विशेष संयोजन के समक्ष विद्यमान होंगे जहाँ सन्तुलन की उपरोक्त दोहरी शर्त पूरी होती है। परन्तु सन्तुलन की उपरोक्त दोहरी शर्त की पुष्टि करने के लिये IS तथा LM वक्रों की आवश्यकता है तथा हमें इन दोनों वक्रों को खींचना चाहिये।

IS वक्र

हमें यह ज्ञात है कि निवेश माँग ब्याज का ऋणात्मक फलन है। इसका यह अर्थ है कि जब ब्याज की दर अधिक होती है तब निवेश की मात्रा कम तथा जब ब्याज की दर कम होती है तब निवेश की मात्रा अधिक होती है। परिणामस्वरूप निवेश माँग वक्र ब्याज की दर के सम्बन्ध में ऊपर से नीचे की ओर ढालू होगा अर्थात् इसका ढाल ऋणात्मक होगा। हमें यह भी ज्ञात है कि बचत आय का धनात्मक फलन है। इसका अर्थ यह है आय में वृद्धि होने पर बचत में भी वृद्धि होती है तथा आय में कमी होने पर बचत में भी कमी होती है। बचत वक्र आय के सम्बन्ध में नीचे से ऊपर की ओर ढालू होगा। IS वक्र को खींचने के लिये हमें ब्याज की उन दरों तथा आय के उन स्तरों को ज्ञात करना चाहिये जिनके समक्ष निवेश तथा बचत समान हैं। हम निम्नलिखित सारणी के द्वारा IS वक्र को प्राप्त कर सकते हैं।

IS वक्र सारणी

निवेश माँग सारणी		बचत पूर्ति सारणी	
ब्याज की दर (r) (प्रतिशत)	निवेश (I) (करोड़ रुपये)	आय (Y) (करोड़ रुपये)	बचत (S) (करोड़ रुपये)
१	२	३	४
८	००	१००	००
७	१०	१२५	१०
६	२०	१५०	२०
५	३०	१७५	३०
४	४०	२००	४०
३	५०	२२५	५०
२	६०	२५०	६०

उपरोक्त सारणी के आधार पर हम ब्याज की दर तथा आय के सन्तुलन संयोजनों को प्राप्त करते है जिनको क्रमश: Y–अक्ष तथा X–अक्ष पर व्यक्त करने पर IS वक्र प्राप्त होगा।

IS अनुसूची

ब्याज की दर (*r*) (प्रतिशत)	आय (Y) (करोड़ रुपये)
८	१००
७	१२५
६	१५०
५	१७५
४	२००
३	२२५
२	२५०

उपरोक्त सारणियों पर आधारित IS वक्र की प्राप्ति को चित्र २१·६ के द्वारा समझाया जा सकता है।

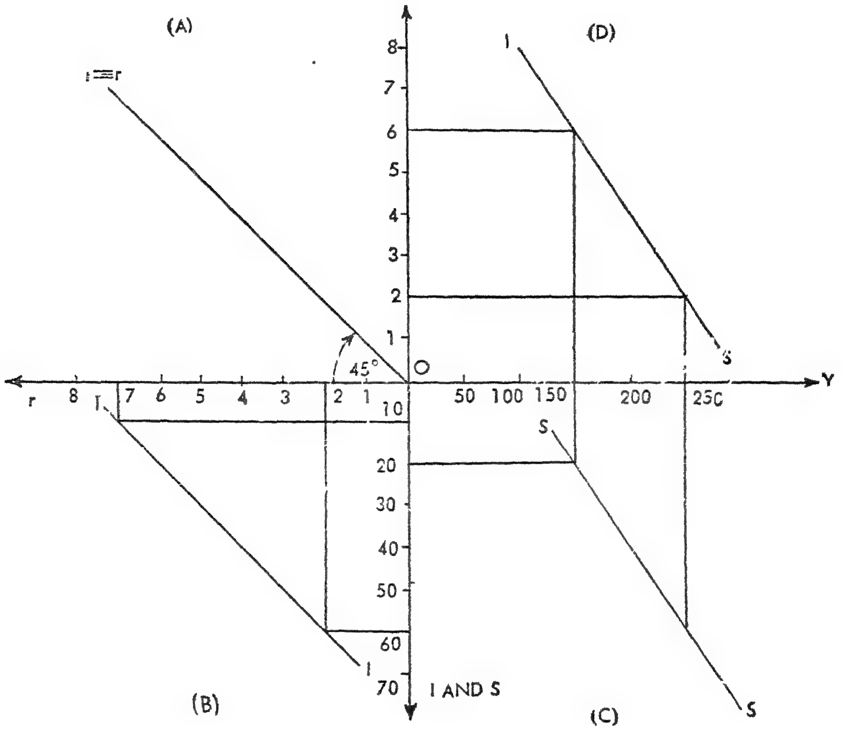

चित्र २१·६

चित्र २१·६ के चार भाग है। भाग A निवेश माँग वक्र को व्यक्त करता है। भाग B में निवेश तथा बचत की समानता को व्यक्त किया गया है। भाग C में आय के उन भिन्न स्तरों को व्यक्त किया गया है जिनके समक्ष सन्तुलन बचत राशि विद्यमान होती है। भाग D में आय तथा ब्याज की दर के उन भिन्न संयोजनों को व्यक्त किया गया है जिनके समक्ष निवेश (I) तथा

बचत (S) में समानता है। IS वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु पर बचत तथा निवेश सन्तुलन में हैं। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था का वास्तविक क्षेत्र सन्तुलन में है।

LM वक्र

ब्याज की दर के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए LM वक्र को प्राप्त करना भी अनिवार्य है क्योंकि जिस प्रकार IS वक्र अर्थव्यवस्था के वास्तविक क्षेत्र में सन्तुलन को व्यक्त करता है उसी प्रकार LM वक्र अर्थव्यवस्था मौद्रिक क्षेत्र के सन्तुलन का द्योतक है। LM वक्र को ज्ञात करने के लिये हम निम्नलिखित काल्पनिक सारणी जो भिन्न ब्याज की दरों तथा आय के स्तरों के समक्ष मुद्रा की कुल—व्यावसायिक तथा सट्टा—माँग को तथा भिन्न ब्याज की दरों पर मुद्रा की कुल पूर्ति को व्यक्त करती है, बना सकते है। विश्लेषण की सरलता की दृष्टि से मुद्रा की समस्त पूर्ति को स्थिर मान लिया गया है अर्थात् $M_S=\overline{M}$। इसका अर्थ यह है कि मुद्रा का पूर्ति वक्र पूर्णतया ब्याजनिरपेक्ष है।"[16]

निम्नलिखित सारणी में M_S; M_1; M_2 तथा Y की राशि करोड़ रुपयों में व्यक्त की गई है।

द्रव्य की पूर्ति (M_S) $M_S=\overline{M}$		द्रव्य की सट्टा माँग (M_1)		द्रव्य की व्यावसायिक माँग (M_1)		द्रव्य की समस्त माँग ($M_d=M_1=M_2$)
r(%)	M_S	r(%	M_2	Y	M_1	(४+६)
१	२	३	४	५	६	७
१	१००	१	७२	७०	२८	१००
२	१००	२	६४	९०	३६	१००
३	१००	३	५६	११०	४४	१००
४	१००	४	४८	१३०	५२	१००
५	१००	५	४०	१५०	६०	१००
६	१००	६	३२	१७०	६८	१००
७	१००	७	२४	१९०	७६	१००
८	१००	८	१६	२१०	८४	१००

उपरोक्त सारणी से हम आय तथा ब्याज की दर के उन भिन्न संयोजनों को ज्ञात कर सकते है जिनके समक्ष द्रव्य की समस्त माँग Md ($=M_1+M_2$) द्रव्य की कुल पूर्ति ($M_S=\overline{M}=$१०० करोड़ रुपये) के समान है। आय तथा ब्याज की दर के इन भिन्न संयोजनों को चित्र में क्रमशः X-अक्ष तथा Y-अक्ष पर व्यक्त करने से हमें LM वक्र ज्ञात होगा। ब्याज की दर तथा आय के सन्तुलन संयोजनों को, जो उपरोक्त सारणी की तीसरी तथा पाँचवी पंक्तियों में व्यक्त किये गये हैं, निम्नलिखित सारणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

16. हम द्रव्य की पूर्ति को ब्याजसापेक्ष भी विचार सकते हैं। ब्याज की दर में वृद्धि अथवा कमी होने पर द्रव्य की पूर्ति में भी वृद्धि अथवा कमी होगी। इस वृद्धि तथा कमी की मात्रा द्रव्य की पूर्ति की ब्याजसापेक्षता द्वारा निर्धारित होगी। परन्तु इससे विश्लेषण में कोई मूल परिवर्तन नहीं होगा। LM वक्र का ढाल अब भी धनात्मक होगा यद्यपि वक्र का ढाल अब पहले की अपेक्षाकृत कम होगा। ब्याज की किसी एक दी हुई दर पर द्रव्य की पूर्ति पूर्णतया ब्याजसापेक्ष होने की असाधारण स्थिति में LM वक्र का ढाल शून्य होगा।

ब्याज दर तथा आय के सन्तुलन संयोजन

ब्याज दर (r) (प्रतिशत)	आय (Y) करोड़ रुपये
१	७०
२	९०
३	११०
४	१३०
५	१५०
६	१७०
७	१९०
८	२१०

उपरोक्त सारणियों पर आधारित LM वक्र को चित्र २१·७ के द्वारा समझाया जा सकता है।

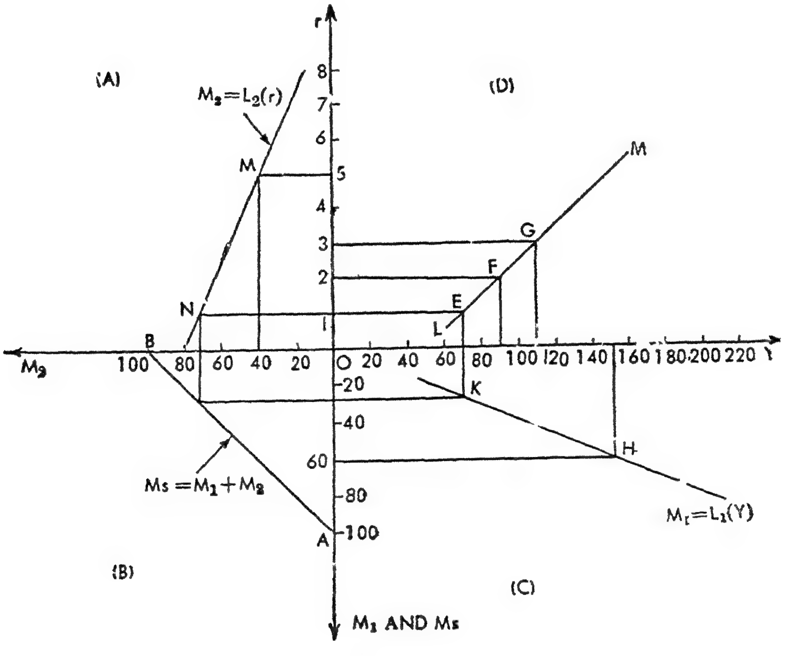

चित्र २१·७

उपरोक्त चित्र २१·७ के चार भाग हैं जिनमें परस्पर सम्बन्ध है। भाग A में द्रव्य की सट्टा माँग (M_2), जो ब्याज की दर द्वारा निर्धारित होती है, को व्यक्त किया गया है। भाग B में द्रव्य की कुल पूर्ति को, जो १०० करोड़ रुपये है, द्रव्य की सट्टा माँग (M_2) तथा व्यावसायिक माँग (M_1) में विभाजित किया गया है। भाग C में द्रव्य की व्यावसायिक माँग (M_1) को व्यक्त किया गया है। भाग D में LM वक्र को प्राप्त किया गया है। इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु

पर अर्थव्यवस्था का मौद्रिक क्षेत्र सन्तुलन में है, अर्थात् मुद्रा की समस्त मांग मुद्रा की समस्त पूर्ति (जिसे हमने १०० करोड़ रुपये की स्थिर राशि माना है) के समान है।

ब्याज की दर को ज्ञात करना

IS तथा LM वक्रों को प्राप्त करने के पश्चात् अब हमें ब्याज की दर ज्ञात करने के लिये इन दोनों वक्रों को एक साथ एक चित्र में व्यक्त करना चाहिए जैसा कि चित्र २१·८ में किया गया है।

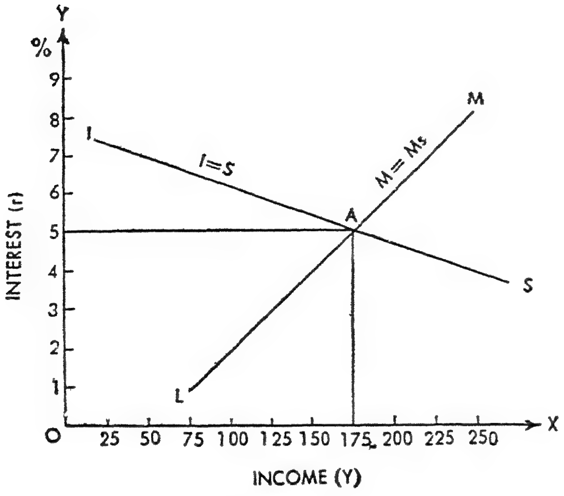

चित्र २१·८

उपरोक्त रेखा चित्र २१·८ में आय को X-अक्ष तथा ब्याज की दर को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। चित्र में IS तथा LM वक्र चित्र २१·६ तथा चित्र २१·७ में प्राप्त किये गये IS तथा LM वक्रों के अनुरूप हैं। IS तथा LM वक्र एक दूसरे को A बिन्दु पर काटते हैं तथा इस बिन्दु के समक्ष सन्तुलन ब्याज की दर ५ प्रतिशत तथा सन्तुलन आय की राशि १७५ करोड़ रुपये है। ५ प्रतिशत ब्याज की दर तथा १७५ करोड़ रुपये राशि की आय के संयोजन के समक्ष अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक क्षेत्र तथा मौद्रिक क्षेत्र सन्तुलन में हैं। ब्याज की दर निर्धारण का यह आधुनिक सिद्धान्त है।

अध्ययन सूची

1. Dudley Dillard : The Economics of John Maynard Keynes, Chapter 8.
2. D. H. Robertson : "Alternative Theories of the Rate of Interest", Economic Journal, 1937.
3. J. W. Conard : Introduction to the Theory of Interest, Chapters IX, XI and XII.
4. J. R. Hicks : "Mr. Keynes and the 'Classics': A Suggested Interpretation," *Econometrica*, *Vol.* 5 (1937), pp. 147-159.
5. A. H. Hansen : Monetry Theory and Fiscal Policy, Chapters IV-V, 71-83.

6. J. M. Keynes : The General Theory of Employment Interest and Money, Chapters 13, 15 and 17.
7. A. H. Hansen : A Guide to Keynes, Chapter 7.
8. R. Klein : The Keynesian Revolution, Chapter 3.
9. W. T. Newlyn : Theory of Money, Chapter VIII.
10. Martin J. Bailey : National Income and the Price Level, Chapter II.

प्रश्न

1. Compare the liquidity preference theory of interest with the classical theory of interest.
2. In what respects do you regard the loanable-funds theory of interest to be an improvement over the classical theory of interest ?
3. Bring out the distinction between the natural and the maket rates of interest. Can the two rates be different ?
4. Discuss the modern theory of rate of interest.

चौथा भाग

साख मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय
तथा
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

२२

साख-मुद्रा
(Credit)

आधुनिक युग में साख-मुद्रा का महत्त्व इतना अधिक है कि अर्थशास्त्रियों ने आधुनिक अर्थव्यवस्था को साख-मुद्रा अर्थव्यवस्था से सम्बोधित किया है। यद्यपि मुद्रा, साख-मुद्रा का आधार है परन्तु अधिकांश वर्तमान आर्थिक क्रियाएँ साख-मुद्रा के द्वारा पूरी की जाती हैं। वर्तमान समय में साख-मुद्रा पर सम्पूर्ण वित्तीय प्रणाली आधारित है। हॉटरे (R. G. Hawtrey) तथा (H. P. Willis) ने साख-मुद्रा को आधुनिक आर्थिक प्रणाली की ऐसी महत्वपूर्ण आधारशिला बताया है जिस पर सभी आर्थिक क्रियाएँ आश्रित हैं। अन्य अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार साख-मुद्रा वर्तमान युग में पूँजी के अन्तरण का साधन है। उदाहरणार्थ, जॉन स्टिवार्ट मिल का कहना था कि समाज की दृष्टि से साख-मुद्रा उपलब्ध पूंजी के अन्तरण का साधन है। स्वयं में यह पूँजी नहीं है। इस के द्वारा अर्थव्यवस्था में वर्तमान पूँजी का उत्पादक हाथों में अन्तरण हो जाता है।

अँग्रेजी भाषा के शब्द 'credit' की उत्पत्ति यूनानी भाषा के *'Credo'* शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'I Believe' अर्थात् मैं विश्वास करता हूँ। इसलिए 'credit' का सम्बन्ध विश्वास से है। परन्तु यूनानी भाषा का *Credo* शब्द स्वयं संस्कृत भाषा के शब्द *Cred* से प्राप्त हुआ है। विंगफील्डस्ट्रेटफोर्ड के अनुसार साख का अभिप्राय केवल विश्वास से है।[1] कोल (G. D. H. Cole) के अनुसार साख-मुद्रा उस क्रय-शक्ति को कहते हैं जो वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रयोग करने के उद्देश्य से उत्पन्न की जाती है।[2] जीड के अनुसार साख-मुद्रा उस विनिमय कार्य को कहते हैं जो कुछ काल पश्चात भुगतान करने पर समाप्त हो जाता है। थॉमस के विचार में साख वह विश्वास

1. Credit is "nothing more or less than faith ; and faith no less on the stock exchange than before the alter, is the substance of things hoped for, the evidence of things not seen." (Wingfield Stratford : *History of British Civilisation*, Vol. II, p. 651.)
2. "Credit is purchasing power not derived from income, but created by financial institutions either as an offset to idle incomes held by depositors in the banks, or as a net addition to the total amount of purchasing power."
(G D. H. Cole : *Money : Its Present and Future*, p. 308.)

है जो एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति में रखकर अपनी कुछ वस्तुएँ उस दूसरे व्यक्ति को देता है, भले ही ये वस्तुएँ मुद्रा, सेवा अथवा साख-मुद्रा क्यों न हों।[3]

साख-मुद्रा का वर्गीकरण

वर्तमान समय में साख-मुद्रा की आवश्यकता अनेक आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए इतनी अधिक मात्रा में पड़ती है कि साख-मुद्रा का वर्गीकरण करना सरल नहीं है। उपयोग के आधार पर साख-मुद्रा का वर्गीकरण औद्योगिक साख-मुद्रा, वाणिज्य साख-मुद्रा, कृषि साख-मुद्रा इत्यादि में किया जा सकता है। ऋण की अवधि के आधार पर साख-मुद्रा अल्पकालीन; मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन हो सकती है। अल्पकालीन साख-मुद्रा का भुगतान ऋणी द्वारा एक वर्ष से कम के अल्प समय के पश्चात् किया जाता है जब कि मध्यकालीन साख-मुद्रा ऋण के रूप में १ वर्ष से लेकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिये प्राप्त की जाती है। दीर्घकालीन साख-मुद्रा का भुगतान पाँच वर्ष अथवा इससे अधिक दीर्घ समय के पश्चात् किया जाता है। उत्पादकता की दृष्टि से साख-मुद्रा का वर्गीकरण उत्पादक तथा अनुत्पादक साख-मुद्रा में किया जा सकता है। उधारकर्ता के अनुसार साख मुद्रा का वर्गीकरण व्यक्तिगत साख-मुद्रा तथा संस्थागत साख-मुद्रा में किया जा सकता है। संस्थागत साख-मुद्रा का उपयोग सरकारी, अर्धसरकारी तथा गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा किया जाता है जबकि व्यक्तिगत साख-मुद्रा व्यक्तियों तथा व्यक्तिगत संस्थाओं को उत्पादक अथवा अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण के रूप में दी जाती है।

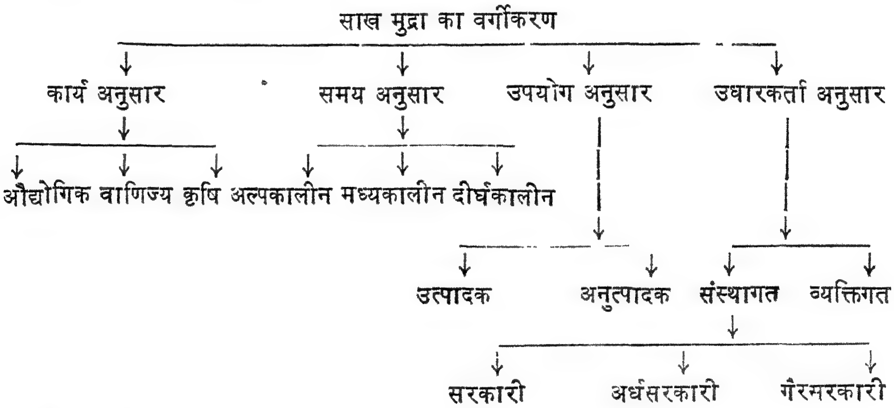

साख-मुद्रा का महत्त्व

अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में साख-मुद्रा का आर्थिक तथा सामाजिक महत्त्व इतना अधिक है कि साख-मुद्रा के बिना वर्तमान स्था समाज की कल्पना करना कठिन है। वर्तमान समाज में अधिकांश आर्थिक क्रियाएँ साख-मुद्रा द्वारा की जाती हैं। वर्तमान समय में साख-मुद्रा के विशेष महत्व को बम्बई अथवा कलकत्ता के समान बड़े शहर में जाकर समझा जा सकता है। बड़े आकार के सभी आर्थिक लेन-देन मुद्रा के द्वारा न होकर साख-मुद्रा—चैक, ड्राफ्ट, हुण्डियों

3. "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another, whether that 'something' consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation." (S. E. Thomas . *Elements of Economics*.)

इत्यादि साख-मुद्रा पत्रों—द्वारा किए जाते हैं। इसी कारण साख-मुद्रा को बहुधा वाणिज्य का जीवन-रक्त कहा जाता है और यह सत्य भी है क्योंकि यदि हम थोड़ी देर के लिये समाज में साख-मुद्रा के कार्यों की ओर ध्यान दें तो साख-मुद्रा का वर्तमान घना महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। साख-मुद्रा प्रणाली गत १०० वर्षों में विशेष रूप से समाज की आर्थिक उन्नति के लिए महत्वपूर्ण तथा आवश्यक बन गई है। डैनियल वैब्सटर (Daniel Webster) ने समाज में साख-मुद्रा के वर्तमान महत्त्व को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। साख-मुद्रा के महत्व की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि "साख-मुद्रा ने संसार को धनी बनाने में संसार की सारी खानों की तुलना में हजार गुना अधिक कार्य किया है। साख-मुद्रा ने श्रम को कार्य करने के लिए प्रोत्साहन दिया है; उत्पादन तथा दस्तकारी में वृद्धि की है, व्यापार का समुद्र पार स्थापित किया है तथा संसार के प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक राज्य व प्रत्येक जाति को एक दूसरे के समीप लाकर अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता व सच्चे आर्थिक सहयोग की भावना को उत्पन्न किया है।"[4]

जॉन स्टुअर्ट मिल ने साख-मुद्रा के महत्व के सम्बन्ध में लिखा है कि "साख-मुद्रा का कार्य पूँजी का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अन्तरण करना है परन्तु यह अन्तरण उन व्यक्तियों को किया जाता है जो पूँजी का उत्पादक उपयोग करने के योग्य होने हैं। यदि समाज में साख-मुद्रा का उपयोग न हुआ होता तो जिन ऐसे व्यक्तियों के पास पूँजी हुई होती जो अयोग्य होने अथवा पूँजी का उत्पादक प्रयोग करने के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण इस का निवेश करने की सामर्थ्य नहीं रखते थे, वह पूँजी व्यर्थ ही रही होती। ब्याज पर उद्यमकर्ताओं को पूँजी उधार दिये जाने के परिणामस्वरूप इसका उत्पादक उपयोग सम्भव हो जाता है····यद्यपि साख-मुद्रा का व्यापक प्रयोग होने से समस्त पूँजी की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है परन्तु उत्पादन क्षमता का उपयोग होने के हेतु इष्टतम उत्पादन सम्भव हो जाता है।"[5]

आधुनिक मुद्रा प्रेरित अर्थव्यवस्था में साख-मुद्रा अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित कार्यों को सम्पन्न करने में सहायक होती है।

१. साख-मुद्रा अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूरक बनकर विनिमय कार्य को सरल बनाती है। साख-मुद्रा वर्तमान समय में विनिमय माध्यम का एक अतिसरल तथा मितव्ययी साधन है। साख-मुद्रा प्रामाणिक मुद्रा के उपयोग में मितव्ययता सम्भव बनाती है। धातु के सिक्कों के मुद्रण में जो व्यय होता है उसमें साख-मुद्रा के उपयोग द्वारा भारी कमी हो जाती है। जब बहुमूल्य धातुओं के सिक्के संचलनशील होते हैं तो घिसावट के कारण काफी धातु नष्ट हो जाती है। साख-मुद्रा के उपयोग द्वारा समाज इस अपव्यय से मुक्त हो जाता है तथा बहुमूल्य धातु औद्योगिक तथा शिल्पकला कार्यों के लिये प्राप्त हो जाती हैं। साख-मुद्रा संचलन में विनिमय माध्यम की पूर्ति में आवश्यकतानुसार वृद्धि तथा संकुचन को सम्भव बनाकर देश की मुद्रा प्रणाली को स्थिति-सापेक्षता प्रदान करती है।

२. साख-मुद्रा वर्तमान बड़े पैमाने की उत्पादन तथा विनिमय प्रणालियों को विकास मार्ग पर प्रोत्साहन प्रदान करती है। यह देश की सरकार को उसकी आय की तुलना में अधिक व्यय करने के योग्य बनाकर देश में बेरोजगारी समाप्त करने में सहायक सिद्ध होती है। यह

4. "Credit has done more—a thousand times more—to enrich nations than all the mines of the world. It has excited labour, stimulated manufactures, pushed commerce on every sea, and brought every nation, every kingdom, and every small tribe among the races of men to be known to all the rest" (*Daniel Webster*).

5. J. S. Mill : *Principle of Political Economy*, Book III, Chapter XI.

ईमानदारी तथा व्यापार में निपुण उन व्यक्तियों को जिनके पास अपनी पूँजी नहीं होती है व्यापार करने के योग्य बनाती है। ऐसा करने से व्यक्तियों को लाभ प्राप्त होने के अतिरिक्त समाज को भी सस्ती वस्तुओं के उत्पादन द्वारा लाभ होता है। साख-मुद्रा कुशल व्यापारियों को पूँजी की मात्रा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने का अवसर प्रदान करती है। साख-मुद्रा देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की बिक्री के क्षेत्र को व्यापकता प्रदान करके अर्थव्यवस्था में अधिक उपभोग को सम्भव बनाती है तथा देश में संगठित बाजारों के विकास व उत्पादनशक्ति में वृद्धि को वास्तविकता प्रदान करती है।

३. साख-मुद्रा अर्थव्यवस्था में उपभोग में वृद्धि करने में सहायता प्रदान करके उच्च जीवन स्तर को सम्भव बनाती है। पश्चिम के उन्नतिशील देशों में, जहाँ बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएँ उपभोक्ताओं को किश्तों पर उधार देती हैं, उपभोक्ता साख-मुद्रा (consumer credit) का विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग उत्पन्न करके अधिक उपभोग को सम्भव बनाने में विशेष महत्व है। अमरीका तथा यूरोप के विकसित देशों में जहाँ उपभोक्ता साख-मुद्रा की प्रथा प्रचलित है, उपभोक्ता वस्तुओं तथा सेवाओं का अधिक मात्रा में उपभोग करते हैं। उपभोक्ता साख-मुद्रा की सुविधा प्राप्त होने से उपभोग वस्तुओं की माँग तथा बाजार का क्षेत्र व्यापक हो जाता है तथा वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगता है जिससे लोगों की आय तथा जीवन स्तर में वृद्धि हो जाती है।

४. साख-मुद्रा के द्वारा बचतकर्ताओं की बचत का निवेश सम्भव हो जाता है तथा ऐसा होने से लोगों में बचत करने की आदत को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। बचत करने की शक्ति तथा इच्छा को प्रोत्साहित करके साख-मुद्रा देश में पूँजी संचय को प्रोत्साहित करती है।

५. पूँजी की राशि में वृद्धि करके साख-मुद्रा वर्तमान बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली को प्रोत्साहन प्रदान करती है। यह कहना अनुचित न होगा कि साख-मुद्रा के बिना वर्तमान बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली अविकसित रूप में रही होती। वर्तमान बड़ी निगमों की अधिकांश पूँजी बैंकों, बीमा कम्पनियों, निवेश न्यासों इत्यादि साख-मुद्रा संस्थाओं द्वारा प्राप्त की जाती है।

६. साख-मुद्रा पूँजी के इष्टतम उपयोग को सम्भव बनाती है। मुद्रा के द्वारा पूँजी का सृजन होने के अतिरिक्त इसका भिन्न उपयोगों में सम-सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार वितरण भी सम्भव हो जाता है। ऋणी ऋणदाता की तुलना में अधिक कुशल होता है और जब साख-मुद्रा के रूप में ऋणी को ब्याज पर पूँजी प्राप्त होती है तो इसका अधिक उत्पादक उपयोग होता है। परन्तु ऋणदाता अपनी पूँजी को बहुत से ऋणियों में से केवल उसी ऋणी को उधार देता है जो उसे सबसे अधिक ब्याज देता है। इसका यह अर्थ है कि पूँजी का अधिकतम उत्पादक उपयोग होगा।

७. साख-मुद्रा पूँजी संचय की मात्रा पर प्रभाव डाल कर देश में उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा पर प्रभाव डालती है। साख-मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था को मन्दी से मुक्त किया जा सकता है तथा अर्थव्यवस्था से बेरोजगारी को समाप्त किया जा सकता है। साख-मुद्रा की मात्रा को कम करके अभिवृद्धि तथा स्फीति को रोका जा सकता है।

८. साख-मुद्रा वर्तमान वित्तीय संस्थाओं को समाज की सेवा करने के योग्य बनाती है। साख-मुद्रा का निर्माण करके बैंक समाज को पर्याप्त मात्रा में पूँजी देने के योग्य बन जाती हैं तथा वे अर्थव्यवस्था में उत्पादन-क्षमता का विकास करने में सहायता प्रदान करती हैं।

साख-मुद्रा पर नियन्त्रण की आवश्यकता

आधुनिक युग में साख-मुद्रा के अत्यधिक महत्त्व की उपरोक्त विवेचना से हमें यह नहीं समझना चाहिए कि साख-मुद्रा दोष रहित है। मुद्रा के समान साख-मुद्रा भी समाज के लिये अनेक मुसीबतों का कारण बनी है। यद्यपि यह कहना सत्य है कि अधिकांश वर्तमान आर्थिक विकास जो हम अपने चारों ओर आज देखते हैं साख-मुद्रा के बिना सम्भव नहीं हुआ होता परन्तु यह कहना भी कुछ कम सत्य नहीं है कि साख-मुद्रा उन अनेक वर्तमान आर्थिक संकटों का जिन्होंने संसार के राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं को समय-समय पर अस्त-व्यस्त कर दिया है कारण बनी है। उदाहरण के लिए, १९२०-२१ ई० का आर्थिक संकट अस्थिर साख-मुद्रा स्थिति का परिणाम था। १९२९ ई० की महान मन्दी का एक प्रमुख कारण यह था कि साख-मुद्रा का सरकारी ऋण-पत्रों के आधार पर अत्यधिक विस्तार किया गया था। संसार का आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुद्रा के समान, यदि साख-मुद्रा पर भी नियन्त्रण न रखा जाये तो समाज को अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। राबर्टसन का वह प्रसिद्ध कथन[6] जो उन्होंने मुद्रा के सम्बन्ध में उस पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता को स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखा है साख-मुद्रा पर भी लागू होता है। यदि समाज में साख-मुद्रा की मात्रा अत्यधिक हो जाती है तो देश में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश के आर्थिक विकास में कठिनाई होती है। व्यापार तथा उद्योग के विकास में वृद्धि करने के स्थान पर साख-मुद्रा देश में अस्थिरता उत्पन्न कर देती है। इन सब दोषों के अतिरिक्त साख-मुद्रा ने समाज में दो परस्पर विरोधी वर्गों को जन्म देकर वर्ग संघर्ष की घटना को उत्पन्न कर दिया है। समाज में 'दरिद्र तथा धनी' दो परस्पर विरोधी वर्गों की उत्पत्ति को साख-मुद्रा द्वारा प्रोत्साहन मिला है। अर्थव्यवस्था को स्वस्थ अवस्था में रखने के लिये साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

बैंकों द्वारा साख-मुद्रा का निर्माण

किसी भी देश की बैंकिंग प्रणाली व्यापार तथा उद्योग को वित्तीय सहायता प्रदान करके उस देश के आर्थिक विकास में भारी योगदान देती है। परन्तु यह सब साख-मुद्रा के निर्माण द्वारा संभव हो पाता है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिये साख-मुद्रा के निर्माण की विधि को समझना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान समय में जिस साख-मुद्रा का अर्थव्यवस्था के विकास में इतना अधिक महत्त्व है उसका निर्माण बैंकों द्वारा किया जाता है। समाज में बैंक फालतू नक़दी को उद्यमकर्ताओं को ऋणों के रूप में उधार देकर साख-मुद्रा का निर्माण करती हैं। वैसे यदि किसी बैंक के प्रबन्धक से यह प्रश्न किया जावे कि क्या उसकी बैंक साख-मुद्रा का निर्माण करती है तो वह इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर 'नहीं' में देगा। साख-मुद्रा निर्माण के विषय में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, यद्यपि अर्थव्यवस्था में, जहाँ अनेक व्यक्तिगत बैंक होती हैं, कोई एक बैंक अपनी कुल नकदी जमा का केवल कुछ प्रतिशत भाग ऋण के रूप में उधार दे सकती है परन्तु अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली कुल नकद जमाओं (cash deposits) की कई गुना राशि उधार देकर कई गुना साख-मुद्रा का निर्माण करती है। दूसरे, साख-मुद्रा निर्माण के विषय में प्राथमिक जमाओं (primary deposits) तथा गौण जमाओं (secondary deposits) के मध्य अन्तर करना आवश्यक है। प्राथमिक जमाओं को निष्क्रिय अथवा प्रत्यक्ष जमा तथा गौण जमाओं को सक्रिय अथवा परोक्ष जमा भी कहते हैं। प्राथमिक जमाओं का निर्माण बैंकों द्वारा नहीं किया जाता

---

6. "Money, which is a source of many blessings to mankind, becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion." (Robertson : *Money*.)

है। प्राथमिक जमा बैंकों को जमाकर्ताओं से नकदी के रूप में प्राप्त होती है। इसके विपरीत गौण अथवा सक्रिय जमाओं का निर्माण प्राथमिक जमाओं के आधार पर बैंकों द्वारा व्यापारियों को अग्रिम तथा ऋण देने के परिणामस्वरूप होता है। इस प्रकार गौण जमा प्राथमिक जमाओं का परिणाम होती है तथा गौण जमाओं के निर्माण के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती हैं।

बैंक एक वाणिज्य संस्था है तथा अन्य वाणिज्य संस्थाओं के समान बैंक का लक्ष्य भी अपनी क्रियाओं के द्वारा—जमाओं को प्राप्त करके तथा ऋण देकर—लाभ प्राप्त करना होता है। साख-मुद्रा का निर्माण करके ऋणियों को ऋण प्रदान करना बैंक के लाभ प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन है। बैंक का कुशल प्रबन्धक अपनी आवश्यकता से अधिक नकदी को अपने पास रखना नहीं चाहेगा। वह इस नकदी को उपयुक्त समय के लिए उधार देकर अधिकतम आय प्राप्त करने का भरसक प्रयास करेगा।

साख-मुद्रा निर्माण की प्रक्रिया का श्रीगणेश जमाकर्त्ताओं द्वारा बैंक में प्राथमिक जमाओ के रूप में अपनी फालतू नकदी को जमा करने के समय होता है। प्रत्येक बैंक को अनुभव द्वारा यह ज्ञात होता है कि जमाकर्त्ता अपनी जमाओं के कितने भाग को समय-समय पर नकदी के रूप में वापस लेते हैं। बेशी नकद जमाओं को ऋणियों को जमाओं की प्रकृति के अनुसार उपयुक्त समय के लिए उधार देकर ब्याज आय प्राप्त की जा सकती है। सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की दृष्टि से साख-मुद्रा निर्मिण की प्रकृति बहुगुणक होती है, अर्थात् प्राथमिक जमाओं में दी हुई आरम्भिक वृद्धि होने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली में कुल जमाओं में आरम्भिक वृद्धि का गुणक गुना वृद्धि हो जाती है। इस जमा गुणक का अंकीय मूल्य एक से अधिक परन्तु अनन्त से कम होता है। परन्तु जहाँ तक किसी एक बैंक का प्रश्न है सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली में कोई एक बैंक कुल आरम्भिक अथवा प्राथमिक जमा का केवल कुछ प्रतिशत भाग उधार देकर साख-मुद्रा का निर्माण कर सकती है। किसी एक बैंक की अधिकतम साख-मुद्रा निर्माण शक्ति जमाकर्ताओं द्वारा प्राप्त प्राथमिक जमाओं की राशि द्वारा निर्धारित होती है।

साख-मुद्रा निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया में मुद्रा अधिकारी अथवा केन्द्रीय बैंक; बैंकिंग प्रणाली अथवा बैंक; जनता, जिसमे जमाकर्त्ता तथा प्रत्याहारकर्त्ता सम्मिलित होते है, तथा उधार-कर्ता वर्ग चार पक्ष होते हैं। साख-मुद्रा निर्माण के सम्बन्ध में उधारकर्ता वर्ग का यह महत्व है कि यह वर्ग साख-मुद्रा की उस वास्तविक माँग राशि को निर्धारित करता है जिसका सम्पूर्ण बैंकिग प्रणाली निर्माण करती है। अन्य तीनों पक्ष बैंकिंग प्रणाली की इष्टतम साख-मुद्रा पूर्ति क्षमता अथवा साख-मुद्रा की उस इष्टतम राशि को, जिसका निर्माण बैंकिंग प्रणाली द्वारा किया जा सकता है, निर्धारित करते हैं।

रिकार्डो के मतानुसार बैंक के विशेष कार्य का श्रीगणेश उस समय होता है जब वह दूसरों—जमाकर्ताओं—के रुपये का उपयोग करती है। दूसरे शब्दों में, जब तक बैंक अपनी ही पूँजी को उधार देती है तब तक वह केवल पूँजीपति रहती है। संक्षेप में बैंक अपने जमाकर्ताओं के रुपये का लेन-देन करती है। इस कारण बैंक द्वारा साख-मुद्रा निर्माण का सम्बन्ध इसके अपने जमाकर्ताओं के रुपये को निवेशकर्ताओ को उधार देने से होना चाहिए। साख-मुद्रा के विस्तार अथवा संकुचन मे केन्द्रीय बैंक का, जिसे मुद्रा अधिकारी की सत्ता प्राप्त होती है, अत्यधिक महत्त्व होता है। साख-मुद्रा का विस्तार अथवा संकुचन बैंक जमाओं के विस्तार अथवा संकुचन द्वारा होता है। यह समझने के लिए कि साख-मुद्रा का निर्माण किस प्रकार किया जाता है बैंक जमाओं

के विस्तार की प्रक्रिया का आरम्भ केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में सरकारी ऋणपत्रों की खरीद द्वारा जिसके परिणामस्वरूप बैंकों की जमाओं में वृद्धि हो जाती है, हो सकता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक के न्यूनतम वैध निधि अनुपात की राशि में भी कमी करके सदस्य बैंकों की नकदी में वृद्धि करके इनको निवेशकर्ताओं को अधिक राशि के ऋण प्रदान करने योग्य बनाकर बैंकों की इष्टतम साख-मुद्रा निर्माण क्षमता में वृद्धि कर सकती है। साख-मुद्रा निर्माण का अध्ययन क्रमशः एक बैंक तथा बहु बैंक बैंकिंग प्रणालियों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

एक बैंक बैंकिग प्रणाली

वाणिज्य बैंक के कार्यों की प्रकृति को समझने के उद्देश्य से हमें यह मान लेना चाहिये कि देश में केवल एक बैंक है। एक बैंक बैंकिंग प्रणाली एक बैंक द्वारा साख-मुद्रा निर्माण की प्रक्रिया को समझने के पश्चात् हम इस अवास्तविक मान्यता को समाप्त करके बहु-बैंक बैंकिंग प्रणाली में साख-मुद्रा निर्माण का अध्ययन करेंगे।

प्रत्येक बैंक की कुछ चुकती पूँजी (paid-up capital) होती है जिससे वह बैंक अपना वाणिज्य कार्य आरम्भ करती है। मानलीजिये कि बैंक की चुकती पूँजी १,०००,००० रुपये है। यह धन राशि बैंक के तुलन-पत्र (balance-sheet) में देयता (liabilities) खाते में दिखाई जावेगी। मानलीजिये कि इस चुकती पूँजी में से बैंक १००,००० रुपये दफ्तर की इमारत तथा फर्नीचर आदि पर व्यय कर देती है। इसका अर्थ यह है कि बैंक के पास ९००,००० रुपये राशि की नकदी शेष रह जाती है। इस परिस्थिति में बैंक का तुलन-पत्र निम्नलिखित प्रकार होगा।

तुलन-पत्र १

परि सम्पत्ति (Assets)		देयता (Liabilities)	
नकदी	९००,००० रुपये	चुकता पूँजी	१,०००,००० रुपये
इमारत तथा फर्नीचर	१००,००० ,,		
जोड़	१,०००,००० रुपये	जोड़	१,०००,००० रुपये

९ लाख रुपये की नकदी से बैंक अपना कार्य आरम्भ करती है। बैंक के स्थापित हो जाने के पश्चात् देश में व्यक्ति बैंक की सेवाओं का लाभ प्राप्त करने के इच्छुक होंगे। मानलीजिए कि जमाकर्ता १ लाख रुपये बैंक में जमा करते हैं। बैंक को १ लाख रुपये की नकदी प्राथमिक जमाओं के रूप में प्राप्त होजाने के कारण बैंक की परिसम्पत्ति में १ लाख रुपये की राशि की वृद्धि हो जावेगी। परन्तु इसके साथ ही बैंक के देयताओं में भी १ लाख रुपये की राशि की वृद्धि हो जावेगी क्योंकि बैंक जमाकर्ताओं को उनकी जमा को बैंक के नियमों के आधीन किसी भी समय वापस देने का बचन देती है। बैंक को १ लाख रुपये की नकद माँग जमा प्राप्त होने पर यद्यपि संचलन में १ लाख रुपये की मुद्रा कम हो जाती है परन्तु बैंक की जमाओं में समान मात्रा की वृद्धि हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल पूर्ति स्थिर रहती है।

वर्तमान समय में सभी देशों में केन्द्रीय बैंक होती है तथा प्रत्येक वाणिज्य बैंक को अपनी कुल जमाओं का कुछ भाग न्यूनतम वैध निधि अनुपात के रूप में केन्द्रीय बैंक के पास रखना अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, यदि माँग जमाओं का १० प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम वैध निधि अनुपात के रूप में रखना आवश्यक है तो बैंक को प्राप्त १ लाख रुपये की माँग जमाओं का १० प्रतिशत अथवा १०,००० रुपये केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम वैध निधि अनुपात के रूप में भेजने होंगे। इसका अर्थ यह है कि बैंक के पास ९०,००० रुपये की नकदी शेष रह जावेगी। परिणामस्वरूप बैंक का तुलन-पत्र निम्नलिखित प्रकार होगा।

तुलन-पत्र २

परिसम्पत्ति		देयता	
नकदी	१,०९०,००० रुपये		
इमारत तथा फर्नीचर	१००,००० ,,	चुकती पूँजी	१,०००,००० रुपये
केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम वैध आरक्षण राशि	१०,००० ,,	माँग जमा	१,००,००० रुपये
जोड़	१,१००,०००	जोड़	१,१००,००० ,,

अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली को चालू अवस्था में रखने के लिये व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को वित्तीय सहायता की आवश्यकता होती है। यह सहायता वे बैंकों से ऋण प्राप्त करके प्राप्त करते हैं। मानलीजिए कि व्यापारी तथा उद्योगपति बैंक से ५० लाख रुपये की धनराशि का ऋण प्रदान करने का निवेदन करते हैं तथा इस ऋण के ऋणाधार के रूप में वे भाररहित अनुमोदित ऋण पत्र, कच्ची सामग्री व मकान इत्यादि ठोस गोचर ऋणाधार बैंक के पास गिरवी रखने को तैयार हैं। बैंक द्वारा ऋण देने पर बैंक के देयताओं में ५० लाख रुपये की राशि की वृद्धि हो जावेगी तथा बैंक की कुल माँग जमा १ लाख से बढ़कर ६ लाख रुपये हो जावेगी। परन्तु बैंक द्वारा ऋण प्रदान करने के कारण इसकी परिसम्पत्ति में भी १० लाख रुपये की धनराशि की वृद्धि हो जावेगी क्योंकि बैंक को ऋण देने के बदले में ऋणियों से कच्ची सामग्री, ऋण पत्र इत्यादि परिसम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई हैं। १० लाख रुपये की धनराशि का ऋण प्रदान करने पर बैंक का तुलन-पत्र निम्नलिखित प्रकार होगा।

तुलन-पत्र ३

परिसम्पत्ति		देयता	
		चुकती पूँजी	१,०००,००० रुपये
नकदी	९४०,००० रुपये	पुरानी माँग जमा	१००,००० ,,
इमारत तथा फर्नीचर	१००,००० ,,	नई ,,	१५००,००० ,,
केन्द्रीय बैंक के पास जमा आरक्षण	६०,००० ,,	जोड़	१,६००,००० ,,
ऋण	५००,००० ,,		
जोड़	१,६००,००० ,,		

उपरोक्त तुलन-पत्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बैंक द्वारा ऋण प्रदान करने के कारण बैंक की कुल जमा राशि २ लाख रुपये से बढ़कर १२ लाख रुपये हो जाती है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि बैंक के तुलन-पत्र में २ लाख रुपये की प्राथमिक जमा तथा १० लाख रुपये की साख-मुद्रा को जमा के शीर्षक के नीचे लिखा गया है परन्तु इन दोनों की प्रकृति में मौलिक अन्तर है। जब कि २ लाख रुपये की प्राथमिक जमा प्राप्त होने पर अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती है, १० लाख रुपये का ऋण प्रदान करने से अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा के कुल स्टॉक में वृद्धि हो जाती है।

निम्नलिखित चार मान्यताओं के अन्तर्गत बैंक १ लाख रुपये की प्राथमिक जमा के आधार पर ९ लाख रुपये की साख-मुद्रा अथवा परोक्ष जमाओं (derivative deposits) का निर्माण कर सकेगी।

(१) अर्थव्यवस्था में व्यक्ति चैकों के बदले में बैंक नकदी प्राप्त नहीं करते हैं। दूसरे शब्दों में, चैकों का भुगतान केवल जमाकर्ताओं के खातों में चैकों की धनराशि के अन्तरण द्वारा होता है।

(२) बैंक को केन्द्रीय बैंक को न्यूनतम वैध निधि का भुगतान करने के अतिरिक्त बेशी नकदी रखने की आवश्यकता नहीं है।

(३) अर्थव्यवस्था में बैंक से ऋण प्राप्त करने के लिये इतने अधिक ऋणी हैं कि वे बैंक की अधिकतम उधारदान शक्ति तक बैंक से ऋण लेने को तैयार रहते हैं।

(४) बैंक उस समय तक ऋण देती रहती है जब तक इसके पास बेशी नकदी रहती है।

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बैंक उस समय तक ऋण प्रदान करती रहेगी जब तक इसके पास नकदी समाप्त नहीं हो जावेगी। उपरोक्त उदाहरण में बैंक ९०,००० रुपये की राशि की नकदी को अपने पास व्यर्थ न रखकर ऋणियों को उधार देकर ब्याज आय प्राप्त करेगी। परन्तु प्रत्येक १०० रुपये का ऋण देने के कारण इसकी नकदी में १० रुपये की कमी हो जाती है क्योंकि प्रत्येक उत्पन्न जमा का १० प्रतिशत इसे केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम वैध निधि के रूप में जमा करना पड़ता है। उपरोक्त चारों मान्यताओं के आधार पर बैंक ९०,००० रुपये को नकदी—१ लाख रुपये की प्राथमिक जमा के शेष भाग—के द्वारा ९ लाख ($९०,००० \times \frac{१००}{१०}$) रुपये की साख-मुद्रा का निर्माण कर सकेगी। इस प्रकार अपनी नकद पूँजी (९ लाख रुपये) में कमी किये बिना बैंक १ लाख रुपये की प्राथमिक जमा के आधार पर कुल ९ लाख रुपये की धनराशि की साख-मुद्रा की चक्रवृद्धि का निर्माण कर सकती है।

परन्तु उपरोक्त चारों मान्यताएँ अवास्तविक हैं। वे सभी व्यक्ति जिनको जमाकर्ता भुगतानों के रूप में चैक देते हैं इन चैकों को बैंक में अपने खातों में जमा नहीं करते हैं। वास्तव में सभी व्यक्तियों के बैंक में जमा खाते नहीं होते हैं। इस कारण बैंक को चैकों का भुगतान करने के लिये कुछ नकदी अपने पास अवश्य रखनी पड़ेगी। यह मान्यता भी अवास्तविक है कि बैंक सदा अपनी अधिकतम उधारदान शक्ति तक ऋण देगी। साधारणतया वाणिज्य बैंक इस सीमा से कम ऋण देती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि अर्थव्यवस्था में ऋणियों की इतनी अधिक संख्या होती है कि वे बैंक की अधिकतम उधारदान शक्ति तक ऋण लेने के लिये तैयार रहते हैं। मन्दी में यद्यपि बैंक ऋण देने के लिये तैयार रहती है परन्तु वाणिज्य जगत में ऋणियों का अभाव होने के कारण साख-मुद्रा का निर्माण बहुत कम मात्रा में सम्भव होता है।

बहुबैंक बैंकिंग प्रणाली

अब तक हमने साख मुद्रा के निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन एक बैंक बैंकिंग प्रणाली की अवास्तविक मान्यता के आधार पर किया था। वर्तमान समय में अर्थव्यवस्था में बैंकिंग प्रणाली में अनेक बैंक होती हैं। उदाहरणार्थ, भारत में १९७१ ई० में कुल बैंकों की संख्या ९४ थी जिसमें ७१ अनुसूचित तथा शेष २३ अनअनुसूचित बैंक थीं तथा शाखाओं की संख्या ११,९८५ थी। अमरीका के समान विकसित राष्ट्र में जहाँ बैंकिंग सुविधाओं की प्रचुरता है बैंकों की संख्या कई हजार है। बहुबैंक बैंकिंग प्रणाली में किसी एक बैंक की साख-मुद्रा निर्माण शक्ति एक बैंक बैंकिंग प्रणाली की तुलना में काफी अधिक सीमित होती है। कोई एक बैंक अपनी कुल प्राथमिक जमाओं के केवल कुछ भाग को उधार देकर साख-मुद्रा का निर्माण कर सकती है। बहुबैंक बैंकिंग प्रणाली में ऋण देने के फलस्वरूप ऋणदाता बैंक की नकदी में कमी हो जाती है क्योंकि जिन व्यक्तियों को बैंक का ऋणी चैक देकर भुगतान करता है वे व्यक्ति इन चैकों को अन्य बैंकों में जमा करते हैं तथा ऋणदाता बैंक की नकदी इन अन्य बैंकों को प्राप्त हो जाती है।

बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली में यद्यपि कोई एक बैंक केवल अपनी फालतू नकदी को उधार देकर अपनी जमाओं में वृद्धि कर सकती है परन्तु सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की दृष्टि से साख-मुद्रा

निर्माण की प्रक्रिया केवल प्रथम बैंक द्वारा ऋण प्रदान करने के साथ समाप्त नहीं हो जाती है। हमारे उदाहरण में जब बैंक को १ लाख रुपये की प्राथमिक जमा प्राप्त होती है तो १० प्रतिशत के हिसाब से १०,००० रुपये केन्द्रीय बैंक को न्यूनतम वैध निधि अनुपात के रूप में देने के पश्चात् बैंक के पास ९०,००० रुपये की नकदी शेष रह जाती है जिसे यह बैंक ऋण के रूप में व्यापारियों को ब्याज पर उधार दे देती है। यद्यपि इस व्यक्तिगत बैंक की दृष्टि से साख-मुद्रा निर्माण का कार्य ९०,००० रुपये का ऋण देने के साथ समाप्त हो जाता है क्योंकि बैंक में और अधिक ऋण प्रदान करने की क्षमता नहीं है परन्तु सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की दृष्टि से साख-मुद्रा निर्माण की प्रक्रिया उस समय तक जारी रहती है जब तक अर्थव्यवस्था में ९००,००० रुपये की राशि की साख-मुद्रा का निर्माण नहीं हो जाता है।

बहुबैंक बैंकिंग प्रणाली में साख-मुद्रा निर्माण की प्रक्रिया का रूप एक बैंक बैंकिंग प्रणाली के समान है। ९०,००० रुपये जो प्रथम बैंक ने ऋण के रूप में प्रदान किये हैं, बैंकिंग प्रणाली में अन्य बैंकों को प्राथमिक जमाओं के रूप में प्राप्त हो जाते है। निम्नलिखित चार मान्यताओं के अन्तर्गत १ लाख रुपये की प्राथमिक जमा तथा १० प्रतिशत न्यूनतम वैध निधि अनुपात के आधार पर हम इस निष्कर्ष को पहुँचते हैं कि सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली द्वारा ९ लाख रुपये राशि की साख-मुद्रा का निर्माण किया जावेगा।

(१) अर्थव्यवस्था में लोग—व्यक्ति, फर्म तथा सरकार—संचलन में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि नहीं करते हैं।

(२) बैंकिंग प्रणाली में बैंक अपनी नकदी में कमी अथवा वृद्धि नहीं करती है।

(३) ऋणी बैंकों से बैंकों की अधिकतम उधारदान शक्ति तक ऋण लेने को तैयार हैं।

(४) बैंक अपनी अधिकतम उधारदान शक्ति तक ऋणियों को उधार देती हैं।

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली द्वारा ९ लाख रुपये राशि की साख-मुद्रा का निर्माण किया जावेगा। सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली में साख-मुद्रा निर्माण की प्रक्रिया उस समय समाप्त होगी जब बैंकिंग प्रणाली में किसी भी बैंक के पास बेशी नकदी नहीं रहेगी। बैंकिंग प्रणाली में साख मुद्रा निर्माण की प्रक्रिया को निम्नलिखित सारिणी तथा चित्र २२·१ व २२·२ के द्वारा समझाया जा सकता है।

बहुबैंक बैंकिंग प्रणाली में साख मुद्रा निर्माण की संचययी प्रक्रिया

(राशि ०००' रुपयों में)

बैंक		नई जमा के रूप में प्राप्त नकदी	न्यूनतम वैध निधि-अनुपात (१०%)	ऋण अथवा गौण जमा
प्रथम बैंक	....	१,०००	१००	९००
दूसरी बैंक	....	९००	९०	८१०
तीसरी बैंक	....	८१०	८१	७२०
चौथी बैंक	....	७२०	७२	६५०
पाँचवीं बैंक	....	६५०	६५	५९०
छठी बैंक	....	५९०	५९	५३०
सातवीं बैंक	....	५३०	५३	४८०
	....	....	....	....
	....	....	...	....
सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली		१०,०००	१,०००	९,०००

साख मुद्रा निर्माण की प्रक्रिया

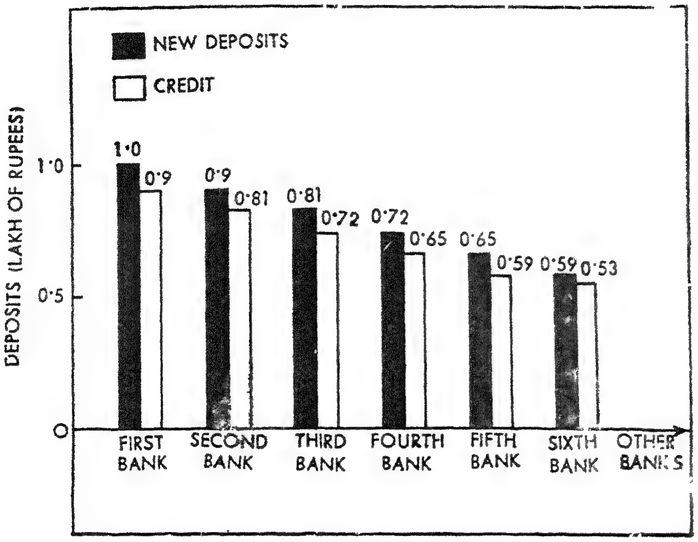

चित्र २२·१

संचयी जमा विस्तार प्रक्रिया

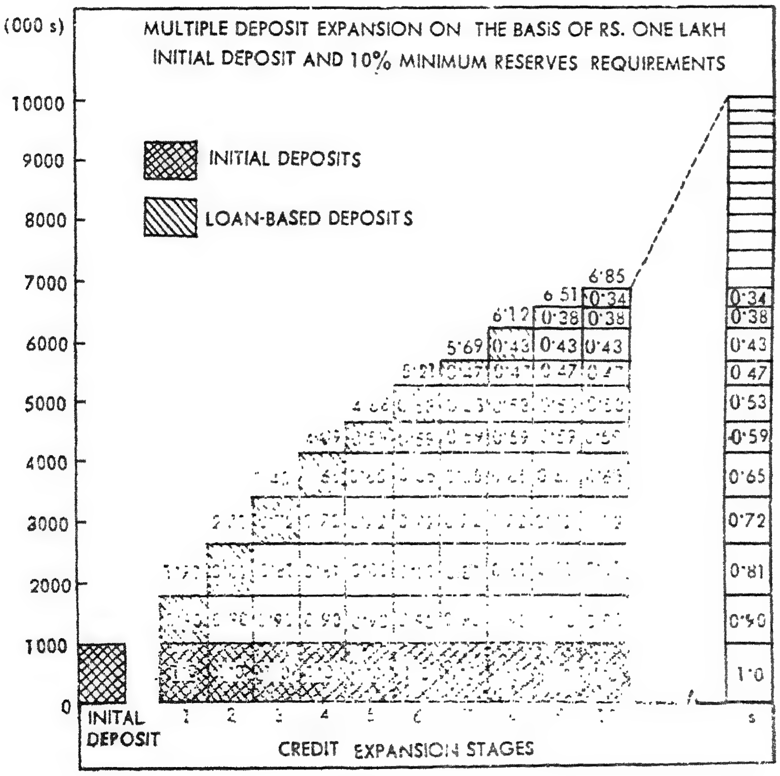

चित्र २२·२

जमा-विस्तार समीकरण

साख-मुद्रा निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को बीजगणितीय समीकरण के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। बैंक जमाओं में हुई आरम्भिक वृद्धि को $\triangle C_d$ द्वारा; न्यूनतम वैध निधि अनुपात को r द्वारा तथा बैंकिंग प्रणाली में जमाओं में हुई कुल वृद्धि को $\triangle D$ द्वारा व्यक्त करने पर बैंकिंग प्रणाली में कुल जमाओं में हुये बहुविस्तार की प्रक्रिया को निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

$$\triangle D=\triangle C_d+(1-r)\triangle C_d+(1-r)^2\triangle C_d+(1-r)^3\triangle C_d+\cdots\cdots +(1-r)^{s-1}\triangle C_d\cdots\cdots (१)$$

समीकरण की दोनों भुजाओं को $1-r$ से गुणा करने पर यह निम्नलिखित समीकरण को प्राप्त हो जाता है।

$$\triangle D(1-r)=(1-r)\triangle C_d+(1-r)^2\triangle C_d+(1-r)^3\triangle C_d+\cdots\cdots (1-r)^s\triangle C_d\cdots (२)$$

समीकरण २ को समीकरण १ में से घटाने पर

$$\triangle D-\triangle D(1-r)=\triangle C_d-(1-r)^s\triangle C_d \quad \cdots \quad \cdots \quad (३)$$

$$\triangle D\{1-(1-r)\}=\triangle C_d-(1-r)\triangle C_d \quad \cdots \quad \cdots \quad (४)$$

$$\triangle D(1-1+r)=\triangle C_d-(1-r)^s\triangle C_d \quad \cdots \quad \cdots \quad (५)$$

$$\triangle D=\frac{1}{r}\triangle C_d-(1-r)^s\triangle C_d \quad \cdots \quad \cdots \quad \cdots \quad (६)$$

जमा विस्तार प्रक्रिया के अन्त में जब s समय अवधि अनन्त को प्राप्त होती है तब $(1-r)^s \triangle C_d$ शून्य को प्राप्त हो जाता है। तथा उपरोक्त समीकरण निम्नलिखित रूप को प्राप्त हो जाता है।

$$\triangle D=\frac{1}{r}\triangle C_d$$

$$\therefore \quad \frac{\triangle D}{\triangle C_d}=\frac{1}{r} \quad \cdots \quad \cdots (७)$$

उपरोक्त समीकरण में $\frac{1}{r}$ जमा-गुणक है।

अभी तक हमने यह माना है कि बैंक अपने पास बेशी नकदी नहीं रखती हैं तथा प्राथमिक जमा की कुल १००,००० रुपये की राशि केन्द्रीय बैंक को न्यूनतम वैध निधि अनुपात के रूप में प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में, मान्यता यह है कि बैंक जमाओं में विस्तार होने पर जनता अपनी नकदी में कोई वृद्धि नहीं करती है। परन्तु यह मान्यता अवास्तविक है। दैनिक लेन-देन के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए बैंक अपनी कुछ जमाओं का कुछ प्रतिशत भाग नकदी के रूप में अपने पास निसंचित रखती है। इसके अतिरिक्त ऋणों के द्वारा उत्पन्न जमाओं के कुछ प्रतिशत भाग को उधारकर्त्ता बैंकों से नकदी के रूप में प्राप्त कर लेते हैं। जमाओं का वह भाग जिसको उधारकर्त्ता बैंकों से नकदी में ले लेते हैं बैंकिंग प्रणाली से बाहर निकल जाता है तथा बैंकों द्वारा साख मुद्रा निर्माण अथवा जमा विस्तार के लिये अनुपलब्ध हो जाता है। यदि यह मान लिया जावे कि न्यूनतम वैध निधि अनुपात के अतिरिक्त बैंक अपने पास जो अतिरिक्त नकदी दैनिक लेनदेन तथा आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु रखती हैं वह कुल जमाओं का एक स्थिर अनुपात अथवा प्रतिशत होती है तथा इसी प्रकार यदि वह नकदी भी जिसे जनता अपने पास रखती है बैंक की कुल जमाओं का एक स्थिर प्रतिशत अथवा अनुपात

होती है। इन दोनों स्थिर अनुपातों को क्रमशः b तथा p द्वारा व्यय करने पर समीकरण (७) समीकरण (८) को प्राप्त हो जावेगा।

$$\triangle D = \frac{1}{r+b+p} \cdot \triangle C_d$$

$$\therefore \quad \frac{\triangle D}{\triangle C_d} = \frac{1}{r+b+p} \qquad \ldots\ldots \quad (८)$$

साधारणतया $r+b+p$ का संयुक्त अंकीय मूल्य १ से कम तथा शून्य से अधिक धनात्मक होगा। $\frac{1}{r+b+p}$ को हम जमा-विस्तार गुणक कह सकते हैं।

साख-मुद्रा निर्माण की सीमाएँ

यद्यपि वर्तमान बैंकिंग प्रणाली साख-मुद्रा का निर्माण करती है परन्तु बैंकों की साख-मुद्रा निर्माण शक्ति सीमारहित नहीं है। देश में प्रत्येक बैंक किसी दी हुई सीमा तक ही साख मुद्रा का निर्माण कर सकती है। यह सीमा कई बातों पर निर्भर होती है। प्रथम, वर्तमान समय में प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक होती है जिसकी नीति सदस्य बैंकों की साख मुद्रा निर्माण नीति तथा सीमा को निर्धारित करती है। सदस्य बैंकों को केन्द्रिय बैंक की नीति तथा आदेशों का पालन करना पड़ता है। न्यूनतम वैध निधि अनुपात, बैंक दर, मुद्रा बाजार में सरकारी हुण्डियों का क्रय विक्रय (open market operations) तथा समझाने व सुझाव (moral suasion) के द्वारा बैंकों द्वारा साख-मुद्रा के निर्माण पर नियन्त्रण करके केन्द्रीय बैंक देश में साख मुद्रा की उपयुक्त मात्रा को निर्धारित करने का यथासंभव प्रयास करती है। अर्थव्यवस्था में बैंकों की साख-मुद्रा निर्माण शक्ति केन्द्रीय बैंक के न्यूनतम वैध निधि अनुपात द्वारा निर्धारित होती है। अन्य बातें समान रहते हुये, यदि केन्द्रीय बैंक न्यूनतम निधि अनुपात में वृद्धि घोषित कर देती है तो बैंकों की साख-मुद्रा निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इस अनुपात में कमी करने से बैंकों की साख-मुद्रा निर्माण शक्ति में वृद्धि होती है।

दूसरे, व्यक्तिगत बैंक की साख-मुद्रा निर्माण शक्ति इस बात द्वारा भी निर्धारित होती है कि अर्थव्यवस्था में अन्य बैंक किस सीमा तक साख-मुद्रा का निर्माण कर रही है। यदि कोई बैंक अन्य बैंकों की परवाह न करके अन्य बैंकों की तुलना में अधिक मात्रा में साख-मुद्रा का निर्माण करती है तो शीघ्र ही उस बैंक की सम्पूर्ण नकदी समाप्त हो जावेगी और वह बैंक दिवालिया हो जावेगी क्योंकि बैंक के ऋणियों द्वारा अन्य व्यक्तियों को दिये गये चैक अन्य बैंकों को प्राप्त होंगे और इस कारण बैंक विशेष को उन सभी चैकों का बैंकिंग प्रणाली की अन्य सदस्य बैंकों को नकदी देकर भुगतान करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि बैंक विशेष अर्थव्यवस्था में अन्य साथी बैंकों की तुलना में कम मात्रा में साख-मुद्रा का निर्माण करती है तो शीघ्र ही इसे इस बात का अनुभव होगा कि इसकी फालतू नकदी में वृद्धि हो रही है जिसे ऋणियों को ब्याज पर उधार देकर बैंक को लाभ प्राप्त करना चाहिए। संक्षेप में बहु- बैंक बैंकिंग प्रणाली में साख-मुद्रा निर्माण के सम्बन्ध में किसी व्यक्तिगत बैंक को अन्य बैंकों की साख-मुद्रा निर्माण नीति को ध्यान में रखना पड़ता है। जब देश में अन्य सभी बैंक भविष्य के सम्बन्ध में निराशावादी दृष्टिकोण अपनाने के परिणामस्वरूप साख-मुद्रा का निर्माण करना कम अथवा समाप्त कर देती है तब यदि कोई बैंक भविष्य के सम्बन्ध में आशावादी बनकर अधिक साख-मुद्रा का निर्माण करने लगती है तो ऐसा करके वह बैंक बरबाद हो जावेगी। इसी प्रकार जब अर्थव्यवस्था में अन्य सभी बैंक साख-मुद्रा का निर्माण करती हैं तब कोई एक बैंक साख-मुद्रा का निर्माण न करके केवल अपने लाभ को कम

करेगी ।[7] इस प्रकार कोई एक बैंक साख-मुद्रा निर्माण के कार्य में न तो अन्य साथी बैंकों से आगे रह सकती है और न पीछे ही रहना पसन्द करेगी ।

तीसरे, बैंक की साख-मुद्रा निर्माण क्षमता इस बात पर भी निर्भर होती है कि ऋण के कुछ भाग का बैंक को नकदी के रूप में भुगतान करना पड़ता है । बैंक के ऋणी उन व्यक्तियों को भी बैंक के चैक देकर भुगतान करते हैं जिनके बैंक में जमा खाते नहीं होते हैं तथा जो बैंक में स्वयं आकर चैक के बदले नकदी प्राप्त करते हैं । बैंक की साख-मुद्रा निर्माण की इस क्षमता का अविकसित देशों में, जहाँ बैंकिंग प्रथा का अधिक विकास न होने के कारण व्यक्ति चैकों को बैंक में जमा करने के स्थान पर भुनाकर नकदी प्राप्त करना अधिक अच्छा समझते हैं, विशेष महत्व है ।

चौथे, साख-मुद्रा निर्माण की सीमा प्राथमिक जमाओं की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है क्योंकि प्राथमिक जमा बैंकों को नकदी प्रदान करके बैंकों द्वारा साख-मुद्रा निर्माण की आधारशिला का कार्य करती है । इस आधारशिला पर साख-मुद्रा की सारी इमारत टिकी हुई होती है । कीन्स ने साख-मुद्रा निर्माण के सम्बन्ध में प्राथमिक जमाओं के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस दर तक कोई बैंक ऋण देकर बिना कठिनाई के गौण जमाओं अथवा साख-मुद्रा का निर्माण कर सकती है, वह दर जमाकर्त्ताओं से नकदी के रूप में प्राप्त प्राथमिक जमाओं की दर पर निर्भर होती है ।[8]

पाँचवें, साख-मुद्रा निर्माण की वास्तविक सीमा अर्थव्यवस्था में मन्दी अथवा तेजी की स्थिति पर भी निर्भर करती है । मन्दी में निवेशकर्ताओं द्वारा बैंकों से ऋण न लेने के कारण बैंक साख-मुद्रा का निर्माण अधिक मात्रा में नहीं कर पाती है ।

साख-मुद्रा नियन्त्रण की रीतियाँ

वर्तमान समय में संसार के सभी देशों में केन्द्रीय बैंक को साख-मुद्रा पर नियन्त्रण करने के व्यापक अधिकार प्राप्त हैं । साख-मुद्रा नियन्त्रण की भिन्न रीतियों को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रीतियों में विभाजित किया जा सकता है । जबकि बैंक दर, खुले बाजार की क्रिया, न्यूनतम वैध निधि अनुपात रीतियों को अप्रत्यक्ष कहा जाता है, समझाना (moral suasion), विज्ञापन आदेशों का उल्लंघन करने वाली बैंकों के लाइसेंस रद्द करना, साख-मुद्रा का राशन करना इत्यादि प्रत्यक्ष रीतियाँ हैं । केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियंत्रण की निम्नलिखित प्रमुख रीतियाँ हैं ।

१. बैंक अथवा बट्टा दर
२. बाजार में हुण्डियों का क्रय-विक्रय
३. न्यूनतम वैध निधि अनुपात
४. समझाना तथा आदेश देना
५. विज्ञापन तथा प्रचार

६. प्रत्यक्ष नियन्त्रण की अन्य रीतियाँ जैसे साख मुद्रा का राशन करना ; आदेशों का उल्लंघन करने वाली बैंकों के लाइसेन्सों को रद्द करना तथा खातों का निरीक्षण करना इत्यादि ।

---

7. George N. Halm : *Monetary Theory*, p. 43.
8. J. M. Keynes : *A Treatise on Money*, Vol I. p, 35.

बैंक दर

बैंक अथवा बट्टा दर ब्याज की वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में वाणिज्य बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों तथा उत्तम ऋण पत्रों की जमानत पर ऋण प्रदान करती है। वाणिज्य बैंक ब्याज की जिस दर पर व्यापारियों को ऋण देती है उस दर तथा बैंक दर के मध्य ऐसा विशेष सम्बन्ध है कि जब बैंक दर में वृद्धि हो जाती है तो वाणिज्य बैंक भी अपने ऋणों पर ब्याज की दर में वृद्धि कर देती है तथा बैंक दर में कमी होने पर वाणिज्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर में कमी कर देती हैं। बैंक दर के द्वारा केन्द्रीय बैंक साख-मुद्रा की मात्रा पर साख-मुद्रा को निवेशकर्ताओं के लिये अधिक सस्ती अथवा मँहगी बनाकर नियंत्रण रखती है। यदि केन्द्रीय बैंक को यह ज्ञात होता है कि देश में स्फीति उत्पन्न हो गई है तो केन्द्रीय बैंक स्फीति को समाप्त करने के उद्देश्य से बैंक दर में उपयुक्त वृद्धि कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि वाणिज्य बैंक भी अपने ऋणों पर व्यापारियों के लिये अपनी ब्याज दर में समान अथवा अधिक वृद्धि कर देती हैं। जब वाणिज्य बैंक अपने ऋणों पर व्यापारियों से अधिक ब्याज लेने लगती है तो वस्तुओं की उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है क्योंकि ब्याज उत्पादन लागत का भाग है। व्यापारी अब बैंकों से पहले की आपेक्षाकृत कम उधार लेने लगते हैं। फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में निवेश की मात्रा कम हो जाती है। अर्थव्यवस्था में निवेश में कमी हो जाने के कारण उत्पादन साधनों की आयों में कमी हो जाती है। उपभोक्ताओं की आयों में कमी हो जाने के कारण उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग कम हो जाती है और वस्तुओं के मूल्यों में कमी हो जाती है।

इसके विपरीत यदि देश में अवस्फीति तथा बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है तो बैंक दर में कमी कर दी जाती है। बैंक दर में कमी होने पर वाणिज्य बैंकों के लिये केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त करना सस्ता हो जाता है तथा परिणामस्वरूप वाणिज्य बैंकों की उधारदान दर में भी कमी हो जाती है। वाणिज्य बैंकों से नीची ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त होने से उद्यमकर्ताओं को अधिक निवेश करने का उत्साह प्राप्त होता है। अधिक निवेश होने पर अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों को अधिक रोजगार प्राप्त होने लगता है जिसके कारण उनकी आयों में वृद्धि हो जाती है। आय में वृद्धि होने पर उपभोग मांग में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार माँग में वृद्धि होने के कारण मूल्यों की गिरावट समाप्त हो जाती है। केन्द्रीय बैंक की बैंक दर में होने वाले परिवर्तन आर्थिक स्थिति के सूचक का कार्य करते हैं। बैंक दर में वृद्धि देश में आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में चेतावनी देती है परन्तु बैंक दर में कमी इस बात को सूचित करती है कि देश की अर्थव्यवस्था अभिवृद्धि की चिन्ताजनक स्थिति से दूर है तथा देश में अधिक निवेश करने की भारी आवश्यकता है।

केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति का साख मुद्रा निर्माण की मात्रा पर नियंत्रण करने में जो महत्व है उसकी विवेचना हेनरी थार्नटन ने १८०२ ई० में करते हुए स्पष्ट किया था कि ब्याज की दर आशंसित लाभ की मात्रा के साथ ऋणों की उस मात्रा को निर्धारित करती है जिसे व्यापारी बैंकों से प्राप्त करने के इच्छुक होगे।[9] हेनरी थार्नटन के अतिरिक्त वाल्टर बैजहोट (Walter Begehot) ने १८७३ ई० में प्रकाशित 'Lombard Street' शीर्षक नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति के आर्थिक संकट काल में विशेष महत्व को व्यक्त करते हुये लिखा था कि "सिद्धान्त यह बताता है तथा अनुभव यह सिद्ध करता है कि संकट के समय में बैंक आरक्षण के अन्तिम धारकों को—चाहे वह एक बैंक हो अथवा अनेक—उन सब बैंक को

9. Henry Thornton : *An Enquiry into the Nature and Effects of the Paper Credit of Great Britain*, p. 267.

जो उतम ऋण पत्र प्रस्तुत करते हैं शीघ्र तथा निस्संकोच ऋण देना चाहिए । उनके ऐसा करने से वे संकट को समाप्त करते हैं ; प्रत्येक अन्य नीति के द्वारा वे संकट को अधिक तीव्र बनाते हैं। जनता को यह जानने का अधिकार प्राप्त है कि क्या बैंक ऑफ इंगलैंड, जो राष्ट्र के बैंकिंग आरक्षण का अन्तिम धारक है, इस कर्तव्य को स्वीकार करता है तथा अपने इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए तैयार है।"[10]

बैंक दर की सीमाएँ

केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति की सफलता कई बातों पर निर्भर होती है । प्रथम, यह इस बात पर निर्भर करती है कि केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों के मध्य किस प्रकार का परम्पर सम्बन्ध है। यदि यह सम्बन्ध अतिनिकट तथा गहरा है तथा वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक से बहुधा ऋण प्राप्त करती रहती है तो वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति का आदर करेंगी और इसमें परिवर्तन होने के अनुसार अपनी उधारदान दरों में उपयुक्त परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक की नीति को सफल बनाने में सहयोग देंगी। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय तथा वाणिज्य बैंकों में दूर का सम्बन्ध है और वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक से अधिक मात्रा में उधार नहीं लेती हैं तो केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता प्राप्त नही होगी। अर्धविकसित देशों में, जहाँ केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंकों के मध्य ऋणी तथा ऋणदाता के रूप में विशेष सम्बन्ध नहीं होता है, केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता प्राप्त नहीं होती है। बैंक दर की सफलता के लिये केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों में गहरे सम्बन्ध तथा सहयोग का होना आवश्यक है।

दूसरे, केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति की सफलता निवेशकर्ताओं की मनोवृत्ति पर निर्भर होती है। स्फीति में जब मूल्यों में प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है, व्यापारी भविष्य के सम्बन्ध में आशावादी होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि केन्द्रीय बैंक मूल्यस्तर को स्थिर रखने के उद्देश्य से अपनी बैंक दर में वृद्धि करती है और देश में वाणिज्य बैंक भी केन्द्रीय बैंक के साथ अपनी ब्याज की दर में उपयुक्त वृद्धि करके सहयोग देती हैं तब भी केन्द्रीय बैंक को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता नहीं मिलेगी। ब्याज की दर में वृद्धि होने पर भी, यदि निवेशकर्ता भविष्य में वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने की आशा करते हैं, वे बैंकों से अधिक ऋण प्राप्त करेंगे क्योंकि बैंकों से ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेकर भी उनको अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसको एक उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है। यदि उद्यमकर्ता भविष्य में मूल्यों में २० प्रतिशत की वृद्धि होने की आशा करते हैं तो ब्याज की दर में यदि १९ प्रतिशत की भी वृद्धि हो जाती है तब भी वे ऋण लेने से नही रुकेंगे। अभिवृद्धि के काल में ऋणों की माँग पूर्णतया ब्याजनिरपेक्ष हो जाती है और बैंक दर में वृद्धि का इस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त ब्याज की दर में वृद्धि होने का कुल उत्पादन लागत पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है क्योंकि ब्याज कुल उत्पादन लागत का एक बहुत छोटा भाग होता है। इसके अतिरिक्त बहुत से व्यवसायों में पूँजी की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है और इस कारण ऐसे व्यवसायों के आकार पर ब्याज की दर में हुये परिवर्तनों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। यद्यपि दीर्घकाल में बैंक दर का निवेश पर अवश्य प्रभाव पड़ता है परन्तु अल्पकाल में यह प्रभाव अनिश्चित होता है। जीवन में अल्पकाल का महत्व दीर्घकाल की तुलना में अधिक होता है।

मन्दी में केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति अभिवृद्धि की तुलना में अधिक असफल होती है। मन्दी काल में जब उद्यमकर्ताओं की मनोवृत्ति निराशावादी हो जाती है तथा उनके लिये

10. Walter Bagehot : *Lombard Street*, 1925 ed., p. 86.

भविष्य अनिश्चित हो जाता है, तब बैंक दर में कितनी ही कमी क्यों न की जाये उद्यमकर्ता कम ब्याज की दर पर भी ऋण प्राप्त करके निवेश करना नहीं चाहते हैं। यदि उद्यमकर्ता यह अनुमान लगाते हैं कि भविष्य में कीमतों में १० प्रतिशत की कमी होगी तब ९ प्रतिशत ऋणात्मक ब्याज की दर (जो सम्भव नहीं है क्योंकि बैंकों का उद्देश्य ऋण देकर लाभ कमाना होता है हानि उठाना नहीं) पर ऋण लेकर भी उनको १ प्रतिशत की हानि होगी। मन्दी में केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति की सीमा को क्राउथर ने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाया है। निवेशकर्ताओं की तुलना घोड़े से तथा ऋण की तुलना पानी से करके क्राउथर कहते हैं कि केन्द्रीय बैंक घोड़े (निवेशकर्ता) के सामने पीने के लिये पानी (ऋण) रख सकती है परन्तु वह इस घोड़े को पानी पीने के लिये बाध्य नहीं कर सकती है। यदि घोड़े को प्यास नहीं है तो अधिक पानी सामने होते हुए भी वह पानी नहीं पीयेगा। मन्दी काल में इस घोड़े (निवेशकर्ता वर्ग) की प्यास समाप्त हो जाती है और यदि उसको मुफ्त भी पानी मिलता है तो भी वह इसे नहीं पीता है।

२. मुद्रा बाजार में सरकारी हुण्डियों का क्रय-विक्रय

खुले बाजार की क्रियाएँ केन्द्रीय बैंक के साख-मुद्रा नियंत्रण की दूसरी मुख्य रीति है। इस रीति का प्रयोग केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर रीति के पूरक के रूप में करती है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार में सरकारी ऋणपत्रों का क्रयविक्रय करके अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा की मात्रा कम अथवा अधिक करके साख-मुद्रा की मात्रा पर नियंत्रण रखती है। स्फीति में केन्द्रीय बैंक ऋणपत्रों को कम मूल्य पर बेच कर अर्थव्यवस्था में संचलन से बेशी क्रयशक्ति को वापस लेकर मूल्य स्तर को नीचा करने का प्रयास करती है। जब व्यक्ति केन्द्रीय बैंक द्वारा कम मूल्य पर प्रदान किए गये ऋणपत्रों को खरीदते हैं तो वाणिज्य बैंकों की नकदी में कमी हो जाती है तथा उनको अपनी साख-मुद्रा की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। साख-मुद्रा की मात्रा में कमी होने के कारण अर्थव्यवस्था में निवेश की मात्रा कम होजाती है। परिणामस्वरूप रोजगार तथा आय में कमी हो जाती है। रोजगार तथा आय में कमी हो जाने के परिणामस्वरूप मूल्य-स्तर भी कम हो जाता है। इसके विपरीत मन्दी में ऋणपत्रों को ऊँचे मूल्य पर खरीद कर केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में क्रय-शक्ति बढ़ा कर मन्दी को समाप्त करने की चेष्टा करती है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाने पर वाणिज्य बैंकों की नकदी में भी वृद्धि हो जाती है और वे अधिक नकदी के आधार पर अधिक साख-मुद्रा का निर्माण करती हैं जिसके कारण अधिक निवेश होने के कारण मन्दी समाप्त हो जाती है।

बैंक दर के समान बाजार में हुण्डियों का क्रय-विक्रय साख-मुद्रा नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष रीति है। इस रीति की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वाणिज्य बैंक अपने नकद कोषों में कमी अथवा वृद्धि होने पर साख-मुद्रा निर्माण की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि करती हैं अथवा नहीं। बाजार में सरकारी हुण्डियों की क्रय विक्रय रीति इस मान्यता पर आधारित है कि साख-मुद्रा में वृद्धि तथा कमी वाणिज्य बैंकों की नकदी में होने वाली वृद्धि तथा कमी पर निर्भर होती है। परन्तु ऐसा होना सदा आवश्यक नहीं है। अभिवृद्धि में बैंकों के पास कम नकदी होने हुये भी साख-मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत मन्दी में यद्यपि बैंकों की नकदी में वृद्धि हो जाती है परन्तु वे साख-मुद्रा का निर्माण नहीं करती हैं।

केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि केन्द्रीय बैंक के पास हुण्डियों की कितनी मात्रा है जिसको बेच कर वह अभिवृद्धि को समाप्त कर सकती है तथा कितनी मात्रा में वह हुण्डियों को अधिक मूल्य पर खरीदने को तैयार है। यदि यह मान भी लिया जावे कि केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता स्थापित करने के उद्देश्य

से हानि सहन करने के लिये तैयार है तो भी यह सम्भव है कि इसको अपने उद्देश्य में सफलता न प्राप्त हो। यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक के पास हुण्डियों की इतनी कम मात्रा हो कि सारी हुण्डियों को बेचकर भी आर्थिक स्थिरता प्राप्त न हो सके। केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार में क्रय विक्रय क्रियाओं की सीमाओं की व्याख्या करते हुए कीन्स ने लिखा है कि "केन्द्रीय बैंक अभिवृद्धि को रोकने के लिए केवल उतनी ही बारूद का प्रयोग कर सकती है जितनी कि उसे मन्दी से लड़ने के समय प्राप्त हो पाई है।"[11] बारूद की यह मात्रा अभिवृद्धि पर काबू पाने के लिये अपर्याप्त सिद्ध हो सकती है। अमरीका में १९३५-३७ ई० में यह अनुभव किया गया था कि केन्द्रीय बैंक के पास हुण्डियों की कुल मात्रा इतनी कम हो सकती है कि सारी हुण्डियों को बेचकर भी केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था से कुल बेशी नकदी को वापिस नहीं ले सकती है। १९३५-३७ ई० के काल में अमरीका में सदस्य बैंकों की नकदी में ३,३०० मिलियन डालर राशि की वृद्धि हो गई थी और इस कठिनाई को समाप्त करने के लिए फेड्रल रिजर्व बैंकों, जो वहाँ केन्द्रीय बैंक का कार्य करती हैं, के पास बेचने के लिए कम से कम ३,३०० मिलियन डालर राशि की हुण्डियाँ होनी आवश्यक थीं। परन्तु फेड्रल रिजर्व बैंकों के पास उस समय केवल २,४०० मिलियन डालर राशि की हुण्डियाँ थीं जिनको बेचकर भी समस्या पर विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं था। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बहुधा उस सीमित बारूद का जो इसके पास होती है प्रयोग करने में असमर्थ रहती है। मन्दी में केन्द्रीय बैंक हुण्डियों को खरीद कर समाज को अधिक मुद्रा प्रदान कर सकती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा करने से निवेश की मात्रा में वृद्धि हो जायगी। यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक को इस क्रिया के प्रभाव से केवल वाणिज्य बैंकों की नकदी में वृद्धि हो जावे। इंगलैण्ड में १९३१ ई० तथा १९३३ ई० में यही हुआ था। एक ओर सदस्य बैंकों की कुल नकदी में २१४ मिलियन पौण्ड-स्टर्लिंग राशि की कमी हो गई थी परन्तु दूसरी ओर कुल ऋणों की मात्रा में ७७ मिलियन पौण्ड-स्टर्लिंग राशि की कमी हो गई थी।

३. न्यूनतम वैध निधि अनुपात

सदस्य बैंकों के न्यूनतम वैध निधि अनुपात में उपयुक्त परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक देश में बैंकों द्वारा साख-मुद्रा निर्माण की मात्रा पर नियन्त्रण कर सकती है। देश में वाणिज्य बैंकों को अपनी जमाओं का कुछ प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम वैध निधि अनुपात के रूप में जमा रखना पड़ता है। न्यूनतम वैध निधि अनुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों के पास कुल नकदी की मात्रा को कम अथवा अधिक करके अर्थव्यवस्था में कुल साख-मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि कर सकती है। साख मुद्रा नियन्त्रण की अन्य रीतियों के समान इस रीति की भी सीमायें हैं। प्रथम, जब वाणिज्य बैंकों के पास अधिक नकदी होती है तो यह आवश्यक नहीं है कि वे केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित न्यूनतम वैध निधि अनुपात की परवाह करेंगी। दूसरे, बैंक अपनी जमाओं के ढाँचे में परिवर्तन करके भी केन्द्रीय बैंक की न्यूनतम वैध निधि अनुपात नीति का उल्लघंन कर सकती हैं।

४. समझाना

समझाने की रीति के द्वारा भी केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में अन्य बैंकों से सुझाव के रूप में प्रार्थना करके साख-मुद्रा नियन्त्रण में बैंकों का सहयोग प्राप्त करती है। यदि देश में स्फीति विद्यमान है तो केन्द्रीय बैंक देश में वाणिज्य बैंकों को ऋणों की मात्रा में कमी करने का सुझाव

---

11. "The Reserve Banks can only fire off against an incipient boom such ammunition as they have been able to pick up while resisting a slump." (J. M. Keynes)

देनी है। इसके विपरीत यदि देश मे मन्दी उपस्थित है तो केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को अधिक ऋण देने का सुझाव देती है। वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक के सुझावों का पालन करती है। गत वर्षों मे भारत मे रिजर्व बैंक ने इस रीति का काफी अधिक प्रयोग किया है तथा रिजर्व बैंक के गवर्नर ने समय समय पर वाणिज्य बैंकों को विज्ञप्ति पत्र लिखकर उनका ध्यान साख-मुद्रा की मात्रा मे उपयुक्त कमी अथवा वृद्धि करके अर्थव्यवस्था मे स्थिरता स्थापित करने की ओर आकर्षित किया है।

५. विज्ञापन प्रचार

उपरोक्त रीतियों के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपनी साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति को सफल बनाने के उद्देश्य से विज्ञापन के द्वारा जनता तथा निवेशकर्ताओं का ध्यान अपनी नीतियों की ओर आकर्षित करती है। उन देशों में जहाँ नागरिक शिक्षित होते हैं विज्ञापन प्रचार का रीति केन्द्रीय बैंक की साख मुद्रा नियन्त्रण नीति का एक मुख्य अंग होती है।

६. प्रत्यक्ष नियन्त्रण को रीतियाँ

गत वर्षों मे, विशेषकर दूसरे महायुद्ध के पश्चात केन्द्रीय बैंक की प्रत्यक्ष साख मुद्रा नियन्त्रण रीतियों का विस्तार हो गया है। उदाहरण के लिये, अमरीका मे फेडरल रिजर्व बैंकों को १९३४ ई० मे वाणिज्य बैंकों द्वारा सट्टेबाजों को ऋण देने पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया था। भारत में १९४९ ई० के बैंकिंग नियमन अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को देश की बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से काफी शक्तियाँ प्रदान कर दी गई हैं। केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण रीतियों को निम्नलिखित चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है।

साख मुद्रा नियन्त्रण की रीतियाँ

- प्रत्यक्ष
  - समझाना व सुझाव देना
  - लाईसेंस रद्द करना व बैंक खातों का निरीक्षण करना
  - विज्ञापन प्रचार
  - साख मुद्रा राशन
- अप्रत्यक्ष
  - बैंक दर
  - खुले बाजार में हुण्डियों का क्रय विक्रय
  - न्यूनतम वैध निधि अनुपात

अध्ययन सूची

1. G. N Halm : Monetary Theory, Chapters 4 and 5.
2. M H de Kock : Central Banking (3rd ed.), Chapters VIII to XIII
3. Geoffrey Crowther : An Outline of Money, Chapter VI
4. H P. Willis : The Theory and Practice of Central Banking, Chapters II ; VII—X ; XVI ; XVII.
5. C Whitney : Experiments in Credit Control, Chapter II.

6. R. P. Kent : Money and Banking (4th ed.), Chapter 6.

7. W. T. Newlyn : Theory of Money, Chapters II and III,

प्रश्न

1. Discuss the economic importance of credit in modern times. How far is it correct to say that the problem of economic instability originates with the origin of credit ?
2. How do banks create credit ? Discuss the various limitations on the credit creating power of the banks.
3. Discuss the various methods available to a central bank for controlling credit. What are their limitations ?

२३

बैंकिंग का विकास
(Development of Banking)

परिभाषा तथा विकास

आज 'बैंकिंग' शब्द के कई अर्थ हैं। यद्यपि आज से लगभग एक पीढ़ी पूर्व बैंकिंग शब्द का प्रयोग जमा बैंकिंग के लिए किया जाता था परन्तु गत वर्षों में इस शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में इस प्रकार किया गया है कि इसमें अनेक नई संस्थाओं के कार्य भी सम्मलित हैं। बैंकिंग की व्यापक परिभाषा यह कहकर की जा सकती है कि साधारण अर्थ में बैंकिंग का अर्थ समाज की बचतराशि को प्राप्त करने तथा इसका निवेश करने से है।

'बैंक' शब्द बहुत पुराना है तथा इसका आरम्भ रहस्यमय है। एक विचारधारा के अनुसार प्राचीन समय मे इटली में जो व्यापार-गृह आरम्भिक बैंकिंग का कार्य करते थे उनको *banchi* अथवा *bancheri* कहा जाता था क्योंकि वे अपने पास भुगतान करने के लिये एक विशेष प्रकार की मेज रखते थे जिसे *banchi* कहा जाता था। बैंक शब्द इटली के banchi शब्द से प्राप्त हुआ है। एक दूसरी विचारधारा के अनुसार बैंक शब्द जर्मन शब्द *banck* से प्राप्त हुआ है।

बैंक शब्द की अनेक परिभाषाएँ हैं। आक्सफोर्ड शब्द-कोष के अनुसार "बैंक वह संस्था है जो अपने ग्राहकों से प्राप्त हुए धन की रक्षा करती है। इसका मुख्य कार्य अपने ड्राफ्टों का भुगतान करना है। इसके लाभ उस धन का उपयोग करके प्राप्त होते है जिसको बैंक के ग्राहक इसके पास शेष छोड़ देते हैं।"[1] इंगलैंड के १८८२ ई० के विनिमय अधिनियम के अनुसार बैंक उस प्रत्येक व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी को कहते है जिसके व्यवसाय का एक निश्चित स्थान होता है, जहाँ जमा अथवा मुद्रा संग्रहण के द्वारा खाते खोले जाते है तथा जिनका भुगतान ड्राफ्ट, चैक इत्यादि के द्वारा किया जाता है और जहाँ स्कन्ध आदि की आड़ के आधार पर ऋण दिये

1. "An establishment for the custody of money received from or on behalf of its customers. Its essential duty is to pay their drafts on it, its profits arise from the use of the money left unemployed by them" (*The Shorter Oxford English Dictionary.*)

जाते हैं। १९४९ ई० के बैंकिंग नियमन अधिनियम के अनुसार "बैंक उस कम्पनी को कहते हैं जो बैंकिंग का कार्य करती है...........बैंकिंग का अर्थ ऋण देने अथवा निवेश करने के लिये जनता से उन द्रव्य जमाओं को प्राप्त करना है जो माँगने पर वापस हो सकती हैं।"[2] हार्ट के अनुसार "बैंकर उस व्यक्ति को कहते हैं जो अपने साधारण व्यवसाय के रूप में लोगों का रुपया जमा करता है तथा उस रुपये को वह उन लोगों के चैकों का भुगतान करके चुकाता है।"[3] संक्षेप में बैंक उस व्यक्ति अथवा संस्था को कहते हैं जिसका प्रमुख कार्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा में लेन-देन करना होता है।

वर्तमान बैंकिंग का आरम्भ बहुत प्राचीन जगत में हुआ था। सातवीं शताब्दी ईसा-पूर्व ऐसरिया (Assyria) में मिट्टी के टुकड़ों पर साख-पत्र लिखे जाते थे। न्यू टेस्टामेण्ट (New Testament) में इस बात का वर्णन है कि ईसामसीह के जीवनकाल में जरूसलम के मन्दिर में मुद्रामें लेन-देन करने वाले रहते थे। बैंकिंग के विकास से सम्बद्ध एक श्रेष्ठ संक्षिप्त इतिहास में मार्शल ने अपनी *Money, Credit and Commerce* शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि प्रारम्भिक बैंकिंग के चिन्ह चाल्दिया (Chaldea); फोनीसिया (Phoenicia) तथा मिस्र (Egypt) के इतिहास में देखने को मिल सकते हैं। मार्शल के अनुमार प्राचीन यूनान में मन्दिर बहुमूल्य धातुओं के भण्डारग्रहों का कार्य करते थे तथा इन मन्दिरों में मुद्रा को ऋण पर उधार दिया जाता था। इस सम्बन्ध में मार्शल के शब्द उल्लेखनीय हैं। मार्शल ने लिखा है कि "सिक्का ढलाई के युग के पूर्व यूनान में ओलमपिया तथा डेल्फी देवताओं के मन्दिर तथा अन्य सुरक्षित स्थान बहुमूल्य धातुओं के भण्डारग्रहों के रूप में प्रयोग में लाए जाते थे। बाद में इन मन्दिरों में ब्याज पर निजी तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए रुपया उधार दिया जाता था।"[4]

प्राचीन रोम में भी बैंकिंग का काफी अधिक विकास हो गया था। मुद्रा का प्रचालन करना, जमाकर्ताओं से जमा स्वीकार करना, ऋण देना, मुद्रा में लेनदेन करना तथा मुद्रा का अन्तरण करना कार्य जो आधुनिक बैंकिंग कम्पनी के प्रमुख कार्य हैं प्राचीन रोम में व्यक्तियों द्वारा किये जाते थे। परन्तु रोम की सभ्यता का अन्त होने पर तथा ईसामसीह की मृत्यु के लगभग ४७६ वर्ष पश्चात अन्धकाल आरम्भ होने पर बैंकिंग का बहुत लम्बे काल के लिए अन्त हो गया। एक बार समाप्त होने के पश्चात १२वीं शताब्दी के आरम्भ होने तक बैंकिंग की पुनः स्थापना सम्भव नहीं हो पाई। १२वीं शताब्दी में यहूदियों, जिनको अन्य आर्थिक क्रियाएँ करने का अधिकार प्राप्त नहीं था तथा जिनको हर समय दण्ड भोगने का भय रहता था, के उद्यम के कारण बैंकिंग का पुनः आरम्भ हुआ। यहूदी अपने धन को नकदी में रखते थे ताकि देश में प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न होने पर वे अपने धन सहित देश को छोड़ कर अन्य सुरक्षित स्थान पर जा सकें। इसके अतिरिक्त समय भी यहूदियों द्वारा बैंक के कार्यों को आरम्भ करने के अनुकूल था क्योंकि इसाईयों को गिरजे की ओर से ब्याज पर रुपया उधार देकर लाभ कमाने की आज्ञा नहीं थी। मध्य-काल में गिरजे के आदेशानुसार ब्याज आय प्राप्त करना पाप था तथा जो व्यक्ति ब्याज पर

---

2. "The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public repayable on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft, order otherwise." (*The Banking Regulation Act, 1949.*)

3. "A banker is one who, in the ordinary course of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it." (*A. G. Hart*)

4. Marshall : *Money Credit and Commerce* (1923), p. 295.

रुपया उधार देकर दूसरों का शोषण करते थे उनके लिए मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इस प्रकार यहूदियों को बैंकिंग कार्य में अन्य व्यक्तियों से प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ा था। परन्तु कुछ समय पश्चात् १३ वीं शताब्दी के लगभग उद्योग तथा वाणिज्य का विकास होने के साथ मध्यकालीन गिरजे का प्रभाव कम होने पर ईसाईयों ने भी यहूदियों को लाभ कमाते देख बैंकिंग का कार्य आरम्भ कर दिया था और लगभग दो शताब्दी के अल्प समय में उनकी बैंकिंग की क्रियाओं का विस्तार सारे यूरोप में हो गया था।

सर्वप्रथम लोक बैंकिंग संस्था बैंक आफ वेनिस ११५७ ई० में स्थापित हुई थी। इसके पश्चात् दो अन्य बैंक स्थापित की गई थी। १४०१ ई० में बैंक ऑफ बार्सीलोना तथा १४०७ ई० में बैंक ऑफ जनोआ स्थापित की गई थी। बैंक आफ वेनिस तथा बैंक ऑफ जनोआ १८वी शताब्दी के अन्त तक कार्य करती रही थी। जब उत्तरी यूरोप में वाणिज्य का विकास हुआ तो यूरोप में फगर ऑफ अगस्बर्ग (Fugger of Augsburg) के समान अनेक प्रसिद्ध व्यक्तिगत बैंकिंग गृह स्थापित हो गए थे। इन व्यक्तिगत बैंकिंग गृहों की स्थापना के साथ साथ कुछ लोक बैंकिंग संस्थाओं की भी स्थापना हुई। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध बैंक ऑफ एमस्टर्डाम की स्थापना १६०९ ई० में हुई थी। इन बैंकों का प्रमुख कार्य जमाकर्ताओं से उनकी नकदी जमा की, जो चैक द्वारा वापिस ली जा सकती थीं, स्वीकार करके वाणिज्य के विकास कार्य में सहायता प्रदान करना था।

बैंक ऑफ एमस्टर्डाम १७ वीं शताब्दी की एक महान् बैंक थी जिसको दीर्घावधि तक अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य के क्षेत्र में उसी प्रकार का प्रसिद्ध स्थान प्राप्त था जिस प्रकार का स्थान आज बैंक ऑफ इंगलैंण्ड को प्राप्त है। इस बैंक का जीवन इतिहास पश्चाद्वर्ती मध्य काल में स्थापित अन्य बैंकों के जीवन इतिहास का प्रतिनिधि है। यद्यपि यह बैंक सरकारी राजकोषीय अभिकर्ता का कार्य करती थी परन्तु "इसका प्रमुख कार्य विदेशी सिक्का तथा देशी हल्के तथा घिसे-पिटे सिक्कों को इनके वास्तविक धातु मूल्य पर प्राप्त करना तथा आवश्यक प्रबन्धन व सिक्का ढलाई का खर्च काट कर इनको उत्तम देशी मानक सिक्कों से बदलना था। ऐसा यह बैंक अपने खातों में शेष मूल्य जमा करके प्रार्थी को बैंक मुद्रा देकर करती थी। इस बैंक मुद्रा का वास्तविक मूल्य सदा टकसाली मुद्रा के मूल्य के समान था। इसके अतिरिक्त कुछ बातों में यह बैंक मुद्रा टकसाली मुद्रा से उत्तम थी क्योंकि इसके आग से नष्ट होने तथा चोरी जाने का भय नहीं था तथा इसका भुगतान बिना गिने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को परिवहन किये बिना केवल अन्तरण करके सम्भव था।"[6]

यद्यपि इंगलैण्ड में आधुनिक बैंकिंग के विकास का इतिहास महारानी एलिजाबैथ प्रथम के समय में सुनारों की क्रियाओं के आरम्भ से होता है परन्तु सुनारों से पूर्व भी बहुत से ऐसे व्यक्ति थे जो मुद्रा में लेनदेन किया करते थे। सुनारों का विशेष महत्व १७ वीं शताब्दी के पश्चात् १६४० ई० की उस महान् घटना के पश्चात् हुआ जब महाराजा चार्ल्स प्रथम ने व्यापारियों के उस सारे धन को, जो लन्दन की प्रसिद्ध बुर्जी लन्दन टावर (London Tower) में सुरक्षित था, जब्त कर लिया था। १६४० ई० की घटना के पश्चात् व्यापारियों का लन्दन टावर की सुरक्षा में विश्वास समाप्त हो जाने पर वे अपने धन को सुनारों के पास सुरक्षित रखने लगे थे। शीघ्र ही सुनारों को इस बात का अनुभव होने लगा था कि सौदागरों के उस धन का, जो उनके पास बेकार रखा रहता था, उपयोग करके लाभ प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने इस धन को विश्वसनीय ऋणियों को ब्याज

6. Adam Smith : *Wealth of Nations*, Book IV, Chapter III, part I.

पर उधार देकर लाभ कमाना आरम्भ कर दिया । शीघ्र ही ये सुनार जमा स्वीकार करने तथा ऋण देने की क्रियाओं में व्यस्त हो गए। इस प्रकार लन्दन के सुनारों को आधुनिक वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली के पूर्वजों का स्थान प्राप्त हुआ ।

यद्यपि बैंक ऑफ इंगलैण्ड की स्थापना १६९४ ई० में हुई थी परन्तु वाणिज्य बैंकों का विकास १९ वीं शताब्दी के मध्य तक सम्भव नहीं हो पाया था। १८३३ ई० के अधिनियम के पश्चात् ही इंगलैंड में मिश्रित पूंजी बैंकों की स्थापना तथा विकास सम्भव हुआ था। जबकि संसार के अन्य देशों में बैंकों की स्थापना बहुत पहले हो चुकी थी। इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में यह कार्य १९ वीं शताब्दी में हुआ था। इंगलैंड में वाणिज्य बैंकों का १९ वीं शताब्दी में विकास होने का प्रमुख कारण यह था कि १९ वीं शताब्दी में हुई विश्व प्रसिद्ध औद्योगिक क्रांति ने भिन्न उद्योगों तथा व्यापार के विकास को सम्भव बनाकर वाणिज्य बैंकों की स्थापना तथा उनके विकास को विशेष उत्तेजना प्रदान की थी।

वर्तमान समय में बैंकिंग का महत्त्व

वर्तमान समय में बैंक समाज की सम्पूर्ण आर्थिक उन्नति की स्थायी आधारशिला हैं। वर्तमान समय में ये अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करती है। वास्तव में वर्तमान बैंक के कार्य इतने अधिक हैं तथा समाज के जीवन में इन कार्यों की उपयोगिता इतनी घनी है कि हम यह कदापि कल्पना नहीं कर सकते है कि देश की उस समय क्या अवस्था होगी जब बैंक बन्द हो जायेंगी । यदि बैंक के कर्मचारी एक दिन की भी हड़ताल कर देते हैं तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। देश में बैंकों के बन्द होने पर आर्थिक क्रियाओं का क्रम समाप्त हो जाता है क्योंकि वर्तमान समय में सभी प्रकार का व्यापार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में बैंकों पर आश्रित है। विकसित देशों में, जहाँ लोगों की अधिकाँश आर्थिक क्रियाएँ बैंकों पर आधारित होती है, बैंकों का बहुत अधिक महत्व है। बैंकिंग प्रणाली समाज की फालतू आय को एकत्र करके इसे उत्पादक कार्यो के लिये उपलब्ध करती है। बैंक के निक्षेपों की तुलना एक ऐसे तालाब से की जा सकती है जिसके द्वारा उद्योग तथा वाणिज्य की वित्तिय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। बैंक अनुत्पादक धन को गतिशीलता प्रदान करके उसे उत्पादक पूंजी का रूप प्रदान करती है तथा समाज की उत्पादन शक्ति को बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त बैंक अर्थव्यवस्था में साख-मुद्रा का निर्माण करके समाज में मुद्रा की कमी को पूरा करती है तथा व्यापारी वर्ग को ऋण देकर देश में व्यापार के विकास को सम्भव बनाती है। फालतू धन को उत्पादक रूप प्रदान करने के अतिरिक्त बैंक भिन्न उद्योगों के बीच पूंजी का वितरण इस प्रकार से करती हैं कि समाज की उत्पादन शक्ति अधिकतम हो जाती है। बैंकों के द्वारा करोड़ों रुपये का भुगतान सुगमता के साथ अतिशीघ्र हो जाता है। बैंकों के द्वारा बड़ी तथा छोटी धनराशि का अन्तरण सुगमता से हो जाता है। बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में भी भारी योगदान देती है।

वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली का ढाँचा

वर्तमान वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली को साधारणतया निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) शाखा बैंकिंग (Branch Banking)
(२) इकाई बैंकिंग (Unit Banking)

LIBRARY

(३) माला बैंकिंग (Chain Banking)
(४) समूह बैंकिंग (Group Banking)

१. शाखा बैंकिंग

शाखा बैंकिंग प्रणाली में देश में दो अथवा अधिक शाखाएँ एक बैंक के अंग के रूप में कार्य करती हैं। देश भर में सारी शाखाएँ एक ही संचालक मण्डल के प्रबन्धन के अधीन कार्य करती हैं। इस प्रणाली का सबसे उत्तम उदाहरण इंगलैंड में मिलता है जहाँ वाणिज्य बैंक साधारणतया एक विशालकाय संस्था होती है जिसकी विभिन्न शाखायें देश में चारों ओर फैली होती हैं। इंगलैण्ड में 'महान पांच' के नाम से प्रसिद्ध मिडलैंड बैंक; बार्कले बैंक, वेस्टमिन्स्टर बैंक; लायडस बैंक तथा नेशनल प्रोविन्सियल बैंक की हजारों शाखाएँ विभिन्न स्थानों पर देश तथा विदेशों में बैंकिंग का कार्य करती हैं। हमारे देश में भी इसी प्रकार की प्रणाली विद्यमान है। बड़े-बड़े बैंकों—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया; सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया पंजाब नेशनल बैंक; बैंक ऑफ बड़ौदा, बैंक ऑफ इण्डिया इत्यादि की कई हजार शाखाएँ देश में भिन्न स्थानों पर स्थित हैं। इंगलैंड तथा भारत के अतिरिक्त फ्रांस, केनाडा, अमरीका में भी शाखा बैंकिंग प्रणाली पाई जाती है। अमरीका में शाखा बैंकिंग का आरम्भ १९०९ ई० में केलीफोर्निया में एक अधिनियम बना कर हुआ था।

शाखा बैंकिंग के लाभ

शाखा बैंकिंग प्रणाली के निम्नलिखित प्रमुख लाभ हैं।

(१) इस प्रणाली के द्वारा समाज को बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली तथा श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। एक ही बैंक का विशाल संगठन होने के कारण उसके पास बड़े पैमाने के उत्पादन को सम्भव बनाने के लिए अधिक मात्रा में पूँजी होती है। बहुशाखाओं वाली बड़ी बैंक अधिक वेतन देकर बैंक कार्यों के संचालन के लिए विशेषज्ञ रखकर अपने व्यवसाय का कुशल प्रबन्धन कर सकती है।

(२) शाखा बैंकिंग के द्वारा धन की बचत होती है। बड़ी बैंक प्रत्येक शाखा में थोड़ी पूँजी निधि रख कर कार्य कर सकती है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर एक शाखा से दूसरी शाखा को नकदी का अन्तरण किया जा सकता है। इकाई बैंकिंग प्रणाली में प्रत्येक स्थान पर अधिक मात्रा में नकदी रखनी पड़ती है।

(३) शाखा बैंकिंग में एक ही विशाल बैंक की भिन्न स्थानों पर शाखाएँ होने के कारण ग्राहकों को प्रेषण सुविधाएँ (remittance facilities) प्राप्त होने के कारण धन का अन्तरण सरल तथा सस्ता होता है क्योंकि एक शाखा से दूसरी शाखा को केवल पत्र लिखकर धन का अन्तरण हो जाता है। शाखा बैंकिंग के द्वारा देश के भिन्न भागों में ब्याज की दरों में समानता स्थापित हो जाती है।

(४) शाखा बैंकिंग के द्वारा व्यवसाय की जोखिम एक स्थान पर केन्द्रित न होकर उसका भौगोलिक वितरण हो जाता है। यदि एक शाखा को उसके क्षेत्र में व्यवसायियों को हानि होने के कारण हानि होती है तो उस हानि की क्षति पूर्ति दूसरी शाखाओं के लाभ के द्वारा हो जाती है। यदि किसी एक स्थान पर मन्दी विद्यमान होती है तो बैंक किसी विशेष कठिनाई का अनुभव किये बिना उस मन्दी के दुष्परिणामों को सहन कर सकती है।

(५) शाखा बैंकिंग के द्वारा देश भर में बैंकिंग सेवायें उपलब्ध हो जाती हैं।

(६) शाखा बैंकिंग में कर्मचारी कुशल तथा योग्य होने के कारण शाखा बैंकिंग में धन का कुशल निवेश हो जाता हैं। बैंकिंग में विशेषज्ञ होने के कारण वे धन का निवेश उत्तम प्रकार की प्रतिभूतियों में करके बैंक के लाभ तथा राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करते हैं।

(७) शाखा बैंकिंग में कर्मचारियों का प्रशिक्षण भी सुविधा के साथ होता है क्योंकि शाखा बैंकिंग का काम विस्तृत होने के कारण कर्मचारियों को बैंकिंग के प्रत्येक रूप का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है।

शाखा बैंकिंग के दोष

शाखा बैंकिंग के निम्नलिखित प्रमुख दोष हैं।

(१) शाखा बैंकिंग में बड़े पैमाने के उत्पादन के सभी दोष होते हैं। विशाल संगठन होने के कारण इस प्रणाली में कुशल प्रबन्धन, उपयुक्त निरीक्षण तथा नियन्त्रण के अभाव की समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) एक कुशल बैंक के लिए दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम, जिस क्षेत्र में वह बैंक स्थित है उस क्षेत्र की परिस्थितियों तथा ग्राहकों की रुचियों के सम्बन्ध में बैंक को पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना चाहिये। दूसरे, बैंक के कार्य में स्थिति-सापेक्षता तथा आरम्भ प्रेरणा भी होनी चाहिये। शाखा बैंकिंग में ये दोनों बातें कठिन होती हैं। बैंक का प्रधान कार्यालय शाखा विशेष के कार्य-क्षेत्र तथा ग्राहकों से बहुत दूर स्थित होने के कारण प्रधान कार्यालय के उन उच्च अधिकारियों को जो उस शाखा पर नियन्त्रण रखते हैं उस क्षेत्र की विशेष परिस्थितियों व ग्राहकों की विशेष रुचियों का सही ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। शाखा का मैनेजर, जो अपने क्षेत्र की परिस्थितियों को समझता है, कोई भी कार्य प्रधान कार्यालय की अनुमति के बिना नहीं कर सकता है। इस कारण बहुधा ऐसा होता है कि आवश्यक मामलों में काफी समय तक कोई निर्णय नहीं हो पाता है। शाखा बैंकिंग प्रणाली में व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव होता है तथा शाखाओं का कार्य स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं चल पाता है।

(३) शाखा बैंकिंग व्ययपूर्ण बैंकिंग प्रणाली है। बैंक की प्रत्येक नई शाखा की स्थापना पर काफी व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त शाखाओं की संख्या बढ़ने पर समन्वय, नियन्त्रण तथा निरीक्षण इत्यादि की कठिन समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं जिनको सुलझाने पर काफी व्यय करना पड़ता है।

(४) शाखा बैंकिंग प्रणाली अनावश्यक तथा घातक प्रतियोगिता को प्रोत्साहन देती है। प्रत्येक नगर तथा क्षेत्र में भिन्न बैंकों की शाखाएँ खुलने के कारण उनमें इस प्रकार की अनुचित प्रतियोगिता होने लगती है जो एक कुशल तथा दृढ़ बैंकिंग प्रणाली के विकास के लिए हानिकारक सिद्ध होती है।

(५) शाखा बैंकिंग प्रणाली में एक शाखा के दोषों का अन्य शाखाओं की कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी क्षेत्र में संकट आने के कारण उस क्षेत्र में स्थित शाखा को हानि होती है तो अन्य शाखाओं को उस हानि को सहन करना पड़ता है।

(६) शाखा बैंकिंग प्रणाली उद्योग में एकाधिकार प्रथा को प्रोत्साहन प्रदान करती है। पूँजी का अत्यधिक संकेन्द्रीयकरण हो जाने के कारण आर्थिक सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होती जाती है।

(७) शाखा बैंकिंग का एक अन्य गम्भीर दोष यह है कि शाखाओं के प्रधान कार्यालय से दूर स्थित होने के कारण इनका व्यापक निरीक्षण करना कठिन होता है। प्रधान कार्यालय से दूर होने के कारण शाखा का मैनेजर तथा अन्य कर्मचारी अपनी मनमानी करने लग जाते हैं। शाखा बैंकिंग प्रणाली के इस दोष को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया भारत की प्रधान बैंक है जिसकी १,५०० से अधिक शाखाएं देश भर में फैली हुई हैं। इस बैंक का प्रधान कार्यालय बम्बई में स्थित है। ऐसी स्थिति में प्रधान कार्यालय के लिए जयपुर की शाखा पर पूर्ण नियन्त्रण रखना लगभग असम्भव है। स्थानीय प्रधान कार्यालय भी दिल्ली में जयपुर से लगभग ३०० किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि शाखाओं में अधिकांश नकदी का गबन शाखाओं पर प्रधान कार्यालयों के नियन्त्रण के अभाव का परिणाम होता है।

२. इकाई बैंकिंग

इकाई बैंकिंग प्रणाली में एक बैंक का कार्य साधारणतया केवल एक कार्यालय के द्वारा किया जाता है यद्यपि कभी-कभी कुछ बैंकों को एक सीमित क्षेत्र में शाखायें खोलने का अधिकार भी प्राप्त हो सकता है। इस प्रणाली में बैंक के कार्य का स्थानीय आर्थिक तथा सामाजिक संगठन के साथ एकीकरण होता है। इस प्रणाली में बैंकों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में अधिक होती है। इकाई बैंकिंग प्रणाली में बैंक का व्यवसाय साधारणतया उसी क्षेत्र के उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा कृषकों से सम्बन्धित होता है जिस क्षेत्र में वह बैंक स्थित होती है। इकाई बैंकिंग प्रणाली इस विचार पर आधारित है कि एक बैंक का आरम्भ स्थानीय समाज द्वारा होना चाहिये तथा उसका स्वामित्व भी स्थानीय समाज में निहित होना चाहिये।

इकाई बैंकिंग के लाभ तथा दोष

इकाई बैंकिंग प्रणाली के निम्नलिखित प्रमुख लाभ है।

(१) इकाई बैंकिंग प्रणाली मुक्त उद्यम सिद्धान्त पर आधारित है।

(२) इस प्रणाली में स्थानीय वित्तीय आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा जाता है। बैंक का स्थानीय जनसंख्या से प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत सम्पर्क होने के कारण बैंक का संचालन तथा इसकी कार्यविधि स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल होती है।

(३) इकाई बैंकिंग प्रणाली एकाधिकारी बैंकिंग की वृद्धि को रोकती है क्योंकि इस प्रणाली में एक विशाल बैंक को भिन्न शाखाओं के स्थान पर देश में अनेक छोटी-छोटी बैंक होती है। इस से आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रीकरण नहीं हो पाता है।

(४) इकाई बैंकिंग प्रणाली को छोटी उत्पादन प्रणाली की किफायतों के लाभ प्राप्त होते हैं।

(५) इस प्रणाली में बैंक का कार्य शीघ्रता से ठीक समय पर होता है। इस प्रणाली में दीर्घसूत्रता की हानियाँ भी उत्पन्न नहीं होती हैं।

(६) इकाई बैंकिंग प्रणाली में अकुशल बैंक अधिक समय तक जीवित नहीं रहती है।

(७) इकाई बैंकिंग में प्रत्येक बैंक का प्रबन्धन करना सरल होता है क्योंकि इस प्रणाली में बैंक की भिन्न शाखाओं के बीच समन्वय की समस्या उत्पन्न नहीं होती है।

इकाई बैंकिंग प्रणाली के निम्नलिखित दोष है।

(१) इस प्रणाली में जोखिम का भौगोलिक वितरण न होने के कारण बैंक की स्थिरता कम होती है तथा स्थानीय मन्दी अथवा अन्य कठिनाई उत्पन्न होने पर बैंकों की विफलता का भय बना रहता है।

(२) इस प्रणाली में बैंक की नकदी में गतिशीलता नहीं रहती है तथा नकदी का अन्तरण करना कठिन तथा व्ययपूर्ण होता है।

(३) इस प्रणाली में व्यवसाय का पैमाना छोटा होने के कारण बैंक में प्रबन्धन कुशलता तथा कार्य-विधियों सम्बन्धी सुधार करना कठिन होता है।

(४) इकाई बैंकिंग प्रणाली पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण रखना अधिक कठिन तथा व्ययपूर्ण होता है।

(५) इकाई बैंकिंग प्रणाली में छोटी बैंकों के पास पर्याप्त वित्तीय साधनों का अभाव होने के कारण स्थानीय आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

३. माला बैंकिंग

यद्यपि १९०१ ई० के पूर्व अमरीका में कुछ माला बैंकिंग कम्पनियाँ थीं परन्तु माला बैंकिंग प्रणाली वर्तमान शताब्दी की घटना है। १९२० ई० के लगभग यह प्रणाली उन्नति तथा लोकप्रियता के शिखर पर थी। इस बैंकिंग प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह है कि दो अथवा अधिक बैंकों पर एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के एक ही वर्ग का प्रभुत्व होता है। १९३० ई० की मन्दी में अमरीका में अनेक मालाओं की विफलता के कारण इस प्रणाली के विकास को भारी हानि हुई थी। अमरीका में १९२५ ई० में १३३ माला बैंकिंग कम्पनियाँ थीं जिनकी सदस्यता की संख्या ९३३ थी। सबसे बड़ी माला संस्था विथम सिस्टम (Witham System) थी जिसके सदस्य बैंकों की संख्या १७५ थी। अमरीका में माला बैंकिंग प्रणाली के विशेष विकास केन्द्र न्यूयार्क, जार्जिया, वाशिंगटन, इदाहो, ऊटा तथा मिनेसोटा राज्य थे। फेड्रल रिजर्व बैंक के अनुमानों के अनुसार १९४५ ई० में ११५ मालाएँ थीं तथा सदस्य बैंकों की कुल संख्या ६०० के लगभग थी इनमें से ५० प्रतिशत से अधिक बैंक इलिनोय, आयोवा, कान्सस, मिनेसोटा, मिसोरी, नेबरास्का तथा टक्सास सात राज्यों में स्थित थीं।

४. समूह बैंकिंग प्रणाली

समूह बैंकिंग प्रणाली में दो अथवा अधिक बैंकों का कार्य तथा प्रभुत्व एक प्रमण्डल अथवा ट्रस्ट में निहित होता है। इस प्रणाली का विकास अमरीका में १९२६ ई० में हुआ था तथा १९२९ ई० तक लगभग केवल तीन वर्ष की अवधि में ३०० समूह, जिनकी सदस्यता २,००० बैंकों से अधिक थी, उत्पन्न हो गये थे। प्रत्येक समूह के सदस्य बैंकों की संख्या ३ तथा १०८ के बीच थी। १९२९ ई० की मन्दी से इस प्रणाली को भारी हानि हुई थी तथा १९२९ई० के पश्चात समूह बैंकिंग प्रणाली का पतन होता गया था। १९४१ ई० में समूहों की संख्या ३०० से घट कर केवल ४१ रह गई थी और सदस्य बैंकों की संख्या २,००० से अधिक से घट कर केवल ४२७ रह गई थी। १९५८ ई० के अन्त में समूहों की कुल संख्या घटकर केवल ४३ रह गई थी तथा सदस्य बैंकों व शाखाओं की संख्या क्रमशः ४१८ तथा ८४८ थी। वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली के भिन्न प्रकारों को निम्नांकित चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है।

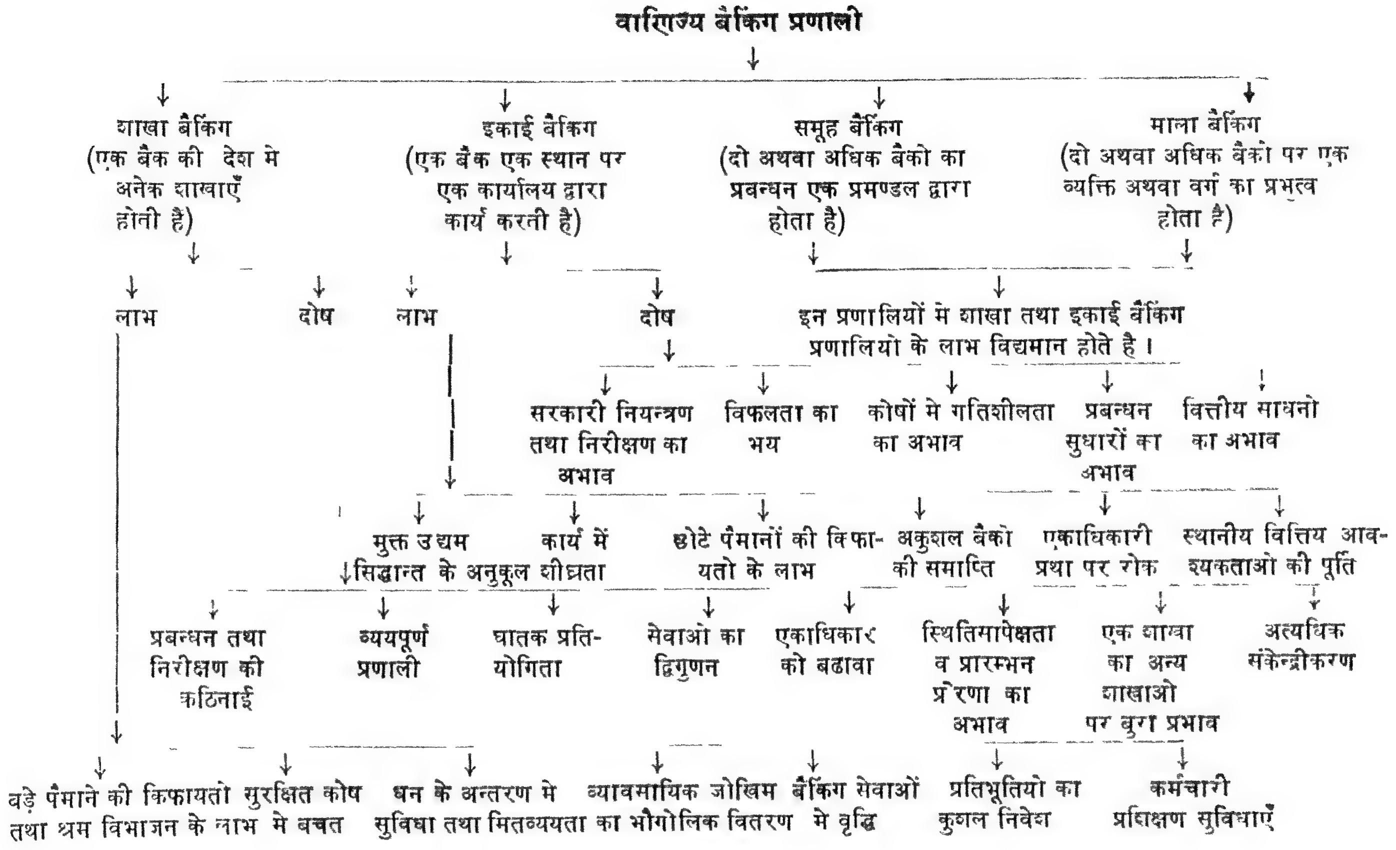
वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली
शाखा बैंकिंग (एक बैंक की देश मे अनेक शाखाएँ होती है)
इकाई बैंकिग (एक बैंक एक स्थान पर एक कार्यालय द्वारा कार्य करती है)
समूह बैंकिग (दो अथवा अधिक बैको का प्रबन्धन एक प्रमण्डल द्वारा होता है)
माला बैंकिग (दो अथवा अधिक बैंको पर एक व्यक्ति अथवा वर्ग का प्रभुत्व होता है)
लाभ
दोष
लाभ
दोष
इन प्रणालियों मे शाखा तथा इकाई बैंकिग प्रणालियो के लाभ विद्यमान होते है।
सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण का अभाव
विफलता का भय
कोषों मे गतिशीलता का अभाव
प्रबन्धन सुधारों का अभाव
वित्तीय साधनो का अभाव
मुक्त उद्यम सिद्धान्त के अनुकूल
कार्य में शीघ्रता
छोटे पैमानों की किफायतो के लाभ
अकुशल बैको की समाप्ति
एकाधिकारी प्रथा पर रोक
स्थानीय वित्तिय आवश्यकताओ की पूर्ति
प्रबन्धन तथा निरीक्षण की कठिनाई
व्ययपूर्ण प्रणाली
घातक प्रतियोगिता
सेवाओं का द्विगुणन
एकाधिकार को बढावा
स्थितिमापेक्षता व प्रारम्भन प्रेरणा का अभाव
एक शाखा का अन्य शाखाओ पर बुरा प्रभाव
अत्यधिक संकेन्द्रीकरण
बड़े पैमाने की किफायतो तथा श्रम विभाजन के लाभ
सुरक्षित कोष मे बचत
धन के अन्तरण मे सुविधा तथा मितव्ययता
व्यावसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण
बैंकिग सेवाओं मे वृद्धि
प्रतिभूतियो का कुशल निवेश
कर्मचारी प्रशिक्षण सुविधाएँ

अध्ययन सूची

1. H. P. Wills and Others : Contemporary Banking.
2. B. Ostrolenk : The Economics of Branch Banking (New York, 1930).
3. G. T. Cartinhour : Branch, Group and Chain Banking (Macmillan & Co., 1931).
4. Alfred Marshall : Money, Credit and Commerce, (Macmillan & Co, London, 1933).
5. G. Crowther : An Outline of Money, (rev. ed.), Chapter II.
6. Adam Smith : Wealth of Nations, Book VI, Chapter III. Part 1.
7. A. P. Usher : "The Origins of Banking", *Economic History Review*, Vol. IV, 1934, pp. 399-428.

प्रश्न

1. Trace the history of development of joint stock banking.
2. Write a note on unit and branch banking as alternative systems of joint stock banking in modern times.

२४

केन्द्रीय बैंकिंग
(Central Banking)

विकास का इतिहास

विल रोजर्स के विचारानुसार केन्द्रीय बैंकिंग उन तीन महान आविष्कारों में से एक है (अन्य दो महान आविष्कार आग तथा पहिया है) जो अतीत से लेकर अब तक हुये है। यद्यपि केन्द्रीय बैंक को महान आविष्कार की श्रेणी मे रखने के सम्बन्ध मे सन्देह किया जा सकता है परन्तु इस से किसी को इन्कार नही हो सकता है कि केन्द्रीय बैंक मनुष्य द्वारा स्थापित एक अत्यधिक उपयोगी वित्तिय संस्था है। वर्तमान समय मे केन्द्रीय बैंक प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था के मौद्रिक तथा राजकोषीय ढाँचे का केन्द्रीय स्तम्भ है। केन्द्रीय बैंक की क्रियाये अर्थव्यवस्था के सुचारु रूप से कार्य करने तथा सरकार के राजकोषीय लेनदेन के लिये अनिवार्य है।

यद्यपि कुछ केन्द्रीय बैंकों का आरम्भ २०० वर्ष से भी अधिक पूर्व हुआ था परन्तु केन्द्रीय बैंक का विकास तथा लोकप्रियता गत १०० वर्षों की विशेषता कही जा सकती है। केन्द्रीय बैंक की संस्था प्रमुखत. १९ वी शताब्दी की उत्पत्ति है। यद्यपि स्वीडन में रिक्सबैंक की स्थापना १६५६ ई० मे हुई थी परन्तु बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने, जो १६९४ ई० मे स्थापित हुई थी, १८४४ ई० मे सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंक के रूप मे कार्य किया था। इस प्रकार बैंक ऑफ इंगलैण्ड का इतिहास केन्द्रीय बैंकिग के विकास के इतिहास का प्रतिरूप है। बैंक ऑफ फ्रांस तथा जर्मनी मे रीच्स-बैंक (Reichsbank) क्रमश: १८०० ई० तथा १८७५ ई० मे स्थापित हुई थी। बैंक ऑफ नैदर-लैण्डस की (Bank of Netherlands) पुरानी बैंक ऑफ एमस्ट्रडाम (Bank of Amsterdam) के स्थान पर १८१४ ई० मे स्थापना हुई थी। बैंक ऑफ नारवे (Bank of Norway); नेशनल बैंक आफ डेनमार्क (National Bank of Denmark), नेशनल बैंक ऑफ बेल्जियम (National Bank of Belgium) तथा बैंक आफ स्पेन (Bank of Spain) की स्थापना क्रमश: १८१७ ई०, १८१८ ई० १८'० ई० तथा १८५६ ई० मे हुई थी। १८६० ई० मे रूस मे बैंक ऑफ रशा (Bank of Russia) की स्थापना हुई थी। जापान में देश की मुद्रा प्रणाली का सुधार करने के उद्देश्य से बैंक ऑफ जापान १८८२ ई० में स्थापित की गई थी। इन देशों मे केन्द्रीय बैंकों की स्थापना होने के अतिरिक्त १९ वी शताब्दी मे पुर्तगाल; जावा; मिस्र, तुर्की, तथा बलगारिया मे भी केन्द्रीय बैंक

स्थापित की गई थीं। १६ वीं शताब्दी का केन्द्रीय बैंकिंग के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा १९ वीं शताब्दी को संसार के भिन्न देशों में, विशेष रूप से यूरोप के देशों में, केन्द्रीय बैंकों की स्थापना-शताब्दी कहा जा सकता है। यूरोप के देशों में स्थापित इन केन्द्रीय बैंकों को विशेष अधिकार प्राप्त थे।

यद्यपि १९ वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के अधिकांश देशों में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हो चुकी थी परन्तु पूरवी संसार में जावा जापान तथा मिस्र को छोड़कर अधिकांश देशों में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना नहीं हुई थी। १६ वीं शताब्दी के अन्त तक तथा २० वीं शताब्दी के आरम्भ होने पर भी भारत तथा चीन के समान विशाल देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं थीं। इस प्रकार २० वीं शताब्दी में केन्द्रीय बैंकिंग के विकास का क्रम जारी रहा था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयता की भावना तथा आर्थिक जीवन में राजकीय नियन्त्रण की आवश्यकता उत्पन्न होने से केन्द्रीय बैंकिंग के विकास को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन, जो १९२० ई० में ब्रुसेल्स में हुआ था, ने केन्द्रीय बैंकिंग के विकास को और अधिक प्रगति प्रदान की थी क्योंकि इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया था कि "जिन देशों में उस समय तक केन्द्रीय बैंक स्थापित नहीं हुई थी उन देशों की सरकारों को अपने देश में यथाशीघ्र केन्द्रीय बैंक स्थापित करके देश की मौद्रिक तथा बैंकिंग प्रणालियों में स्थिरता तथा विश्व सहयोग को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।[1]"

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन में प्रस्ताव पास होने के लगभग ३० वर्ष के अल्प समय में केन्द्रीय बैंकिंग का संसार के विभिन्न देशों में आश्चर्यजनक तीव्र गति के साथ विकास हुआ। १९२० ई० से लेकर (केवल १९२९ ई० तथा १९३० ई० को छोड़कर क्योंकि ये दोनों वर्ष महान् मन्दी संकट के वर्ष थे) १९३७ ई० तक प्रति वर्ष संसार के किसी न किसी देश में केन्द्रीय बैंक की स्थापना होती रही थी। आज संसार के लगभग सभी स्वाधीन देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित हैं।

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा

केन्द्रीय बैंक को व्यापक तथा सही परिभाषा करना कठिन है। अर्थशास्त्रियों तथा वित्त विशेषज्ञों ने केन्द्रीय बैंक की भिन्न प्रकार से परिभाषा की है। प्रत्येक अर्थशास्त्री ने अपनी परिभाषा में केन्द्रीय बैंक के भिन्न कार्यों को महत्व दिया है। वेरा स्मिथ (Vera Smith) ने केन्द्रीय बैंक के मुद्रा प्रचालन कार्य को अधिक महत्व देते हुए लिखा है कि "केन्द्रीय बैंकिंग का अभिप्राय उस बैंकिंग प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत किसी एक बैंक को नोट प्रचालन का पूर्ण अथवा अवशेष एकाधिकार प्राप्त होता है।"[2] अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक (Bank of International Settlements) के अनुसार "केन्द्रीय बैंक उस बैंक को कहते हैं जिसका प्रमुख कार्य देश में मुद्रा तथा साख-मुद्रा का नियमन करना होता है।"[3] शॉ (Shaw) के विचार में केन्द्रीय बैंक वह बैंक होती है जो देश में साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखती है। हाटरे के विचार में "केन्द्रीय बैंक बैंकों की बैंक होती है तथा बैंकों के लिये अन्तिम ऋणदाता का कार्य करना इसकी प्रमुख विशेषता है।"[4] किश तथा एलकिन्स के (Kisch and Elkins) के अनुसार केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जिसका प्रमुख

1. M H. de Kock : *Central Banking*, 3rd ed., p. 19.
2. Vera Smith : *Rationale of Central Banking*, p. 148.
3. "………is the bank in any country to which has been entrusted the duty of regulating the volume of currency and credit in the country." (*The Bank of International Settlement*)
6. R. G. Hawtrey : *The Art of Central Banking*, p. 116.

कार्य मुद्रामान की स्थिरता को बनाए रखना होता है। स्प्रेग के अनुसार "केन्द्रीय बैंकों के तीन विशेष कार्य होते है, अर्थात् केन्द्रीय बैंक के कार्य सरकार के राजकोषीय अभिकर्त्ता, एकाधिकारी के रूप में मुद्रा प्रचालन तथा साख-मुद्रा प्रणाली की आधारशिला के तीन भिन्न कार्य करना है। यह अन्तिम कार्य केन्द्रीय बैंक का सबसे अधिक आवश्यक कार्य है।"[5] १९२६ ई० के भारतीय राजकीय मुद्रा तथा वित्त आयोग के सम्मुख बैंक ऑफ इंगलैंड के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंक के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "केन्द्रीय बैंक को नोट प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त होना चाहिये। इसे वैध ग्राह्य मुद्रा का प्रचालन करने तथा उसको संचलन से हटाने का एक मात्र अधिकार प्राप्त होना चाहिये। सरकार की सभी सारी नकदी रोकड़ तथा देश की अन्य बैंकों व उनकी शाखाओं की सारी नकदी रोकड़ इसी के पास रहनी चाहिए। इसे एक ऐसे अभिकर्त्ता का कार्य करना चाहिये जो देश के आन्तरिक तथा विदेशी आर्थिक कार्य सम्पन्न कर सके। केन्द्रीय बैंक को देश की मुद्रा इकाई के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता बनाए रखनी चाहिए। यह आवश्यकता अथवा संकट काल में ऋण प्राप्त करने का ऐसा अन्तिम स्रोत होना चाहिए जहाँ से स्वीकृत हुण्डियों का बट्टा करके अग्रिमों के रूप में अथवा सरकारी हुण्डियों की जमानत की आड़ पर वित्तीय सहायता प्राप्त हो सके।"[6] डी कौक के विचारानुसार "केन्द्रीय बैंक उस बैंक को कहते हैं जो देश की मौद्रिक तथा बैंकिंग प्रणाली का शिखर होती है तथा जो सम्पूर्ण देश के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर निम्नलिखित कार्यों को सम्पन्न करती है।

(१) देश में वाणिज्य तथा जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर मुद्रा का नियमन करना जिसके लिए इसे नोट प्रचालन का पूर्ण एकाधिकार अथवा आंशिक एकाधिकार प्राप्त होता है।

(२) राज्य के लिए साधारण बैंकिंग तथा अभिकर्त्ता सेवाएँ प्रदान करना।

(३) वाणिज्य बैंकों की नकदी रोकड़ का संरक्षण करना।

(४) राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा आरक्षणों का संरक्षण करना।

(५) देश में वाणिज्य बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं को विनिमय हुण्डियों, राजकोषीय हुण्डियों तथा अन्य उपयुक्त हुण्डियों व ऋणपत्रों को बट्टा करके वित्तय सहायता प्रदान करना।

---

5. "The special functions of the central banks may be grouped under three heads : they serve as fiscal agents of Governments : they have large power of control over currency through the more or less complete monopoly of note issue : and finally, since they hold a large part of the reserves of other banks, they are directly responsible for the fundation of the entire structure of credit. This last is by far the most important function of the Central Bank". (O. M. W *Sprague : Theory and History of Banking.*)

6. "It should have the sole right of note-issue, it should be the channel, and the only channel, for the output and intake of legal ender currency. It should be the holder of all the Government balances, the holder of all the reserves of other banks and the branches of all banks in the country. It should be the agent 'so to speak' through which the financial operations at home and abroad of the Government would be performed. It would further be the duty of the Central Bank to effect, as far as it could, suitable contraction and suitable expansion, in addition to aiming at general stability, and to maintain that stability within as well as without. When necessary it would be the ultimate source from which necessary funds might be obtained in the form of rediscounting of approved bills or advances on approved short securities of Government paper." (*Governor Bank of England—vide Report of Royal Commission on Indian Currency and Finance 1926.*)

(६) अन्तिम ऋणदाता के रूप में बैंकों को ऋण सहायता प्रदान करने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करना।

(७) बैंकों के बीच पारस्परिक लेन-देन सम्बन्धी समाशोधन गृह का कार्य करना।

(८) वाणिज्य तथा राज्य की मौद्रिक नीति को ध्यान में रखकर साख-मुद्रा का नियन्त्रण करना।

उपरोक्त कार्यों को सम्पन्न करने के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक को जनता से प्रत्यक्ष रूप में केवल इस प्रकार के सम्बन्ध रखने चाहिये जो इसकी मौद्रिक तथा बैंकिंग नीतियों की सफलता के लिये अत्यावश्यक हैं। इसे जनता से प्रत्यक्ष जमाओं के रूप में नकदी स्वीकार नहीं करनी चाहिये तथा न ही जनता को प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान करने चाहिये। ये सब कार्य केन्द्रीय बैंक को देश की वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली के द्वारा सम्पन्न करने चाहिये।"[7]

केन्द्रीय बैंक के कार्य

केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों तथा विशेषज्ञों में काफी मतभेद पाया जाता है। किश तथा एलकिन्स के विचार में "केन्द्रीय बैंक का आवश्यक कार्य देश में मुद्रा मान की स्थिरता को बनाए रखना है।"[8]

मुक्त अर्थव्यवस्थाओं में केन्द्रीय बैंक के साधारण कार्यो को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) अर्थव्यवस्था में व्यावसायिक लेनदेन को सुविधाजनक बनाने के हेतु विनिमय माध्यम को उपलब्ध करना तथा इसका उचित नियमन करना। इस उद्देश्य की पूर्ति केन्द्रीय बैंक मुद्रा का प्रचालन करके, अन्तर बैंक लेनदेन मे बैंकों के मध्य समाशोधन गृह का कार्य करके, ऋणपत्रो को बट्टा करके अथवा समर्थक ऋणपत्रों की आढ़ के आधार पर बैंकों को वित्तीय सहायता देकर; अन्तिम ऋणदाता की जिम्मेदारी स्वीकार करके तथा देश के जिन भागों मे बैंकिंग प्रणाली का पर्याप्त विकास नही हो पाया है वहाँ ग्राहकों को प्रत्यक्ष ऋण सहायता देकर करती है।

(२) राज्य के लिए सामान्य बैंकिंग सेवाएँ तथा अभिकर्त्ता सेवाएँ प्रदान करना।

(३) निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के हेतु अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करना। यह कार्य केन्द्रीय बैंक संचलन में मुद्रा की पूर्ति तथा विदेशी विनिमय लेनदेन के नियमन द्वारा करती है। केन्द्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति का नियमन मुद्रा प्रचालन तथा साख-मुद्रा का नियमन करके करती है।

डी कॉक के अनुसार केन्द्रीय बैंक के निम्नलिखित प्रमुख कार्य होने चाहिये।

(१) नोट प्रचालन का एकाधिकार।
(२) सरकारी बैंकर, अभिकर्ता तथा आर्थिक परामर्शदाता।
(३) सदस्य बैंकों की नकदी रोकड़ का संरक्षण।
(४) राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नकदी का संरक्षण।
(५) वाणिज्य तथा अन्य बैंकों की अन्तिम ऋणदाता।
(६) सदस्य बैंकों के भुगतानों का समाशोधन गृह।

7. M. H. de Kock : *Central Banking*, 3rd ed., p. 22.
8. "The essential function of a central bank is the maintenance of the stability of the monetary standard." (Kisch and Elkins : *Central Banking*, 4th. ed., p. 47.)

(७) वाणिज्य आवश्यकताओं तथा राज्य की मौद्रिकनीति के अनुसार साख-मुद्रा का नियन्त्रण करना।

केन्द्रीय बैंक के उपरोक्त कार्यों की विस्तृत विवेचना निम्नलिखित प्रकार की जा सकती है।

(१) नोट प्रचालन

वर्तमान समय में संसार के प्रत्येक उस देश में जहाँ केन्द्रीय बैंक है केन्द्रीय बैंक को नोट प्रचालन का पूर्ण एकाधिकार प्राप्त होता है। नोट प्रचालन केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य है। नोट प्रचालन का विशेष अधिकार केन्द्रीय बैंकों की स्थापना के समय से ही इनको प्राप्त रहा है। इस अधिकार के प्राप्त होने के कारण ही केन्द्रीय बैंकों को बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने तक प्रचालन बैंक (Bank of Issue) कहा जाता था।[9] केन्द्रीय बैंक को नोट प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त होने के निम्नलिखित प्रमुख लाभ हैं।

(i) नोट प्रचालन में अनुरूपता आ जाती है।

(ii) साख-मुद्रा निर्माण पर नियन्त्रण करने की समस्या का समाधन हो जाता है क्योंकि साख-मुद्रा की मात्रा संचलन में मुद्रा की मात्रा पर निर्भर होती है। केन्द्रीय बैंक मुद्रा की मात्रा का नियमन करके साख-मुद्रा पर भी नियन्त्रण रख सकती है।

(iii) केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रचलित नोटों में जनता का अधिक विश्वास होता है क्योंकि बैंक को सरकार का संरक्षण प्राप्त होता है।

(iv) केन्द्रीय बैंक मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य की स्थिरता को बनाये रखती है।

(v) देश की मुद्रा प्रणाली में स्थितिनापेक्षता का गुण उत्पन्न हो जाता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक संचलन में मुद्रा की मात्रा में अर्थव्यवस्था में वाणिज्य तथा उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन कर सकती है।

सरकारी तथा बैंक नोट

यद्यपि प्रत्येक देश में वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक को नोट प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त है परन्तु कुछ अर्थशास्त्री जिनमें शॉ का नाम उल्लेखनीय है, केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार प्रदान करने के विरोध में हैं उनके विचार में नोट प्रचालन का महत्वपूर्ण कार्य केवल सरकार द्वारा किया जाना चाहिये। शॉ के विचार में राज्य द्वारा प्रचलित नोटों में अनियन्त्रित, स्वयं संचालक तथा स्वयं नियमित नोट मुद्रा प्रणाली का गुण विद्यमान होता है। केन्द्रीय बैंक को राज्य द्वारा प्रचलित नोटों को वितरण करने का कार्य दिया जा सकता है। शॉ सरकारी नोट प्रचालन सिद्धान्त के भारी समर्थक हैं तथा *Central Banking* शीर्षक अपनी पुस्तक में सरकारी नोट प्रचालन के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि राज्य द्वारा प्रचालित कागजी मुद्रा में अधिप्रचालन का भय विद्यमान नहीं होता है तथा इसके प्रति जनता का अधिक विश्वास होता है। परन्तु शॉ के कथन में काफी त्रुटियाँ उपस्थित हैं। यह कहना कठिन है कि राज्य द्वारा प्रचालित मुद्रा में अधिप्रचालन तथा इससे उत्पन्न होने वाले मूल्य-ह्रास का भय नहीं होता है। संसार में विद्यमान स्फीति की घटना यह सिद्ध करती है कि सरकार वित्तिय संकट पड़ने पर मुद्रा का अधिप्रचालन करके अर्थव्यवस्था में स्फीति को उत्पन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त राज्य को

9. M. H. de Kock : *op. cit.*, p. 26.

पूर्ण सत्ता प्राप्त होने के कारण राज्य इस सत्ता का दुरुपयोग कर सकता है तथा इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य द्वारा इस सत्ता का समय-समय पर दुरुपयोग किया गया है।

(२) सरकारी बैंकर

वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक का दूसरा प्रमुख कार्य सरकार के लिए बैंकर का कार्य करना है। अभिकर्ता तथा बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकारी नकदी रोकड़ का संरक्षण करती है तथा भिन्न सरकारी रोकड़ खातों व हिसाब को रखती है। केन्द्रीय बैंक सरकार के नाम में जनता से करों का भुगतान स्वीकार करती है तथा सरकार द्वारा किये गये भुगतानों में जनता को दिए गए चैकों का भुगतान करती है। आवश्यकता पड़ने पर यह सरकार को अल्पकालीन ऋण भी देती है। यह सभी प्रकार के आर्थिक कार्यों में सरकार को सलाह देती है। इस कार्य का वर्तमान समय में इतना अधिक महत्व है कि सरकार तथा केन्द्रीय बैंक में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा वित्तमन्त्री सभी महत्वपूर्ण आर्थिक मामलों में केन्द्रीय बैंक के गवर्नर से परामर्श करता है।

(३) बैंकों की बैंक

उपरोक्त दोनों कार्यों को सम्पन्न करने के अतिरिक्त वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य यह है कि यह देश में अन्य बैंकों के लिये बैंकर का कार्य करती है। केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों के साथ वही सम्बन्ध होता है जो अन्य बैंकों का अपने ग्राहकों के साथ होता है। यह उनके नकद आरक्षणों का संरक्षण करती है, उनको ऋण प्रदान करती है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनको वित्तिय तथा आर्थिक मामलों में सलाह भी देती है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के बीच समाशोधन-गृह (clearing house) का कार्य भी करती है। वाणिज्य तथा अन्य बैंकों को अपनी जमाओं का एक निश्चित प्रतिशत न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात के रूप में केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है जिसके कारण नकदी का केन्द्रीकरण हो जाता है। इससे यह लाभ होता है कि देश की साख-मुद्रा प्रणाली लोचदार बन जाती है तथा साख-मुद्रा नियन्त्रण की समस्या हल हो जाती है। इसके अतिरिक्त नकद आरक्षण केन्द्रीय बैंक के पास जमा होने से देश की सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली शक्तिशाली बन जाती है तथा नकद आरक्षणों का संकट काल के समय में इष्टतम उपयोग किया जा सकता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संचय का संरक्षण

वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक राष्ट्र की सभी प्रकार की विदेशी मुद्रा के संचय का संरक्षण करती हैं। यह केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य को स्थिर रखना केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य है। इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए केन्द्रीय बैंक अपने पास विदेशी मुद्रा के कोष संचित रखती है।

(५) सदस्य बैंकों का समाशोधन गृह

वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक का यह भी एक मुख्य कार्य है। यह कार्य बैंक ऑफ इंगलैंड द्वारा १७५४ ई० में सम्पन्न किया गया था। कुछ समय पश्चात् अन्य केन्द्रीय बैंक भी इस कार्य को करने लग गई थी। शॉ, विलिस, तथा जॉन्सी के विचारानुसार समाशोधनगृह का कार्य करके सदस्य बैंकों के बीच परस्पर लेनदेन सम्बन्धी भुगतानों को सम्भव बनाना केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य है। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य के द्वारा प्रत्येक बैंक को अन्य बैंकों के साथ अलग-अलग लेनदेन का नकदी द्वारा भुगतान करने की समस्या समाप्त हो जाती है।

(६) अन्तिम ऋणदाता

अन्तिम ऋणदाता शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्टर बेजहॉट, जिनकी १८७३ ई० में प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक *Lombard Street* का केन्द्रीय बैंकिंग के साहित्य में विशेष महत्व है, द्वारा किया गया था। वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को संकट काल में वित्तिय सहायता प्रदान करके अन्तिम ऋणदाता का कार्य करती है। जब किसी बैंक को वित्तिय संकट का सामना करना पड़ता है तथा इसकी कोई सहायता नहीं करता है तब केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता के रूप में उस बैंक को ऋण देकर उसे दिवालिया होनेसे बचाती है। अन्तिम ऋणदाता के रूप में केन्द्रीय बैंक देश की सारी बैंकों का संकट काल में सहायक बनकर उनमें विश्वास उत्पन्न करती है। बेजहॉट ने अपनी पुस्तक में केन्द्रीय बैंक के इस कार्य के महत्व का वर्णन किया था तथा बैंक ऑफ इंगलैण्ड का ध्यान संकट काल में देश में अन्य बैंकों को ऋण देकर इस कार्य को सम्पन्न करने की ओर आकर्षित किया था।[10] बेजहॉट की पुस्तक प्रकाशित होने के पश्चात् बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने अन्तिम ऋणदाता का कार्य करना आरम्भ कर दिया था। वर्तमान समय में प्रत्येक केन्द्रीय बैंक इस कार्य को करती है। भारत में १९६० ई० में पालाई सेन्ट्रल बैंक के दिवालिया हो जाने पर देश में वाणिज्य बैंकों से जब जमाकर्ताओं ने भारी मात्रा में अपनी जमाओं को वापस लेना आरम्भ कर दिया था तब वाणिज्य बैंकों को अपने जमाकर्ताओं को भुगतान करने में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अन्तिम ऋणदाता के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान की थी।

(७) साख मुद्रा का नियन्त्रण

वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य अर्थव्यवस्था में साख मुद्रा का नियन्त्रण करके समाज की आर्थिक स्थिति को ठीक रखना है। इस कार्य का महत्व वर्तमान समय में इतना अधिक है कि साख-मुद्रा नियन्त्रण के कार्य को सही प्रकार से सम्पन्न करने के लिये केन्द्रीय बैंक को देश की सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण रखने की शक्ति तथा अधिकार दिये जाते हैं। साख-मुद्रा पर नियंत्रण करने की आवश्यकता वर्तमान समय में साख-मुद्रा का आर्थिक महत्व होने के कारण पड़ती है। गत ६० वर्षों का आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि अर्थव्यवस्था में आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था ठीक बनाये रखने के लिए साख-मुद्रा पर नियंत्रण रखना अत्यावश्यक है।

साख मुद्रा नियन्त्रण का उद्देश्य

केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति का उद्देश्य साख-मुद्रा की मात्रा में देश की औद्योगिक, वाणिज्य तथा साधारण उपभोग आवश्यकताओं के अनुसार उपयुक्त कमी अथवा वृद्धि करना है। यदि अर्थव्यवस्था में संचलन में साख-मुद्रा की मात्रा उपयुक्त से अधिक होती है तो

---

10. "Theory suggests, and experience proves, that in a panic the holders of the ultimate Bank reserve (whether one bank or many) should lend to all that bring good securities quickly, freely, and readily. By that policy they allay a panic; by every other policy they intensify it. The public have a right to know whether the Bank of England the holders of our ultimate bank reserve acknowledge this duty, and are ready to perform it. But this is now very uncertain." (Walter Bagehot : *Lombard Street*, 1873, reprint, p. 85.)

"Nothing, therefore, can be more certain than that the Bank of England has in this respect no peculiar privilege; that it is simply in the position of a Bank keeping the Banking reserve of the country; that it must in time of panic do what all other similar banks must do; that in time of panic it must advance freely and vigorously to the public out of the reserve." (*Ibid* : p. 96.)

अर्थव्यवस्था में स्फीति विद्यमान हो जाती है । इसके विपरीत संचलन में साख-मुद्रा की मात्रा कम होने पर देश में अवस्फीति उत्पन्न हो जाती है । आरम्भ में केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखना था । १९३१ ई० तक स्वर्णमान विद्यमान रहने के कारण यह ठीक प्रकार से होता रहा था । परन्तु विनिनय दर में स्थिरता को प्राप्त करने के लिए देश में आन्तरिक कीमतों में परिवर्तन उत्पन्न हो जाते थे जिसके कारण देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती थी । १९३१ ई० के पश्चात् स्वर्णमान का पतन हो जाने पर साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति का उद्देश्य विनिमय दर स्थिरता के स्थान पर आन्तरिक कीमत-स्तर को स्थिर रखना हो गया । १९२९ ई० की महान् मन्दी के पश्चात् वैत्तिक विशेषज्ञों को यह ज्ञात हो गया कि विनिमय दर स्थिरता की अपेक्षाकृत कीमत स्थिरता देश के आर्थिक हितों के लिए अधिक आवश्यक थी । दूसरे महायुद्ध के पश्चात् साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति का उद्देश्य देश में आर्थिक स्थिरता को स्थापित करना तथा बेरोजगारी को समाप्त करके देश में पूर्ण रोजगार प्राप्त करना हो गया है । वर्तमान युग में पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त करना प्रत्येक देश की सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य समझा जाता है ।

साख-मुद्रा पर नियन्त्रण की आवश्यकता

यद्यपि साख-मुद्रा ने भिन्न प्रकार से समाज की सेवा की है परन्तु मुद्रा के समान साख-मुद्रा समाज के लिए अनेक मुसीबतों का कारण भी बनी है । यद्यपि यह सत्य है कि अधिकांश वर्तमान आर्थिक विकास जो हम अपने चारों ओर देखते हैं साख-मुद्रा के द्वारा सम्भव हो पाया है परन्तु यह भी कुछ कम सत्य नहीं है कि साख-मुद्रा उन अनेक आर्थिक संकटों का जिनके द्वारा अर्थव्यवस्था समय-समय पर अस्त-व्यस्त हो गई है, कारण बनी है । उदाहरण के लिए, १९२०-२१ ई० का आर्थिक संकट अस्थिर साख-मुद्रा स्थिति का परिणाम था । इसी प्रकार १९२९ ई० की महान आर्थिक मन्दी का मुख्य कारण यह था कि साख-मुद्रा का अत्यधिक विस्तार हो गया था । संसार का आर्थिक इतिहास इसका साक्षी है कि मुद्रा के समान, यदि साख-मुद्रा पर भी नियन्त्रण न रखा जाए तो समाज को अनेक प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयों को सहन करना पड़ता है । रोबर्टसन का यह विचार कि मुद्रा जो मनुष्य जाति के लिए अनेक सुखों का स्रोत है, नियन्त्रण के बिना अभिशाप तथा मुसीबतों का कारण भी बन जाती है, साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी लागू होता है । जब अर्थव्यवस्था में संचलन में साख-मुद्रा की मात्रा अत्यधिक हो जाती है तो देश में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है जिसके कारण देश के आर्थिक विकास में अनेक बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं । वाणिज्य तथा उद्योग के विकास में वृद्धि करने के स्थान पर साख-मुद्रा देश में आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न कर देती है । इन दोषों के अतिरिक्त साख-मुद्रा ने समाज में दो भिन्न परस्पर विरोधी वर्गों को जन्म देकर वर्तमान वर्ग संघर्ष की घटना को उत्पन्न कर दिया है । 'निर्धन' तथा 'धनवान' दो भिन्न वर्गों की उत्पत्ति को साख-मुद्रा के द्वारा प्रोत्साहन मिला है । देश की अर्थव्यवस्था को स्वस्थ अवस्था में रखने के लिए साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखना अत्यावश्यक है ।

नियन्त्रण की रीतियाँ

केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण की निम्नलिखित रीतियाँ हैं ।

(१) बैंक दर ।
(२) खुले बाजार में सरकारी हुण्डियों का क्रय-विक्रय ।
(३) न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात ।

(४) साख-मुद्रा राशनिंग ।
(५) प्रत्यक्ष क्रिया ।
(६) समझाना ।
(७) प्रतिभूति ऋणों की आवश्यक सीमा ।
(८) उपभोग साख-मुद्रा का नियमन ।
(९) विज्ञापन तथा प्रचार ।
(१०) न्यूनतम गौण अथवा सहायक आरक्षण ।

(१) बैंक दर

बैंक दर ब्याज की वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंक को प्रथम श्रेणी तथा उत्तम ऋणपत्रों को बट्टा करके अथवा इनको सहायक आड़ के रूप में रखकर ऋण प्रदान करती है । वाणिज्य बैंक ब्याज की जिस दर पर व्यापारियों को ऋण देती हैं उस दर में तथा बैंक दर में इस विशेष प्रकार का सम्बन्ध है कि जब बैंक दर में वृद्धि हो जाती है तो वाणिज्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर में समान अथवा अधिक वृद्धि कर देती हैं । इसके विपरीत बैंक दर में कमी होने पर वाणिज्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर में कमी कर देती हैं । बैंक दर में परिवर्तनों के द्वारा केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में साख-मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखती है । यदि केन्द्रीय बैंक को यह ज्ञात होता है कि देश में स्फीति उत्पन्न हो गई है तो केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में स्फीति को समाप्त करने के उद्देश्य से बैंक दर में उपयुक्त वृद्धि कर देती है । इसका परिणाम यह होता है कि वाणिज्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर में वृद्धि कर देती हैं । जब वाणिज्य बैंक व्यापारियों से अपने ऋणों पर पहले की तुलना में अधिक ब्याज लेने लगती हैं तो वस्तुओं की उत्पादन लागतों में वृद्धि हो जाती है क्योंकि ब्याज की दर उत्पादन लागत का भाग है । वस्तुओं की कीमतें स्थिर रहते हुए उत्पादन लागत में वृद्धि होने पर व्यापारी बैंकों से उधार लेना कम कर देते हैं । परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में समस्त निवेश की मात्रा कम हो जाती है । निवेश की राशि में कमी हो जाने से उत्पादन साधनों की माँग में कमी हो जाने के कारण वे बेरोजगार हो जाते हैं और उनकी आयें कम हो जाती हैं । उत्पादन साधनों की आयों में कमी हो जाने के कारण कुल उपभोग में कमी हो जाती है क्योंकि उपभोग व्यय आय द्वारा निर्धारित होता है । इसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग में कमी हो जाती है तथा इनकी कीमतों में कमी हो जाती है।

इसके विपरीत देश में अवस्फीति तथा बेरोजगारी उत्पन्न हो जाने पर केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर में कमी कर दी जाती है । बैंक दर में कमी हो जाने पर वाणिज्य बैंक भी अपनी उधारदान दरों में कमी कर देती हैं । इससे उद्यमकर्ताओं को पहले से अधिक निवेश करने का उत्साह प्रदान होता है । अधिक निवेश होने पर अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों को अधिक रोजगार प्राप्त होने लगता है जिसके कारण उनकी आयों में वृद्धि हो जाती है । आय में वृद्धि होने पर उपभोग माँग में वृद्धि हो जाती है । मांग में वृद्धि हो जाने के कारण कीमतों में गिरावट समाप्त हो जाती है । अर्थव्यवस्था में बैंक दर में होने वाले परिवर्तन आर्थिक स्थिति के सूचक का कार्य करते हैं । बैंक दर में वृद्धि देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में चेतावनी देती है परन्तु बैंक दर में कमी इस बात को सूचित करती है कि देश की अर्थव्यवस्था अभिवृद्धि से दूर है तथा देश में अधिक निवेश किया जा सकता है । बैंक दर में परिवर्तनों का साख-मुद्रा निर्माण की मात्रा पर नियन्त्रण करने में जो महत्त्व है उसकी विवेचना करते हुए हैनरी थार्नटन ने १८०२ ई० में

स्पष्ट किया था कि ब्याज की दर आशंसित लाभ की मात्रा के द्वारा ऋणों की उस मात्रा को निर्धारित करती है जिसे व्यापारी बैंकों से प्राप्त करने के इच्छुक होंगे।[11] हैनरी थार्नटन के अतिरिक्त वाल्टर बेजहोट ने १८७३ ई० में अपनी *Lombard Street* शीर्षक पुस्तक में केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति के आर्थिक संकट काल में विशेष महत्त्व पर भारी बल दिया था।

सीमाएँ

साख-मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण करके केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति सीमित रूप में ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को बनाए रख सकती है। बैंक दर की सीमाएँ कई बातों पर निर्भर होती हैं। प्रथम, यह इस बात पर निर्भर होता है कि केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों के मध्य किस प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है। यदि यह सम्बन्ध अति निकट तथा गहरा है तो वाणिज्य बैंक बैंक दर में परिवर्तनों के अनुसार अपनी ब्याज की दर में उपयुक्त परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक की नीति को सफल बनाने में सहयोग देंगी। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों में दूर का सम्बन्ध है और वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक से विशेष मात्रा में उधार नहीं लेती हैं तो केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति को विशेष सफलता प्राप्त नहीं होगी। अविकसित देशों में, जहाँ केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंकों का ऋणी तथा ऋणदाता के रूप में विशेष सम्बन्ध नहीं होता है, बैंक दर नीति को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता प्राप्त नहीं होती है। बैंक दर नीति की सफलता के लिये देश में केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों के मध्य गहरा सम्बन्ध एवं समन्वय होना आवश्यक है।

दूसरे, बैंक दर नीति की सफलता निवेशकर्ताओं की मनोवृत्ति पर भी निर्भर होती है। स्फीति में जब कीमतों में प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है, व्यापारी भविष्य के सम्बन्ध में आशावादी होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि केन्द्रीय बैंक कीमत स्तर को स्थिर रखने के उद्देश्य से अपनी बैंक दर में वृद्धि करती है और देश में वाणिज्य बैंक भी केन्द्रीय बैंक के साथ अपनी ब्याज की दरों में वृद्धि करके सहयोग देती हैं, तो भी केन्द्रीय बैंक को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता नहीं मिलेगी। ब्याज की दर में वृद्धि होने पर भी, यदि देश में निवेशकर्ता भविष्य में वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने की आशा करते हैं तो वे बैंकों से अधिक ऋण प्राप्त करेंगे क्योंकि ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेकर भी उनको अधिक लाभ प्राप्त होने की आशा होती है। इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। यदि भविष्य में निवेशकर्ता यह आशा करते हैं कि कीमतों में २० प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी तो ब्याज की दर में यदि १९ प्रतिशत की वृद्धि भी हो जाती है तो भी वे बैंकों से ऋण लेने से नहीं रुकेंगे। अभिवृद्धि के काल में साख-मुद्रा की माँग पूर्णतया ब्याजनिरपेक्ष हो जाती है और बैंक दर में वृद्धि होने का इस माँग पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त ब्याज की दर में वृद्धि होने का प्रभाव कुल उत्पादन लागत पर बहुत कम पड़ता है क्योंकि ब्याज कुल उत्पादन लागत का एक बहुत कम भाग होता है। इसके अतिरिक्त बहुत से व्यवसायों में पूँजी की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है और इस कारण ऐसे व्यवसायों पर ब्याज की दर में परिवर्तनों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। यद्यपि दीर्घकल में बैंक दर का निवेश पर अवश्य प्रभाव पड़ता है परन्तु अल्पकाल में यह प्रभाव अनिश्चित तथा कम होता है और जीवन में अल्पकाल का महत्त्व दीर्घकाल की तुलना में अधिक होता है।

---

11. *Henry Thornton : An Enquiry into the Nature and Effects of the Paper Credit of Great Britain*, p. 26.

मन्दी में बैंक दर का यन्त्र अभिवृद्धि (boom) के काल की तुलना में अधिक असफल सिद्ध होता है। मन्दी काल में जल निवेशकर्ताओं की मनोवृत्ति निराशावादी वस्त्र धारण कर लेती है तथा भविष्य में वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर गिरावट होने की आशंका होने के हेतु भविष्य अनिश्चित हो जाता है तब बैंक दर में कितनी भी अधिक कमी क्यों न की जाये निवेशकर्ता कम ब्याज की दर पर भी बैंकों से ऋण प्राप्त करके निवेश करना नहीं चाहते हैं। यदि निवेशकर्ता यह अनुमान लगाते हैं कि भविष्य में कीमतों में १० प्रतिशत की कमी होगी तो ९ प्रतिशत ऋणात्मक ब्याज की दर (जो सम्भव नहीं है क्योंकि वाणिज्य बैंकों का उद्देश्य ऋण देकर लाभ प्राप्त करना है) पर ऋण लेकर भी उनको हानि होगी। मन्दी में बैंक दर नीति की सीमा को काउथर ने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। अर्थव्यवस्था में निवेशकर्ता वर्ग की तुलना घोड़े से तथा बैंकों से प्राप्त होने वाली ऋण सहायता की तुलना पानी से करते हुये काउथर ने लिखा है कि केन्द्रीय बैंक घोड़े—निवेशकर्ता वर्ग—के सामने पीने के लिये पानी (ऋण) रख सकती है परन्तु वह घोड़े को पानी पीने पर बाध्य नहीं कर सकती है। यदि घोड़े को प्यास नहीं है तो अधिक पानी सामने होते हुए भी वह पानी नहीं पीयेगा। मन्दी में इस घोड़े की प्यास बिल्कुल समाप्त हो जाती है और यदि उसको मुफ्त भी पानी मिलता है तो भी वह नहीं पीता है।

(२) खुले बाजार में सरकारी हुण्डियों का क्रय विक्रय

खुले बाजार की क्रियायें केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण की दूसरी प्रमुख रीति है। इस रीति का प्रयोग केन्द्रीय बैंक बहुधा बैंक दर के पूरक के रूप में करती है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक मुद्राबाजार में स्वीकृति तथा उत्तम ऋण पत्रों का क्रय-विक्रय करके अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा की मात्रा में उपयुक्त कमी अथवा वृद्धि करके साख-मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखती है। स्फीति—अभिवृद्धि—में केन्द्रीय बैंक ऋणपत्रों को कम कीमत पर बेच कर अर्थव्यवस्था में संचलन में से बेशी मुद्रा को वापस लेकर कीमत स्तर में कमी करने का प्रयास करती है। अर्थव्यवस्था में जब क्रेता ऋणपत्रों को खरीदते हैं तो वाणिज्य बैंकों के पास नकदी कम हो जाती है और उनको अपनी साख-मुद्रा निर्माण की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। ऐसा वे नये ऋणियों को ऋण न देकर तथा पुराने ऋणियों से अपने ऋणों का भुगतान लेकर करती हैं। साख-मुद्रा की मात्रा में कमी होने के कारण निवेश की मात्रा में कमी होती है और कीमत स्तर भी कम हो जाता है। इसके विपरीत मन्दी में केन्द्रीय बैंक ऋणपत्रों को अधिक कीमत पर खरीदकर अर्थव्यवस्था में संचलन में वृद्धि करके मन्दी को समाप्त करने की चेष्टा करती है। नकदी बढ़ जाने पर वाणिज्य बैंकों की नकदी में वृद्धि हो जाती है और वे अधिक नकदी के आधार पर अधिक साख-मुद्रा का निर्माण करती हैं जिसके कारण अर्थव्यवस्था में निवेश की मात्रा में वृद्धि होने के द्वारा मन्दी समाप्त हो जाती है।

बाजार में हुण्डियों का क्रय-विक्रय साख-मुद्रा नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष रीति है। इसकी सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वाणिज्य बैंक अपने नकदी कोषों में कमी अथवा वृद्धि करती हैं अथवा नहीं। खुले बाजार में हुण्डियों को खरीदने तथा बेचने की रीति इस मान्यता पर आधारित है कि साख-मुद्रा की मात्रा में वृद्धि तथा कमी बैंकों की नकदी में वृद्धि तथा कमी पर निर्भर होती है। परन्तु ऐसा होना सदैव आवश्यक नहीं है। अभिवृद्धि में बैंकों के पास कम नकदी होते हुए भी साख-मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत मन्दी में यद्यपि वाणिज्य बैंकों की कुल नकदी में वृद्धि हो जाती है परन्तु फिर भी वे अधिक साख मुद्रा का निर्माण नहीं करती हैं।

केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि केन्द्रीय बैंक के पास उपयुक्त ऋणपत्रों की कितनी मात्रा है और कितनी मात्रा में वह ऋण-पत्रों को मन्दी के काल में अधिक मूल्य पर खरीदने को तैयार है। यदि केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता बनाये रखने के उद्देश्य से हानि सहन करने के लिये तैयार भी होती है तो भी यह सम्भव है कि इसको अपने इस उद्देश्य में सफलता न प्राप्त हो। यह सम्भव है कि स्फीति के समय केन्द्रीय बैंक के पास बेचने योग्य ऋणपत्रों की मात्रा इतनी कम हो कि सारे ऋणपत्रों को बेच कर भी अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता प्राप्त न हो सके। केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की सीमाओं की व्याख्या करते हुये कीन्स ने लिखा है कि केन्द्रीय बैंक अभिवृद्धि को रोकने के लिये केवल उतनी ही बारूद का प्रयोग कर सकती है जितनी कि उसको मन्दी से लड़ने के समय प्राप्त हुई है, और बारूद की यह मात्रा अभिवृद्धि पर काबू पाने के लिये अपर्याप्त हो सकती है। अमेरिका में १९३५-३७ ई० में यह अनुभव किया गया था कि केन्द्रीय बैंक के पास ऋण पत्रों की कुल मात्रा इतनी कम हो सकती है कि सारे ऋणपत्रों को बेच कर भी केन्द्रीय बैंक समाज से कुल बेशी नकदी को वापिस नहीं ले सकती है। १९३५-३७ ई० में अमरीका में वाणिज्य बैंकों की नकदी में ३,३०० मिलियन डालर राशि की वृद्धि हो गई थी। स्थिति पर काबू पाने के लिये फेड्रल रिजर्व बैंकों के पास ३,३०० मिलियन डालर राशि के ऋणपत्रों का होना आवश्यक था। परन्तु फेड्रल रिजर्व सिस्टम के पास उस समय केवल २,४०० मिलियन डालर राशि के ऋणपत्र थे जिनको बेच कर भी समस्या पर विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं था। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बहुधा इस सीमित बारूद का प्रयोग करने में असमर्थ रहती है।

यद्यपि मन्दी के समय में केन्द्रीय बैंक जनता से ऋणपत्रों को ऊँची कीमत पर खरीद कर अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि कर सकती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा करने से निवेश की मात्रा में भी वृद्धि हो जावे। यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक की इस क्रिया के प्रभाव से केवल वाणिज्य बैंकों के पास नकदी के कोषों में वृद्धि हो जावे। इंगलैण्ड में १९३२ ई० तथा १९३३ ई० में यही हुआ था। एक ओर वाणिज्य बैंकों की कुल नकदी में २१४ मिलियन पौंड स्टर्लिंग राशि की वृद्धि हो गई थी परन्तु दूसरी ओर बैंक ऋणों की मात्रा में ७७ मिलियन पौंड स्टर्लिंग की कमी हो गई थी।

(३) न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात

अर्थव्यवस्था में वाणिज्य बैंकों के लिये निर्धारित न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में, जो प्रत्येक बैंक को केन्द्रीय बैंक के पास अपनी कुल जमाओं का निर्धारित प्रतिशत देकर आरक्षण के रूप में रखना पड़ता है, उपयुक्त परिवर्तन करके भी केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में बैंकों की साख मुद्रा निर्माण क्रियाओं पर नियंत्रण कर सकती है। प्रत्येक देश में जहाँ केन्द्रीय बैंक होती है वाणिज्य बैंकों को अपनी कुल जमाओं का विधान द्वारा निर्धारित न्यूनतम प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात के रूप मे जमा रखना पड़ता है। इस अनुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंको के पास नकदी की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करके अर्थव्यवस्था में संचलन में कुल साख मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि कर सकती है। अमरीका में इस रीति का प्रयोग सर्वप्रथम अगस्त १९०६ ई० में न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में ५० प्रतिशत की वृद्धि के रूप में अत्यधिक साख मुद्रा निर्माण की हानियों पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से किया था। इस अनुपात में वृद्धि हो जाने पर सदस्य बैंकों की नकदी ३,१०० मिलियम डालर राशि से घट कर केवल १,८०० मिलियन डालर राशि रह गई थी। तत्पश्चात मई १९३७ ई० में इस अनुपात में पुनः

वृद्धि की गई थी। गत कुछ वर्षों में न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात रीति का प्रयोग १९५१ ई० में कोरिया युद्ध (Korean War) के कारण उत्पन्न स्फीति को रोकने के उद्देश्य से किया गया था।

साख-मुद्रा नियन्त्रण की अन्य रीतियों के समान इस रीति की भी सीमाएँ हैं। प्रथम, जब वाणिज्य बैंकों के पास अधिक नकदी होती है तो वे केन्द्रीय बैंक की न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात रीति का अनादर कर सकती हैं। दूसरे, वाणिज्य बैंक अपनी जमाओं के ढाँचे में उपयुक्त परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक की रीति का उल्लंघन कर सकती है। उदाहरणार्थ, यदि चालू तथा मियादी जमाओं पर बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास इन जमाओं का २ प्रतिशत तथा ५ प्रतिशत भाग न्यूनतम वैध निधि के रूप में जमा करना पड़ता है तो ऐसी स्थिति में वाणिज्य बैंक अपने खातों में मियादी जमाओं में कमी तथा चालू जमाओं में वृद्धि दिखलाकर केन्द्रीय बैंक को कम नकदी भेजने में सफल हो सकती हैं।

(४) साख मुद्रा राशनिंग

साख मुद्रा राशनिंग की रीति का प्रयोग साधारणतया तानाशाही प्रशासन प्रणाली वाले देशों में किया गया है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक देश में वाणिज्य की वित्तिय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर साख मुद्रा निर्माण की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देती है तथा विभिन्न व्यवसायों के लिये अभ्यंश (quota) निर्धारित कर दिये जाते हैं। किसी भी बैंक को उसके निर्धारित अभ्यंश से अधिक साख मुद्रा उत्पन्न करने की आज्ञा नहीं होती है। यह रीति साख मुद्रा नियन्त्रण की बड़ी सप्रभाविक रीति है। परन्तु इस रीति में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम, केन्द्रीय बैंक को देश में भिन्न बैंकों की वित्तिय आवश्यकताओं तथा उनसे सम्बद्ध साख मुद्रा निर्माण की मात्रा का सही अनुमान लगाना पड़ता है और यह बड़ा कठिन कार्य है। दूसरे, केन्द्रीय बैंकों को प्रत्येक बैंक के अभ्यंशों की मात्रा को निर्धारित करना पड़ता है। तीसरे, इस रीति में व्यापार का विकास साख मुद्रा की मात्रा से सीमित हो जाता है। जर्मनी में रीचस बैंक, जो वहाँ की केन्द्रीय बैंक थी, ने इस रीति का प्रयोग १९२४ ई०; १९२९ ई० तथा १९३१ ई० में किया था। जर्मनी के अतिरिक्त रूस तथा मेक्सिको आदि देशों में भी इस रीति का प्रयोग उपलब्ध साख मुद्रा का भिन्न व्यवसायों में न्यायपूर्ण वितरण करने के उद्देश्य से किया गया है। साख मुद्रा तथा पूँजी का राशनिंग तानाशाही देशों में गहन तथा विस्तृत योजनाओं की सफलता के लिये अतिआवश्यक होता है। तानाशाही राज्यों के अतिरिक्त अविकसित देशों में भी साख मुद्रा अभ्यंशों की राशि को विभिन्न व्यवसायों के लिये निर्धारित करना देश के आर्थिक हितों के लिये आवश्यक है।[12] उदाहरणार्थ, मैक्सिको में साख-मुद्रा राशनिंग की रीति का उस देश में साख-मुद्रा पर नियन्त्रण करने के लिये उपयोग किया गया है।

(५) प्रत्यक्ष क्रिया

प्रत्यक्ष क्रिया का अभिप्राय प्रतिरोधी क्रियाओं से होता है। जब कोई बैंक केन्द्रीय बैंक के आदेशों का पालन नहीं करती है तो केन्द्रीय बैंक उस बैंक के विरुद्ध अनेक प्रकार की सीधी

---

12. "Rationing of credit and capital is a logical concomitant of the intensive and extensive planning adopted in regimented economies. Not only is this method resorted to in authoritarian economies, but as Wagemann rightly claims even "in more primitive economic conditions, the setting of credit quotas is the only decisive method which the central bank has in order to prevent excessive credit demands on the part of business." (E. Wagemann : *Wirthfstpolitische Strategie*, p. 321.)

कार्यवाहियाँ—उस बैंक की हुण्डियों को न भुनाना तथा उसको ऋण देने से इन्कार करना इत्यादि—करके उस बैंक को अपने आदेश मानने पर बाध्य कर सकती है। प्रवरात्मक साख नियन्त्रण (selective credit control) की रीति के द्वारा केन्द्रीय बैंक देश में साख मुद्रा का अच्छे प्रकार से नियन्त्रण कर सकती है। अमरीका में फेड्रल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) ने १९२८-१९२९ ई० में इसके आदेशों का उल्लंघन करने वाली बैंकों की हुण्डियों को भुनाने से इन्कार करके प्रत्यक्ष कार्यवाही का प्रयोग किया था। हमारे देश में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया १९५६ ई० से प्रवरात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण की रीति का सफल प्रयोग कर रही है। सर्वप्रथम रिजर्व बैंक ने १७ मई, १९५६ ई० को वाणिज्य बैंकों को आवश्यक वस्तुओं की जमानत पर व्यापारियों को अधिक ऋण प्रदान न करने का आदेश दिया था तथा तत्पश्चात् किसी एक व्यापारी को चावल तथा धान पर ५०,००० रुपये से अधिक का ऋण न देने का आदेश दिया था। ऐसा आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि को रोकने के उद्देश्य से किया गया था। इस आदेश के जारी करने के परिणामस्वरूप अक्तूबर १९५६ ई० में चावल तथा धान पर दिये गये अग्रिमों में २२ करोड़ रुपये की राशि की कमी हो गई थी। सितम्बर १९५६ ई० में जारी किये गये एक अन्य आदेश के अनुसार प्रवरात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण को गेहूँ तथा अन्य खाद्य वस्तुओं पर भी लागू कर दिया गया था तथा वाणिज्य बैंकों को इन वस्तुओं के स्टाकों पर व्यापारियों को ऋण देने पर रोक लगा दी गई थी। तब से लेकर अब तक रिजर्व बैंक इस रीति का निरन्तर प्रयोग कर रही है। परन्तु केन्द्रीय बैंक की साख मुद्रा नियन्त्रण की अन्य रीतियों के समान साख मुद्रा नियन्त्रण की इस रीति की भी कुछ निश्चित सीमाएँ हैं। डी कॉक ने इस रीति की कठिनाइयों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रथम, केन्द्रीय तथा वाणिज्य बैंकों के लिये आवश्यक तथा अनावश्यक उद्योगों, उत्पादक तथा अनुत्पादक क्रियाओं, निवेश तथा सट्टे, उचित तथा अनुचित सट्टे अथवा उपभोग में भेद करना कठिन होता है। दूसरे, वाणिज्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक के बीच जिम्मेदारी का विभाजन करना कठिन होता है। तीसरे, वाणिज्य बैंकों पर अधिक नियन्त्रण तथा दबाव डालने पर केन्द्रीय बैंक को वाणिज्य बैंकों का पर्याप्त सहयोग न मिलने का भय बना रहता है। इसलिए वाणिज्य बैंकों पर उचित नियन्त्रण की समस्या सदा बनी रहती है।[13]

(६) समझाना

केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में वाणिज्य बैंकों को समझाने की रीति के द्वारा सुझाव के रूप में प्रार्थना करके अपने साख-मुद्रा नियन्त्रण के कार्य में बैंकों का सहयोग प्राप्त करती है। देश में स्फीति उत्पन्न हो जाने पर केन्द्रीय बैंक देश में सभी वाणिज्य बैंकों को उनके ऋणों की मात्रा में उपयुक्त कमी करने का सुझाव देती है। इसके विपरीत यदि देश में मन्दी विद्यमान है तो केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को उदार उधारदान नीति को अपना कर उनके ऋणों की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि करने का सुझाव देती है। वाणिज्य बैंक साधारणतया केन्द्रीय बैंक के सुझावों का पालन करती हैं। इंगलैंड, फ्रांस, स्वीडन, हालैण्ड इत्यादि देशों में जहाँ वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक को अपना नेता मानती हैं इस रीति को काफी सफलता प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त भारत, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में भी, जहाँ केन्द्रीय बैंकों को स्थापित हुए अधिक समय नहीं हुआ है, यह रीति काफी सफल सिद्ध हुई है। भारत में सर्वप्रथम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने इस रीति का प्रयोग १९४९ ई० में रुपये के अवमूल्यन के समय किया था। १९४९ ई० में रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बड़ी वाणिज्य बैंकों के प्रतिनिधियों का बम्बई में एक अधिवेशन आयोजित किया था जिसमें गवर्नर

13. M. H. de Kock : *op. cit.*, pp. 228-29.)

ने बैंकों से सट्टेबाजी के लिए ऋण न देने की प्रार्थना की थी। बड़े भाई—केन्द्रीय बैंक—की इस प्रार्थना का काफी अच्छा प्रभाव पड़ा तथा वाणिज्य बैंकों ने सट्टेबाजी के लिए दिए जाने वाले अग्रिमों में पर्याप्त कमी करके रिजर्व बैंक को अपने सहयोग का परिचय दिया। तब से रिजर्व था बैंक द्वारा इस रीति का निरन्तर प्रयोग किया जा रहा है तथा वाणिज्य बैंकों ने रिजर्व बैंक की इच्छाओं का आदर किया है। नवम्बर १९६७ ई० में रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बड़ी वाणिज्य बैंकों के प्रतिनिधियों से वर्ष के आगामी व्यस्त महीनों में साख-मुद्रा की स्थिति पर विचार विमर्श किया था तथा खाद्यान्न व रसायनिक खाद के वितरण के लिए विनिर्माताओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने का सुझाव दिया था। परन्तु अमरीका में फेडरल रिजर्व बैंकों (Federal Reserve Banks) का अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत है। अमरीका में समझाने की रीति को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि अमरीका में वाणिज्य बैंकों की संख्या १४,००० से अधिक है और इनमें से बहुत सी बैंकें केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली की सदस्य नहीं हैं। जर्मनी में रिचस बैंक ने १९२७ ई० में इस रीति का प्रयोग किया था और इसको अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई थी।

(७) ऋणपत्र ऋणों की आवश्यक सीमा की रीति

साख-मुद्रा नियन्त्रण की इस रीति का प्रयोग सर्वप्रथम अमरीका में किया गया था। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को ऐसे वैधानिक अधिकार दे दिए जाते हैं जिनके द्वारा वह बैंकों द्वारा सट्टे बाजार को दी जाने वाली साख-मुद्रा की मात्रा का नियमन कर सकती है। यह रीति सट्टेबाजार पर नियन्त्रण करने का एक सप्रभाविक उपाय है। १९३६ ई० में अमरीका में फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) के गवर्नर मण्डल ने इस रीति का प्रयोग किया था।

(८) उपभोक्ता-साख का नियमन

साख-मुद्रा नियन्त्रण की इस रीति का निर्माण सर्वप्रथम अमरीका में राष्ट्रपति के आदेश अनुसार अगस्त १९४१ ई० में हुआ था। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को उपभोक्ताओं को ऋण देने का आदेश देती है। अमरीका तथा यूरोप के देशों में जहाँ उपभोक्ता बैंकों से ऋण प्राप्त करके वस्तुओं को क्रय करते हैं साख-मुद्रा नियन्त्रण की इस रीति का विशेष महत्त्व है।

(९) विज्ञापन प्रचार

वर्तमान युग में केन्द्रीय बैंक अपनी साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति को सफल बनाने के उद्देश्य से विज्ञापन के द्वारा जनता तथा निवेशकर्ताओं का ध्यान अपनी नीति की ओर आकर्षित करती है। उन देशों में जहाँ नागरिक शिक्षित होते हैं विज्ञापन प्रचार की रीति केन्द्रीय बैंक की साख मुद्रा नियन्त्रण नीति का एक मुख्य अंग हो जाती है।

(१०) न्यूनतम गौण आरक्षित अनुपात

साधारण न्यूनतम वैधानिक आरक्षित अनुपात के अतिरिक्त साख-मुद्रा निर्माण की मात्रा पर अधिक नियन्त्रण करने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों से गौण आरक्षण की भी माँग कर सकती है। अमरीका में इस रीति को १९४५ ई० में अपनाया गया था। अमरीका के अतिरिक्त बेल्जियम, नार्वे, हालैण्ड, मैक्सिको तथा फिलीपीन्स आदि देशों में भी केन्द्रीय बैंकों ने इस रीति का प्रयोग किया है।

केन्द्रीय बैंक के उपरोक्त वर्णित कार्यों को निम्नलिखित चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है।

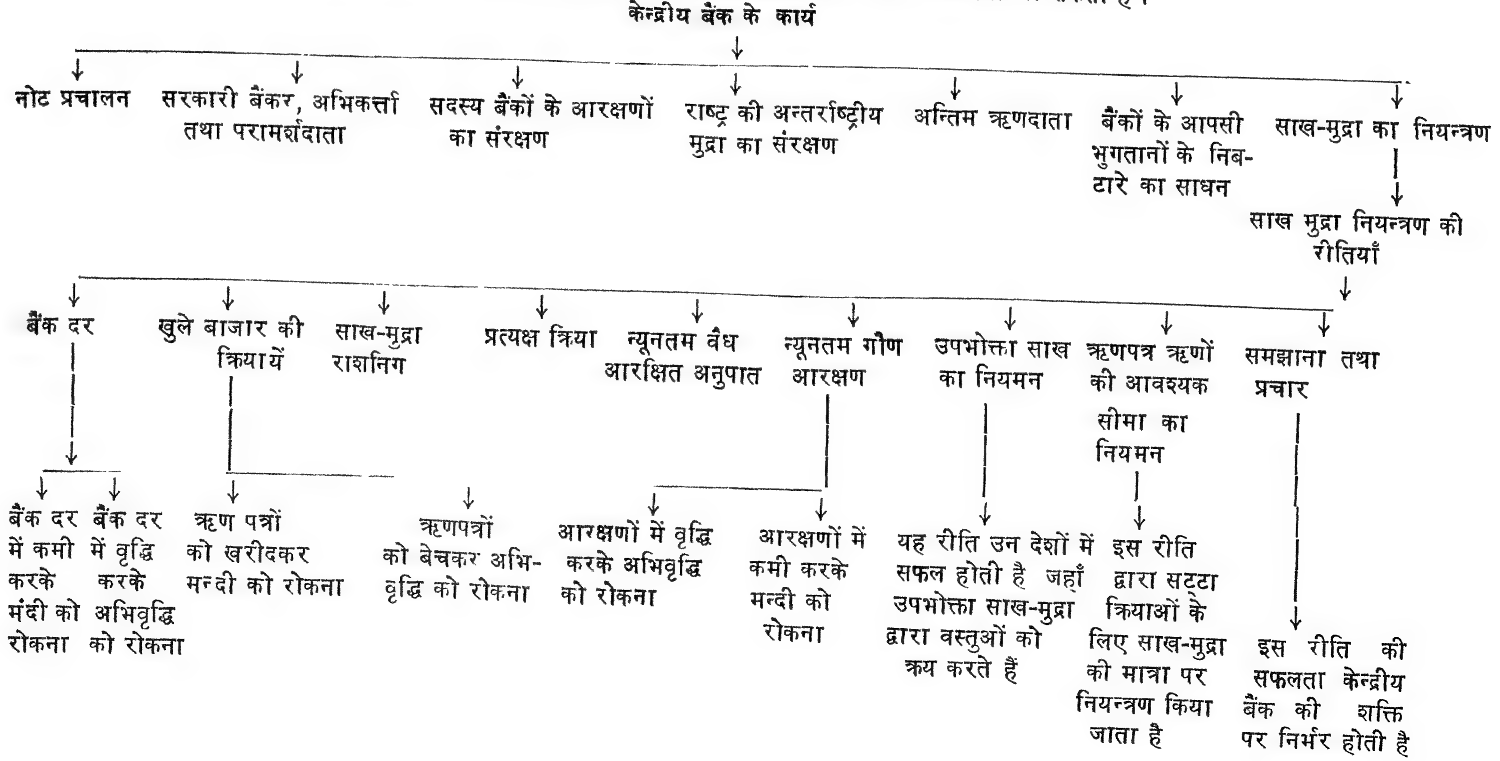

सारांश

यद्यपि केन्द्रीय बैंक को अर्थव्यवस्था में संतुलन से साख-मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण करने के लिए अनेक यन्त्र प्राप्त होते हैं परन्तु अनुभव बतलाता है कि यह आर्थिक अस्थिरता पर पूर्ण नियन्त्रण करने में पूर्णतया सफल नहीं हो पाती है। केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति की असफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि स्फीति तथा अवस्फीति अब भी समय समय पर देश की अर्थव्यवस्था के सन्तुलन को भंग करती रहती हैं। केन्द्रीय बैंक के अधिकारों का विस्तार होने के साथ-साथ स्फीति की समस्या पहले की अपेक्षा अधिक गम्भीर होती जा रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्फीति तथा अवस्फीति उत्पन्न होने के अनेक मौद्रिक तथा अमौद्रिक कारण होते हैं। केन्द्रीय बैंक केवल मौद्रिक कारणों पर अपनी साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति के द्वारा प्रभाव डाल सकती है। अभिवृद्धि तथा मन्दी पर विजय पाने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक अपने यन्त्रों का आरम्भिक अवस्था में ही पूरी शक्ति के साथ प्रयोग करे। परन्तु दुर्भाग्यवश राजनीतिक कारणों से केन्द्रीय बैंक ऐसा करने में असफल रहती है। वास्तव में अभिवृद्धि तथा मन्दी को कभी भी आरम्भिक अवस्था में रोकने का प्रयास नहीं किया जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक निवेशकर्ताओं की मनोवृत्ति पर प्रभाव नहीं डाल सकती है। यही कारण है कि केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक तथा साख-मुद्रा नियन्त्रण नीतियों के द्वारा एक निश्चित सीमा तक ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को बनाए रख सकती है। परन्तु यह होते हुए भी केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक तथा साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति के द्वारा अर्थव्यवस्था में स्थिरता स्थापित करने में एक बड़े अंश तक सरकार की सहायता करके समाज की सेवा करती है।

अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक

अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में जहाँ बैंकिंग प्रणाली का विकास नहीं हुआ होता है, जहाँ वाणिज्य बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं का अभाव होता है तथा जहाँ मुद्रा बाजार अविकसित होता है, केन्द्रीय बैंक का कार्य अर्थव्यवस्था में केवल साख-मुद्रा का नियन्त्रण करना नहीं है। इसका अधिक महत्वपूर्ण कार्य देश में संगठित बैंकिंग प्रणाली के सन्तुलित विकास को सम्भव बनाकर अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में पर्याप्त योगदान देना है। यदि देश में बैंकिंग का विकास नहीं हुआ है तो केन्द्रीय बैंक को वाणिज्य बैंक का भी कार्य करके देश में साधारण बैंकिंग सुविधायें प्रदान करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अपनी उदार नीति तथा सरकार पर अपना उदार प्रभाव डाल कर केन्द्रीय बैंक को देश में वाणिज्य बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिये।

केन्द्रीय बैंक को देश में संगठित मुद्रा बाजार की भी स्थापना करने का प्रयास करना चाहिए। अविकसित अर्थव्यवस्था में संगठित मुद्रा बाजार का होना अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा ही अल्पावधि ऋणपूँजी उपलब्ध होती है। मुद्रा बाजार अर्थव्यवस्था की औद्योगिक प्रगति का आधार होता है। इस के माध्यम द्वारा उद्योग तथा वाणिज्य को वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। केन्द्रीय बैंक को अर्थव्यवस्था में संगठित हुण्डी बाजार की स्थापना तथा विकास में भी योगदान देना चाहिये। इसके अतिरिक्त अविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक को कृषि वित्त की समस्या को हल करने की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि सहकारी तथा भूमि बन्धक बैंकों के संगठन में केन्द्रीय बैंक का विशेष हाथ होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक का इन बैंकों की पूँजी में हिस्सा होना चाहिये तथा कम ब्याज की दर पर इन बैंकों को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण सहायता प्रदान करनी चाहिए। औद्योगिक विकास के लिये देश में एक संगठित पूँजी बाजार का होना भी आवश्यक है क्योंकि

पूँजी बाजार के माध्यम द्वारा औद्योगिक निगमों के ऋणपत्रों (debentures) तथा अंशों (shares) का क्रय-विक्रय होता है तथा इनको उत्पादन कार्य के लिये पूँजी प्राप्त होती है।

उपरोक्त संक्षिप्त व्याख्या से यह ज्ञात है कि अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक का कार्य अर्थव्यवस्था का नियमन करने के अतिरिक्त अर्थव्यवस्था का विकास करना भी है। इस प्रकार अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक के कार्यो को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) अर्थव्यवस्था का नियमन तथा नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य।

(२) आर्थिक विकास।

भारत में वर्तमान समय में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया उपरोक्त दोनों कार्यों को देश की अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास के हित में सफलतापूर्वक सम्पन्न कर रही है। देश में बैंकिंग प्रणाली के सन्तुलित विकास के लिये प्रधान कार्यालय में उपगवर्नर की देख रेख में अलग बैंकिंग विकास विभाग है। देश में कृषि वित्त की जटिल समस्या को सुलझाने के हेतु रिजर्व बैंक के प्रधान कार्यालय में ग्रामीण साख विभाग तथा उद्योगों को वित्त सहायता करने के हेतु औद्योगिक वित्त विभाग की स्थापना की गई है। इसके अतिरिक्त दो राष्ट्रीय कृषि विकास कोषों की स्थापना करके भी रिजर्व बैंक ने देश में कृषि साख के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करके कृषि विकास की समस्या को हल किया है। रिजर्व बैंक के प्रयासों द्वारा कृषि पुनर्वित्त निगम गत ८ वर्ष से कृषि विकास परियोजनाओं का वित्तिकरण करके देश में कृषि उत्पादन के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। रिजर्व बैंक ने १९५२ ई० से देश में हुण्डी बाजार योजना भी चालू की है। इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक हुण्डियों के आधार पर वाणिज्य बैंकों के माध्यम द्वारा व्यापारियों को ऋण सहायता प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने १९६४ ई० में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India) की स्थापना करके राष्ट्र के औद्योगीकरण के कठिन कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अध्ययन सूची

1. M. H. de Kock. : Central Banking (3rd ed), Chapters I—XIII.
2. Geoffrey Crowther : An Outline of Money (Rev. ed.), Chapters II and VI.
3. Steiner and Shapiro : Money & Banking, (3rd ed.), Part III, Chapters 11 to 15.
4. H. P. Willis : Banking.
5. C. H. Kisch and W. A. Elkin : Central Banks.
6. W. A. Shaw : Theory and Priniciples of Central Banking.
7. Vera Smith : Rationale of Central Banking.
8. M. L. Burstein : Money, Chapters VA, VB and VC
9. M. Bornstein (ed.) : Comparative Economic Systems, Part IV, Chapter 19.

प्रश्न

1 Explain the main functions of a central bank and show how it controls currency and credit policy of a country.

2 "A well organised central bank controls the internal price level, stabilises the exchange rate, and prevents the occurrence of financial and industrial crises." How does a central bank do this ?

3 Describe the various methods and devices which are normally used by a central bank to regulate and control credit in the country.

4. Explain clearly the process through which the bank rate influences the price level.

विदेशी विनिमय दर
(Foreign Exchange Rate)

दो वस्तुओं का परस्पर विनिमय करने के लिये इन वस्तुओं के मध्य विनिमय दर अथवा अनुपात होना आवश्यक है, अर्थात् इन वस्तुओं के मध्य कोई मूल्य होना चाहिये। दो मुद्रा इकाइयों के मध्य विनिमय दर से हमारा अभिप्राय एक मुद्रा की उन इकाइयां से होता है जो दूसरी मुद्रा की एक इकाई को खरीदने के लिये आवश्यक होती है। दोनों में से किसी भी एक मुद्रा की इकाई का दूसरी मुद्रा की इकाई का मूल्य व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि विदेशी विनिमय बाजार में ७·५ रुपये के बदले में एक अमरीकी डालर प्राप्त होता है तो विदेशी विनिमय दर १ रुपया=१३·३ सेण्ट अथवा १ अमरीकी डालर=७·५ भारतीय रुपए होगी।

विदेशी विनिमय दर विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। वस्तु के सामान्य मूल्य तथा बाजार मूल्य के समान सामान्य अथवा दीर्घावधि विदेशी विनिमय दर तथा बाजार अथवा अल्पावधि विदेशी विनिमय दर भी होती है। जिस प्रकार वस्तु बाजार में वस्तु की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होते रहने के हेतु वस्तु के बाजार मूल्य में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं इसी प्रकार विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने के अनुसार विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन होते रहते है।

विदेशी विनिमय दर का निर्धारण

जब विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय मुक्त होता है, अर्थात् जब विदेशी विनिमय के लेनदेन पर सरकारी प्रतिबन्ध नही होते है उस समय विदेशी विनिमय दर बाजार शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। मुक्त विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय दर निर्धारण को व्यक्त करने के हेतु हम डालर के रुपया मूल्य का विश्लेषण करेंगे। विदेशी विनिमय दर एक मुद्रा इकाई का दूसरी मुद्रा इकाई में व्यक्त किया गया मूल्य है तथा इस कारण हम विनिमय दर निर्धारण की प्रक्रिया की व्याख्या साधारण माँग तथा पूर्ति विश्लेषण द्वारा कर सकते हैं। 'डालर की पूर्ति' से हमारा अभिप्राय उस सूची से है जो, अन्य बातें समान रहते हुये, विदेशी विनिमय बाजार में डालर की

भिन्न रुपया कीमतों पर डालरों की कुल उपलब्ध पूर्ति को व्यक्त करती है। डालर मुद्रा के पूर्ति वक्र को निर्धारित करने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित प्रकार है।

(१) अमरीका मे वास्तविक आय का स्तर।

(२) अमरीका में भारत की तुलना मे वस्तुओं की कीमतें तथा उत्पादन लागत।

(३) अमरीका में भारत की तुलना मे ब्याज की दरे।

(४) भविष्य में डालर विनिमय दर सम्बन्धी आशंसाएँ।

(५) अमरीका मे अन्य देशों की वस्तुओं की तुलना मे भारतीय वस्तुओं (निर्यातों) के प्रति अमरीकी नागरिकों की रुचियाँ।

(६) भारतीय तथा विदेशी उत्पादकों की उत्पादन लागत तथा उत्पादकता पर प्रभाव डालने वाले अन्य कारण।

चित्र २५·१ में डालर के पूर्ति वक्र को SS वक्र द्वारा व्यक्त किया गया है। यह वक्र इस मान्यता पर खींचा गया है कि अमरीका की आयात माँग लोचदार है। यह वक्र धनात्मक ढालू है। इसका यह कारण है कि डालर की ऊँची रुपया कीमत (विनिमय दर) होने से अमरीकी आयातों (अथवा भारतीय निर्यातों) की डालर कीमत कम हो जाती है तथा अमरीकी आयातो मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत डालर के रुपया मूल्य में कमी होने से अमरीकी आयातों की डालर कीमत में वृद्धि हो जाती है जिससे अमरीकी आयातों में कमी हो जाती है।

'डालर की माँग' से हमारा अभिप्राय उस सूची अथवा वक्र से है जो, अन्य बातें समान रहते हुए, डालर की विभिन्न रुपया कीमतों पर डालर माग राशि को व्यक्त करती है। डालर की माँग निर्धारित करने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित है।

(१) शेष संसार में वास्तविक आय का स्तर।

(२) अमरीका में अन्य देशों की तुलना में वस्तुओं की कीमतें तथा उत्पादन लागतें।

(३) अमरीका में अन्य देशों की तुलना मे ब्याज की दरें।

(४) भविष्य मे डालर विनिमय दर सम्बन्धी आशंसाएँ।

(५) भारत मे अन्य देशों की तुलना में अमरीकी वस्तुओं के लिए भारतीयों की रुचियां।

(६) अमरीकी तथा विदेशी उत्पादकों की उत्पादन लागत तथा उत्पादकता पर प्रभाव डालने वाले अन्य कारण।

चित्र २५·१ मे DD वक्र भिन्न विनिमय दरों पर अमरीकी डालरों की माँग व्यक्त करता है। यह वक्र दाहिनी ओर ऊपर से नीचे की ओर को ढालू है। ऐसा इस कारण है क्योंकि डालर की कम रुपया विनिमय दर पर भारत में अमरीकी निर्यात वस्तु सस्ती हो जाने से अमरीकी निर्यातों की माँग मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत अमरीकी डालर के रुपया मूल्य मे वृद्धि हो जाने के हेतु भारत मे अमरीकी वस्तुएँ महँगी हो जाती है तथा परिणामस्वरूप अमरीकी निर्यातों की मांग मे कमी हो जाती है। ऐसा होने से भारत मे आयातकर्ताओं द्वारा अमरीकी डालरों की माँग कम हो जाती है।

विदेशी विनिमय दर उस समय सन्तुलन मे होगी जब विदेशी विनिमय की मांग तथा पूर्ति के मध्य समानता होगी तथा विदेशी विनिमय बाजार में वेशी पूर्ति अथवा वेशी माग उत्पन्न नहीं होगी। चित्र २५·१ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह सन्तुलन स्थिति जिसमें वदेशी विनिमय (डालर) की कुल माँग (OM) तथा पूर्ति (OM) के मध्य समानता है केवल उन

समय सम्भव है जब विदेशी विनिमय दर १ अमरीकी डालर=७·५ रुपए (अथवा १ रुपया=१३-३ सेण्ट) है। इससे अधिक विनिमय दर पर डालरों की पूर्ति इन की माँग की तुलना में अधिक होगी तथा विदेशी विनिमय बाजार में बेशी पूर्ति की घटना उपस्थित हो जावेगी। इसका कारण यह है कि डालर के रुपया-मूल्य में वृद्धि हो जाने से भारत में अमरीकी वस्तुयें मँहगी तथा भारतीय वस्तुएँ अमरीका में सस्ती हो जाने के कारण भारतीय निर्यातों (अथवा अमरीकी आयातों) में वृद्धि तथा अमरीकी निर्यातों (अथवा भारतीय आयातों) में कमी हो जाती है। इसके विपरीत

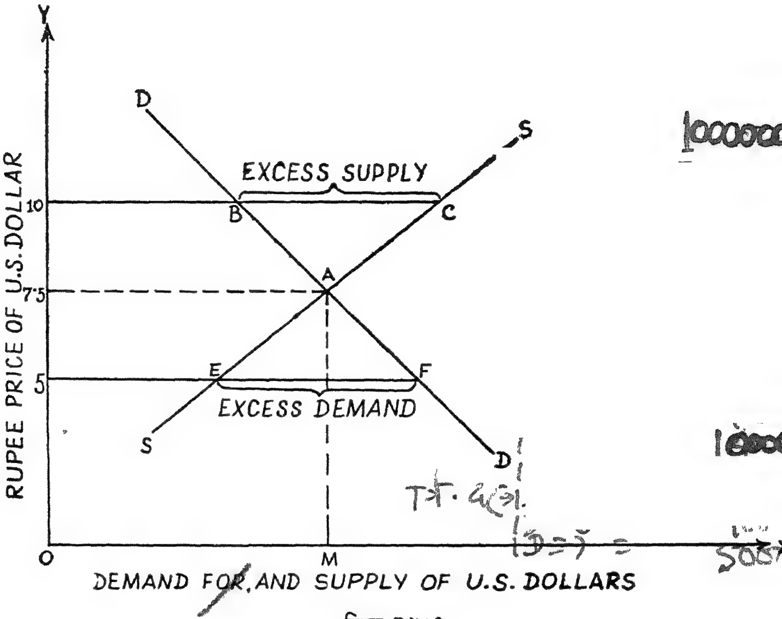

चित्र २५·१

१ अमरीकी डालर=७·५ रुपए से कम विदेशी विनिमय दर पर डालरों की माँग इनकी पूर्ति की तुलना में अधिक होगी क्योंकि अमरीकी वस्तुएँ भारत में सस्ती होने से भारत में इनकी माँग बढ़ जाती है।

विदेशी विनिमय बाजार मे विदेशी विनिमय की बेशी पूर्ति की घटना उपस्थित होने पर विदेशी विनिमय दर अस्थिर होगी। इस में उस समय तक गिरावट होती रहेगी जब तक यह उस स्तर को प्राप्त नही हो जाती है जहाँ पर माँग तथा पूर्ति के मध्य समानता है। विदेशी विनिमय बाजार में बेशी माँग की घटना उत्पन्न होने की स्थिति में विनिमय दर में उस समय तक वृद्धि होती रहेगी जब तक यह उस दर को प्राप्त नही हो जाती है जिस के समक्ष विदेशी विनिमय की कुल माँग इसकी कुल पूर्ति के बराबर है।

विदेशी विनिमय दर तथा कीमतें

उन कीमतों अथवा दरों को, जिन पर राष्ट्रीय मुद्राओं को विनिमय किया जाता है, व्यक्त करने के अतिरिक्त विदेशी विनिमय दरें एक देश की मुद्रा में व्यक्त की गई वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों को अन्य राष्ट्रों की मुद्राओं के रूप में अनुवादित अथवा परिवर्तित करती है। विनिमय दरों को मूल्य अनुवादक अथवा परिवर्तक की संज्ञा दी जा सकती है। इस कारण विनिमय

दरों का वस्तुओं तथा सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय मे अत्यधिक महत्त्व है । उदाहरणार्थ, किसी अमरीकी वस्तु की कीमत एक अमरीकी डालर है । परन्तु भारतीय उपभोक्ताओं तथा विक्रेताओं के लिये जो अपने निर्णयों को रुपयों में व्यक्त कीमतों पर आधारित करते है, डालर मूल्य उस समय तक अर्थहीन है जब तक उनको डालर का रुपया मूल्य ज्ञात नहीं है । वस्तु के डालर मूल्य को रुपया मूल्य में निम्नलिखित प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है ।

वस्तु का रुपया मूल्य = वस्तु का डालर मूल्य × डालर का रुपया मूल्य

अमरीका में वस्तुओं तथा सेवाओं के डालर मूल्य समान रहते हुए डालर के रुपया मूल्य अथवा विनिमय दर में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप भारत मे इनके रुपया मूल्यों मे परिवर्तन हो जावेगा तथा भारत मे अमरीकी वस्तुओं की माँग मात्रा (आयातों) में परिवर्तन हो जावेगा । डालर के रुपया मूल्य में परिवर्तन होने पर भारत में अमरीकी वस्तुओं के रुपया मूल्य मे किस प्रकार परिवर्तन होता है इसे निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है । मान लीजिये कि अमरीका में पारकर कलम की कीमत १० अमरीकी डालर है । प्रश्न यह है कि इस कलम की भारत में क्या कीमत होगी ? यह इस बात पर निर्भर करेगा कि डालर का रुपया मूल्य क्या है अर्थात् डालर-रुपया विनिमय दर क्या है । यदि एक अमरीकी डालर ७·५ भारतीय रुपये के बराबर है तो पारकर कलम का रुपया मूल्य ७५ रुपये होगा । परन्तु कलम का डालर मूल्य स्थिर रहते हुये अमरीकी डालर के रुपया मूल्य (विनिमय दर) में वृद्धि अथवा कमी हो जाने पर कलम के रुपया मूल्य में समान अनुपात में वृद्धि अथवा कमी हो जावेगी । उदाहरणार्थ, यदि डालर-रुपया विनिमय दर बढ़ कर १ अमरीकी डालर = १० भारतीय रुपये हो जाती है तो कलम की कीमत ७५ रुपए से बढ़कर १०० रुपये हो जावेगी । इसके विपरीत डालर-रुपया विनिमय दर घट कर १ अमरीकी डालर = ५ भारतीय रुपये हो जाने पर कलम का मूल्य ७५ रुपये से घटकर ५० रुपये हो जावेगा । इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा समझाया जा सकता है ।

पारकर कलम का रुपया मूल्य		पारकर कलम का डालर मूल्य		डालर का रुपया मूल्य (अथवा विनिमय दर)
७५ रुपये	=	१० डालर	×	१ डालर = ७·५ रुपये
१०० रुपये	=	१० डालर	×	१ डालर = १० रुपये
५० रुपये	=	१० डालर	×	१ डालर = ५ रुपये

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि अमरीकी वस्तुओं की अमरीका में डालर कीमत स्थिर रहते हुए अमरीकी डालर का रुपया मूल्य अथवा विनिमय दर ऊँची होने पर अमरीकी निर्यात भारत में मँहगे हो जाते हैं तथा (जब तक कि इनकी माँग पूर्णतया बेलोचदार न हो) भारत में इनकी माँग मात्रा कम हो जावेगी । डालर की रुपया विनिमय दर में कमी होने से अमरीकी वस्तुओं का रुपया मूल्य कम हो जावेगा तथा (जब तक अमरीकी निर्यातों की माँग पूर्णतया बेलोचदार न हो) अमरीकी निर्यातों (अथवा भारतीय आयातों) में वृद्धि हो जावेगी ।

डालर के रुपया विनिमय मूल्य में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप अमरीकी निर्यातकर्ताओं की दृष्टि से डालरों में व्यक्त अमरीकी निर्यातों के माँग वक्र की स्थिति में परिवर्तन हो जाता है । यह वक्र दाहिनी ओर ऊपर को अथवा बाईं ओर नीचे को खिसक जाता है । मान लीजिये कि भारत में लोगों की आय, मूल्य-स्तर, रुचियां तथा माँग पर प्रभाव डालने वाली अन्य बातें ऐसी है कि अमरीकी निर्यातों की भारतीय माँग इस प्रकार की है जैसा कि चित्र २५·२ (A) में दिखाया गया है । माँग वक्र से ज्ञात होता है कि भारत में अमरीकी निर्यातों की माँग मात्रा इनके रुपया

मूल्य द्वारा निर्धारित होती है। चित्र २५·२ (B) में इस माँग वक्र को डालर मूल्यों में विभिन्न विनिमय दरों पर परिवर्तित करके दिखाया गया है।

यदि विनिमय दर १ अमरीकी डालर=५ भारतीय रुपये है तो डालर कीमत में व्यक्त अमरीकी निर्यातों की माँग १ डालर कीमत के समक्ष वही होगी (OQ_1) जो चित्र २५·२ (A) में ५ रुपये मूल्य के समक्ष (OQ_1) है। परन्तु यदि डालर-रुपया विनिमय दर बढ़ कर १ डालर=१० रुपये हो जाती हैं तो रुपये के रूप में डालर का मूल्य दुगना हो जावेगा तथा भारत में अमरीकी निर्यात वस्तुओं की किसी दी हुई मात्रा की मांग पहले से आधी डालर कीमत पर की जावेगी। दूसरे शब्दों में, स्थिर डालर मूल्य पर अमरीकी निर्यातों की माँग अब पहले की अपेक्षाकृत आधी होगी। परिणामस्वरूप चित्र २५·२ (B) में D_1D_1 माँग वक्र बाँई ओर नीचे को खिसक कर D_2D_2 माँग वक्र को प्राप्त हो जावेगा। D_2D_2 माँग वक्र द्वारा यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक माँग मात्रा के समक्ष D_1D_1 माँग वक्र की तुलना में आधी कीमत है। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि, अन्य बातें समान रहते हुये, डालर की रुपया विनिमय दर में वृद्धि हो जाने से किसी दी हुई डालर कीमत पर अमरीकी निर्यातों की मात्रा पहले की अपेक्षाकृत कम होगी तथा अमरीकी निर्यातों की किसी दी हुई राशि को पहले की अपेक्षाकृत कम डालर कीमत पर बेचा जा सकता है। इसके विपरीत डालर की रुपया विनिमय दर में कमी हो जाने पर निर्यातों की किसी दी हुई राशि को पहले से अधिक डालर मूल्य पर बेचा जा सकता है तथा किसी दी हुई डालर कीमत पर पहले से अधिक निर्यात होंगे।

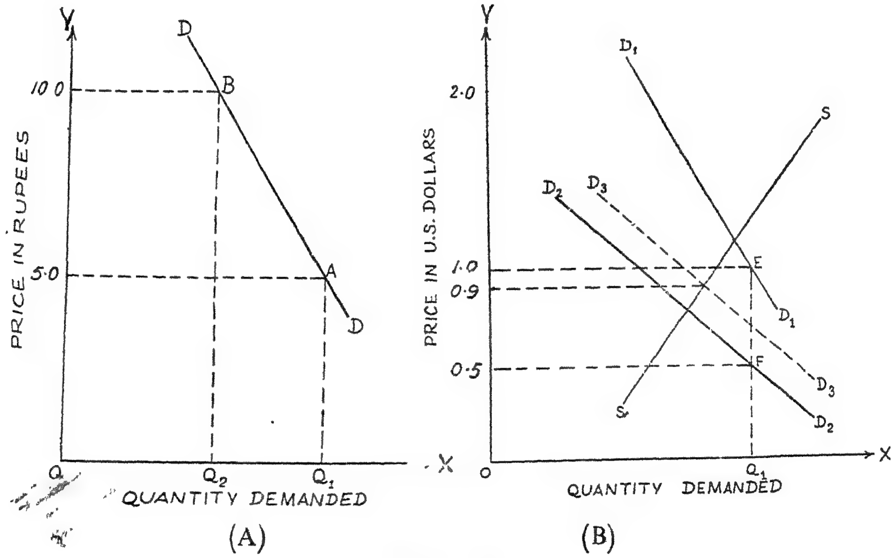

चित्र २५·२

जैसा कि चित्र २५·२ से ज्ञात होता है १ डालर की कीमत पर, जब विदेशी विनिमय दर १ डालर=५ रुपये है, निर्यातों की कुल माँग मात्रा OQ_1 है। परन्तु अमरीकी डालर में अमरीकी निर्यात वस्तुओं का मूल्य स्थिर रहते हुये यदि डालर की रुपया विनिमय दर ५ रुपये से बढ़कर १० रुपया हो जाती है तो भारत में अमरीकी निर्यातों की माँग मात्रा OQ_1 से घटकर OQ_2 हो जाती है। डालर की रुपया विनिमय दर दुगनी हो जाने पर OQ_1 निर्यात वस्तुओं को बेचने के

लिये अमरीकी निर्यातकर्ताओं को अपनी निर्यात वस्तुओं की डालर कीमत को १ डालर से घटाकर आधा डालर करना पड़ेगी।

अपनी मुद्रा इकाई के विनिमय मूल्यों में कमी (अवमूल्यन) करके कोई राष्ट्र अपने निर्यातों की घरेलू कीमत में कमी किये बिना इनको विदेशियों के लिये सस्ती करके अपने निर्यातों की माँग में वृद्धि कर सकता है। अवमूल्यन के द्वारा विदेशी क्रेताओं के लिए निर्यात वस्तुओं के मूल्य में कमी करने के साथ-साथ स्वयं देश में निर्यातकर्ताओं के लिये अपनी निर्यात वस्तुओं के मूल्य में भी वृद्धि करना संभव है।

चित्र २५·२ (B) में मानलीजिए कि SS वक्र अमरीकी निर्यातों का पूर्ति वक्र है तथा अमरीका अपने डालर की रुपया विनिमय दर १ डालर = १० रुपये से घटाकर १ डालर = ७·५ रुपये कर देता है। ऐसा करने से अमरीकी निर्यातों का माँग वक्र D_2D_2 ऊपर की ओर को खिसक कर D_3D_3 वक्र को प्राप्त हो जावेगा।

अमरीकी डालर के अवमूल्यन द्वारा एक ओर अमरीकी निर्यातों के रुपया मूल्य में कमी हो जाती है तथा परिणामस्वरूप अमरीकी निर्यातों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तथा दूसरी ओर अमरीकी निर्यातों का डालर मूल्य $\frac{1}{2}$ डालर से बढ़कर $1\frac{9}{10}$ डालर हो जाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष को प्राप्त होते हैं कि, अन्य बातें समान रहते हुए, यदि विदेशी माँग लोचदार है तो मुद्रा अवमूल्यन द्वारा देश के निर्यातों की भौतिक मात्रा में अधिक वृद्धि होगी तथा राष्ट्रीय मुद्रा में प्राप्त इनके कुल मूल्य में वृद्धि होगी।

विदेशी विनिमय दर प्रणालियाँ (Foreign Exchange Rate System)

विनिमय दर प्रणाली का चयन करने के सम्बन्ध में दो वैकल्पिक प्रणालियाँ हैं। प्रथम, सरकार विदेशी विनिमय बाजार में स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्राओं को क्रय-विक्रय करके विदेशी विनिमय दर का एक निर्धारित स्थिर दर पर अधिकीलन (pegging) कर सकती है। अधिकीलित विनिमय दर को विद्यमान बनाये रखने के लिये सरकार द्वारा उस दर पर विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति के मध्य सन्तुलन बनाये रखने के लिये विदेशी मुद्राओं को क्रय-विक्रय करना आवश्यक है। यह प्रणाली विदेशी विनिमय बाजार में अप्रत्यक्ष रूप में सरकारी हस्तक्षेप को स्वीकार करती है। १९३१ ई० में स्वर्णमान का परित्याग करने के पश्चात इंगलैंड; १९३४ ई० में अमरीका तथा १९३६ ई० में फ्रांस ने स्वर्ण गुट के अन्य यूरोपीय देशों के साथ मिलकर विनिमय स्थरीकरण कोषों की विधि द्वारा अपनी मुद्रा इकाइयों की विनिमय दरों का एक स्थिर स्तर पर अधिकीलन किया था।

कभी-कभी अधिकीलित विनिमय दर में सीमित परिवर्तन होते रहने की सम्भावना को ध्यान में रखकर सरकार विदेशी विनिमय दर का किसी एक दिये हुये स्तर पर अधिकीलन करने के स्थान पर उन उच्चतर तथा निम्नतम सीमाओं को निर्धारित कर देती है जिनके मध्य विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन होते रहने की स्थिति में सरकार विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय के थोक क्रेता तथा विक्रेता के रूप में प्रवेश करके हस्तक्षेप नहीं करती है। परन्तु यदि विनिमय दर में होने वाले उच्चावचन निर्धारित सीमाओं को पार कर जाते हैं तो सरकार विदेशी तथा राष्ट्रीय मुद्राओं का पर्याप्त मात्रा में क्रयविक्रय करके विदेशी विनिमय दर को पुनः निर्धारित सीमाओं के अन्दर लाने का प्रयास करती है। पूर्णतया स्थिर अधिकीलित विनिमय दर की अपेक्षाकृत लचीली अधिकीलित विनिमय दर प्रणाली को विद्यमान रखना अधिक सरल है क्योंकि इस

नीति में सरकार को विदेशी विनिमय बाजार में केवल उसी समय प्रवेश करने की आवश्यकता होती है जब विदेशी विनिमय दर में इतने अधिक उच्चावचन होते हैं कि ये निर्धारित सीमाओं को पार कर जाते हैं।

दूसरे, विदेशी विनिमय दर को किसी पूर्वनिर्धारित दर पर स्थिर बनाये रखने की नीति का पालन करने के स्थान पर सरकार विदेशी विनिमय दर को मुक्त छोड़कर इसे स्वयं विदेशी बिनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होने दे सकती है। इस स्थिति में विनिमय दर अस्थिर रहेगी तथा इसमें माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने के हेतु परिवर्तन होते रहेंगे। कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार, जिनमें मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman); मीड (James E. Meade); रोस्टोव (H. J. Rostow); हैरी जॉनसन (Harry G. Johnson; फ्रीज मक्लुप (Fritz Machlup); हैबरलर (Gottfried von Haberler); आर्थर बर्नस (Arthur F. Burns) तथा पॉल मेक्रकेन (Paul MarCracken) के नाम उल्लेखनीय हैं, लचीली अथवा परिवर्तनीय विनिमय दर प्रणाली पूर्णतया स्थूल (rigid) अथवा स्थिर विनिमय दर प्रणाली की तुलना में उत्तम है। इन अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार अबाध विनिमय दर (free exchange rate) मौद्रिक संकट से पीड़ित देश के लिए मुक्ति प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है। लचीली अथवा अबाध विनिमय दर के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किए गये हैं तथा वर्तमान समय में अविकसित तथा कुछ विकसित देशों को भुगतान-शेषों में निरन्तर उत्पन्न होने वाले घाटे का स्थाई समाधान खोजने के प्रश्न के उत्तर में इन तर्कों का महत्व बढ़ गया है।

भुगतान-शेष सम्बन्धी निरन्तर उत्पन्न होती रहने वाली समस्याओं को देखते हुए बहुत से अर्थशास्त्रियों का विचार है कि केवल विनिमय दर का अधिकीलन करके इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। राष्ट्रीय मुद्राओं का बाह्य मूल्य मुक्त बाजार में माँग तथा पूर्ति के अनुसार निर्धारित होना चाहिये तथा इसमें इन निर्धारक शक्तियों की गतियों के अनुसार परिवर्तन होने चाहिये। जब विदेशी मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती है तो बाजार में सन्तुलन शक्तियाँ गतिमान होकर इसमें असीमित वृद्धि होने की प्रवृत्ति को समाप्त कर देती हैं। इसी प्रकार सन्तुलन शक्तियाँ इस मूल्य में असीमित कमी होने की सम्भावना का भी अन्त करती हैं।

लचीली विनिमय दर प्रणाली के पक्ष में यह कहा जाता है कि जब विनिमय दर परिवर्तनीय होती है तो देश के निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी उत्पन्न करके देश के भुगतान-शेष में घाटे का अन्त हो जाता है। लचीली विनिमय दर प्रणाली को अपना कर देश को अपने भुगतान-शेष के घाटे की घटना के समाधान की ओर अपनी शक्ति व्यय करने की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि यह समस्या माँग तथा पूर्ति की क्रियाओं द्वारा विनिमय दर में पर्याप्त परिवर्तन उत्पन्न करके समाप्त हो जाती है तथा देश की सरकार अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को आर्थिक विकास कार्य में लगा सकती है। विनिमय दर को स्थिर रखने की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास द्वारा विदेशी ऋणों तथा अनुदानों का इष्टतम उत्पादक उपयोग करना अधिक उत्तम है।

इसके अतिरिक्त लचीली विनिमय दर के पक्ष में यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इस रीति को अपनाने के कारण केन्द्रीय बैंकों को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों सम्बन्धी समस्याओं से मुक्ति प्राप्त हो जावेगी तथा उनको विदेशी मुद्रा कोष संचित रखने की आवश्यकता नहीं रहेगी। स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोषों की आवश्यकता केवल तभी होती है जब विनिमय दरों में परिवर्तन होने के कारण वे उस दर अथवा स्तर को प्राप्त नहीं हो पाती हैं जिस पर विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति के मध्य समानता होती है। देश के भुगतान-शेष में घाटे की घटना उस समय

तक अस्थाई होती है जब तक केन्द्रीय बैंक विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनों पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाती है।

परन्तु लचीली अथवा अबाध विनिमय दरों के पक्ष में उपरोक्त तर्क होते हुए भी इस प्रणाली में कुछ दोष है। लचीली विनिमय दरें मौद्रिक नीति की स्वायत्तता की प्रतीक होती हैं। परिणामस्वरूप स्फीति विरोधक नीति को अपनाने के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो सकती है। आर्थिक विकास अथवा पूर्ण रोजगार को अतिशीघ्र प्राप्त करने की अभिलाषा के परिणामस्वरूप यह संभव है कि मुद्रा का मूल्य ह्रास तथा विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी उत्पन्न होने से मुद्रा के बाह्यमूल्य में भारी उतार-चढ़ाव उत्पन्न हो जावें। इस प्रकार एक प्रकार की अस्थिरता समाप्त होने पर दूसरे प्रकार की अस्थिरता उत्पन्न हो जावेगी। परन्तु अस्थिर लचीली दर के समर्थकों का कहना है कि अस्थिरता उत्पन्न करने वाले सट्टे का भय मिथ्या है क्योंकि स्फीति की अनुपस्थिति में अबाध विनिमय दरें स्थिर रहेंगी। इनका कहना है कि यदि केन्द्रीय बैंक किसी भी स्थिति में स्फीति को समाप्त करने में सामर्थ रखती है तो स्थिर तथा अस्थिर विनिमय दरों के मध्य घना अन्तर नहीं होगा। इसलिये मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय दर का अधिकीलन किए बिना विनिमय दर स्थिरता को प्राप्त करना होना चाहिये।

लचीली विनिमय दरों के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि विनिमय दरों में परिवर्तन होते रहने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा पूँजी निवेश को भारी आघात पहुँचेगा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अनिश्चित विनिमय दरों के परिणामस्वरूप जुआ मात्र हो जावेगा। विनिमय दरों में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के कारण आयात तथा निर्यात बाजारों की स्थिति में घातक परिवर्तन होते रहने से ये बाजार अस्तव्यस्त हो जाते हैं। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों तथा विदेशी व्यापार पर आश्रित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं को गहरा धक्का लगता है। उदाहरणार्थ, पौंडस्टर्लिंग का अचानक मूल्यह्रास हो जाने से भारतीय निर्यातकर्ताओं को लाभ प्राप्त होता है तथा आयात कर्ताओं को हानि सहनी पड़ती है। स्टर्लिंग के बाह्य मूल्य में वृद्धि होने पर भारतीय निर्यातकर्ताओं को हानि तथा आयातकर्ताओं को लाभ होता है। इस प्रकार विदेशी विनिमय दर में सहसा कमी अथवा वृद्धि हो जाने के कारण अर्थव्यवस्था में अप्रत्याश-आय (windfall profits) की घटना उत्पन्न हो जाती है। परन्तु अबाध विनिमय दरों के समर्थक इस आलोचना का उत्तर यह कहकर देते हैं कि जब व्यापार सन्तुलन में नहीं होता है तो किसी न किसी विधि के द्वारा समायोजन करना ही पड़ता है।

विदेशी विनिमय नियन्त्रण तथा आयात नियतांश, जिनके अर्थव्यवस्था पर अनेक बुरे प्रभाव पड़ते हैं, के द्वारा व्यापार सन्तुलन प्राप्त करने की अपेक्षाकृत अबाध विनिमय दर में गिरावट के द्वारा सन्तुलन को प्राप्त करना अधिक अच्छा है। विनिमय दर को अस्थाई समय के लिए सरकारी प्रयासों द्वारा अवास्तविक दर पर अधिकीलन करने की अपेक्षाकृत यह अधिक अच्छा है कि गिर कर यह वास्तविक दर को प्राप्त कर ले।

स्थिर तथा अस्थिर विनिमय दरों में पक्ष तथा विपक्ष में प्रस्तुत किये गए अनेक तर्कों के परिणामस्वरूप वर्तमान समय में विशेषज्ञ इस मत के पक्ष में है कि सीमित विनिमय दर अस्थिरता वाँच्छनीय तथा आवश्यक है। इस का अर्थ यह है कि जबकि विनिमय दरों को पूर्णतया स्थिर रखना न तो सम्भव ही है तथा न ही वाँच्छनीय है पूर्णतया अस्थिर विनिमय दरें भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास के लिये घातक होती है। इन दोनों सीमाओं के मध्य

विनिमय दरों को पूर्वनिर्धारित समता दरों में ५ प्रतिशत के लगभग कम अथवा अधिक होने दिया जा सकता है। ऐसा होने से मुद्रा अवमूल्यनों की सम्भावना भी कम हो जावेगी तथा विदेशी विनिमय के क्षेत्र में घातक सट्टाबाजी कम हो जावेगी।

स्थिर विनिमय दरों का निर्धारण

अबाध विदेशी विनिमय दरों का निर्धारण अबाध विदेशी विनिमय बाजारों में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में सरकार विदेशी विनिमय बाजारों में हस्तक्षेप नहीं करती है। इसके अतिरिक्त, जब विनिमय दरों में उच्चावचनों की उच्चतम तथा निम्नतम सीमाओं को निर्धारित कर दिया जाता है तो सरकार विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय के क्रेता तथा विक्रेता के रूप में प्रवेश करके विदेशी विनिमय दर में निर्धारित सीमाओं से अधिक उच्चावचनों को रोकती है।

अबाध विनिमय दरों के विपरीत स्थिर विनिमय दर प्रणाली में विनिमय दरें पूर्णतया स्थिर होती हैं तथा स्थिर दर पर स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय की पूर्ति तथा माँग पूर्णतया लोचदार होती है—निर्धारित विनिमय दर पर विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति अनन्त होती है। युद्ध-पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में विदेशी विनिमय दरें स्थिर रहती थीं क्योंकि प्रत्येक स्वर्णमान देश द्वारा अपनी मुद्रा इकाई का स्वर्ण-मूल्य निर्धारित कर दिया जाता था तथा इस स्वर्ण मूल्य पर मुद्रा इकाई स्वर्ण में परिवर्तनीय थी। दूसरे शब्दों में, निर्धारित स्वर्ण मूल्य पर सरकार असीमित मात्रा में स्वर्ण का क्रय-विक्रय करने को तैयार रहती थी। उदाहरणार्थ, १९३० ई० में जब इंगलैंड तथा अमरीका में स्वर्णमान विद्यमान था अमरीकी डालर का स्वर्ण-मूल्य २३·२२ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण तथा पौण्ड-स्टर्लिंग का स्वर्ण मूल्य ११३ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण निर्धारित किया गया था।[1] परिणामस्वरूप पौंड-स्टर्लिंग का डालर मूल्य ४·८६६५ (=११३/२३·२२) अमरीकी डालर था। स्वर्णमान में स्वर्ण का निर्यात तथा आयात मुक्त होने के कारण वास्तविक विनिमय दर इस अनुपात से जो दोनों मुद्रा इकाइयों के टकसाल भार द्वारा निर्धारित होती थी, स्वर्ण को निर्यात तथा आयात करने के खर्च से कम अथवा अधिक नहीं हो सकती थी।

स्वर्णमान में विदेशी विनिमय दर दोनों देशों की मुद्रा इकाइयों के स्वर्ण भार अथवा मूल्य के अनुपात द्वारा सरलता के साथ निर्धारित हो जाती है। स्वर्ण क्रय-शक्ति की समानता के आधार पर निर्धारित होने वाली विदेशी विनिमय दर 'विनिमय की टकसाल समता दर' अथवा 'विनिमय की स्वर्ण समानता दर' कहलाती है। यह विनिमय दर सामान्य अथवा दीर्घकालीन दर होती है। यद्यपि विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने के हेतु समय-समय पर बाजार विनिमय दर में उच्चावचन होते रहते हैं परन्तु जिस प्रकार बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के समीप चक्कर काटता रहता है इसी प्रकार बाजार विदेशी विनिमय दर भी स्वर्ण समानता विनिमय दर के समीप विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने के अनुसार कम अथवा अधिक होती रहती है।

विदेशी विनिमय दर में उच्चावचनों की सीमा

विदेशी विनिमय दर की स्वर्ण समानता अथवा टकसाल समता दर विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति को सूचित करती है। वास्तविक दर साधारणत: इस आदर्श दर से कम

1. Since there are 480 grains in a troy ounce, a troy of gold was valued at \$ 20·67 (=480·00/23·22) and at £ 3-17 s.-10½ d. (=480/113) respectively.

अथवा अधिक होती है। विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति मे परिवर्तन होने पर विदेशी विनिमय दर में भी परिवर्तन हो जाते हैं। व्यापार-शेष (Balance of Trade) प्रतिकूल तथा अनुकूल हो जाने के कारण विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति मे परिवर्तन हो जाते है जो विदेशी विनिमय दर में उच्चावचन उत्पन्न कर देते है। परन्तु इन उच्चावचनों की एक निर्धारित सीमा होती है जो स्वर्णमान देशों के बीच स्वर्ण का निर्यात तथा आयात करने की लागत द्वारा निर्धारित होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में स्वर्णमान देशों के बीच आयातकर्ता दो प्रकार से भुगतान कर सकते है। वे या तो विदेशी विनिमय बाजार में बैंकों से विदेशी विनिमय खरीद कर अथवा विदेश को स्वर्ण भेज कर भुगतान कर सकते हैं। इन दोनों रीतियों में से वही रीति काम मे लाई जाती है जो आयातकर्ता के लिए अधिक लाभदायक होती है। आयातों का भुगतान करने के हेतु स्वर्ण का निर्यात करने में पैकिंग, परिवहन तथा बीमा इत्यादि पर व्यय करना पड़ता है। आयातकर्ताओं को विदेशी विनिमय बाजार में स्वर्ण टकसाल समता दर पर विदेशी विनिमय प्राप्त नही हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि अमरीकी आयातकर्ता को इंगलैंड में किसी निर्यातकर्ता को, जिससे उसने इंगलैंड में निर्मित वस्तुओं का आयात किया है, भुगतान करना है और पौंड-स्टर्लिंग तथा अमरीकी डालर के बीच विनिमय की टकसाल समता दर १ पौंड-स्टर्लिंग=४·८६६५ अमरीकी डालर है तथा एक पौंड-स्टर्लिंग मूल्य का सोना भेजने के लिए २ सेन्ट व्यय करना पड़ता है तो अमरीकी आयातकर्ता को एक पौंड-स्टर्लिंग का भुगतान करने के लिए ४·८८६५ अमरीकी डालर खर्च करने पड़ेंगे। यदि विदेशी विनिमय बाजार मे उसको ४·८८६५ से कम अमरीकी डालर खर्च करके एक पौंड-स्टर्लिंग प्राप्त हो सकता है तो वह अपने निर्यातकर्ता को भुगतान मे सोना न भेजकर विदेशी विनिमय भेजेगा। परन्तु अमरीकी आयातकर्ता विदेशी विनिमय बाजार मे १ पौंड-स्टर्लिंग को ४·८८६५ अमरीकी डालर से अधिक मूल्य पर नहीं खरीदेगा क्योंकि इससे अधिक डालर मूल्य पर उसके लिए विदेशी विनिमय खरीदने की अपेक्षाकृत स्वर्ण भेजकर अंग्रेजी निर्यातकर्ता को भुगतान करना लाभदायक है। इसी प्रकार यदि इंगलैंड के किसी निर्यातकर्ता को अमरीका से भुगतान प्राप्त करना है तथा उसे अपने निर्यातों का भुगतान अमरीका से अपना खर्चा करके प्राप्त करना है तो उसे स्वर्ण आयात करने का खर्च सहन करना होगा। ऐसी स्थिति मे उसे प्रति पौंड-स्टर्लिंग २ सेंट खर्च करना पड़ेगा तथा उसे एक पौंड-स्टर्लिंग के बदले ४·८४६५ अमरीकी डालर प्राप्त होंगे। परिणामस्वरूप वह अपने विदेशी विनिमय बिलों को बैंकों को ४·८४६५ अमरीकी डालर प्रति पौंड-स्टर्लिंग की दर से कम पर नहीं बेचेगा क्योंकि यदि उसको इससे कम मूल्य प्राप्त होता है तो वह स्वर्ण को आयात करके अधिक मूल्य प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार स्वर्ण निर्यात तथा स्वर्णआयात व्यय के द्वारा विदेशी विनिमय दर में उच्चावचनों की उच्चतम तथा निम्नतम सीमायें निर्धारित हो जाती है। विदेशी विनिमय बाजार मे स्टर्लिंग-डालर विनिमय दर इन दोनों सीमाओं के बीच—स्वर्णआयात बिन्दु (Gold Import Point) तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point)—घटती तथा बढ़ती रहेगी। परन्तु यह उसी समय सम्भव होता है जब स्वर्णमान देशों में स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों पर प्रतिबन्ध नहीं होता है।

जब तक विदेशी विनिमय बाजार मे विदेशी विनिमय दर केवल स्वर्ण आयात तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं द्वारा निर्धारित सीमाओं के बीच कम अथवा अधिक होती रहती है तब तक स्वर्ण का आयात तथा निर्यात नहीं होगा। परन्तु यदि विदेशी विनिमय बाजार मे विनिमय दर बढ़कर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से अधिक हो जाती है तो स्वर्ण का विदेशी भुगतानों को करने के हेतु देश से निर्यात किया जावेगा क्योंकि स्वर्ण का निर्यात करके आयातकर्ता स्वर्ण निर्यात बिन्दु

द्वारा निर्धारित विनिमय दर पर भुगतान करने में सफल हो जाता है। इसी प्रकार विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दु से कम हो जाने की स्थिति में निर्यातकर्ता अपने निर्यात बिलों का भुगतान बैंकों को न बेचकर विदेश से स्वर्ण का आयात करके प्राप्त करना पसंद

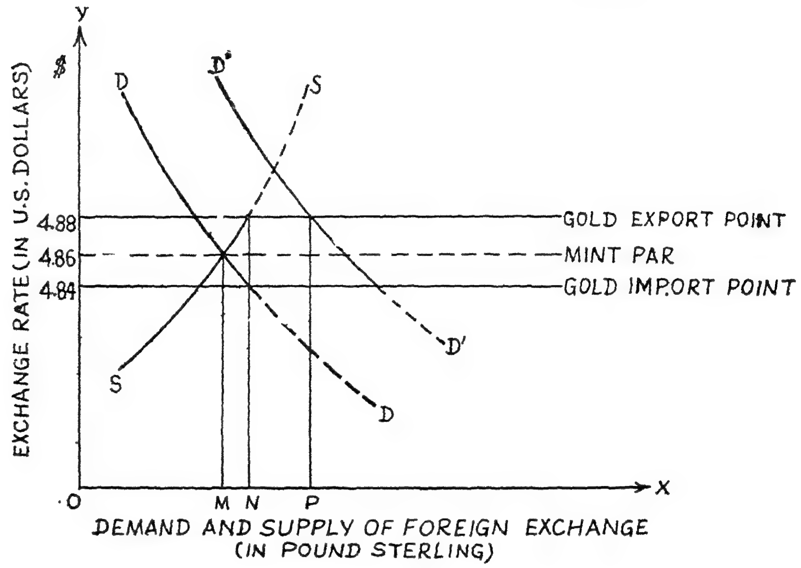

चित्र २५·३

करेंगे। इस प्रकार स्वर्ण आयात तथा निर्यात के खर्च द्वारा विदेशी विनिमय दर में उच्चावचनों की उच्चतम तथा निम्नतम सीमायें निर्धारित हो जाती हैं।

स्वर्णमान में स्वर्ण बिन्दुओं का विशेष महत्व है। ये बिन्दु हमें यह ज्ञान प्रदान करते हैं कि विदेशी विनिमय दर में उच्चावचनों की अधिकतम सीमा क्या हो सकती है। इनके अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि बाजार विनिमय दर स्वर्ण समता विनिमय दर से भिन्न क्यों होती है?

स्वर्ण निर्यात तथा स्वर्ण आयात बिन्दुओं का निर्धारण तथा इन बिन्दुओं की सीमाओं के मध्य विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तनों के अनुसार बाजार विनिमय दर निर्धारण को चित्र २५·३ द्वारा समझाया जा सकता है।

चित्र २५·३ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बाजार विनिमय दर में विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु चित्र से यह भी स्पष्ट है कि बाजार विनिमय दर में परिवर्तनों की स्वर्ण निर्यात तथा आयात बिन्दुओं द्वारा निर्धारित निश्चित सीमायें हैं। ये सीमायें चित्र में स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) तथा स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) रेखाओं द्वारा व्यक्त की गई हैं। बाजार विनिमय दर में उच्चावचन स्वर्ण निर्यात तथा आयात बिन्दुओं द्वारा निर्धारित सीमाओं के मध्य सीमित रहने का कारण यह है कि स्वर्ण निर्यात बिन्दु पर (१ पौंड = ४·८८६५ अमरीकी डालर) स्वर्ण का असीमित मात्रा में निर्यात होने के कारण विदेशी विनिमय की पूर्ति पूर्णतया लोचदार हो जाती है। इसके विपरीत स्वर्ण आयात बिन्दु पर स्वर्ण की माँग पूर्णतया

लोचदार हो जाती है। इस प्रकार स्वर्णमान में बाजार विनिमय दर में उच्चावचनों की अधिकतम सीमा २+२=४ सेन्ट होगी।

चित्र में यह व्यक्त किया गया है कि आरम्भ में देश का भुगतान-शेष सन्तुलन में है तथा स्टर्लिंग-डालर विनिमय दर (१ पौंड-स्टर्लिंग=४'८६६५ डालर) टकसाल समता दर के बराबर है क्योंकि इस दर पर विदेशी विनिमय की माँग (OM) इसकी कुल पूर्ति (OM) के बराबर है। परन्तु जब आयात अधिक होने के कारण इस दर पर विदेशी विनिमय की माँग बढ़ जाती है जैसा कि D′ D′ वक्र से ज्ञात है तो बाजार विनिमय दर बढ़ कर ४'८८६५ डालर हो जाती है। यद्यपि इस दर पर विदेशी विनिमय की माँग (OP) इस की कुल पूर्ति (ON) से अधिक है परन्तु विदेशी विनिमय दर में इस से अधिक वृद्धि नहीं होगी तथा बेशी माँग (NP) की पूर्ति देश से स्वर्ण का निर्यात करके की जावेगी।

समायोजन प्रक्रिया

यद्यपि स्वर्णमान के अन्तर्गत बाजार विनिमय दर स्वर्णमान देशों की मुद्रा इकाइयों के टकसाल-समता अनुपात द्वारा निर्धारित विनिमय दर से भिन्न हो सकती है परन्तु इसमें टकसाल-समता विनिमय दर के समीप रहने की प्रवृत्ति होती है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि अल्पावधि में बाजार विनिमय दर टकसाल विनिमय दर से भिन्न हो सकती है परन्तु दीर्घावधि में यह इस दर के समान होती है क्योंकि जैसे ही बाजार विनिमय दर टकसाल विनिमय दर से भिन्न हो जाती है सन्तुलन शक्तियाँ सक्रिय हो जाती हैं तथा उस समय तक सक्रिय रहती हैं जब तक बाजार तथा टकसाल विनिमय दरों के मध्य सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता है। बाजार विनिमय दर टकसाल समता विनिमय दर से उसी समय भिन्न हो सकती है जब भुगतान-शेष असन्तुलन—अनुकूल अथवा प्रतिकूल—में होता है।

जब भुगतान-शेष असन्तुलन में होता है तब सन्तुलन स्वर्ण निर्यातों अथवा स्वर्ण आयातों की प्रक्रिया द्वारा पुनः स्थापित होता है। यह बात एडम स्मिथ तथा स्मिथ के पश्चात रिकार्डो तथा जॉन स्टिवर्ट मिल ने व्यक्त की थी। जब दो राष्ट्र स्वर्णमान को अपनाये होते हैं तब बाजार विनिमय दर टकसाल विनिमय दर से बंध जाती है तथा भुगतान-शेष को निर्धारित करने वाली शक्तियाँ स्वयं को इस समता दर से समायोजित कर लेती है। जब किसी स्वर्णमान देश का भुगतान-शेष प्रतिकूल—बेशी आयातों की समस्या—होता है तब सन्तुलन शक्तियों के क्रियाशील होने के परिणामस्वरूप भुगतान-शेष की प्रतिकूलता समाप्त हो जाती है तथा देश का भुगतान-शेष सन्तुलन को प्राप्त हो जाता है। देश के भुगतान-शेष में प्रतिकूलता का अभिप्राय यह है कि आयातों का मूल्य निर्यातों के मूल्य की अपेक्षाकृत अधिक है। बेशी आयातों का भुगतान करने के कारण देश से स्वर्ण का निर्यात होगा तथा दूसरे स्वर्णमान देश में, जिसका भुगतानाशेष अनुकूल है, स्वर्ण का आयात होगा। प्रतिकूल भुगतान-शेष वाले स्वर्णमान देश से स्वर्ण का निर्यात होने के हेतु मुद्रा का संकुचन तथा अनुकूल भुगतान-शेष वाले स्वर्णमान देश में स्वर्ण का आयात होने के हेतु मुद्रा का प्रसार होगा। यह तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि स्वर्ण आयातों तथा निर्यातों के साथ स्वर्णमान देशों की सरकार हस्तक्षेप नहीं करती है। परिणामस्वरूप प्रतिकूल भुगतान-शेष वाले स्वर्णमान देश में कीमतों, आयों तथा रोजगार में गिरावट तथा अनुकूल भुगतान-शेष वाले स्वर्णमान देश में कीमतों, आयों तथा रोजगार में वृद्धि होगी। यह तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि स्वर्णमान देशों की अर्थव्यवस्थाये लचीली है तथा स्वर्ण आयातों तथा निर्यातों के आर्थिक प्रभाव अर्थव्यवस्था में शीघ्र विद्यमान हो जाते है। स्वर्ण का देश से निर्यात होने के कारण कीमतों, आयों

तथा रोजगार में कमी होने का प्रभाव यह होगा कि निर्यात वस्तुओं की कीमतों में कमी होंने से देश के निर्यातों में वृद्धि होगी तथा लोगों की आयों में कमी होने के हेतु कुल उपभोग तथा आयातों की माँग में कमी होगी। यह कथन इस मान्यता पर आधारित है कि आयातों तथा निर्यातों की माँग लोचदार है। ऐसा होने से प्रतिकूल भुगतान-शेष वाले स्वर्णमान देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता समाप्त हो जायेगी। इसके विपरीत स्वर्ण आयात करने वाले स्वर्णमान देश में संचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कीमतों में सामान्य वृद्धि होने से देश की निर्यात वस्तुओं की कीमतों मे भी वृद्धि होगी तथा निर्यातों में कमी हो जावेगी। इसके अतिरिक्त देश में लोगों की आयों तथा रोजगार में वृद्धि हो जाने के कारण सामान्य उपभोग में वृद्धि होगी तथा इस कारण आयातों में वृद्धि होगी। देश के आयातों में वृद्धि तथा निर्यातों में कमी होने के परिणाम-स्वरूप कुछ समय पश्चात भुगतान-शेष की अनुकूलता समाप्त हो जावेगी। इस प्रकार स्वर्ण आयातों तथा स्वर्ण निर्यातों के द्वारा कुछ समय पश्चात दोनों स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों का असन्तुलन समाप्त हो जावेगा।

स्वर्णमान में समायोजन की यह स्वयं संचालित प्रक्रिया, जिसके द्वारा स्वर्णमान देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता तथा अनुकूलता स्वर्ण के प्रवाहों द्वारा समाप्त हो जाती है, प्राचीन आर्थिक सिद्धान्त का एक अतिमहत्वपूर्ण अंग थी। परन्तु वर्तमान समय में इसका कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है क्योंकि स्वर्णमान वर्तमान युग में केवल एक ऐतिहासिक घटना है। प्रथम, स्वर्णमान में विनिमय स्थिरता आन्तरिक मूल्य अस्थिरता उत्पन्न करने के द्वारा प्राप्त होती है। दूसरे, समा-योजना की इस प्रक्रिया के द्वारा भुगतान-शेष में केवल थोड़े से घाटे को समाप्त किया जा सकता है। भुगतान-शेष में भारी घाटा विद्यमान होने की स्थिति मे स्वर्ण प्रवाह प्रक्रिया के द्वारा घाटे को समाप्त नहीं किया जा सकता है। यही कारण था कि तीसा में जब स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों में भारी तथा निरन्तर उत्पन्न होने वाले घाटे की घटना उत्पन्न हो गई थी तो स्वर्णमान का खण्डन हो गया था। तीसरे, समायोजन की यह प्रक्रिया पूँजी की अल्पकालिक गतियों तथा इन गतियों के स्वर्णमान देशों के भुगतानशेषों पर पड़ने वाले प्रभावों पर विशेष ध्यान नहीं देती है। चौथे, समायोजन प्रक्रिया इस मान्यता पर भी आधारित है कि समायोजन का भार दोनों स्वर्णमान देशों पर लगभग समान मात्रा में पड़ता है। परन्तु जहाँ एक स्वर्णमान देश बड़ा तथा दूसरा स्वर्णमान देश छोटा होता है वहाँ बहुधा समायोजन का अधिकांश भार छोटे स्वर्णमान देश को सहन करना पड़ता है।

क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त

जब दो देशों के बीच अपरिवर्तनीय कागजीमुद्रा संचलनशील होती है तो विदेशी विनिमय दर उन देशों की मुद्रा इकाईयों के टकसाल भार के आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती है क्योंकि कागजी मुद्रा मान में देश की मुद्रा इकाई का कोई टकसाल भार नहीं होता है। स्वर्ण-मुद्रा मान संसार में केवल प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक विद्यमान रहा था। यद्यपि युद्ध के पश्चात स्वर्ण-धातु मान तथा स्वर्ण-विनिमय मान को अपनाया गया था परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात तीसा की महान् मन्दी में इसका परित्याग कर दिया गया था। १९३१ ई० में इंगलैंड द्वारा परित्याग करने के पश्चात अमरीका तथा फ्राँस ने भी क्रमशः १९३४ ई० तथा १९३६ ई० मे स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था।

स्वर्णमान के खण्डन के पश्चात संसार के सभी देशों में अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा का युग स्थापित हो गया था तथा राष्ट्रीय मुद्रा इकाइयों के बीच किसी प्रकार की समानता का सम्बन्ध

नहीं रहा था। ऐसी अवस्था में जब भिन्न देशों में अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा विद्यमान होती है तो विदेशी विनिमय दर उन देशों की मुद्रा इकाइयों की क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त को, जिसकी व्याख्या सर्वप्रथम व्हाटले (Whatley) ने अपनी *Remarks on Currency and Commerce* शीर्षक पुस्तक में १८०२ ई० में की थी, गस्टव कैसल ने स्वर्णमान के खण्डन के पश्चात् कागजी मुद्रा के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दर निर्धारण का आधार बनाया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार विदेशी विनिमय दर दो देशों की मुद्रा इकाइयों की क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। उदाहरणार्थ, यदि अमरीका में एक डालर के द्वारा उतना ही गेहू खरीदा जा सकता है जितना कि भारत में ५ रुपये के द्वारा खरीदा जा सकता है तो अमरीकी डालर तथा रुपये के बीच विदेशी विनिमय दर १ : ५ होगी अर्थात १ रुपये का डालर मूल्य २० सेन्ट होगा अथवा एक अमरीकी डालर का मूल्य ५ रुपयें होगा।

यदि किसी समय विदेशी विनिमय दर इस क्रय-शक्ति समानता दर से भिन्न हो जाती है तो तुरन्त आर्थिक शक्तियाँ क्रियाशील होकर वास्तविक विनिमय दर को इस सामान्य विनिमय दर के समान बना देंगी। उदाहरण के लिये, यदि दोनों देशों में मूल्यस्तर स्थिर रहते हुए विदेशी विनिमय दर १ अमरीकी डॉलर =५ रुपये से बढ़कर १ अमरीकी डालर=५.५ रुपये हो जाती है तो रुपये के रूप में डालर की क्रयशक्ति बढ़ जाती है। ऐसी दशा मे अमरीकी आयातकर्ता डालर को रुपयों में बदलकर भारत मे एक डालर के मूल्य के बराबर वस्तुएँ खरीद कर ½ रुपय की बचत कर लेंगे। डॉलर को रुपयों मे बदलने के कारण अमरीका मे भारतीय रुपये की माग में वृद्धि हो जावेगी और रुपये का डॉलर मूल्य बढ़ जावेगा। रुपये का डॉलर मूल्य एक दूसरे कारण से भी बढ़ जावेगा। अमरीका डालर का रुपया मूल्य अधिक हो जाने के कारण भारत मे अमरीकी आयात कम हो जावेगे जिसके कारण भारत मे अमरीकी डालरा की मांग कम हो जावेगी और डालर का रुपया मूल्य कम हो जावेगा। यह उस समय तक होता रहेगा जब तक १ डालर का रुपया मूल्य घटकर पुनः पांच रुपये नही हो जाता है।

विदेशी विनिमय दर निर्धारण का क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि विदेशी विनिमय दर में उस समय तक परिवर्तन नही हो सकता है जब तक देश की मुद्रा इकाई की क्रयशक्ति अथवा मूल्य-स्तर में परिवर्तन नहीं होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विदेशी विनियय दर तथा इसमें होने वाले परिवर्तन दो देशों की मुद्रा इकाइयों की क्रयशक्ति तथा इसमे होने वाले सापेक्ष परिवर्तनों पर आधारित होते हैं। थॉमस ने क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की हैं: "यद्यपि एक देश की मुद्रा इकाई का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा इकाई के रूप मे किसी समय विशेष पर बाजार में माँग तथा पूर्ति के आधार पर निर्धारित होता है परन्तु दीर्घकाल में यह मूल्य उन दोनों देशों की मुद्रा इकाइयों के सापेक्ष मूल्यों द्वारा निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में, विनिमय दर उस बिन्दु पर स्थिर होती है जहाँ दोनों देशों की मुद्रा इकाइयों की क्रय-शक्तियाँ समान होती है। यहाँ बिन्दु क्रय-शक्ति समता बिन्दु कहलाता है।"[2] मुद्रा इकाइयो की क्रय-शक्ति समानता के

2. "While the value of one unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market condition of demand and supply, in the long run that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services (in their respective countries). In other words, the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies. This point is called the Purchasing Power Parity." (*S. E. Thomas*)

आधार पर जो विदेशी विनिमय दर निर्धारित होती है उसमें दोनों देशों के सापेक्ष मूल्य स्तरों में परिवर्तन होने पर परिवर्तन हो जाते हैं। दोनों देशों की मुद्रा इकाइयों की क्रयशक्ति में सापेक्ष

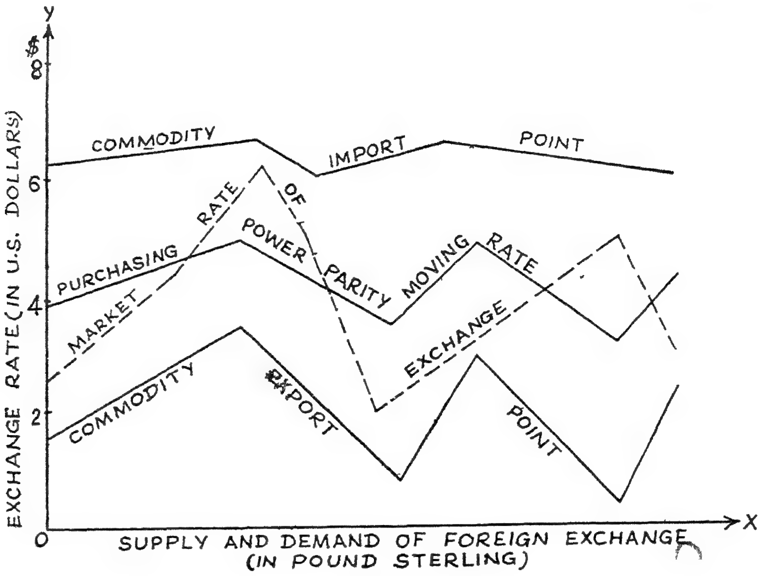

चित्र २५·४

परिवर्तन होने पर विदेशीविनिमय दर में भी परिवर्तन हो जाते हैं। नई विनिमय दर को ज्ञात करने के लिये आधार वर्ष की विनिमय दर को दोनों देशों के मूल्य निर्देशांकों के अनुपात से गुणा कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि १९६० ई० में अमरीकी डालर तथा रुपये के मध्य विदेशी विनिमय दर १ अमरीकी डॉलर=५ रुपये थी और १९७२ ई० में दोनों देशों में मूल्य निर्देशांक १५० तथा ३०० है तो क्रय-शक्ति समता द्वारा निर्धारित विदेशी विनिमय दर निम्नलिखित प्रकार प्राप्त होगी।

१९७२ ई० में डालर रुपया विनिमय दर=

$$\frac{५}{१} \times \frac{३००}{१५०} = १० \text{ रुपये}$$

बाजार विनिमय दर देश की मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में कमी तथा वृद्धि होने पर इस सामान्य दर से कम अथवा अधिक होती रहती है। बाजार विनिमय दर में उच्चावचनों की सीमायें दोनों देशों के मध्य वस्तुओं की परिवहन लागत, निर्यात तथा आयत कर, बीमा तथा बैंकिंग सेवाओं की लागत, विदेशों में वस्तुओं को बेचने सम्बन्धी विज्ञापन प्रचार लागत इत्यादि द्वारा निर्धारित होती हैं। परन्तु ये सीमायें इतनी अधिक स्थिर नहीं होती हैं जितनी कि टकसाल समता सिद्धान्त के अन्तर्गत स्वर्ण आयात तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं द्वारा निर्धारित सीमायें होती हैं क्योंकि वस्तुओं की आयात तथा निर्यात परिवहन लागत में समय समय पर अधिक परिवर्तन होते रहते हैं। विदेशी विनिमय दर परिवर्तनों की इन सीमाओं को वस्तु निर्यात बिन्दु तथा वस्तु आयात बिन्दु कहते हैं। चित्र २५·४ द्वारा क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त में क्रयशक्ति विनिमय दर तथा बाजार विदेशी विनिमय दर निर्धारण तथा बाजार विनिमय दर में उच्चावचनों की सीमाओं को समझाया गया है।

सिद्धान्त की आलोचनाएँ

क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गई है। यह सिद्धान्त विनिमय दर निर्धारण तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों की सन्तोषजनक विवेचना नही करता है। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित प्रकार हैं।

(१) इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा इकाईयों की क्रयशक्तियो तथा विदेशी विनिमय दरों में इस प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है कि मुद्रा इकाई की क्रयशक्ति मे परिवर्तन होने पर विनिमय दर में तत्काल परिवर्तन हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार देशों की मुद्रा इकाइयो की क्रय-शक्तियों मे होने वाले परिवर्तन विदेशी विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों के एकमात्र निर्धारक कारण होते है। परन्तु विदेशी विनिमय दर पर मुद्रा इकाई की क्रयशक्ति के अतिरिक्त अन्य शक्तियों का प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरणार्थ, विदेशी विनिमय दर पर आयात तथा निर्यात करों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि कोई देश अपने आयातों पर कर लगा देता है तो उस देश की मुद्रा इकाई का विदेशी विनिमय मूल्य बढ़ जाता है।

(२) यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय दर निर्धारण के सम्बन्ध में दो देशों में सामान्य मूल्य स्तरों की तुलना करता है। परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है क्योंकि सामान्य मूल्य स्तरों में बहुत सी ऐसी वस्तुयें भी सम्मिलित होती है जिनका विदेशी व्यापार में कोई स्थान नही होता है। विदेशी विनिमय दर निर्धारण के लिए हमे केवल अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के मूल्य निर्देशांकों को लेना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के निर्धारण करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। एक वस्तु एक समय अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु होती है क्योंकि उसका आयात अथवा निर्यात होता है परन्तु अन्य समय उसका आयात अथवा निर्यात न होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु नहीं रहती है। वस्तुओं का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रेणियों मे वर्गीकरण करना अतिकठिन है।

(३) इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव विदेशी विनिमय दर पर पड़ना चाहिए। परन्तु देश में मूल्य-स्तर में परिवर्तन होते हुए भी विदेशी विनिमय दर स्थिर रह सकती है। इसका मुख्य कारण यह है कि विनिमय दर पर केवल अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के मूल्यों में हुए परिवर्तनों का विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तनों के द्वारा प्रभाव पड़ता है। उन वस्तुओं का जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है विदेशी विनिमय दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और इस कारण ऐसी वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने पर विदेशी विनिमय दर स्थिर रह सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं तक सीमित रहने के कारण विदेशी विनिमय दर निर्धारण का क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त अवास्तविक है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं को राष्ट्रीय वस्तुओं से अलग नही किया जा सकता है।[3]

(४) क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि मूल्यों में परिवर्तनों का प्रभाव विदेशी विनिमय दर पर पड़ता है परन्तु विदेशी विनिमय दर में परिवर्तनों का मूल्यों पर प्रभाव नही पड़ता है। परन्तु यह सत्य नही है क्योंकि विदेशी विनिमय दर में परिवर्तनों का प्रभाव देश में मूल्य-स्तर पर पड़ता है। उदाहरण के लिए, जब सट्टेबाजी के कारण पूँजी का देश से निर्यात होने लगता है तो विदेशी विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाती है। इसके कारण कच्ची आयात वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप जिन वस्तुओं के उत्पादन में इन कच्ची वस्तुओं का

3. *J.M. Keynes : A Tract On Monetary Reform*, p. 101.

प्रयोग किया जाता है उन वस्तुओ के मूल्यो मे भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन होने के कारण वस्तुओ के मूल्यो में भी परिवर्तन हो जाते है।

(५) क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त के अनुसार विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति केवल वस्तुओ के आयातो तथा निर्यातो के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति अन्य कारणो द्वारा भी निर्धारित होती है। उदाहरणार्थ, जब किसी देश की सरकार अथवा व्यक्ति दूसरे देश की सरकार अथवा व्यक्तियो को ऋण प्रदान करते है तो ऋणदाता देश मे ऋणी देश की मुद्रा की माँग उत्पन्न हो जाने के हेतु विदेशी विनिमय दर मे ऋणी देश के पक्ष मे परिवर्तन हो जाते है। इसके विपरीत जब ऋणी देश ऋणदाता देश को ऋण तथा ब्याज का भुगतान करता है तो ऋणी देश मे ऋणदाना देश की मुद्रा की माँग उत्पन्न हो जाती है और विदेशी विनिमय दर मे ऋणी देश के विपक्ष मे परिवर्तन हो जाते है। इसी प्रकार जब कोई देश उपहार के रूप मे किमी दूसरे देश की सहायता करता है तो विदेशी विनिमय दर मे उपहार देने वाले देश के विपक्ष मे परिवर्तन हो जाते है। इन उदाहरणो से ज्ञात होता है कि विदेशी विनिमय दर पर वस्तुओ के आयातो तथा निर्यातो के अतिरिक्त उन कारणो का भी प्रभाव पडता है जिनकी विदेशी विनिमय दर निर्धारण के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त मे चर्चा नही की गई है।

(६) रागनर नर्कसे ने क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है की "यह सिद्धान्त मूल्य-परिवर्तनो को केवल माँग का कारण समझता है तथा व्यापार-चक्र की अवधि मे आय तथा खर्च में होने वाले भारी परिवर्तनो की ओर कोई ध्यान नही देता है। यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय दर पर प्रभाव डालने वाली अन्य महत्वपूर्ण शक्तियो के प्रभाव को बिल्कुल भुला देता है। यह सिद्धान्त इस महत्वपूर्ण सत्य पर कोई प्रकाश नही डालता है कि व्यापार-चक्र की अवधि मे मूल्य स्थिर रहते हुए आय तथा व्यय मे उच्चावचन होने पर विदेशी विनिमय दर मे उच्चावचन उत्पन्न हो जाते है।"[4]

(७) क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त भी अन्य सिद्धान्तो के समान दीर्घकालीन विवेचना है। यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति का सूचक है। परन्तु दैनिक जीवन मे उस सिद्धान्त का जो केवल दीर्घकालीन विवेचना करता है विशेष महत्व नही है क्योकि दीर्घकाल मे हम सब मर जाते है और इस कारण दीर्घकाल मे हमारे लिये कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होती है।

(८) क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त इस ओर कोई ध्यान नही देता है कि दो देशो मे कीमते स्थिर रहते हुए भी इन दोनो देशो के आर्थिक सम्बन्धो मे परिवर्तन हो जाने से विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन हो सकता है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे किसी तीसरे प्रतियोगी देश के प्रवेश करने के परिणामस्वरूप इन दोनो देशो के आयातो तथा निर्यातो पर प्रभाव पड़ने से विदेशी विनिमय दर पर भी प्रभाव पड़ेगा।

(९) सामान्य अनुभव भी इस सिद्धान्त की सत्यता को सिद्ध नही करता है। व्यावहारिक जीवन मे कोई भी ऐसा उदाहरण नही मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय दर केवल मुद्रा इकाइयो की क्रयशक्ति समानता द्वारा निर्धारित होती है। अतः व्यावहारिक जीवन मे इस सिद्धान्त का विशेष महत्व नही है। गत वर्षो का अनुभव यह बताता है कि विदेशी विनिमय दर मुद्रा इकाइयों की क्रयशक्ति समानता के आधार पर निर्धारित

---

4 Ragner Nurkse : *International Currency Experience.* p. 126.

नहीं होती है। अमरीका ने संरक्षणवादी नीति को अपना कर अपने आयातो को बहुत कम करके डालर के बाह्य मूल्य में वृद्धि की थी।

परन्तु उपरोक्त आलोचनाओं से हमें यह नहीं समझना चाहिए कि क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त के अध्ययन का कोई महत्व नहीं है। अनेक दोष होते हुए भी यह सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके अध्ययन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि मूल्यों तथा विदेशी विनिमय दर के मध्य गहरा सम्बन्ध है।

भुगतान-शेष सन्तुलन सिद्धान्त

विदेशी विनिमय दर निर्धारण का भुगतान-शेष संतुलन सिद्धान्त घरेलू व्यापार के सिद्धान्त पर बनाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार निर्यातों के रूप में हम विदेशियों को कदापि उस द्रव्य राशि से कम तथा अधिक नहीं दे सकते हैं जो हमें उनसे आयातों के रूप मे प्राप्त होती है। यह सिद्धान्त इस मूल सत्य पर आधारित है कि आयात तथा निर्यात एक दूसरे का स्वयं भुगतान करते है। यद्यपि अल्पकाल में किसी देश के कुल आयातों का मूल्य उस देश के कुल निर्याती के मूल्य से अधिक हो सकता है तथा कुल निर्यातों का मूल्य कुल आयातों के मून्य से अधिक हो सकता है परन्तु दीर्घावधि मे किसी देश के कुल आयातों तथा कुल निर्यातों का मूल्य समान होना चाहिए क्योंकि यह भुगतान-शेष में संतुलन स्थापित होने के लिये अति आवश्यक है। अतः स्थायी विदेशी विनिमय दर वही दर होती है जिस पर देश के कुल आयातों तथा कुल निर्यातो के मूल्य में संतुलन होता है। यह एक स्वयं सत्य है कि दीर्घकाल में देश के आयातों तथा निर्यातों का मूल्य बराबर होता है। जब कोई देश अपने निर्यातों की तुलना में अधिक आयात करता है तो उसके सामने तीन बिकल्प होते है। प्रथम, वह देश भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा को दूसरे देश से उधार प्राप्त करे। दूसरे, वह देश अपने निर्यातों को बढ़ा कर आयातों का भुगतान करे। इसके अतिरिक्त तीसरा उपाय यह है कि वह देश आयातों को अपने निर्यातों के समान बनाने के लिए आयातों में पर्याप्त कमी करे। दूसरे तथा तीसरे उपायों के द्वारा देश के आयातों तथा निर्यातों मे सन्तुलन शीघ्र स्थापित हो जाता है। परन्तु पहले उपाय के द्वारा सन्तुलन स्थापित होने मे कुछ समय लगता है। इसके अतिरिक्त यह भी सदा आवश्यक नही है कि देश को अधिक आयातों का भुगतान करने के लिए ऋण प्राप्त हो सकेगा। इस कारण देश को अपने निर्यातों को बढ़ाकर ही आयातों का मूल्य चुकाना उचित होता है। इस प्रकार आयात तथा निर्यात सदा एक दूसरे के बराबर होते हैं। परन्तु इससे विदेशी विनिमय दर ज्ञात नहीं होती है। इसके अतिरिक्त केवल आयातों तथा निर्यातों मे परिवर्तन होने से विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होते हैं। स्वयं विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन आयातों तथा निर्यातों की मात्रा में परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं।

विदेशी विनिमय दर निर्धारण का भुगतान-शेष सिद्धान्त यह व्याख्या करता है कि स्थिर विनिमय दर भुगतान-शेष में सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। जिस विनिमय दर पर देश का भुगतान-शेष सन्तुलन में होता है वह विनिमय दर स्थिर होती है। यदि किसी राष्ट्र का भुगतान-शेष असन्तुलन में है तो विनिमय दर मे परिवर्तन होना आवश्यक है। प्रतिकूल भुगतान-शेष की अवस्था में देश की मुद्रा इकाई के बाह्यमूल्य—विदेशी विनिमय दर—मे कमी तथा अनुकूल भुगतान शेष की अवस्था में देश की मुद्रा इकाई के बाह्यमूल्य में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

विदेशी विनिमय दर निर्धारण के भुगतान-शेष सिद्धान्त में कुछ विशेषताएं है। इस सिद्धांत की प्रथम विशेषता यह है कि यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय दर के निर्धारण मे भुगतान-शेष—विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति—पर ध्यान केन्द्रित करके हमारा ध्यान इस मूल सत्य को

ओर आकर्षित करता है कि किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण के समान विदेशी विनिमय दर भी विदेशी विनिमय की कुल माँग तथा कुल पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह है कि यह विदेशी विनिमय दर निर्धारण को सामान्य सन्तुलन विश्लेषण का अंग बना देता है। सिद्धान्त की तीसरी विशेषता यह है कि यह इस बात की व्याख्या करता है कि विदेशी विनिमय की कुल माँग तथा कुल पूर्ति, जिनके द्वारा विदेशी विनिमय दर निर्धारित होती है, वस्तुओ के आयातो तथा निर्यातो के अतिरिक्त ऋण की प्राप्ति अथवा ऋण का भुगतान, ब्याज का भुगतान, पूँजी की गतियो, युद्ध हरजानो इत्यादि द्वारा भी प्रभावित होती है। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि आयात तथा निर्यात, जो मूल्यो से प्रभावित होते है, स्थिर रहते हुए अन्य किसी निर्धारक कारण मे परिवर्तन हो जाने से माँग अथवा पूर्ति मे परिवर्तन हो जाने के द्वारा विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन हो जावेगा। चौथे, यह सिद्धान्त हमे यह ज्ञान प्रदान करता है कि देश के भुगतान-शेष मे असन्तुलन को विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन करके—अधिमूल्यन अथवा पुनर्मूल्यन के द्वारा—समाप्त किया जा सकता है।

भुगतान-शेष का अर्थ

भुगतान-शेष किसी दी हुई समय अवधि मे किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय कुल भुगतानो का सम्पूर्ण विवरण है। यह विवरण किसी देश को अन्य देशो से प्राप्त होने वाले कुल भुगतानो तथा उस देश द्वारा अन्य देशो को किये जाने वाले कुल भुगतानों की सूची होती है। इस विवरण मे, जो बही-खाते के रूप मे होता है, एक ओर उन शीर्षको का विवरण होता है जिनके कारण देश को विदेशो से भुगतान प्राप्त होते है तथा दूसरी ओर वे कुल शीर्षक होते है जिनके कारण देश द्वारा विदेशो को भुगतान दिये जाते है। शीर्षकों के आधार पर किसी देश के भुगतान-शेष का विवरण निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है।

परिसम्पत्ति (Assets)	देयता (Liabilities)
(१) वस्तुओं के निर्यात।	(१) वस्तुओं के आयात।
(२) सेवाओ के निर्यात।	(२) सेवाओ के आयात।
(३) विदेशी ऋण तथा निवेशकर्ताओं द्वारा प्राप्त होने वाली आय।	(३) विदेशियो को ऋण का भुगतान करने तथा लाभ के रूप में दिये जाने वाले शोधन।
(४) विदेशी पर्यटको द्वारा प्राप्त होने वाली आय।	(४) देश के पर्यटको द्वारा विदेशो में होने वाला व्यय।
(५) विदेशियों से प्राप्त होने वाले मुआवजे, युद्ध-व्यय, दान, दण्ड इत्यादि।	(५) विदेशियों को दिए जाने वाले दान, जुर्माने इत्यादि।
(६) विदेशियो से प्राप्त होने वाले अन्य शोधन।	(६) विदेशियो को किये जाने वाले अन्य शोधन।

साधारणतया भुगतान-शेष में सम्मिलित मदों को चालू खाता (current account) अथवा वस्तु खाता (merchandise account) तथा पूँजी खाता (capital account) शीर्षको के अन्तर्गत व्यक्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त कभी कभी एक तीसरा विविध खाता (miscellaneous account) भी होता है जिसमे चालू तथा पूँजी खातो मे सम्मिलित न की जाने वाली मदो का उल्लेख किया जाता है। चालू खाते मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण मद वस्तुओ के

आयात तथा निर्यात होते हैं। पूँजी खाते में विदेशों से प्राप्त पूँजी, विदेशों को पूँजी ऋणों तथा ब्याज आदि के भुगतानों का उल्लेख होता है।

भुगतान-शेष का महत्त्व

किसी देश का भुगतान-शेष उस देश की अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति का परिमाणात्मक सारांश होता है। यह उस देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का सूचक होता है। अर्धविकसित देशों के भुगतान-शेषों का अध्ययन करने से यह ज्ञात हो सकता है कि कोई देश कितने अंश तक अपने आन्तरिक आर्थिक विकास के लिये विदेशी पूँजी पर आश्रित है। विकसित देशों के भुगतान-शेष इस बात का ज्ञान प्रदान करते हैं कि देश को अपने विदेशी निवेशों से कितनी आय प्राप्त होती है। किसी देश का भुगतान-शेष उस देश की आर्थिक स्थिति का सूचक होता है। साधारणतया अनुकूल भुगतान-शेष यह सूचित करता है कि देश की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक है तथा प्रतिकूल भुगतान-शेष देश की चिन्ताजनक आर्थिक स्थिति को सूचित करता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि केवल भुगतान-शेष के अध्ययन से देश की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश का भुगतान-शेष अनुकूल है तो इसका सदा यह अर्थ नहीं होता है कि देश की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक है। इसी प्रकार प्रतिकूल भुगतान-शेष देश के लिये सदा चिन्ता का विषय नहीं होता है। किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने के पूर्व देश के भुगतान-शेष का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। देश की आर्थिक स्थिति का सही पता ज्ञात करने के लिये भुगतान-शेष की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के कारणों को ज्ञात करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि अमरीका का भुगतान-शेष भारत को आर्थिक विकास कार्य के लिये भारी मात्रा में विकास ऋण प्रदान करने के कारण प्रतिकूल हैं तो अमरीका का प्रतिकूल भुगतान-शेष उस देश के लिये किसी चिंता का कारण नहीं है क्योंकि अमरीका ऋणदाता देश है। इसके विपरीत भारत का भुगतान-शेष यद्यपि अनुकूल है परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि भारत की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक है क्योंकि भारत ऋणी देश है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह कहा है कि किसी देश का भुगतान-शेष उस देश की आर्थिक स्थिति का पूर्ण विवरण नहीं है। परन्तु यह होते हुए भी यदि हम भुगतान-शेष के अध्ययन की सीमाओं को ध्यान में रखें तो किसी देश के भुगतान-शेष के अध्ययन द्वारा हम उस देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में काफी विश्वसनीय सूचना प्राप्त कर सकते हैं।

भुगतान-शेष तथा व्यापार-शेष

बहुधा विद्यार्थी भुगतान-शेष और व्यापार-शेष में अन्तर नहीं समझ पाते हैं। यह कठिनाई उस समय और भी अधिक हो जाती है जब यह कहा जाता है कि यद्यपि भुगतान-शेष में व्यापार-शेष सम्मिलित होता है परन्तु व्यापार-शेष में भुगतान-शेष सम्मिलित नहीं होता है। भुगतान-शेष का अर्थ व्यापार-शेष की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। जबकि व्यापार-शेष में केवल वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों का विवरण होता है, भुगतान-शेष में उन सभी मदों का विवरण होता है जिनके कारण किसी देश को अन्य देशों से भुगतान प्राप्त होते हैं तथा अन्य देशों को भुगतान करने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि भुगतान-शेष में वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों के अतिरिक्त अन्य मदों का विवरण भी होता है। अतः व्यापार-शेष भुगतान-शेष का अंग है। भुगतान-शेष के समान व्यापार-शेष भी अनुकूल तथा प्रतिकूल होता है। जबकि भुगतान-शेष सदा सन्तुलित हो जाता है व्यापार-शेष का सन्तुलित होना आवश्यक नहीं होता है।

विदेशी विनिमय दर में उच्चावचनों के कारण

विदेशी विनिमय दर में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते है। विदेशी विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनो का देश की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक देश की सरकार इन उच्चावचनों को कम करने का प्रयत्न करती है। विदेशी विनिमय दर में उच्चावचन उत्पन्न करने वाले कारणों को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) विदेशी मुद्राओं की माँग तथा पूर्ति।
(२) मुद्रा सम्बन्धी स्थिति।
(३) राजनीतिक स्थिति।
(४) मध्यस्थों की क्रियाएँ।

विदेशी मुद्राओं की माँग तथा पूर्ति

विदेशी मुद्राओं की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तनों का विदेशी विनिमय दर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जब विदेशी विनिमय की माँग इसकी पूर्ति की तुलना में अधिक होती है तो विनिमय दर बढ़ जाती है तथा माँग के पूर्ति की तुलना मे कम होने की स्थिति में विनिमय दर में कमी हो जाती है। अल्पकाल में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन होते रहने के कारण विदेशी विनिमय दर में भी उच्चावचन होते रहते हैं। विदेशी मुद्राओं की माँग तथा पूर्ति पर निम्नलिखित चार प्रमुख बातों का प्रभाव पड़ता है।

(i) **विदेशी व्यापार की स्थिति**—विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति देश के आयातों तथा निर्यातों की मात्रा पर निर्भर होती है। यदि किसी देश के निर्यात उस देश के आयातों की तुलना में अधिक होते हैं तो विदेशों में उस देश की मुद्रा की अधिक माँग होती है। फलस्वरूप विदेशो विनिमय दर उस देश के पक्ष में हो जाती है। यदि देश में कुल आयात कुल निर्यातों की तुलना में अधिक होने के कारण विदेशी मुद्रा की माँग विदेशी मुद्रा की पूर्ति की तुलना में अधिक होती है तो विदेशी विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाती है।

(ii) **सट्टे बाजार का प्रभाव**—सट्टा बाजार में विदेशी विनिमय हुण्डियों तथा विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। जब सट्टेबाज देशी मुद्रा के अवमूल्यन की आशा करके विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा में खरीदने लगते हैं तो विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाने से विदेशी विनिमय दर बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि सट्टेबाज विदेशी मुद्रा को बेचने लगते है तो विनिमय दर काफी कम हो जाती है। ऋणों के भुगतान तथा ऋणपत्रों के क्रय-विक्रय के कारण भी विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन हो जाते हैं।

(iii) **बैंकिग नीति**—विदेशी विनिमय दर पर देश की बैंकिग नीति का भी प्रभाव पड़ता है। बैंकिग नीति के प्रभाव बैंक दर में परिवर्तनों के द्वारा पड़ते हैं। बैंक दर में वृद्धि तथा कमी करके केन्द्रीय बैंक देश में पूँजी के आयात को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करके विदेशी विनिमय दर पर प्रभाव डाल सकती है। बैंक दर में वृद्धि हो जाने पर ब्याज की दर में भी वृद्धि हो जाती है और विदेशी निवेशकर्ता अधिक ब्याज आय प्राप्त करने की आशा से अपनी पूँजी का उस देश को निर्यात करना आरम्भ कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विदेश में देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और विदेशी विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। बैंक दर को कम करने का प्रभाव इसके विपरीत होता है।

(iv) **मध्यस्थों की क्रियाएँ**—जब हुण्डियों का संसार के वित्तीय केन्द्रों में सट्टेबाजी के उद्देश्य से क्रयविक्रय होने लगता है तो इन क्रियाओं को मध्यस्थों की क्रियाएँ कहते है। इन क्रियाओं

का भी विदेशी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। मानलीजिये कि बम्बई में स्टर्लिंग का मूल्य १८½ पैंस प्रति रुपया और लन्दन में १९½ पैंस प्रति रुपया है। यदि कोई बैंक (अथवा व्यक्ति) तार द्वारा लन्दन में १९½ पैंस प्रति रुपया की दर पर विदेशी विनिमय को खरीद ले और तत्काल बम्बई में इसे १८½ पैंस प्रति रुपया की दर पर बेच दे तो उसे १ पैंस प्रति रुपया लाभ प्राप्त होगा। मध्यस्थों की इन क्रियाओं से लन्दन में स्टर्लिंग की माँग इसकी पूर्ति से अधिक और बम्बई में स्टर्लिंग की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो जायेगी। फलस्वरूप लन्दन में १ रुपये के बदले कम पैंस और बम्बई में १ रुपये के बदले अधिक पैंस मिलने लगेंगे, अर्थात् भारत में विदेशी विनिमय दर अधिक और इंगलैंड में कम हो जावेगी।

(v) **मुद्रा स्थिति**—मुद्रा की क्रयशक्ति में परिवर्तनों का भी विदेशी विनिमय दर में उच्चावचनों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि दो देशों की मुद्रा इकाइयों की क्रयशक्ति में सापेक्ष परिवर्तनों के कारण विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं। यदि किसी देश की मुद्रा का अत्यधिक प्रचालन होता है अथवा होने की सम्भावना है, जिसके कारण उस मुद्रा का मूल्य-ह्रास होने का भय है तो देश में विदेशी पूँजी का आयात नहीं होगा और पहले से लगाई गई विदेशी पूँजी को भी देश से बाहर निकालने का प्रयत्न किया जायगा। ऐसी दशा में लोग उस मुद्रा से दूर भागते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य कम हो जायगा। इसके अतिरिक्त यदि किसी कारण किसी देश की मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती है तो विदेशी विनिमय दर देश के अनुकूल हो जाती है।

(vi) **राजनीतिक स्थिति**—विदेशी विनिमय सम्बन्धी सट्टा तथा विदेशी पूँजी का अन्तरण एक बड़े अंश तक देश की सरकार की राजनीतिक नीति और उसके राजनीतिक दृष्टिकोण पर निर्भर होते हैं। यदि देश की सरकार स्थाई है, देश में शांति और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है, व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा की जाती है, सरकारी नीति निष्पक्ष है तथा श्रमिकों और मिल-मालिकों के सम्बन्ध अच्छे हैं तो विदेशियों द्वारा इस देश में अपनी पूँजी का निवेश करना, इस देश के साथ व्यवसाय करना और इस देश की साख पर विश्वास करना अधिक विस्तृत रूप में पाया जायगा। ऐसी दशा में विदेशी विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत यदि देश की सरकार अस्थायी है तथा देश में आन्तरिक अशान्ति तथा बाह्य आक्रमण का भय है तो विदेशी निवेशकर्ता देश मे अपनी पूँजी का निवेश नहीं करेंगे तथा इस देश की साख पर अधिक विश्वास न होने के कारण विनिमय दर इस देश के प्रतिकूल हो जावेगी।

वायदा विनिमय दर

विदेशी विनिमय दर तैयार विनिमय दर (spot exchange rate) तथा वायदा विनिमय दर (forward exchange rate) दो प्रकार की होती है। कागजी मुद्रा प्रणाली में विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं होती है। फलस्वरूप विदेशी विनिमय दर अस्थिर रहती है। भविष्य में विदेशी विनिमय दर क्या होगी इसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। भविष्य में विदेशी विनिमय दर अनिश्चित होने के कारण देश में आयातकर्ताओं को विदेशों से वस्तुओं का आयात करने तथा उनको वस्तुओं का निर्यात करने का वायदा करने में संकोच होता है क्योंकि विदेशी विनिमय दर की अनिश्चितता के कारण हानि होने का भय बना रहता है। परन्तु वर्तमान व्यावसायिक जगत में निर्यातकर्ता तथा आयातकर्ता विदेशी विनिमय बाजार में वायदा विनिमय को बेचकर अथवा खरीद कर विदेशी विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाली जोखिम से बच सकते हैं।

जब कोई आयातकर्ता अथवा निर्यातकर्ता भविष्य में वस्तुओं को खरीदने अथवा बेचने का वायदा करता है तो इस वायदे के साथ ही वह पेशबन्दी संविदा (Hedging contact) भी कर लेता है जिसमें वह भविष्य तिथि को वर्तमान विनिमय दर पर विदेशी विनिमय खरीदने अथवा बेचने का किसी सट्टेबाज से वायदा ले लेता है। ऐसा करके आयातकर्ता तथा निर्यातकर्ता स्वयं को भविष्य में विदेशी विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनों से सुरक्षित कर लेते है। जब भविष्य में विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं तो इन परिवर्तनों का प्रभाव आयातकर्ता तथा निर्यातकर्ता पर न पड़कर सट्टेबाजों पर पड़ता है क्योंकि व्यापारी को वायदे के अनुसार पूर्व-निर्धारित दर पर विदेशी विनिमय प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार भविष्य में विदेशी विनिमय का क्रयविक्रय करने की क्रिया को 'वायदा विनिमय' कहते हैं। विदेशी व्यापार के क्षेत्र में इसका भारी महत्व है। एक सुसंगठित वायदा विदेशी विनिमय बाजार विदेशी विनिमय दर से सम्बन्धित अनिश्चितता को समाप्त कर देता है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय दर के उच्चावचनों पर भी इसका काफी प्रभाव पड़ता है। जब भविष्य में विनिमय दर में वृद्धि होने की आशा होती है तो विदेशी विनिमय की खरीद वर्तमान में आरम्भ हो जाती है तथा वायदा विनिमय दर में वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय दर में भविष्य में अकस्मात परिवर्तन नहीं होने पाते हैं। इसके विपरीत यदि विदेशी विनिमय दर में भविष्य में कमी होने की आशा होती है तो वर्तमान में विदेशी विनिमय को अधिक मात्रा में बेचा जाने के कारण इसमें भविष्य में अकस्मात कमी नहीं होती है। इस प्रकार विदेशी विनिमय दर में उच्चावचनों की गति नियमित हो जाती है। वायदा विदेशी विनिमय दर का वर्तमान विदेशी विनिमय दर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है क्योंकि वायदा विनिमय दर तैयार विनिमय दर पर आधारित होती है।

अध्ययन सूची

1. P. T. Ellsworth — International Economy (Revised), Chapters 15 and 16.
2. Norman Crump — The ABC of Foreign Exchanges.
3. Frank A. Southard Jr. — Foreign Exchange Practice and Policy (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York, 1940).
4. A. C. Whittaker — Foreign Exchange (2nd edition.), Chapters V; XI-XVI; XX-XXIII.
5. Gottfried von Haberler — The Theory of International Trade, Chapter IV.
6. Geoffrey Crowther — An Outline of Money, Chapter VII.
7. J. M. Keynes — A Tract on Monetary Reform (1923), Chapter III.
8. Jacob Viner — Studies in the Theory of International Trade, pp. 377-387.
9. Milton Friedman — Essays in Positive Economics, pp. 157-204.

प्रश्न

1. Explain briefly the purchasing power parity theory of foreign exchange. How does it differ from the classical theory of foreign exchange ?
2. Examine critically the purchasing power parity theory of foreign exchange. How far it is a practical guide in fixing the exchange value of a country's currency ?
3. Distinguish between different meanings of 'balance of payment.' Discuss its economic importance.
4. Discuss the various factors which cause fluctuations in the rate of foreign exchange.

२६

विनिमय नियन्त्रण
(Exchange Control)

प्रथम महायुद्ध की अवधि (१९१४-१८) में संसार के लगभग सभी देशों, विशेषरूप से जर्मनी तथा इटली, में सरकार का आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण बढ़ गया था। यह नियन्त्रण युद्ध-पश्चात् काल में और अधिक हो गया था। आरम्भ मे इस नियन्त्रण—विनिमय नियंत्रण—का लक्ष्य समाजवादियों तथा तानाशाहों द्वारा संसार के कुछ देशों में सरकार की राजनीतिक तथा आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने के उद्देश्य से पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतियों पर पूर्ण नियन्त्रण करना था।[1] परन्तु कुछ समय पश्चात सभी देश विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करने लग गये थे। यद्यपि १९२६ ई० तक विनिमय नियन्त्रण की रीति काफी मात्रा में विद्यमान रही थी परन्तु १९२६ ई० के पश्चात् कुछ देशों ने विनिमय नियन्त्रण को समाप्त करके पूँजी के अंतरण पर प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया था। दुर्भाग्यवश १९३१ ई० के महान् आर्थिक संकट ने देशों को विनिमय नियन्त्रण की रीति का पुन: प्रयोग करने के लिए उत्साह प्रदान किया था। महान् मन्दी के संकट के परिणामस्वरूप मध्य तथा पूरबी यूरोप के ऋणी देशों की सरकारों ने अपने विदेशी भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे क्योंकि इन देशों के पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण का अभाव था। जर्मनी मे सर्वप्रथम १९३४ ई० में डाक्टर हाल्मर शेट (Hjalmar Schacht) ने जर्मनी को युद्ध की तैयारी करने योग्य बनाने के उद्देश्य से विनिमय नियंत्रण को लागू किया था। तीसा के आर्थिक संकट के पश्चात् १९३९ ई० में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर विनिमय नियंत्रण सभी देशो की आर्थिक नीतियों का अंग बन गया था।

विनिमय नियंत्रण विदेशी विनिमय के क्षेत्र में किये गये उस सरकारी हस्तक्षेप को कहते है जिसके द्वारा सरकार पूँजी की गतियों तथा विदेशी विनिमय के लेनदेन पर किसी निर्धारित आर्थिक तथा राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के हेतु प्रतिबन्ध लगाती है। हेबरलर के अनुसार "विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों के अबाध कार्य पर राजकीय नियमन स्थापित करने को विनिमय नियंत्रण कहते हैं।"[2] विनिमय नियंत्रण का उद्देश्य देश में विदेशी विनिमय

1. Paul Einzig : *Exchange Control*, p. 8.
2. G. V. Haberler : *The Theory of International Trade*, p. 83.

बाजार पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करना होता है। विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत देश मे सभी निर्यातकर्ताओं को निर्यातों द्वारा प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय का सरकारी विनिमय नियंत्रण अधिकारियों को देश की मुद्रा के बदले बेचना पड़ता है। विदेशी विनिमय के अपवंचन को समाप्त करने के उद्देश्य से निर्यातों पर रोक लगा दी जाती है और निर्यातकर्ता केवल सरकार द्वारा नियुक्त निर्यात नियंत्रक के कार्यालय से निर्यात लाइसेन्स प्राप्त करने के पश्चात् विदेशों को वस्तुओं का निर्यात कर सकते है। सरकार को निर्यातों द्वारा प्राप्त हुये कुल विदेशी विनिमय का राष्ट्रीय महत्व के अनुसार आयातकर्ताओं के मध्य वितरण कर दिया जाता है। पूँजी के निर्यात पर रोक लगा दी जाती है तथा विदेशियों को ब्याज व विदेशी ऋणों के मूलधन के भुगतानों की राशि सीमित कर दी जाती है। केवल उन वस्तुओं को आयात करने की आज्ञा दी जाती है जो सरकार द्वारा आर्थिक विकास तथा अन्य राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के लिये आवश्यक विचारी जाती है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

सरकार द्वारा विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपनाने के अनेक उद्देश्य होते है। जर्मनी में विनिमय नियन्त्रण को अनेक विधियों को अपनाने का एकमात्र लक्ष्य जर्मनी को युद्ध के लिये तैयार करना था। नाजी सरकार ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु अनेक साधन अपनाये थे। विनिमय नियंत्रण का प्रथम उद्देश्य पूँजी को देश से बाहर जाने से रोकना होता है। जब देश मे लोग भारी मात्रा में पूँजी का विदेशो को अन्तरण करने के उद्देश्य से इसे विदेशी मुद्राओं में परिवर्तन करने लगते है तो सरकार के सीमित विदेशी विनिमय तथा स्वर्ण कोषों पर भारी दबाव पडता है। पूँजी का अन्तरण इतने बड़े पैमाने पर होता है कि सरकार के लिये पर्याप्त मात्रा मे विदेशी विनिमय को पूँजी के निर्यातकर्ताओं को उपलब्ध करना कठिन हो जाता है तथा विवश हो कर सरकार को पूँजी के निर्यात पर विदेशी विनिमय नियन्त्रण के माध्यम द्वारा प्रतिबन्ध लगाना पडता है।

विदेशी विनिमय नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य सरकार द्वारा पर्याप्त मात्रा में दुर्लभ विदेशी मुद्राओं का संचय करके विदेशो से राष्ट्रीय विकास के लिये आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करना होता है। १९३९ ई० मे युद्ध की घोषणा हो जाने पर योद्धा देशों में आवश्यक वस्तुओं को आयात करने के लिये विदेशी विनिमय को विनिमय नियन्त्रण के द्वारा सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया था।

तीसरे, युद्ध काल में देशों ने अपने शत्रु राष्ट्रो द्वारा क्रयशक्ति का उपयोग न किए जाने के उद्देश्य से भी विनिमय नियन्त्रण लागू किये थे। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा जर्मनी के समान कुछ देशो की सरकारो ने शत्रु राष्ट्रों के नागरिको की निवेश पूँजी के निर्यात पर रोक लगाकर उसे गतिहीन कर दिया था तथा शत्रु देशो के नागरिक इसका उपयोग नही कर सकते थे।

चौथे, सरकार विदेशी ऋणों तथा ऋणपत्रो के मूलधन तथा ब्याज का भुगतान करने के उद्देश्य से पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए विनिमय नियंत्रण की नीति को अपनाती है। उदाहरणार्थ, 'तीसा' की मन्दी मे यूरोप के ऋणी देशों ने अपने अल्पावधि विदेशी ऋणों का भुगतान करने के उद्देश्य से विदेशी विनिमय नियंत्रण को अपनाया था।

पाँचवे, देश की मुद्रा इकाई तथा विदेशी मुद्राओ के मूल्यो के मध्य स्थिरता स्थापित करने के उद्देश्य से भी विदेशी विनिमय नियन्त्रण को अपनाया जाता है। उदाहरणार्थ, स्टर्लिग क्षेत्र के

सदस्यों ने १९३१ ई० में इंगलैण्ड द्वारा स्वर्णमान का परित्याग करने के पश्चात् अपनी मुद्राओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध को स्थिर बनाये रखने के लिए विनिमय नियन्त्रण को अपनाया था।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त सरकार अन्य कारणों से भी विदेशी विनिमय नियन्त्रण को अपनाती है। मुद्रा इकाई का अधिमूल्यन करके आवश्यक कच्चे माल तथा अन्य वस्तुओं को विदेशों से कम मूल्य पर प्राप्त करने के उद्देश्य से भी विनिमय विदेशी नियन्त्रण को अपनाया जा सकता है। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा देश की मुद्रा इकाई का अधिमूल्यन करके विदेशी ऋणों के भुगतानों के भार को कम किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जर्मनी, हँगरी, आस्ट्रिया इत्यादि मध्य यूरोप के देशो ने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अपने विदेशी ऋणों के भुगतान के भार को कम करने के उद्देश्य से बिदेशी विनिमय नियन्त्रण द्वारा देश मे अपनी मुद्रा इकाइयों का अधिमूल्यन किया था। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा अपनी मुद्रा इकाई का विदेशी मूल्य कम करके देश अपने निर्यातों में वृद्धि करके भुगतान-शेष को अपने अनुकूल कर सकता है। तीसा के काल में यूरोप के अनेक देशों ने विनिमय नियन्त्रण के द्वारा अपनी मुद्रा इकाईयों का मूल्यह्रास करके अपने निर्यातों को अधिक तथा आयातों को कम करने का प्रयत्न किया था। विदेशी विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य विनिमय दर में उच्चावचनों को समाप्त अथवा कम करना भी होता है। उदाहरणार्थ इंगलैण्ड ने १९३२ ई० से लेकर १९३९ ई० तक विनिमय समानीकरण कोष की रीति के द्वारा विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया था। परन्तु इस रीति के द्वारा केवल उन अस्थाई उच्चावचनों को जो सट्टेबाजों की क्रियाओं के कारण उत्पन्न हो जाते है रोका जा सकता है, स्थाई प्रकार के उच्चावचनों को नहीं।

विनिमय नियन्त्रण की विधियाँ

विनिमय नियन्त्रण की भिन्न विधियों को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्यक्ष विधियो को साधारणतया हम दो भागों मे बाँट सकते है। इनमे से प्रथम को हस्तक्षेप (intervention) तथा दूसरी विधि को विनिमय प्रतिबन्ध (exchange restriction) कहते है। हस्तक्षेप के द्वारा विनिमय नियन्त्रण का उपयोग—मुद्रा का अधिमूल्यन अथवा अवमूल्यन—विदेशी विनिमय दर में स्थिरता स्थापित करने के उद्देश्य से किया जाता है। इसकी सफलता के लिए मुद्रा नियन्त्रक के पास पर्याप्त मात्रा मे देशी मुद्रा, विदेशी मुद्रा अथवा स्वर्ण होना चाहिए जिससे कि विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति में आवश्यकतानुसार समायोजन करना सम्भव हो सके। हस्तक्षेप की विधि की विशेषता इसकी सरलता है। इंगलैंड ने १९३१ ई० में स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् इस विधि के द्वारा विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया था। विदेशी विनिमय दर को एक निश्चित दर पर स्थिर रखने के उद्देश्य से सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक उस निश्चित विनिमय दर पर विदेशी विनिमय बाजार में देशी तथा विदेशी मुद्राओं को असीमित मात्रा में क्रयविक्रय करती है। इस प्रकार विदेशी विनिमय दर को एक निश्चित दर पर स्थिर करने को विनिमय अधिकीलन (Exchange Pegging) कहते हैं। जब वास्तविक विनिमय दर को प्राकृतिक से नीची दर पर स्थिर किया जाता है तो यह 'नीचे अधिकीलन' (pegging down) करना कहलाता है। इसके विपरीत विनिमय दर का 'ऊपर अधिकीलन' (pegging up) करके विनिमय दर को प्राकृतिक से अधिक दर पर स्थिर किया जाता है। १९१४-१८ ई० के युद्ध-काल में पौंड-स्टर्लिंग का ४.८६६५ अमरीकी डालर की दर पर अधिकीलन करके इंगलैंड में मुद्रा इकाई का अधिमूल्यन किया गया था क्योंकि १९१९ ई० में सरकारी हस्तक्षेप के समाप्त होने के तुरन्त पश्चात पौंड-स्टर्लिंग का डालर मूल्य ४.८६५ डालर से गिरकर केवल

३·४० डालर रह गया था। इसी प्रकार १९३३ ई० मे न्यूजीलैंड की सरकार ने अपनी मुद्रा न्यूजीलैंड पौंड की स्टर्लिंग विनिमय दर £N.Z. १२५=£१०० निर्धारित करके देश के निर्यातों मे वृद्धि करने के उद्देश्य से अवमूल्यन किया था। जब सरकार हस्तक्षेप के द्वारा देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य को अबाध विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होने वाली दर—बाह्य मूल्य—से अधिक दर पर स्थिर करना चाहती है तो यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब सरकार विदेशी विनिमय बाजार में इस निर्धारित दर पर देशी मुद्रा के बदले में पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा को बेचने के लिये तैयार रहती है। वह सरकार जो अपनी मुद्रा इकाई का ऊपर अधिकीलन करती है निर्धारित दर पर विदेशी मुद्राओं को असीमित मात्रा मे बेचने के लिये सदा तैयार रहनी चाहिए। इसके विपरीत मुद्रा के विदेशी मूल्य का नीचे अधिकीलन करने की स्थिति मे सरकार को निर्धारित विनिमय दर पर पर्याप्त मात्रा मे देशी मुद्रा को विदेशी मुद्राओ के बदले मे बेचने के लिये तैयार रहना चाहिये।[3] हस्तक्षेप के द्वारा मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य का ऊपर अधिकीलन करने की अपेक्षाकृत इसके बाह्य मूल्य का नीचे की ओर अधिकीलन करना अधिक सरल है क्योंकि सरकार विदेशी मुद्रा की अपेक्षाकृत देशी मुद्रा को अधिक मात्रा मे बेचकर विदेशी विनिमय दर को स्थिर रख सकती है। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर सरकार द्वारा देशी मुद्रा की पूर्ति को नये नोटों का प्रचालन करके बढ़ाया जा सकता है परन्तु विदेशी मुद्रा की मात्रा को विदेशी विनिमय कोषो की कुल मात्रा से अधिक नही किया जा सकता है। इसलिये जबकि देशी मुद्रा को बेचने में सरकार की शक्ति असीमित होती है, विदेशी मुद्राओं को बेचने मे यह शक्ति सरकार के पास उपलब्ध विदेशी विनिमय कोषो की मात्रा द्वारा सीमित होती है।

विनिमय प्रतिबन्ध

विनिमय प्रतिबन्ध की रीति में मुद्रा अधिकारियों की वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित होती है जिनके द्वारा विदेशी विनिमय बाजार मे विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति पर प्रभाव डालने के उद्देश्य से विदेशी विनिमय लेनदेन की अबाधता प्रतिबन्धित की जाती है। विनिमय नियन्त्रण की इस रीति का आरम्भ हस्तक्षेप के द्वारा निर्धारित उद्देश्य को प्राप्त करने मे पूर्ण सफलता प्राप्त न होने के कारण हुआ था। विनिमय प्रतिबन्ध एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष तथा सार्थक रीति है। सर्वप्रथम इस प्रणाली को १९३१ ई० मे जर्मनी मे अपनाया गया था। जर्मनी के पश्चात् अर्जेन्टाइना तथा मध्य यूरोप के अन्य देशो ने भी इस रीति को अपनाया था। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर १९३९ ई० के पश्चात् फ्रांस, इंगलैंड, भारत तथा अन्य देशो ने अपनी युद्धकालीन अर्थव्यवस्था को दृढ़ बनाये रखने के उद्देश्य से इस रीति का काफी प्रयोग किया था। विनिमय प्रतिबन्ध की रीति के अन्तर्गत सरकार विनिमय बाजार मे देशी मुद्रा की पूर्ति को सीमित कर देती है। इस प्रकार देशी मुद्रा की पूर्ति को कम करके उसके विदेशी मूल्य को ऊँचा रखा जाता है। विनिमय प्रतिबन्ध की रीति मे निम्नलिखित तीन विशेषताये होती है।

(i) प्रथम, सरकार विदेशी विनिमय के व्यापार का स्वयं के पास केन्द्रीयकरण कर लेती है। इसका अर्थ यह है कि विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति तथा संस्था नहीं कर सकती है। सरकार को विदेशी विनिमय बाजार में पूर्ण एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

---

3 Geoffrey Crowther : *An Outline of Money*, p. 249.

(ii) दूसरे, विदेशी विनिमय को प्राप्त करने के पूर्व लोगों को सरकार की आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती है।

(iii) तीसरे, सरकार की आज्ञा के बिना कोई भी व्यक्ति विदेशी विनिमय में लेनदेन नही कर सकता है।

जर्मनी में विनिमय प्रतिबन्ध सम्बन्धी नियमों का पालन न करने का दण्ड मृत्यु था। इंगलैंड ने २१ सितम्बर, १६३९ ई० को विदेशी विनिमय बाजार में पूर्ण राजकीय विनिमय प्रतिबन्ध स्थापित कर दिया था। सरकार के आदेशानुसार प्रत्येक व्यक्ति को स्वर्ण तथा विदेशी मुद्राओं को सरकार द्वारा निर्धारित विनिमय दर पर देशी मुद्रा के बदले में सरकार को बेचना पड़ता था। विनिमय प्रतिबन्ध के नियमों में कड़ी जांच के पश्चात् ही छूट दी जाती थी। किसी भी व्यक्ति को विदेश जाते समय अपने साथ राज्य द्वारा निर्धारित निश्चित मात्रा से अधिक विदेशी विनिमय को ले जाने का अधिकार प्राप्त नहीं था। देश मे रहने वाले प्रत्येक नागरिक को विदेशों से प्राप्त हुई विदेशी मुद्रा को अनिवार्यत: बैंक ऑफ इंगलैंड को बेचना पड़ता था।

विनिमय प्रतिबन्ध के कई प्रकार होते है और प्रत्येक प्रकार दूसरों से कठोरता में भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, बहु विनिमय दर (multiple exchange rates); निरुद्ध खाते (blocked accounts) इत्यादि विनिमय प्रतिबन्ध की रीति के भिन्न रूप हैं। अवरुद्ध खातों का प्रयोग १९३१ ई० के महान् आर्थिक संकट के काल में ऋणी देशों ने, जिनमें जर्मनी का नाम उल्लेखयीय है, अपने ऋणदाता देशों के ऋणों के भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगाने के उद्देश्य से किया था। केन्द्रीय यूरोप के छोटे-छोटे ऋणी देशों में आर्थिक संकट के समय अल्पावधि विदेशी ऋणों के भुगतानों की अकस्मात समस्या उत्पन्न हो जाने के उपरान्त इन देशों की सरकारों को, जिनके पास विदेशी विनिमय तथा स्वर्ण के सीमित कोष थे, विदेशी ऋणों के भुगतानों तथा विदेशी पूँजी के निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इन देशों के ऋणी अपने विदेशी ऋणों का भुगतान देशी मुद्रा में देश की केन्द्रीय बैंक को कर देते थे। केन्द्रीय बैंक में इस भुगतान को विदेशी देश के नाम में स्थापित एक खाते में जमा कर लिया जाता था। इस खाते में जमा हुई राशि का भुगतान विदेशी ऋणदाताओं को न करके इसको अवरुद्ध कर दिया जाता था। अवरुद्ध खातों की रीति का प्रयोग होने के कारण विदेशी ऋणदाताओं को भारी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता था क्योंकि वे अपनी पूँजी राशि का किसी भी कार्य के लिए अन्य विदेशी देश में उपयोग नहीं कर सकते थे। जर्मनी से जो यहूदी हिटलर के अत्याचारों से डरकर लन्दन भाग आये थे तथा जो जर्मनी में करोड़ों मार्क की भारी पूँजी को छोड़ आये थे उनको लन्दन में अनेक आर्थिक कठिनाइयों को सहन करना पड़ा था क्योंकि जर्मनी में अवरुद्ध खातों की प्रथा प्रचलित होने के कारण वे अपनी पूँजी को लन्दन नहीं ला सकते थे। अवरुद्ध खातों की रीति के प्रयोग के कारण जर्मनी, अर्जेन्टाइना इत्यादि देशों को निर्यात करने वाले विदेशी निर्यातकर्ताओं को भारी हानि का अनुभव करना पड़ा था।

बहु विनिमय दरें (Multiple Exchange Rates)

बहु विनिमय दरों का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी में किया गया था। नाजी जर्मनी में १९३३-४५ ई० के काल मे बहु विनिमय दरों का अत्यधिक विकास हुआ था। यद्यपि नाजी सरकार का यह कहना था कि जर्मन मार्क का मूल्य ४० सेंट था परन्तु जर्मनी में इस काल में इतन अधिक संख्या में बहु विनिमय दरें विद्यमान थीं कि इस रीति के निर्माता डाक्टर हालमर भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते थे कि कितनी भिन्न विनिमय दरों के द्वाराजनअर्थमंशेट-

व्यवस्था के आयातों तथा निर्यातों का नियमन किया जा रहा था। अनुमान यह है कि नाजी सरकार ने डालर, स्टर्लिंग, लीरा तथा अन्य विदेशी मुद्राओं के सम्बन्ध में जर्मन मार्क की लगभग ६० भिन्न विनिमय दरें निर्धारित कर रखी थीं। तत्पश्चात दक्षिण अमरीका में चिली, अर्जेन्टाइना ब्राजील, पीरू, इक्वेडर तथा अन्य देशों में भी बहु विनिमय दर रीति को अपनाया गया था। इस रीति के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के आयातो तथा निर्यातों के लिये भिन्न विदेशी विनिमय दरें निर्धारित की गई थी। आयातों तथा निर्यातों के लिये बहु विनिमय दरों को निर्धारित करने का मुख्य उद्देश्य दोमुखी था। प्रथम, निर्यातों के लिये नीची विनिमय दर निर्धारित करके निर्यातों को अधिकतम प्रोत्साहन देकर दुर्लभ विदेशी विनिमय को अधिकतम मात्रा में प्राप्त करना था। दूसरे, ऊँची विनिमय दर निर्धारित करके अनावश्यक आयातों की मात्रा को कम करना तथा आवश्यक वस्तुओं को विदेशों से कम मूल्यों पर प्राप्त करना था। जर्मनी में इस उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करने के लिये Travelmark; Askimark; Registermark; Blockmark; Sondermark; Handelmark; Degomark; Effektensperrmark इत्यादि जिनका स्टर्लिंग मूल्य २ पैंस से लेकर १ शिलिंग ९ पैंस तक था संचलन में थे। अर्जेन्टाइना में भी यह रीति काफी समय तक विद्यमान थी। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर लगभग ४० देशों मे बहुविनिमय दर रीति विद्यमान थी।

बहु विनिमय दरें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग तथा सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास मे बाधक सिद्ध होती है। बहु विनिमय दर रीति के द्वारा यद्यपि देश आवश्यक वस्तुओं को विदेशों से सस्ती कीमत पर आयात करने में सफल हो जाता है परन्तु इस रीति का प्रभाव देश की अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास पर बहुत खराब पड़ता है। इस सम्बन्ध मे हमे चिली तथा पीरू के उदाहरण प्राप्त है जहाँ बहु विनिमय दरों का प्रयोग होने के कारण इन देशों को अर्थव्यवस्थाओं के सन्तुलित विकास को गहरी हानि पहुँची है। इन दोनों देशों मे बहु विनिमय दरों के द्वारा आवश्यक खाद्य पदार्थों को सस्ते मूल्यों पर विदेशो से आयात करने का यह परिणाम हुआ कि चिली की कृषि अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास मे भारी बाधाएँ उत्पन्न हो गईं। यद्यपि १९३० ई० में चिली कृषि वस्तुओं का विदेशों को भारी मात्रा मे निर्यात करता था परन्तु १९४० ई० के लगभग बहु विनिमय दरों का प्रयोग करने के कारण उन्ही वस्तुओं का यह देश विदेशो से आयात कर रहा था। दूसरे शब्दों में, बहु विनिमय दरों के प्रभाव के कारण केवल दस वर्ष के अल्पकाल में चिली कृषि वस्तुओं का निर्यातकर्त्ता देश होने के स्थान पर कृषि वस्तुओं के आयातकर्त्ता देश की स्थिति को प्राप्त हो गया तथा देश की अर्थव्यवस्था विदेशियों की दया पर आश्रित हो गई। यही दशा पीरू तथा इक्वेडर की भी हुई। चिली, पीरू तथा इक्वेडर के अनुभव से यह भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि बहु विनिमय दरों के द्वारा देश को अल्पकाल में सस्ते आयात प्राप्त करके लाभ प्राप्त हो सकता है परन्तु यह रीति देश के दीर्घकालीन आर्थिक हितों के लिये हानिकारक होती है।

विनिमय समाशोधन समझौते (Exchange Clearing Agreements)

विनिमय समाशोधन समझौतों का प्रयोग अन्तरमहायुद्ध की अवधि में, विशेषकर 'तीसा' की महान मन्दी के समय, निर्यातों को प्रोत्साहन प्रदान करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आकार में वृद्धि करने के उद्देश्य से किया गया था। विनिमय समाशोधन समझौतों के अनुसार दो देश इस प्रकार का आपसी समझौता करते है कि प्रत्येक देश की सरकार अपने निर्यातकर्ताओं को अपनी मुद्रा में उन कोषों से भुगतान करना तय कर लेती है जो इसे देश के आयातकर्ताओं से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार का समझौता करने पर समझौता करने वाले प्रत्येक देश की सरकार

को आयात करने के लिये विदेशी विनिमय सम्बन्धी चिन्ता नही रहती है और विदेशी विनिमय के बिना आयातों तथा निर्यातों का भुगतान सम्भव हो जाता है। इन समझौतों के द्वारा विदेशी विनिमय बाजार का साधारण कार्यवाहन पूर्णतया स्थगित हो जाता है। इन समझौतों के द्वारा दो देशों के विदेशी व्यापार—आयातों तथा निर्यातों—में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार साधारण वस्तु विनिमय प्रथा का रूप धारण कर लेता है। विनिमय नियन्त्रण की अन्य रीतियों के समान विनिमय समाशोधन समझौतों का आरम्भ भी तीसा के आर्थिक संकट के काल में सर्वप्रथम जर्मनी में हुआ था।

कार्य विधि

विनिमय समाशोधन समझौतों में देश के निर्यातकर्ताओं को विदेशों से प्राप्त होने वाले कुल भुगतानों तथा देश के आयातकर्ताओं को विदेशियों को किये जाने वाले कुल भुगतानों को सन्तुलन में रखने का कार्य दोनों देशों की केन्द्रीय बैंकों का होता है। इस कार्य को दोनों देशों की केन्द्रीय बैंक अपने पास एक दूसरे के नाम का खाता खोलकर करती है। उदाहरणार्थ, **अ** और **ब** दो देशों ने विनिमय समाशोधन समझौते की रीति को अपने आपसी विदेशी व्यापार का विकास करने के उद्देश्य से अपनाया है। **अ** देश की केन्द्रीय बैंक अपने पास **ब** देश की केन्द्रीय बैंक के नाम का खाता खोल लेती है। इसी प्रकार **ब** देश की केन्द्रीय बैंक अपनी बही में **अ** देश की केन्द्रीय बैंक के नाम का खाता खोल लेती है। **ब** में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने **अ** से आयात किये है तथा कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जिन्होंने **अ** को वस्तुओं का निर्यात किया है। एक देश के आयातकर्ता दूसरे देश के ऋणी होते है क्योंकि उनको दूसरे देश के निर्यातकर्ताओं को भुगतान करना होता है। परन्तु उस देश के निर्यातकर्ता दूसरे देश के ऋणदाता होते हैं क्योंकि उन को दूसरे देश के आयातकर्ताओं से भुगतान प्राप्त करना होता है। इसलिए **अ** देश में कुछ व्यक्ति ऐसे होंगे जो **ब** देश के ऋणी होंगे तथा कुछ अन्य ऐसे व्यक्ति होगे जो ब देश के ऋणदाता होंगे अर्थात जिनको **ब** देश के लोगो से भुगतान प्राप्त करना है। **अ** देश मे जिन आयातकर्ताओं ने **ब** देश से वस्तुओं का आयात किया है वे अपने देश की केन्द्रीय बैंक में जाकर देशी मुद्रा में आयातों के मूल्य का भुगतान केन्द्रीय बैंक को चुका देते है। इसी प्रकार **अ** देश के वे लोग जिन्होंने **ब** देश को वस्तुओं का निर्यात किया है अपने देश की केन्द्रीय बैंक मे जाकर अपने कुल निर्यातों का देशी मुद्रा में भुगतान प्राप्त कर लेते है। ठीक इसी प्रकार ब देश में केन्द्रीय बैंक **अ** देश से आयात करने वालों से देशी मुद्रा मे कुल भुगतान प्राप्त कर लेती है तथा **अ** देश को निर्यात करने वालों को उनके निर्यातों के मूल्य का देशी मुद्रा में भुगतान कर देती है। इस प्रकार दोनों देश विदेशी विनिमय की समस्या को समाप्त करके आपस में एक दूसरे से वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करने मे सफल हो जाते है।

विनिमय समाशोधन समझौते वाले देशों में आयातकर्ता अपने आयातों के मूल्य को देश की केन्द्रीय बैंक मे जमा करते हैं और इस धनराशि के द्वारा देश के निर्यातकर्ताओं को उनके निर्यातों के मूल्य का भुगतान किया जाता है। इस प्रकार इस रीति के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ठीक प्रकार से चलाने का कार्य केन्द्रीय बैंक के अधीन हो जाता है। इस रीति की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि देश के कुल आयातों का मूल्य इसके कुल निर्यातों के मूल्य के बराबर होना चाहिये क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता है अर्थात् यदि आयातों का मूल्य निर्यातों की अपेक्षाकृत अधिक अथवा कम होता है तो एक देश को दूसरे देश को विदेशी विनिमय का भुगतान करने अथवा दूसरे देश से विदेशी विनिमय का भुगतान प्राप्त करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

इसलिए विनिमय समाशोधन समझौते वाले देश अपने आयातों तथा निर्यातों के मूल्य को संतुलन में रखने का यथासम्भव प्रयत्न करते हैं।

विनिमय समाशोधन समझौते की विधि को एक वास्तविक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। १९२९ ई० में जर्मनी ने स्विट्जरलैण्ड को ६२७ मिलियन मार्क राशि के मूल्य की वस्तुओं का निर्यात तथा स्विट्जरलैण्ड से ३१८ मिलियन मार्क राशि के मूल्य की वस्तुओं का आयात किया था। इस प्रकार व्यापार-शेष स्विट्जरलैंड के प्रतिकूल तथा जर्मनी के अनुकूल था। परन्तु ऐसा होते हुये भी भुगतान-शेष स्विट्जरलैंड के पक्ष में था क्योंकि जर्मनी को स्विट्जरलैंड के पहाड़ों पर सैर करने जाने वाले जर्मन पर्यटकों द्वारा होने वाले खर्च तथा स्विस ऋणों पर ब्याज का भुगतान भी करना था। जर्मनी ने स्विट्जरलैंड के ऋणों पर ब्याज के भुगतान को निरुद्ध कर दिया। जर्मनी की इस कार्यवाही का स्विट्जरलैंड की सरकार ने बहुत अच्छी तरह से सामना किया तथा जर्मनी को अपने किये पर पश्चाताप करना पड़ा। स्विट्जरलैंड की सरकार ने एक कानून बनाकर देश के उन सभी नागरिकों को जिनको जर्मन नागरिकों को भुगतान करना था यह भुगतान जर्मनी को करने के स्थान पर स्विस नेशनल बैंक को करने का आदेश दिया। जर्मनी को भुगतान की जाने वाली इस बड़ी धनराशि को प्राप्त करके स्विट्जरलैंड की सरकार ने जर्मनी को यह धमकी दी कि जब तक जर्मनी स्विट्जरलैंड के ऋणों पर प्राप्त होने वाले ब्याज तथा स्विट्जरलैंड द्वारा जर्मन पर्यटकों पर किये गये व्यय का भुगतान नहीं करेगा तब तक जर्मनी को एक पाई का भी भुगतान नहीं किया जावेगा। स्विट्जरलैंड की यह धमकी अतिक्षमताशाली सिद्ध हुई क्योंकि स्विट्जरलैंड को भुगतान करने की तुलना में जर्मनी को स्विट्जरलैंड से भुगतान प्राप्त करने के रूप में अधिक धनराशि प्राप्त करनी थी। फलस्वरूप दोनों देशों में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार आपसी सभी भुगतान तय हुए। इस समझौते के अनुसार स्विट्जरलैंड के प्रत्येक उस नागरिक को जिसे जर्मन नागरिक को भुगतान करना था अब अपने जर्मन ऋणदाता को भुगतान करने के स्थान पर स्विस नेशनल बैंक को यह भुगतान करने का आदेश दिया गया। इस प्रकार प्राप्त हुई नकदी राशि में से उन स्विस नागरिकों को भुगतान किया जाता था जिनको जर्मनी से अपने ऋण का भुगतान प्राप्त करना था। इसी प्रकार जर्मनी में भी केन्द्रीय बैंक—रीचस बैंक—स्विट्जरलैंड के निमित्त जर्मन नागरिकों से भुगतान प्राप्त करती थी तथा जर्मन नागरिकों को स्विट्जरलैंड के निमित्त भुगतान करती थी। दोनों देशों की केन्द्रीय बैंक एक दूसरे को भुगतानों सम्बन्धी केवल सूचना देती थी।

हंगरी तथा फ्रांस के बीच हुए विनिमय समाशोधन समझौते के अनुसार फ्रांसीसी आयातकर्ता हंगरी से आयात की गई वस्तुओं का मूल्य फ्रैंकों में बैंक ऑफ फ्रांस के पास जमा कर देते थे और हंगरी के आयातकर्ता फ्रांस से आयात की गई वस्तुओं के मूल्य का भुगतान पेंगों में हंगेरियन सेन्ट्रल बैंक को करते थे। दोनों देशों की केन्द्रीय बैंक आयातकर्ताओं से प्राप्त हुई नकदी के द्वारा निर्यातकर्ताओं को भुगतान करती थीं। इस प्रकार विनिमय समाशोधन समझौतों के द्वारा दो देशों के बीच विदेशी विनिमय के बिना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव हो जाता था। इसके अतिरिक्त इस रीति के द्वारा पुराने ऋणों का भुगतान तथा इन ऋणों पर प्राप्त होने वाले ब्याज का भुगतान भी विनिमय समाशोधन समझौते वाले देशों के बीच सम्भव हो जाता था।

विनिमय समाशोधन समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों में आयातकर्ताओं द्वारा भुगतान करने तथा निर्यातकर्ताओं द्वारा भुगतान प्राप्त करने की प्रक्रिया को निम्नाङ्कित चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है।

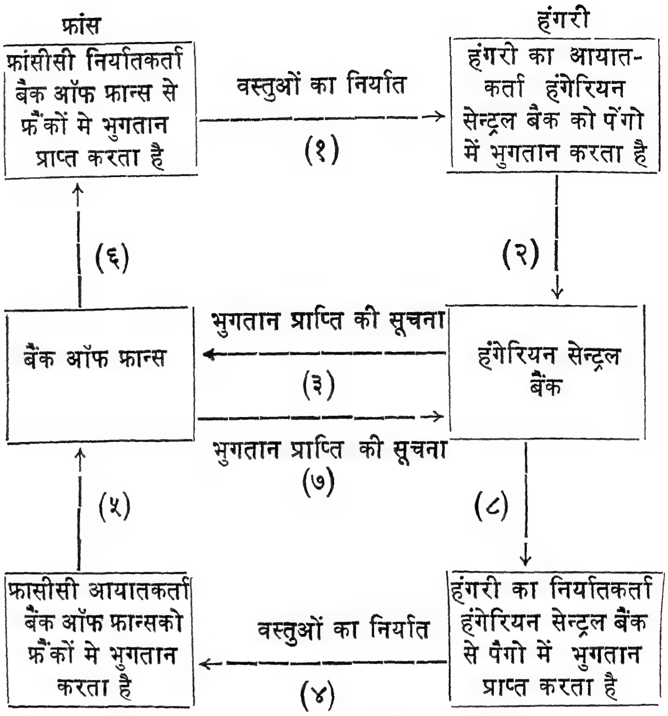

उपरोक्त चार्ट से ज्ञात होता है कि फ्रान्स तथा हंगरी के बीच समाशोधन समझौता हो जाने पर एक देश के निर्यातकर्ताओं को दूसरे देश के आयातकर्ताओं द्वारा भुगतान राष्ट्रीय मुद्राओं में केन्द्रीय बैंक के माध्यम द्वारा किये जाते है। उपरोक्त उदाहरण में फ्रांस तथा हंगरी की केन्द्रीय बैंक विनिमय समाशोधन एजेंसी का कार्य करती है। प्रत्येक देश की केन्द्रीय बैंक अपनी खाताबही मे दूसरे देश की केन्द्रीय बैंक के नाम में खाता खोल लेती है जिसमें आयातकर्ताओ से प्राप्त हुई नकदी राशि को जमा तथा निर्यातकर्ताओं को भुगतान की गई रकम को नाम लिख दिया जाता है। जब कोई आयातकर्ता अपने देश की केन्द्रीय बैंक के पास दूसरे देश के निर्यातकर्ता के नाम नकदी जमा करता है तो केन्द्रीय बैंक आयातकर्ता मे नकदी प्राप्त करने के पश्चात् दूसरे देश की केन्द्रीय बैंक को इसकी सूचना दे देती है। दूसरे देश की केन्द्रीय बैंक भी अपने देश के आयात-कर्ताओं से भुगतान प्राप्त होने पर पहले देश की केन्द्रीय बैंक को भुगतान प्राप्ति की सूचना देती है। प्रत्येक देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा आयातकर्ताओं से प्राप्त हुई नकदी के द्वारा देश के निर्यात-कर्ताओं को भुगतान किये जाते हैं।

उपरोक्त चार्ट में विनिमय समाशोधन समझौते की प्रक्रिया सर्वप्रथम फ्रांसीसी निर्यात-कर्ता द्वारा हंगरी को वस्तुओ का निर्यात करने के साथ आरम्भ होती है। हंगरी का आयातकर्ता अपने फ्रांसीसी निर्यातकर्ता को विदेशी विनिमय द्वारा भुगतान करने के स्थान पर अपने देश की केन्द्रीय बैंक को भुगतान करता है। हंगरी की केन्द्रीय बैंक इस भुगतान की सूचना फ्रांस की केन्द्रीय बैंक को देती है। परन्तु सूचना प्राप्त होने पर फ्रांस की केन्द्रीय बैंक फ्रांसीसी निर्यातकर्ताओं को तत्काल भुगतान नही करती है। फ्रांसीसी आयातकर्ता बैंक ऑफ फ्रांस मे हंगरी के निर्यात-कर्ताओं के पक्ष में भुगतान करते है। फ्रांसीसी आयातकर्ताओं से भुगतान प्राप्त होने के पश्चात् बैंक ऑफ फ्रांस फ्रांसीसी निर्यातकर्ताओं को भुगतान करती है। इस प्रकार फ्रांसीसी निर्यातकर्ताओं

को अपने निर्यातों का भुगतान प्राप्त करने के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक बैंक ऑफ फ्रांस को फ्रांसीसी आयातकर्ताओं द्वारा पर्याप्त राशि में भुगतान प्राप्त नहीं हो जाते हैं। कभी-कभी प्रतीक्षा का यह समय काफी लम्बा सिद्ध हो सकता है। यही परिस्थिति हंगरी में होगी।

विनिमय समाशोधन समझौतों के द्वारा दो देशों के मध्य विदेशी विनिमय के बिना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव हो जाता है। परन्तु इस रीति के कई दोष हैं। प्रथम, प्रत्येक देश में निर्यातकर्ताओं को अपने निर्यातों का भुगतान प्राप्त करने के लिए काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यह सम्भव है कि एक देश में यद्यपि आयातकर्ता ने केन्द्रीय बैंक को भुगतान कर दिया है परन्तु फिर भी उसके निर्यातकर्ता को दूसरे देश में यह भुगतान तत्काल प्राप्त न होकर कई महीनों की प्रतीक्षा के पश्चात प्राप्त होता है। दूसरे, इस रीति की सफलता के लिये सभी प्रकार के विदेशी भुगतानों का केन्द्रीयकरण करना आवश्यक होता है। तीसरे, दोनों देशों के कुल आयातों तथा कुल निर्यातों का मूल्य समान होना चाहिये क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो एक देश की केन्द्रीय बैंक के खाते में घाटे की तथा दूसरे देश को केन्द्रीय बैंक के खाते में बेशी की घटना उत्पन्न हो जावेगी तथा अधिक निर्यात करने वाले देश में कुछ निर्यातकर्ताओं को भुगतान प्राप्त नहीं हो सकेगा।

भुगतान समझौता (Payments Agreement)

विनिमय समाशोधन समझौते के दोषों को समाप्त करने के उद्देश्य से १९४५ ई० के पश्चात भुगतान समझौतों का श्रीगणेश किया गया था। विनिमय समाशोधन समझौतों के दो गम्भीर दोष ये थे कि प्रथम तो निर्यातकर्ताओं को भुगतान प्राप्त होने के पूर्व काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती थी तथा भुगतानों का केन्द्रीयकरण होने के कारण भुगतान केवल केन्द्रीय बैंक को ही किये जा सकते थे तथा केवल केन्द्रीय बैंक से ही प्राप्त किये जा सकते थे। इससे आयातकर्ताओं तथा निर्यातकर्ताओं को काफी असुविधाओं का अनुभव करना पड़ता था।

भुगतान समझौते के द्वारा विनिमय समाशोधन समझौतों के उपरोक्त दोनों दोष समाप्त हो गये। प्रथम, भुगतान समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों की केन्द्रीय बैंकों के मध्य हुए समझौते के अनुसार निर्यातकर्ताओं को केन्द्रीय बैंक द्वारा भुगतान प्राप्त होने की सूचना प्राप्त होने पर तुरन्त भुगतान हो जाता था। दूसरे, प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक ने वाणिज्य बैंकों को अपना अभिकर्ता नियुक्त करके विदेशी भुगतानों का विकेन्द्रीयकरण कर दिया था। इससे आयातकर्ताओं तथा निर्यातकर्ताओं को आयातों का भुगतान करने तथा निर्यातों का भुगतात प्राप्त करने में काफी सुविधा हो गई। बेलजियम तथा इंगलैण्ड के मध्य हुए भुगतान समझौते के अन्तर्गत नेशनल बैंक ऑफ बेलजियम ने बेलजियम में कुछ वाणिज्य बैंकों को स्टर्लिंग में 'बेलजियम खाते' तथा बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने कुछ वाणिज्य बैंकों को फ्रैंकों में 'इंगलैण्ड खाते' खोलने की आज्ञा दे दी थी। अन्त में दोनों देशों की केन्द्रीय बैंक कुल भुगतानों का आपस में समझौते की शर्तों के अनुसार निबटारा कर लिया करती थीं।

अन्तरण अधिस्थगन (Transfer Moratoria)

अन्तरण अधिस्थगन की रीति के अन्तर्गत ऋणी देशों द्वारा विदेशियों की परिसम्पत्ति अथवा पूँजी का भुगतान तत्काल न किया जाकर कुछ समय पश्चात् किया जाता है। दूसरे शब्दों में, विदेशी भुगतानों की समस्या को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है। सरकार द्वारा देश के आयातकर्ताओं को अपने ऋणों का भुगतान देशी मुद्रा में किसी अधिकृत बैंक में जमा करने

का आदेश दिया जाता है। इस जमा हुई धन राशि को सुरक्षित रखा जाता है तथा एक निश्चित अवधि के पश्चात् इसका भुगतान विदेशियों को कर दिया जाता है। अधिस्थगन काल की समाप्ति पर यह धनराशि विदेशियों को भेज दी जाती है। अधिस्थगन काल की अवधि में देश की सरकार को विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक समायोजन करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। यद्यपि इस रीति में साधारणतया विदेशियों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है कि विदेशी इस प्राप्त धनराशि का किसी विशेष प्रकार उपयोग करेंगे परन्तु कभी कभी इस प्रकार की भी शर्त लगा दी जाती है।

यथास्थिर समझौता (Standstill Agreement)

यथास्थिर समझौतों का प्रयोग तीसा के आर्थिक संकट के तुरन्त पश्चात् जर्मनी द्वारा किया गया था। इस रीति के अन्तर्गत समझौता पक्ष वाले देशों के मध्य पूँजी के अन्तरण पर रोक लगा दी जाती है और विदेशी ऋणों का भुगतान तत्काल न करके धीरे-धीरे किश्तों में किया जाता है। साधारण पूँजी के अन्तरण पर प्रतिबन्ध लगाकर अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तित कर दिया जाता है। ऐसा करने से ऋणी देश को अपनी आन्तरिक अर्थव्यवस्था को सुधारने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

परोक्ष रीतियाँ (Indirect Methods)

उपरोक्त प्रत्यक्ष रीतियों के अतिरिक्त विनिमय नियन्त्रण की कुछ परोक्ष रीतियाँ भी है। परोक्ष रीतियाँ प्रत्यक्ष रीतियों की तुलना में कम कठोर होती हैं। इनमें आयात कर, आयात कोटा तथा ब्याज दर की रीतियाँ उल्लेखनीय है। यदि देश की विदेशी विनिमय स्थिति चिन्ताजनक है तो आयात करों के द्वारा आयातों को कम करके इसमें सुधार किया जा सकता है। आवश्यक वस्तुओं के आयातों को आयात कर से मुक्त करके तथा अनावश्यक वस्तुओं पर अधिक आयात कर लगाकर देश के आयातों को गुणात्मक तथा परिमाणात्मक दृष्टि से सीमित किया जा सकता है। इसी उद्देश्य को भिन्न आयातों का कोटा निर्धारित करके प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि में भिन्न आयात वस्तुओं की मात्रा निर्धारित करदी जाती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी आयातों की मात्रा निर्धारित करने के साथ-साथ उन देशों के नाम भी निर्धारित कर दिये जाते हैं जहाँ से इन वस्तुओं का निर्धारित मात्रा में आयात किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय की स्थिति को सुधारने की दृष्टि से निर्यातों पर कर छूट देकर निर्यातों को प्रोत्साहन प्रदान किया जा सकता है और अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करके स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

ब्याज की दर में अनुकूल परिवर्तन करके भी देश में विदेशी पूँजी को आकर्षित किया जाता है। ब्याज की दर में वृद्धि करके विदेशियों को अपनी पूँजी का देश में निवेश करने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है तथा देशी पूँजी को देश के बाहर जाने से रोका जा सकता है। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि राष्ट्र के विदेशी विनिमय कोषों की स्थिति दृढ़ हो जावेगी। जर्मनी ने ब्याज दर की रीति के द्वारा १९२४ ई० से लेकर १९३४ ई० तक विदेशी पूँजी को बड़ी मात्रा में आकर्षित करके अपनी विदेशी विनिमय समस्या को सुलझाया था। इस प्रकार की सभी रीतियों को विनिमय नियन्त्रण की परोक्ष रीतियाँ कहा जाता है क्योंकि इनके द्वारा सरकार विदेशी विनिमय बाजार में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करती है। विनिमय नियन्त्रण की परोक्ष रीतियों का सदा सफल होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि सरकार द्वारा देश में ब्याज की दर मे वृद्धि करने के साथ साथ विदेशों में भी सरकार उसी अंश में ब्याज की दर में वृद्धि कर देती हैं तो देश की सरकार अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाती है। इसी प्रकार यदि

कोई देश अपनी विदेशी विनिमय समस्या का समाधान करने की दृष्टि से अपने निर्यातों पर कर छूट अथवा अधिदान (bounty) दे देता है परन्तु विदेश मे आयातो पर रोक अथवा आयात कर लगा दिया जाता है तो देश के निर्यातों को कोई प्रोत्साहन प्राप्त नही हो सकेगा । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विनिमय नियन्त्रण की परोक्ष रीतियों की सफलता के लिए इन रीतियों का प्रयोग करने वाले देश को अन्य देशों का सहयोग प्राप्त होना आवश्यक है ।

विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रीतियों को निम्नांकित चार्ट के द्वारा समझाया जा सकता है ।

विदेशी विनिमय नियन्त्रण

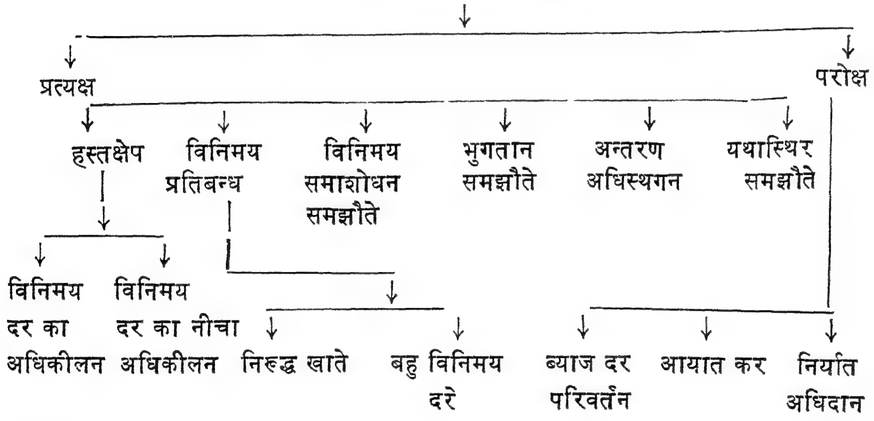

सारांश

विनिमय नियन्त्रण की उपरोक्त विवेचना से यह ज्ञात होता है कि विनिमय नियन्त्रण के इस रीति का उपयोग करने वाले देश की अर्थव्यवस्था तथा समस्त संसार की अर्थव्यवस्था पर खराब प्रभाव पड़ते है। विनिमय नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास मे अनेक बाधाये उत्पन्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के स्थान पर यह राष्ट्रीयता की भयानक भावना को जन्म देता है । इसके परिणामस्वरूप बहुदेशीय व्यापार प्रणाली के स्थान पर द्विदेशीय व्यापार प्रणाली, जिसके द्वारा एक देश दूसरे देश का आर्थिक शोषण करता है, विद्यमान हो जाती है। विनिमय नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी निवेश की गतियों मे, जो संसार के सन्तुलित आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है, बाधक बन जाता है। विनिमय नियन्त्रण संसार मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का शत्रु है और इस कारण किसी भी देश को विनिमय नियन्त्रण के उपयोग द्वारा विश्व शान्ति का शत्रु नही बनना चाहिये ।

भारत में विदेशी विनिमय नियन्त्रण

भारत में विदेशी विनिमय नियन्त्रण को सितम्बर १९३९ ई० मे द्वितीय महायुद्ध की घोषणा के समय लागू किया गया था। युद्ध काल मे विनिमय नियन्त्रण नीति का कार्य क्षेत्र विशेषरूप से गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र देशों से लेन देन तक ही सीमित था । इन देशों की मुद्राओं, विशेष-रूप से अमरीकी डालरों, की पूर्ति सीमित होने के कारण युद्धकाल मे इन देशो की मुद्राओं के उपयोग में मितव्ययता करने की अत्यधिक आवश्यकता थी । युद्ध काल मे भारत मे विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य अमरीका तथा अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशो से आयातों को सीमित रखना था। युद्ध काल में भारत ने गैरस्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशों को अधिक मात्रा मे निर्यात तथा इन देशो से

कम मात्रा मे आयात करके डालर पूल में गैरस्टर्लिंग दुर्लभ मुद्राओं की पूर्ति में वृद्धि करने मे भारी योगदान दिया था।

यद्यपि युद्ध की समाप्ति पर भारत ने काफी घनी मात्रा में स्टर्लिंग कोषों को संचय कर लिया था तथा देश भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को सहन करने की स्थिति मे था परन्तु विनिमय नियन्त्रण को समाप्त नही किया गया। वास्तव मे युद्ध-पश्चात काल मे विनिमय नियन्त्रण का कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया था तथा जुलाई १९४७ ई० से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो से होने वाले लेनदेन पर भी विनिमय नियन्त्रण लागू हो गया था। भूगोलिक निकटता तथा अन्य विशेष बातों को ध्यान में रखते हुये केवल पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के साथ होने वाले लेनदेन फरवरी १९५१ ई० तक विनिमय नियन्त्रण के कार्यक्षेत्र से मुक्त थे।

१९४७ ई० के पश्चात् यद्यपि विनिमय नियन्त्रण की नीति के ढाँचे मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुये है परन्तु पंचवर्षीय योजनाओं के सम्बन्ध मे विनिमय नियन्त्रण की नीति के लक्ष्यों मे मूल परिवर्तन हो गया है। यद्यपि आरम्भ मे भारत मे विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य गैरस्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से होने वाले आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर दुर्लभ मुद्रा को युद्ध सम्बन्धी आवश्यक सामग्री को प्राप्त करने के लिये बचाकर युद्ध कार्य मे अंग्रेज सरकार की सहायता करना था परन्तु वर्तमान समय मे विनिमय नियन्त्रण नीति का यह उद्देश्य नही है। वर्तमान समय में, जब कि पंचवर्षीय योजनाये देश के आर्थिक विकास का आवश्यक साधन है, भारतीय विनिमय नियन्त्रण नीति राष्ट्रीय आर्थिक विकास का एक प्रमुख यन्त्र है। भारत के समान विशाल देश मे, जहाँ देश के औद्योगीकरण के लिये विदेशों से ऋण सहायता तथा आवश्यक पूँजी पदार्थो का आयात करना अनिवार्य है, आयातो का नियन्त्रण करना देश की सम्पूर्ण आर्थिक विकास योजना का अंग बन जाता है। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा देश मे आयातो पर नियन्त्रण करके दुर्लभ विदेशी मुद्रा को विकास के लिये आवश्यक आयातो के लिये उपलब्ध करना है। १९५७ ई० के पश्चात अनावश्यक आयातो को बिल्कुल समाप्त करके केवल आवश्यक वस्तुओं का न्यूनतम मात्रा मे आयात किया जाता है।

भारत मे विनिमय नियन्त्रण नीति भारतीय व्यापार नियन्त्रण नीति के साथ लागू की जाती है। विनिमय नियन्त्रण नीति १९४७ ई० के आयात तथा निर्यात अधिनियम की पूरक के रूप मे कार्य करती है। जबकि बाह्य लेनदेन के सम्बन्ध मे वस्तुओ का अन्तरण इस अधिनियम के नियमों के अनुसार किया जा सकता है, विनिमय नियन्त्रण नीति बाह्य लेनदेन से सम्बन्धित विनिमय समस्याओं का नियमन करती है। दोनो प्रकार के नियन्त्रणो—व्यापार नियन्त्रण तथा विनिमय नियन्त्रण—मे गहरा समन्वय है। उदाहरणार्थ, यदि व्यापार नियन्त्रण अधिनियम के अन्तर्गत किसी वस्तु के आयात पर रोक नही है अथवा आयातकर्ता को आयात अनुज्ञापत्र प्रदान करके उस वस्तु को आयात करने की आज्ञा देदी गई है तो इस स्थिति मे उस वस्तु से आयात के लिये आवश्यक विदेशी मुद्रा स्वयं प्राप्त हो जावेगी, अर्थात इस पर विनिमय नियन्त्रण प्रतिबन्ध लागू नही होगे।

भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य है तथा भारत की विनिमय नियन्त्रण प्रणाली इंगलैण्ड की विनिमय नियन्त्रण प्रणाली के समान है। मुद्राओ के आधार पर देशों को स्टर्लिंग क्षेत्र देश, द्विपक्षीय खाता देश तथा परिवर्तनीय खाता समूह देश की तीन श्रेणियों मे विभाजित किया गया है। परिवर्तनीय खाता समूह देशों की श्रेणी मे वे सभी देश सम्मिलित है जो स्टर्लिंग क्षेत्र देशों तथा द्विपक्षीय खाता देशों की श्रेणी में नही आते है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण का प्रशासन रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा भारत सरकार द्वारा प्रतिपादित नीति के अनुसार किया जाता है। १९४७ ई० के विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के अन्तर्गत भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया को भारत में विदेशी मुद्रा तथा विदेशी ऋणपत्रों सम्बन्धी लेनदेन का नियन्त्रण तथा नियमन करने का अधिकार प्राप्त है। विदेशी विनिमय से सम्बन्धित दैनिक साधारण कार्य उन वाणिज्य बैंकों द्वारा जो विदेशी विनिमय में अधिकृत व्यापारी है, किया जाता है। ये बैंक रिजर्व बैंक द्वारा बनाये गये नियमों के आधीन विशेष कार्यों के लिये विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करती है। अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त शक्तियों के अनुसार रिजर्व बैंक ने विदेशी मुद्रा में लेनदेन करने के लिये अनुज्ञप्तियुक्त बैंकों की नियुक्ति कर रखी है।

ये बैंक अधिकृत व्यापारी (authorised dealers) कहलाती है तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी सभी प्रकार का लेनदेन करती है। विनिमय नियन्त्रण नीति के अन्तर्गत रिजर्व बैंक रुपया-स्टर्लिंग दर को प्राधिकृत व्यापारियों को १ शिलिंग ३ पैसे प्रति रुपया की दर पर स्टर्लिंग बेचकर तथा उनसे १ शिलिंग २$\frac{6}{6}\frac{3}{4}$ पेन्स प्रति रुपया की दर पर स्टर्लिंग खरीद कर स्थिर रखती है। अन्य विदेशी मुद्राओं की समता दरें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित की गई हैं। रिजर्व बैंक जनता से प्रत्यक्ष लेनदेन नहीं करती है। जनता का विदेशी विनिमय सम्बन्धी सभी लेनदेन अधिकृत वाणिज्य बैंकों के द्वारा होता है। बैंकों का विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी प्रशासन रिजर्व बैंक के विनिमय नियन्त्रण विभाग द्वारा किया जाता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का गवर्नर विभाग का नियन्त्रक होता है। विनिमय नियन्त्रण विभाग उप-नियंत्रक की देखरेख में कार्य करता है। बम्बई में स्थित केन्द्रीय कार्यालय में उप-नियन्त्रक की सहायता के लिये सहायक नियंत्रक नियुक्तहोते हैं। बम्बई कलकत्ता, नई देहली, मद्रास तथा कानपुर में सहायक नियन्त्रकों की देखरेख में विनिमय नियन्त्रण विभाग के उप-कार्यालयों का कार्य विनिमय नियंत्रण सम्बंधी साधारण मामलों को तय करना है। प्रत्येक उपकार्यालय का अधिकार क्षेत्र निम्नलिखित प्रकार है।

विनिमय नियंत्रण उप-कार्यालय	प्रत्येक उप-कार्यालय के अधिकार क्षेत्र में स्थित राज्य
बम्बई	गुजरात तथा महाराष्ट्र
कलकत्ता	आसाम, बिहार, मनीपुर, उड़ीसा त्रिपुरा तथा पश्चिम बंगाल (अण्डमन-निकोबार द्विपों सहित)
कानपुर	मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश
मद्रास	आन्ध्र प्रदेश, केरल (लकादिव, मिनिकोय तथा अमीनदिवि द्वीपों सहित) मद्रास, पांडिचेरी तथा मैसूर
नई देहली	देहली हिमाचल प्रदेश, पंजाब, जम्मू व काश्मीर तथा राजस्थान

विनिमय नियंत्रण सम्बन्धी सभी प्रार्थना पत्र उपरोक्त उपयुक्त उप-कार्यालयों को भेजे जाते है। उदाहरणार्थ, यदि राजस्थान मे रहने वाले किसी व्यक्ति को विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है तो वह व्यक्ति रिजर्व बैंक के नई देहली में स्थित विनिमय नियन्त्रण उप-कार्यालय को अपना प्रार्थनापत्र भेजेगा।

अध्ययन सूची

1. P. T. Ellsworth : The International Economy (Revised), Chapter 19.
2 Paul Einzig : Exchange Control.
3. Geoffrey Crowther : An Outline of Money, Chapter VIII.
4. G. D. H. Cole : Money . Its Present and Future, Chapter XIII.
5. E. M. Bernstein : "Some Economic Aspects of Multiple Exchange Rates", IMF *Staff Papers*, Vol. 1, No. 2 (1950).
6. League of Nations : *International Currency Experience*, (1944), Chapter VII.
7. Howard S. Ellis : Exchange Control in Central Europe (Harvard University Press, 1941).

प्रश्न

1. Describe the need and objects of exchange control and explain how is it established in practice.
2. Discuss the theory of exchange control and state how exchange control is exercised
3. Outline briefly the objects and methods of exchange control. In what manner was exchange control adopted in India during the Second World War ?

२७

अवमूल्यन
(Devaluation)

साधारणतया सरकारी आदेश द्वारा देश की मुद्रा इकाई के स्वर्ण अथवा डालर[1] मूल्य में सामान्य कमी करने को अवमूल्यन कहते है। देश की मुद्रा इकाई का स्वर्ण अथवा डालर मूल्य मुद्रा इकाई के बदले में प्राप्त होने वाले स्वर्ण अथवा डालर मुद्रा की मात्रा में मापा जाता है। अवमूल्यन का आशय देश की मुद्रा इकाई के स्वर्ण अथवा डालर मूल्य में, इसके आन्तरिक मूल्य में कमी किये बिना, कमी करने से होता है। संक्षेप में, अवमूल्यन देश की मुद्रा इकाई के स्वर्ण अथवा डालर मूल्य को कम करने की एक विचारयुक्त नीति है। कोई भी देश अपनी मुद्रा इकाई का अवमूल्यन अनेक कारणों से कर सकता है। उदाहरणार्थ, मुद्रा अवमूल्यन का उद्देश्य विदेशों में देशी वस्तुओं का राशिपातन करके देश के भुगतान-शेष को अनुकूल बनाना हो सकता है। अवमूल्यन का उद्देश्य देश के भुगतान-शेष मे भारी घाटे की समस्या को समाप्त करना भी हो सकता है। मुद्रा का अवमूल्यन करने की आवश्यकता उस समय होती है जब किसी देश का भुगतान-शेष संसार के साथ प्रतिकूल होता है तथा इस प्रतिकूलता को समाप्त करने का सरकार को अन्य कोई सरल उपाय ज्ञात नहीं होता है। यद्यपि किसी भी देश का भुगतान-शेष सभी देशों के सम्बन्ध में सदा प्रतिकूल नहीं होता है परन्तु ऐसा होते हुए भी जब किसी देश को विदेशों से प्राप्त होने वाले कुल भुगतानों की राशि उन कुल भुगतानों की राशि की अपेक्षाकृत कम होती है जो इस देश को अन्य देशों की मुद्राओं में चुकाने होते हैं तो देश का भुगतान-शेष प्रतिकूल होता है। मुद्रा अवमूल्यन देश के भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने का एक उपाय है। परन्तु देश इस उपाय का आसरा उस समय लेता है जब भुगतान-शेष की प्रतिकूलता इतनी अधिक गम्भीर हो जाती है कि इसे वेतन दरों तथा आन्तरिक कीमत-लागत ढाँचे में उपयुक्त कमी करके समाप्त नही किया जा सकता है।

---

1. वर्तमान समय में प्रत्येक उस देश ने जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है अपनी मुद्रा इकाई का समता मूल्य स्वर्ण अथवा १ जुलाई १९४४ ई० को निर्धारित शुद्धता के स्वर्ण भार वाले अमरीकी डालर के रूप मे निर्धारित कर रखा है।

अवमूल्यन के विचार का विकास

मुद्रा अवमूल्यन देश के भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने का एकमात्र उपाय नहीं है। इसके अतिरिक्त, विदेशी विनिमय नियन्त्रण, अवस्फीति तथा आयात करके द्वारा भी भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त किया जा सकता है। देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को समाप्त करने के साधन के नाते अवमूल्यन का प्रथम महायुद्ध के पूर्व कोई महत्व नहीं था। युद्ध-पूर्व युग में जब संसार के अधिकांश देशों में स्वर्णमान विद्यमान था विदेशी विनिमय दरों में स्वर्णमान का खण्डन किये बिना परिवर्तन करना असम्भव था। दूसरे शब्दों में, स्वर्णमान मुद्रा प्रणाली में अवमूल्यन के लिये कोई स्थान नहीं था। युद्ध के पश्चात् भी बहुत से देशों ने, यद्यपि उनके भुगतान-शेषों में भारी प्रतिकूलता थी, इस प्रतिकूलता को समाप्त करने के लिये अवमूल्यन का प्रयोग नहीं किया था। 'तीसा' की मन्दी में स्वर्णमान का खण्डन होने के पूर्व तक अवमूल्यन को देश की आर्थिक दुर्बलता तथा वैत्तिक दिवालियापन का लक्षण समझा जाता था। इस कारण स्वर्णमान देश अवमूल्यन की रीति का उपयोग न करने का अधिकतम प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दर स्थिर होने के कारण अवमूल्यन करना सम्भव नहीं था। १९३१ ई० में इंगलैंड द्वारा स्वर्णमान का परित्याग किये जाने के पश्चात् अवमूल्यन के व्यावहारिक महत्व में वृद्धि हुई थी। १९३१ ई० तक भुगतान-शेष में घाटे की समस्या को समाप्त करने के साधन के रूप में यूरोपीय तथा अन्य देश अपनी मुद्रा इकाई का अवमूल्यन करना घृणात्मक समझते थे। मैकमिलन समिति (Macmillan Committee)[2] ने, जिसकी नियुक्ति नवम्बर १९२९ ई० में इंगलैंड में देश के बैंकिंग, वित्त तथा साख-मुद्रा ढाँचे की जाँच करने तथा देश की आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए इनमें राष्ट्रीय आय तथा रोजगार में वृद्धि करने के उद्देश्य से सुझाव देने के लिए की गई थी, इंगलैंड द्वारा मुद्रा अवमूल्यन का अनुमोदन नहीं किया था। मुद्रा अवमूल्यन को अस्वीकार करते हुए समिति ने अपने प्रतिवेदन में यह लिखा था कि "हमारे विचार में किसी भी देश की सरकार का अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य को अचानक तथा पूर्वसूचना दिये बिना कम करना एक ऐसा कार्य है जो उचित नहीं है।"[3] समिति का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वाणिज्य तथा वित्तीय लेन-देन विश्वास पर आधारित होते हैं। इस विश्वास की आधारशिला संसार के देशों में इस भावना पर आधारित होती है कि सभी देश अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य को स्थिर बनाये रखेंगे अथवा स्थिर बनाये रखने का अत्यधिक प्रयत्न करेंगे। पौण्ड-स्टर्लिंग के अवमूल्यन के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए समिति ने लिखा था कि यदि इंगलैंड अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने का निर्णय करता है तो "इसका अर्थ एक ऐसी नवीन नीति को अपनाना होगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वैत्तिक संसार को भारी धक्का पहुँचेगा क्योंकि यदि इंगलैंड के समान महान् ऋणदाता देश विधान द्वारा अचानक अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य को कम कर देगा तो विश्वास के अभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वैत्तिक सम्बन्धों में अचानक गहरी अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जावेगी।"[4] इस प्रकार देश के भुगतान-शेष में घाटे को समाप्त करने के

2. इस समिति को सर एच० पी० मेक्मिलान की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया था।
3. "In our opinion the devaluation by any government of a currency standing at its par value suddenly and without notice (as must be the case to prevent foreign creditors from removing their property) is emphatically one of those things which are not expedient. (Macmillan Committee Report 1931.)
4. "It would be to adopt an entirely new policy, and one which would undoubtedly be an immense shock to the international financial world if the Government of the greatest creditor nation were deliberately and by an act of positive policy to announce one morning that it had reduced by law the value of its currency from the par at which it was standing to some lower value (*Ibid.*)

साधन के रूप में अवमूल्यन का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। अवमूल्यन का प्रयोग 'तीसा' की महान् मन्दी मे स्वर्णमान का खण्डन हो जाने के पश्चात् तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के देशों द्वारा अपने भुगतान-शेषों में भारी घाटे को समाप्त करने के उद्देश्य से किया गया है।

सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रीय आर्थिक विकास की दृष्टि से भुगतान-शेष के असन्तुलन के काफी बुरे प्रभाव होते हैं तथा प्रत्येक देश की सरकार अपने भुगतान-शेष को सन्तुलन में रखने का प्रयास करती है। भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को निम्नलिखित उपायों द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

यदि देश के भुगतान शेष में घाटा निर्यातों में कमी होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है तो निर्यातों के मूल्यों में पर्याप्त कमी करके निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। परन्तु कीमतों में कमी करना उत्पादन साधनों के मूल्यों—वेतन, ब्याज, लगान, लाभ—विशेषरूप से वेतन दरों, में कमी करके सम्भव हो सकता है। इसके लिये राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में लागत-मूल्य ढांचा लचीला तथा श्रम संघों के अनुचित दबाव से मुक्त होना चाहिये। यदि देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता इतनी अधिक गम्भीर है कि निर्यात वस्तुओं के मूल्यों में कमी करके इसे समाप्त नहीं किया जा सकता है तो निर्यातों में वृद्धि करने के उपायों के साथ-साथ आयात करों में वृद्धि करके आयातों में भी कमी की जा सकती है। भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने के इन साधनों को अमौद्रिक अथवा प्रत्यक्ष साधन कहा जाता है। इन साधनों का यूरोप के देशों ने स्वर्णमान के खण्डन के पश्चात् प्रयोग किया था।

देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को समाप्त करने का दूसरा उपाय देश में मुद्रा की मात्रा में पर्याप्त कमी करना है। इस रीति को अवस्फीति कहा जा सकता है तथा इस का आशय देश में संचलन में मुद्रा की मात्रा में कमी करके घरेलू कीमतों में कमी करना है। मुद्रा की मात्रा में कमी होने के परिणामस्वरूप ब्याज की दर में वृद्धि होगी तथा निवेश मे कमी होगी। ऐसा होने से उत्पादन साधनों की माँग में कमी होगी तथा उन के प्रतिफलों में कमी होगी। परिणामस्वरूप उत्पादन लागत तथा कीमतों में कमी हो जावेगी। कीमतों में कमी होने के परिणामस्वरूप आयातों में कमी तथा निर्यातों में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त कीमतों में कमी होने से उद्यमकर्ता अपने निवेशों में और अधिक कमी करेंगे तथा उत्पादन साधनों की आयों में पुनः कमी होगी। साधनों की आयों में कमी होने के परिणामस्वरूप उपभोग वस्तुओं की माँग में कमी हो जाती है तथा इसका प्रभाव आयातों की माँग में कमी होने के रूप में विद्यमान होगा। इस प्रकार अवस्फीति के परिणामस्वरूप एक ओर देश के निर्यातों में वृद्धि होगी तथा दूसरी ओर देश के आयातों में कमी होगी। परिणामस्वरूप देश के भुगतान-शेष में प्रतिकूलता समाप्त हो जावेगी।

भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को समाप्त करने की तीसरी रीति मुद्रा अवमूल्यन है। परन्तु भुगतान-शेष में घाटे को समाप्त करने की रीति के रूप में अवमूल्यन की सफलता कई बातों पर आश्रित होती है। प्रथम, मुद्रा अवमूल्यन करने वाले देश को उन देशों का सहयोग प्राप्त होना चाहिये जिनकी मुद्रा इकाईयों के सम्बन्ध में अवमूल्यन किया गया है। यदि अवमूल्यन सामान्य रूप से किया गया है तो अवमूल्यन करने वाले देश को संसार के सभी देशों का सहयोग प्राप्त होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि अन्य देशों को अपने निर्यातों की कीमतों में कमी नहीं करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अवमूल्यन करने वाले देश के आयातों तथा निर्यातों की माँग लोचदार होनी चाहिये। इसी प्रकार देश के आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति बेलोचदार होने की स्थिति में अवमूल्यन के द्वारा देश के भुगतान-शेष में घाटे को शीघ्र समाप्त किया जा सकता है। अवमूल्यन का उपयोग करने के पूर्व देश की सरकार को इन सभी प्रश्नों पर विचार करना चाहिये।

भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को समाप्त करने की चौथी रीति विनिमय नियंत्रण है।

भुगतान-शेष पर प्रभाव

सामान्यतया मुद्रा अवमूल्यन का देश के निर्यातों में वृद्धि तथा आयातो मे कमी होने के द्वारा देश के भुगतान-शेष पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। देश की मुद्रा इकाई का बाह्य मूल्य कम हो जाने के कारण, देश तथा विदेशो मे वस्तुओं के लागत-कीमत ढाँचे स्थिर रहते हुये, देश के निर्यात विदेशो में सस्ते तथा विदेशी निर्यात वस्तुएँ अवमूल्यन करने वाले देश में मँहगी हो जाती है। इसका प्रभाव यह होता है कि अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी हो जाती है और देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता कुछ समय पश्चात समाप्त हो जाती है। यदि देश के निर्यातों मे वृद्धि तथा आयातों में कमी की प्रक्रिया काफी समय तक चलती रहती है तो देश का भुगतान-शेष प्रतिकूल न रहकर अनुकूल भी हो जाता है। अवमूल्यन के कारण देश के विदेशी व्यापार में वृद्धि हो जाती है।

परन्तु अवमूल्यन की सफलता कई बातों पर निर्भर होती है। अवमूल्यन के लाभदायक परिणाम अवमूल्यन करने वाले देश को सदा के लिये प्राप्त नहीं होते हैं। अवमूल्यन के अनुकूल प्रभाव अस्थाई होते है जो कुछ समय पश्चात् समाप्त हो जाते हैं। साधारणतया ये प्रभाव उस समय तक विद्यमान रहते है जब तक अवमूल्यन करने वाले देश तथा विदेशों के लागत-कीमत ढाँचों में अवमूल्यन के पश्चात् निर्धारित नई विदेशी विनिमय दर के साथ समायोजन नहीं हो जाता है। साधारणतया अवमूल्यन के लाभदायक प्रभाव दो अथवा तीन वर्ष तक विद्यमान रहते है। अवमूल्यन देश की सरकार को इस अल्प समय में देश के आन्तरिक लागत-कीमत ढाँचे में उपयुक्त सुधार करने का अवसर प्रदान करता है जिससे कि भुगतान-शेष में निरन्तर उत्पन्न होने वाले घाटे की समस्या समाप्त हो जाये। परन्तु यह उसी समय सम्भव है जब देश तथा विदेशों में परिस्थिति अवमूल्यन के अनुकूल होती है। अवमूल्यन द्वारा उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रथम, यह आवश्यक है कि अवमूल्यन करने वाले देश में वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि नहीं होनी चाहिये क्योकि यदि अवमूल्यन के उपरान्त वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है तो देश के निर्यातों में वृद्धि होने की सम्भावना कम हो जाती है। यदि कीमतों में अवमूल्यन के बराबर वृद्धि हो जाती है तो विदेशों में अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यात सस्ते नहीं होंगे और देश के भुगतान-शेष में घाटे की समस्या अवमूल्यन के पश्चात भी बनी रहेगी। देश में वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखने के लिये देश की सरकार को कीमत नियंत्रण की नीति को अपनाना पड़ेगा तथा सट्टेबाजों की क्रियाओं पर, जिनका उद्देश्य वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि करके लाभ प्राप्त करना होता है, नियंत्रण करना पड़ेगा। इसके लिये सरकारी प्रशासन प्रणाली का ईमानदार तथा अनुभवी होना आवश्यक है।

दूसरे, अवमूल्यन द्वारा सफलता प्राप्त करने के लिये यह भी आवश्यक है कि देश को दूसरे देशों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होना चाहिये क्योंकि ऐसा न होने पर अवमूल्यन की नीति असफल होगी। इसका यह अर्थ है कि अवमूल्यन के उपरान्त दूसरे देशों को देश विशेष के निर्यातों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिबन्ध नही लगाने चाहिये। दूसरे देशों को अपने निर्यातों की कीमतों में भी कमी नहीं करनी चाहिये क्योकि यदि दूसरे देश अपनी निर्यात वस्तुओं की कीमतो में, जिनका अवमूल्यन करने वाले देश मे आयात किया जाता है, कमी कर देते है तो देश के आयातों में कमी करना सम्भव नहीं होगा और भुगतान-शेष में सन्तुलन स्थापित करना कठिन होगा।

तीसरे, अवमूल्यन के द्वारा देश किस अंश में अपने भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने में सफल हो सकेगा यह अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यातों तथा आयातों की माँग की

कीमत लोचों पर निर्भर होगा। यदि देश के आयातों की माँग बेलोचदार है तथा देश के निर्यातों की माँग भी बेलोचदार है तो मुद्रा का अवमूल्यन करके देश के निर्यातों के कुल मूल्य में वृद्धि होने के स्थान पर कमी तथा आयातों के कुल मूल्य में कमी होने के स्थान पर वृद्धि हो जावेगी। परिणामस्वरूप अवमूल्यन करने के हेतु देश के भुगतान-शेष के घाटे में कमी होंने के स्थान पर वृद्धि हो जावेगी तथा देश की विदेशी विनिमय समस्या अवमूल्यन के पूर्व की स्थिति की अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर हो जावेगी। ऐसी दशा में जब देश के आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोचें बहुत कम है देश को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं करना चाहिये। अवमूल्यन उस समय सफल सिद्ध होता है जब देश के आयातों तथा निर्यातों की मांग लोचदार होती है। ऐसी दशा में बहुत कम प्रतिशत का अवमूल्यन करके भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त किया जा सकता है। यदि देश के आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोच बहुत कम है तो अधिक प्रतिशत का अवमूल्यन करके भी सफलता सन्देहजनक होती है। आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोचों के अतिरिक्त अवमूल्यन की सफलता में इसकी पूर्ति की लोचों का भी महत्व होता है। यदि अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति बेलोचदार है तो अवमूल्यन के द्वारा देश के भुगतान-शेष में घाटे का अन्त होने में सहायता प्राप्त होगी। वास्तव में देश के आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार होने की स्थिति में, देश के निर्यातों तथा आयातों की लोचें कितनी भी कम क्यों न हों, देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता में सुधार होगा।

अवमूल्यन द्वारा अवमूल्यन करने वाले देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को किस अंश तक समाप्त किया जा सकता है। यह देश के निर्यातों की मांग तथा पूर्ति की लोचों पर निर्भर करेगा। यदि देश के निर्यातों की विदेशी मांग की लोच का अंकीय मूल्य एक से कम है ($\eta_X < |१|$) तो अवमूल्यन के द्वारा देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता समाप्त नहीं होगी। इसके विपरीत मुद्रा का अवमूल्यन करने से भुगतान-शेष की स्थिति सुधरने के स्थान पर पहले से अधिक खराब हो जावेगी। ऐसा दो कारणों से होता है। अवमूल्यन का प्रथम परिणाम यह होता है कि निर्यात वस्तुओं के विदेशी मूल्य में कमी हो जाने के परिणामस्वरूप देश के निर्यातों में वृद्धि हो जाती है। परन्तु अवमूल्यन के हेतु देश के निर्यातों की मात्रा में कितनी वृद्धि हो सकेगी यह अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यातों की विदेशी मांग की कीमत लोच पर निर्भर करेगा। यदि देश के निर्यातों की मांग की लोच एक से कम है तो किसी दिए हुए प्रतिशत का मुद्रा अवमूल्यन करने के कारण निर्यातों में तुलनात्मक कम प्रतिशत की वृद्धि होगी। उदाहरणार्थ, १० प्रतिशत मुद्रा अवमूल्यन करने के कारण निर्यातों की मात्रा मे १० प्रतिशत से कम की वृद्धि होगी तथा इस कारण निर्यातों की कुल मात्रा पहले से अधिक होते हुए भी निर्यातों का कुल मूल्य पहले से कम होगा तथा अधिक निर्यात करके भी देश को पहले से कम विदेशी मुद्रा प्राप्त होगी। परिणामस्वरूप अवमूल्यन के पश्चात भुगतान-शेष का घाटा कम होने के स्थान पर पहले की अपेक्षाकृत अधिक हो जावेगा। चित्र २७·१ में भारत तथा अमरीका के उदाहरण द्वारा इस घटना को समझाया गया है।

चित्र २७·१ मे निर्यातों को X-अक्ष तथा विदेशी विनिमय दर को Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। D_X वक्र निर्यातों की बेलोचदार मांग तथा S_X वक्र निर्यातों की पूर्णतया लोचदार पूर्ति को व्यक्त करता है। अवमूल्यन के पूर्व विनिमय दर OA है तथा निर्यातो की कुल मात्रा OQ है। कुल निर्यातों द्वारा प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय अथवा मुद्रा की मात्रा $OA \times OQ = OQCA$ है। मुद्रा का अवमूल्यन करने के फलस्वरूप जब विदेशी विनिमय दर OA से घट कर OB

हो जाती है (AB=—△अवमूल्यन की मात्रा को सूचित करता है) तो S_X निर्यात पूर्ति वक्र S'_X पूर्ति वक्र को प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप निर्यातों की मात्रा OQ_1 से बढ़ कर

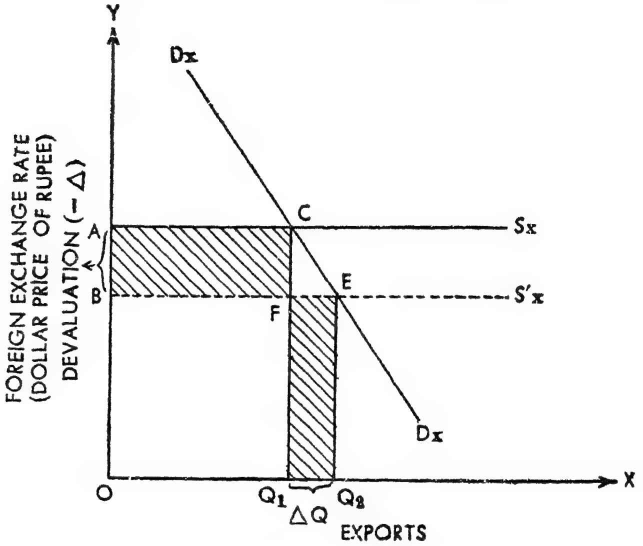

चित्र २७·१

OQ_2 हो जाती है। दूसरे शब्दों में, निर्यातों में Q_1Q_2 (△Q) मात्रा की वृद्धि हो जाती है। नई स्थिति में OQ_2 निर्यातों द्वारा देश को कुल $OQ_2 \times OB = OQ_2$ EB विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। यदि ABFC आयत का आकार Q_1Q_2EF आयत के आकार से कम है तो अवमूल्यन के द्वारा देश के भुगतान-शेष के घाटे में कमी होगी। यदि दोनों आयतों का आकार समान है तो अवमूल्यन का देश के भुगतान-शेष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसके विपरीत यदि ABFC आयत Q_1Q_2EF आयत की तुलना में बड़ा है तो अवमूल्यन द्वारा देश के भुगतान-शेष के घाटे में कमी होने के स्थान पर वृद्धि हो जावेगी।

जहाँ तक आयातों का प्रश्न है अवमूल्यन देश के लिए केवल उसी समय सहायक सिद्ध होगा जब आयातों की घरेलू माँग की कीमत लोच का अँकीय मूल्य एक से अधिक है क्योंकि ऐसा होने पर आयातों के मूल्य में (घरेलू मुद्रा में) वृद्धि होने के परिणामस्वरूप आयातों की मात्रा में अवमूल्यन की तुलना में अधिक अनुपात में कमी हो सकेगी। चित्र २७·२ द्वारा इस घटना को व्यक्त किया गया है।

चित्र २७·२ में आयातों को X-अक्ष तथा आयातों के मूल्य को (देशी मुद्रा में) Y-अक्ष पर व्यक्त किया गया है। D_M तथा S_M क्रमशः आयात माँग तथा आयात पूर्ति वक्र हैं। अवमूल्यन के पूर्व मूल्य OP_M है तथा आयातों की मात्रा OM_1 है। इस प्रकार आयातों का कुल मूल्य $OMNP_M$ $(=OP_M \times OM_1)$ है। अवमूल्यन के पश्चात यद्यपि अमरीका में भारतीय आयातों के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता है परन्तु अवमूल्यन के हेतु भारतीय मुद्रा में भारत में आयातों के मूल्य में अवमूल्यन के समान प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप रुपयों में आयातों का मूल्य OP_M से बढ़ कर OP'_M हो जाता है तथा आयातों की मात्रा OM_1 से घटकर OM_2 हो जाती है। आयातों में हुई कुल कमी की मात्रा M_1M_2 (=△M) है। परन्तु अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अव-

मूल्यन करने वाले देश को आयात वस्तुओं की प्रत्येक इकाई का पहले से अधिक मूल्य (OP'_M) देना पड़ता है। अवमूल्यन के पश्चात् आयातों का कुल मूल्य $OM_2KP'_M$ है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के भुगतान-शेष की प्रतिकूलता में हुए सुधार की मात्रा M_2M_1NF तथा $FKP'_M P_M$ आयतों के आकारों पर निर्भर करेगी। यदि आयातों की माँग की लोच एक (१) से अधिक ($\eta_M > |१|$) है तो M_2M_1NF आयत FKP'_MP_M आयत की तुलना में बड़ा होगा तथा

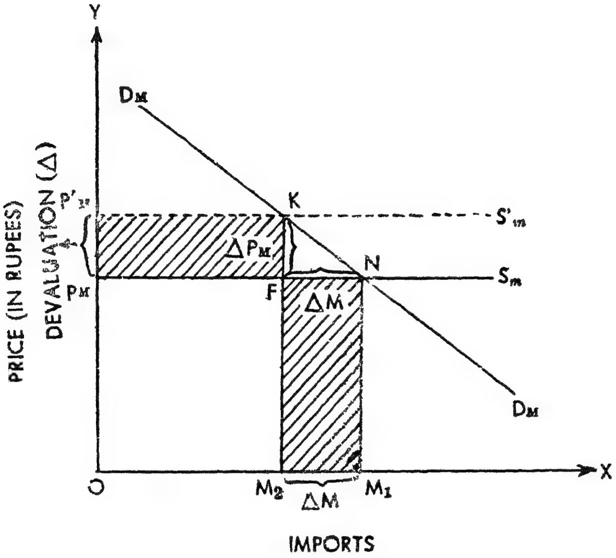

चित्र २७·२

भुगतान-शेष की स्थिति में अवमूल्यन करने से सुधार होगा। परन्तु यदि आयातों की माँग की लोच एक से कम है तो अवमूल्यन के द्वारा भुगतान-शेष की स्थिति पहले से अधिक खराब हो जावेगी। आयातों की माँग की लोच एक होने की दशा में जहाँ तक आयातों का प्रश्न है अवमूल्यन का भुगतान-शेष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

समीकरण[5] के द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार होने की स्थिति में यदि कोई देश अपने भुगतान-शेष के घाटे में कमी करने के हेतु अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है तो इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए देश के आयातों तथा निर्यातों की माँग की लोचों के अंकीय मूल्यों का योग एक से अधिक होना चाहिए ($|\eta_M + \eta_M| > |१|$)। यदि आयातों तथा निर्यातों की मांग की लोचों के अंकीय मूल्यों का योग केवल एक है तो अवमूल्यन करने से भुगतान-शेष में कोई सुधार नहीं होगा। इसके विपरीत

---

5. निर्यातों में सापेक्ष परिवर्तन $\Delta\ \eta_X$ है तथा Δ चिन्ह अवमूल्यन—विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन—को व्यक्त करता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप $\Delta\eta_X$ धनात्मक होगा। आयातों में हुआ सापेक्ष परिवर्तन Δ (१-η_M) होगा। परिणामस्वरूप अवमूल्यन के हेतु देश के भुगतानशेष में हुआ परिवर्तन $\Delta\eta_X$-[Δ(१-η_M)]=Δ(η_X—१+η_M) होगा। अवमूल्यन करने के हेतु देश के भुगतानशेष मे सुधार होने की स्थिति में Δ (η_X+η_M—१) धनात्मक होना चाहिए, अर्थात् $|\eta_X|+|\eta_M|$ का अंकीय मूल्य एक से अधिक होना चाहिए।

आयातों तथा नियातों की माँग की लोचों का योग एक से कम होने की स्थिति में अवमूल्यन द्वारा देश के भुगतान-शेष की स्थिति सुधरने के स्थान पर अधिक खराब हो जावेगी।

उपरोक्त विवेचना द्वारा प्राप्त यह निष्कर्ष कि अवमूल्यन द्वारा देश के भुगतान-शेष की स्थिति में केवल उसी समय सुधार होगा जब $|\eta_X|+|\eta_M|$ का अंकीय मूल्य एक से अधिक है इस मान्यता पर आधारित है कि आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति की लोच अनन्त है, अर्थात् $|e_M|$ तथा $|e_X| = \infty$। निर्यातों की पूर्ति की लोच शून्य होने की दशा में अवमूल्यन करने वाले देश की स्थिति अनुकूल होती है तथा निर्यातों व आयातों की पूर्ति की लोचों द्वारा देश के भुगतान-शेष में सुधार होगा। दूसरे शब्दों में, ये दोनों देश के भुगतान-शेष में स्थिरता स्थापित करने में सहायक सिद्ध होंगी। ऐसी स्थिति में निर्यातों तथा आयातों की माँग की लोचों का कोई महत्व नहीं होगा।

यदि भारत में निर्यातों तथा अमरीका में भारतीय आयातों की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार है ($|e_X|=0; |e_M|=0$) तथा यदि भारत अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है तो मुद्रा अवमूल्यन करने से इस असाधारण स्थिति में भारत के भुगतान-शेष में सुधार होने के अतिरिक्त वस्तु आयात-निर्यात स्थिति ($P_X|P_M$) भी भारत के पक्ष में हो जावेगी। आयात-निर्यात स्थिति अवमूल्यन करने वाले देश के पक्ष में दो कारणों से होती है। प्रथम, देश के निर्यातों के मूल्य में मुद्रा अवमूल्यन के समान प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। दूसरे, देश के आयातों के मूल्य में कोई वृद्धि नही होती है। इसका अर्थ यह है कि निर्यात वस्तुओं की उतनी ही मात्रा निर्यात करने के हेतु, जितनी मात्रा का देश मुद्रा अवमूल्यन के पूर्व निर्यात करता था, अवमूल्यन के पश्चात् देश आयातों की अधिक मात्रा को प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, अवमूल्यन करने वाला देश पहले से कम निर्यात करके उतनी ही आयात वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है जितनी कि वह अवमूल्यन के पूर्व प्राप्त किया करता था।

चित्र २७·३ (A) तथा २७·३ (B) द्वारा अवमूल्यन करने वाले देश के भुगतान-शेष पर अवमूल्यन के प्रभावों को इस मान्यता के आधार पर समझाया गया है कि देश के निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति की लोच शून्य है।

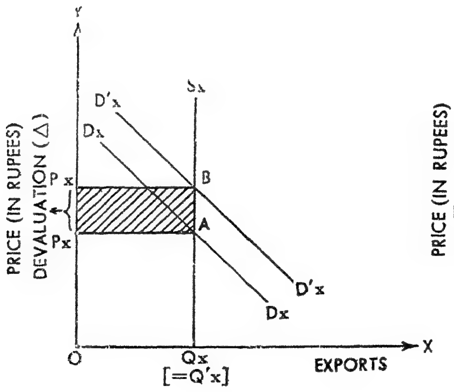

(A)

चित्र २७·३ (A)

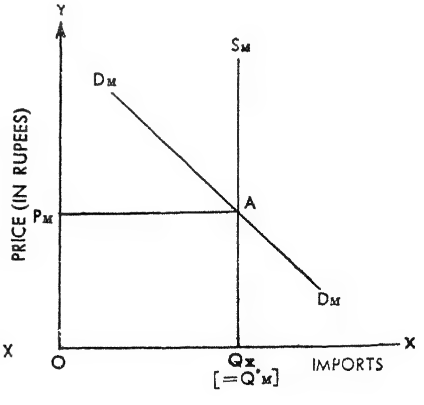

(B)

चित्र २७·३ (B)

चित्र २७·३ (A) तथा (B) में मुद्रा अवमूल्यन करने वाले देश (भारत) के निर्यातों तथा आयातों को X-अक्ष तथा कीमत को (जो रुपयों में व्यक्त की गई है) Y-अक्ष पर व्यक्त किया

गया है। भारत मे निर्यातों की पूर्ति बेलोचदार होने के कारण निर्यातों की रुपया कीमत में अवमूल्यन के समान प्रतिशत की वृद्धि हो जावेगी। परन्तु अमरीका में भारत के निर्यातों की माँग में कमी नहीं होगी क्योकि यद्यपि भारतीय निर्यातों की रुपयों मे व्यक्त कीमत मे अवमूल्यन के समान अनुपात मे वृद्धि हो जाती है परन्तु डालरों में देश के निर्यातों की कीमत में वृद्धि नही होती है। निर्यातो को घरेलू अथवा आन्तरिक कीमत में वृद्धि होने पर भी निर्यातों की माँग में कमी न होने का अर्थ यह है कि सम्पूर्ण निर्यात माँग वक्र दाहिनी ओर ऊपर को खिसक जाता है। अवमूल्यन के पश्चात् निर्यातों की कीमत OP_X से बढ़ कर OP'_X हो जाने पर भी निर्यातों की माँग पहले के समान $OQ_X(=OQ'_X)$ बनी रहती है। चित्र २७·३ (A) में D_XD_X तथा $D'_XD'_X$ अवमूल्यन-पूर्व तथा अवमूल्यन-पश्चात् निर्यात माँग वक्र हैं। अवमूल्यन के पश्चात् D_XD_X निर्यात माँग वक्र ऊपर की ओर खिसक कर $D'_XD'_X$ नये निर्यात माँग वक्र को प्राप्त हो जाता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप कुल आय में हुई वृद्धि $OQ_X \times P_XP'_X$ $(=ABP'_XP_X)$ अथवा $\triangle \cdot OQ_X$ है ($\triangle$ अवमूल्यन का चिह्न है)।

जहाँ तक भारत की आयातों की कीमत का प्रश्न है आयातों के रुपया कीमत में कोई वृद्धि नही होगी। आयातों की रुपया कीमत में वृद्धि न होने का एकमात्र कारण यह है कि अमरीका में भारतीय आयातों की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार होने के कारण अमरीकी निर्यातकर्ताओं को अपने निर्यातों की माँग को समान बनाये रखने के लिए अपने निर्यातों की डालर कीमत में अवमूल्यन के बराबर कमी करनी पड़ती है क्योकि जब तक वे ऐसा नही करेंगे तब तक उनके निर्यातों की कीमत भारत मे पहले की तुलना में अधिक होगी तथा (जब तक यह न माना जावे कि भारत में आयातों की माँग पूर्णतया बेलोचदार है) अमरीका के निर्यातों में कमी होगी। परिणामस्वरूप भारत के आयातों की घरेलू कीमत में कोई वृद्धि नहीं होती है तथा पुरानी कीमत पर ही देश को पुरानी मात्रा मे आयात प्राप्त होते है। भारत को अवमूल्यन द्वारा प्राप्त होने वाला शुद्ध लाभ देश के निर्यातों की द्रव्य कीमत में हुए सापेक्ष परिवर्तन जो चित्र २७·३ (A) मे $P_XABP'_X$ आयत के समान है तथा देश के आयातो की द्रव्य कीमत में हुए सापेक्ष परिवर्तन जो चित्र २७·३ (B) में शून्य है, के अन्तर के समान होगा। इस प्रकार भारत को अवमूल्यन द्वारा प्राप्त शुद्ध लाभ $P_XP'_X \times OQ_X = P_XABP'_X$ है।

जब देश के निर्यातो तथा आयातों की पूर्ति की लोच न तो अनन्त होती है तथा न शून्य होती है अर्थात् शून्य से अधिक तथा अनन्त से कम होती है अर्थात् जब तक

$$\infty > e_X > 0$$
$$\infty > e_M > 0$$

हम पूर्व विचार किये बिना यह नही कह सकते है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के भुगतान-शेष के घाटे में सुधार होगा अथवा घाटे को स्थिति पहले से अधिक खराब होगी। मुद्रा अवमूल्यन द्वारा देश के भुगतान-शेप में होने वाले परिवर्तन को निम्नलिखित समीकरण द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

$$\frac{\partial B}{\partial \pi} = K \left[\frac{\eta_X\eta_M(1+e_X+e_M)+e_Xe_M(\eta_X+_{XM}-1)}{(\eta_X+e_M)\ (\eta_M+e_X)} \right]$$

उपरोक्त समीकरण में

K मुद्रा अवमूल्यन को सूचित करता है;

η_X तथा η_M क्रमशः निर्यातों तथा आयातों की माँगो की कीमत लोचो के चिह्न है;

e_X तथा e_M निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति की कीमत लोचों को व्यक्त करते हैं; तथा

$\partial\pi$ तथा ∂B क्रमशः देश की मुद्रा इकाई की विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के फलस्वरूप देश के भुगतान-शेष में होने वाले परिवर्तन के द्योतक हैं।

अवमूल्यन सम्बन्धी उपरोक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि यदि निर्यातों का उत्पादन स्थिर पूर्ति मूल्य पर होता है जैसा कि अनेक प्रकार की विनिर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में सत्य है तो e_X तथा e_M अनन्त होंगी तथा भुगतान-शेष की अवमूल्यन लोच $\eta_M + \eta_M - 1$ होगी। इस स्थिति में अवमूल्यन द्वारा विनिमय दर स्थिरता प्राप्त होने की न्यूनतम शर्त यह होगी कि निर्यातों की माँग की कीमत लोच (η_X) तथा आयातों की माँग की कीमतलोच (η_M) का अंकीय मूल्य एक से अधिक होना चाहिए। इसके विपरीत निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति की कीमत लोच शून्य होने की दशा में, जैसा कि अल्पावधि में कृषि पदार्थों के विषय में सत्य है, भुगतान-शेष की अवमूल्यन लोच धनात्मक होती है तथा इसका मूल्य एक होता है, निर्यातों तथा आयातों की माँग की कीमतलोच कुछ भी क्यों न हो। ऐसी स्थिति में अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश के भुगतान-शेष में सदा सुधार होता है, भले ही आयातों तथा निर्यातों की माँग बेलोचदार क्यों न हो।

यदि आयातों तथा निर्यातों की माँग की लोच अधिक है तो अवमूल्यन के द्वारा देश के भुगतान-शेष के घाटे में सुधार होने की अधिक आशा प्रतीत होती है। आयातों तथा निर्यातों की माँग की लोच अधिक होने के साथ-साथ यदि अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति की लोच भी कम होती है तो अवमूल्यन करने के फलस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश के भुगतान-शेष में शीघ्र सुधार हो सकेगा।

अवमूल्यनों की प्रगति

१९४९ ई० के आरम्भ से लेकर १९७१ ई० के अन्त तक संसार के १०० अधिक देशों ने अपनी मुद्रा इकाइयों का अवमूल्यन किया था। इन देशों में से १२ देश ऐसे हैं जिन्होंने अपनी मुद्रा इकाइयों का ३० प्रतिशत से कम अवमूल्यन किया था। इन देशों में बेलजियम, कनाडा, जर्मनी, इटली, लगजम्बर्ग तथा नैदरलैण्डस के समान विकसित औद्योगिक देशों के अतिरिक्त दक्षिणी अमरीका के तीन राष्ट्र कोस्टारिका, निकाराजुआ तथा वेनिजुला, पुर्तगाल, सौदी अरब तथा सीरिया भी सम्मिलित थे। जर्मनी तथा नैदरलैंडस ने सितम्बर १९४९ ई० में अपनी मुद्रा इकाइयों का ३० प्रतिशत से कम अवमूल्यन करने के पश्चात् १९६१ ई० में ५ प्रतिशत का पुन-र्मूल्यन किया था। २२ देशों ने अपनी मुद्राओं का ३० प्रतिशत से लेकर ३९ प्रतिशत तक अवमूल्यन किया था। इन देशों में अधिकांश वे देश सम्मिलित हैं जिन्होंने १९४९ ई० में पौण्ड-स्टर्लिंग के साथ अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था। डेनमार्क, नारवे, आस्ट्रेलिया तथा स्वीडन के अतिरिक्त इस श्रेणी में एशिया, मध्य पूरब तथा अफ्रीका के विकासशील देश—उदाहरणार्थ बर्मा, ईराक, कीनिया, मलेशिया, नाइजीरिया, पाकिस्तान तथा सिंगापुर—भी सम्मिलित हैं। ६२ देशों ने अपनी मुद्राओं का ४० प्रतिशत से अधिक अवमूल्यन किया है। इनमें ३८ देशों ने युद्ध-पश्चात् अवधि में अपनी मुद्राओं का ४० तथा ७५ प्रतिशत के मध्य अवमूल्यन किया है। इन देशों में इंगलैण्ड, आयरलैण्ड, आस्ट्रिया, फिन्लैण्ड, भारत, मेक्सीको, न्यूजीलैण्ड, पीरू, फिलिपीन्स तथा तुरकी सम्मिलित है। शेष २४ देशों में मुद्राओं का अवमूल्यन ७५ प्रतिशत से भी अधिक हुआ है। इन देशों में यूरोप में फ्रांस, यूनान, आइसलैण्ड, स्पेन तथा यूगोस्लेविया, दक्षिणी अमरीका में अरजेन्टीना

बोलिविया, ब्राजील, कोल्मबिया, चीली, पराग्वे तथा घाना, इण्डोनेशिया, इजराइल, कोरिया, तथा वीतनाम सम्मिलित हैं। १०५ देशों में से २७ देशो में केवल एक बार; २४ देशों में दो बार; २४ देशों में तीन बार; ५ देशों में १९७१ ई० तक चार बार तथा शेष १६ देशों में अनेक बार मुद्रा अवमूल्यन हुआ है।

सितम्बर १९४९ ई० में रुपये का अवमूल्यन

१९४५ में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के समय इंगलैण्ड का भुगतान-शेष अमरीका के साथ प्रतिकूल था और इसे अमरीकी डालरों को प्राप्त करने मे बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड रहा था। यद्यपि इंगलैण्ड के लिए डॉलरों की कमी का अनुभव कोई नई बात नहीं थी क्योंकि युद्ध के पूर्व भी डालर दुर्लभ मुद्रा था परन्तु युद्ध के पश्चात् यह समस्या विशेष रूप से गम्भीर बन गई तथा अमरीका की अर्थव्यवस्था बहुत दृढ़ बन गई थी। युद्ध-काल में इंगलैण्ड को भारी मात्रा में ऋण तथा आवश्यक युद्ध सामग्री बेचने के कारण अमरीका की स्थिति ऋणदाता तथा इंगलैण्ड की स्थिति ऋणी देश की हो गई थी। युद्ध समाप्त होने पर इंगलैण्ड के लिए एक ओर ऋण भुगतान की समस्या उत्पन्न हो गई थी और दूसरी ओर देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण की समस्या थी। कोई देश अपने विदेशी ऋणों का भुगतान अपने निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी करके ही कर सकता है। परन्तु ऐसी दशा में जबकि इंगलैण्ड की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था टूटी-फूटी हालत में थी न तो निर्यातों में वृद्धि करना सम्भव था और न ही आयातों में कमी करना सम्भव था। वास्तव में देश की अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण करने तथा जीवन सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने के हेतु आयातों की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती गई और परिणामस्वरूप ऋण का भार तथा भुगतान-शेष का घाटा पहले तुलना में और अधिक हो गया।

भारत, बर्मा तथा पूरब के अन्य देशों ने इंगलैड के पूरबी मोर्चो पर लड़ने वाले सैनिकों को आवश्यक रसद तथा युद्ध-सामग्री बेची थी। इंगलैड ने इसका भुगतान इन देशों को तुरन्त न करके पौड पावनों के द्वारा भविष्य मे युद्ध की समाप्ति पर करने का वायदा किया था। युद्ध समाप्त होने पर इन देशों ने इंगलैंड के खातों में जमा हुए पौड पावनों की धन राशि का भुगतान प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। इन देशों ने इंगलैंड से इन पौड पावनों को डालरों मे परिवर्तन करने का अनुरोध किया क्योंकि इन देशों को अपने आर्थिक विकास के लिये आवश्यक पूँजी वस्तुओ की आवश्यकता थी जो केवल अमरीका तथा अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों से प्राप्त हो सकती थी। इसका यह परिणाम हुआ कि डालर जो पहले ही दुर्लभ था और अधिक दुर्लभ हो गया तथा इंगलैंड का भुगतान-शेष पहले की अपेक्षाकृत अधिक प्रतिकूल हो गया।

आरम्भ में इंगलैण्ड ने इस गम्भीर स्थिति का कई प्रयत्नों द्वारा सामना किया। अमरीकी डालरों की कमी को पूरा करने के उद्देश्य से इंगलैण्ड ने अपने समुचित अमरीकी निवेशों का निस्तारण (liquidation) कर दिया। इसके अतिरिक्त अमरीका ने भी मार्शल ऐड (Marshall Aid) के अन्तर्गत ऋणों तथा आर्थिक सहायता के रूप में इंगलैण्ड को भुगतान-शेष के घाटे को पूरा करने मे काफी सहायता प्रदान की थी। परन्तु आयातों की मात्रा इतनी अधिक थी तथा भुगतान-शेष का घाटा इतना अधिक आग्रहयुक्त था कि इस प्रकार के अस्थायी उपायों द्वारा इसको समाप्त नहीं किया जा सकता था। अमरीकी डालर की माँग इतनी अधिक थी कि १९४७ ई० के अन्तिम छः महीनों मे डालर संकट उत्पन्न हो गया तथा डॉलर को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर दिया गया।

भुगतान-शेष में घाटे को समाप्त करने के लिये अमरीका, कनाडा तथा अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों को होने वाले निर्यातों में वृद्धि करना आवश्यक था। परन्तु इंगलैंड में वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। निर्यातों में वृद्धि करने के लिये निर्यात वस्तुओं की उत्पादन लागत तथा मूल्यों में कमी करना अतिआवश्यक था और इसको सम्भव बनाने के लिये वेतनों तथा लाभ में कमी करना आवश्यक था। जहाँ तक श्रमिकों के वेतनों में कमी करने का प्रश्न था ऐसा करना यद्यपि आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया उचित था परन्तु राजनैतिक दृष्टि से सम्भव नहीं था क्योंकि इस समय इंगलैंड में श्रम सरकार थी जो श्रमिकों के सहयोग पर आश्रित थी। प्रधान मन्त्री एटली कोई भी ऐसा कार्य करने के पक्ष में नहीं थे जिससे श्रमिकों में असन्तोष की भावना उत्पन्न होने की सम्भावना थी। संक्षेप में इंगलैण्ड की अर्थव्यवस्था पूर्णत: स्थूल (rigid) बन गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के निर्यातों में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि नहीं हो सकी और भुगतान-शेष में घाटे की समस्या बनी रही। इस समस्या के साथ-साथ अब एक और नई अधिक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई थी। सट्टेबाजों में यह भावना उत्पन्न हो गई थी कि वर्तमान ऊँची स्टर्लिंग-डालर विनिमय दर पर पौंड-स्टर्लिंग का डालर-मूल्य इसके वास्तविक मूल्य की तुलना में अधिक था और सरकार को शीघ्र पौंड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन करना पड़ेगा। सट्टेबाजों में यह विश्वास उत्पन्न हो जाने के फलस्वरूप पूँजी का भारी मात्रा में लन्दन से अमरीका को स्टर्लिंग के अवमूल्यन की आशा में अन्तरण होने लगा। सट्टेबाजों की क्रियाओं के कारण देश में डालर की माँग और अधिक तीव्र हो गई। फलस्वरूप विदेशी विनिमय की स्थिति सुधरने के स्थान पर दिन प्रतिदिन अधिक चिन्ताजनक होती गई। कुछ समय तक इस स्थिति पर विनिमय नियन्त्रण के द्वारा नियन्त्रण रखा गया। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने के कारण विनिमय नियन्त्रण की रीति का प्रयोग अस्थायी रूप में थोड़े समय के लिये ही किया जा सकता था। ऐसी दशा में इंगलैण्ड के सामने अपने भुगतान-शेष की स्थिति को अधिक खराब होने से बचाने के लिये अवमूल्यन ही केवल एक उपाय था और विवश होकर सरकार को सितम्बर १९४९ ई० में पौंड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन करना पड़ा।

संक्षेप में १९४९ ई० में पौंड-स्टर्लिंग के अवमूल्यन के निम्नलिखित मुख्य कारण थे।

(i) स्टर्लिंग क्षेत्र के देश आवश्यक उपभोग तथा पूँजी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये अमरीकी आयातों पर भारी मात्रा में आश्रित थे।

(ii) युद्धकाल में इंगलैंड तथा स्वतन्त्र अधिराज्यों की अर्थव्यवस्थाओं के अस्तव्यस्त हो जाने से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के निर्यातों में कमी हो गई थी।

(iii) इंगलैण्ड में उत्पादन लागत तथा मूल्य अधिक होने के कारण अमरीका तथा अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों को होने वाले निर्यातों में वृद्धि नहीं हुई थी।

(iv) सट्टेबाजों की क्रियाओं के कारण पूँजी का भारी मात्रा में इंगलैण्ड से अमरीका को अन्तरण होने लगा था।

जब सितम्बर १९४९ ई० में इंगलैण्ड ने पौंड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन करके इसके डालर मूल्य में ३०·५ प्रतिशत की कमी की तो इंगलैण्ड के साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों ने (केवल पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया था) भी अपनी मुद्रा इकाइयों के डालर मूल्य में समान कमी करदी थी। भारत ने भी इंगलैण्ड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों के साथ अपने आर्थिक सम्बन्धों को स्थिर बनाये रखने की दृष्टि से रुपये के डालर मूल्य में ३०·५ प्रतिशत की कमी करदी थी। अवमूलयन के पश्चात् भारतीय रुपये का डालर मूल्य ३० सेण्ट से घटकर २१ सेन्ट रह

गया था। यदि रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जाता तो रुपया तथा स्टर्लिंग का परम्परागत सम्बन्ध टूट जाता और भारत को स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के साथ व्यापार करने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती। लगभग ७५ प्रतिशत निर्यातों के लिये भारत स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों पर आश्रित था और रुपये का अवमूल्यन न करने से भारत के स्टर्लिंग क्षेत्र देशों के साथ होने वाले विदेशी व्यापार को गहरी हानि होती। इसके अतिरिक्त भारत का व्यापार-शेष भी प्रतिकूल था। अवमूल्यन न करने से देश के व्यापार-शेष की प्रतिकूलता में वृद्धि हो जाती। भारत सरकार के वित्त मन्त्री स्वर्गीय डा० जॉन मथाई ने सरकार की अवमूल्यन नीति का समर्थन करते हुये यह कहा था कि देश का अपने निर्यातों के लिये स्टर्लिंग क्षेत्र पर आश्रित होने, व्यापार-शेष की प्रतिकूलता तथा देश में ऊँची कीमतों को ध्यान में रखते हुये कोई भी व्यक्ति जिसको वाणिज्य तथा वित्तिय मामलों का ज्ञान है सरकार की नीति से असहमत नहीं हो सकता है। अवमूल्यन न करने से देश का सारा विदेशी व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया होता और फलस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था को हानिकारक परिणामों का सामना करना पड़ता। यद्यपि पाकिस्तान द्वारा पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न करने के कारण भारत तथा पाकिस्तान के आर्थिक सम्बन्धों में कुछ गड़बड़ अवश्य हुई परन्तु निस्सन्देह भारतीय रुपये के अवमूल्यन के कारण देश के भुगतान-शेष का घाटा काफी अंश तक समाप्त हो गया।

६ जून, १९६६ ई० को भारतीय रुपये का अवमूल्यन

देश की आर्थिक प्रगति के हितों को ध्यान में रखकर ६ जून, १९६६ ई० को भारतीय रुपये का ३६·५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया गया था। इस अवमूल्यन के परिणामस्वरूप, जो १९४७ ई० में स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् दूसरा अवमूल्यन था, रुपये का समता मूल्य ०·१८६६२१ ग्राम स्वर्ण भार से घटाकर ०·११८४८९ ग्राम स्वर्ण भार कर दिया गया है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप रुपये का डालर मूल्य २१·००० सेण्ट से घटकर १३·३३३ सेण्ट हो गया है। दूसरे शब्दों मे, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अमरीकी डालर का मूल्य ४·७६ रुपये से बढ़कर ७·५ रुपये तथा पौंड-स्टर्लिंग का मूल्य जो १३·३ रुपये से बढ़कर २१ रुपये हो गया था, १९ नवम्बर, १९६७ ई० को इंगलैण्ड द्वारा पौंड-स्टर्लिंग का १४·३ प्रतिशत अवमूल्यन करने के कारण १६ रुपये हो गया है। विश्वसनीय सूत्रों द्वारा रुपये का अवमूल्यन विश्व बैंक के सुझाव पर किया गया था तथा इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अनुमति प्राप्त करली गई थी।

सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार रुपये के समता मूल्य में ३६·५ प्रतिशत की कमी करने का निर्णय पूर्ण विचार करने के पश्चात् लिया गया था। सरकार के अनुसार वर्तमान स्थिति में यह निर्णय देश की अर्थव्यवस्था के आवश्यक हितों के अनुकूल था। गत १५ वर्षों में हुये आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय साधनों, विशेषरूप से विदेशी मुद्रा साधनों की स्थिति दिन प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। मित्र राष्ट्रों से काफी मात्रा में वित्तीय सहायता प्राप्त करने के पश्चात् भी राष्ट्र के विदेशी विनिमय साधनों में कमी का अनुभव किया गया था तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरम्भ के समय से लेकर अवमूल्यन करने के समय तक इन साधनों में ६०० करोड़ रुपये की राशि की कमी हो गई थी—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरम्भ के समय विदेशी विनिमय साधनों की राशि ७८५ करोड़ रुपये थी तथा मार्च १९६६ ई० में यह केवल १८४ करोड़ रुपये रह गई थी। विभिन्न निर्यात प्रोत्साहन योजनाओं (Import Entitlement Scheme, Tax Credit Certificate Scheme, Straight Subsidies) को लागू करने पर भी निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि न हो सकने के कारण देश के भुगतान-शेष की स्थिति प्रति वर्ष अधिक

खराब होती गई थी। वास्तव में १९६५-६६ ई० मे निर्यात १९६४-६५ ई० की तुलना में कम थे। आयातों तथा निर्यातों की स्थिति को देखते हुये सरकार के विचार में निर्यातों में वृद्धि करने तथा आयातों में कमी करने के वर्तमान उपाय अपर्याप्त थे तथा समस्या का स्थाई निवारण करने का उपाय भारतीय रुपये का अवमूल्यन था।

अवमूल्यन करने के समय सरकार ने अवमूल्यन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये थे। अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के आयातों में कमी होने के साथ-साथ निर्यातों में वृद्धि भी होगी। इससे भारत के पर्यटक व्यापार का भी विकास होगा। अवमूल्यन के प्रमुख आर्थिक परिणामों के रूप में भारतीय निर्यात उद्योगों की लाभप्रदता में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप निर्यात उद्योगों की उत्पादनक्षमता में वृद्धि हो सकेगी। देश के कृषि निर्यातों में भी वृद्धि होगी। आयातों की कीमतों में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप आयातों में कमी करना अधिक आकर्षक होगा तथा आयात स्थानापन्न वस्तुओं के विनिर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा तथा इन उद्योगों में अधिक निवेश हो सकेगा। यद्यपि अवमूल्यन के कारण आयात-खाद्यान्न के मूल्य मे वृद्धि हो जावेगी परन्तु सरकार इस खाद्यान्न के बिक्री मूल्य में वृद्धि नहीं करेगी। मिट्टी के तेल तथा अन्य पेट्रोल वस्तुओं की कीमतों को भी, इनके आयातों तथा उत्पादन शुल्कों मे उपयुक्त परिवर्तन करके, स्थिर रखा जावेगा। अवमूल्यन के कारण यद्यपि राष्ट्र के सार्वजनिक विदेशी ऋण भार में वृद्धि हो जावेगी परन्तु यह घाटा काफी सीमा तक निर्यात शुल्कों द्वारा प्राप्त आय द्वारा पूरा किया जा सकेगा। आयात की हुई खाद के मूल्य में कृषक के लिये कोई वृद्धि नहीं होगी तथा अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य में होने वाली वृद्धि का सरकार उपदान सहायता के द्वारा भुगतान करेगी।

भारतीय रुपये के स्वर्ण तथा डालर मूल्य में कमी करने के साथ-साथ निम्नलिखित वस्तुओं पर निर्यात शुल्क लगा दिये गये थे।

	वस्तु	निर्यात शुल्क की दर
१.	विनिर्मित जूट	
	(i) टाट	९०० रुपये प्रति मेटरिक टन
	(ii) सभी प्रकार का बोरा टाट	६०० ,, ,,
२.	चाय	२ रुपये प्रति किलो
३.	कॉफी	५० पैसे प्रति किलो
४.	काली मिर्च	१·२५ रुपये प्रति किलो
५.	खली (गौले की खिली के अतिरिक्त)	१·२५ रुपये प्रति मेटरिक टन
६.	कच्चा तम्बाकू	७५ पैसे प्रति किलो
७.	कच्ची रुई	१,००० रुपये प्रति मेटरिक टन
८.	कटी रुई (cotton waste)	३० पैसे प्रति किलो
९.	कच्चा ऊन	१ रुपया प्रति किलो
१०.	जस्ता सभी प्रकार का	५० पैसे प्रति किलो
११.	खाल तथा सभी प्रकार का कमाया व बेकमाया हुआ चमड़ा	मूल्य अनुसार १० प्रतिशत
१२.	कच्चा नारियल तथा नारियल की बनी वस्तुयें	मूल्य अनुसार १० प्रतिशत

सभी प्रकार की निर्यात प्रोत्साहन योजनाओं को समाप्त कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त मशीनों तथा मूल कच्चे माल के आयातों पर आयात शुल्कों में उपयुक्त कमी करदी गई थी।

अवमूल्यन के परिणाम

प्रश्न यह है कि अवमूल्यन द्वारा सरकार को अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी है। अवमूल्यन करने के तत्काल पश्चात् वित्तीय वर्ष में देश के व्यापार-शेष के घाटे में कमी होने के स्थान पर वृद्धि हो गई थी। १९६६-६७ ई० के वित्तीय वर्ष मे भारत के व्यापार-शेष के घाटे की राशि ९२१ करोड़ रुपये थी जो १९६५-६६ ई० के घाटे की तुलना में ३१८ करोड़ रुपए अधिक थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप एक ओर आयातों के मूल्य में लगभग ४५ प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी जो १९६५-६६ ई० में १,४०८·५२ करोड़ रुपए से बढ़कर २,०७७·९९ करोड़ रुपये हो गए थे तथा दूसरी ओर निर्यातों में बहुत कम वृद्धि हो सकी थी। १९६६-६७ ई० में कुल निर्यातो का मूल्य १,१५ करोड़ रुपये था जबकि १९६५-६६ ई० में इनका मूल्य ८०५ करोड़ रुपये था। १९६७-६८ ई० में यद्यपि व्यापार-शेष का घाटा १९६६-६७ ई० के घाटे की तुलना में कम था परन्तु यह अवमूल्यन-पूर्व वित्तीय वर्ष १९६५-६६ ई० की तुलना में अधिक था। १९६८-६९ ई० मे भारत के निर्यात १,३५८ करोड़ रुपये के थे तथा व्यापार-शेष के घाटे में कमी हो गई थी। परन्तु १९६८-६९ ई० में निर्यातों में आशाजनक वृद्धि होने का कारण केवल अवमूल्यन नहीं था। देश मे मन्दी के कारण माँग कम होने तथा उद्योगो मे उत्पादन क्षमता का इष्टतम उपयोग न होने की स्थिति ने भारतीय विनिर्माताओं को विदेशों में वस्तुओं की माँग उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित किया है। निम्नलिखित सारिणी भारत के आयातों, निर्यातों तथा व्यापार-शेष की स्थिति को व्यक्त करती है।

(राशि करोड़ रुपयो में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
१९६५–६६	१,४०८	८०५	—६०३
१९६६–६७	२,०७८	१,१५७	—९२१
१९६७–६८	२,००८	१,१९९	—८०९
१९६८–६९	१,९०९	१,३५८	—५५१
१९६९–७०	१,५८३	१,४१३	—१७०
१९७०–७१	१,६२५	१,५३५	— ९०
१९७१–७२	१,८५३	१,५६७	—२८६

अध्ययन सूची

1. Sidney S. Alexander : "Effects of Devaluation on Trade Balance," I.M.F. *Staff Papers*, Vol. V, April 1952.
2. Fritz Macblup : "The Analysis of Devaluation", American Economic Review, Vol. XLV, June 1955.
3 B. N. Ganguli ; Devaluation of the Rupee.

4. Geoffrey Crowther : An Outline of Money (Rev. ed.), Chapter X.

5. H. S. Ellis : A Survey of Contemporary Economics, Vol. I., Chapter VI.

6. Joan Robinson : Essays in the Theory of Employment, Chapter on Foreign Exchange.

7. Margaret G. de Vries : "The Magnitudes of Exchange Devaluation", *Finance and Development*, Vol. 5. No. 2, June 1968.

प्रश्न

1. Under what circumstances would you advocate devaluation of a country's currency ? Does the present foreign exchange situation in India call for devaluation of the rupee ?
2. Explain the main reasons on which devaluation of currency can be justified. Do you agree with those who hold the view that, under the present circumstances, Indian rupee should be devalued ?
3. Discuss briefly the economic consquences of devaluation of the Indian rupee in 1949.
4. Analyse the benefits and disadvantages of recent devaluation of the Indian rupee. Do you favour its revaluation ? Give reasons.
5. Explain the circumstances which led to the recent devaluation of the rupee.

२८

मुद्रा बाजार
(Money Market)

वस्तु बाजार के समान मुद्रा बाजार का सम्बन्ध भी वस्तु अथवा सेवा की पूर्ति तथा माँग से होता है। परन्तु जिस वस्तु की माँग तथा पूर्ति से मुद्रा बाजार सम्बन्धित होता है वह वस्तु अल्पावधि निवेश पूँजी होती है। मुद्रा बाजार, जो अनिवार्य रूप से अल्पावधि पूँजी का कुण्ड होता है, पूँजी बाजार, जिसका सम्बन्ध दीर्घावधि पूँजी की माँग तथा पूर्ति से होता है, से भिन्न होता है। अन्य किसी वस्तु बाजार के समान मुद्रा बाजार भी यथार्थ तथा वास्तविक होता है। लन्दन की *Lombard Street* तथा न्यूयार्क की *Wall Street* प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों के उदाहरण हैं।

एक प्रकार से मुद्रा बाजार को अल्पकालीन पूँजी का कुण्ड कहा जा सकता है। राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में देश में अल्प समय के लिये प्राप्त कुल उधारदेय पूँजी का संचय किया जाता है तथा यह पूँजी वाणिज्य तथा वैत्तिक जगत के उन सदस्यों को ब्याज की दर पर उधार दी जाती है जिनको इसकी अल्पकाल के लिए आवश्यकता होती है। "मुद्रा बाजार अल्पकालीन द्रव्य परि-सम्पत्ति को क्रय-विक्रय करने का केन्द्र होता है। यह उधारकर्ताओं की अल्पकालीन ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा उधारदाताओं को पर्याप्त नकदी प्रदान करता है। यह वह स्थान है जहाँ व्यक्तियों तथा वित्तीय व अन्य संस्थाओं की निवेश योग्य बेशी पूँजी को व्यक्तिगत तथा संस्थागत उधारकर्ता तथा सरकार बोली लगा कर प्राप्त करते हैं।"[1]

नेडलर, हेलर तथा शिपमेन के अनुसार मुद्रा बाजार "वह केन्द्र है, जहाँ पर अल्पकालीन पूँजी की माँग तथा पूर्ति का परस्पर समायोजन होता है। मुद्रा बाजार का शब्दार्थ किसी

---

1. A money market is "the centre for dealings, mainly of short-term character, in monetary assets, it meets the short-term requirements of borrowers and provides liquidity or cash to the lenders. It is the place where short-term surplus investible funds at the disposal of financial and other institutions and individuals are bid by borrowers, again comprising institutions and individuals and also the Government itself." (Reserve Book of India : *Functions and Working*, p. 22.)

स्थान को संकेत नहीं करता है। यह शब्द उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का जिसके माध्यम द्वारा उधार देकर अल्पकालीन पूँजी का निवेश किया जाता है तथा उस विधि का जिसके माध्यम द्वारा अनेक वित्तीय सौदे तय किये जाते हैं सूचक है। मुद्रा बाजार अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय तथा वाणिज्य सौदों—लेन देन—का समाशोधन केन्द्र होता है। यह वह स्थान है जहाँ पर किसी राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्रों की उधारदेय पूँजी का संचय किया जाता है तथा जहाँ पर अल्पकालीन पूँजी अथवा मुद्रा को शीघ्रता के साथ उधार लिया तथा उधार दिया जा सकता है। यद्यपि सामान्यत: मुद्रा बाजार में केवल अल्पकालीन उधारदेय निधि को उधार दिया तथा उधार लिया जाता है परन्तु इसका पूँजी तथा वस्तु बाजार के समान उन बाजारों से भी जो वित्तीय निभाव (financial accommodation) के लिये इस (मुद्रा बाजार) पर आश्रित होते हैं निकट सम्बन्ध होता है। विस्तृत अर्थ में मुद्रा बाजार शब्द में वे सभी सुविधायें सम्मिलित होती हैं जिनका उपयोग सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का वित्तीकरण करने में किया जाता है। कोई भी महत्वपूर्ण लेनदेन जिसमें अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन उधारदेय निधि का अन्तरण होता है राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में ही सम्पन्न होता है। संकुचित अर्थ में मुद्रा बाजार में केवल प्रामाणिक साख मुद्रा बाजार से सम्बद्ध लेनदेन, जैसे अविलम्ब कर्जा (call loan) तथा वाणिज्य पत्र व राजकोष पत्र आदि उधार पत्र, जिनमें उधारदाता तथा उधारकर्ता के मध्य व्यक्तिगत सम्बन्धों का बहुत कम महत्व होता है सम्मिलित होते हैं। सामान्य समय में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार अल्पकालीन निधि को संसार के सभी देशों से आकर्षित करता है तथा इसका संसार के देशों में उधारकर्ताओं में पुनर्वितरण करता है। इन निधियों का तरल निवेश होता है जो अमरीका में राजकोष हुण्डी बाजार, अविलम्ब द्रव्य बाजार तथा वाणिज्य हुण्डी बाजार आदि संगठित बाजारों के द्वारा होता है।"[2]

जिन वाणिज्य हुण्डियों का मुद्रा बाजार में क्रय-विक्रय होता है वे ऐसे प्रामाणिक अल्पकालीन ऋण तथा साख पत्र होते हैं जिनके विषय में उधारकर्ताओं तथा उधारदाताओं के मध्य व्यक्तिगत सम्बन्धों का कोई विशेष महत्व नहीं होता है। दोनों पक्ष एक दूसरे से व्यापारियों तथा दलालों के द्वारा मिलते हैं। यद्यपि वाणिज्य हुण्डी बाजार (commercial bill market); अल्पावधि राजकोष हुण्डी बाजार (short term treasury bill market) तथा अभिलम्ब द्रव्य बाजार (call money market) सभी मुद्रा बाजार के अंग होते हैं परन्तु बैंक स्वीकृति बाजार (bankers' acceptances market) मुद्रा बाजार का सबसे अधिक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण अंग होता है। बैंक स्वीकृति बाजार तथा वाणिज्य हुण्डी बाजार में अल्पकालीन पूँजी के द्वारा देशी तथा

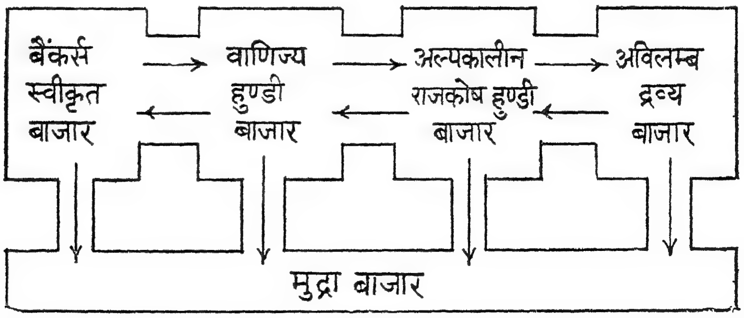

2. Nadler, Heller and Shipman : *The Money Market and Its Institutions* (*1955*), pp. 3-4

विदेशी व्यापार की वित्त व्यवस्था की जाती है। राजकोष हुण्डी बाजार में सरकारी ऋण पत्रों का क्रय विक्रय किया जाता है। अविलम्ब द्रव्य बाजार में प्रचलित तथा नये ऋण पत्रों का क्रय-विक्रय किया जाता है। मुद्रा बाजार में इन सब भिन्न भागों के बीच गहरा सम्बन्ध होता है तथा एक भाग का दूसरे भाग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पृष्ठ ४९२ पर दिये गये चित्र द्वारा मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।

मुद्रा बाजार का संगठन औपचारिक होता है। इसका कोई नियत स्थान नहीं होता है। उधारकर्ताओं, उधारदाताओं तथा व्यापारियों के मध्य लेन-देन सम्बन्धी बातचीत टेलीफोन, तार तथा पत्र द्वारा होती है। मुद्रा बाजार के सन्दर्भ में 'बाजार' शब्द उस व्यवस्था का द्योतक है जो क्रेताओं तथा विक्रेताओं को एक दूसरे के समीप लाने में सहायक सिद्ध होकर उनके मध्य लेन-देन को सम्भव बनाती है। बहुधा सुविधा के लिये दोनों पक्ष किसी नियत स्थान पर स्थित महाकक्ष में मिलते हैं। लन्दन तथा न्यूयार्क के मुद्रा बाजारों का कार्य प्रमुख रूप से लॉम्बार्ड स्ट्रीट तथा वॉल स्ट्रीट में होता है जहाँ व्यापारी तथा बैंक एक दूसरे से टेलीफोन पर बातचीत करके लेन-देन करते हैं।

मुद्रा बाजार वर्तमान वाणिज्य बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थाओं के सुचारु रूप से कार्य करने के लिए अतिआवश्यक हैं क्योंकि मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा उधारकर्त्ताओं तथा उधारदाताओं के मध्य शीघ्र सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा बड़ी राशि में पूँजी का लेन-देन सम्भव हो पाता है। मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा वाणिज्य बैंक अल्पावधि के लिये अपनी बेशी नकदी का निवेश करके लाभ प्राप्त करती हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर सस्ती ब्याज दर पर शीघ्र ऋण प्राप्त करती हैं। वाणिज्य बैंकों का प्रमुख कार्य अपने जमाकर्त्ताओं से नकदी को प्राप्त करना तथा जमाकर्ताओं को माँग पर इसका भुगतान करना होता है। मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा वाणिज्य बैंक अपने जमाकर्ताओं की इस नकदी का इस प्रकार उपयोग करने के योग्य बन जाती हैं कि यह धन राशि उनको आवश्यकता पड़ने पर नकदी में प्राप्त हो सकती है। मुद्रा बाजार में अविलम्ब ऋण देकर वाणिज्य बैंक अपनी फालतू नकदी पर ब्याज आय प्राप्त कर सकती है। मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा वाणिज्य जगत को सुगमता तथा शीघ्रता के साथ भुगतान सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं। चैक तथा तार द्वारा बड़ी मात्रा में धनराशि का अन्तरण सम्भव हो जाता है। मुद्रा बाजार द्वारा कच्चे माल के उत्पादन तथा विपणन के लिए भी पर्याप्त मात्रा में पूँजी प्राप्त होती है। मुद्रा बाजार की उपस्थिति में व्यापारी वर्ग अपनी फालतू नकदी को निसंचित न रखकर इसका निवेश करता है।

मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा मुद्रा अधिकारी मन्दी की अवस्था में साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करते हैं। मुद्रा बाजार अर्थव्यवस्था का एक अटूट अंग होता है तथा अर्थव्यवस्था के विकास में इसका एक विशेष महत्व होता है। यह इस तथ्य से ज्ञात है कि अविकसित देशों में मुद्रा बाजार भी अविकसित होता है। परिणामस्वरूप पूर्णतया विकसित तथा संगठित मुद्रा बाजार की अनुपस्थिति में औद्योगिक विकास के लिये पर्याप्त पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई होती है। विकसित मुद्रा बाजार वाले देशों में जो भी घटना मुद्रा बाजार में घटती है उसका सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, अमरीका में वॉल स्ट्रीट में उत्पन्न संकट को उस देश में तीसा के महान आर्थिक संकट का कारण कहा जा सकता है।

भारतीय मुद्रा बाजार

भारतीय मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषता इसका दो भागों में विभाजन है। भारतीय मुद्रा बाजार संगठित तथा असंगठित भागों का एक विचित्र मिश्रण है। भारतीय मुद्रा बाजार के

भिन्न भागों में एक ही समय पर ब्याज की भिन्न दरें विद्यमान रहती हैं। भारतीय मुद्रा बाजार के संगठित भाग में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया; स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया; इसकी सात सहायक बैंक; राष्ट्रीयकृत बैंक विदेशी तथा भारतीय अनुसूचित बैंक सम्मिलित है। इनके अतिरिक्त बीमा कम्पनी, अर्धसरकारी संस्थायें तथा मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ भी मुद्रा बाजार में उधारदाताओं के रूप में प्रवेश करती रहती है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त मुद्रा बाजार में ऋण दलाल (loan brokers), सामान्य वित्त तथा पूँजी दलाल (general finance and stock brokers) तथा हामीदार (underwriters) भी वित्तीय मध्यस्थों के रूप में कार्य करते है। अन्तरबैंक अविलम्ब मुद्रा बाजार भारतीय मुद्रा बाजार का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। यद्यपि बैंकों के कुल जमा साधनों को देखते हुए इस बाजार में बहुत अधिक धनराशि की पूँजी का लेन-देन नही होता है परन्तु यह समस्त मुद्रा बाजार का सबसे अधिक सचेत अंग है। भारतीय मुद्रा बाजार में वाणिज्य तथा राजकोष हुण्डी बाजार का अभाव है। इसके अतिरिक्त भारतीय मुद्रा बाजार में स्वीकृति व्यापार भी कोई विशेष मात्रा में नहीं होता है। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी संगठित सम्बन्धों तथा कार्यों के विशिष्टीकरण की दृष्टि से भारतीय मुद्रा बाजार एक विकसित बाजार है।

भारतीय मुद्रा बाजार के असंगठित भाग में, जिसमें साहूकार तथा देशी बैंकर है, सजातिता (homogeneity) का अभाव है। इस भाग में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त के बीच कोई विशेष सीमाकरण नहीं है। इसके अतिरिक्त हुण्डी पर कार्य के सम्बन्ध में कुछ भी न लिखा होने के कारण यह कहना कठिन है कि हुण्डी के द्वारा ऋण किस कार्य के लिए लिया गया है। देशी हुण्डी को देखकर इस बात का पता लगाना कठिन है कि हुण्डी वास्तविक वाणिज्य हुण्डी है अथवा केवल वित्तीय रुक्का है। प्रामाणिक हुण्डियों की कमी के कारण भारत में बट्टा बाजार नहीं है। देश में केवल थोड़ी सी ही हुण्डियाँ बैंकों, विशेषकर विदेशी बैंको द्वारा बट्टा की जाती हैं। इस प्रकार भारत में पश्चिमी विकसित देशों की तुलना में हुण्डी बाजार का अभाव है। यद्यपि गत वर्षों में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपनी हुण्डी बाजार योजना के अन्तर्गत व्यापारियों को वाणिज्य हुण्डियों की जमानत के आधार पर वित्तीय सहायता देना आरम्भ किया है परन्तु इस योजना से देश में वास्तविक हुण्डी बाजार की स्थापना नहीं हुई है। भारत में हुण्डी बाजार का अभाव होने के निम्नलिखित प्रमुख कारण है।

(१) देश के भिन्न भागो में लिखित हुण्डियों में समानता का अभाव है।

(२) व्यापारी वाणिज्य बैंकों से अधिकांश ऋण नकद-उधार (cash credit) द्वारा प्राप्त करते हैं।

(३) हुण्डियों पर स्टाम्प शुल्क (stamp duty) बहुत अधिक है।

(४) कृषि उपज को रखने के लिए देश में माल गोदामों का अभाव है।

भारतीय मुद्रा बाजार के संगठित तथा असंगठित भागों के मध्य सहकारी संस्थाओं का स्थान है। यद्यपि देश में सहकारी साख संस्थाओं को स्थापित करने का उद्देश्य गाँव के महाजनों को ग्रामीण साख मुद्रा के क्षेत्र से समाप्त करना था परन्तु इन संस्थाओं को इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। आज भी सहकारी संस्थाओं द्वारा कुल ग्रामीण वित्तीय आवश्यकता का केवल ३० प्रतिशत भाग प्राप्त हो पाता है तथा किसान को महाजन से उधार लेना पड़ता है यद्यपि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया सहकारी बैंकों को उदार वित्त सहायता प्रदान कर रही है।

भारतीय मुद्रा बाजार

संगठित अंग	सहकारी अंग	असंगठित अंग
(रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया; इसकी सहायक बैंक; राष्ट्रीयकृत बैंक; विदेशी विनिमय तथा अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनी आदि)	(सहकारी साख संस्थायें)	(देशी बैंकर तथा महाजन)

दोष तथा सुधार के सुझाव

भारतीय मुद्रा बाजार का सबसे अधिक गम्भीर दोष यह है कि यह कई ऐसे भागों में विभाजित है जिनके बीच कोई सन्तुलित सम्बन्ध नहीं है। मुद्रा बाजार के विभिन्न सदस्यों के मध्य सम्बन्ध आज भी विशेष अच्छे नहीं हैं। संगठित भाग में भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा अनुसूचित बैंकों के बीच समीपी सम्बन्धों का अभाव है। गत कुछ वर्षों में संगठित भाग को पुन: संगठित करने के प्रयत्न किए गए हैं। १९४९ ई० के बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों पर नियन्त्रण करने के व्यापक अधिकार दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त अब स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को भी भारतीय मुद्रा बाजार में एक विशेष स्थान प्राप्त है तथा सहकारी बैंक भी पहले की अपेक्षाकृत अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अधिक प्रभाव तथा आदेश के अनुसार कार्य करती हैं। संक्षेप में अब भारतीय मुद्रा बाजार के संगठित भाग का नायकत्व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को प्राप्त है।

वर्तमान समय में रिजर्व बैंक का अनुसूचित बैंकों पर पूर्ण नियन्त्रण है तथा अनुसूचित बैंक उधार लेने तथा ऋणपत्रों को बट्टा करने के लिये रिजर्व बैंक पर आश्रित हैं। अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का अनुसूचित बैंकों पर गहरा प्रभाव तथा नियन्त्रण है। रिजर्व बैंक अब अनुसूचित बैंकों के लेखों की नियमित रूप से जाँच करती है तथा आवश्यक होने पर उनको परामर्श देती है।

भारतीय मुद्रा बाजार का सबसे बड़ा दोष यह है कि देशी बैंकर संगठित भाग से बिल्कुल अलग हैं। आज भी देशी बैंकों पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नहीं है। यद्यपि १९३५ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के समय से लेकर अब तक अनेक बार देशी बैंकों को रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में लाने के प्रयास किऐ गए हैं परन्तु ये सभी असफल सिद्ध हुए हैं। देशी बैंक रिजर्व बैंक के कठोर नियमों को स्वीकार करने के लिए कभी राजी नहीं हुई हैं। भारतीय मुद्रा बाजार के संगठित भाग से बाहर रहने के कारण ये बैंक रिजर्व बैंक के नियन्त्रण तथा प्रभाव से मुक्त हैं। परन्तु गत वर्षों में इस दिशा में आशाजनक चिह्न दिखाई दिये हैं तथा कुछ बड़ी देशी बैंक अनुसूचित बैंकों में मिल गई हैं। श्रोफ समिति ने यह सुझाव दिया था कि रिजर्व बैंक को देशी बैंकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये तथा रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों के माध्यम द्वारा देशी बैंकों की मुद्दती हुण्डियों को बट्टा करना चाहिये। परन्तु रिजर्व बैंक ने समिति के इन सुझावों को अव्यावहारिक बताकर अस्वीकार कर दिया।

भारतीय मुद्रा बाजार का दूसरा दोष यह है कि बाजार में एक ही समय पर अनेक ब्याज दरें उपस्थित रहती हैं। यह इस कारण होता है क्योंकि भारतीय मुद्रा बाजार संगठित नहीं हैं। आज से ३७ वर्ष पूर्व केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भारतीय मुद्रा बाजार में भिन्न

ब्याज दरों की समस्या के सम्बन्ध में लिखा था कि "मुद्रा बाजार में एक साथ $\frac{3}{4}$ प्रतिशत की अविलम्ब दर; ३ प्रतिशत की हुण्डी दर; ४ प्रतिशत की बैंक दर; ६$\frac{3}{8}$ प्रतिशत की छोटे व्यापारियों के लिये बाजार दर तथा १० प्रतिशत की छोटे व्यापारियों की हुण्डियों पर कलकत्ता बाजार दर का प्रचलित होना देश के भिन्न बाजारों के बीच पूँजी की मन्द गति को सिद्ध करता है।"[3] केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति का यह कथन आज भी उपयुक्त है। भारतीय मुद्रा बाजार की यह स्थिति लन्दन मुद्रा बाजार, जहाँ भिन्न ब्याज दरों में पूर्ण समन्वय है तथा जहाँ ब्याज की भिन्न दरें बैंक दर पर आधारित होती हैं, की स्थिति से बिल्कुल भिन्न हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार का तीसरा दोष यह है कि बम्बई, कलकत्ता आदि प्रमुख केन्द्रों पर ब्याज की दरों में भिन्नता रहती है। इस भिन्नता के कारण ऋण पत्रों के मूल्यों में उच्चावचन होने लगते हैं जिनका वाणिज्य तथा उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के ३५ वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् आज भी ब्याज की दरों में भिन्नता की समस्या पहले के समान विद्यमान है। परन्तु अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा सस्ती ब्याज की दर पर पूँजी प्रेषण सुविधाएँ प्रदान करने तथा देश में हुण्डी बाजार योजना के चालू करने के कारण यह आशा की जाती है कि शीघ्र कुछ समय पश्चात् देश के प्रमुख वाणिज्य तथा वित्तीय केन्द्रों पर प्रचलित ब्याज की दरों में समानता स्थापित हो जावेगी।

भारतीय मुद्रा बाजार का चौथा दोष यह है कि प्रति वर्ष नवम्बर से लेकर मई तक व्यस्त समय में पूँजी की दुर्लभता तथा ऊँची ब्याज की दरों का अनुभव किया जाता है। वर्ष के भिन्न महीनों में ब्याज की दरों में भारी उच्चावचन होते रहते है। आरम्भ से ही रिजर्व बैंक ने मुद्रा बाजार में अल्पकालीन ब्याज की दर में मौसमी उच्चावचनों को कम करने में भारी योगदान दिया है। १९३५ ई० में रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व व्यस्त काल में अविलम्ब मुद्रा दर ८ प्रतिशत तक हो जाया करती थी तथा मन्दे समय में यह $\frac{1}{2}$ प्रतिशत के निम्न स्तर को प्राप्त कर लिया करती थी। परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् व्यस्त तथा मन्दे समय के बीच अविलम्ब मुद्रा दर के उच्चावनों का आकार कम हो गया है। वर्तमान समय में अविलम्ब मुद्रा दर व्यस्त अवधि में ३ प्रतिशत से अधिक तथा मन्दे समय में $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से कम नहीं होती है।

देश में संगठित हुण्डी बाजार का होना मुद्रा बाजार तथा साख मुद्रा प्रणाली के सुचारू रूप से कार्य करने के लिए आवश्यक है। यह देश में भिन्न साख-मुद्रा संस्थाओं का केन्द्रीय बैंक के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये भी आवश्यक है। वाणिज्य बैंक वाणिज्य हुण्डियों की उपयोगिता से भली प्रकार परिचित हैं। हुण्डियों की जमानत के आधार पर वाणिज्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक से वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। कुछ कठिनाइयों तथा तरलता के हेतु अधिक नकदी रखने, नकद साख प्रथा, बाजार हुण्डी के ठीक प्रकार से न लिखे जाने इत्यादि ऐतिहासिक कारणों से भारत में हुण्डी बाजार की स्थापना सम्भव नहीं हो पाई है। जनवरी १९५२ ई० से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने हुण्डी बाजार योजना चालू की है। योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को उनके रुक्कों तथा ग्राहकों की मुद्दती हुण्डियों की जमानत के आधार पर ऋण देती है।

---

3. "The fact that a call rate of $\frac{3}{4}$%, a hundi rate of 3%, a bank rate of 4%, a bazar rate for small traders of $6\frac{3}{8}$%, and a Calcutta bazar rate for bills of small traders of 10% can exist simultaneouly indicates an extraordinary sluggishness of the movement of credit between various markets." (*Central Banking Enquiry Committee Report*, 1931.)

भारतीय मुद्रा बाजार का पाँचवाँ दोष देश में शाखा बैंकिंग प्रणाली की धीमी प्रगति है। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने के समय तक देश में अनुसूचित बैंकों की बहुत कम शाखायें थीं। यद्यपि युद्ध की समाप्ति तथा स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् वाणिज्य बैंकों ने नई शाखायें खोलने का कार्यक्रम आरम्भ किया है परन्तु इन बैंकों की अधिकांश शाखायें आज भी बड़े नगरों में स्थापित हैं।

उपर्युक्त दोष भारतीय मुद्रा बाजार के कुछ ऐसे दोष हैं जिनको रिजर्व बैंक दूर करने का प्रयास कर रही है। अब भारतीय मुद्रा बाजार के भिन्न अंगों को एक साथ संगठित किया जा रहा है। विदेशी तथा भारतीय मिश्रित पूँजी वाली बैंकों में किसी प्रकार का भेदमूलन नहीं किया जाता है। मुद्रा बाजार में भिन्न स्थानों तथा समय पर प्रचलित ब्याज की दरों में समानता स्थापित करने तथा व्यस्त समय में पूँजी की कमी को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख जाँच समिति की सिफारिशों के अनुसार राष्ट्रीय कृषि (दीर्घकाल कार्य) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि (स्थिरीकरण) कोष देश में कृषि साख व्यवस्था को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से स्थापित किए हैं। इन कोषों में अब क्रमश: १९ करोड़ तथा ३९ करोड़ रुपये की राशि है जो सहकारी साख संस्थाओं को देश में कृषि वित्त की समस्या को सुलझाने के लिये ऋण के रूप में दी जा रही है। भारतीय मुद्रा बाजार पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का पूर्ण अधिकार स्थापित हो जाने से भारतीय मुद्रा बाजार के काफी दोष समाप्त हो गये हैं तथा आगामी कुछ वर्षों में शेष दोष भी समाप्त हो जावेंगे। इस सम्बन्ध में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया तथा १४ बड़ी वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण का विशेष महत्व है।

पुरानी इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया से बनी स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का जन्म १ जुलाई, १९५५ ई० को हुआ था। गत १६ वर्ष की अवधि में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने लगभग १,३०० नई शाखायें छोटे मण्डी नगरों तथा अर्ध ग्रामीण क्षेत्रों में खोली हैं। स्टेट बैंक ने १९७१ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की प्रेषण सुविधा योजना के अन्तर्गत ७० करोड़ रुपये की सहायता दी थी। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया लघु उद्योगों को भी वित्तीय सहायता दे रही है।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त भारतीय मुद्रा बाजार में सुधार करने के लिए निम्नलिखित सुझावों को भी कार्यान्वित किया जाना चाहिए।

(अ) अपने ऋण कार्यों को सुविधाजनक बनाने के लिए बैंकों को देश में अनुज्ञप्तियुक्त मालगोदामों का निर्माण करना चाहिए।

(ब) हुण्डियों तथा ऋणपत्रों को बट्टा करने की अधिक सुविधायें प्राप्त होनी चाहिये।

(स) हुण्डियों का प्रमाणीकरण होना चाहिये।

(द) अखिल भारतीय बैंकर्स संघ को देश में भिन्न बैंकों के मध्य समायोजन स्थापित करना चाहिए। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी १९२९ ई० में यह सुझाव दिया था।

(क) देश में देशी बैंकों की उधारदान क्रियाओं का नियमन करने तथा इनको रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के नियन्त्रण में लाने के उद्देश्य से इन बैंकों को अनुज्ञापत्र लेने का आदेश दिया जाना चाहिए।

(ख) समाशोधन गृहों का गुणात्मक तथा परिमाणात्मक रूप से पुनः संगठन किया जाना चाहिये।

(ग) देश के भिन्न भागों में अधिक प्रेषण सुविधायें उपलब्ध होनी चाहिये।

लन्दन मुद्रा बाजार

लन्दन मुद्रा बाजार, जिसका दूसरा नाम लन्दन बट्टा बाजार भी है, प्रमुख रूप से लॉमबार्ड स्ट्रीट में स्थित है जहाँ व्यापारी, बैंक तथा कुछ विशेषज्ञ फर्म होती हैं। विशेषज्ञ फर्म टेलीफूनों पर बातचीत करती रहती हैं तथा बैंक ऑफ इंगलैंड तथा अन्य मिश्रित पूँजी वाली बैंकों से समीपी सम्पर्क बनाये रखती हैं। ये फर्म वाणिज्य बैंकों की फालतू नकदी का लेन-देन करती हैं।

लन्दन मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषता यह है कि वैत्तिक कठिनाई अथवा संकट के समय में वाणिज्य बैंक बैंक ऑफ इंगलैंड से प्रत्यक्ष रूप में वित्तीय सहायता प्राप्त नहीं करती हैं। उनको बैंक ऑफ इंगलैंड से वित्तीय सहायता लन्दन मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा प्राप्त होती है। जब वाणिज्य बैंकों को मुद्रा की कमी का अनुभव होता है तो वे अपने अविलम्ब ऋणों तथा उत्तम ऋण पत्रों का भुगतान प्राप्त कर लेती हैं जिससे मुद्रा बाजार में नकदी की कमी होती है। नकदी की इस कमी को पूरा करने के लिये मुद्रा बाजार बैंक ऑफ इंगलैंड से वित्तीय सहायता प्राप्त करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बट्टा बाजार वाणिज्य बैंकों तथा बैंक ऑफ इंगलैंड के मध्य बिचौलिया का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त बट्टा बाजार वाणिज्य बैंकों तथा हुण्डियों के विक्रेताओं के मध्य भी बिचौलिया का कार्य करता है। हुण्डी बाजार के माध्यम द्वारा वाणिज्य बैंक अपनी नकद परिसम्पत्ति को अधिक तरल रूप में रखकर इस पर ब्याज आय प्राप्त कर लेती हैं। हुण्डी बाजार में वाणिज्य हुण्डियों तथा सरकारी हुण्डियों का क्रयविक्रय होता है। वाणिज्य हुण्डियाँ सकार गृहों द्वारा, जिनको अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त होती हैं, प्रत्याभूत की जाती हैं। सरकारी हुण्डियों के सम्बन्ध में सरकार के स्वयं ऋणी होने के कारण प्रत्याभूति की आवश्यकता नहीं होती है।

बनावट अथवा ढाँचा

लन्दन मुद्रा बाजार में वाणिज्य बैंक; सकार गृह (acceptance houses); बट्टा गृह (discount houses) तथा हुण्डी दलाल कार्य करते हैं। अब हम इन चारों पक्षों की क्रियाओं तथा महत्व की व्याख्या कर सकते हैं।

१. बैंक

जो बैंक लन्दन मुद्रा बाजार के लेनदेन पर प्रमुख रूप से अपना प्रभाव डालती हैं उनमें बैंक ऑफ इंगलैण्ड, मिश्रित पूँजी वाली बैंक, विदेशी बैंकों की लन्दन में स्थित शाखायें तथा इन बैंकों के लन्दन में नियुक्त अभिकर्ता सम्मिलित हैं। बैंक ऑफ इंगलैण्ड की क्रियाओं का मुद्रा बाजार पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है तथा यह सम्पूर्ण मुद्रा बाजार के वातावरण को प्रभावित करती है। बैंक ऑफ इंगलैण्ड के मुद्रा बाजार से सम्बन्धी महत्व पर वाल्टर बैजहॉट द्वारा १८७३ ई० में लिखित कथन आज भी पूर्णतया सत्य है। उस समय बैजहॉट ने लिखा था कि "बैंक ऑफ इंगलैण्ड" मुद्रा में लेनदेन करने वाला अत्यधिक महत्वपूर्ण व्यापारी हुआ करता था तथा यह आज भी है। यह उस न्यूनतम मूल्य को निर्धारित करती है जिस पर केवल यही अपनी हुण्डियों को खरीद सकती है तथा इस प्रकार यह (बैंक ऑफ इंगलैण्ड) मुद्रा बाजार में अन्य व्यापारियों को इस मूल्य अथवा इसके समीपी मूल्य को प्राप्त करने के योग्य बनाती है।

बैंक ऑफ इंगलैण्ड के इस अत्यधिक महत्व का कारण स्पष्ट है। साधारण समय में बैंक ऑफ इंगलैण्ड से नकदी प्राप्त किये बिना लॉमबार्ड स्ट्रीट में सारी हुण्डियों को बट्टा करने के लिये पर्याप्त मुद्रा नहीं होती है। जैसे ही बैंक दर निर्धारित करदी जाती है, वैसे ही वे व्यक्ति, जिनके

पास बट्टा करने के लिये हुण्डियाँ होती हैं, इन हुण्डियों को बैंक दर से सस्ती दर पर बट्टा करने का प्रयास करते हैं। परन्तु ये व्यक्ति अपनी हुण्डियों को बहुत सस्ती दर पर बट्टा नहीं करा सकते हैं क्यों कि उनके ऐसा करा सकने की स्थिति मे सभी व्यक्ति बैंक ऑफ इंगलैण्ड को छोड़कर मुद्रा बाजार में आ जावेंगे तथा परिणामस्वरूप मुद्रा बाजार में इसकी सहन अथवा क्रय-शक्ति की तुलना में अधिक हुण्डियाँ बट्टे के लिये प्रस्तुत की जावेंगी।"[4] बैंक ऑफ इंगलैण्ड के अतिरिक्त वाणिज्य बैंक भी भारी मात्रा में अल्पावधि ऋण पूँजी प्रदान करके मुद्रा बाजार को दृढ़ बनाती हैं।

२. सकार गृह

अधिकांश सकार गृह प्राइवेट साझादारी फर्म अथवा प्राइवेट कम्पनियाँ होती हैं। इन फर्मों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त होती है। ये सकार गृह पुराने सौदागर बैंकरों के उत्तराधिकारी हैं। ये सकार गृह लन्दन मुद्रा बाजार का अन्तर्भाग हैं तथा सम्पूर्ण लन्दन मुद्रा बाजार के सुचारु रूप से कार्य करने में इनका भारी योगदान है। ये सकार गृह बैंक ऑफ इंगलैण्ड तथा वाणिज्य बैंकों के साथ अपने खाते रखते हैं। मुद्रा बाजार को ऋण देने के हेतु सकार गृह वाणिज्य बैंकों से अल्पावधि नकदी उधार लेते हैं। इन सकार गृहों का प्रमुख कार्य अपने ग्राहकों से जमाओं को प्राप्त करना; विदेशी विनिमय में लेनदेन करना तथा हुण्डियों को सकार करना है। ये सकार गृह वाणिज्य हुण्डियों तथा राजकोष पत्रों को खरीदते हैं। उन व्यापारियों के नाम में लिखी हुई हुण्डियों को जिनकी कोई प्रसिद्धि नहीं होती है अथवा जिनके नाम से मुद्रा बाजार में उधारदाता परिचित नहीं होते हैं सकार अथवा प्रत्याभूत करके सकार गृह मुद्रा बाजार में इन हुण्डियों को बेचनीयता प्रदान करते हैं। जिन वाणिज्य हुण्डियों के पीछे सकार गृहों का ठप्पा लगा होता है उन हुण्डियों के भुगतान की जिम्मेदारी उस सकार गृह की होती है जिसका ठप्पा उस हुण्डी के पीछे लगा होता है। हुंण्डी पर अपना ठप्पा लगाने के लिये सकार गृह कमीशन प्राप्त करते हैं। हुण्डियों पर ठप्पा लगाकर मियाद पूरी होने पर इनके भुगतान के सम्बन्ध में हामीदार बनना एक अत्यधिक जिम्मेदारी का काम है तथा इस कारण सकार गृह फर्म वित्तीय मामलों में विशेषज्ञ होती हैं जो हुण्डी लिखने वाले की ईमानदारी तथा वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध में गलती किये बिना जानकारी प्राप्त करती हैं।

सकार गृह द्वारा हुण्डी की पुश्त पर अपना ठप्पा लगाने का परिणाम यह होता है कि हुण्डी लिखने वाले व्यक्ति की साख के स्थान पर सकार गृह की साख का स्थानापन्न हो जाता है। ऐसा होने से मुद्रा बाजार में हुण्डी को बेचनीयता प्राप्त हो जाती है क्योंकि सकार गृह की साख में सबको विश्वास होता है। सकार गृहों के अतिरिक्त कुछ वाणिज्य बैंक भी हुण्डी सकार का कार्य करती हैं।

३. बट्टा गृह तथा हुण्डी दलाल

बट्टा गृह वे विशेषज्ञ फर्म हैं जिनकी संख्या लगभग एक दर्जन है। ये बट्टा गृह सार्वजनिक सीमित कम्पनियाँ होती हैं जो कुल बट्टा व्यापार के ६/१० भाग का लेनदेन करती हैं। बट्टा बाजार लन्दन मुद्रा बाजार का एक अतिसक्रिय तथा महत्वपूर्ण अंग है तथा मुद्रा बाजार में होने वाले कुल लेनदेन का अधिकांश भाग बट्टा बाजार में ही होता है। बट्टा बाजार में हुण्डियों को बट्टा किया जाता है तथा हुण्डियों को बट्टा करने में वाणिज्य बैंकों की नकदी का उपयोग किया जाता है। वाणिज्य बैंक अपनी बेशी नकदी को बट्टा गृहों को उधार देकर अविलम्ब राशि बाजार में इसका

---

4. Walter Bagehot : *Lombard Street* (1873), reprint by Richard D. Irwin, Homewood. Illinois (1962) pp. 56-57.

निवेश करती हैं। वाणिज्य बैंकों से उधार प्राप्त की गई नकदी द्वारा बट्टा गृह सकार की हुई हुण्डियो को बट्टा करते है। जब वाणिज्य बैंकों को अपनी नकदी की आवश्यकता होती है तो वे इस नकदी का अविलम्ब मुद्रा बाजार से प्रत्याहार करती हैं। सकार गृह वाणिज्य बैंकों के ऋणों का भुगतान बैंक ऑफ इंगलैण्ड से, जो इन हुण्डियों को पुनः बट्टा करती हैं, वित्तीय सहायता प्राप्त करके प्राप्त करती हैं।

बट्टा गृह केवल उन्हीं हुण्डियों को बट्टा करते हैं जो सकार गृहों द्वारा सकार की गई होती हैं तथा जिनकी पुश्त पर सकार गृहों का ठप्पा लगा होता है क्योंकि ऐसी हुण्डियों को बट्टा करने में हुण्डी लिखने वाले व्यापारी के दिवालिया अथवा बेईमान हो जाने की स्थिति में बट्टा गृहों को कोई जोखिम नहीं होती है। हुण्डियों को बट्टा करने के पश्चात बट्टा गृह इन हुण्डियों को इनकी परिपाक मियाद के अनुसार क्रमबद्ध रूप में रखते हैं तथा एक मास पश्चात् इन हुण्डियों को वाणिज्य बैंकों को बेच देते हैं। जिस ब्याज की दर पर बट्टा गृह वाणिज्य बैंकों से नकदी उधार लेते हैं वह ब्याज दर उस बट्टा दर से कम होती है जिस पर बट्टा गृह हुण्डियों को बट्टा करते हैं। बट्टा गृह हुण्डियों को बेचकर नकदी प्राप्त करते हैं तथा ये हुण्डियाँ क्रेता बैंकों की परिसम्पत्ति बन जाती हैं। हुण्डी लिखने वाले व्यक्ति अथवा सकार गृहों के हुण्डी का भुगतान न करने की स्थिति में बट्टा गृहों की हुण्डी का भुगतान करने की जिम्मेदारी होती है। वर्तमान समय में बट्टा गृह वाणिज्य हुण्डियों की तुलना में सरकारी हुण्डियों को अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि सरकारी हुण्डियों मे मियाद समाप्त होने पर भुगतान प्राप्त न होने की जोखिम शून्य होती है।

बट्टा गृहों के अतिरिक्त मुद्रा बाजार में हुण्डी दलाल भी होते हैं जो उधारदाताओं तथा उधारकर्त्ताओं के मध्य बिचौलियों का कार्य करते है। सफल हुण्डी दलाल बनने के लिये यह आवश्यक है कि उसको दोनों पक्षों की वित्तीय स्थिति तथा ईमानदारी के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना चाहिये तथा उसे दोनों पक्षों के हितों को सुरक्षित रख कर कार्य करना चाहिये क्योंकि हुण्डी दलाल को दोनों पक्षों का विश्वास प्राप्त होता है।

बैजहॉट की व्याख्या द्वारा यह ज्ञात होता है कि लन्दन मुद्रा बाजार में हुण्डी दलाली के व्यवसाय का क्रमिक विकास हुआ था। १८१० ई० के लगभग लन्दन में इस प्रकार का कोई व्यवसाय नहीं था जिसको आज हुण्डी दलाली कहा जाता है। हुण्डी दलालों का प्रमुख कार्य मुद्रा के बदले में हुण्डियों तथा हुण्डियों के बदले में मुद्रा की तलाश करना होता है। अपने इस कार्य के लिये वे दलाली, जो बट्टा की गई हुण्डी के मूल्य का ½ प्रतिशत तक होती है, प्राप्त करने है। हुण्डी दलाल ऋणदाता से कोई दलाली नहीं लेते हैं। यद्यपि १८१० ई० के लगभग हुण्डी दलाल की साख का कोई महत्व नहीं था परन्तु वर्तमान समय में हुण्डी दलाली व्यवसाय में हुण्डी दलाल की साख का घना महत्त्व है तथा परिचित साख वाले हुण्डी दलाल को अन्य अपरिचित साख वाले हुण्डी दलाल की तुलना में पसन्द किया जाता है। ऋणदाता अच्छे, विश्वसनीय तथा परिचित हुण्डी दलाल के द्वारा ही हुण्डी खरीदना पसन्द करता है क्योंकि ऐसा करने से उसको अधिक जोखिम वाली हुण्डियाँ प्राप्त होने का भय नहीं रहता है। १८१० ई० मे जब श्री रिचार्डसन प्रमुख हुण्डी दलाल थे, स्थिति आज से पूर्णतया भिन्न थी।

न्यूयार्क मुद्रा बाजार

लन्दन मुद्रा बाजार के पश्चात् न्यूयार्क मुद्रा बाजार को संसार के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों में दूसरा स्थान प्राप्त है। अधिकांशतः न्यूयार्क की वॉल स्ट्रीट में संकेंद्रित न्यूयार्क मुद्रा बाजार में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बेशी नकदी का उत्पादक निवेश किया जाता है। राष्ट्र की

अल्पावधि तथा दीर्घावधि धनराशि को प्राप्त करने का सबसे बड़ा केन्द्र होने के कारण न्यूयार्क मुद्रा बाजार द्वारा अल्पकालीन वाणिज्य वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती हैं। न्यूयार्क मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा अल्पावधि पूँजी की माँग तथा पूर्ति के मध्य समायोजन स्थापित होता है। इसी मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा फेड्रल रिजर्व सिस्टम, जो अमरीका में केन्द्रीय बैंक का कार्य करती है, द्रव्य की उपलब्धि में वृद्धि अथवा कमी करके अपनी मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करती है।

फेड्रल रिजर्व धनराशि की पूर्ति के अतिरिक्त न्यूयार्क मुद्रा बाजार में वाणिज्य बैंकों, वाणिज्य निगमों, बीमा निगमों तथा विदेशी केन्द्रीय बैंकों की नकदी का भी निवेश किया जाता है। सरकार, अन्य वाणिज्य बैंक, वित्तीय कम्पनियाँ, व्यापारी फर्म इत्यादि इस नकदी को उधार लेकर इसका उपयोगी निवेश करती हैं। फेड्रल रिजर्व के अतिरिक्त बड़ी बैंक तथा सरकारी हुण्डी व्यापारी न्यूयार्क मुद्रा बाजार की प्रमुख संस्थायें हैं। न्यूयार्क मुद्रा बाजार में जिन परिसम्पत्तियों का लेनदेन होता है उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण फेड्रल नकदी तथा सरकारी हुण्डियाँ हैं। अल्पावधि राशि बाजार में इनका राष्ट्रीय स्तर पर लेनदेन होता है। इनके अतिरिक्त मुद्रा बाजार में बैंक सकारों, वाणिज्य तथा वित्तीय हुण्डियों का लेनदेन भी होता है। लन्दन मुद्रा बाजार के असमान, जहाँ अधिकांश लेनदेन सकार गृहों तथा बट्टा गृहों द्वारा किया जाता है न्यूयार्क मुद्रा बाजार में लेनदेन पूर्णतया वाणिज्य बैंकों द्वारा किया जाता है। वर्तमान स्थिति में मुद्रा बाजार में राजकोष पत्रों का अधिक मात्रा में क्रयविक्रय होता है।

अध्ययन सूची

1. Nadler, Heller & Shipman : The Money Market and Its Institutions, Chapter 1, 4 and 5.
2. Reserve Bank of India : Functions and Working.
3. S. R. K. Rao : The Indian Money Market, Chapters XII and XIII.
4. B. C. Ghose : A Study of the Indian Money Market.
5. Federal Reserve Bank of Cleveland (U.S.A.) ; Money Market Instruments (1963).
6. Walter Bagehot : Lombard Street.

प्रश्न

1. What is meant by 'money market'. Describe its essential constituents.
2. What are the defects of the Indian money market ? Suggest remedies.
3. Explain the role which a well developed money market plays in the economic development of a country.

२९

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परावादी सिद्धान्त
(Classical Theory of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय पर प्राचीन समय से लेखकों ने पुस्तिकाओं तथा लेखों द्वारा अपने विचार व्यक्त किये हैं। १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में वणिकवादी अधिक निर्यातों द्वारा अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अधिक शक्तिशाली राज्य की स्थापना के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण विचारते थे। यद्यपि वणिकवादी लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय पर काफी लिखा था परन्तु उनके लेखनकार्यों में विश्लेषण का अभाव होने के कारण वणिकवादी लेखक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सके।

एडम स्मिथ, जिनको अर्थशास्त्र विज्ञान का जनक कहा जाता है, ने वणिकवादियों की नियमित व्यापारनीति की आलोचना की थी तथा मुक्त व्यापार पर बल दिया था। स्मिथ ने मुक्त व्यापार के लाभों पर प्रकाश डाला तथा इंगलैंड की आर्थिक नीतियों पर उनके विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। मुक्त व्यापार के लाभों को समझाने में स्मिथ ने श्रम विभाजन से प्राप्त होने वाले लाभों पर बल दिया था। स्मिथ के विचार में जो वस्तु विदेश से सस्ते मूल्य पर प्राप्त हो सकती थी उसको देश में बनाना मूर्खता थी। परन्तु स्मिथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सम्पूर्ण विश्लेषण करने में असमर्थ सिद्ध हुये थे। स्मिथ के विचार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक मात्र कारण भिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की उत्पादन लागतों में निरपेक्ष अन्तर में निहित था। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यापकता को केवल उत्पादन लागतो मे निरपेक्ष अन्तर द्वारा नहीं समझाया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के किसी भी सिद्धान्त को निम्नांकित दो प्रमुख प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये।

१. कुछ अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं का केवल कुछ देशों में क्यों उत्पादन होता है तथा अन्य वस्तुओं का अन्य देशों में क्यों उत्पादन होता है, अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण तथा व्यापार के क्या कारण हैं ?

२. अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के निर्धारक क्या कारण हैं अथवा आयात-निर्यात स्थिति (terms of trade) को कौन सी शक्तियाँ निर्धारित करती हैं ?

इन दो मूल प्रश्नों का उत्तर देने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दो मुख्य सिद्धान्त हैं। प्रथम को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परावादी सिद्धान्त और दूसरे को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सामान्य सन्तुलन अथवा आधुनिक सिद्धान्त कहते है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परावादी सिद्धान्त, जो सापेक्ष लागत अन्तर सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है, रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित किया गया था। तत्पश्चात् इस सिद्धान्त मे जॉन स्टुअॉर्ट मिल; जॉन एलियट कैरनेस तथा चार्ल्स फ्रॅन्सिस वेस्टेबिल ने सुधार किये थे। जॉन स्टुआर्ट मिल ने यह व्यक्त करके कि आयात-निर्यात वस्तु विनिमय अनुपात सापेक्ष लागत अन्तर द्वारा निर्धारित निम्नतम तथा उच्चतम सीमाओं के मध्य दोनों देशों की परस्पर माँग की लोचों द्वारा निर्धारित होता है, रिकार्डोवादी सिद्धान्त की कमी को पूरा किया था। कैरनेस ने अनप्रतियोगी समुदायों (non-competing groups) के विचार का प्रतिपादन किया था। वेस्टेबिल ने दो देशों तथा दो वस्तुओं की मान्यता को समाप्त करके अपने विश्लेषण में बहु देशों तथा बहु वस्तुओं की व्याख्या करके इस सिद्धान्त को गम्भीर दोष से मुक्त किया था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त श्रेष्ठतम आधुनिक व्याख्या करने वालों में फ्रेन्क विलियम टॉसिग तथा गाटफ्राइड वॉन हैबरलर के नाम उल्लेखनीय हैं।

अर्थशास्त्रियों ने परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त द्वारा निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। प्रथम, विभिन्न राष्ट्रों के मध्य व्यापार क्यों होता है? दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के मूल्य किस प्रकार निर्धारित होते हैं अर्थात् आयात-निर्यात स्थिति किस प्रकार निर्धारित की जाती है तथा भुगतान-शेष में सन्तुलन किस प्रकार स्थापित होता है? प्रत्येक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनके उत्पादन में इसे दूसरे देश की तुलना में अधिक सुविधा प्राप्त होती है और उन वस्तुओं को आयात करता है जिनके उत्पादन में इसे दूसरे देश की तुलना में असुविधा होती है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनका उत्पादन करने के लिये देश में उपयुक्त उत्पादन साधनों की प्रचुरता होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होते है? इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयास में रिकार्डो ने सापेक्ष-लागत अन्तर (comparative costs) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसको उसने पुर्तगाल तथा इंगलैन्ड में विनिर्मित कपड़ा तथा मदिरा के निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझाया था।

देश	प्रति इकाई उत्पादन लागत (श्रम इकाइयों मे)	प्रति इकाई उत्पादन लागत (श्रम इकाइयों में)
	मदिरा	कपड़ा
पुर्तगाल	८०	९०
इंगलैंड	१२०	१००

उपर्युक्त उदाहरण में यद्यपि इंगलैण्ड मदिरा तथा कपड़ा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में पुर्तगाल की अपेक्षाकृत कम दक्ष है परन्तु मदिरा के उत्पादन मे यह कपड़े के उत्पादन की तुलना में अधिक कम दक्ष है। इसी प्रकार यद्यपि पुर्तगाल इंगलैंड की तुलना मे दोनो वस्तुओ के

विनिर्माण में अधिक दक्ष है परन्तु मदिरा के विनिर्माण में इसकी दक्षता अधिक है। ऐसी स्थिति में पुर्तगाल के लिए अपने सब उत्पादन साधनों द्वारा मदिरा का तथा इंगलैण्ड के लिये अपने सब उत्पादन साधनों द्वारा कपड़े का विनिर्माण करना दोनों देशों के लिये हितकर होगा। बेशी मदिरा का इंगलैण्ड के बेशी कपड़े से विनिमय करके पुर्तगाल को ८० श्रम इकाइयों की लागत द्वारा कपड़े की वह मात्रा प्राप्त हो सकेगी जिसकी उत्पादन लागत पुर्तगाल में ८० श्रम इकाइयों से अधिक है। इसी प्रकार इंगलैंड बेशी कपड़े द्वारा पुर्तगाल से मदिरा विनिमय करके १०० श्रम इकाइयों की लागत द्वारा मदिरा की उस मात्रा को प्राप्त कर सकेगा जिसकी उत्पादन लागत इंगलैंड में १०० श्रम-इकाइयों से अधिक है। रिकार्डो ने उपर्युक्त व्याख्या द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सापेक्ष लागत सुविधा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी देश को उन वस्तुओं को निर्यात करना चाहिये जिनके उत्पादन में इसे दूसरे देश की तुलना में सापेक्ष लाभ अथवा सुविधा प्राप्त है तथा उन वस्तुओं को आयात करना चाहिए जिनके उत्पादन में इसे दूसरे देश की तुलना में कम लाभ प्राप्त है।

१. समान लागत अन्तर

निम्नलिखित उदाहरण दो देशों में वस्तुओं की उत्पादन लागत के मध्य समान अन्तर को स्पष्ट करता है।

भारत में दस दिन की श्रम लागत	द्वारा	कपास	की	१००	इकाइयों का उत्पादन	किया जाता है।
,,	,,	जूट	,,	५०	,,	,,
पाकिस्तान	,,	कपास	,,	८०	,,	,,
,,	,,	जूट	,,	४०	,,	,,

उपर्युक्त उदाहरण में भारत में १० दिन की श्रम लागत द्वारा कपास की १०० इकाइयाँ अथवा जूट की ५० इकाइयाँ उत्पादन की जा सकती हैं। इस प्रकार भारत में कपास तथा जूट का लागत-अनुपात १०० : ५० अथवा १ : $\frac{1}{2}$ (कपास की एक इकाई=जूट की $\frac{1}{2}$ इकाई) है। पाकिस्तान में भी लागत अनुपात वही है जो भारत में है अर्थात् ८० : ४० अथवा कपास की एक इकाई की लागत जूट की आधी इकाई की लागत के समान है। कोई भी देश इन दोनों वस्तुओं में से किसी भी वस्तु के उत्पादन में दूसरे से श्रेष्ठ नही है। इसे हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि

दोनों देशों में कपास का उत्पादन लागत अनुपात $\left(\frac{\text{भारत में कपास की १०० इकाई}}{\text{पाकिस्तान मे कपास की ८० इकाई}}\right)$ दोनों

देशों में जूट के उत्पादन लागत अनुपात $\left(\frac{\text{भारत में जूट की ५० इकाई}}{\text{पाकिस्तान में जूट की ४० इकाई}}\right)$ के समान है।

जब दोनों देशों में उत्पादन लागत अनुपात बराबर होते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव नहीं होता है क्योंकि व्यापार से किसी देश को भी लाभ नहीं होता है। मानलीजिये कि भारत पाकिस्तान को कपास की २० इकाइयाँ निर्यात करके पाकिस्तान से जूट प्राप्त करता है। भारत को पाकिस्तान से जूट की १० इकाइयाँ प्राप्त होंगी क्योंकि पाकिस्तान कपास की एक इकाई के बदले में जूट की $\frac{1}{2}$ इकाई ही दे सकता है। यदि कपास उत्पादन करने वाले श्रम को जूट के उत्पादन में लगा दिया जाय तो भारत स्वयं कपास की २० इकाइयों के बदले में जूट की १० इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है। आयात तथा निर्यात करने से जब तक कोई लाभ न हो तब तक व्यापार निरर्थक होता है। समान लागत अन्तर की स्थिति में दोनों देशों को व्यापार करने से कोई लाभ

प्राप्त नहीं होता है। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि उत्पादन लागत मे समान अंतर होने की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी देश को लाभ प्राप्त नहीं होता है।

२. निरपेक्ष लागत अन्तर

निम्नांकित उदाहरण उत्पादन लागत मे निरपेक्ष अन्तर को स्पष्ट करता है।

भारत में	१० दिन के	श्रम द्वारा	कपास को	१०० इकाइयाँ	उत्पन्न की	जा सकती हैं।
,,	,,	,,	जूट ,,	५०	,,	,,
पाकिस्तान ,,		,,	कपास ,,	५०	,,	,,
,,	,,	,,	जूट ,,	१००	,,	,,

जब दो देशो मे से एक देश किसी वस्तु को दूसरे देश की अपेक्षाकृत कम लागत पर उत्पादन कर सकता है तो इसे लागत में निरपेक्ष अन्तर कहते हैं। उपरोक्त उदाहरण मे भारत को पाकिस्तान की अपेक्षाकृत कपास के उत्पादन मे अधिक सुविधा प्राप्त है और पाकिस्तान को भारत की अपेक्षाकृत जूट के उत्पादन मे अधिक सुविधा प्राप्त है।

यदि भारत तथा पाकिस्तान एक देश के दो भाग है तो प्रत्येक भाग केवल एक वस्तु का उत्पादन करेगा। भारत को कपास तथा पाकिस्तान को जूट के उत्पादन मे अधिक क्षमता प्राप्त है। इस कारण इन दोनों क्षेत्रों के मध्य भूगोलिक श्रम विभाजन द्वारा कुल उत्पादन में वृद्धि हो जायगी। यही बात तब होती है जब दोनों देशो में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ हो जाता है। इस दशा में भी भारत केवल कपास का उत्पादन करेगा और बेशी कपास को जूट के आयात के बदले पाकिस्तान को निर्यात कर देगा। भारत पाकिस्तान से व्यापार करने के लिए तब तक तैयार रहेगा जब तक उसे कपास की एक इकाई के बदले में जूट की १/२ से अधिक इकाई मिलती रहेगी क्योंकि भारत में कपास तथा जूट का यही लागत अनुपात है। इसके विपरीत पाकिस्तान कपास की एक इकाई के बदले में जूट की दो इकाइयाँ दे सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों देशों के लिए लाभदायक होगा। आयात-निर्यात स्थिति अथवा वस्तु-विनिमय अनुपात दोनो देशों की परस्पर माँग की सापेक्ष उग्रता के अनुसार कपास की एक इकाई के बदले में जूट की १/२ तथा २ इकाइयो के मध्य किसी बिन्दु पर स्थापित हो सकती है। इस प्रकार उत्पादन लागत में निरपेक्ष अन्तर होने की स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ हो जाता है।

३. सापेक्ष लागत अन्तर

सापेक्ष लागत अन्तर के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम रिकार्डो ने किया था। रिकार्डो ने स्वयं से यह प्रश्न किया था कि दो देशों में वस्तु विनिमय क्यों होता है ? अर्थात् यदि दोनो देश अनाज तथा कपड़े का उत्पादन कर सकते है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि दोनो देशो को ऐसा करने से लाभ प्राप्त होता है। रिकार्डो के समय मे मुक्त व्यापार तथा संरक्षण के समर्थकों मे बडा विवाद चल रहा था। संरक्षण के समर्थको द्वारा यह तर्क दिया जाता था कि इंगलैण्ड, रूस अथवा पोलैण्ड से गेहूँ तथा अन्य कृषि पदार्थो का क्यों आयात करता है जबकि इंगलैण्ड इन वस्तुओं का रूस तथा पोलैण्ड की तुलना में कम लागत पर उत्पादन कर सकता है। रिकार्डो ने इसका उत्तर निम्न तर्क द्वारा दिया था। उनका कहना था कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इंगलैण्ड को अन्य वस्तुओं के उत्पादन की अपेक्षाकृत सूती वस्त्रों के उत्पादन तथा निर्यात मे अधिक दक्षता प्राप्त है। वास्तव में दूसरे देशों मे इंगलैड मे विनिर्मित सूती वस्त्रों की बिक्री द्वारा इंगलैण्ड को दूसरे देशो से अधिक मात्रा मे अनाज मिल सकता है और ऐसा करने से इंगलैण्ड के निवासी अधिक अनाज का उपभोग कर सकते है। इतना अनाज

इंगलैण्ड के निवासियों को स्वयं इंगलैण्ड में खेती के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता था। इसलिए इंगलैण्ड उस श्रम को जो खाद्यान्न का उत्पादन करता था कपास के उत्पादन में लगा देता है और उस कपास द्वारा बने कपड़े का निर्यात करके इसके बदले में विदेशों से अधिक अनाज प्राप्त कर लेता है। रिकार्डो ने अपने इस विचार को निम्नांकित उदाहरण द्वारा समझाया था।

"दो व्यक्ति जूते तथा टोप दोनों वस्तुओं को बना सकते हैं तथा एक व्यक्ति दोनों वस्तुओं के बनाने मे दूसरे व्यक्ति से अधिक दक्ष है। परन्तु टोप के बनाने में वह अपने प्रतियोगी से केवल $\frac{1}{5}$ अथवा २०% अधिक दक्ष है जबकि जूते बनाने में वह अपने प्रतियोगी की तुलना में $\frac{1}{3}$ अर्थात् ३३$\frac{1}{3}$% अधिक दक्ष है। ऐसी दशा में क्या यह दोनों के हित में नहीं होगा कि अधिक दक्ष व्यक्ति केवल जूते बनावे और कम योग्य व्यक्ति केवल टोप बनावे? सापेक्ष लागत अन्तर का सम्पूर्ण सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में उपर्युक्त उदाहरण की एक प्रयुक्ति है।"

निम्नांकित उदाहरण सापेक्ष लागत अन्तर को स्पष्ट करता है।

भारत	में दस दिन	के श्रम द्वारा	कपास	की १००	इकाइयाँ	उत्पन्न	की जा	सकती हैं।
,,	,,	,,	जूट	१००	,,	,,	,,	,,
पाकिस्तान	,,	,,	कपास	४०	,,	,,	,,	,,
,,	,,	,,	जूट	८०	,,	,,	,,	,,

सापेक्ष लागत अन्तर का यह अर्थ है कि यद्यपि एक देश को दूसरे देश की अपेक्षाकृत दोनों वस्तुओं के उत्पादन में अधिक दक्षता प्राप्त है परन्तु यह दक्षता दूसरी वस्तु के उत्पादन की अपेक्षा किसी एक वस्तु के उत्पादन में अधिक है। उपरोक्त उदाहरण मे भारत को कपास तथा जूट दोनों वस्तुओं के उत्पादन में पाकिस्तान की तुलना में अधिक दक्षता प्राप्त है। परन्तु ऐसा होते हुए भी पाकिस्तान की तुलना में भारत को जूट की अपेक्षाकृत कपास के उत्पादन में अधिक सापेक्ष लाभ प्राप्त है क्योंकि कपास के उत्पादन में भारत पाकिस्तान की तुलना में २$\frac{1}{2}$ गुना दक्ष है जबकि जूट के उत्पादन के भारत पाकिस्तान की तुलना केवल १$\frac{1}{4}$ गुना दक्ष है। इसके विपरीत पाकिस्तान यद्यपि दोनों वस्तुओं के उत्पादन में भारत की अपेक्षाकृत कम दक्ष है परन्तु कपास के उत्पादन में जूट के उत्पादन की अपेक्षाकृत यह भारत की तुलना में अधिक कम दक्ष है। यद्यपि पाकिस्तान कपास तथा जूट दोनों वस्तुओं के उत्पादन में भारत की तुलना में अदक्ष है परन्तु जूट के उत्पादन में यह कपास के उत्पादन की तुलना में कम दक्ष है। परिणामस्वरूप कपास की अपेक्षाकृत जूट के उत्पादन में कम हानि होती है अथवा यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान को जूट के उत्पादन में तुलनात्मक लागत का लाभ प्राप्त है।

यदि दोनों देश केवल उस वस्तु का उत्पादन करें जिसके उत्पादन में प्रत्येक देश को लागत में सापेक्ष लाभ प्राप्त है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों देशों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। भारत में कपास तथा जूट का लागत अनुपात १ : १ (कपास की एक इकाई=जूट की एक इकाई) है। इसलिए भारत कपास के उत्पादन में अपने साधन लगाकर बेशी कपास को पाकिस्तान को निर्यात करके उस समय तक लाभ प्राप्त करेगा जब तक इसे कपास की एक इकाई के बदले में पाकिस्तान से जूट की एक से अधिक इकाई प्राप्त होती रहेगी। पाकिस्तान में कपास और जूट का लागत अनुपात १ : २ (कपास की एक इकाई=जूट की दो इकाइयाँ) है। इसलिए पाकिस्तान के लिये जूट का निर्यात करना लाभप्रद होगा। जूट के निर्यात के बदले पाकिस्तान भारत से कपास का आयात करके अपने राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण में वृद्धि कर सकता है। पाकिस्तान भारत को उस समय तक जूट निर्यात करता रहेगा जब तक इसे जूट की एक इकाई के बदले में भारत

से कपास की ½ से अधिक इकाई प्राप्त होती रहेगी। इस प्रकार कपास की एक इकाई के बदले में जूट की एक तथा दो इकाइयों के मध्य आयात-निर्यात वस्तु विनिमय दर दोनों देशों के लिए लाभदायक होगी। उत्पादन लागत में सापेक्ष अन्तर की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों देशों के लिए लाभदायक है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तभी सम्भव है जब दोनों देशों में वस्तुओं की उत्पादन लागतों में अन्तर होता है भले ही यह अन्तर निरपेक्ष हो अथवा सापेक्ष।

आयात-निर्यात वस्तु विनिमय दर (Commodity Terms of Trade)

यदि हम यह मानलें कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है तो उपर्युक्त सापेक्ष लागत अन्तर के उदाहरण में भारत में कपास तथा जूट के मध्य विनिमय दर कपास की एक इकाई जूट की एक इकाई के समान होगी। जब केवल एक देश में इन दोनों वस्तुओं का उत्पादन तथा विनिमय होता है तब यह विनिमय दर दोनो वस्तुओं के उत्पादन लागत अनुपात द्वारा निर्धारित होती है। पाकिस्तान में कपास-जूट विनिमय दर कपास की एक इकाई जूट की दो इकाइयों के बराबर है। इस स्थिति में यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है कि तो भारत केवल कपास तथा पाकिस्तान केवल जूट का उत्पादन करेगा। अब प्रश्न यह है भारत और पाकिस्तान के बीच कपास तथा जूट की विनिमय दर कहाँ निर्धारित होगी? दोनों देशों के मध्य आयात-निर्यात वस्तु विनिमय अनुपात दोनों देशों में विद्यमान आन्तरिक विनिमय अनुपातों के अनुसार निर्धारित होता है। पाकिस्तान में कपास की एक इकाई का विनिमय मूल्य जूट की दो इकाइयाँ हैं। भारत में कपास की एक इकाई का विनिमय मूल्य जूट की एक इकाई है। कपास की एक इकाई के बदले में जूट की दो इकाइयाँ प्राप्त होना दोनों वस्तुओं के मध्य अधिकतम विनिमय अनुपात है क्योंकि कपास की एक इकाई के बदले में पाकिस्तान भारत को इससे अधिक जूट नहीं दे सकता है। भारत पाकिस्तान से कपास की एक इकाई के बदले में जूट की एक इकाई तक स्वीकार कर सकता है। कपास तथा जूट के मध्य यह न्यूनतम विनिमय अनुपात है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इन दोनों वस्तुओं के मध्य विनिमय दर उपर्युक्त न्यूनतम तथा अधिकतम विनिमय दरों के मध्य कहीं निर्धारित होगी। वास्तविक विनिमय दर एक देश द्वारा दूसरे देश की वस्तु की माँग की उग्रता तथा कीमत लोच द्वारा निर्धारित होगी। आयात-निर्यात वस्तु विनिमय दर उस देश के अनुकूल होगी जिस देश की वस्तु की माँग दूसरे देश मे अधिक तीव्र होगी और स्वयं देश में उस दूसरे देश की वस्तु की माँग कम होगी। इस प्रकार माँग की उग्रता भारत तथा पाकिस्तान के मध्य वस्तु विनिमय दर निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आयात-निर्यात वस्तु विनिमय दर दोनों देशों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग की कीमत लोचों पर निर्भर होती है।

सिद्धान्त की मान्यताएँ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परावादी सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है।

१. केवल श्रम उत्पादन का साधन है और उत्पादन लागत श्रम इकाइयों के रूप में आँकी जाती है।
२. सभी श्रम इकाइयाँ समान है।
३. वस्तुओं का उत्पादन आनुपातिक प्रतिफल नियम के अनुसार होता है अर्थात् दोनों वस्तुओं के मध्य लागत-अनुपात स्थिर है।
४. केवल दो वस्तुओं तथा दो देशों का विचार किया जाता है।
५. उत्पादन साधन देश मे पूर्णतया गतिशील है परन्तु दो देशों के मध्य पूर्णतया गतिहीन है।

६. दोनों देशों के मध्य वस्तुओं की परिवहन लागत शून्य है।
७. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सरकारी नियन्त्रणों से मुक्त हैं।
८. दोनों देशों में स्वर्णमान विद्यमान है और मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू है।
९. दोनों देश स्थायी सन्तुलन की ओर गतिमान होते हुए माने जाते हैं तथा इसमें व्यापार चक्र आदि घटनाओं से बाधा नहीं पड़ती है।

१०. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समान आर्थिक शक्ति वाले दो देशों तथा समान आर्थिक महत्त्व वाली दो वस्तुओं में होता है।

समान लागत अन्तर सिद्धान्त मुद्रा में

आधुनिक मुद्रा अर्थव्यवस्था में वस्तुओं का क्रय-विक्रय मुद्रा में होता है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार श्रम उत्पादन लागत के सापेक्ष अन्तर द्वारा निर्धारित न होकर द्रव्य कीमतों में सापेक्ष अन्तर द्वारा निर्धारित होता है। सापेक्ष लागत अन्तर को निरपेक्ष अन्तर तथा कीमत में परिणित करना सरल है। इस प्रकार का परिवर्तन दो वस्तुओं के विनिमय में परिवर्तन उत्पन्न नहीं करेगा। अब हम पहले के उदाहरण में सापेक्ष लागत अन्तर को निरपेक्ष द्रव्य लागत अन्तर में परिणित करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को समझायेंगे।

भारत में १० दिन के श्रम द्वारा कपास की			१०० इकाइयों का उत्पादन होता है।		
,,	,,	जूट	१००	,,	,,
पाकिस्तान	,,	कपास	४०	,,	,,
,,	,,	जूट	८०	,,	,,

इस उदाहरण में भारत को पाकिस्तान की अपेक्षाकृत दोनों वस्तुओं के उत्पादन में सापेक्ष लाभ प्राप्त है। इसके विपरीत पाकिस्तान को कपास के उत्पादन की अपेक्षाकृत जूट के उत्पादन में तुलनात्मक कम असुविधा है। इसलिये जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ होगा तो भारत कपास का उत्पादन और पाकिस्तान जूट का उत्पादन करेगा। मानलीजिए कि भारत तथा पाकिस्तान में दैनिक मजदूरी क्रमशः तीन रुपये तथा दो रुपये है। उपर्युक्त उदाहरण को मुद्रा में परिणित करने पर निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होता है।

देश	दैनिक मजदूरी	कुल लागत	कुल उत्पादन	प्रति इकाई द्रव्य लागत अथवा पूर्ति मूल्य (रु० में)
भारत	३ रु०	३० रु०	कपास की १०० इकाइयाँ	०·३०
	३ रु०	३० रु०	जूट की १०० इकाइयाँ	०·३०
पाकिस्तान	२ रु०	२० रु०	कपास की ४० इकाइयाँ	०·५०
	२ रु०	२० रु०	जूट की ८० इकाइयाँ	०·२५

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पाकिस्तान की अपेक्षाकृत भारत में कपास की द्रव्य उत्पादन लागत कम है। भारत में यह उत्पादन लागत ३० पैसे प्रति इकाई है जबकि पाकिस्तान में यह ५० पैसे प्रति इकाई है। परन्तु जूट की द्रव्य उत्पादन लागत पाकिस्तान में कम है। भारत में जूट की उत्पादन लागत ३० पैसे प्रति इकाई है जबकि पाकिस्तान में यह केवल २५ पैसे प्रति इकाई है। इस प्रकार दोनों देशों के मध्य व्यापार आरम्भ होने पर भारत केवल कपास का उत्पादन तथा पाकिस्तान केवल जूट का उत्पादन करेगा। यह सापेक्ष लागत अन्तर सिद्धान्त के आधार पर होता है। परन्तु इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि हमने भारत तथा पाकिस्तान

में द्रव्य मजदूरी दर क्रमशः ३ रु० तथा २ रु० प्रति दिन अपनी इच्छा से मान ली है। परन्तु इससे विश्लेषण में कोई अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि श्रम की एक दी हुई मात्रा दोनों देशों में कपास तथा जूट की विभिन्न मात्राओं का उत्पादन करती है। दो देशों में अधिक तथा कम मजदूरी दरों में अन्तर की सीमाएँ उत्पादन के अन्तर से स्पष्ट होती हैं। भारत को कपास के उत्पादन में पाकिस्तान की अपेक्षाकृत अधिक से अधिक २'५ गुना लाभ है। यदि हम पाकिस्तान में दैनिक मजदूरी दर २ रु० मान लें तो भारत में अधिकतम दैनिक मजदूरी दर पाकिस्तान में मजदूरी दर की तुलना में ढाई गुना अर्थात् ५ रु० होगी। भारतीय मजदूरी दर की निम्नतम सीमा पाकिस्तान की तुलना में भारत को जूट के उत्पादन में प्राप्त लाभ द्वारा निर्धारित होगी। दोनों देशों में जूट के उत्पादन अनुपात के आधार पर भारत में निम्नतम मजदूरी दर पाकिस्तान की तुलना १'२५ गुना अथवा २'५० रु० होगी। यदि हम यह मान लें कि पाकिस्तान में मजदूरी २ रु० है तो भारत में मजदूरी २'५० रु० तथा ५ रु० के बीच कहीं निर्धारित होगी।

यह भी दिखलाया जा सकता है कि द्रव्य मजदूरी दर में अन्तर इससे अधिक नहीं हो सकता है। मानलीजिए कि भारत में दैनिक मजदूरी बढ़कर पाँच रुपये हो जाती है अब कपास तथा जूट दोनों की प्रति इकाई लागत ५० पैसे होगी। इस दशा में भारत से पाकिस्तान को कपास का निर्यात नहीं हो सकता है क्योंकि पाकिस्तान में भी कपास की प्रति इकाई उत्पादन लागत ५० पैसे है। परन्तु भारत में पाकिस्तान से जूट का आयात हो सकेगा। इसके फलस्वरूप भारत का भुगतान-शेष प्रतिकूल हो जावेगा और भारत के विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण कोष में कमी हो जावेगी क्योंकि पाकिस्तानी जूट का भुगतान देश से विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण का निर्यात करके किया जावेगा। स्वर्णमान के अनुसार स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा कोषों में कमी होने से भारत में संचलन मे मुद्रा की मात्रा में कमी हो जावेगी। फलस्वरूप भारत में कीमतों तथा मजदूरी दर में गिरावट आ जावेगी। इसके विपरीत यदि भारतीय मजदूरी निम्नतम सीमा—२'५० रुपये—से कम है तो भारत में उत्पादन लागत कम हो जावेगी और भारत में जूट की उत्पादन लागत पाकिस्तान में जूट की उत्पादन लागत की तुलना में कम हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि भारत कपास का निर्यात करता रहेगा लेकिन वह पाकिस्तान से जूट का आयात नहीं करेगा। इसके कारण पाकिस्तान का भुगतान-शेष प्रतिकूल हो जावेगा। भारतीय कपास का भुगतान करने के लिये पाकिस्तान को स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा का भारत को निर्यात करना पड़ेगा। परिणामस्वरूप पाकिस्तान में संचलन में मुद्रा की मात्रा में कमी हो जावेगी और कीमतों तथा मजदूरी दर में कमी हो जावेगी। इस प्रकार दोनों देशों के मध्य द्रव्य मजदूरी उच्चतम तथा निम्नतम मजदूरी अनुपात बिन्दुओं के बीच कहीं निर्धारित होगी।

केवल उत्पादन लागत की सूचना के आधार पर हम यह नहीं बतला सकते हैं कि भारतीय कपास का पाकिस्तानी जूट से किस अनुपात पर विनिमय होगा। यह विनिमय अनुपात दोनों देशों की परस्पर माँग की स्थिति पर निर्भर होगा। यदि पाकिस्तान में भारतीय कपास की माँग भारत में पाकिस्तानी जूट की माँग की तुलना में अधिक उग्र है तो विनिमय अनुपात भारत के अनुकूल होगा। इसके विपरीत यदि भारत में पाकिस्तानी जूट की माँग पाकिस्तान में भारतीय कपास की माँग से अधिक तीव्र है तो विनिमय अनुपात पाकिस्तान के अनुकूल होगा। जे० एस० मिल ने इस सम्बन्ध में व्यक्त किया था कि माँग की स्थिर स्थिति के अन्तर्गत विनिमय अनुपात उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहाँ प्रत्येक देश के निर्यातों का कुल द्रव्य मूल्य उस देश के आयातों के कुल द्रव्य मूल्य के बराबर होता है, अर्थात् जहाँ भुगतान-शेष सन्तुलन में होता है।

सापेक्ष लागत अन्तर सिद्धान्त की आलोचना

कुछ समय पूर्व तक रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तथा मिल द्वारा संशोधित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परावादी सिद्धान्त प्रायः मान्य था। जैसा कि एल्सवर्थ (P. T. Ellsworth) ने लिखा है कि यह सिद्धान्त ह्रासमान प्रतिफल नियम तथा श्रम विभाजन के लाभों के समान बिलकुल सत्य तथा निर्विवाद समझा जाता था। परन्तु इस सिद्धान्त की सैद्धान्तिक रूपरेखा नहीं है क्योंकि इसका आधार कमजोर है। ओहलिन (Bertil Ohlin) ग्राहम (Frank D. Graham) तथा अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है।

इस सिद्धान्त की प्रथम आलोचना यह है कि वस्तु विनिमय को समझने के लिये यह सिद्धान्त श्रम लागत की मान्यता के विरुद्ध है। उन्नीसवीं शताब्दी में सापेक्ष कीमतों को समझाने में कीमत का श्रम लागत सिद्धान्त अस्वीकृत कर दिया गया था क्योंकि श्रम समूहों में स्पर्धा नहीं होती है तथा उत्पादन के अन्य साधनों—पूँजी, भूमि तथा उद्यम जिनमें अत्यधिक गुणात्मक अन्तर है—को जोड़ने के साथ साथ परिमाणात्मक मजदूरी के भिन्न स्तरों को जोड़ना भी आवश्यक है। यदि हम श्रम अथवा वास्तविक लागत का कीमतों को समझाने में त्याग कर दें तो अस्वीकृत सिद्धान्त पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त स्वयं गलत हो जाता है। इसके अतिरिक्त श्रम लागत की मान्यता उत्पादन साधनों के परिवर्तनीय अनुपात के साथ असंगत है। कीमतों की तुलना करने के लिये द्रव्य लागत सबसे उत्तम है। आलोचकों का कहना है कि सिद्धान्त को श्रम लागत के आधार पर समझाना समाप्त करना चाहिये और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या कीमतों के रूप मे करनी चाहिये क्योंकि कीमतें ही यह निर्धारित करती है कि किन वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा और कौन देश किन वस्तुओं का उत्पादन करेगे।

दूसरी कठिनाई आनुपातिक उत्पादन लागत की मान्यता के कारण उत्पन्न होती है। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन में आनुपातिक लागत नियम लागू होता है, जिसके अनुसार किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाई का उत्पादन स्थिर श्रम लागत पर किया जा सकता है। हमारे तीसरे उदाहरण मे कपास तथा जूट के मध्य लागत अनुपात भारत में कपास की एक इकाई जूट की दो इकाइयों के बराबर है। परम्परानिष्ठ आनुपातिक लागत की मान्यता के आधार पर दोनों देशों के बीच यही लागत अनुपात बना रहेगा विशिष्टीकरण की स्थिति कुछ भी क्यों न हो। परन्तु आनुपातिक लागत की परम्परानिष्ठ मान्यता उत्पादन का व्यापक नियम नही है। वस्तुओ के उत्पादन मे प्रायः वर्द्धमान प्रतिफल का नियम अथवा ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू होता है अर्थात् कुछ उत्पादन के पश्चात् अतिरिक्त मात्रा का उत्पादन प्रति इकाई बढ़ती हुई उत्पादन लागत पर सम्भव होता है।

जब भारत कपास में विशिष्टता प्राप्त कर लेता है तो सम्भव है कि कपास के उत्पादन में कम उपयुक्त भूमि का प्रयोग करने के कारण भारत में कपास की उत्पादन लागत में वृद्धि हो जावे। भारत में कपास तथा जूट के मध्य उत्पादन लागत अनुपात अथवा विकल्पलागत अनुपात निम्नलिखित प्रकार बढ़ सकता है।

कपास की १ इकाई=जूट की १ इकाई
=जूट की १·२ इकाइयाँ
=जूट की १·४ ,,
=जूट की १·६ ,, ····आदि

इस प्रकार भारत में कपास की उत्पादन लागत जूट के रूप में बढ़ रही है।

इसके विपरीत यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप पाकिस्तान जूट के उत्पादन में व्यस्त हो जायगा तो पाकिस्तान में कपास के रूप में जूट की उत्पादन लागत बढ़ सकती है। पाकिस्तान में जूट के लिये कम उपयुक्त परन्तु कपास के लिये अधिक उपयुक्त भूमि पर जूट की खेती की जाने लगेगी तथा कपास के रूप में जूट की उत्पादन लागत निम्न प्रकार बढ़ जायेगी।

कपास की १ इकाई=जूट की २ इकाइयाँ
=जूट की १·८ ,,
=जूट की १·७ ,,
=जूट की १·६ ,,
=जूट की १·५ ,, ...आदि

विशिष्टीकरण की किसी एक अवस्था विशेष को प्राप्त हो जाने तथा दोनों देशों में लागत अनुपात में अधिक परिवर्तन होने के पश्चात् एक ऐसी स्थिति आती है जब दोनों देशों में लागत अनुपात बराबर हो जाते हैं। मानलीजिए कि कपास की १ इकाई जूट की १·५ इकाई के समान है। हम यह जानते हैं कि समान लागत अन्तर की स्थिति में भारत तथा पाकिस्तान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकता है क्योंकि दोनों देशों में से किसी को भी व्यापार से लाभ प्राप्त नहीं होगा। इसलिए विशिष्टीकरण नहीं होगा तथा भारत और पाकिस्तान दोनों वस्तुओं का उत्पादन करने लगेंगे। इस प्रकार वर्द्धमान प्रतिफल का नियम अथवा ह्रासमान प्रतिफल का नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त की दूसरी सीमा है। लेकिन यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि आनुपातिक लागत की परम्परावादी मान्यता के स्थान पर वर्द्धमान लागत का अस्तित्व सिद्धान्त की उपयोगिता में कोई विशेष अन्तर उत्पन्न नहीं करता है। यदि कोई अन्तर है तो वह केवल यह है कि आनुपातिक लागत की मान्यता की अपेक्षाकृत इस दशा में अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण कम होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त का तीसरा दोष इस मान्यता में निहित है कि यद्यपि देश में उत्पादन साधन पूर्णतया गतिशील हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वे पूर्णतया गतिहीन हैं। यह मान्यता अवास्तविक है तथा तथ्यों के अनुसार नहीं है। भिन्न उत्पादन साधनों में भिन्न उद्योगों तथा भिन्न क्षेत्रों के मध्य देश में भी पूर्ण गतिशीलता नहीं पाई जाती है। यह तथ्य देश में भिन्न व्यवसायों तथा क्षेत्रों में मजदूरी तथा ब्याज दरों में विद्यमान व्यापक अन्तर से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त श्रम तथा पूँजी का पिछड़े हुए उद्योगों से दूसरे उद्योगों में शीघ्र अन्तरण नहीं किया जा सकता है। सामंजस्य यदि होता भी है तो धीरे-धीरे होता है। इस दशा में उत्पादन साधनों की गतिहीनता कीमतों को अधिक प्रभाहित करती है और इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे को भी प्रभावित करती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि साधनों की आन्तरिक गतिशीलता का प्रभाव वास्तव में उस अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का फल है जिसके कारण एक देश किसी एक प्रकार के औद्योगिक संगठन से घनिष्ठ सम्बन्धित होने के कारण वैकल्पिक उत्पादन विधियों को नहीं अपना सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त की एक अन्य मान्यता यह है कि इसमें परिवहन लागत पर विचार नहीं किया गया है। परन्तु अन्य मान्यताओं के समान यह मान्यता भी अवास्तविक है। बहुत से ऐसे उत्पादन क्षेत्र हैं जिनमें परिवहन लागत उत्पादन लागत से अधिक होती है। किसी वस्तु का आयात अथवा निर्यात तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक दोनों देशों के मध्य उत्पादन लागत में अन्तर उस वस्तु को एक देश से दूसरे देश में ले जाने की परिवहन लागत से अधिक नहीं होता है। परिवहन लागत की उपस्थिति से तीसरी प्रकार की

वस्तुओ की सम्भावना विद्यमान हो जाती है और ये वस्तुऐं निर्यात तथा आयात वस्तुओं के अतिरिक्त स्वयं देश मे उत्पादन की जाने वाली वस्तुयें होती हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस कठिनाई को दूर करने का इस आधार पर प्रयास किया है कि वह देश जो किसी वस्तु का निर्यात करता है उसे परिवहन लागत भी सहन करनी पड़ती है और इस दशा में परिवहन लागत को भी उत्पादन लागत में सम्मिलित करना चाहिए।

परिवहन लागत की उपस्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त के एक अन्य दोष की ओर संकेत करती है। अनेक उदाहरण यह स्पष्ट करने के लिये दिये जा सकते हैं कि किसी देश का एक भाग एक वस्तु का आयात कर सकता है और उसी देश का दूसरा भाग इस वस्तु का निर्यात कर सकता है। उदाहरणार्थ, १९ वीं शताब्दी में जर्मनी के बन्दरगाह इंगलैण्ड से कोयले का आयात करते थे यद्यपि जर्मनी स्वयं कोयले का एक प्रसिद्ध निर्यातकर्त्ता देश था।

फ्रेन्क ग्राहम ने यह सिद्ध किया है कि परम्परावादी लेखकों की मान्यताओं को स्वीकार करके भी दोनों देशों में पूर्ण श्रम विभाजन असम्भव होगा। फ्रेन्क ग्राहम ने अपूर्ण विशिष्टीकरण को समझाने के लिये अनेक उदाहरण दिये है।

यदि हम उन दो देशों को लें जिनमें एक देश छोटा और दूसरा देश बहुत बड़ा है तो यह सम्भव है कि यद्यपि छोटा देश किसी एक वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टता प्राप्त करले परन्तु बड़ा देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करे। यह इसलिये भी सम्भव है क्योंकि छोटे देश में उस वस्तु का उत्पादन, जिसमें इसने विशिष्टीकरण प्राप्त किया है इतना अधिक कम हो सकता है कि इसके द्वारा दोनों देशों की कुल माँग की पूर्ति न हो सके। उदाहरण के लिए, बर्मा भारत की तुलना में चावल बहुत सस्ता पैदा कर सकता है तथा भारत को कपास में अधिक दक्षता प्राप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार बर्मा चावल के उत्पादन में और भारत कपास के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करेगा। छोटा देश होने के कारण बर्मा चावल के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर सकता है और बेशी चावल को भारत से कपास के आयात के भुगतान में निर्यात कर सकता है। परन्तु बड़ा देश होने के कारण भारत निम्नांकित दो कारणों से केवल कपास के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त नहीं कर सकता है।

(१) छोटा देश होने के नाते बर्मा मे चावल का कुल उत्पादन इतना अधिक नहीं होगा कि बर्मा भारत की सम्पूर्ण चावल माँग को पूरा कर सकेगा।

(२) जब भारत मे पूर्ण विशिष्टीकरण हो जावेगा तो छोटा देश होने के नाते बर्मा भारत के सम्पूर्ण बेशी कपास को नही खरीद सकेगा। विवश होकर भारत को चावल तथा कपास दोनो वस्तुओ का उत्पादन करना पड़ेगा यद्यपि बर्मा केवल चावल का उत्पादन करके अपने बेशी चावल को भारत को निर्यात करके भारत से कपास का आयात कर सकता है।

इससे स्पष्ट है कि बड़ा देश पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार अपूर्ण विशिष्टीकरण उस समय होता है जब दो वस्तुऐं ऐसी होती हैं जिनकी कीमतों में घना अन्तर होता है—एक वस्तु अधिक कीमती तथा दूसरी वस्तु बहुत कम कीमती होती है। अधिक कीमत वाली वस्तु का उत्पादन करने वाले देश के लिये विशिष्टीकरण सम्भव नहीं होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक हम दो समान आकार वाले देशों तथा दो समान कीमत वाली वस्तुओं की मान्यता को स्वीकार न करें तब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा पूर्ण विशिष्टीकरण सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में फ्रेन्क ग्राहम ने ठीक लिखा है कि पूर्ण विशिष्टी-

करण की परम्परावादी मान्यता दो देशों के मध्य तभी सम्भव है जब हम ऐसी दो वस्तुओं का विचार करें जो समान मूल्य वाली हैं और ऐसे दो देशों का विचार करें जो समान आर्थिक आकार के हैं। परन्तु संसार में ये दोनों स्थितियाँ बहुत कम पाई जाती है। इसलिये परम्परावादी सिद्धान्त अवास्तविक है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त की एक अन्य सीमा यह है कि इसके अनुसार एक देश को ऐसी वस्तु का उत्पादन नहीं करना चाहिये जिसके उत्पादन में इस देश को प्राकृतिक लाभ प्राप्त नहीं हैं और जिसे वह देश दूसरे देश से सस्ती कीमत पर आयात कर सकता है। परन्तु आजकल प्रायः सभी देश सैनिक तथा अन्य कारणों से विदेशों पर निर्भरता समाप्त करने के उद्देश्य से आयात नियन्त्रण नीतियों का पालन करते है। इसका उदाहरण उड़ीसा तथा दक्षिण भारत के प्रदेशों में अधिक उत्पादन लागत पर कच्चे जूट को उत्पन्न करना है जबकि पाकिस्तान से कच्चे जूट का सस्ता आयात किया जा सकता है।

कुछ लेखकों ने यह सिद्ध किया है कि यह सिद्धान्त उस देश में लागू नहीं होता है जो वस्तु की किसी एक किस्म को दूसरे देशों से आयात करता है जब कि उसी वस्तु की दूसरी किस्म को निर्यात करता है। परन्तु वास्तव में यह सिद्धान्त की आलोचना नहीं है क्योंकि सिद्धान्त मे वस्तु की प्रत्येक किस्म को एक पृथक् वस्तु समझा जाता है। हो सकता है कि भारत को मोटे तथा साधारण कपड़े के उत्पादन में बहुत सुविधाएँ प्राप्त हों परन्तु महीन तथा उत्तम कपड़े के उत्पादन में कोई सुविधा प्राप्त न हो। ऐसी दशा में भारत के लिये मोटे कपड़े का निर्यात तथा महीन कपड़े का आयात करना वांछनीय है।

बरटिल ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त की इसे खतरनाक, अवास्तविक तथा जटिल कहकर आलोचना की है। परम्परावादी सिद्धान्त को जटिल तथा अवास्तविक इसलिये बतलाया गया है क्योंकि यह सिद्धान्त भिन्न देशों में उत्पादन लागतों में निरपेक्ष अन्तरों का विचार नहीं करता है। यह इस बात का विचार नहीं करता है कि किसी देश में वस्तु की कम उत्पादन लागत काफी अंश तक मजदूरी तथा कम परिवहन लागत का परिणाम होती है। इसके विपरीत परम्परावादी सिद्धान्त दो देशों के मध्य केवल श्रम के प्रतिफल को ध्यान मे रखकर तुलना करता है। ओहलिन परम्परावादी सिद्धान्त को खतरनाक समझते हैं क्योकि यद्यपि यह सिद्धान्त केवल दो देशों और दो वस्तुओं के बारे में विचार करता है परन्तु इसके निष्कर्षों को उन पेचीदा परिस्थितियों में भी लागू किया जाता है जहाँ बहुत से देश तथा बहुत सी वस्तुएं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित होती है। परम्परावादी सिद्धान्त स्थिर है। इसलिए यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों को समझाने के लिए अपर्याप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परावादी सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है और इसलिए आधुनिक लेखकों द्वारा इसकी आलोचना की गई है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता है जो मूल्य के आधुनिक सिद्धान्त पर आधारित है (मूल्य के अस्वीकृत श्रम सिद्धान्त पर नहीं) और जो सरल तथा वास्तविक है। बरटिल ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त माना जाता है।

अध्ययन सूची

1. F. W. Taussig : International Trade, Chapters 1-10
2. Gottfried von Haberler : The Theory of International Trade, Chapters 9-10.
3. Bertil Ohlin : Interregional and International Trade, Appendix III.

4. P. T. Ellsworth : The International Economy (rev. ed.), Chapter IV.

5. American Economic Association : Readings in the Theory of International Trade, pp. 301-330.

प्रश्न

1. Discuss the theory of comparative costs. How far does it explain international exchange of goods in the real world ?

३०

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त
(Modern Theory of International Trade)

वालरस, पैरेटो तथा कैसल ने मूल्य के सिद्धान्त का विकास बाजार में मूल्य सम्बन्धों को समझाने के लिए किया था। इस मूल्य सिद्धान्त को सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त (General Equilibrium Theory) भी कहा जाता है। बरटिल ओहलिन ने १९३३ ई० में प्रकाशित अपनी *Interregional and International Trade* शीर्षक पुस्तक में सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रयोग करके एक बाजार में लागू होने वाले मूल्य सिद्धान्त का देश के भिन्न क्षेत्रों अथवा भिन्न देशों के मध्य होने वाले विनिमय को समझाने में प्रयोग किया है।

अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त को समझाने से पहले उनके इस कथन को समझना आवश्यक है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का एक विशेष रूप मात्र है।" ओहलिन के अनुसार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी समझा सकता है, क्योंकि मूलत: स्थानीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को समझाने के लिये किसी पृथक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं है।

सर्वप्रथम, सापेक्ष लागत अन्तर का परम्परावादी सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू नहीं होता है। ओहलिन ने संकेत किया है कि यह सिद्धान्त सभी प्रकार के व्यवसायों का आधार है चाहे वे व्यवसाय विभिन्न व्यक्तियों अथवा एक क्षेत्र में विभिन्न जिलों अथवा एक देश के विभिन्न क्षेत्रों अथवा विभिन्न देशों के मध्य विशिष्टीकरण तथा विनिमय के फलस्वरूप होते हैं। सम्पूर्ण विनिमय अथवा व्यापार एक ही स्रोत है, अर्थात् व्यापार होने के लिये किसी वस्तु के उत्पादन में एक विनिर्माता को दूसरे विनिर्माता की अपेक्षाकृत सापेक्ष लाभ प्राप्त होना चाहिये। रिकार्डो ने इस सिद्धान्त का वर्णन निम्न प्रकार किया था : "दो व्यक्ति जूते तथा टोप बना सकते हैं और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से दोनों वस्तुओं को बनाने में अधिक दक्ष हैं। परन्तु टोप बनाने में वह अपने प्रतियोगी से केवल २० प्रतिशत अधिक दक्ष है, जबकि जूते बनाने में वह अपने प्रतियोगी से

३३⅓ प्रतिशत अधिक दक्ष है। क्या यह दोनों के हित में नहीं होगा कि अधिक दक्ष व्यक्ति केवल जूते बनाता रहे और दूसरा व्यक्ति टोप बनाता रहे?"[1] ओहलिन ने सापेक्ष लागत अन्तर के इस सिद्धान्त का निम्नलिखित प्रकार वर्णन किया है "भिन्न क्षेत्र तथा राष्ट्र उन्हीं कारणों से विशिष्टीकरण करते है और एक दूसरे के साथ व्यापार करते हैं जिन कारणों से व्यक्ति विशिष्टीकरण तथा व्यापार करते हैं। कुछ व्यक्ति स्वभाव से किसी एक कार्य को करने में अधिक कुशल होते हैं जबकि अन्य व्यक्ति किसी दूसरे कार्य को करने में दक्ष होते है। एक व्यक्ति अच्छा माली हो सकता है, दूसरा कुशल अध्यापक हो सकता है तथा तीसरा व्यक्ति अच्छा डाक्टर हो सकता है। दक्ष माली अध्यापक का कार्य ठीक नहीं कर सकता है और कुशल अध्यापक योग्य डाक्टर नहीं हो सकता है। इस प्रकार विशिष्टीकरण का लाभ स्पष्ट है। यदि प्रत्येक व्यक्ति योग्यता में समान हुआ होता तो भी विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त हुआ होता।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक लाभ अथवा सापेक्ष लागत अन्तर, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशेष सिद्धान्त का आधार माना गया है केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए ही उपयुक्त नहीं है। जैसा कि पैरेटो ने लिखा हैं, सापेक्ष लाभ का विचार "केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है वरन् यह उन व्यक्तियों पर भी लागू हो सकता है जो एक आर्थिक इकाई के रूप में होते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त के विरुद्ध ओहलिन का दूसरा तर्क उत्पादन साधनों के गतिशील न होने की परम्परावादी मान्यता से सम्बद्ध है। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्रियों के अनुसार यद्यपि उत्पादन साधन देश में पूर्णतया गतिशील थे परन्तु भिन्न देशों के मध्य ये साधन गतिशील नहीं थे और उनकी गतिशीलता का यह अभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त के लिए मुख्य औचित्य समझा जाता था। परन्तु ओहलिन का कहना है कि उत्पादन साधनों की गतिहीनता का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उत्पादन साधनों की यह गतिहीनता देश के भिन्न क्षेत्रो के मध्य भी विद्यमान होती है तथा देश के भिन्न क्षेत्रों तथा उद्योगों में ब्याज की दरों तथा मजदूरी की दरों में विद्यमान अन्तर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि यदि देश में उत्पादन साधनों में पूर्ण गतिशीलता हुई होती तो देश के भिन्न क्षेत्रों में ब्याज तथा मजदूरी की दरों में अन्तर न हुआ होता। केरनेस (Cairnes), जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थे और जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त को परिष्कृत किया था, ने प्रत्येक देश तथा देश के प्रत्येक क्षेत्र में रहने वाले स्पर्धाहीन समूहों (non-competing groups) की धारणा का समावेश किया है। उदाहरण के लिए, कृषि-श्रमिक औद्योगिक श्रमिक नहीं बन सकते है। कोई देश जितना अधिक विशाल होगा, उसके भिन्न क्षेत्रों में ब्याज तथा मजदूरी की दरों में उतना ही अधिक अन्तर होगा। इस प्रकार उत्पादन साधनों की गतिहीनता अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय विनिमयों में उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त जैसा कि ओहलिन ने लिखा है देशों के मध्य उत्पादन साधनों की गतिहीनता केवल सापेक्ष है। ओहलिन ने ऐसे अनेक उदाहरण दिए हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि अनुकूल अवसरों पर यूरोप से श्रम तथा पूँजी का संसार के भिन्न भागों को निर्यात किया गया है। दक्षिण अमरीकी देश, कनाडा, अमरीका, अफ्रीका तथा अन्य बहुत से देशों का अत्यधिक आर्थिक विकास यूरोप से निर्यात किये गये श्रम और पूँजी के द्वारा हुआ है। उदाहरणार्थ, अमरीका में नहर तथा रेल परिवहन का विकास अमरीका में अंग्रेजी पूँजी के निवेश के परिणामस्वरूप हुआ था। अतः ओहलिन का यह कहना है कि भिन्न देशों तथा

1. David Ricardo : *Principles Of Political Economy* (Everyman's Edition), footnote, p. 83.
2. Bertil Ohlin : *Interregional and International Trade.*

क्षेत्रों के मध्य उत्पादन साधनों की गतिशीलता का प्रश्न एक ही है। उत्पादन साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता में प्रकार का अन्तर न होकर अंश मात्र का अन्तर है।

तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक् सिद्धान्त का औचित्य भिन्न राष्ट्रों में विद्यमान भिन्न मुद्रा इकाइयों पर आधारित है। यह कहा जाता है कि भिन्न देशों में पृथक् मुद्रा इकाइयाँ होती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय विदेशी व्यापार विनिमय दर के द्वारा होता है। यह भी कहा जाता है कि स्थिर अथवा अस्थिर विनिमय दर के माध्यम द्वारा होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण दो देशों में वस्तुओं के कीमत अनुपातों में परिवर्तन हो जाता है। परन्तु ओहलिन का कहना है कि दो मुद्रा इकाइयों के मध्य विनिमय दर पृथक रूप से निर्धारित नहीं होती है। वस्तुओं की कीमतों तथा लागत सम्बन्धों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विनिमय दर द्वारा किसी मुद्रा इकाई की बाह्य क्रयशक्ति निर्धारित होती है और इसका मुद्रा की आन्तरिक क्रयशक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में मूल अन्तर होना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त यह प्रमाणित करने के लिए भी उदाहरण दिये जा सकते हैं कि दो भिन्न मुद्रा इकाईयों के अस्तित्व मात्र से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होना आवश्यक नहीं है। एक देश के दो क्षेत्रों में दो भिन्न मुद्रा इकाईयों के माध्यम द्वारा होने वाले विनिमय का सर्वोत्तम उदाहरण स्वाधीनता के पूर्व हैदराबाद रियासत तथा ब्रिटिश भारत के बीच विनिमय था। इस प्रकार के व्यापार में हाली रुपये तथा भारतीय रुपये का प्रयोग किया जाता था। भारतीय रुपया तथा हाली रुपया निर्धारित विनिमय दर द्वारा परस्पर सम्बन्धित थे। ओहलिन के विचारानुसार प्रमुख अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय व्यापार के मध्य नहीं हैं वरन एक बाजार तथा अनेक बाजारों में मूल्य निर्धारण के सिद्धान्तों के मध्य अन्तर का है।

अतः ओहलिन के अनुसार सामान्य सन्तुलन विश्लेषण का, जो अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की व्याख्या करता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन में उपयोग किया जा सकता है। ओहलिन के मतानुसार भिन्न देश एक देश के उन भिन्न क्षेत्रों के समान हैं जो एक दूसरे से राष्ट्रीय सीमाओं, सीमा करों, भाषा, रीति-रिवाज एवं मुद्रा इकाईयों की भिन्नताओं के फलस्वरूप पृथक हो गये हैं। परन्तु व्यवहार में देशों के मध्य उत्पादन साधनों तथा वस्तुओं की गतिशीलता में राजनीतिक सीमायें, सीमा कर तथा अन्य बाधायें स्थिर नहीं होती हैं। राष्ट्रों की सीमायें बदल जाती हैं तथा राष्ट्रों के मध्य शुल्क दरों की दीवारें गिर पड़ती हैं। अतः भिन्न राष्ट्रों को हम भिन्न क्षेत्रों के समान समझ सकते हैं तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के समान विचार सकते हैं। परन्तु क्षेत्र राष्ट्र से निम्नलिखित दो बातों में भिन्न होता है।

प्रथम, कुछ क्षेत्र जो आर्थिक दृष्टि से एक हो सकते हैं, वे राजनीतिक दृष्टि से दो पृथक राष्ट्र हो सकते हैं। इसका सबसे उत्तम उदाहरण बंगाल है, जिसका पूरबी भाग पूरबी पाकिस्तान में है और पश्चिमी भाग भारत में है यद्यपि पूरबी बंगाल आर्थिक दृष्टि से शेष पाकिस्तान की अपेक्षाकृत भारत से अधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। ऐतिहासिक दृष्टि से पूरबी पाकिस्तान भारत का भाग रहा है। ओहलिन का मत है कि इस प्रकार के दो राष्ट्रों को एक क्षेत्र समझना चाहिये। आवश्यकतानुसार सीमा कर अथवा मुद्रा इकाईयों जैसी कृत्रिम रुकावटों को ध्यान में रखना चाहिये। इस प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि साधनों की समानता, पूँजी तथा श्रम की गतिशीलता, औद्योगिक तथा आर्थिक विकास का ढाँचा एवं दीर्घकालीन व्यापारिक प्रवृत्तियाँ राजनीतिक सीमाओं की अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होंगी। ऐसे उदाहरणों में सरकारें प्रायः दोनों राष्ट्रीय क्षेत्रों की पारस्परिक अन्योन्याश्रय अवस्था को समझती हैं और इसलिए सीमा व्यापार पर रोक नहीं लगाती हैं।

क्षेत्र तथा राष्ट्र में दूसरा अन्तर भारत, रूस तथा अमरीका के समान बहुत बड़े राष्ट्र में जहाँ एक से अधिक आर्थिक क्षेत्र होते हैं देखने को मिलता है। उदाहरण के लिये, यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से भारत एक राष्ट्र है परन्तु इसमें बहुत से आर्थिक क्षेत्र हैं, जो उत्पादन साधनों की पूर्ति के सम्बन्ध में एक दूसरे से भिन्न हैं।

परन्तु इन भिन्नताओं के होते हुए भी क्षेत्र तथा राष्ट्र मुख्यतया समान हो सकते हैं। एक स्थानीय बाजार में लागू होने वाले मूल्य तथा विनिमय सिद्धान्तों का विस्तार करने से वे बहुत से बाजारों और क्षेत्रों में विनिमय तथा कीमतों का विश्लेषण करने में लागू किये जा सकते हैं। वास्तव में व्यापार वस्तुओं की उत्पादन लागत तथा कीमतों में अन्तर होने के कारण ही सम्भव होता है। यह प्रत्येक दशा में सत्य है चाहे क्षेत्र एक हो अथवा अनेक, क्षेत्र छोटा हो अथवा बड़ा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्थानीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का ही एक रूप है। ओहलिन ने इसे एक विशेष नाम से पुकारा है क्योंकि ऐसा करके वे क्षेत्रों तथा राष्ट्रों के अन्तर को स्पष्ट करना चाहते हैं।

मूल्य निर्धारण का सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त

ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त कीमत निर्धारण के सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त पर आधारित है। अब हम संक्षेप में मूल्य के सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त का वर्णन करेंगे और यह समझायेंगे कि ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त किस प्रकार मूल्य निर्धारण के सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त पर आधारित है।

किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की पूर्ति तथा माँग द्वारा निर्धारित होता है। वस्तु की माँग उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं, उनकी अभिरुचियों तथा इच्छाओं, उनकी आयों तथा अन्य वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर होती है। इसके विपरीत किसी वस्तु की पूर्ति उस वस्तु की उत्पादन संभावनाओं पर निर्भर होती है अर्थात् यह उत्पादन साधनों की पूर्ति और उत्पादन प्रविधि पर निर्भर होती है।

सन्तुलन बिन्दु पर माँग और पूर्ति में परस्पर समानता होती है और उत्पादित वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है। लेकिन वस्तु की उत्पादन लागत में उन सभी उत्पादन साधनों की कीमतें सम्मिलित होती हैं जिनका उस वस्तु के उत्पादन में प्रयोग किया जाता है।

इस सम्बन्ध में अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उत्पादन साधनों की कीमतें, जो वस्तु की उत्पादन लागत में सम्मिलित होती हैं, उत्पादन साधनों की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती हैं। इन साधनों की माँग इन साधनों द्वारा विनिर्मित वस्तुओं की मांग पर निर्भर होगी क्योंकि उत्पादन साधनों की माँग उन उपभोग वस्तुओं के उत्पादन द्वारा की जाती है जो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की तुष्टि करती हैं। यदि किसी विनिर्मित वस्तु की माँग अधिक है तो उन उत्पादन साधनों की माँग में जो इस वस्तु का उत्पादन करते हैं वृद्धि हो जावेगी। किसी उत्पादन साधन की कुल माँग उस साधन की उन भिन्न माँगों का योग होगी जो उन सभी उद्योगों में उत्पन्न होती है जिनमें यह साधन आवश्यक समझा जाता है। इस साधन की पूर्ति में इसकी कीमत के अनुसार परिवर्तन होगा।

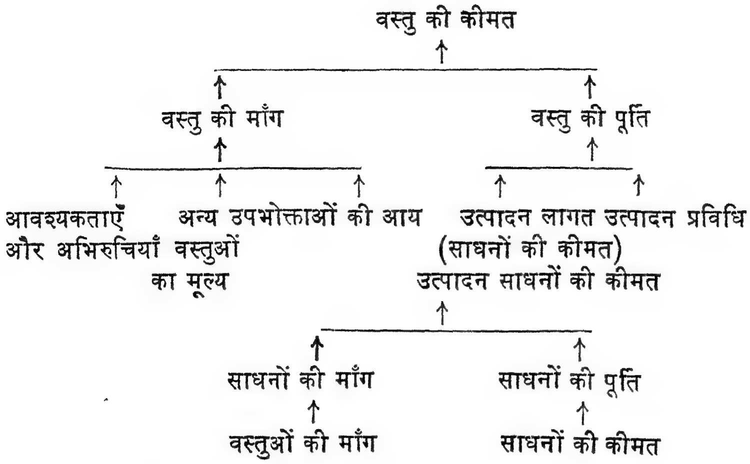

यहाँ दो बातें उल्लेखनीय हैं। प्रथम, उत्पादन साधनों की माँग वस्तुओं की माँग द्वारा निर्धारित होती है। दूसरे, उपभोक्ताओं की आय जिसके द्वारा, अन्य बातें समान रहते हुए, उपभोग वस्तुओं की माँग निर्धारित होती है, अधिकांशतया उत्पादन साधनों के स्वामियों द्वारा उत्पादन साधनों की सेवा के बदले में प्राप्त प्रतिफल होती है। वस्तुओं की कीमतें उत्पादन साधनों की कीमतों पर निर्भर होती हैं, जो स्वयं वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर होती हैं। इस प्रकार ओहलिन ने वस्तुओं की कीमतों, उत्पादन साधनों की कीमतों, उपभोक्ताओं की आयों, विनिर्मित वस्तुओं की माँग तथा उत्पादन साधनों की माँग व पूर्ति के मध्य सम्बन्ध स्पष्ट किया है। सम्पूर्ण स्थिति एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली, एक-दूसरे से सम्बद्ध तथा एक दूसरे पर आश्रित मिश्रित प्रभावों से मिलकर बनी है, जिसमें प्रत्येक शक्ति अन्य प्रत्येक शक्ति पर निर्भर है। यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक बाजार में उत्पादन साधनों में पूर्ण गतिशीलता है तथा वे विभाज्य हैं और उत्पादन साधनों की पूर्ति का सबको ज्ञान है तथा वह स्थिर है तो हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि प्रत्येक बाजार की मूल्य प्रणाली में निम्नांकित क्रियात्मक पाँच सम्बन्ध पाये जाते हैं।

१. प्रत्येक वस्तु की कीमत इसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है।
२. प्रत्येक वस्तु की माँग अन्य वस्तुओं की कीमतों तथा उपभोक्ताओं की आयों पर निर्भर होती है।
३. प्रत्येक व्यक्ति की आय उस उत्पादन साधन की सेवाओं की मात्रा और कीमत पर निर्भर होती है जिसका वह स्वामी है।
४. किसी उत्पादन साधन की माँग उसकी स्थिर पूर्ति के बराबर होगी।
५. किसी वस्तु के उत्पादन में आवश्यक उत्पादन साधनों की मात्रा कुछ अंशों में उत्पादन की अवस्था पर तथा कुछ अंश में उत्पादन साधनों पर निर्भर होती है।

उपर्युक्त पाँचों सम्बन्धों से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्रत्येक क्षेत्र में किसी भी समय उत्पादन साधनों तथा वस्तुओं की कीमतें अन्त में निम्नलिखित चार मूल दशाओं द्वारा निर्धारित होती हैं। इनमें दो माँग से तथा दो पूर्ति से सम्बन्धित हैं।

१. उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें तथा इच्छायें।

२. उत्पादन साधनों के स्वामित्व की दशायें जिनसे व्यक्तियों की आय प्रभावित होती है और परिणामस्वरूप उपभोग वस्तुओं की माँग प्रभावित होती है।

३. उत्पादन साधनों की पूर्ति।

४. उत्पादन की भौतिक दशायें।

उपर्युक्त चारों दशाओं के निर्धारित होने पर उपर्युक्त पाँच सम्बन्धों द्वारा वस्तुओं तथा साधनों की कीमतों को ज्ञात किया जा सकता है।

ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

ओहलिन ने व्यक्तिगत विशिष्टीकरण अथवा श्रम विभाजन तथा उत्पादन में क्षेत्रीय विशिष्टीकरण में समानता का संकेत करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। व्यक्ति अपनी रुचियों अथवा योग्यतानुसार किसी एक विशेष आर्थिक कार्य में विशिष्टीकरण प्राप्त करते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्पादन अधिकतम होता है। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन साधनों की मात्राओं में अन्तर हो सकता है। कुछ क्षेत्रों में अधिक उपजाऊ भूमि हो सकती है, कुछ में अच्छी खानें हो सकती हैं तथा अन्य क्षेत्रों में अधिक पूँजी हो सकती है। प्रत्येक क्षेत्र तथा राष्ट्र के हित में यह होगा कि प्रत्येक क्षेत्र उन वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिर्माण में विशिष्टीकरण प्राप्त करे जिनके उत्पादन के लिए इस क्षेत्र के उत्पादन साधन सबसे अधिक योग्य हैं।

दूसरे, ओहलिन ने यह व्यक्त किया है कि जिस प्रकार व्यक्तिगत रुचियों में भिन्नता होने के कारण व्यक्तियों के मध्य विनिमय सम्भव होता है उसी प्रकार उत्पादन साधनों में भिन्नता होने के कारण अन्तर्क्षेत्रीय विशिष्टीकरण तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार सम्भव होता है।

इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए ओहलिन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार होने का तत्कालीन कारण सदैव यह होता है कि दूसरे क्षेत्रों से कुछ वस्तुयें कम कीमत पर खरीदी जा सकती हैं जबकि उसी क्षेत्र में इनका उत्पादन अधिक मूल्य के द्वारा संभव हो सकता है।"[3] दूसरे शब्दों में, अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार होने का तात्कालिक कारण वस्तुओं की कीमतों में अन्तर्क्षेत्रीय अन्तर का होना होता है।

अब प्रश्न यह है कि किन परिस्थितियों में वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें भिन्न होंगी, अर्थात् भिन्न क्षेत्रों में वस्तुओं की कीमतों में असमानता होने के क्या कारण हैं? दो क्षेत्रों में सापेक्ष कीमतों में अन्तर वस्तुओं की माँग और पूर्ति पर निर्भर होगा। एक बाजार में मूल्य निर्धारण सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु की माँग निम्नांकित दो बातों पर निर्भर होती है।

१. उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ तथा अभिरुचियाँ।

२. उत्पादन साधनों के स्वामित्व की दशाएँ, जिनसे व्यक्तिगत आय और माँग प्रभावित होती है।

इसी प्रकार वस्तु की पूर्ति निम्नांकित दो बातों पर निर्भर होती है।

१. उत्पादन साधनों की पूर्ति।

---

3. Bertil Ohlin : *Op. Cit.*, p. 12.

२. उत्पादन की भौतिक दशायें । ओहलिन के अनुसार ये प्राय: सभी जगह समान होती हैं तथा इसलिए इन पर विचार नहीं किया जाता है । अत: वस्तु की कीमतों में अन्तर उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं, उत्पादन साधनों के स्वामित्व की दशाओं जिनसे वस्तु की मांग प्रभावित होती है तथा उत्पादन साधनों की पूर्ति पर निर्भर होता है । यदि (१) वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाली दशायें अर्थात् उपभोक्ताओं की इच्छायें, उनकी पसन्द तथा उनकी आय दोनों क्षेत्रों में समान हैं; (२) दोनों क्षेत्रों में उत्पादन साधन समान अनुपात में प्राप्त हैं; तथा (३) उत्पादन साधनों की पूर्ति में विद्यमान अन्तर समान प्रकार के माँग के अन्तर द्वारा नष्ट हो जाता है तो दोनों क्षेत्रों में सभी वस्तुओं के सापेक्ष मूल्य समान होंगे ।

परन्तु उपर्युक्त तीनों बातें उपस्थित न होने की स्थिति में उत्पादन साधनों की सापेक्ष पूर्ति तथा माँग में अन्तर हो सकता है । फलस्वरूप साधनों की सापेक्ष कीमतों में और फलत: वस्तुओं की कीमतों में अन्तर होगा । अत: मूल रूप से उत्पादन साधनों में सापेक्ष दुर्लभता दो क्षेत्रों के मध्य व्यापार होने के लिये आवश्यक है । यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर वर्णित तीन दशाओं में से पहली और तीसरी दशा के अस्तित्व के बारे में सोचना व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है, अर्थात् यह कि दोनों क्षेत्रों में वस्तुओं की माँग समान होगी तथा वह उत्पादन साधनों की पूर्ति के अन्तर को बिलकुल नष्ट कर देगी साधारणत: सम्भव नहीं होगा । ओहलिन के निष्कर्ष निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किये जा सकते हैं ।

१. अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार होने का तात्कालिक कारण दो क्षेत्रों में वस्तुओं की कीमतों में अन्तर का होना है ।

२. दो क्षेत्रों में वस्तुओं की कीमतों में अन्तर इन दोनों क्षेत्रों में उत्पादन साधनों की पूर्ति में अन्तर होने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है ।

आस्ट्रेलिया के समान किसी एक देश में भूमि की प्रचुरता हो सकती है परन्तु वहाँ श्रम तथा पूँजी का अभाव हो सकता है । आस्ट्रेलिया में भूमि सस्ती है परन्तु दूसरे उत्पादन साधन महँगे हैं । इसलिए गेहूँ, ऊन तथा मांस आदि वस्तुयें, जिनके उत्पादन में भूमि की अधिक मात्रा तथा श्रम एवं पूँजी की कम मात्रा की आवश्यकता होती है आस्ट्रेलिया में सस्ती होंगी । इसके विपरीत इंगलैंड जैसे देश में जहाँ पूँजी अधिक प्राप्त है तथा भूमि की अत्यन्त कमी है वे वस्तुयें तथा सेवायें सस्ती होंगी जिनके उत्पादन में कम भूमि तथा अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है । इस निष्कर्ष को ओहलिन ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है ।

"सामान्यतया प्रत्येक क्षेत्र में वे उत्पादन साधन जो वहाँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं सस्ते होते हैं और जो वहाँ कम मात्रा में प्राप्त होते हैं वे मँहगे होते हैं । जिन वस्तुओं के उत्पादन में प्रथम प्रकार के (सस्ते) साधनों की अधिक और दूसरी प्रकार के (मँहगे) साधनों की कम मात्रा में आवश्यकता होती है उन वस्तुओं का उस क्षेत्र से निर्यात किया जाता है तथा उन वस्तुओं का आयात किया जाता है, जिनके उत्पादन में दुर्लभ (महँगे) साधनों की अधिक आवश्यकता होती है । इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक क्षेत्र से प्रचुर मात्रा में प्राप्त सस्ते साधनों का निर्यात किया जाता है और प्रत्येक क्षेत्र में कम मात्रा में प्राप्त महँगे साधनों का आयात किया जाता है ।"[4]

अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तु की सापेक्ष कीमतों और उत्पादन साधनों की सापेक्ष पूर्ति में विद्यमान अन्तरों पर आधारित होता है । इसके अतिरिक्त उत्पादन साधनों की

4. Ohlin : *Op. Cit.*, p. 15.

सापेक्ष पूर्ति में अन्तरों के फलस्वरूप कुछ वस्तुयें अन्य वस्तुओं की आपेक्षाकृत सस्ती होंगी। परन्तु केवल इस से यह ज्ञात नहीं किया जा सकता है कि किसी वस्तु विशेष का व्यापार होगा अथवा नहीं। यह जानने के लिए दोनों क्षेत्रों में विक्रेताओं को स्वयं देश में उत्पादित वस्तु की कीमत तथा विदेशों में उत्पादित वस्तु की कोमत की तुलना करनी चाहिए। परन्तु इस प्रकार की तुलना करने के लिए विदेशी विनिमय दर ज्ञात होनी चाहिये।

मानलीजिए कि भारत और पाकिस्तान दो पृथक क्षेत्र हैं तथा दोनों में एक सी मुद्रा है। इन दोनों देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने के पूर्व भिन्न वस्तुओं की कीमतें इनकी आन्तरिक माँग के अनुसार निर्धारित होंगी। परन्तु यदि इन दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध आरम्भ हो जावेंगे तो प्रत्येक क्षेत्र की माँग का दूसरे क्षेत्र की मूल्य प्रणाली से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जावेगा। अपेक्षाकृत सस्ते उत्पादन साधनों द्वारा उत्पादित वस्तु की घरेलू माँग में उस वस्तु की विदेशी माँग भी सम्मिलित हो जावेगी और अपेक्षाकृत महँगे साधनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग दूसरे क्षेत्रों में होने लगेगी। पारस्परिक माँगों के प्रभाव के फलस्वरूप सापेक्ष कीमतें भिन्न होंगी और इस दशा में जब दोनों देशों के मध्य समान मूल्य की वस्तुओं का आयात तथा निर्यात होने लगेगा तो सन्तुलन स्थापित हो जावेगा।

मानलीजिए कि भारत और पाकिस्तान की मुद्रा इकाइयाँ भिन्न हैं। इस दशा में दोनों देशों की मुद्रा इकाइयों के मध्य विदेशी विनिमय दर निर्धारण की एक अतिरिक्त समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसका ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि उत्पादन साधनों की सापेक्ष कीमतों में अन्तर वस्तु की कीमतों में निर्पेक्ष अन्तर के रूप में विदेशी विनिमय दर के द्वारा ही व्यक्त हो सकता है। विदेशी विनिमय दर के द्वारा ही दोनों क्षेत्रों की परस्पर माँग दोनों क्षेत्रों में कीमतों पर अपना प्रभाव डालेगी। इसे हम निम्नांकित तालिका द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

भिन्न मुद्रा इकाई वाले दो क्षेत्रों में उत्पादन साधनों की कीमतों की तुलना

उत्पादन साधन	उत्पादन साधन की कीमत		भारत में उत्पादन साधनों की कीमत (पाकिस्तानी १ रु० = भारतीय १·५ रु०)	भारत में उत्पादन साधन की कीमत (पाकिस्तानी १ रु० = भारतीय २ रु०)
	पाकिस्तान में रु०	भारत में रु०		
१	२	३	४	५
A	१ रुपया	०·२०	०·३०	०·४०
B	,,	०·३०	०·४५	०·६०
C	,,	०·४०	०·६०	०·८०
D	,,	०·५०	०·७५	१·००
E	,,	०·६०	०·९०	१·२०
F	,,	०·७०	१·०५	१·४०

पहली पंक्ति में A,B,C,D,E, तथा F उत्पादन साधनों को दिखाया गया है। दूसरी तथा तीसरी पंक्तियों में भारत तथा पाकिस्तान में उत्पादन साधनों की कीमतों में अन्तर को व्यक्त किया गया है। पाकिस्तान में सभी उत्पादन साधनों की कीमत एक रुपया है जबकि भारत में प्रत्येक उत्पादन साधन की कीमत भिन्न है। इस प्रकार पाकिस्तान के लिए सभी उत्पादन साधन

समान लागत साधन हैं। भारत में उत्पादन साधन A सबसे अधिक सस्ता और उत्पादन साधन F सबसे अधिक महँगा है। परन्तु व्यापार के लिए सापेक्ष रूप में सस्ते उत्पादन साधन की अपेक्षाकृत निरपेक्ष सस्तापन अधिक महत्त्वपूर्ण है और यह विनिमय दर पर निर्भर होगा। चौथी तथा पाँचवीं पंक्तियों में भारतीय उत्पादन साधनों की कीमतों को पाकिस्तानी मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। यदि विदेशी विनिमय दर पाकिस्तानी रुपये के बदले १·५ भारतीय रुपया है तो पहले पाँच उत्पादन साधन भारत में सस्ते होंगे और छठा उत्पादन साधन भारत में महँगा होगा। यदि विनिमय दर एक पाकिस्तानी रुपये के बदले में दो भारतीय रुपये है तो भारत में केवल A, B तथा C उत्पादन साधन सस्ते होंगे और E तथा F उत्पादन साधन महँगे होंगे। इस प्रकार भारत उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनके उत्पादन में A, B तथा C उत्पादन साधन धनी मात्रा में आवश्यक हैं। पाकिस्तान उन वस्तुओं के उत्पादन पर अपना ध्यान केन्द्रित करेगा जिनके उत्पादन में E तथा F उत्पादन साधनों की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। प्रत्येक क्षेत्र से सस्ते उत्पादन साधनों द्वारा विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात तथा महँगे उत्पादन साधनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का आयात होगा। इस प्रकार विदेशी विनिमय दर यह स्पष्ट करती है कि कौनसा उत्पादन साधन सस्ता है और कौनसा उत्पादन साधन महँगा है। परन्तु विनिमय दर यह निर्धारित नहीं करती है कि कोई उत्पादन साधन सस्ता है अथवा महँगा है। जिस प्रकार उत्पादन साधनों की कीमतें मांग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं उसी प्रकार विनिमय दर विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। विदेशी विनिमय दर ऐसी होनी चाहिये कि दोनों क्षेत्रों में उत्पादन साधनों की पूर्ति, घरेलू माँग तथा प्रत्येक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र को वस्तु की माँग की दी हुई दशाओं के अन्तर्गत इस विनिमय दर पर देश के कुल आयातों तथा निर्यातों का कुल मूल्य बराबर है अर्थात् देश का भुगतान-शेष सन्तुलन में है।

ओहलिन के सिद्धान्त का सारांश निम्नलिखित प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

१. अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के होने का तात्कालिक कारण दो क्षेत्रों में वस्तुओं की कीमतों में अन्तर का होना है।

२. उत्पादन साधनों की सापेक्ष दुर्लभताओं में अन्तर होने से वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें असमान हो जाती हैं।

३. किसी एक दी हुई विदेशी विनिमय दर स्थापित हो जाने पर मूल्य में सापेक्ष अन्तर मूल्य में निरपेक्ष अन्तरों में परिवर्तित हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक क्षेत्र किन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा।

४. विदेशी विनिमय दर तथा अन्तर्क्षेत्रीय वस्तु व्यापार का मूल्य (आकार) परस्पर माँग द्वारा निर्धारत होता है।

ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सामान्य सन्तुलन सिद्धांत का विकास किया है। ओहलिन ने अपने सिद्धांत से अवास्तविक मान्यताओं को समाप्त कर दिया है, जिससे उसका सिद्धांत वास्तविक तथ्यों से संयुक्त है। हमारे लिए इन तथ्यों को स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है। यहाँ केवल ओहलिन द्वारा प्रतिपादित सुधारों को संकेत करना पर्याप्त होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त अनेक क्षेत्रों में लागू हो सकता है और इससे निष्कर्षों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु सिद्धान्त जटिल हो जावेगा। दूसरे, उत्पादन साधनों की पूर्ति की दृष्टि से समान क्षेत्र भी विस्तृत बाजार—घरेलू तथा विदेशी—के लिये बड़े पैमाने के

उत्पादन की आर्थिक किफायतें प्राप्त कर सकते हैं। ओहलिन के विचारानुसार बड़े पैमाने के उत्पादन की किफायतें अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के लिए एक अतिरिक्त आधार उत्पन्न कर देती है। समान सापेक्ष कीमत वाले क्षेत्र उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर सकते हैं जिनकी घरेलू माँग इतनी कम है कि इनका बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं हो सकता है। तीसरे, ओहलिन उत्पादन के तीनों साधनों-भूमि, श्रम तथा पूँजी-में गुणात्मक अन्तर को समझाने का प्रयत्न करते हैं और यह भी बतलाते है कि अन्तर्क्षेत्रीय तुलना के लिये उत्पादन साधनों का विभिन्न समूहों में वर्गीकरण किया गया है। चौथे, ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय कीमत सम्बन्धों तथा परिवहन लागत को ध्यान में रखते हुये समस्या की व्याख्या की है। ओहलिन ने यह व्यक्त किया है कि परिवहन लागत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आकार को कम कर देती है। अन्त में ओहलिन ने उत्पादन साधनों मे अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता सम्बन्धी रुकावटों को स्पष्ट किया है और यह समझाया है कि उत्पादन साधनों की गतियाँ वस्तुओं की गतिशीलता का स्थानापन्न हो सकती है। ओहलिन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में केवल अंश का अन्तर है और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का सिद्धान्त समान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी और आधुनिक सिद्धान्तों की तुलना

ओहलिन का कहना है कि उनका सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त से श्रेष्ठ है। यद्यपि अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने ओहलिन के इस दावे को स्वीकार किया है लेकिन ओहलिन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को जर्मन अर्थशास्त्री हैबर्लर द्वारा कथित परम्परावादी सिद्धान्त के साथ रखा जा सकता है। हैबर्लर के अनुसार प्रत्येक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनका वह कम विकल्प लागत पर उत्पादन कर सकता है और उन वस्तुओं का आयात करता है जिन्हें वह अन्य देशों की अपेक्षाकृत अधिक विकल्प लागत पर उत्पादित कर सकता है। हैबरलर के अनुसार कम विकल्प लागत पर उत्पादित वस्तुयें वे वस्तुयें होती हैं जिनके उत्पादन के लिये प्रचुर उत्पादन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है। अधिक विकल्प लागत पर उत्पादित वस्तुयें वे होती हैं जिनके उत्पादन में दुर्लभ उत्पादन साधनों की अधिक तथा प्रचुर उत्पादन साधनों की कम आवश्यकता होती है। इस प्रकार ओहलिन के सिद्धान्त की तुलना हैबर्लर द्वारा पुनर्कथित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी सिद्धान्त से की जा सकती है।

परन्तु एक दृष्टि से ओहलिन का सिद्धान्त परम्परावादी सिद्धान्त की तुलना में श्रेष्ठ है क्योंकि यह मूल्य सिद्धान्त से प्रारम्भ होता है और तार्किक सर्वमान्य निष्कर्षो को प्राप्त करता है। ओहलिन ने यह सिद्ध किया है कि अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई मूल अन्तर नहीं है। एक बाजार के सम्बन्ध में उपयुक्त मूल्य निर्धारण सिद्धान्त के द्वारा अनेक बाजारों में मूल्य निर्धारण को समझाया जा सकता है। लेकिन ओहलिन का सिद्धान्त परम्परावादी सरल श्रमलागत व्याख्या की अपेक्षाकृत अधिक पेचीदा है। इसके ऐसा होने के निम्नांकित कारण हैं।

१. मूल्य निर्धारण सिद्धान्त, जिस पर ओहलिन का सिद्धान्त आधारित है, स्वयं अधिक पेचीदा है।

२. वे तथ्य जिनको यह सिद्धान्त समझाना चाहता है, स्वयं जटिल और पेचीदा हैं। परन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि ओहलिन का सिद्धान्त जटिल तथा पेचीदा होते हुए भी परम्परावादी सिद्धान्त, जो अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है, की अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण है। ओहलिन का सिद्धान्त परम्परावादी सिद्धान्त की अपेक्षाकृत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की अधिक वास्तविक व्याख्या करने के योग्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सबसे अधिक स्पष्ट प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में वस्तुओं की कीमतों में समानता की प्रवृत्ति को स्थापित करना है यद्यपि परिवहन लागत तथा सीमा कर के फलस्वरूप विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में पूर्ण समानता सम्भव नहीं होती है और अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की कीमतों में इन रुकावटों को समाप्त करने की लागत के बराबर अन्तर होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का दूसरा प्रभाव यह होता है कि भिन्न देशों में उत्पादन साधनों की कीमतों में भी समानता की प्रवृत्ति होती है। वस्तुओं का आयात होने के कारण किसी एक क्षेत्र में अधिक सीमित उत्पादन साधनों की माँग कम हो जाती है क्योंकि उस क्षेत्र में उत्पन्न की जाने वाली वस्तुयें अन्य क्षेत्रों से आयात की जाती हैं और इसलिये उस क्षेत्र में दुर्लभ उत्पादन साधनों की कीमतें गिरने लगती हैं। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप किसी एक क्षेत्र में प्रचुर उत्पादन साधनों की माँग अधिक हो जाती है क्योंकि इन साधनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का दूसरे क्षेत्र को निर्यात किया जाता है। इसके फलस्वरूप इन साधनों की कीमत बढ़ जाती है। दूसरे क्षेत्र में इसके विपरीत गतिविधि होगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इन कीमतों को अन्य क्षेत्रों में विद्यमान उत्पादन साधनों की कीमतों के समान बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप विभिन्न देशों में उत्पादन साधनों की कीमतों की प्रवृत्ति समानता की ओर होती है।

परन्तु किसी भी समय पर उत्पादन साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित नहीं हो सकती है। इसके निम्नलिखित दो कारण हैं।

१. भिन्न उत्पादन साधनों की अधिक परिवर्तनशील स्थानीय पूर्तियों से माँग का पूर्ण सामंजस्य करना कठिन होता है।

२. यदि किसी समय यह समानता सम्भव हो जाती है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वयं समाप्त हो जाता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पादन साधनों की कीमतों में अन्तर होने के कारण होता है और जब व्यापार समाप्त हो जायगा तो दोनों क्षेत्रों में उत्पादन साधनों की पूर्ति में प्रारम्भिक अन्तर पुनः उत्पन्न हो जावेगा।

यहाँ हमें उत्पादन साधनों की कीमतों तथा उनकी पूर्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक अन्य प्रभाव को समझना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप भिन्न क्षेत्रों में उत्पादन साधनों की कीमतें बराबर हो जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण प्रत्येक क्षेत्र में दुर्लभ साधनों की माँग कम हो जाती है क्योंकि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उस क्षेत्र में अन्य क्षेत्र से आयात होने लगता है और इसलिए दुर्लभ उत्पादन साधनों की कीमतें गिर जाती हैं। इन अधिक सीमित उत्पादन साधनों की गिरती हुई कीमतों के कारण साधनों की पूर्ति में और अधिक कमी हो सकती है जबकि कम सीमित उत्पादन साधनों की कीमतों में वृद्धि होने से इन साधनों की पूर्ति बढ़ सकती है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि उत्पादन साधनों की पूर्ति में अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर कम होने के स्थान पर और अधिक हो सकता है। अतः उत्पादन साधनों पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रतिक्रिया की सही भविष्यवाणी करना कठिन है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा देशों को विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। उत्पादन साधनों के उपयुक्त प्रयोग तथा अधिकतम उत्पादन की दृष्टि से अत्यधिक भिन्न अथवा पृथक् उत्पादन साधनों वाले देशों के बीच व्यापार का न होना बहुत दुर्भाग्यपूर्ण बात होगी। यदि किसी

वस्तु के उत्पादन के लिए उस देश में पर्याप्त सुविधायें प्राप्त नहीं हैं तो प्रत्येक क्षेत्र अथवा देश में उस वस्तु को उत्पन्न करने के प्रयासों द्वारा अपव्यय तथा हानि होगी। इसके विपरीत क्षेत्रीय विशिष्टीकरण तथा भिन्न क्षेत्रों में अनेक वस्तुओं में पूर्ण समानता हो जाने से सभी उत्पादन साधनों का उपयुक्त उद्देश्यों में अधिकतम प्रयोग किया जा सकता है और इससे सब क्षेत्रों में वास्तविक आय तथा जीवन-स्तर में वृद्धि हो सकती है। प्रत्येक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्रों से उन वस्तुओं का आयात करने में लाभ प्राप्त होगा जिनका वह देश स्वयं उत्पादन नहीं कर सकता है अथवा जिनका उत्पादन उस देश में अधिक उत्पादन लागत पर सम्भव हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न क्षेत्रों के मध्य उत्पादन साधनों का असमान वितरण होने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली हानियों को दूर करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का यह हितकर प्रभाव उस अंश तक पूर्ण रूप से नहीं पड़ सकता है जिस अंश तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पूर्ण विकास में बाधायें उत्पन्न होती हैं।

जब दो क्षेत्रों में व्यापार आरम्भ हो जाता है तो इससे दोनों क्षेत्रों को लाभ होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं के अन्तर्क्षेत्रीय विनिमय से दोनों क्षेत्रों अथवा देशों को समान लाभ प्राप्त होगा। प्रत्येक क्षेत्र को प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा परस्पर माँग पर निर्भर होती है अर्थात् एक क्षेत्र द्वारा दूसरे क्षेत्र की वस्तु की माँग की उग्रता की तुलना दूसरे क्षेत्र द्वारा प्रथम क्षेत्र की वस्तु की माँग की उग्रता से की जा सकती है। जिस क्षेत्र की वस्तु की माँग तुलनात्मक अधिक आवश्यक होती है उस क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र की अपेक्षाकृत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिक लाभ प्राप्त होता है। लाभ की सीमा वस्तु आयात-निर्यात स्थिति द्वारा व्यक्त होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का दूसरा प्रभाव माँग पर पड़ता है। यह प्रभाव दो प्रकार का होता है। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओं की माँग मात्रा बढ़ जाती है क्योंकि इससे लोगों की आयों में वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार माँग की दिशा को बदल देता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में प्रत्येक क्षेत्र में केवल उन्हीं वस्तुओं की माँग की जाती है जिनका उस क्षेत्र में उत्पादन किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण प्रत्येक क्षेत्र में नई वस्तुओं की माँग होने लगती है और स्वयं क्षेत्र विशेष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में परिवर्तन हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा व्यक्तियों की रुचियाँ तथा इच्छायें स्वयं प्रभावित हो जाती हैं।

अन्त में आधुनिक औद्योगिक समाज के विकास पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जो प्रभाव पड़ता है उसकी ओर भी संकेत करना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बिना विशिष्टीकरण, वृहत् मात्रा में उत्पादन, बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग, पेट्रोल रबर आदि प्राकृतिक साधनों का उपभोग असम्भव होता है। संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बिना बीसवीं शताब्दी में समाज का विकसित औद्योगिक संगठन असम्भव हुआ होता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आधुनिक औद्योगिक समाज का आधारभूत संचालक माना जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से व्यक्तियों तथा राष्ट्रों की वास्तविक आय बढ़ जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा वस्तुओं की माँग की प्रवृत्ति तथा माँग मात्रा प्रभावित होती है और अन्त में यह आधुनिक समाज के विकास के आधार का स्रोत है।

अन्तर्क्षेत्रीय साधन तथा वस्तु गतिशीलता

भूमि तथा अन्य प्राकृतिक उत्पादन साधन अधिकांशतया गतिहीन होते हैं तथा इसलिए उत्पादन साधनों की गतिशीलता की समस्या केवल श्रम तथा पूँजी से सम्बन्धित है। श्रम की

अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता में प्रमुख बाधा यह है कि श्रमिकों में परिवर्तन के लिए मनोवैज्ञानिक अरुचि होती है। श्रमिक व्यवसाय, स्थान, वातावरण तथा ज्ञात स्थितियों में परिवर्तन बहुत कम पसन्द करते हैं। स्थान परिवर्तन के लिये श्रमिकों में यह मनोवैज्ञानिक अरुचि भाषा, रीति-रिवाज तथा सामाजिक संस्थाओं की भिन्नताओं के कारण और अधिक प्रबल हो जाती है। यदि गति-शीलता के लिए मनोवैज्ञानिक साधन अनुकूल भी हों—अर्द्ध मानवीय आर्थिक सुविधायें, धार्मिक तथा राजनीतिक पीड़ाओं आदि से व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिये बाध्य हो सकते हैं—तो भी इन परिस्थितियों में आर्थिक साधनों की कमी गतिशीलता में बाधक सिद्ध होती है। पूँजी की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता में भी मूल बाधा मनोवैज्ञानिक है। पूँजीपति प्रायः अपनी पूँजी को दूसरे देशों में निवेश करने में हिचकिचाते हैं क्योंकि दूसरे देशों में वे अपनी पूँजी के उपयोग पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त विदेश में पूँजी का निवेश करने में अधिक जोखिम होती है।

परन्तु इन बाधाओं के होते हुए भी अधिक मजदूरी तथा अधिक ब्याज आय प्राप्त होने के लालच द्वारा श्रम तथा पूँजी में अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता होती है। मनोवैज्ञानिक तथा अन्य बाधाओं पर विजय प्राप्त करके उत्पादन साधनों को एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में जाने को प्रेरित करने के लिये मजदूरी तथा ब्याज की दर काफी ऊँची होनी चाहिए।

अतः उत्पादन साधन कम प्रतिफल प्रदान करने वाले क्षेत्र से अधिक प्रतिफल प्रदान करने वाले क्षेत्र की ओर गतिशील हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, वे उस क्षेत्र को जहाँ उनकी पूर्ति अधिक होती है, छोड़कर उस क्षेत्र में जाने का प्रयास करते हैं, जहाँ उनकी पूर्ति कम होती है। उत्पादन साधनों की इस गतिशीलता के फलस्वरूप पहले क्षेत्र में उनकी पूर्ति कम हो जाती है तथा उनको प्राप्त होने वाले प्रतिफल में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत दूसरे क्षेत्र में उत्पादन साधनों की पूर्ति बढ़ जाती है और उस क्षेत्र में उनकी कीमत घट जाती है। इसलिए उत्पादन साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता से साधनों की कीमतों में अधिक समानता आ जाती है। वास्तव में हमारे समक्ष निम्नलिखित दो प्रस्ताव हैं।

१. वस्तुओं का अन्तर्क्षेत्रीय विनिमय वस्तुओं की कीमतों में समानता लाने के अति-रिक्त उत्पादन साधनों में अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता उत्पन्न करता है।

२. उत्पादन साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता उत्पादन साधनों की कीमतों में समानता लाती है।

यहाँ हम उत्पादन साधनों तथा वस्तुओं की गतिशीलता के मध्य सम्बन्ध स्पष्ट करेंगे।

विभिन्न क्षेत्रों के मध्य व्यापार होने के कारण उत्पादन साधानों की गतिशीलता अना-वश्यक हो सकती है। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की गतिशीलता साधनों की गतिशीलता के स्थान पर कार्य करने लगती है। यदि दोनों क्षेत्रों के बीच कोई व्यापार नहीं होता है तो वस्तुओं की कीमतों तथा उत्पादन साधनों की कीमतों में पर्याप्त अन्तर होगा। लेकिन जब दो क्षेत्रों के मध्य अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार आरम्भ हो जाता है तो दोनों क्षेत्रों में वस्तुओं तथा साधनों की कीमतें समान हो जाती हैं। वस्तुओं की गतिशीलता जितनी अधिक होगी व्यापार में उतनी ही कम बाधायें होंगी और दोनों क्षेत्रों में वस्तुओं की कीमतों तथा उत्पादन साधनों की कीमतों में अधिक समानता स्थापित हो जायेगी। यदि विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन साधानों की कीमतें समान हैं तो साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता सम्भव नहीं हो सकती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण पूँजी तथा श्रम की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता अनावश्यक हो जाती है और उत्पा-दन साधनों की गतिशीलता के स्थान पर वस्तुओं की गतिशीलता विद्यमान हो जाती है।

परन्तु चित्र का दूसरा रूप भी है। उत्पादन साधनों की गतिशीलता वस्तुओं की गतिशीलता का स्थानापन्न कर सकती है। यदि उत्पादन साधनों तथा साजसज्जा में अन्तर्क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं तो उत्पादन साधनों की गतिशीलता आरम्भ हो सकती है, विशेषकर यदि साधनों में इतना अधिक अन्तर है कि इस प्रकार की गतिशीलता सम्भव हो सकती है। इस प्रकार उत्पादन साधनों की गतिशीलता वस्तुओं की गतिशीलता का स्थानापन्न कर सकती है।

अतः अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार तथा साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता अन्तर्क्षेत्रीय कीमतों की समानता पर समान प्रभाव डालती है। परन्तु एक में वृद्धि होने से दूसरे में कमी हो जाती है। उदाहरणार्थ, परिवहन साधनों का विकास होने के फलस्वरूप अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में वृद्धि हो सकती है। इससे वस्तुओं तथा उत्पादन साधनों की कीमतों में अधिक समानता लाई जा सकती है और इस प्रकार उत्पादक साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता कम हो सकती है। इसके विपरीत यदि उत्पादन साधनों की गतिशीलता बढ़ती है तो दोनों क्षेत्रों में पहले की अपेक्षाकृत कीमतों में अधिक समानता होगी। इससे वस्तु विनिमय तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का आकार कम हो जायगा।

ओहलिन ने यह समझाने का प्रयास किया है कि ऐसे उदाहरण भी हो सकते हैं जहाँ भिन्न क्षेत्रों के मध्य केवल वस्तुओं की गतिशीलता पाई जाती है। इस गतिशीलता से दो क्षेत्रों में कीमतों में इतना अधिक सामंजस्य स्थापित हो सकता है कि श्रम तथा पूँजी की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता की कोई आवश्यकता न रहे और वस्तुओं तथा साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित न होने पर भी उत्पादन साधनों की कीमतों में इतना कम अन्तर हो सकता है कि उत्पादन साधनों की गतिशीलता अनावश्यक हो जाय। इस प्रकार के उदाहरणों में उत्पादन साधनों का वस्तुओं की कीमतों अथवा उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसके विपरीत सैद्धान्तिक रूप में ऐसी स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है जिसमें केवल उत्पादन साधनों की गतिशीलता विद्यमान हो तथा वस्तुओं की गतिशीलता न हो। लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता है। इसलिए ओहलिन के अनुसार केवल वस्तुयें अथवा वस्तुयें तथा साधन विभिन्न क्षेत्रों के मध्य गतिशील होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि मूल्य समानता की इन दोनों प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान रखा जाय। ओहलिन ने लिखा है कि "कीमतों में असमानता को बढ़ाने वाले परिवर्तन, व्यापार परिवर्तनों द्वारा, जो वस्तुओं की कीमतों को प्रत्यक्ष रूप से तथा उत्पादन साधनों की कीमतों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं और उत्पादन साधनों की गतिशीलता में परिवर्तनों द्वारा, जो साधनों की कीमतों को प्रत्यक्ष रूप से तथा वस्तुओं की कीमतों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं, समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार मूल्य समानता की प्रवृत्ति दो प्रकार से विद्यमान होती है।"[5]

हमने विभिन्न क्षेत्रों के मध्य वस्तुओं तथा साधनों की गतिशीलता का आधार ज्ञात कर लिया है। अब हम आगे बढ़ सकते हैं। उत्पादन साधनों की गतिशीलता में वृद्धि होने का अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की मात्रा तथा प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ेगा? उपरोक्त व्याख्या से इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह होगा कि जब उत्पादन साधनों की गतिशीलता में वृद्धि हो जायगी तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जायगी। परन्तु व्यवहार में अन्य विचारों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा निम्नलिखित तीन बातों पर निर्भर होती है।

१. उत्पादन साधनों की पूर्ति में असमानता।

5. Op cit., : p. 270.

२. विभिन्न क्षेत्रों में माँग की मात्रा—यह सम्बन्धित क्षेत्र की राष्ट्रीय आय पर निर्भर होती है।

३. माँग की दिशा।

उपर्युक्त तीनों बातें उत्पादन साधनों की गतिशीलता द्वारा प्रभावित होती हैं।

उत्पादन साधनों की अधिक गतिशीलता के फलस्वरूप इन साधनों की पूर्ति एक क्षेत्र में कम हो जाती है और दूसरे क्षेत्र में बढ़ जाती है। ओहलिन ने श्रम तथा पूँजी की यूरोप से दक्षिणी अमरीका की गतिशीलता का उदाहरण दिया है। इस दशा में दूसरे क्षेत्र की राष्ट्रीय आय में काफी कमी हो जाती है। इन दोनों क्षेत्रों के मध्य व्यापार की मात्रा बहुत बढ़ गई है और साथ ही साथ उत्पादन साधनों की पूर्ति यूरोप के समान हो गई है।

व्यापार की मात्रा वस्तुओं की माँग पर निर्भर होती है। परन्तु वस्तुओं की माँग स्वयं उत्पादन साधनों की आयों पर निर्भर होती है। उत्पादन साधनों की गतिशीलता वस्तुओं की माँग को दो प्रकार से प्रभावित करती है।

१. यह भिन्न क्षेत्रों की कुल आय के सम्बन्धों में परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है। साधारणतया अधिक पूर्ति वाले क्षेत्रों से उत्पादन साधन कम पूर्ति वाले क्षेत्रों की ओर गतिमान हो जाते हैं और वे दूसरे देशों की राष्ट्रीय आय की मात्रा को बढ़ा देते हैं तथा इस प्रकार वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में वृद्धि होने के कारण बन जाते हैं।

२. उत्पादन साधनों की गतिशीलता के कारण उनका इष्टतम उपयोग होने के परिणामस्वरूप सभी क्षेत्रों की आय तथा उत्पादन मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है। अन्त में उत्पादन साधनों की गतिशीलता वस्तुओं की माँग की प्रवृत्ति और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा को भी प्रभावित करती है।

उपर्युक्त व्याख्या में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर उत्पादन साधनों की अधिक गतिशीलता के पड़ने वाले प्रभावों की प्रकृति के बारे में निश्चित कुछ कहना कठिन है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसके द्वारा उत्पादन साधनों की कीमतों तथा वस्तुओं की कीमतों में समानता आनी चाहिए और इसके फलस्वरूप व्यापार समाप्त हो जाना चाहिए। व्यवहार में यदि उपर्युक्त तीनों बातों पर इसका प्रभाव धनात्मक होता है तो व्यापार की मात्रा बढ़ जाती है।

अब हम विश्लेषण किये गये प्रश्न के विपरीत एक अन्य प्रश्न कर सकते हैं। व्यापार में परिवर्तनों का उत्पादन साधनों की गतिशीलता पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? सैद्धान्तिक दृष्टि से वस्तुओं के स्थानान्तरण (व्यापार की मात्रा) में हुई वृद्धि वस्तुओं तथा साधनों की कीमतों में समानता लायेगी और इस कारण साधनों की गतिशीलता निरर्थक हो जावेगी। इसके विपरीत उन्नतिशील परिवहन साधनों के विकसित होने के कारण दूर के क्षेत्र इतने अधिक आकर्षक क्षेत्र बन सकते हैं कि वहाँ श्रम तथा पूँजी स्वयं गतिमान होने लगें। इस प्रकार उत्पादन साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता में वृद्धि हो सकती है।

अध्ययन सूची

1. Bertil Ohlin : Interregional and International Trade, Chapters 1-12.
2. P. T. Ellsworth : International Economy (Rev. ed.), Chapters 5 and 6.

3. G. V. Haberler : The Theory of International Trade, Chapters X-XII
4. Jacob Viner : International Economics (1951).

प्रश्न

1. 'International trade is but a special case of interregional trade'. (Ohlin) Discuss.

पाँचवाँ भाग

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ

३१

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International Monetary Fund)

प्रारम्भिक इतिहास

प्रथम महायुद्ध के पश्चात संसार के देशों में आर्थिक अस्थिरता की घटना विद्यमान हो गई थी। यद्यपि युद्ध की समाप्ति पर संसार के सभी देशों में स्वर्णमान को पुनः अपनाया गया था परन्तु युद्ध-पश्चात स्वर्णमान युद्धपूर्व स्वर्णमान से भिन्न था। युद्ध-पश्चात् स्वर्णमान मे स्वयं संचालकता का अभाव था। इसके अतिरिक्त युद्ध-पश्चात् काल में संसार के देशों ने स्वर्णमान के नियमों का सच्ची भावना से पालन भी नही किया था। फलस्वरूप संसार के स्वर्णमान देशों के भुगतान-शेषों में असन्तुलन उत्पन्न हो जाने के कारण विदेशी विनिमय नियंत्रण, द्विदेशीय व्यापार समझौते तथा आर्थिक राष्ट्रीयता की घटनायें, जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग तथा स्थाई विश्व शांति के लिए घातक होती हैं, उत्पन्न हो गई थीं। 'तीसा' के आर्थिक संकट के पश्चात संसार के प्रमुख स्वर्णमान देशों में स्वर्णमान का खण्डन हो जाने के पश्चात् प्रत्येक देश ने दूसरे देश के आर्थिक हितों के विरुद्ध स्वार्थी आर्थिक नीतियों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। विदेशी विनिमय नियन्त्रण तथा अवमूल्यन संसार में लगभग सभी देशों की आर्थिक नीतियों के प्रमुख अंग बन गये थे। फलस्वरूप संसार गुटों में विभाजित हो गया था। युद्ध काल मे अन्तर्राष्ट्रीयता के स्थान पर राष्ट्रीयता विद्यमान थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निरन्तर समाप्त होता जा रहा था तथा संसार के अधिकाँश देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाएँ आर्थिक अस्थिरता का शिकार बन गई थी।

तीसा की मन्दी के परिणामस्वरूप संसार के प्रधान औद्योगिक देशों मे उत्पादन-क्षमता तथा औद्योगिक उत्पादन मे भारी गिरावट आ गई थी। परिणामस्वरूप इन देशो के आयातों मे अत्यधिक कमी हो गई थी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आकार में कमी हो गयी थी। प्रत्येक देश की आयात क्षमता उस देश के निर्यातो द्वारा निर्धारित होती है। औद्योगिक देशो के आयतों में भारी कमी होने के कारण कृषि-प्रधान देशों के निर्यातों में भारी कमी हो गई थी। परन्तु इन देशों को औद्योगिक देशों द्वारा विनिर्मित वस्तुओं की आवश्यकता थी तथा इन आयातों का भुगतान करने के लिए संसार में बहुत से देशों ने अपने स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा कोषो मे

भारी कमी करदी थी। अपने सीमित स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा कोषों को सुरक्षित रखने के हेतु कुछ राष्ट्रों ने अवमूल्यन, विदेशी विनिमय नियन्त्रण आदि नीतियों का प्रयोग किया था। परन्तु इस प्रकार की नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शत्रु थीं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, जिसका मूल्य १९२९ ई० में ५६ बिलियन डालर था, १९३२ ई० में घट कर केवल २२ बिलियन डालर रह गया था।

निस्संदेह ऐसी स्थिति राष्ट्रीय समृद्धि, सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग तथा स्थाई विश्व व्यापार के विकास के लिए घातक थी। यद्यपि इस समय कुछ देशों ने समस्या को सुलझाने के लिए योजना बनाने का प्रयत्न किया था परन्तु द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण इस दिशा मे कोई विशेष ठोस कार्य नही हो पाया। युद्धपश्चात काल में संसार के देशों में आर्थिक पुनर्वास तथा पुनर्निर्माण की ऐसी गम्भीर समस्यायें विद्यमान हो गई थीं जो केवल अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग, विदेशी व्यापार के सन्तुलित विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलित प्रवाह के द्वारा समाप्त की जा सकती थीं। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हो गया था कि स्थाई विश्व शांति के लिए संसार के देशों के बीच सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग का होना अतिआवश्यक है। परिणामस्वरूप युद्ध-काल में ही अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग योजनाओं के निर्माण का क्रम आरम्भ हुआ। इंगलैण्ड की ओर से कीन्स योजना (Keynes Plan) तथा अमरीका की ओर से व्हाइट योजना (White Plan) प्रस्तुत की गईं थीं।

संसार में स्थाई शांति स्थापित करने तथा भविष्य में युद्ध की सम्भावना को समाप्त करने के उद्देश्य से जुलाई १९४४ ई० में ४५ राष्ट्रों के प्रतिनिधि अमरीका में ब्रेटनवुडस, न्यु हैम्पशायर नामक स्थान पर समस्या पर विचार करने के लिए एकत्र हुए थे। इन ४५ राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की कार्यवाही के कारण दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं का जन्म हुआ। पहली संस्था, जिसको अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष कहते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा सदस्य देशों के भुगतान-शेषो में अस्थाई असन्तुलन की समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी। दूसरी संस्था को, जिसको विश्व बैंक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक कहते है, संसार के विकसित देशों में पुनर्निर्माण तथा अर्धविकसित देशो में आर्थिक विकास समस्याओं का निवारण करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। यद्यपि आरम्भ में ३१ दिसम्बर, १९४५ ई० को कोष के सदस्यों की संख्या केवल ३० थी परन्तु अब यह बढ़ कर ११५६ हो गई है।

कोष के उद्देश्य

कोष के उद्देश्य कोष के समझौते पत्र की धारा १ में स्पष्ट किये गये है। कोष के समझौते पत्र मे कुल २० धाराएँ है जो अनेक उपधाराओं में विभाजित है। संक्षेप मे ये उद्देश्य निम्नलिखित है।

(१) सदस्य देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को दृढ़ बनाकर संसार में बहुदेशीय भुगतान प्रणाली की स्थापना करना।

(२) स्थाई बहुदेशीय व्यापार के सन्तुलन विकास को प्रोत्साहित करना तथा इसके द्वारा सदस्य राष्ट्रों में रोजगार तथा आय में वृद्धि करना।

(३) विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता स्थापित करना तथा सदस्यों के बीच विदेशी विनिमय प्रतिबन्धों तथा प्रतियोगी अवमूल्यन को रोकना। विनिमय दर स्थिरता विश्व व्यापार के सन्तुलित विकास के लिए आवश्यक होती है। इस कारण सदस्य देशों की मुद्रा इकाइयों के मध्य विनिमय

दरों को स्थिर रखना कोष का प्रमुख कार्य है। परन्तु कोष की योजना में विनिमय दर स्थिरता स्वर्णमान में प्राप्त होने वाली विनिमय दर स्थिरता से भिन्न है। जबकि स्वर्णमान में विनिमय दर स्थिरता पूर्णतया स्थूल थी, कोष की योजना में सदस्यों की मुद्रा इकाईयों की समता दरों में इन देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास के हितों के अनुकूल सीमित परिवर्तन किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कोष की योजना में यद्यपि सदस्य देशों पर अपनी मुद्रा इकाईयों की समता दरों को स्थिर रखने का उत्तरदायित्व है परन्तु इन दरों में सदस्यों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं में सन्तुलन स्थापित करने के उद्देश्य से परिवर्तन किया जा सकता है, यदि यह परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलन विकास के लिए घातक नहीं है। कोष की योजना में स्वर्णमान की स्थूल स्वर्णममता स्थिरता के स्थान पर लचीली स्वर्णममता स्थिरता को महत्व दिया गया है।

(४) सदस्य देशों को अल्पकालीन मौद्रिक ऋण देकर उनमें विश्वास उत्पन्न करना।

(५) सदस्य देशों को अस्थाई ऋण देकर उनके भुगतान-शेषों में अस्थायी घाटे के आकार तथा अवधि को कम करना। कोष का उद्देश्य वित्तीय सहायता देकर सदस्यों के भुगतान-शेषों के मौलिक घाटे—निरन्तर उत्पन्न होते रहने वाले घाटे—को समाप्त करना नहीं है।

(६) सदस्यों द्वारा लगाये गये विनिमय प्रतिबन्धों को रोकना।

संक्षेप में कोष के सदस्यों के कोष के प्रति निम्नलिखित प्रमुख उत्तरदायित्व है।

(i) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों तथा पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरण पर लगे प्रतिबन्धों पर रोक लगाना।[1]

(ii) भेद मूलक मुद्रा नीति का अन्त करना।

(iii) विदेशी मुद्रा शेषों की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना।

(iv) विदेशी व्यापार, भुगतान-शेष, राष्ट्रीय आय, अन्तर्राष्ट्रीय निवेश, विदेशी विनिमय, नियन्त्रण तथा मूल्यों सम्बन्धी सूचना प्रदान करना।

पूँजी, अभ्यंश तथा चन्दे

कोष की कुल पूँजी राशि कोष के सदस्यों के कुल अभ्यंशों (quotas) के योग के बराबर है। यद्यपि आरम्भ में कोष के कुल अभ्यशों की पूँजी राशि केवल ८,८०० मिलियन अमरीकी डॉलर थी, जिसको कोष के सदस्यों में अभ्यंशों के रूप में विभाजित कर दिया गया था, परन्तु अब यह पूँजी राशि बढ़कर २८,४७८ मिलियन डालर हो गई है। कोष के सदस्यों के अभ्यंशों की मात्रा प्रत्येक सदस्य देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राष्ट्रीय आय तथा जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की जाती है। इस प्रकार व्यक्तिगत सदस्य देशों के अभ्यंशों की मात्रा पनामा के केवल ½ मिलियन डालर राशि के अभ्यंश से लेकर अमरीका के सबसे अधिक अभ्यंश ५,१६० मिलियन डॉलर की राशि तक है। प्रत्येक सदस्य देश अपने कुल अभ्यंश का २५ प्रतिशत अथवा अपने कुल स्वर्ण तथा डालर कोषों का १० प्रतिशत (इन दोनों में जो भी कम है) स्वर्ण में कोष को देता है। शेष अभ्यंश राशि सदस्य देश की मुद्रा में जमा की जाती है जिसको कोष सदस्य देश के केन्द्रीय बैंक के पास अपने नाम में जमा कर देता है। कोष की कुल प्रारम्भिक ८,८०० मिलियन

1. धारा १४ के अनुसार आरम्भ मे सदस्य देशों को पांच वर्ष के परिवर्तन काल में जो फरवरी १९५२ में समाप्त हो गया था, आपात स्थिति में विनिमय प्रतिबन्धों का प्रयोग करने की आज्ञा दी गई थी।

डालर की पूँजी राशि में से १,८०० मिलियन डालर स्वर्ण के रूप में तथा शेष ७,००० मिलियन डालर सदस्य देशों की मुद्राओं के रूप में थी।

३१ अक्तूबर, १९५८ ई० को कुल अभ्यंशों की पूँजी राशि ९,१९३ मिलियन डालर थी जिसमें से ८,२३४.९ मिलियन डालर राशि चन्दों के रूप में प्राप्त हो चुकी थी। इस में से १,७३१.८ मिलियन डालर स्वर्ण तथा अमरीकी डालरों में तथा शेष ६,५३.१ मिलियन डालर राशि सदस्य देशों की मुद्राओं में प्राप्त हुई थी।

अमरीका के प्रस्ताव पर कोष के कार्यसंचालकों (Executive Directors) ने २९ दिसम्बर, १९५८ ई० को सदस्यों के अभ्यंशों में ५० प्रतिशत की सामान्य वृद्धि करने की सिफारिश की थी। १९५६ ई० के पश्चात कनाडा, पश्चमी जर्मनी, जापान तथा १४ अन्य देशों के अत्यधिक आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए इन देशों के अभ्यंशों में विशेष वृद्धि करने की सिफारिश की गई थी। इन परिवर्तनों के कारण कोष के वित्तीय साधनों में ५,१०० मिलियन डालर राशि की वृद्धि हो गई थी। १९५९ ई० के आरम्भ में कोष के ६८ सदस्यों के अभ्यंशों में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप कोष की कुल पूँजी बढ़कर लगभग १५,००० मिलियन अथवा १५ बिलियन डालर (९,१९३ मिलियन डालर+५,१०० मिलियन डालर) हो गई थी तथा इसके स्वर्ण व अमरीको डालर कोष दुगने हो गये थे।

सितम्बर १९६३ ई० में टोकियो में हुई कोष की १९वीं वार्षिक बैठक मे कोष के गवर्नर मण्डल ने एक प्रस्ताव पास करके कार्यसंचालकों से कोष से सदस्यों के अभ्यंशों में उपयुक्त वृद्धि करने के प्रश्न पर विचार करने तथा शीघ्र अपने सुझाव देने का अनुरोध किया था। इस प्रस्ताव के अनुसार कार्यसंचालकों ने अपनी २४ फरवरी, १९६४ ई० की रिपोर्ट में कोष के सदस्यों के अभ्यंशों में २५ प्रतिशत की सामान्य वृद्धि तथा निम्नलिखित १६ सदस्यों के अभ्यंशों मे विशेष अधिक वृद्धि करने का सुझाव दिया था।

कनाडा	यूनान	मेक्सिको	स्पेन
फिन्लैंड	ईरान	नार्वे	स्वीडन
पश्चिम जर्मनी	इजराइल	फिलिपीन्स	वेनिजुला
आस्ट्रिया	जापान	दक्षिणी अफ्रीका	आयर लैंड

उपरोक्त देशों के अभ्यंशों में विशेष वृद्धि करने का सुझाव देने का प्रमुख कारण इन देशों का गत कुछ वर्षों में विशेष तीव्र गति से आर्थिक विकास था। अभ्यंशों की इस वृद्धि के पश्चात कुछ प्रमुख सदस्यों की स्थिति निम्नलिखित प्रकार है।

(राशि मिलियन अमरीकी डालरों में)

सदस्य	वृद्धि के पूर्व अभ्यंश	वृद्धि के पश्चात् अभ्यंश
अमरीका	४,१२५	५,१६०
इंगलैंड	१,९५०	२,४४०
जर्मनी	७८७·५	१,२०० विशेष वृद्धि
कनाडा	५५०	७४० ,, ,,
भारत	६००	७५०
चीन गणराज्य	५५०	६९०
जापान	५००	७२५ विशेष वृद्धि
इटली	५००	६२५
नेदरलैन्ड	४१२·५	५२०
आस्ट्रेलिया	४००	५००

संगठन तथा कार्य विधि

कोष का प्रबन्धन एक गवर्नर मण्डल, कार्यसंचालक मण्डल, प्रबन्धक संचालक तथा अन्य कर्मचारियो की सहायता से किया जाता है। गवर्नर मण्डल मे प्रत्येक सदस्य देश की ओर से एक गवर्नर नियुक्त होता है। कार्यसंचालक मण्डल मे कुल २० कार्यसंचालक होते हैं जिसमे पाँच संचालक क्रमश बडे अभ्यंशो वाले देशो (अमरीका, इंगलैन्ड, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस तथा भारत) मे से प्रत्येक देश से एक प्रतिनिधि तथा १५ संचालक अन्य सदस्य देशो द्वारा निर्वाचित होते हैं। प्रबन्धक संचालक कार्यसंचालक मन्डल का अध्यक्ष होता है। प्रत्येक सदस्य को २५० निश्चित वोट प्राप्त है तथा प्रत्येक १००,००० डालर राशि के लिये एक अतिरिक्त वोट प्राप्त होता है।

अपनी पूँजी के द्वारा, जो स्वर्ण तथा सदस्यो की मुद्राओ मे होती है, कोष अस्थाई ऋणो के रूप मे सदस्यो को मौद्रिक सहायता देकर विदेशी विनिमयदर मे उच्चावचनो को समाप्त तथा बहुदेशीय व्यापार प्रणाली को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा इकाई के आरम्भिक समता मूल्य (par value) को कोष का सदस्य बनने के समय स्वर्ण तथा अमरीकी डालर मे निर्धारित करना पडता है। इस समता मूल्य मे सदस्य कोष को केवल सूचना देकर प्रथम १० प्रतिशत का परिवर्तन कर सकते है। तत्पश्चात् अपनी मुद्रा के समता मूल्य मे परिवर्तन करने के लिये सदस्य देश को कोष की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य मे परिवर्तन सदस्य देश केवल अपने भुगतान-शेष के मूल असन्तुलन (Fundamental Disequilibrium) को ठीक करने के हेतु कर सकता है। यद्यपि कोष द्वारा मूल असन्तुलन की परिभाषा नही की गई है परन्तु निरन्तर उत्पन्न होने वाले गम्भीर प्रकृति तथा व्यापक आकार के भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने के लिये सदस्य देश को अपनी मुद्रा इकाई का १० प्रतिशत से अधिक अवमूल्यन करने की आज्ञा दी जा सकती है। यदि कोष को यह विश्वास हो जाता है कि किसी सदस्य देश के भुगतान-शेष मे मूल असन्तुलन की समस्या विद्यमान है तो कोष उस सदस्य देश को अपनी मुद्रा इकाई के समता मूल्य मे परिवर्तन करने से नही रोकेगा।

कोष को यह सत्य ज्ञात है कि स्थिर विदेशी विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास के लिए अतिआवश्यक होती है। इस कारण कोष का उद्देश्य सदस्य देशो को अस्थाई मौद्रिक ऋण सहायता देकर उनके भुगतान-शेषो मे अस्थाई घाटे को इस प्रकार समाप्त करना है कि उनको अपनी मुद्रा इकाईयो के समता मूल्य मे परिवर्तन करने के लिये विवश न होना पडे। यदि किसी सदस्य देश के भुगतान-शेष मे अल्पकालीन घाटे की घटना उत्पन्न हो जाती है तो कोष उस देश को दुर्लभ विदेशी मुद्रा बेचकर उस देश के भुगतान-शेष के घाटे को अल्प समय के लिये समाप्त करने मे सहायता प्रदान करता है। इस अल्प समय मे कोष यह आशा करता है कि सदस्य देश अपनी आन्तरिक अर्थव्यवस्था मे आवश्यक सुधार करके अपने भुगतान-शेष के असन्तुलन को ठीक करने के योग्य हो जावेगा। परन्तु जब किसी सदस्य देश के भुगतान-शेष का घाटा अस्थाई न होकर स्थाई होता है, जो सदस्य देश की मुद्रा के अधिमूल्यन (overvaluation) तथा देश मे वस्तुओ की ऊँची कीमतो इत्यादि मौलिक कारणो से विद्यमान होता है, तो कोष उस सदस्य देश को अपने भुगतान-शेष के घाटे को समाप्त करने के लिये देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था मे सुधार अथवा मुद्रा इकाई के समता मूल्य में पर्याप्त कमी करने का सुझाव देता है।

कोष सदस्य देशों की मुद्राओ का क्रय विक्रय करता है। जब कोई देश किसी अन्य देश की मुद्रा को कोष से खरीदता है तो कोष उस मुद्रा को स्वयं उस देश से खरीद कर प्राप्त करता

है जिस देश की वह राष्ट्रीय मुद्रा होती है अथवा उन अन्य देशों से खरीदकर प्राप्त करता है जिनके पास वह मुद्रा होती है। कोष सदस्य देश को विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा में खरीदने के लिये प्रोत्साहित नही करता है। कोई भी सदस्य केवल एक निश्चित मात्रा तक कोष से विदेशी मुद्रा खरीद सकता है। एक वर्ष में कोई सदस्य कोष से अपने अभ्यंश का केवल २५ प्रतिशत तक विदेशी मुद्रा को खरीद कर प्राप्त कर सकता है तथा ५ वर्ष तक इसी प्रकार कोई भी सदस्य अपने कुल अभ्यंश का २५ प्रतिशत तक खरीद सकता है। इस प्रकार कुल मिलाकर कोई भी सदस्य अपने कुल अभ्यंश का १२५ प्रतिशत से अधिक राशि की विदेशी मुद्राओं को कोष से नहीं खरीद सकता है। इस प्रकार कोष के पास किसी सदस्य देश की कुल मुद्रा उस देश के अभ्यंश के २०० प्रतिशत से अधिक नही हो सकती है। यह वित्तीय सहायता अधिक से अधिक ५ वर्ष की अल्पावधि के लिए ही दी जा सकती है। यदि किसी एक वर्ष में कोई देश अपने अभ्यंश का २५ प्रतिशत से अधिक मात्रा में विदेशी मुद्रा खरीदता है तो उस देश को जुर्माना देना पड़ता है। सदस्य देश जब अपनी मुद्रा के बदले में कोष से विदेशी मुद्रा प्राप्त करता है तो भविष्य में अल्पकाल की समाप्ति पर इस देश को कोष से अपनी मुद्रा को कोष को विदेशी मुद्रा देकर पुनः खरीदना पड़ती है।

जिस देश के भुगतान-शेष की स्थिति अनुकूल होती है तथा जिस देश के भुगतान-शेष में बेशी होती है उस देश की मुद्रा दुर्लभ मुद्रा हो जाती है। भुगतान-शेष की अनुकूलता भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के लिए उतनी ही घातक होती है जितनी घातक भुगतान-शेष की प्रतिकूलता होती है। भुगतान-शेष में असन्तुलन किसी भी प्रकार का क्यों न हो यह सदा विदेशी व्यापार के विकास के लिये घातक होता है। इस दृष्टि से अनुकूल भुगतान-शेष वाला देश तथा प्रतिकूल भुगतान-शेष वाला देश दोनों ही कोष की दृष्टि से समान अपराधी हैं। इसलिये कोष अनुकूल भुगतान-शेष वाले देश को अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन (revaluation) करने का सुझाव देता है जिससे कि भुगतान-शेष की अनुकूलता समाप्त हो जाते तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हित में भुगतान-शेष सन्तुलन को प्राप्त कर ले।

सदस्य देशों के भुगतान-शेषो के अस्थाई असन्तुलन को समाप्त करने के लिये मौद्रिक सहायता देने के अतिरिक्त कोष सदस्य देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है। कोष अपने विशेष विषयक कर्मचारी वर्ग के द्वारा सदस्य देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन करता है। सदस्य देशों की मुद्रा इकाइयों के समता मूल्यों, विदेशी विनिमय नियंत्रण, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों, साख मुद्रा तथा आर्थिक नीति, केन्द्रीय बैंकिंग तथा विदेशी विनिमय नियंत्रण, प्रशासन, आर्थिक विकास योजनायें इत्यादि विषयों का कोष ध्यानपूर्वक अध्ययन करता है तथा सदस्यों को इन विषयों पर बहुमूल्य सलाह देता है।

कोष में स्वर्ण का स्थान

कोष के नियमों के अनुसार सदस्य देशों की मुद्रा इकाइयों के समता मूल्य स्वर्ण अथवा अमरीकी डालर में निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार कोष की योजना में स्वर्ण सदस्यों की मुद्रा इकाईयो की समता दरों के निर्धारण के माध्यम का कार्य करता है। कुछ अर्थशास्त्रियों के, जिनमें जान० एच० विलियम्स का नाम उल्लेखनीय है, विचार में कोष की योजना स्वर्ण मान के समान है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यद्यपि कोष की योजना में सदस्यों की मुद्रा इकाइयों का समता मूल्य

स्वर्ण में निर्धारित किया जाता है परन्तु स्वर्णमान के समान कोष की योजना में स्वर्ण सदस्य देशों में मुद्रा के प्रचालन का आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त कोप की योजना में मुद्रा का स्वर्ण समता मूल्य पूर्णतया स्थिर नहीं है क्योंकि इस स्वर्णसमता मूल्य में आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कोष को योजना में सदस्य देशों की मुद्रा इकाइयों के समता मूल्यों में परिवर्तन किये जा सकते हैं, अर्थात कोप की योजना में अवमूल्यन तथा पुनर्मूल्यन को स्थान प्राप्त है। इसके विपरीत स्वर्णमान में अवमूल्यन को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। स्वर्णमान तथा अवमूल्यन में परस्पर असंगति थी। स्वर्णमान में देश के भुगतान-शेष के घाटे को केवल अवस्फीति (deflation) के द्वारा समाप्त किया जा सकता था। परन्तु कोष की योजना में अवमूल्यन का सदस्यों के भुगतान-शेषों के घाटे को समाप्त करने में भारी महत्व है।

स्वर्णमान में स्वर्ण को स्वामी का स्थान प्राप्त था। परन्तु कोष की योजना में इसको केवल सेवक का स्थान प्राप्त है। स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के उत्पादन में होने वाले उच्चावचनों का देश में संचलन में मुद्रा की मात्रा तथा इसके द्वारा मुद्रा इकाई के मूल्य तथा वस्तुओं के मूल्यों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। स्वर्णमान में स्वर्ण के उत्पादन में कमी अथवा वृद्धि होने के फलस्वरूप देश में अवस्फीति अथवा स्फीति की घटनाएँ उत्पन्न हो जाती है। कोष की योजना में इस प्रकार की कोई घटना उत्पन्न नही होती है। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान में एक बार निर्धारित करने के पश्चात देश की मुद्रा इकाई का स्वर्ण मूल्य तथा इसके द्वारा विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परन्तु कोष की योजना में आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा इकाई के समता मूल्य में, जो स्वर्ण तथा अमरीकी डालर में निर्धारित किया जाता है, देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था के अनुकूल परिवर्तन किये जा सकते हैं।

कीन्स के विचारानुसार कोष की योजना स्वर्णमान के पूर्णतया विपरीत है। इस सम्बन्ध में २३ मई, १९४४ ई० को संसद में अपना व्याख्यान देते हुये कीन्स ने कहा था कि "स्वर्णमान प्रणाली में देश की मुद्रा इकाई का बाह्य मूल्य पूर्णतया स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा से बँधा होता है। इस मूल्य में केवल प्रधान शक्ति की अनुमति से परिवर्तन किया जा सकता है। स्वर्णमान में देश को एक ऐसी कठोर वित्तिय नीति का पालन करना पड़ता है जिसमें देश की मुद्रा इकाई के आन्तरिक मूल्य को इसके बाह्य मूल्य के समान रखना पड़ता है। इसके विपरीत स्वर्ण का केवल एक ऐसे सुविधाजनक सामान्य मापक के रूप में उपयोग करना, जिसके द्वारा विभिन्न देशों की राष्ट्रीय मुद्रा इकाईयों के सापेक्ष मूल्य जिनमें बिना किसी कठिनाई के समय समय पर परिवर्तन किये जा सकते हैं, व्यक्त किये जाते हैं, स्वर्णमान से बिल्कुल भिन्न है। कोप की योजना में देश की मुद्रा इकाई के आन्तरिक मूल्य मे इसके बाह्य मूल्य के अनुसार परिवर्तन होने के स्थान पर इसके बाह्य मूल्य में इसके आन्तरिक मूल्य के अनुसार परिवर्तन किये जाते हैं। वास्तव में कोष का यह कर्त्तव्य है कि यह सदस्यों की मुद्रा इकाईयों के बाह्य मूल्यों (समता मूल्यों) में किये जाने वाले इस प्रकार के परिवर्तन को स्वीकार करे। स्वर्णमान में सरकार को देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था को स्वर्णमान की अविश्वासनीय दया पर आश्रित कर देना पड़ता है। परन्तु कोप की योजना में प्रत्येक सदस्य देश की सरकार को उचित प्रकार की मौद्रिक तथा आर्थिक नीतियों द्वारा देश की अर्थव्यवस्था में पर्याप्त सुधार करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। कोप की योजना में

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा एक ऐसी नई प्रणाली का निर्माण किया गया है जो स्वर्णमान की पुरानी दूषित प्रणाली से कोसों दूर है ।"[2]

तकनीकी सहायता

सदस्यों को मौद्रिक सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त कोष समय समय पर अपने योग्य कर्मचारियों को भिन्न सदस्य देशों में भेजकर तथा उन देशों की अर्थव्यवस्थाओं की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करके सदस्यों को बहुमूल्य तकनीकी सहायता प्रदान करता है ।

इस समय कोष अनेक बहुमूल्य पत्रिकाओं को प्रकाशित करता है । जिन पत्रिकाओं तथा पुस्तिकाओं को कोष नियमित रूप से प्रकाशित करता है उनमें Annual Report of the Executive Directors; Balance of Payments Year-book; Annual Report on Exchange Restrictions; International Financial News Survey (Weekly); International Financial Statistics (Monthly); Direction of Trade; Schedule For Par Values तथा Proceedings of Annual Meetings of the Board of Governors उल्लेखनीय हैं । इन नियमित प्रकाशनों के अतिरिक्त १९६४ ई० में श्री परजेक्बसन द्वारा दिये गये भाषणों का संग्रह 'International Monetary Problems १९५७-६३' शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया था । विश्व बैंक के साथ मिलकर कोष The Fund and the Bank Review नामक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित करता है । अप्रैल १९६७ ई० में कोष ने श्री हैन्स ऑफरिच (Hans Aufricht) द्वारा लिखित "*Central Banking Legislation : A Collection of Central Bank Monetary and Banking Law*', शीर्षक पुस्तक का दूसरा भाग प्रकाशित किया था । इस पुस्तक का प्रथम भाग १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ था । इन प्रकाशनों के अतिरिक्त कोष ने अफ्रीकी देशों—चाड, काँगो, गेबन, केमरून—की अर्थव्यवस्थाओं के सर्वेक्षणों को भी प्रकाशित किया है ।

३० अप्रैल, १९७१ ई० को समाप्त होने वाले वित्तिय वर्ष में कोष की प्रशिक्षण विद्यापीठ की क्रियाओं में विस्तार हुआ था । इस वर्ष विद्यापीठ ने ५ नये कोर्सों तथा २ पुराने प्रशिक्षण कोर्सों को पूरा किया था । इन कोर्सों में ७५ सदस्य देशों के १२५ अधिकारियों ने भाग लिया था ।

---

2. "The gold standard, as I understand it, means a system under which the external value of a national currency is rigidly tied to a fixed quantity of gold which can only honourably be broken under *force majeure* ; and it involves a financial policy which compels the internal value of the domestic currency to conform to this external value as fixed in terms of gold. On the other hand, the use of gold merely as a convenient common denominator by means of which the relative values of national currencies—these being free to change—are expressed from time to time, is obviously quite another matter........ For instead of maintaining the principle that the internal value of a national currency should conform to a prescribed *de jure* external value, it provides that its external value should be altered if necessary so as to conform to whatever *de facto* internal value results from domestic policies, which themselves shall be immune from criticism by the Fund. Indeed, it is made the duty of the Fund to approve changes which will have this effect. That is why I say that these proposals are the exact opposite of the gold standard. They lay down by international agreement the essence of the new doctrine, far removed from the old orthodoxy." [Text of Keynes, speech delivered before the House of Lords on May 23, 1944, reproduced from *S.E. Harris (ed) : The New Economics*, p. 375-767.]

कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय नकदी की समस्या

कोष के सदस्य कोष को नकदी का एक महत्वपूर्ण स्रोत विचारते हैं तथा बहुधा कोष ने सदस्यों का ध्यान नकदी की समस्या की ओर आकर्षित किया है। १९५३ ई० में कोष ने अपनी Staff Papers नामक पत्रिका में एक लेख जिसका शीर्षक "The Adequacy of Monetary Reserves" था, प्रकाशित किया था। १९५८ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय नकदी की समस्या से सम्बन्धित एक पूर्ण अध्ययन, जिसका शीर्षक 'International Reserves and Liquidity' था, प्रकाशित किया गया था। इस अध्ययन द्वारा, जो कई सदस्यों के अनुरोध पर किया गया था, यह ज्ञात हुआ था कि कोष के वित्तीय साधन सदस्यों की वित्तीय आवश्यकताओं की तुष्टि करने के लिये अपर्याप्त थे। इस अध्ययन का १९५९ ई० में सदस्यों के अभ्यंशों में की गई वृद्धि में काफी महत्व था। कोष द्वारा प्रकाशित अपनी १९६३ ई० की वार्षिक रिपोर्ट में अन्तर्राष्ट्रीय नकदी की समस्या पर एक पूरा अध्याय लिखा गया था। इस अध्याय में इस बात पर विशेष बल दिया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे की परिमाणात्मक तथा गुणात्मक पर्याप्तता की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी। कोष की इस रिपोर्ट में अन्तर्राष्ट्रीय नकदी की उपलब्धता की व्याख्या कोष के उद्देश्यों के सन्दर्भ में की गई थी। रिपोर्ट में लिखा गया था कि "अन्तर्राष्ट्रीय नकदी स्वयं में अपना लक्ष्य नहीं है। संसार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नकदी की पर्याप्ता में रुचि रखने का प्रमुख कारण यह है कि उचित नकदी के द्वारा कोष के समझौते की धारा १ में वर्णित उद्देश्यों—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार तथा सन्तुलित विकास, रोजगार तथा वास्तविक आय के स्तर में वृद्धि, सदस्यों के उत्पादक साधनों का विकास, विनिमय स्थिरता, प्रतियोगी विनिमय मूल्यह्रास, वस्तु निर्यात तथा आयात से सम्बन्धित पहुपक्षीय भुगतान प्रणाली, विदेशी विनिमय प्रतिबन्धों की समाप्ति—की पूर्ति होने में सहायता प्राप्त होती है।"[3] १९६४ ई० की वार्षिक रिपोर्ट में अन्तर्राष्ट्रीय नकदी की समस्या पर दोष पूर्ण अध्याय थे।

अन्तर्राष्ट्रीय नकदी का अभिप्राय उन सभी वित्तीय साधनों से है जो सदस्य देशों के मुद्रा अधिकारियों को भुगतान-शेषों के घाटे की पूर्ति करने के लिये उपलब्ध हैं अथवा तत्काल उपलब्ध हो सकते हैं। इन वित्तीय साधनों में स्वर्ण, विदेशी मुद्रा कोष, आवश्यकता पड़ने पर प्राप्त होने वाली अन्य द्रव्य परिसम्पत्ति ; कोष तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से उधार प्राप्त करने की सुविधायें सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त इन साधनों में देश की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों में उधार प्राप्त करने की शक्ति को भी शामिल किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नकदी में अनेक उपलब्धतायें सम्मिलित हैं तथा इनका वर्गीकरण कुछ अंश तक मनमाने ढंग से ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में दो वर्गीकरण किये गये हैं। प्रथम वर्गीकरण निजी धनराशि तथा उधार प्राप्त धन राशि के अन्तर पर आधारित है। दूसरा वर्गीकरण अनौपाधिक (unconditional) तथा सोपाधिक (conditional) नकदी के अन्तर पर आधारित है।

अनौपाधिक नकदी सदस्यों को कोष से ऋण प्राप्त करने का वह अधिकार है जिसके द्वारा सदस्यों को कोष से स्वतः ऋण प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त होने वाली ऋण सहायता को सदस्य बिना किसी कठिनाई अथवा शर्त के कोष से प्राप्त कर सकते हैं। अनौपाधिक ऋण प्राप्ति अधिकार के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली कुल नकदी की राशि किसी सदस्य देश के अभ्यंश की उस राशि के बराबर होती है जिसका भुगतान उस सदस्य देश ने कोष को स्वर्ण में किया है। सदस्य अपने कुल अभ्यंश का २५ प्रतिशत अथवा अपने कुल स्वर्ण तथा डालर कोषों का १०

3. IMF : *Annual Report 1963*, p. 49.

प्रतिशत (दोनों में जो भी कम है) स्वर्ण में तथा शेष अपनी मुद्रा में कोष को देते हैं। इस प्रकार अनौपधिक ऋण प्राप्ति अधिकार कुल अभ्यंश का २५ प्रतिशत अथवा इससे कम प्रतिशत राशि होती है। इस अनौपाधिक नकदी की सीमा को स्वर्ण-सीमा (gold tranche) की संज्ञा दी गई है। यह ऋण प्राप्ति अधिकार सीमा वह सीमा है जिसके अन्तर्गत किसी सदस्य को कोष से अपने भुगतान-शेष के अस्थाई घाटे को समाप्त करने के लिए स्वतः ऋण प्राप्त हो सकता है तथा ऋण की कुल राशि इतनी होती है कि कोष के पास ऋणी सदस्य की मुद्रा इसके कुल अभ्यंश से अधिक नहीं होने पाती है। संक्षेप में स्वर्ण ऋण प्राप्ति सीमा किसी सदस्य देश के अभ्यंश का २५ प्रतिशत अथवा इससे कम होती है।

सदस्यों की दृष्टि से कोष अन्तर्राष्ट्रीय नकदी का एक अतिमहत्वपूर्ण स्रोत है क्योंकि कोष का उद्देश्य आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों को नकदी प्रदान करके उनकी सहायता करना है। कोष के वित्तीय साधनों में स्वर्ण कोष तथा सदस्यों की मुद्रा सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त कोष अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों में ऋण प्राप्त करके अपने उधारदान वित्तीय साधनों में वृद्धि करता है। सदस्य अपने भुगतान-शेष के अस्थाई घाटे को समाप्त करने के लिए कोष से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कोष से प्राप्त किये गये ऋणों का भुगतान ३ से ५ वर्ष तक के समय में हो जाना चाहिए। कोष के सदस्यों को कोष से निर्धारित नीतियों तथा कार्यविधि के अनुसार ऋण सहायता प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण सदस्य इस अधिकार को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नकदी का भाग विचार सकते हैं। वर्तमान समय में कोष यद्यपि अनौपाधिक नकदी प्राप्त करने का बड़ा स्रोत नहीं है परन्तु सोपाधिक नकदी का यह काफी बड़ा स्रोत है। कोष की अनौपाधिक नकदी प्रदान करने की क्षमता केवल ५ मिलियन डालर राशि है जबकि कोष की सोपाधिक नकदी प्रदान करने की वर्तमान क्षमता १६ मिलियन डालर राशि है।

कोष का कार्य

गत २३ वर्षों में कोष ने भिन्न सदस्य देशों को समय समय पर आवश्यकता पड़ने पर अल्पकालीन ऋणों के द्वारा उनके भुगतान-शेषों के अस्थाई घाटे को समाप्त करके संसार में मौद्रिक सहयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास को द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सम्भव बनाया है। कोष के प्रयासों के कारण आज द्विदेशीय भुगतान समझौतों की मात्रा में भारी कमी हो गई है। कोष के प्रयासों के कारण आज ३१ सदस्य देशों की मुद्रायें अन्य मुद्राओं में पूर्णतया परिवर्तनीय हैं और संसार के विदेशी विनिमय बाजारों में अस्तव्यस्तता नहीं है। वर्तमान समय में संसार में विदेशी विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करने वाले देशों की संख्या भी कम हो गई है।

३० अप्रैल, १९७१ ई० को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में ३६ सदस्यों ने कोष से १,३४८ मिलियन डालर राशि की मुद्राओं को खरीदा था। १९६६-६७ ई० की तुलना में यह राशि २७ प्रतिशत अधिक थी। १,३४८ मिलियन डालर में से ४४१ मिलियन डालर राशि की मुद्रायें २३ सदस्यों द्वारा सहायता समझौतों (stand-by arrangements) के आधीन; २२० मिलियन डालर राशि की मुद्रायें १२ देशों द्वारा कोष के प्रतिकारक वित्तीकरण निर्णय (Compensatory Financing Decision) के अन्तर्गत; ६ मिलियन डालर राशि की मुद्रा एक सदस्य द्वारा ३१ मार्च, १९६५ ई० के अभ्यंश में वृद्धि करने सम्बन्धी प्रथम प्रस्ताव के अन्तर्गत तथा ६८२ मिलियन डालर राशि की मुद्राएँ ७ सदस्यों द्वारा अन्य व्यवसायों के लिए खरीदी गई थीं। इस वर्ष नाइजीरिया ने प्रथम बार तथा इण्डोनेशिया ने पुनः सदस्यता प्राप्त करने के पश्चात् प्रथम बार कोष से मुद्रा खरीदी थी। इस वर्ष में अमरीका तथा कनाडा ने कोष द्वारा बेची गई १,३४८ मिलियन डालर

राशि की मुद्राओं की लगभग आधी राशि को खरीदा था। निम्नांकित तालिका कोष के क्रय-विक्रय लेनदेन की ३० अप्रैल, १९४८ ई० को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष से लेकर ३० अप्रैल, १९७१ ई० को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष तक संक्षिप्त व्याख्या करती है।

(राशि मिलियन अमरीकी डालरों में)

वित्तीय वर्ष	सदस्यों द्वारा कोष से मुद्राओं की कुल क्रय-राशि	सदस्यों द्वारा कोष से मुद्राओं की पुनः क्रय राशि
१९४८	६०६·०४	—
१९४९	११९·४४	—
१९५०	५१·८०	२४·२१
१९५१	२८·००	१९·०९
१९५२	४६·२५	३६·५८
१९५३	६६·१२	१८४·९६
१९५४	२३१·२९	१४५·११
१९५५	४८·७५	२७६·२८
१९५६	३८·७५	२७१·६६
१९५७	१,११४·०५	७५·०४
१९५८	६६५·७३	८६·८१
१९५९	२६३·५२	५३७·३२
१९६०	१६५·५३	५२२·४१
१९६१	५७७·००	६५८·६०
१९६२	२,२४३·२०	१,२६०·००
१९६३	५७९·९७	८०७·२५
१९६४	६२५·९०	३८०·४१
१९६५	१,८९७·४४	५१६·९७
१९६६	२ ८१७·२९	४०६·००
१९६७	१,०६१·२८	३४०·१२
१९६८	१,३४८·२५	१,११५·५१
१९६९	२,८३८·८५	१,५४२·३३
१९७०	२,९९५·६५	१,६७०·६९
१९७१	१,१६७·४१	१,६५६·८४
कुल योग	२२,५९७·५१	१२,५३४·१९

कोष ने अपने समझौते की धारा ७ के अनुसार समय-समय पर स्वर्ण बेचकर अथवा सदस्यों से उनकी मुद्राओं को उधार लेकर अपने वित्तीय साधनों की पूर्ति की है। जून १९६८ ई० में इंगलैण्ड द्वारा १,४०० मिलियन डालर राशि का ऋण प्राप्त करने के समय कोष ने ३६५ मिलियर डालर मूल्य का स्वर्ण बेचकर १२ सदस्यों की मुद्राओं को खरीदा था। इसके अतिरिक्त जून १९६८ ई० में ही फ्रांस द्वारा कोष से ७४५ मिलियन डालर का ऋण प्राप्त करने के समय कोष ने १८२ मिलियन डालर मूल्य का स्वर्ण बेचकर ११ सदस्यों की मुद्राओं को खरीदा था।

सामान्य ऋण प्रबन्ध योजना (General Arrangements to Borrow), जिसके अन्तर्गत कोष के वित्तीय साधनों में ६ बिलियन राशि की १० औद्योगिक सदस्य देशों की मुद्राओं (बैल्जियम, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान, नैदरलैण्डस, स्वीडन, इंगलैंड, तथा अमरीका)

के रूप में वृद्धि हो गई है सर्वप्रथम २४ अक्तूबर, १९६४ ई० से चार वर्ष की अवधि के लिए चालू की गई थी। १५ अक्तूबर, १९६५ ई० को कोष के कार्यसंचालकों ने योजना की अवधि में चार वर्ष की पुन: वृद्धि करदी थी। इस योजना के अन्तर्गत इंगलैंड द्वारा दिसम्बर १९६४ ई० तथा मई १९६५ ई० में क्रमश: १,००० मिलियन डालर तथा १,००० मिलियन डालर राशि का ऋण प्राप्त करने के हेतु कोष ने योजना के अनुसार क्रमश: ४०५ मिलियन डालर तथा ५२५ मिलियन डालर राशि की मुद्राओं को उधार लिया था।

कोष के कार्य की आलोचना

गत २३ वर्ष की अवधि में कोष का कार्य काफी सन्तोषजनक रहा है। १९४८ ई० में आरम्भ से लेकर ३० अप्रैल, १९७१ ई० तक काफी सदस्यों ने कोष से दुर्लभ मुद्राओं को खरीदा है। कोष ने कुल २१·६ बिलियन डालर राशि की मुद्राओं को बेचा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कोष का कार्य आलोचना रहित है। यद्यपि सदस्य देशों ने कोष की आज्ञा बिना अपनी मुद्राओं के समता मूल्यों में परिवर्तन करके कोष के नियमों का उल्लंघन किया है परन्तु **कोष इन देशों के विरुद्ध कोई कड़ी कार्यवाही नहीं कर सका है।** जिन देशों की मुद्राओं को 'दुर्लभ' घोषित किये हुए काफी समय हो गया है उन देशों ने अपनी मुद्राओं की दुर्लभता को समाप्त करने का अभी तक कोई प्रयास नहीं किया है। उदाहरण के लिए, डालर अब भी लगभग उतना ही दुर्लभ है जितना कि यह १९४९ ई० में पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन के समय था। परन्तु ३० वर्ष के दीर्घ समय तक दुर्लभ रहने के पश्चात् आज भी कोष अमरीका से यह अनुरोध नहीं कर सका है कि वह डालर की दुर्लभता को समाप्त करे क्योंकि डालर की यह दुर्लभता किसी भी समय अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के हितों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। कोष की इस विवशता का प्रमुख कारण यह है कि यद्यपि सिद्धान्त में कोष स्वाधीन है परन्तु वास्तव में इस पर अमरीका का राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व है। इसी प्रकार १९४८ ई० में फ्रांस ने कोष की आज्ञा के बिना फ्रेंक का अवमूल्यन किया था। इसके अतिरिक्त १९४९ ई० में कोष ने अमरीका को डालर का पुर्नमूल्यन करने का सुझाव न देकर इंगलैण्ड को पौंड-स्टर्लिंग का, जिससे स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य सभी देशों की मुद्राओं का गठबन्धन था, अवमूल्यन करने का आदेश दिया था।

उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त, कोष की अन्य कमी यह है कि कोष विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता उत्पन्न नहीं कर सकता है क्योंकि इसे सदस्य देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। कोष सदस्य देशों के साथ केवल सुझाव के सन्देहजनक यन्त्र का प्रयोग कर सकता है शक्ति का नहीं, और बहुधा गम्भीर समस्याओं के समाधान में सुझाव अथवा सलाह का अविश्वासनीय यन्त्र असफल सिद्ध होता है। १९४८ ई० से लेकर १९७१ ई० तक लगभग ११० सदस्यों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया है। यह इस सत्य का प्रतीक है कि कोष सदस्यों की मुद्रा इकाइयों के समता मूल्यों को स्थिर बनाये रखने में असफल रहा है।

विशेष ऋण अधिकार (Special Drawing Rights)

२९ सितम्बर, १९६६ ई० को एक प्रस्ताव द्वारा कोष के गवर्नरों ने कोष के कार्य संचालकों से कोष में विशेष ऋण प्राप्ति अधिकार नई सुविधा को आरम्भ करने तथा इस सम्बन्ध में कोष के समझौते की वर्तमान धाराओं में सुधार करने के उद्देश्य से इनमें आवश्यक संशोधन करने के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए निवेदन किया था। कोष की वार्षिक बैठक के पश्चात् कार्य-संचालकों ने अपना अधिकांश समय कोष के समझौते की धाराओं में आवश्यक प्रस्तावित संशोधन तैयार करने पर खर्च किया था। कार्यसंचालकों ने कोष के गवर्नरों को अपना लेखा १७ अप्रैल,

१९६८ ई० को प्रस्तुत कर दिया था। कोष के गवर्नरों से प्रस्तावित प्रस्ताव पर ३१ मई, १९६८ ई० तक अपना मत व्यक्त करने की प्रार्थना की गई थी तथा प्रस्ताव को स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। यह प्रस्तावित संशोधन उस समय लागू हो गया था जब कोष के उन सदस्यों में से जिनको कोष की कुल मतों में ⅘ भाग प्राप्त है ६० प्रतिशत सदस्यों ने इसे स्वीकार कर लिया था।

सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विशेष ऋण प्राप्ति अधिकार योजना पर आधारित प्रस्तावित नई सुविधा गत वर्षों में हुए अध्ययन तथा विवादों के परिणामस्वरूप प्रतिपादित मूल सिद्धान्तों को व्यक्त करती है। इस नई सुविधा का श्रीगणेश होने के लिए कोष के समझौते की धाराओं में प्रस्तावित संशोधन को बहुमत द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने के अतिरिक्त कोष के कुल अभ्यंशों के ७५ प्रतिशत अभ्यंश प्राप्तकर्ता सदस्यों द्वारा अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है।

इस सुविधा को साधारण रूप से केवल कोष के सदस्य प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक भागीदार सदस्य का विशेष ऋण प्राप्ति अधिकार उस समय कोष में सदस्य के अभ्यंश के अनुपात में निर्धारित किया गया है। विशेष ऋण अधिकार के विभाजन सम्बन्धी निर्णय सामान्यतः आगामी पाँच वर्ष की अवधि के लिए किया गया है तथा विभाजन प्रत्येक वर्ष किया जाता है। योजना के अन्तर्गत सदस्य अपने भुगतान-शेष अथवा निधि की स्थिति के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर किसी भी शर्त के बिना विशेष ऋण अधिकार का उपयोग कर सकते हैं। परन्तु इस सुविधा में भाग लेने वाले सदस्यों का कोष द्वारा कहे जाने पर विशेष ऋण अधिकारों को स्वीकार करना तथा इनके बदले में वास्तविक रूप में परिवर्तनशील मुद्रा को प्रदान करने का उत्तरदायित्व है। सामान्यतः इसके लिए भागीदार सदस्य को केवल उसी स्थिति में कहा जाता है जब इसको भुगतान-शेष तथा कुल विदेशी कोष स्थिति काफी शक्तिशाली अथवा अनुकूल है। इस उत्तरदायित्व का आकार योजना में भागीदार सदस्य के विशेष ऋण अधिकारों की कुल राशि द्वारा निर्धारित होता है।

नई सुविधा के आधीन कोष अपना कार्य दो पृथक खातों—विशेष ऋण खाता (Special Drawing Account) तथा सामान्य खाता (General Account) द्वारा करता है। विशेष ऋण अधिकारों का मूल्य स्वर्ण के रूप में निश्चित किया गया है। प्रत्येक भागीदार सदस्य को विशेष ऋण अधिकारों के अन्तर्गत इसकी नकदी राशि पर १½ प्रतिशत ब्याज आय प्राप्त हो सकेगी इसी प्रकार इसको सुविधा के अन्तर्गत इसके द्वारा प्राप्त की गई नकदी राशि पर १½ प्रतिशत ब्याज का भुगतान करना होगा। विशेष ऋण अधिकार योजना गत तीन वर्ष से चालू है तथा अब तक ८ बिलियन डालर राशि आबटित की जा चुकी है। इस योजना में सम्मिलित सदस्य देशों की संख्या ११० है। विशेष ऋण अधिकार योजना के आधीन ९.५ बिलियन डालर राशि के आबंटन की तीन वर्ष (१९७०-७२) की अवधि में व्यवस्था की गई है। १९७० तथा १९७१ ई० में क्रमशः ३,४१४ मिलियन डालर तथा २,९४९ मिलियन डालर १०४ तथा १०९ सदस्यों को आबंटित किये गए थे।

इस नई सुविधा को लागू करने के लिए कोष के नियमों तथा कार्यपद्धति में परिवर्तन किया गया है। इस कारण कोष के समझौते की वर्तमान धाराओं में संशोधन तथा कुछ नई धाराओं को कोष के समझौते में सम्मिलित करने का सुझाव दिया गया है। प्रस्तावित संशोधनों के अनुसार आरम्भिक धारा में संशोधन करने के अतिरिक्त धारा XXI से लेकर धारा XXXI तक १२ नई धाराएँ तथा F, G, H, I चार नई सूचियाँ कोष के समझौते की धाराओं में सम्मिलित हो गई हैं।

कोष तथा भारत

भारत कोष का एक प्रमुख संस्थापक सदस्य है और कोष के कार्यसंचालन मण्डल में भारत का एक स्थाई प्रतिनिधि नियुक्त है। यद्यपि १९४६ ई० में कोष की सदस्यता प्राप्त करने के समय भारतीय रुपये का डालर समता मूल्य ३०·२५ सेंट निश्चित किया गया था परन्तु १९४९ ई० में पौंड-स्टलिग के अवमूल्यन के पश्चात् यह घटकर २१ सेंट हो गया था। तत्पश्चात् ६ जून, १९६६ ई० को भारतीय रुपये का पुनः अवमूल्यन हो जाने के फलस्वरूप अब भारतीय रुपये का डालर मूल्य २१ सेन्ट से घट कर १३·३३ सेट हो गया है। भारत को कोष से भुगतान-शेष के भारी घाटे को पूरा करने के लिए समय-समय पर काफी वित्तीय सहायता प्राप्त हुई है। १९४८ ई० तथा १९४९ ई० में भारत ने कोष से १०० मिलियन डालर का ऋण प्राप्त किया था। इस ऋण का भुगतान १९५६-५७ ई० मे कर दिया था। १९५७ ई० में भारत सरकार ने कोष से २०० मिलियन डालर का ऋण अपने भुगतान-शेष के अस्थाई असन्तुलन को ठीक करने के लिए लिया था। भारत की अर्थव्यवस्था की स्थिति को विशेष रूप से ध्यान मे रखते हुए कोष ने भारत को अपने उस नियम से मुक्त कर दिया था जिसके अनुसार कोई भी सदस्य देश एक वर्ष की अवधि में अपने कुल अभ्यंश का २५ प्रतिशत से अधिक ऋण प्राप्त नहीं कर सकता है। जुलाई १९६१ ई० में भारत ने कोष से २५० मिलियन डालर राशि का ऋण ६ देशों की मुद्राओं में प्राप्त किया था। इस २५० मिलियन डालर राशि के ऋण में ११० मिलियन डालर अमरीकी डालर; ६५ मिलियन डालर स्टर्लिंग, ४५ मिलियन डालर मार्क; १५ मिलियन डालर फ्रैंक; १५ मिलियन डालर लीरा तथा ५ मिलियन डालर येन थे। भारत कोष से जापान की मुद्रा येन का ऋण प्राप्त करने वाला पहला देश था।

भारत को कोष द्वारा प्राप्त सहायता प्रवाह के रूप में प्राप्त होती रही है। ९ जुलाई, १९६२ ई० को भारत ने कोष के साथ १०० मिलियन डालर राशि का ऋण प्राप्त करने का एक वर्षीय समझौता किया था। इस समझौते की अवधि की समाप्ति पर इस अवधि मे एक वर्ष की पुनः वृद्धि कर दी गई थी। यह समझौता जुलाई १९६४ ई० में समाप्त हो गया था। १९ मार्च, १९६४ ई० को कोष ने भारत को २०० मिलियन डालर राशि को ऋण सहायता भारतीय भुगताना-शेष के संकट को समाप्त करने के लिए दी थी। भारत ने इस ऋण सहायता द्वारा कोष से १०० मिलियन डालर राशि की ६ देशों की मुद्राओं को खरीदा था। यह ऋण समझौता, जो मार्च १९६५ ई० में समाप्त हो गया था, एक वर्ष के लिए और बढा दिया गया था। मार्च १९६६ ई० में कोष ने भारत में सूखा पड़ने के फलस्वरूप उत्पन्न भयंकर संकट से भुगतान-शेष में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को समाप्त करने के हेतु १८७·५ मिलियन डालर राशि की ऋण सहायता प्रदान की थी। १९६७ ई० में कोष ने भारत को भुगतान-शेष के अस्थाई घाटे की पूर्ति करने के लिए ९० मिलियन डालर राशि का ऋण प्रदान किया था।

भारत कोष की विशेष ऋण अधिकार योजना का भी सदस्य है। इस योजना के आधीन भारत को १९७० ई० तथा १९७१ ई० में क्रमशः १२६ मिलियन डालर तथा १००·६ मिलियन डालर राशि के आबंटन प्राप्त हुए हैं। इस दो वर्ष की अवधि में भारत को कुल २२६ ६ मिलियन डालर राशि प्राप्त हुई है। इस राशि मे से ४०·८ मिलियन डालर का भारत में उपयोग किया है। ३० अप्रैल, १९७१ ई० को भारत की निधि १४८ मिलियन डालर थी जो इसके आबंटनों का ६५ प्रतिशत थी।

प्रत्यक्ष मौद्रिक ऋण सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त कोष ने समय-समय पर अपने विशेषज्ञों द्वारा भारत की आन्तरिक अर्थव्यवस्था का अध्ययन कराकर भारत सरकार को इसकी मौद्रिक तथा आर्थिक नीतियों के सम्बन्ध में निःशुल्क सलाह दी है। संक्षेप में यह कहना अनुचित न होगा कि भारत ने कोष की सदस्यता से पूरा लाभ प्राप्त किया है तथा भविष्य में कोष की सदस्यता से और भी अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा की जा सकती है।

अध्ययन सूची

1. Brian Tew : International Money Co-operation 1945-1952, Part II.
2. John H. Williams : Post-war Monetary Plans and Other Essays (3rd ed.), Part I.
3. IMF : Annual Reports and Staff Papers.
4. George N. Halm : Monetary Theory, Chapter 15.
5. IMF : Introduction to the Fund.
6. J. Marcus Fleming : The International Monetary Fund—Its Forms and Functions.
7. IMF and World Bank : The Fund and the Bank Review.
8. Per Jacobsson : International Monetary Problems, 1957-63.

प्रश्न

1. "The International Monetary Fund is a means of monetary arrangement which is international in scope but avoids the pitfalls of the gold standard." Discuss.
   How far do you think the objectives of the Fund have been realised ?
2. Evaluate the role of the International Monetary Fund in bringing about effective international monetary co-operation.
3. 'The International Monetary Fund shall approve a requested change in the par value of a member's currency if it is essential to correct a *fundamental disequilibrium*.'
   What criteria would you consider satisfactory for the diagnosis of fundamental disequilibrium ?
4. What are the purposes for which the International Monetary Fund has been established ? How far has the Fund succeeded in achieving its objectives ?
5. Explain the aim, organisation and the mode of operation of the International Monetary Fund and the extent of success achieved so far by it.
6. Show how far the principle of an international gold standard has been preserved in the constitution of the International Monetary Fund.
7. Explain briefly the objectives and functions of the International Monetary Fund. Point out the benefits which India has derived by its membership.
8. Discuss the following :—
   (i) The Fund's plan is 'the exact opposite of the gold standard.'
   (ii) The Fund's plan is 'essentially a gold standard plan.'
9. Give the main achievements of the IMF after 1958 in the sphere of external convertibility of currencies.

३२

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक
(International Bank for Reconstruction and Development)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जो विश्व बैंक के नाम से प्रसिद्ध है, जुलाई १९४४ ई० में अमरीका में ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर हुई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् के विचार-विमर्श का परिणाम है। द्वितीय महायुद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अस्तव्यस्त होने के अतिरिक्त संसार में जान तथा सम्पत्ति की भी काफी क्षति हुई थी। यूरोप के अधिकांश देशों की अर्थ-व्यवस्थाएँ युद्ध में बरबाद हो गई थीं। इंगलैड की अर्थव्यवस्था को जर्मनी के बमों से काफी क्षति हुई थी। जर्मनी, जो युद्ध के पूर्व यूरोप की औद्योगिक कर्मशाला के नाम से प्रसिद्ध था, भी युद्ध काल में जर्मन उद्योगों का नाश हो जाने के कारण बुरी अवस्था में था। फ्रांस तथा अन्य देश भी इस विश्वव्यापी दुर्भाग्य से अप्रभावित नहीं रह सके थे। संक्षेप में, इन सब देशों की अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण करने की भारी आवश्यकता थी क्योंकि ऐसा हुए बिना स्थाई विश्व शान्ति सम्भव नहीं थी। परन्तु स्थायी विश्व शान्ति के लिए यूरोप के देशों की अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के अतिरिक्त संसार के अविकसित तथा अर्धविकसित देशों में आर्थिक विकास करके पूरब तथा पश्चिम के देशों के बीच विद्यमान भारी आर्थिक असमानता को शीघ्र समाप्त करना भी आवश्यक था। अविकसित देशों में आर्थिक दरिद्रता के साथ साथ अधिकांश आर्थिक साधनों की प्रचुरता थी। पुनर्निर्माण तथा विकास के कार्यों को कार्यान्वित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक की स्थापना की गई थी।

उद्देश्य

विश्व बैंक के समझौते की धारा १ के अनुसार विश्व बैंक के निम्नलिखित उद्देश्य हैं।

(१) सदस्यों को पुनर्निर्माण तथा विकास कार्य में सहायता देना—विश्व बैंक का प्रथम प्रमुख उद्देश्य विध्वंसित सदस्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण कार्य में वित्तिय सहायता देना तथा अविकसित सदस्य राष्ट्रों को पर्याप्त मात्रा में वित्तिय तथा तकनीकी सहायता प्रदान करके इन देशों मे तीव्र आर्थिक विकास को सम्भव बनाना है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी निवेश में वृद्धि करना—विश्व बैंक का दूसरा प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत तथा संस्थागत निवेशकर्त्ताओं को उनके ऋणों के भुगतानों की गारण्टी देकर अथवा उनके

साथ निवेशकर्त्ता के रूप में सम्मिलित होकर सदस्य देशों में व्यक्तिगत तथा संस्थागत ऋण पूँजी का विस्तार करना है।

(३) **दीर्घकालीन सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना तथा सदस्यों के भुगतान-शेषों में सन्तुलन स्थापित करना**—विश्व बैंक का तीसरा प्रमुख उद्देश्य संसार में मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्थाई सन्तुलित विकास में सहायता प्रदान करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय निवेश-कर्त्ताओं को उत्पादक साधनों के विकास के लिये प्रोत्साहन देकर सदस्य देशों में उत्पादन, रोजगार आय तथा जीवनस्तर में वृद्धि करना है।

(४) **शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना**—विश्व बैंक का चौथा प्रमुख उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए समुचित दशाएँ उत्पन्न करना है।

बैंक की सदस्यता तथा संगठन

कोई भी वह देश जो विश्व बैंक के समझौते पत्र की शर्तों को स्वीकार करता है बैंक का सदस्य बन सकता है। यद्यपि आरम्भ में बैंक के सदस्यों की कुल संख्या केवल ४४ थी परन्तु अब यह बढ़कर ११६ हो गई है। यदि सदस्यता में वृद्धि की गति ऐसी ही बनी रही तो निकट भविष्य में यह संख्या बढ़कर १५० हो जावेगी। विश्व बैंक की धारा ६ के अनुसार कोई भी सदस्य किसी भी समय बैंक को लिखित सूचना देकर बैंक की सदस्यता का परित्याग कर सकता है। सदस्यता का परित्याग करते समय सदस्य को उस तिथि तक विश्व बैंक के प्रति अपने सभी उत्तरदायित्वों को पूरा करना पड़ेगा।

विश्व बैंक के संगठन में एक गवर्नर मण्डल; एक कार्यसंचालक मण्डल; एक अध्यक्ष; अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी सम्मिलित हैं। गवर्नर मण्डल, जिसमें बैंक की सारी शक्तियाँ निहित हैं, में प्रत्येक सदस्य देश का प्रतिनिधि (यह प्रतिनिधि साधारणतया सदस्य देश का वित्त मन्त्री होता है) होता है। गवर्नर मण्डल की वर्ष में एक बैठक होनी आवश्यक है। यद्यपि इस बैठक का केवल औपचारिक महत्व है परन्तु ऐसा होते हुए भी गवर्नर मण्डल की यह वार्षिक बैठक आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक तथा वैत्तिक समस्याओं पर अनौपचारिक रूप से ऊँचे स्तर पर विचार विनिमय की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती हैं। विश्व बैंक के गवर्नर मण्डल की वार्षिक बैठक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के गवर्नर मण्डल की वार्षिक बैठक के साथ होती है। कार्यसंचालक मण्डल के सदस्यों की संख्या २० है। इनमें से पाँच कार्यसंचालक उन पाँच सदस्यों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जिनको बैंक की पूँजी में प्रथम पाँच बड़े अम्यंश वाले देशों का स्थान प्राप्त होता है। इस समय अमरीका, इंगलैंड, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस तथा भारत बैंक के पाँच बड़े अंशधारी हैं और इस कारण इन पाँचों देशों के प्रतिनिधि कार्यसंचालक मण्डल के स्थाई सदस्य हैं। शेष १५ कार्यसंचालक कोष के अन्य सदस्यों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। साधारणतया केवल कुछ बातों को छोड़कर[1] अन्य सभी बातों के सम्बन्ध में गवर्नर मण्डल ने अपनी शक्तियों को कार्यसंचालकों को सौंप रखा है। कार्यसंचालक विश्व बैंक के समस्त कार्यों के लिये बैंक के गवर्नर मण्डल के प्रति जिम्मेदार होते हैं। कार्यसंचालकों की क्रम से प्रत्येक मास बैठक होती है। प्रत्येक कार्यसंचालक को

1. The exceptions include the admission of new members, the increase or decrease of the capital stock ; the suspension of a member ; decisions of appeals from interpretations of the articles of Agreements made by the Executive Directors ; approval of the formal agreements with other international organisations ; decisions on distribution of the net income of the Bank and its liquidation. (The World Bank : *Principles and Policies*, p. 41.)

उसके देश के चन्दे की राशि के अनुसार मताधिकार प्राप्त होते हैं।[2] बैंक का सभापति कार्य-संचालक मण्डल का अध्यक्ष होता है। यद्यपि उसको मताधिकार प्राप्त नहीं होता है परन्तु उसको अपना निर्णयात्मक (deciding vote) देने का अधिकार प्राप्त होता है। वह बैंक का प्रधान अधिकारी होता है तथा बैंक के सभी साधारण कार्यों की देखभाल करता है। उसकी सहायता के लिए बैंक में काफी संख्या में अधिकारी तथा कर्मचारी नियुक्त होते हैं। इस समय बैंक के अधिकारियों तथा कर्मचारियों की कुल संख्या १,५०० के लगभग है।

पूँजी साधन

आरम्भ में विश्व बैंक की अधिकृत पूँजी (authorised capital) १० बिलियन (१०,०,००० मिलियन) अमरीकी डालर थी जो १००,००० डालर राशि मूल्य के प्रत्येक १०,००० अंशों में विभाजित थी। इस अधिकृत पूँजी में से कुल ९·४ बिलयन डालर (९,४०० मिलियन डालर) राशि ४४ सदस्य देशों से चन्दों द्वारा प्राप्त हुई थी। प्रत्येक सदस्य का चन्दा निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया गया है।

(i) प्रत्येक सदस्य को अपने कुल चन्दे का २ प्रतिशत स्वर्ण अथवा अमरीकी डालरों में बैंक के पास तुरन्त जमा करना पड़ता है। इस प्रकार प्राप्त स्वर्णराशि को विश्व बैंक ऋण देकर उपयोग कर सकता है।

(ii) प्रत्येक सदस्य को अपने कुल चन्दे का १८ प्रतिशत बैंक को अपनी राष्ट्रीय मुद्रा में देना पड़ता है।

(iii) कुल चन्दे का शेष ८० प्रतिशत भाग आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों से प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार बैंक को इसकी अधिकृत पूँजी का २० प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा अमरीकी डालरों तथा सदस्यों की मुद्राओं में प्राप्त होता है। इस प्रदत्त पूँजी (paid-up capital) का विश्व- बैंक अपने ऋण साधनों के रूप में उपयोग करके सदस्यों की पुनर्निर्माण तथा विकास कार्य मे सहायता करता है।

पूँजी में वृद्धि

बैंक के कार्यों का विस्तार होने तथा सदस्यों द्वारा बैंक से अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त करने की प्रवृत्ति का अनुभव करने के पश्चात् बैंक की पूँजी में वृद्धि करना आवश्यक समझा जाने लगा था। अक्तूबर १९५८ ई० में हुई गवर्नर मण्डल की वार्षिक बैठक में विश्व बैंक की पूँजी में वृद्धि करने के प्रश्न पर विचार करने के पश्चात् गवर्नर मण्डल ने कार्यसंचालकों को बैंक की पूँजी में वृद्धि करने के प्रश्न पर विचार करने तथा अपने सुझाव देने का आदेश दिया था। विश्व बैंक के कार्यसंचालकों ने इस सम्बन्ध में बैंक के गवर्नर मण्डल से विश्व बैंक की पूँजी में ७ बिलियन (७,००० मिलियन) डालर राशि की वृद्धि करने की सिफारिश की थी। सदस्य देशों की सरकारों ने भारी बहुमत में इस सुझाव का समर्थन किया था तथा १५ सितम्बर, १९५९ ई० तक विश्व बैंक की पूँजी में, सदस्यों के चन्दों में वृद्धि होने के कारण, ८·८ बिलियन (८,८०० मिलियन) डालर की वृद्धि हो गई थी जो ७ बिलियन डालर की निर्धारित राशि से १·८ बिलियन डालर अधिक

2. Each member has 250 votes plus one additional vote for 100,000 shares of the capital stock subscribed by it.

थी। चन्दों के रूप में सदस्य देशों से १५ सितम्बर, १९५९ ई० तक प्राप्त हुई नई पूँजी की वास्तविक राशि ८,८०१·४ मिलियन डॉलर थी। इसमें से ६२५·२ मिलियन डालर राशि बैंक को तुरन्त स्वर्ण तथा सदस्यों की मुद्राओं में प्राप्त हो गई थी तथा शेष पूँजी राशि बैंक को आवश्यकता पड़ने पर प्राप्त हो सकती थी। विश्व बैंक के ६८ सदस्यों में से ४० सदस्यों ने १५ सितम्बर, १९५९ ई० तक अपनी चन्दाराशियों में वृद्धि कर दी थी। अतिरिक्त चन्दों की कुल राशि में, जो ८,८०१·४ मिलियन डालर थी, अमरीका, इंगलैंड, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, कनाडा तथा भारत के चन्दों की राशि क्रमशः ३,१७५ मिलियन डालर; १,३०० मिलियन डालर; ६८१ मिलियन डालर; ५२५ मिलियन डालर; ४१५ मिलियन डालर तथा ४०० मिलियन डालर थी। अधिकांश सदस्यों ने अपने चन्दों की राशि को दुगना कर दिया था। १७ देशों ने, जिनमें कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, तथा जापान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, अपने अत्यधिक आर्थिक विकास के आधार पर चन्दों में १०० प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि करदी थी।

सदस्य देशों के चन्दों में वृद्धि होने के पूर्व विश्व बैंक की अभिदत्त पूँजी (subscribed capital) केवल ९,५५६·५ मिलियन डालर थी, जिसमें से १,९११·३ मिलियन डालर राशि विश्व बैंक को स्वर्ण तथा सदस्यों की मुद्राओं में प्राप्त हुई थी तथा शेष पूँजी राशि आवश्यकता पड़ने पर प्राप्त की जा सकती थी। पुराने सदस्यों के चन्दों में वृद्धि हो जाने तथा सदस्यों की संख्या में वृद्धि हो जाने के कारण बैंक की अभिदत्त पूँजी अब बढ़कर २३,८७१ मिलियन डालर हो गई है। विश्व बैंक के सदस्यों की संख्या अब बढ़कर ११६ हो गई है जो आरम्भिक संख्या की लगभग ढाई गुनी है।

निम्नांकित सारिणी में विश्व बैंक की पूँजी में वृद्धि हो जाने के उपरान्त बैंक के प्रथम १० बड़े अंशधारी सदस्यों की स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

सदस्य	चन्दा			मताधिकार	
	अंशों की संख्या	राशि मिलियन अमरीकी डालरों मे	कुल चन्दों का प्रतिशत (%)	मतों की संख्या	कुल मतों का प्रतिशत
अमरीका	६३,५००	६,३५०	२७.६८	६३,७५०	२४·८९
इंङ्गलैंड	२६,०००	२,६००	११·३३	२६,२५०	१०·२५
जर्मनी	१२,८००	१,२८०	५·५८	१३,०५०	५·०९
फ्रांस	१०,५००	१,०५०	४·५८	१०,७५०	४·२०
भारत	८,०००	८००	३·४९	८,२५०	३·२२
कनाडा	७,९२०	७९२	३·४५	८,१७०	३·१९
जापान	७,७२६	७७२ ६	३·३७	७,९७६	३·११
चीन	७,५००	७५०	३·२७	७,७५०	३·०२
नेदरलैंडस	५,५५०	५५०	२ ४०	५,७५०	२·२४
आस्ट्रेलिया	५,३३०	५३३	२·३२	५,५८०	२·१८

उपरोक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सदस्यों के चन्दो मे वृद्धि हो जाने के पश्चात् सदस्यों में भारत का स्थान पाँचवां है। विश्व बैंक की पूँजी में वृद्धि करने का मुख्य कारण सदस्यों को आर्थिक विकास कार्य के लिये बैंक की ऋण प्रदान करने की शक्ति में वृद्धि करना है।

अधिकृत तथा अभिदत्त पूँजी में वृद्धि हो जाने के उपरान्त विश्व बैंक अविकसित सदस्य देशों को आर्थिक विकास कार्य के लिये अधिक मात्रा में ऋण सहायता प्रदान कर सकेगा और इस प्रकार विकसित तथा अविकसित देशों को एक दूसरे के समीप लाकर स्थाई विश्व शान्ति को स्थापित करने में एक महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगा। उन सभी सदस्यों को, जिन्हें विदेशी पूँजी सहायता की आवश्यकता है, विशेषरूप से अर्धविकसित सदस्य देशों को, बैंक की पूँजी में वृद्धि होने से भारी लाभ प्राप्त हो सकेगा।

बैंक की ऋण क्रियायें

विश्व बैंक अपने सदस्यों को निम्नलिखित रूपों में ऋण सहायता प्रदान करता है।

(i) अपनी पूँजी में से प्रत्यक्ष ऋण देकर अथवा किसी अन्य संस्था के साथ ऋणदान क्रिया में भाग लेकर;

(ii) ऋण की राशि को सदस्य अथवा अन्य देशों के मुद्रा बाजारों से प्राप्त करके;

(iii) व्यक्तिगत निवेशकर्ताओं द्वारा प्राप्त होने वाले ऋणों के सम्बन्ध में ऋण तथा ब्याज के भुगतानों की गारण्टी देकर।

ऋण देने अथवा ऋण के भुगतान की गारण्टी करने के पूर्व बैंक की एक सुयोग्य समिति उधारकर्ता सदस्य देश की उस योजना का परीक्षण करती है जिसके लिए ऋण दिया जाना है। इसके अतिरिक्त उधारकर्ता की ऋण भुगतान क्षमता का भी अध्ययन किया जाता है। इन सब बातों के अतिरिक्त ऋण देने से पहले यह भी देखा जाता है कि उधारकर्ता द्वारा ऋण उत्पादक कार्यों के लिए प्राप्त किया जारहा है अथवा नहीं। विश्व बैंक द्वारा दिये गये अथवा गारण्टी किये गये ऋणों का उपयोग पुनर्निर्माण तथा विकास योजनाओं की विदेशी विनिमय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए किया जा सकता है।

साधारणत: बैंक सदस्यों को उत्पादक योजनाओं के विकास के लिये दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन ऋण सहायता देता है। जिस योजना के लिए बैंक उधारकर्ता सदस्य को ऋण देता है उस योजना की प्रगति के सम्बन्ध में बैंक उधारकर्ता देश से तथा अपने विशेषज्ञों को उधारकर्ता देश में योजना विशेष की जाँच करने के लिये भेजकर समय-समय पर आवश्यक सूचना प्राप्त करता रहता है। अपने सभी ऋणों पर बैंक उधारकर्ता देश से ६$\frac{३}{४}$ प्रतिशत ब्याज आय प्राप्त करता है। ब्याज की दर सभी उधारकर्ता देशों के लिये समान होती है। ब्याज के अतिरिक्त बैंक सभी उधार-कर्ताओं से एक प्रतिशत का कमीशन भी लेता है। इस कमीशन द्वारा प्राप्त आय से एक विशेष कोष स्थापित किया गया है जिसका उपयोग ऋणों का भुगतान न होने से ऋणों के सम्बन्ध में होने वाली हानि को पूरा करने के लिए किया जाता है।

बैंक के कार्य का अध्ययन

विश्व बैंक के कार्य का श्रीगणेश ९ मई, १९४७ ई० को उस समय हुआ था जब इसने फ्रांस को पुनर्निर्माण कार्य के लिये २५० मिलियन डालर राशि का ऋण प्रदान किया था। गत २४ वर्षों में विश्व बैंक ने काफी उन्नति की है। यद्यपि आरम्भ में बैंक का कार्यक्षेत्र संकुचित तथा सीमित था परन्तु आज विश्व बैंक अपने सभी सदस्यों को पुनर्निर्माण तथा विकास कार्यों के लिए प्रत्यक्ष ऋण सहायता देकर तथा परोक्ष रूप से प्रौद्योगिक सहायता देकर तथा सदस्यों के आपसी झगड़ों में सफल मध्यस्थ (mediator) के रूप में भाग लेकर स्थाई विश्व शांति के हितों की रक्षा कर रहा है। विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणों के उत्पादक उपयोग के कारण सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थायें आज पहले से अधिक दृढ़ बन गई हैं। आज एशिया, अफ्रीका, यूरोप तथा दक्षिणी

अमरीका के अधिकांश अर्धविकसित सदस्य देश बैंक के आर्थिक महत्व को भली प्रकार समझते हैं तथा बैंक द्वारा भारी मात्रा में प्राप्त हुई ऋण सहायता के लिए बैंक के आभारी हैं। विश्व बैंक आज एक सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक कहलाने का अधिकारी है। यद्यपि आज से १० वर्ष पहले बैंक के सदस्यों की कुल संख्या केवल ७५ थी तथा इसके द्वारा दी गई कुल ऋण सहायता की राशि केवल ८८२ मिलियन डालर थी जो केवल १९ देशों को २९ विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए दी गई थी परन्तु पाँच वर्ष पश्चात् बैंक के सदस्यों की संख्या बढ़कर १०६ तथा बैंक द्वारा दी गई कुल ऋण सहायता की राशि बढ़कर २,३०० मिलियन डालर हो गई थी। इसका वितरण ३७ देशों में भिन्न योजनाओं को सफल बनाने के लिए किया गया था। दूसरे शब्दों में, ५ वर्ष के अल्प समय में बैंक के ऋणों की मात्रा लगभग तीन गुनी तथा उधारकर्ता देशों की संख्या ढाई गुनी से अधिक हो गई थी। आज बैंक के सदस्यों की संख्या बढ़कर ११६ हो गई है तथा उसके द्वारा गत २३ वर्षों (३० जून, १९७१ ई० तक) में प्रदान किये गये ऋणों की कुल राशि १६,०६८·५ मिलियन डालर है जो ९८ उधारकर्ता देशों में ७८३ ऋणों के रूप में फैली हुई है। सदस्यों को ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने २०० मिलियन डालर राशि का एक ऋण अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को भी दिया है। विश्व बैंक की प्रगति के सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। प्रथम, गत पाँच वर्षों में बैंक द्वारा दिये गये ऋणों की मात्रा, इसके द्वारा आरम्भिक १५ वर्ष में दिये गये कुल ऋणों की मात्रा से अधिक है। इससे यह स्पष्ट है कि बैंक की ऋण नीति अब पहले की तुलना में अधिक उदार है। दूसरे, गत १० वर्षों में बैंक ने संसार के अर्धविकसित देशों को अधिक मात्रा में लगातार ऋण देकर उन देशों के तीव्र आर्थिक विकास को सम्भव बनाने में महत्वपूर्ण भाग लिया है। एशिया, अफ्रीका तथा मध्य-पूरब के देशों को इन १० वर्षों में प्रत्येक वर्ष अन्य सभी देशों से अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त हुए हैं।

३० जून, १९७१ ई० को समाप्त होने वाला वित्तीय वर्ष विश्व बैंक की दृष्टि से अत्यधिक सक्रिय वर्ष था। इस वर्ष बैंक ने ४१ देशों को १,८९६ मिलियन डालर राशि के ७८ ऋण प्रदान किये थे। कार्यानुसार परिवहन के लिये ५७३·२ मिलियन डालर राशि के ऋण; विद्युत शक्ति के लिए ३९०·२ मिलियन डालर राशि के ऋण; कृषि विकास के लिए १९१·० मिलियन डालर राशि के ऋण; शिक्षा विकास के लिए ६८·२ मिलियन डालर राशि के ऋण; उद्योग के लिए ३२ मिलियन डालर राशि के ऋण; दूर संचार के लिए १०४·७ मिलियन डालर राशि के ऋण; विकास वित्त निगमों को २५३ मिलियन डालर राशि के ऋण; पर्यटन विकास के लिये १० मिलियन डालर राशि के ऋण; जनसंख्या नियन्त्रण के लिये ३ मिलियन डालर राशि के ऋण; सामान्य विकास के लिये ८५·४ मिलियन डालर तथा नगर जल पूर्ति के लिए १८५·७ मिलियन डालर राशि के ऋण प्रदान किये थे। क्षेत्रानुसार अफ्रीका को ३४७·२ मिलियन डालर राशि के १७ ऋण; एशिया को ४२९·१० मिलियन डालर राशि के १५ ऋण; यूरोप को ३९८·५ मिलियन डालर राशि के १९ ऋण तथा दक्षिणी अमरीकी क्षेत्र को ६७०·६ मिलियन डालर राशि के २४ ऋण दिये गये थे।

९ मई, १९४७ ई० को कार्य आरम्भ करने से लेकर ३० जून, १९७१ ई० तक विश्व बैंक ने कुल १६,०६८·६ मिलियन डालर राशि के ऋण दिये थे। क्षेत्रानुसार इस ऋण राशि का वितरण निम्नलिखित प्रकार है।

क्षेत्र	ऋणराशि (मिलियन अमरीकी डॉलर)
अफ्रीका	२,३४२·४
एशिया तथा मध्य-पूरब	४,९७८·६
औशनिया	५७६·३
यूरोप	२,९६३·५
पश्चिमी गोलार्ध	५,००७·८
अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम	२०० ०
कुल योग	१६,०६८·६

कार्यानुसार बैंक द्वारा दी गई उपरोक्त ऋण राशि का वितरण निम्नलिखित प्रकार है।

(राशि मिलियन अमरीकी डालर)

विद्युत शक्ति	५,०१०·६
परिवहन	४,९५८·३
दूर-संचार	३४८·६
कृषि, वन तथा मीनविकास	१,४९७·७
उद्योग	२,४१३·२
पानी पूर्ति योजनाएँ	२७७·७
शिक्षा	२१२·७
सामान्य विकास	६३७·७
जनसंख्या	५·०
युद्ध-पश्चात् पुनर्निर्माण	४९६.८
परिजोयना तैयारी	०·९
पर्यटन विकास	१०·०
वित्तिकरण ऋण	२००·०
कुल योग	१६,०६८·६

विश्व बैंक द्वारा आरम्भ से लेकर ३० जून, १९७१ ई० तक दिये गये ऋणों का कार्य तथा क्षेत्र के अनुसार विवरण (राशि मिलियन अमरीकी डालरों में)

कार्य ↓ / क्षेत्र →	अफ्रीका	एशिया तथा मध्य-पूरब	औशनिया	यूरोप	पश्चिमी गोलार्ध	अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम	जोड़
विद्युत् शक्ति	६००·४	१,०७५·३	१७१·४	७००·६	२,४६२·९	—	५,०१०·६
परिवहन	९७७·२	१,८४२·२	८९·३	७२७·७	१,३२२·०	—	४,९५८·३
दूर संचार	३७·१	११३·१	७·०	४०·३	१५१·१	—	३४८·६
कृषि, वन तथा मीन विकास	२०३·९	५६५·७	—	१९९·५	५२८·३	—	१,४९७·४
उद्योग	३३४·४	१,१८५·८	—	६२५·७	२६७·३	—	२,४१३·२
जल पूर्ति	२८·३	४४·०	—	२३·७	१८१·७	—	२७७·७
शिक्षा	४०·३	४८·८	—	३३·३	८४·३	—	२१२·७
सामान्य विकास	१२०·०	१०३·८	३०८·५	१००·०	५·४	—	६३७·७
युद्ध-पश्चात पुनर्निर्माण	—	—	—	४९६·८	—	—	४९६·८
परियोजना तैयारी	०·९	—	—	—	—	—	९·०
वित्तिकरण ऋण	—	—	—	—	—	२००·०	२००·०
जनसंख्या नियंत्रण	—	—	—	—	५·०	—	५·०
पर्यटन विकास	—	—	—	१०	—	—	१०·०
योग	२,३४२·४	४,३९८·५	५७६·३	२,९६३·५	५,००७·८	१००·०	११,२४६·९

सारणी से ज्ञात होता है कि १६,०६८.६ मिलियन डालर ऋण राशि में से ४,९७८.६ मिलियन डालर (३० प्रतिशत) एशिया तथा मध्यपूरब के सदस्यों को तथा २,३४२.४ मिलियन डालर (१३ प्रतिशत) अफ्रीका के अर्धविकसित देशों को विकास ऋणों के रूप में दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त ५,००७.८ मिलियन डालर (३३ प्रतिशत) पश्चिमी गोलार्ध के अविकसित देशों को आर्थिक विकास योजनाओं के लिए प्राप्त हुए हैं। विश्व बैंक ने शिक्षा विकास तथा परियोजना तैयारी (Project Preparation) के लिए सदस्यों को ऋण प्रदान करके अपनी उदारता का परिचय दिया है। बैंक की ऋण नीति में अविकसित देशों में मूल सेवाओं (basic services) के विकास पर अधिक महत्व दिया गया है। सदस्य देशों को विश्व बैंक द्वारा दी गई कुल ऋण सहायता का $\frac{3}{5}$ भाग विद्युत शक्ति के उत्पादन तथा परिवहन के विकास से सम्बद्ध मूल योजनाओं के निर्माण तथा विकास के लिए दिया गया है। कार्यानुसार विश्व बैंक ने उधारकर्ता सदस्य देशों को परिवहन, विद्युत शक्ति, उद्योग तथा कृषि के विकास के लिए अत्यधिक मात्रा में ऋण दिये हैं।

बैंक की उधारदान नीति

विश्व बैंक की उधारदान नीति अब पहले से अधिक वास्तविक तथा उदार है। बैंक की वर्तमान नीति के अनुसार बैंक अब विकसित देशों से अपने ऋणों पर अधिक ऊँची ब्याज दर प्राप्त करता है। विश्व बैंक की सामान्य ब्याज दर ६$\frac{1}{2}$ प्रतिशत है। विश्व बैंक के वित्तीय साधन इसको प्राप्त आय, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों के माध्यम द्वारा प्राप्त ऋणों, बैंक की पूँजी तथा इसके ऋणों के भुगतान द्वारा प्राप्त हुई धनराशि है। ३० जून, १९७१ ई० को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में विश्व बैंक की शुद्ध आय २११.७ मिलियन डालर थी।

बैंक तथा अर्धविकसित देश

एशिया, मध्य पूरब, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका के महाद्वीपों के अर्धविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए विश्वबैंक का कार्य महान् हितकर सिद्ध हुआ है। विश्व बैंक की ऋण सहायता द्वारा पूरी हुई सभी विकास योजनायें सफल सिद्ध हुई हैं। यद्यपि विश्व बैंक इन देशों की सभी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सका है परन्तु फिर भी बक ने इन देशों को कठिन आर्थिक विकास कार्य में भारी मात्रा में वित्तीय तथा प्रौद्योगिक सहायता देकर बड़ा सहयोग दिया है। ब्राजील, बरमा, पीरू, चिली, भारत, पाकिस्तान, लंका, सूडान, इरान, जापान, लीबिया, मलाया, मेक्सिको, थाईलैंड, कोरिया, पूरबी अफ्रीका तथा अन्य देश भारी ऋण सहायता प्रदान करने के लिये विश्व बैंक के आभारी हैं। रेल तथा सड़क परिवहन, बन्दरगाह विकास, विद्युत् शक्ति, उद्योग, सिचाई, कृषि, नदी घाटी विकास योजना, शिक्षा इत्यादि आर्थिक क्षेत्रों के विकास के लिये विश्व बैंक ने उदारता के साथ सदस्य देशों को ऋण प्रदान किए हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मौद्रिक तथा प्रौद्योगिक सहायता का यह स्त्रोत सदा बहता रहेगा और भविष्य में इन देशों को और अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त हो सकेंगे।

ऋण देने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने अन्य व्यक्तिगत तथा संस्थागत निवेशकर्त्ताओं को भी, उधारकर्ता देशों की अर्थव्यवस्थाओं की दृढ़ता तथा ऋणों के भुगतानों के सम्बन्ध में आश्वासन देकर इन उधारकर्ता देशों को ऋण देने तथा इन देशों की औद्योगिक तथा अन्य योजनाओं में अंश-धारियों के रूप में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहित किया है। उदाहरण के लिए, भारत के महान आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए भारी मात्रा में प्रत्यक्ष ऋण देने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने ११ देशों का—अमरीका, इंगलैंड, कनाडा, डेनमार्क, जर्मनी, जापान, फ्रान्स, इटली, आस्ट्रिया, हालैंड तथा बेलजियम—भारत को आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से एक संघ (Consortium)

स्थापित किया है। इस संघ की, जिसको 'Aid-India Club' के नाम से भी पुकारा जाता है, प्रथम बैठक सितम्बर १९६० ई० में पेरिस में भारत की तीसरी योजना को सफल बनाने के लिये आर्थिक सहायता पर विचार करने के लिये हुई थी। संघ के सदस्यों की दूसरी बैठक वाशिंगटन में मई १९६१ ई० में भारत को तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में सहायता देने के प्रश्न पर विचार करने के लिए हुई थी। भारत सहायता क्लब ने भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना के लिए पाँच वर्षों में ५,४७२ मिलियन डालर राशि की सहायता प्रदान की थी। १९६७-६८ ई० में भारत सहायता क्लब से भारत को ५६० मिलियन डालर राशि की सहायता प्राप्त हुई थी। १९६८-६९ ई० में भारत को सहायता क्लब द्वारा ९०० मिलियन डालर राशि को खुली ऋण सहायता प्राप्त हुई थी। इस सहायता के अतिरिक्त १०० मिलियन डालर राशि के ऋण भुगतान में छूट भी प्राप्त हुई थी। १९६९-७० ई० के लिये भारत ने भारत सहायता क्लब के सदस्यों से ९०० मिलियन डालर राशि की खुली ऋण सहायता के लिये प्रार्थना की थी। इस प्रकार भारत सहायता क्लब के सदस्यों ने भारी ऋण सहायता देकर भारत में आर्थिक नियोजन को सफल बनाने में भारी योगदान दिया है। इसका श्रय विश्व बैंक को प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त विश्व बैंक के सच्चे प्रयासों के फलस्वरूप पाकिस्तान सहायता संघ (Help Pakistan Club) की भी स्थापना की गई है। पाकिस्तान सहायता संघ के सदस्यों—कनाडा, फ्रांस, जापान, इंगलैंड, अमरीका, बेलजियम, डेनमार्क, नेदरलैंडस, इटली, जापान जर्मनी—ने पाकिस्तान की द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए १,००० मिलियन डॉलर राशि की सहायता देकर पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था का विकास करने में भारी योगदान दिया है।

ऋण सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त विश्व बैंक अर्धविकसित सदस्य देशों को विशेष विकास योजनाओं के अध्ययन के लिये बहुमूल्य तकनीकी सहायता भी प्रदान करता रहा है। वास्तव में ऋणी सदस्यों को तकनीकी सहायता प्रदान करना विश्व बैंक की वित्तीय क्रियाओं का एक आवश्यक पूरक अंग बन गया है। तकनीकी सहायता प्रदान करने का प्रमुख उद्देश्य सदस्यों को परियोजनाओं की रूपरेखा तैयार करने में सहायक सिद्ध होना है। उदाहरणार्थ, पूरबी तथा पश्चिमी अफ्रीका में नियुक्त बैंक के दो स्थाई शिष्टमण्डलों का यह प्रमुख कार्य है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संगठन के खाद्य तथा कृषि संगठन (FAO) तथा संयुक्त राष्ट्र आर्थिक वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (UNESCO) के साथ सहयोगी समझौतों का भी यही लक्ष्य है। विश्व बैंक द्वारा परियोजनाओं के अध्ययन के लाभों में पश्चिमी पाकिस्तान मे किये गये जल तथा शक्ति साधनों के अध्ययन की उदाहरण दी जा सकती है। इस अध्ययन में विस्तृत रूप से विशेष परियोजनों का अध्ययन किया गया है तथा दस वर्ष की अवधि में पश्चिमी पाकिस्तान के पानी तथा शक्ति साधनों का समन्वित विकास करने के हेतु सुझाव दिये गये हैं। ३० जून, १९७१ ई० को समाप्त हुये वित्तीय वर्ष में विश्व बैंक ने अफ्रीका में मलागासी रिपब्लिक में टमाटावे बन्दरगाह के विकास के अध्ययन पर १९६,५०० डालर व्यय किये थे। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) के कार्यअभिकर्ता के रूप में विश्व बैंक ने १९७०-७१ ई० में १६ नई परियोजनाओं के अध्ययन पर १४ मिलियन डालर खर्च किये गये थे।

पूरबी पाकिस्तान की सरकार की प्रार्थना पर विश्व बैंक ने पूरबी पाकिस्तान में कृषि तथा जल साधनों की समस्याओं का समाधान करने हेतु तकनीकी सहायता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त बैंक ने इन्डोनीशिया का आर्थिक विकास करने के लिये तकनीकी विशेषज्ञों के रूप में

सहायता प्रदान की है। विश्व बैंक ने संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के साथ मिलकर इन्डोनीशिया में परिवहन समन्वय तथा सड़क विकास का अध्ययन भी आरम्भ किया है।

विश्व बैंक द्वारा स्थापित आर्थिक विकास विद्यापीठ में १९७०-७१ में ८० देशों से १८० अधिकारियों को प्रशिक्षण प्रदान किया गया था। १९५६ ई० में स्थापना के समय से लेकर ३० जून, १९७१ ई० तक इस संस्था द्वारा ११० सदस्य देशों के १,१०० अधिकारियों को परिशिक्षित किया गया था। इसके अतिरिक्त विद्यापीठ के शिक्षकों ने विशेषाध्ययन वर्ग परिसंवादों का भी आयोजन किया था।

सदस्यों को स्वयं ऋण सहायता देने के अतिरिक्त विश्व बैंक अन्य देश अथवा देशों के साथ मिलकर भी सदस्य देशों में विशेष आर्थिक विकास परियोजनाओं को पूरा करने के हेतु संयुक्त वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा है। इस संयुक्त वित्तीय सहायता का प्रथम उदाहरण पाकिस्तान मे सिन्धु नदी पर तरबेला बाँध परियोजना का निर्माण है जिसको पूरा करने में विश्व बैंक ने कनाडा, फ्रांस, इटली, इंगलैड, अमरीका तथा पाकिस्तान के साथ मिलकर तरबेला विकास कोष स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त दूसरी उदाहरण एथियोपिया की है जहाँ विश्व बैंक ने स्वीडन के साथ मिलकर एथियोपिया में चार-वर्षीय सड़क विकास कार्यक्रम के लिये २७ मिलियन डालर राशि की वित्तीय सहायता प्रदान करने का वचन दिया है। इस राशि में स्वीडन द्वारा ५·८ मिलियन डालर तथा शेष २१·२ मिलियन डालर राशि विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा प्रदान की जावेगी।

इसके अतिरिक्त भारत तथा पाकिस्तान के बीच नहरों के पानी सम्बन्धी १४ वर्ष पुराने झगड़े का सरलतापूर्वक समाधान करके विश्व बैंक ने अविकसित देशों के आर्थिक इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया है तथा यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व बैंक विश्वशान्ति के हितों की रक्षा कर रहा है। इस झगड़े को समाप्त कराने के लिए विश्व बैंक को स्वयं ८० मिलियन डालर का ऋण देने के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, अमरीका, इंगलैण्ड, न्यूजीलैंड, कनाडा तथा जर्मनी समस्त देशों से सिन्धुघाटी विकास कोष (Indus Basin Development Fund) की स्थापना करने के लिए ६४० मिलियन डालर की सहायता देने के लिए प्रार्थना करनी पड़ी थी। विश्व बैंक के प्रयास आज भी जारी है तथा बैंक ने पाकिस्तान में झेलम नदी पर मंगला बाँध के निर्माण में तथा सिन्धु नदी पर तरबेला बाँध के निर्माण में प्रशंसनीय कार्य किया है। मंगला बाँध से पाकिस्तान में १,००० मेगावाट विद्युत शक्ति का उत्पादन हो सकेगा। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड तथा संयुक्त अरब गणराज्य के मध्य स्वेज नहर के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े में सफल मध्यस्थ का कार्य करके विश्व बैंक ने विश्व शान्ति के हितों को सुरक्षित रखने में भारी योगदान देकर अपने भारी महत्त्व को सिद्ध कर दिया है।

प्रत्यक्ष ऋण सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने अर्धविकसित देशों को अपने विशेषज्ञों की सेवाओं को प्रदान करके बहुमूल्य प्रौद्योगिक सहायता प्रदान की है। भारत में विश्व बैंक के विशेषज्ञों की टोली अनेक बार आई है तथा देश की अर्थव्यवस्था का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके भारत सरकार को बहुमूल्य परामर्श दिया है। अन्य देशों में भी विश्व बैंक ने अपने विशेषज्ञों को भेज कर इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं का व्यापक अध्ययन किया है तथा बैंक के विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टों की उच्च कोटि के आर्थिक साहित्य में गणना की जाती है। इसी प्रकार की ९ विशेषज्ञों की एक टोली हरवार्ड विश्वविद्यालय के प्रो० एडवर्ड मेसन के नेतृत्व में अफ्रीका में युगेण्डा राज्य की अर्थव्यवस्था का अध्ययन करने के लिये भेजी गई थी तथा इस टोली की

रिपोर्ट के आधार पर विश्व बैंक के सहयोग से उस देश के आर्थिक विकास की योजना बनाई गई है।

अर्धविकसित देशों की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण घटना यह है कि अप्रैल १९६२ ई० से विश्व बैंक ने अफ्रीकी मामलों से सम्बन्धित एक अलग विभाग स्थापित किया है। अफ्रीकी मामलों के विभाग की स्थापना का स्पष्ट अर्थ यह है कि अब विश्व बैंक का ध्यान इस गुप्त तथा अन्धकार महाद्वीप के आर्थिक विकास की ओर आकर्षित हुआ है। अब तक विश्व बैंक ने अफ्रीकी देशों को आर्थिक विकास योजनाओं के लिये २,३४२ मिलियन डालर से अधिक राशि के ऋण प्रदान किये हैं। अफ्रीकी विभाग की स्थापना हो जाने से अब यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में अफ्रीकी देशों को अधिक संख्या में अधिक राशि के ऋण प्राप्त हो सकेंगे।

विश्व बैंक ने अविकसित देशों को अधिक मात्रा में आर्थिक सहायता उपलब्ध करने के उद्देश्य से १९५६ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) को स्थापित करने में अत्यधिक सहयोग प्रदान किया था। निगम द्वारा व्यक्तिगत उद्योगों को ऋण देने के अतिरिक्त उन उद्योगो के अंशों को खरीद कर अंशधारी के रूप मे सहायता प्रदान करने के लिये विश्व बैंक ने निगम के अधिनियम में संशोधन कराने में विशेषरूप से रुचि दिखलाकर अविकसित देशों के आर्थिक हितों की अत्यधिक सेवा की है। इसके अतिरिक्त १९६० ई० में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association) की स्थापन भी बैंक के प्रयासों का ही परिणाम है। इस संघ की स्थापना हो जाने स अर्धविकसित देशों को पर्याप्त मात्रा में आर्थिक विकास योजनाओं के लिये बहुत उदार शर्तों पर वित्त सहायता प्राप्त हो रही है स्थापना के समय से लेकर ३० जून, १९७१ ई० तक विकास संघ से ५० सदस्य देशों को ३,३४०·४ मिलियन डालर राशि के २७४ सुलभ दीर्घकालीन ऋण प्राप्त हुये हैं तथा भविष्य मे ये ऋण और भी अधिक मात्रा में प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त फोर्ड तथा रॉकफेलर संस्थानों द्वारा प्रदान की गई वित्तीय सहायता से विश्व बैंक ने एक आर्थिक विकास विद्यापीठ संस्था (Economic Development Institute) स्थापित की है जहां प्रत्येक वर्ष अविकसित देशों से चुने हुए अधिकारियों को आर्थिक विकास सम्बन्धी समस्याओ के सम्बन्ध मे प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। संक्षेप मे यह कहना अनुचित नही होगा कि अविकसित देशों की दृष्टि से विश्व बैंक का गत २३ वर्षों का कार्य प्रशसनीय है।

बैंक के कार्य की आलोचना

विश्व बैंक के कार्य की कई कारणो से आलोचना की जाती है। प्रथम, बैंक पर यह आरोप लगाया जाता है कि बैंक अपने ऋणों पर अधिक ब्याज का दर लेता है। अविकसित देशों की दृष्टि से ६½ प्रतिशत ब्याज की दर बहुत अधिक है तथा इसके कारण ऋण भुगतान का भार बहुत अधिक हो जाता है। ब्याज की ऊँची दर के अतिरिक्त बैंक १ प्रतिशत का अतिरिक्त कमीशन भी लेता है जो अनुचित है। वाणिज्य सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए विश्व बैंक को सहायता की भावना को नहीं भुलाना चाहिए। बैंक को चाहिए कि प्रत्येक उधारकर्ता देश से उसकी आर्थिक तथा भुगतान शक्ति के अनुसार ब्याज तथा कमीशन प्राप्त करे। इस सिद्धान्त के अनुसार विकसित देशों को अधिक तथा अर्धविकसित देशो को कम ब्याज की दर पर ऋण दिये जाने चाहिए।

दूसरे, विश्व बैंक धारकर्ता सदस्य को ऋण देने से पहले उसकी ऋण भुगतान शक्ति का अध्ययन करता है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि ऋण भुगतान करने की शक्ति ऋण के उत्पादन उपयोग के उपरान्त उत्पन्न होती है उससे पहले नहीं। यदि उधारकर्ता देश

में ऋण प्राप्त करने के पूर्व ऋण भुगतान करने की शक्ति हुई होती तो उसे ऋण प्राप्त करने की आवश्यकता ही नहीं हुई होती। अर्धविकसित देशों में, जहाँ उत्पादन साधनों की प्रचुरता है परन्तु इनका उत्पादक उपयोग न होने के कारण आर्थिक दरिद्रता विद्यमान है ऋण देने के पूर्व भुगतान शक्ति की खोज करना व्यर्थ है।

तीसरे, यद्यपि विश्व बैंक ने अर्धविकसित देशों को काफी मात्रा में ऋण दिये हैं परन्तु इन देशों की आर्थिक विकास की भारी वित्तीय आवश्यकता को देखते हुए यह ऋण सहायता बहुत कम है। यही कारण है कि एशिया तथा दूर-पूरब तथा अफ्रीका के अविकसित देशों के प्रतिनिधियों ने विश्व बैंक की वार्षिक बैठकों में बैंक की ऋण नीति की आलोचना की है।

चौथे, विश्व बैंक का ऋण देने का कार्य बड़ा विलम्बपूर्ण है। उधारकर्ता की दृष्टि से वह ऋण अधिक उपयोगी होता है जो पर्याप्त मात्रा में उचित समय पर प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से यदि विश्व बैंक को उधारकर्ता के लिये वास्तविक रूप से उपयोगी सिद्ध होना है तो यह आवश्यक है कि ऋण, ऋण-प्रार्थनापत्र के प्राप्त होने के थोड़े ही समय पश्चात् दे दिया जावे क्योंकि समय के बीतने के साथ उधारकर्ता की ऋण-आवश्यकता समाप्त होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

विश्व बैंक तथा भारत

भारत विश्व बैंक का संस्थापक सदस्य है तथा विश्व बैंक के पाँच बड़े अंशधारियों में होने के नाते इसको बैंक के कार्यसंचालक मण्डल में स्थाई स्थान प्राप्त है। भारत को बैंक की वार्षिक बैठक का १९५० ई० में सभापतित्व करने का अवसर प्राप्त हुआ था। बैंक ने कई बार भारत में अपने विशेषज्ञों की टोलियों को भेज कर भारत की विभिन्न आर्थिक विकास योजनाओं का अध्ययन किया है। बैंक का एक अस्थाई प्रतिनिधि भारत में उन योजनाओं की प्रगति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये रहता है जो बैंक की ऋण सहायता के द्वारा पूरी की गई हैं तथा की जा रही हैं। नवम्बर १९५१ ई० में बैंक के विशेषज्ञों की एक टोली देश की विकास योजनाओं का अध्ययन करने के लिये भारत आई थी। १९५२ ई० में विश्व बैंक के अध्यक्ष युजिनि ब्लैक ने स्वयं भारत आकर देश की योजनाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की थी। बैंक के सभापति के दौरे के पश्चात् बैंक के अन्य अधिकारी उन योजनाओं का अध्ययन करने भारत आये थे जिनको पूरा करने के लिए भारत ने विश्व बैंक से ऋण माँगा था। फरवरी १९५४ ई० में बैंक का एक शिष्टमण्डल भारत में व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्योगों को वित्तीय सहायता देने के लिए निजी वित्त निगम को स्थापित करने की सम्भावना का अध्ययन करने के उद्देश्य से आया था। भारत सरकार के निमन्त्रण पर बैंक का एक शिष्टमण्डल अप्रैल १९५६ ई० में देश को आर्थिक स्थिति तथा दूसरी पंचवर्षीय योजना का अध्ययन करने के उद्देश्य से आया था। फरवरी १९५६ ई० में विश्व बैंक ने पश्चिमी यूरोप के तीन प्रसिद्ध बैंकर्स का एक शिष्टमण्डल भारत की विकास योजनाओं का अध्ययन करने के लिये भेजा था। सितम्बर १९६२ ई० में बैंक का एक शिष्टमण्डल तीसरी पंचवर्षीय योजना के प्रथम दो वर्षो मे हुई प्रगति का अध्ययन करने के लिये भारत आया था। विश्व बैंक के अधिकारियों ने दिसम्बर १९६५ ई० में भारतीय रेलों के कार्य का सर्वेक्षण किया था।

नवम्बर १९६७ ई० में श्री विलियम गिलमार्टिन की अध्यक्षता में विश्व बैंक की एक टोली भारतीय अर्थव्यवस्था का सर्वेक्षण करने के हेतु आती थी। इसी मास में विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री रोबर्ट मेकनामारा भी भारत स्वयं को भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थिति से अवगत कराने के लिये आये थे। जनवरी १९६९ में विश्व बैंक की तीन सदस्यीय टोली एक मास की अवधि के लिये

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा तार यातायात विकास के लिये दिये गये ३५ करोड़ रुपये की राशि के दो ऋणों के उपयोग का अध्ययन करने तथा ४० करोड़ रुपये की राशि का तीसरा ऋण देने के प्रश्न पर भारत सरकार के अधिकारियों से बातचीत करने के हेतु भारत आई थी।

भारत की आर्थिक विकास योजनाओं को पूरा करने के लिये विश्व बैंक ने काफी सहायता दी है। ३० जून, १९७१ ई० तक भारत को विश्व बैंक से १,०५९·२५ मिलियन डालर राशि के ३९ ऋण प्राप्त हो चुके हैं। इन ऋणों के उत्पादक उपयोग द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में देश का आर्थिक विकास सम्भव हो सका है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं के प्रति विश्व बैंक का रुख सराहनीय है। इस ऋण राशि में से ३७७·८ मिलियन डालर भारतीय रेलों के विकास के लिये ९ ऋणों के रूप में; ५८·३ मिलियन डालर ३ ऋणों के रूप में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के बन्दरगाहों के विकास के लिये; ५·६ मिलियन डॉलर १ ऋण के रूप में हवाई जहाजरानी के विकास के लिये; १५६·३ मिलियन डालर के ७ ऋण विद्युत शक्ति के विकास के लिये; ३७७·६ मिलियन डालर राशि के १४ ऋण उद्योग के विकास के लिये; २७·३ मिलियन डालर राशि के ३ ऋण कृषि विकास के लिये; २२·८ मिलियन डालर राशि का १ ऋण सामान्य विकास के लिए तथा २७·५ मिलियन डालर राशि का १ ऋण दूर संचार विकास के लिये प्रदान किये हैं।

प्रत्यक्ष ऋण सहायता देने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने परोक्ष रूप से भी भारत की सहायता की है। १९५८ ई० में विश्व बैंक ने भारत को नियोजन में आर्थिक सहायता प्रदान कराने के उद्देश्य से दस विकसित देशों (अमरीका, जापान, कनाडा, जर्मनी, इंगलैंड, फ्रान्स, आस्ट्रीया, इटली, हालैंड तथा बेलजियम) का एक संघ Consortium) जिसको भारत सहायता क्लब (Aid-India Club) कहते हैं, स्थापित किया था। क्लब के सदस्यों से विश्व बैंक ने भारत की तीसरी योजना को सफल बनाने में सहायता करने का अनुरोध किया था। क्लब के सदस्यों ने भारत को तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में ५,४७२ मिलियन डालर राशि की ऋण सहायता दी थी। १९६८-६९ ई० में भारत को संघ के सदस्यों से ९०० मिलियन डालर राशि की खुली ऋण सहायता प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त संघ के सदस्यों ने ऋण के भुगतानों में भी १०० मिलियन डालर राशि की छूट दी है।

विश्व बैंक द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने भी भारत को आर्थिक विकास के लिये १,६०८·४ मिलियन डालर राशि के ३६ ऋण प्रदान किये हैं। विश्व बैंक; अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से भारत को लगभग २,५०० मिलियन डालर राशि की ऋण सहायता प्राप्त हो चुकी है।

धनी राशि की ऋण सहायता प्राप्त होने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने भारत को विशेष परियोजनाओं को पूरा करने के लिये तकनीकी सहायता भी प्रदान की है। भारत में कोयला परिवहन की स्थिति में सुधार करने सम्बन्धी अध्ययन का ८६२,००० डालर खर्च भी विश्व बैंक ने दिया है। १९६५ ई० में ८७,५०० डालर खर्च करके बैंक ने कलकत्ते में हुगली नदी पर एक नया पुल बनाने की परियोजना का अध्ययन किया था। अब तक लगभग ३५० भारतीय अधिकारी विश्व बैंक की आर्थिक विकास विद्यापीठ में परिशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रति भी विश्व बैंक ने सहानुभूति व्यक्त की है तथा योजना को सफल बनाने में अपने प्रयासों का भारत को विश्वास दिलाया है।

इसके अतिरिक्त विश्व बैंक ने भारत तथा पाकिस्तान के बीच नहरों के पानी सम्बन्धी झगड़े को, जो १४ वर्षों से चला आ रहा था तथा इसके कारण दोनों देशों के सम्बन्ध काफी अस्तव्यस्त थे, सफलतापूर्वक समाप्त कराकर सच्ची भावना के साथ भारत तथा पाकिस्तान के हितों की सेवा की है तथा संसार में स्थाई शान्ति स्थापित करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विश्व बैंक की इस वर्तमान सफलता के आधार पर यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में विश्व बैंक की मध्यस्थता की सहायता से जटिल काश्मीर समस्या भी सुलझ जावेगी।

भारत विश्व बैंक का इसकी सहायता के लिये सदा आभारी रहेगा। विश्व बैंक की सहायता के बिना भारत के लिये आर्थिक विकास कार्य काफी कठिन सिद्ध हुआ होता।

अध्ययन सूची

1. Annual Reports of the World Bank.
2. World Bank : Principles and Policies.
3. Woytinsky, W. S. and Woytinsky, E. S. : World Commerce and Governments, 1955.
4. I M F & World Bank : The Fund and Bank Review.

प्रश्न

1. State briefly the functions of the World Bank and comment on its working.
2. Explain the aims and objects of the International Bank for Reconstruction and Development.
3. What were the objects of setting up the International Bank for Reconstruction and Development ? Evaluate the nature and extent of the help given by the Bank to member countries, How far has India been benefited ?
4. How far has the International Bank for Reconstruction and Development been of real value to India ?

३२

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corporation)

संसार के अविकसित देशों को आर्थिक विकास के लिये अधिक मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को स्थापित करने का विचार सर्वप्रथम विश्व बैंक द्वारा बनाई गई उस रिपोर्ट में व्यक्त किया गया था जो १९५२ ई० में संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् को प्रस्तुत की गई थी। तत्पश्चात् वित्त निगम को स्थापित करने के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक तथा सामाजिक सभा तथा महासभा (General Assembly) की बैठकों में विचार किया गया था। महासभा तथा परिषद् की बैठकों में अर्धविकसित सदस्य देशों के प्रतिनिधियों ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को स्थापित करने की योजना की सराहना की थी। १९५४ ई० में अमरीकी सरकार ने अमरीकी संसद से अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का, जो १०० मिलियन डालर पूँजी के साथ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक की देख-रेख में लघु संस्था के रूप में स्थापित हुई है, अंशधारी सदस्य बनने की अनुमति प्राप्त की थी। इंगलैंड ने भी अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम स्थापित करने के विचार का समर्थन किया था। दिसम्बर १९५४ ई० में महासभा (General Assembly) ने एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से वित्त निगम को वास्तविक रूप देने के उद्देश्य से मसौदा बनाने के लिए प्रार्थना की गई थी। अप्रैल १९५५ ई० में विश्व बैंक के कार्य संचालकों ने वित्त निगम के आधार नियमों को सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के सामने विचार तथा पास करने के लिये प्रस्तुत कर दिया था। निगम की स्थापना सम्बन्धी आज्ञापत्र (Charter) २१ जुलाई, १९५६ ई० को, फ्रांस तथा पश्चिमी जर्मनी के सदस्य बन जाने के उपरान्त उस समय कार्यशील हुआ था जब निगम के सदस्यों की संख्या ३१ हो गई थी।

उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का उद्देश्य सदस्य देशों में, विशेष रूप से अर्धविकसित देशों में, व्यक्तिगत क्षेत्र में ऋण प्रदान करके उत्पादक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देकर आर्थिक विकास के कार्य को सरल बनाना है। इस मूल उद्देश्य को निगम निम्नलिखित प्रकार पूरा करने का प्रयास करता है।

(१) उस स्थिति में जब व्यक्तिगत पूँजी पर्याप्त मात्रा में किसी उद्योग को सुचारु रूप से चलाने के लिये उचित शर्त पर उपलब्ध नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम सदस्य देशों में व्यक्तिगत निवेशकर्ताओं के साथ व्यक्तिगत उत्पादक उद्योगों में सदस्य देश की सरकार द्वारा पूँजी अथवा ऋण के भुगतान की गारण्टी किये बिना निवेश करता है।

(२) निगम निवेश अवसरों, ऐसी व्यक्तिगत पूँजी जो निवेश अवसरों की खोज में है, तथा अनुभवी प्रबन्धन के बीच सूचनागृह का कार्य करके अर्धविकसित देशों में पूंजी का निवेश संभव बनाता है।

(३) देशी तथा विदेशी व्यक्तिगत पूंजी के उत्पादक निवेश को प्रोत्साहित करने में सहायता देकर अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम अविकसित देशों के आर्थिक विकास कार्य में उचित सहायता प्रदान करता है।

विश्व बैंक के सक्रिय रूप में उपस्थित होते हुये, जिसका उद्देश्य भी सदस्यों को वित्तीय सहायता प्रदान करके उनके आर्थिक विकास में सहायता प्रदान करना है, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को स्थापित करने के कारणों का विवरण करते हुये इंगलैंड की सरकार के आर्थिक सचिव सर ऐडवर्ड बॉयल ने संसद में १ जुलाई, १९५५ ई० को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विधेयक को प्रस्तुत करते समय निम्नांकित विचार स्पष्ट किये थे।

"कुछ सदस्यों के दिमाग में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ रहा होगा कि विश्व बैंक जो आर्थिक विकास कार्य में बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है, के उपस्थित होते हुये इस नई अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्था को स्थापित करने की क्या आवश्यकता है। इसकी आवश्यकता इसलिये है क्योंकि विश्व बैंक का कार्य बहुत सी सीमाओं के अधीन है, जिनमें से मैं यहाँ केवल दो सीमाओं की व्याख्या करूँगा। प्रथम, विश्व बैंक केवल सदस्य राष्ट्रों अथवा इन राष्ट्रों की सरकारों की जमानत प्राप्त होने पर व्यक्तिगत ऋणियों को ऋण सहायता प्रदान करती है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्तिगत उद्यमकर्ता इस डर से भयभीत होकर कि ऋण के भुगतान सम्बन्धी जमानत देने के हेतु सरकार उनके उद्योगों में अनुचित हस्तक्षेप करने लगेगी, विश्व बैंक से ऋण सहायता प्राप्त करते हुये डरते हैं। दूसरे, विश्व बैंक से निश्चित ब्याज की दर पर केवल ऋण सहायता प्राप्त की जा सकती है, जोखिम-पूँजी कदापि प्राप्त नहीं की जा सकती है। बहुधा ऐसा होता है कि उद्योग को स्थापित करने के लिये भारी मात्रा में जोखिम पूंजी की आवश्यकता होती है। उस समय जबकि उद्योग को स्थापित करने तथा ठीक प्रकार से चलाने के लिये जोखिम पूँजी की राशि इतनी अधिक होती है कि उसको व्यक्तिगत साधनों के द्वारा उपलब्ध नहीं किया जा सकता है तब विश्व बैंक जोखिम पूँजी प्रदान करने में अयोग्य सिद्ध होती हैं क्योंकि इस प्रकार की पूँजी प्रदान करना विश्व बैंक के कार्यक्षेत्र से बाहर है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का उद्देश्य विश्व बैंक को इस कमी को पूरा करके सदस्य देशों, विशेष रूप से अर्ध विकसित क्षेत्रों, में व्यक्तिगत उत्पादक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन प्रदान करना है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक का पूरक सिद्ध होगा, प्रतियोगी नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम अपने इस उद्देश्य की पूर्ति व्यक्तिगत निवेश कर्ताओं को निवेश करने में आकर्षण प्रदान करके करेगा।"[1]

सदस्यता तथा संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक के सहायक के रूप में कार्य करता है। निगम के आज्ञापत्र (Charter) के अनुसार विश्व बैंक का प्रत्येक गवर्नर जो अपनी सरकार का प्रतिनिधित्व

---

1. Speech of Sir Edward Boyll in the House of Commons Debate on July 1, 1955.

करता है निगम की गवर्नर परिषद् का भी सदस्य बन सकेगा। विश्व बैंक का अध्यक्ष जो बैंक की कार्यकारी संचालक परिषद् का अध्यक्ष होता है, वित्त निगम के संचालक मण्डल का भी अध्यक्ष होता है। चार्टर के अनुसार निगम का अपना अलग अस्तित्व है तथा इसकी सभी परिसम्पत्ति विश्व बैंक की परिसम्पत्ति से अलग रखी जाती है। निगम का अपना अलग कार्यकारी उपाध्यक्ष होता है जिसकी नियुक्ति सभापति के नाम निर्देशन पर संचालक मण्डल द्वारा की जाती है। अध्यक्ष निगम के सभी कार्यों के लिये जिम्मेदार होता है। निगम के कार्यकारी संचालक मण्डल में २० सदस्य हैं। इनमें से ५ सदस्य पाँच बड़े अंशधारियों द्वारा नियुक्त तथा शेष १५ सदस्य अन्य सदस्यों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। श्री रोबर्ट मेक्नामारा जो प्रथम अप्रैल, १९६८ ई० से विश्व बैंक के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुये हैं निगम के भी अध्यक्ष हैं।

पूँजी

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूँजी (authorised capital) ११० मिलियन अमरीकी डॉलर है। यह पूँजी सदस्यों को अंशों के रूप में उसी अनुपात में आवंटित कर दी गई है जो अनुपात उनके अंशों तथा बैंक की पूँजी में है। निगम की यह पूँजी १,००० डालर राशि के समता मूल्य के ११०,००० शेयरों में विभाजित है। १९७१ ई० तक ९६ देशों ने निगम की पूँजी में अपने चन्दे निर्धारित कर दिये थे तथा इस तिथि को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की कुल स्वीकृति पूँजी १०७·१५७ मिलियन डालर थी। अंशों की राशि के आधार पर अमरीका को निगम के सदस्यों की सूची में प्रथम स्थान प्राप्त है। निगम के निम्नांकित प्रथम नौ बड़े सदस्यों के अंशों की राशि तथा उनका निगम के अंशधारियों के रूप में स्थान निम्नलिखित प्रकार है।

देश	शेयरों की संख्या	चन्दों की राशि (,००० डालर)	कुल चन्दों का प्रतिशत	स्थान
अमरीका	३५,१६८	३५,१६८	३४·६९	प्रथम
इंगलैंड	१४,४००	१४,४००	१४·२१	दूसरा
फ्रांस	५,८१५	५,८१५	५·७४	तीसरा
भारत	४,४३१	४,४३१	४·३७	चौथा
जर्मनी	३,६५५	३,६५५	३·६१	पाँचवाँ
कनाडा	३,६००	३,६००	३·५५	छठा
नेदरलैंडस	३,०४६	३,०४६	३·०१	सातवाँ
जापान	२,७६९	२,७६९	२·७३	आठवाँ
बेलजियम	२,४६२	२,४६२	२·४६	नवाँ

निवेश नीति

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की निवेश नीति के सम्बन्ध में निगम के अध्यक्ष श्री रॉबर्ट गार्नर ने २५ जुलाई, १९५६ ई० को लन्दन टाइम्स में एक लेख में लिखा था कि "निगम सदस्य देशों में, विशेषरूप से कम विकसित क्षेत्रों में, निजी क्षेत्र में उद्योगों में निवेश करेगा। निवेश पूंजी निर्यातकर्ता देशों अथवा उन देशों, जहां पर उद्योग स्थित हैं, के व्यक्तिगत निवेशकर्ताओं के साथ साझे में किये जावेंगे। निगम द्वारा किये जाने वाले कुल निवेश की राशि किसी उद्योग में किये जाने वाले कुल निवेश की राशि की आधी अथवा आधी से कम होगी। निगम द्वारा किये गये निवेश पर लिये जाने वाले ब्याज की दर जोखिम तथा अन्य बातों के आधार पर निर्धारित

होगी। सामान्यत: निगम द्वारा दिये गये ऋणों की अवधि ५ वर्ष से लेकर १५ वर्ष तक होगी। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के निवेश स्थिर ब्याज दर वाले सुरक्षित प्रथम बन्धक ऋणपत्रों (first mortgage bonds से लेकर असुरक्षित ऋणपत्रों (debentures), जो अधिकारों में अंश पूँजी (share capital) के समान होते हैं, तक हो सकते हैं। निगम के ऋणपत्रों को निगम की इच्छा होने पर अंशों में बदला जा सकता है तथा उद्योग के लाभ में भी निगम का कुछ हिस्सा रहेगा। कई कारणों से निगम के निवेश अन्य क्षेत्रों में होने के बजाय अधिकतर औद्योगिक क्षेत्र में किये जावेंगे।"

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम केवल उन्हीं निवेश योजनाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करता है जिनका उद्देश्य व्यक्तिगत उत्पादक उद्योगों की स्थापना, विस्तार तथा सुधार करना है तथा जो उद्योग सदस्य देश की अर्थव्यवस्था के विकास में सहायक सिद्ध होंगे। निगम से वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि उद्योग विशेष निगम के किसी सदस्य देश अथवा सदस्य देश पर आश्रित क्षेत्र में स्थित होना चाहिए। आरम्भ में निगम की निवेश नीति का उद्देश्य कम विकसित सदस्य राष्ट्रों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम व्यक्तिगत निवेशकर्ताओं के साथ मिलकर निवेश करता है। उद्योग विशेष में निवेश की जाने वाली कुल पूँजी का आधे से अधिक भाग व्यक्तिगत उद्यमकर्ताओं द्वारा प्राप्त होना चाहिये। सामान्यतया अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम उन निवेश प्रस्तावों (investment proposals) पर विचार करता है जिनके सम्बन्ध में उद्योग विशेष में किये जाने वाले कुल निवेश की न्यूनतम राशि ५ लाख डालर के लगभग है तथा निगम से कम से कम १ लाख डालर राशि के ऋण की प्रार्थना की गई है। औद्योगिक, कृषि, वित्तीय, वाणिज्य तथा अन्य प्रकार के व्यक्तिगत व्यवसायों को निगम से ऋण प्राप्त हो सकते हैं, यदि ये व्यवसाय उत्पादक प्रकार के हैं। आरम्भिक वर्षों में निगम की निवेश नीति का लक्ष्य प्रमुख रूप से औद्योगिक व्यवसायों में निवेश करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम केवल निजी उद्योगों को वित्त सहायता प्रदान करता है। निगम किसी भी ऐसे उद्योग में निवेश नहीं करता है जो सरकारी है अथवा सरकार द्वारा चलाया जाता है अथवा सरकार उद्यमकर्ता अथवा अन्य किसी प्रकार से उद्योग में हिस्सेदार होती है। उद्योग में निवेश करने सम्बन्धी निर्णय लेते समय निगम निम्नलिखित तीन बातों को ध्यान में रखता है।

(i) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा उद्योग विशेष में निवेश करने के कारण अन्य निवेशकर्ताओं द्वारा व्यक्तिगत पूँजी का निवेश किस मात्रा में हो पावेगा।

(ii) उद्योग विशेष में किये जाने वाले निवेश पर प्राप्त होने वाले आशंसित लाभ की दर क्या है।

(iii) किसी उद्योग विशेष में किया जाने वाला निवेश अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की निवेश विविधता नीति (Diversified Investment Policy) के अनुकूल है अथवा नहीं।

किसी उद्योग की उत्पादकता सिद्ध हो जाने के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ऋण देते समय उस उद्योग की उत्पादकता की तुलना अन्य उद्योगों की उत्पादकता से नहीं करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम किसी भी प्रकार तथा रूप में, जिसमें उद्योग की अंश पूँजी में निवेश करना भी सम्मिलित है, निवेश कर सकता है। निगम की नीति अपने निवेश पर समान निश्चित ब्याज आय प्राप्त करने की नहीं है। निवेश पर प्राप्त होने वाले ब्याज की दर ऋणी

उद्योग तथा निगम के बीच हुए समझौते, निवेश की प्रकृति, इससे सम्बन्धित अधिकार तथा जोखिम इत्यादि बातों को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती है। साधारणतया निगम के ऋणों के भुगतान की अवधि ५ वर्ष से लेकर १५ वर्ष तक है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम जमानत प्राप्त किये बिना अथवा जमानत प्राप्त करने पर ऋण दे सकता है। यह निर्णय करते समय कि ऋण देने के लिये जमानत की आवश्यकता है अथवा नहीं और यदि तो है जमानत किस रूप में प्राप्त होनी चाहिये, निगम निवेश सम्बन्धी शर्तों तथा निवेश किये जाने वाले सदस्य देश में प्रचलित कानून को ध्यान में रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम निवेश कार्य के लिये दी जाने वाली धनराशि को एकमुश्त अथवा किश्तों के रूप में ऋणी व्यवसाय को प्रदान करता है। निगम द्वारा प्रदान की गई वित्तीय सहायता के द्वारा ऋणी पर किसी विशेष प्रकार की वस्तु खरीदने अथवा किसी विशेष कार्य के लिये खर्च करने का प्रतिबन्ध नहीं होता है। संक्षेप में, निगम द्वारा दी गई ऋण सहायता का उपयोग ऋणी व्यवसाय द्वारा किसी भी कार्य पर किया जा सकता है। आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने केवल अपनी चुकती पूँजी (Paid-up Capital) वाली मुद्रा अर्थात् डालरों में वित्तीय सहायता प्रदान की थी। किसी व्यवसाय में निवेश करने के पूर्व निगम इस बात का पता अवश्य लगाता है कि व्यवसाय विशेष का प्रबन्धन कुशल तथा अनुभवी है अथवा नहीं। निवेश केवल उसी समय किया जाता है जब निगम को सन्तोषजनक रूप से यह ज्ञात हो जाता है कि व्यवसाय विशेष का प्रबन्धन कुशल तथा अनुभवी है। निगम आवश्यकता पड़ने पर सहायता के रूप में ऋणी व्यवसाय को कुशल प्रबन्धकर्ताओं की सेवाएँ भी प्रदान कर सकता है। निवेश करने के पूर्व निगम यह भी देखता है कि व्यवसाय विशेष में योग्य संचालक परिषद् है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त आवश्यक समझने पर निगम ऋणी व्यवसाय की संचालक परिषद में अपने प्रतिनिधि की भी नियुक्ति कर सकता है। जिस व्यवसाय में निगम निवेश करता है उसके लेखों का प्रतिवर्ष निर्पेक्ष लेखा परीक्षक (auditor) द्वारा परीक्षण होना आवश्यक है तथा निगम का प्रतिनिधि आवश्यकता होने पर किसी भी समय ऋणी व्यवसाय के लेखों का निरीक्षण कर सकता है। व्यवसाय विशेष का यह भी कर्त्तव्य है कि वह निगम को निर्पक्ष लेख परीक्षक द्वारा प्रमाणित पक्का चिट्ठा (Certified Balance Sheet) या लाभ व हानि लेखा (Profit and Loss A/c) समय समय पर भेजे। इसके अतिरिक्त समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ऋणी व्यवसाय से व्यवसाय की उन्नति-रिपोर्ट की मांग कर सकता है। वित्तीय सहायता प्रदान किये गए ऋणी व्यवसाय की अचल पूँजी तथा फैक्ट्री इत्यादि का निरीक्षण निगम के प्रतिनिधियों द्वारा किसी भी समय किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम अपने निवेशों के भुगतान के सम्बन्ध में सदस्य देश की सरकार की प्रत्याभूति नहीं करता है। इसके अतिरिक्त निगम से निवेश सहायता प्राप्त करने के लिए व्यवसाय को अपने देश की सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त करने सम्बन्धी किसी प्रकार का कोई अनुमोदन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि सदस्य देश की सरकार निगम द्वारा व्यवसाय विशेष में निवेश करने पर विरोध प्रकट करती है तो ऐसी स्थिति में निगम उस व्यवसाय में निवेश नहीं करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के कार्य की प्रगति

३० जून, १९७१ ई० को समाप्त हुये वित्तिय वर्ष में निगम ने १०१·४ मिलियन डालर राशि के निवेश १५ देशों में किये थे। इस वर्ष प्रथम बार निगम ने कोरिया में मुद्रा तथा पूँजी बाजार के विकास हेतु एक संस्था की स्थापना तथा अफ्रीका में क्षेत्रीय विकास संस्था की स्थापना के लिये निवेश किया था। इसके अतिरिक्त निगम ने इस वर्ष प्रथम बार मोरिशस; पनामा तथा

लेबनान में निवेश किया था। इसके अतिरिक्त अर्जनटाइना; ब्राजील; फिलिपीन्स; थाईलैंड; तुर्की, चीन; ईरान; मेक्सीको; वैनीजुला तथा यूगौस्लेविया में भी निगम ने निवेश किये थे। इस वर्ष की निवेश राशि का अधिकांश भाग—८८ मिलियन डालर—११ देशों में १८ विनिर्माण औद्योगिक इकाईयों में निवेश किया गया था। २६·६ मिलियन डालर राशि कपड़ा उद्योग के विकास हेतु ७ परियोजनाओं में निवेश की गई थी; २१·९ मिलियन डॉलर ४ औद्योगिक इकाईयों में सीमेंट तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये निवेश किये गये थे; १४ मिलियन डालर का निवेश रसायनिक तथा पेट्रोल रसायनिक वस्तुओं के उत्पादन में; ९ मिलियन डालर ट्रक तथा बस परियोजना में; ४·९ मिलियन डालर लुब्दी व कागज के उत्पादन के लिये तथा ११·५ मिलियन डालर अन्य विनिर्मित पदार्थों के उत्पादन के लिये निवेश किये गये थे। इसके अतिरिक्त १०·२ मिलियन डालर थाईलैंड तथा वैनिजला में विकास वित्त संस्थाओं की स्थापना के लिये प्रदान किये गये थे। २·१ मिलियन डालर पनामा तथा मौरिशस में पर्यटन के विकास के लिये दिये गये थे।

१९५७ ई० से लेकर १९७१ ई० तक गत १५ वर्ष की अवधि में निगम ने ४७ अर्ध-विकसित देशों में ५७७·८ मिलियन डालर राशि के १७२ निवेश किये हैं। इन निवेशों में २३१·७ मिलियन डालर (४० प्रतिशत) पश्चिमी गोलार्ध में; १८७·४ मिलियन डालर (३२ प्रतिशत) एशिया तथा मध्य-पूरब में; ८६·९ मिलियन डालर (१५ प्रतिशत) अफ्रीका में तथा ७०·८ मिलियन डालर (१२ प्रतिशत) यूरोप में निवेश किये गये हैं।

कार्यानुसार निगम द्वारा १९५७ ई० से लेकर ३० जून १९७१ ई० तक किये गये ५७७·८ मिलियन डालर राशि के कुल निवेशों का आबन्टन निम्नलिखित प्रकार है :

	कार्य	(राशि मिलियन डालर)
1.	Cement and Orher Construction Materials	71·52
2.	Pulp & Paper Products	69·78
3.	Textiles & Fibres	60·05
4.	Fertilizers	56·60
5.	Iron & Steel	54·62
6.	Development Finance Companies	53·17
7.	Mining	36·74
8.	Other Manufacturing	36·50
9.	Chemical & Petrochemical Products	35·75
10.	Machinery	34·45
11.	Food & Food Processing	24·16
12.	Utilities, Printing & Puplishing	23·50
13.	Tourisn	20·27
14.	Money & Capital Markets	0·70

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम तथा भारत

भारत को निगम से ३० जून, १९७१ ई० तक ४२·३ मिलियन डालर राशि की निवेश सहायता ११ औद्योगिक इकाईयों उद्योगों को प्राप्त हुई है। जिन उद्योगों को निगम से निवेश पूँजी सहायता प्राप्त हुई है वे निम्नलिखित प्रकार हैं।

	उद्योग	निवेश राशि
1.	Republic Forge Company Ltd.	.... १,५००,००० डॉलर
2.	Kirloskar Oil Engines Ltd.	.... ८५०,००० ,,
3.	Assam Sillimanite Ltd.	.... १,३६५,००० ,,
4.	K. S. B. Pumps, Ltd.	.... २१०,००० ,,
5.	Precision Be rings India l td.	.... १,०३०,१९७ ,,
6.	Fort Gloster Industries Ltd.	.... १,२११,०४७ ,,
7.	Mahindra Ugine Steel Co. Ltd.	.... ३,२९६,६५४ ,,
8.	Lakshmi Machine Works Ltd.	.... १,३१२,७१८ ,,
9.	Jayshree Chemicals Ltd.	.... १,१५४,८१६ ,,
10.	Indian Explosives Ltd.	....११,४६२,४३७ ,,
11.	Zuari Agro Chemicals Ltd.	....१८,९१०,५०२ ,,
	जोड़	....४२,३०३,०४० ,,

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के कार्य का आलोचनात्मक अध्ययन

३० जून, १९७१ ई० तक गत १५ वर्षों में किए गए कुल ५७७·८ मिलियन डालर राशि के निवेशों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का कार्य, अविकसित देशों की भारी वित्तिय आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, साधारण रहा है। परन्तु यदि इस सत्य को ध्यान में रखा जाये कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा प्रदान की हुई वित्तीय सहायता का उद्देश्य व्यक्तिगत निवेश पूँजी को उत्पादक व्यवसायों में आकर्षित करना है तो निगम का कार्य सन्तोषजनक रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की सफलता का सही ज्ञान निगम द्वारा किए गए कुल निवेशों की राशि से नहीं बल्कि इस बात से होता है कि निगम किस अंश तक देशी तथा विदेशी पूँजी को व्यक्तिगत व्यवसायों के लिये उपलब्ध कराने में सफल रहा है। निगम का गत १५ वर्ष का कार्य इस सत्य का प्रमाण है कि निगम का कार्य इस दिशा में सफल रहा है। निगम द्वारा प्रत्येक एक डालर का निवेश करने के कारण ऋणी देशों में निजी व्यवसायों में ५ अतिरिक्त डालरों का निवेश हुआ है।

वर्तमान समय में विकसित देशों से अविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तिगत पूँजी के प्रवाह की भारी आवश्यकता है। विदेशों में निवेश के लिए उपलब्ध व्यक्तिगत पूँजी के द्वारा प्रत्यक्ष निवेश (Direct Investment) तथा सामान्य निवेश (Equity Investment) हो सकते हैं। सामान्य निवेश उन व्यक्तिगत अथवा संस्थागत पूँजी नकदी को कहते हैं जिसका विदेशों में निवेश होता है। सामान्य निवेश का अमरीका तथा यूरोप के औद्योगिक विकास में काफी महत्व रहा है। परन्तु अब तक इस प्रकार की पूँजी अर्धविकसित देशो में बहुत कम मात्रा में आई है। अर्धविकसित देशों में सामान्य पूँजी का उत्पादक निवेश करह के असीमित अवसर प्राप्त हैं। निगम निवेश पूंजी को आयातकर्ता तथा निर्यातकर्त्ता देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के प्रवाह को प्रोत्साहन प्रदान करके अर्धविकसित देशों में विकसित देशों द्वारा निवेश को सम्भव बना सकता है। इस दिशा में निगम सन्तोषजनक कार्य कर रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा दी गई वित्तीय सहायता पर ब्याज की दर काफी अधिक है, विशेषकर जबकि ब्याज के अतिरिक्त निगम का व्यवसाय के लाभ में भी हिस्सा होता है। अविकसित देशों के लिए निगम की उपयोगिता को बढ़ाने के उद्देश्य से निगम के आज्ञापत्र में उचित

संशोधन कर दिया गया है और अब निगम व्यवसाय के अंशों को खरीद कर अंशधारी के रूप में व्यवसायों को जोखिम पूँजी भी प्रदान करता है। निगम के चार्टर में इस संशोधन के पश्चात् निगम ने कम विकसित सदस्य देशों के आर्थिक विकास कार्य में वास्तविक रूप से हाथ बटाया है। चार्टर में संशोधन होने के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने विकास बैंकों की जोखिम पूंजी में निवेश किया है।

अब अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ तथा स्वयं के लिए औद्योगिक तथा खनिज उद्योगों से सम्बद्ध योजनाओं को तैयार करता है तथा तकनीकी तथा वित्तीय जाँच करता है। अब निगम के समझौते की धाराओं में आवश्यक संशोधन करके निगम को विश्व बैंक से ऋण प्राप्त करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया है तथा इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के वित्तीय साधनों में ४०० मिलियन डालर की राशि की वृद्धि हो गई है। यद्यपि आरम्भिक ५ वर्षों में निगम ने केवल ऋणों के रूप में व्यवसायों को सहायता प्रदान की थी परन्तु १९६२ ई० के पश्चात् निगम ने सामान्य निवेशों (Equity Investments) के रूप में काफी अधिक मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान की है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के गत १५ वर्ष के कार्य को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि निगम का कार्य सन्तोषजनक रहा है तथा भविष्य में निगम अर्धविकसित देशों में व्यक्तिगत क्षेत्र में औद्योगिक विकास में और अधिक वित्तिय सहायता प्रदान कर सकेगा।

ध्ययन सूची

1. International Finance Corporation, 1957.
2. Commerce, 26th November, 1959.
3. Articles of Agreement of the IFC., 1955.
4. Annual Reports of the IFC.

प्रश्न

1. Give a critical estimate of the working of the International Finance Corporation. How far has the Corporation been helpful in the development of the underdeveloped nations ?

३४

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ
(International Development Association)

१ अक्तूबर, १९५९ ई० को विश्व बैंक के गवर्नर मण्डल ने सर्वसम्मति से सिद्धान्त में एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया था। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव इस प्रकार था : "विश्व बैंक की सहायक के रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना करने के प्रश्न के सम्बन्ध में कार्यसंचालकों से प्रार्थना की जाती है कि वे बैंक के गवर्नरों के विचारों तथा उन सामान्य सिद्धान्तों का जिनके आधार पर ऐसे संघ की स्थापना की जानी चाहिये तथा अन्य सभी बातों को ध्यान में रखते हुए संघ के समझौते की धाराओं को बैंक के सदस्य राष्ट्रों को प्रस्तुत करने के लिए बनायें।"[1]

संसार के अविकसित देशों को आर्थिक विकास कार्य में ऋण सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ स्थापित करने का विचार सर्वप्रथम अमरीका के सीनेटर मौनरोने (Senator Monroney) ने रखा था। इस विचार को कुछ समय पश्चात् अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर की अनुमति प्राप्त हुई और अगस्त १९५९ ई० में पहली बार जनता के समक्ष उन्होंने एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ स्थापित करने के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किये थे। उन्होंने अमरीकी प्रशासन को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक के सहयोग के साथ विकास संघ को स्थापित करने की सम्भावना का अध्ययन करने का आदेश दिया था। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को स्थापित करने का श्रेय अमरीका तथा विश्व बैंक को है जिन्होंने इस बात को विचारा था कि स्थाई विश्व शान्ति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि विकसित देशों से अविकसित देशों को अधिक मात्रा में विकास सहायता प्राप्त होनी चाहिए।

---

1. "Resolved that with respect to the question of creating an international development association as an affiliate of the Bank, the executive directors, having regard to the views expressed by the governors and considering the broad principles on which such an association should be established and all other aspects of the matter are requested to formulate articles of agreement of such an association for submission to the member Governments of the Bank.

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को, जिसे कुछ लोगों ने सुलभ ऋण खिड़की (Soft Loan Window) का नाम दिया है तथा जहाँ से अविकसित देश ऋण का स्वर्ण अथवा दुर्लभ डालर मुद्रा में भुगतान करने की चिन्ता किये बिना दुर्लभ मुद्रा को ब्याज के बिना उधार ले सकते हैं, कार्य करते हुये अब १२ वर्ष हो गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ अविकसित देशों को उदारता के साथ ऋण प्रदान करता है। विकास संघ द्वारा दिये गये ऋण दीर्घावधि ऋण होते हैं तथा ऋण का भुगतान करने का न्यूनतम समय १५ वर्ष है। विकास संघ किसी व्यवसाय विशेष की कुल लागत का एक निश्चित प्रतिशत ऋण सहायता के रूप में प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से ऋण प्राप्त करने की शर्तें इतनी अधिक उदार हैं कि ऐसे देशों को भी जिनको विश्व बैंक से ऋण प्राप्त नहीं हो सकते हैं, संघ से ऋण प्राप्त हो सकते है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा दिये गये ऋणों पर कोई ब्याज नहीं है। अर्धविकसित देशों की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। विकास संघ के ऋण ब्याज-मुक्त होने के कारण इन ऋणों का उधारकर्ता देशों पर बहुत कम ऋण भार पड़ता है। ऋण देने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ व्यवसाय की उत्पादकता अथवा लाभ प्राप्त करने की शक्ति पर विशेष ध्यान नहीं देता है और इस कारण संघ की ऋण सहायता द्वारा अधिक मात्रा में सभी प्रकार के व्यवसाय लाभ प्राप्त कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से ऋण प्राप्त करने की शर्त केवल यह है कि योजना विशेष को देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त संघ के ऋणों की यह विशेषता भी है कि ऋणी देश ऋण का भुगतान अपनी मुद्रा में कर सकता है। इस सुविधा का विशेष लाभ यह है कि ऋण का भुगतान करने के समय ऋणी को दुर्लभ विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार संघ से ऋण प्राप्त करने के कारण ऋण का भुगतान करने के समय ऋणी देश को अपना भुगतान-शेष प्रतिकूल होने की चिन्ता नहीं रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ व्यक्तिगत उद्योगों को सदस्य देश की सरकार की जमानत के बिना ऋण प्रदान करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का जन्म सितम्बर १९६० ई० में हुआ था। वे सभी देश जो विश्वबैंक के सदस्य हैं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के सदस्य बन सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की चन्दा पूँजी को विकसित तथा अविकसित सदस्य देशों के मध्य विभाजित कर दिया गया है। १,०१६·४६२ मिलियन डालर राशि के चन्दों में से ७५१·३४५ मिलियन डालर १८ विकसित देशों को तथा २६५·१७१ मिलियन डालर ८९ अविकसित देशों को नियत किये गये हैं। ३० जून १९७१ ई० तक संघ के कुल सदस्यों की संख्या १०७ थी तथा कुल चन्दों की पूँजी राशि १,०१६·३६२ मिलयन डालर थी। सदस्यों द्वारा चन्दों का भुगतान पाँच वार्षिक किश्तों में किया जा सकता है। चन्दों के आधार पर सदस्य देशों को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में १८ विकसित देश हैं। दूसरे भाग में कम विकसित देश हैं तथा ऐसे देशों की संख्या ८९ है। दोनों प्रकार के देशों में यह अन्तर है कि पहले भाग (Part I) वाले देशों को अपने चन्दों का भुगतान स्वर्ण अथवा परिवर्तनशील मुद्राओं में देना पड़ता है। दूसरे भाग (Part II) वाले देशों को अपने चन्दों का केवल १० प्रतिशत स्वर्ण अथवा परिवर्तनशील मुद्राओं में तथा शेष ९० प्रतिशत राष्ट्रीय मुद्राओं में देना पड़ता है। अमरीका, इंगलैंड, जर्मनी तथा कनाडा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के चार सबसे बड़े अंशधारी हैं तथा इन चारों सदस्य देशों के चन्दों की राशि क्रमश ३२०·२९ मिलयन डालर; १३१·१४ मिलियन डालर; ५२·९६ मिलियन डालर तथा ३७·८३ मिलियन डालर है। भारत के चन्दे की राशि ४०·३५ मिलियन डालर है जिसका १० प्रतिशत स्वर्ण अथवा परिवर्तन शील मुद्रा में तथा शेष ९० प्रतिशत रुपयों के रूप में दिया गया है। आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों के चन्दों में वृद्धि करके अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की पूँजी को बढ़ाया जा सकता है।

संघ का कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ, जिसका अविकसित देशों के लिये विशेष महत्व है तथा जिसे अविकसित देशों की सच्ची आशा कहा जा सकता है, का कार्य मई १९६१ ई० में उस समय आरम्भ हुआ था जब संघ ने प्रथम विकास ऋण प्रदान किया था। ३० जून, १९७१ ई० को समाप्त हुए वित्तीय वर्ष में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने ५८४·०० मिलियन डालर राशि के ५३ ऋण भिन्न विकास योजनाओं के लिये भिन्न क्षेत्रो में स्थित ३५ सदस्य देशों को प्रदान किये थे। इनमें से ७७·९ मिलियन डालर राशि के ऋण परिवहन विकास योजनाओं के लिये; ११०·७ मिलियन डालर राशि के ऋण विद्युत् शक्ति विकास योजनाओं के लिये; २२८·१ मिलियन डालर राशि के ऋणकृषि विकास योजनाओं के लिये; ३९·७ मिलियन डॉलर राशि के ऋण शिक्षा सुधार योजनाओं के लिये; ९०·८ मिलियन डालर राशि के ऋण दूर संचार विकास के लिये; २५ मिलियन डालर राशि के ऋण सामान्य विकास के लिये; ४·८ मिलियन डालर राशि के ऋण जनसंख्या नियंत्रण के लिये तथा ३ मिलियन डालर राशि के ऋण जलपूर्ति योजनाओं के लिये प्रदान किये गये थे। क्षेत्रानुसार १२१·५ मिलियन डालर राशि के २४ ऋण अफ्रीका को; ४०९·४ मिलियन डालर राशि के २२ ऋण एशिया को; १९·५ मिलियन डालर राशि के दो ऋण यूरोप को; तथा ३३·६ मिलियन डालर राशि के ६ ऋण पश्चिमी गोलार्ध में स्थित देशों को दिये गये थे। मई १९६१ ई० से लेकर ३० जून १९७१ ई० तक १० वर्ष के अल्प समय में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने ३,३४०·४ मिलियन डालर राशि की वित्तीय सहायता २७४ ऋणों के रूप में ५८ अविकसित देशों को सुलभ शर्तों पर प्रदान की थी। विकास संघ के सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुए इतनी अधिक राशि की ऋण सहायता प्रदान करना प्रशंसनीय है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने अनेक विकास योजनाओं के लिये सदस्यों को ऋण प्रदान किये हैं। संघ द्वारा सदस्यों को जो ऋण दिये गये हैं वे ब्याज-मुक्त हैं तथा वे ५० वर्ष की दीर्घावधि के लिये हैं जिनका भुगतान सुलभ किस्तों में उधारकर्ता देशों की मुद्राओं में किया जावेगा। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के ऋणों पर उधारकर्ताओं से केवल $\frac{3}{4}$ प्रतिशत का सेवा-व्यय (service charge) प्राप्त किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के ऋणों का क्षेत्र विश्व बैंक द्वारा प्रदान किये गये ऋणों की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने उधारकर्ता देशों में सड़कों, रेलों, बन्दरगाहों, नगरपालिका पानी योजना, सिंचाई साधनों का विकास, कृषि, शिक्षा विकास इत्यादि बुनियादी सामाजिक सेवाओं (basic social services) के विकास के लिये ऋण प्रदान किये हैं।

३० जून, १९७१ ई० तक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा सदस्य देशों को प्रदान की गई ३,३४०·४ मिलियन डालर राशि की ऋण सहायता का क्षेत्र तथा कार्यानुसार वितरण निम्नांकित तालिका द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की संचयी सहायता की क्षेत्र तथा कार्यानुसार व्याख्या

(राशि मिलियन अमरीकी डालरों मे)

क्षेत्र→ / कार्य ↓	अफ्रीका	एशिया तथा मध्य पूरब	यूरोप	पश्चिमी गोलार्ध	औशनिया	योग
विद्युत् शक्ति	२२·३	१८७·९	२५.७	३७·५	—	२७३·४
परिवहन	३००·७	५३६.०	—	७७·३	४·५	९१८·५
तारपरिवहन	०·८	२२५·८	—	—	—	२२६·६
कृषि, वन तथा मत्स्यग्रहण	१५८·७	५८६·७	५१·४	४६·६	६·५	८५०·२
सामान्य विकास तथा औद्योगिक आयात	—	६८०·०	—	—	—	६८०·०
उद्योग	५·०	६४·३	३४·७	—	—	१०४·०
जलपूर्ति	१८·१	२९·६	—	३·०	—	५१·०
शिक्षा	१५०.०	४६·७	—	१३·०	—	२११·७
परियोजना तैयारी	५.६	१४·६	—	—	—	२०·२
जनसंख्या नियंत्रण	४ ८	—	—	—	—	४·८
योग	६६६ ०	२,३७४·९	१११.८	१७६·७	११·०	३,३४०,४

उपरोक्त सारणी से ज्ञात होता है कि क्षेत्रानुसार अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा सबसे अधिक ऋण सहायता एशिया तथा मध्य-पूरब के देशों को प्राप्त हुई है जो प्रतिशत के रूप में कुल सहायता का ७३ प्रतिशत के लगभग है। कार्यानुसार परिवहन योजनाओं के विकास के लिये सबसे अधिक ऋण सहायता दी गई है।

भारत तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से अनेक आर्थिक विकास योजनाओं के लिए घनी मात्रा में वित्तीय सहायता प्राप्त हुई है। जनवरी १९६१ ई० में विश्वबैंक का एक शिष्टमण्डल भारत आया था। शिष्टमण्डल के नेता श्री जोसफ रूसिनसकी (Joseph Rucinsky) ने इस ओर संकेत किया था कि तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में भारत को विकास संघ से काफी सहायता प्राप्त हो सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने भारत को ६० मिलियन डालर राशि का प्रथम ऋण सड़क निर्माण तथा सुधार योजना के लिये जून १९६१ ई० में प्रदान किया था। कुछ मास पश्चात् सितम्बर १९६१ ई० में ६ मिलियन डालर राशि का दूसरा ऋण उत्तर प्रदेश में नलकूप सिंचाई योजना के विकास के लिये दिया गया था। यह ऋण ब्याज-मुक्त है तथा इसकी भुगतान-अवधि ५० वर्ष है। ऋण का भुगतान, जो नवम्बर १९७१ ई० से आरम्भ हुआ है, ४० वार्षिक सुलभ किश्तों में किया जावेगा। १९७१ ई० में भुगतान का आरम्भ होने के समय से प्रथम दस वार्षिक किश्तो के द्वारा ऋण का १० प्रतिशत तथा अन्तिम तीस वार्षिक किश्तों में शेष ९० प्रतिशत ऋण का भुगतान किया जावेगा। भारत को इस ऋण पर केवल $\frac{3}{4}$ प्रतिशत का सेवा व्यय देना है। इस ऋण से उत्तर प्रदेश मे ८०० नलकूपों को ड्रिल (Drill) किया गया है जिनके द्वारा ३२०,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई हो सकेगी जिससे लगभग १० करोड़ रुपये के मूल्य की कृषि उपज अधिक होगी।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने १० मिलयन डालर राशि का ऋण पंजाब में बाढ़ नियन्त्रण योजनाके लिये दिया है। इस ऋण से पंजाब में लगभग ८ मिलियन एकड़ के क्षेत्र में जलोत्सरण (Drainge) की समस्या समाप्त हो जावेगी तथा इस भूमि पर खेती की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त विकाम संघ ने ८ मिलियन डालर राशि का ऋण उड़ीसा में सालन्दी योजना (Salandi Project) के लिए दिया है। इस ऋण के उपयोग से उड़ीसा में २२५,००० एकड़ भूमि पर मिचाई की व्यवस्था हो सकेगी। इमके अतिरिक्त ४·५ मिलियन डालर राशि का ऋण गुजरात में शतरनजी योजना (Shetrunji Project) के लिए दिया गया है। जून १९६२ ई० में विकास संघ ने १५ मिलियन डालर राशि का ऋण बिहार में सोन नदी सिंचाई प्रणाली में सुधार करने के लिये दिया था। इस योजना से पश्चिमी बिहार में लगभग १ मिलियन एकड़ भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था होगी। यह ऋण ब्याज से मुक्त तथा ५० वर्ष की दीर्घावधि के लिये है। जुलाई १९६२ ई० में विकास संघ ने भारत को दो ऋण प्रदान किये थे। १८ मिलियन डालर राशि का प्रथम ऋण बम्बई बन्दरगाह के विकास तथा सुधार के लिये था। १३ मिलियन डालर राशि का दूसरा ऋण महाराष्ट्र में पुरनी नदी घाटी योजना के लिये था। इस ऋण के द्वारा योजना के पूरा होने पर महाराष्ट्र राज्य में १५२,००० एकड़ सूखी भूमि पर सिंचाई तथा १५,००० किलोवाट विद्युत् शक्ति के उत्पादन की व्यवस्था हो सकेगी। यह ऋण ५० वर्ष के लिये है तथा इस पर कोई ब्याज नहीं है। अगस्त १९६२ ई० में विकास संघ ने महाराष्ट्र राज्य में कोयना योजना के लिये १७·५ मिलियन डालर का ऋण प्रदान किया था। इस ऋण के उपयोग से इस योजना के पूरी हो जाने पर विद्युत् शक्ति का उत्पादन बढ़कर ५८०,००० किलोवाट हो जावेगा। मार्च १९६३ ई० में विकास संघ ने भारतीय रेलों के विकास के लिये ६७·५ मिलियन डालर राशि का ऋण प्रदान किया था। इम ऋण से भारतीय रेलों के विकास के लिये इन्जन इत्यादि तथा विद्युतीकरण कार्यक्रम को पूरा करने के लिये अन्य आवश्यक सामग्री विदेशों से खरीदी गई है।

भारत में विकाप संघ के ऋणों का यह प्रवाह अभी भी जारी है। ६ जुलाई, १९६४ ई० को विकास संघ ने भारतीय डाक तथा तार विभाग को देश में तार परिवहन के विकास के लिये ३३ मिलियन डालर का ऋण प्रदान किया था। इस ऋण के द्वारा देश में टेलीफोन सुविधाओं का, जिनकी पूर्ति माँग की तुलना में बहुत अपर्याप्त है, विस्तार हो मकेगा। इसके पूर्व १९६२ ई० में विकास संघ ने ४२ मिलियन डालर का ऋण तारपरिवहन विकास योजनाओं के लिये दिया था। २६ अक्तूबर, १९६४ ई० को संघ ने भारतीय रेलों के विकाम के लिये ६२ मिलियन डालर राशि का ऋण प्रदान किया था। इस ऋण का उपयोग रेल इंजिनों के पुर्जों, सिगनल सज्जा तथा भारतीय रेलों के विद्युतीकरण के लिये अन्य सज्जा का आयात करने के लिए किया जावेगा। १२ अगस्त, १९६५ ई० को विकास संघ ने भारत को १०० मिलियन डालर राशि का ऋण ५० वर्ष की अवधि के लिए भारत में मोटरों तथा विद्युतविनिर्माण वस्तुओं का विनिर्माण करने वाले उद्योगों को आवश्यक आयात करने के लिये दिया था। इस ऋण के उपयोग द्वारा देश मे इन उद्योगों की उत्पादन क्षमता में काफी मात्रा में वृद्धि हो सकेगी। २९ जून, १९६६ ई० को विकास संघ ने भारत को भारतीय रेलों के विकास के लिये ६८ मिलियन डालर राशि का ऋण प्रदान किया था। इसके अतिरिक्त ३० जून, १९६६ ई० को अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने भारत को २३ मिलियन डालर राशि का ऋण बियास नदी पर जलविद्युत शक्ति के विकास तथा पंजाब तथाराजस्थान में सिंचाई का विस्तार करने के लिये दिया था। १९६६-६७ ई० मे संघ ने भारत को २१५ मिलियन डालर राशि के दो ऋण औद्योगिक आयतों के लिये प्रदान किये थे। जनवरी १९६६ ई० मे संघ ने

भारत को १२५ मिलियन डालर राशि का ऋण कच्ची सामग्री तथा कलपुर्जों को आयात करने के लिए प्रदान किया था। १९७०-७१ ई० में संघ ने भारत को २४३·४ मिलियन डालर राशि के ६ ऋण विकास योजनाओं के लिये प्रदान किये थे। ३० जून, १९७१ ई० तक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से भारत को १,५०७ मिलियन डालर राशि के ३४ विकास ऋण प्राप्त हो चुके हैं। यह ऋण सहायता अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा सब देशों को प्रदान की गई कुल ऋण सहायता का लगभग ५० प्रतिशत है।

आरम्भ से लेकर ३० जून १९७१ ई० तक भारत को संघ से प्राप्त हुई १५०७ मिलियन डालर राशि की संचयी ऋण सहायता का कार्यानुसार वितरण निम्न प्रकार है।

राशि मिलियन अमरीकी डालरों में

कार्य	ऋणों की संख्या	राशि
रेल	४	२२५·५०
बन्दरगाह	१	१४·९९
सड़क	१	५९·४७
विद्युत्शक्ति	४	१४०·५०
कृषि	१४	२५४·३०
सामान्य विकास तथा औद्योगिक आयात	६	६०५·००
दूर संचार	४	१८०·२९
योग	३४	१,५०७.०५

उपरोक्त संक्षिप्त व्याख्या से यह ज्ञात है कि विश्व बैंक के समान अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने भी भारत के आर्थिक विकास कार्य में भारी योगदान देकर भारत के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के सामने असीमित कार्यक्षेत्र है। अविकसित क्षेत्रों में अनेक ऐसी विकास योजनायें हैं जो यद्यपि आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त हैं परन्तु जिनके विकास के लिये विश्व बैंक से वित्तीय सहायता प्राप्त नहीं हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ इन योजनाओं को ऋण सहायता प्रदान करके अविकसित देशों की विकास कार्य में सच्ची सेवा कर रहा है। परन्तु संघ के समक्ष सबसे बड़ी कठिनाई वित्तीय साधनों का अभाव है। संघ के विकसित सदस्यों को अपने चन्दों में वृद्धि करके संघ के वास्तविक कार्य को अधिक सफल बनाना चाहिये।

अध्ययन सूची

1. IDA Annual Reports.
2. The Fund and Bank Review

प्रश्न

1. Discuss briefly the objects of the IDA and the progress of its working. Do you agree with the view that IDA is a boon for underdeveloped countries ? How has India benefited by her membership of the IDA ?

३५

व्यापार तथा प्रशुल्क सामान्य समझौता—गॉट
(General Agreement on Trade and Tariffs)

व्यापार तथा प्रशुल्क सामान्य समझौता संगठन, जो गॉट (GATT) के नाम से प्रसिद्ध है, एक विचित्र वर्णसंकर संस्था है। यह संस्था, जो आवश्यक रूप से संसार के ७६ देशों के बीच वाणिज्य के क्षेत्र में किया गया समझौता है, संसार के भिन्न देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रतिबन्धों को समाप्त करने तथा इस सम्बन्ध में नियम बनाने का प्रथम सफल प्रयास है। भारत इस संस्था का सदस्य है। इस संस्था का उद्देश्य, जो ३० अक्तूबर १९४७ ई० को स्थापित की गई थी, सदस्य देशों के बीच व्यापार के क्षेत्र में प्रतिबन्धों तथा करों को कम अथवा समाप्त करके मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करना है। इस संस्था के नियमों के अनुसार प्रत्येक सदस्य को अन्य सदस्यों के साथ समान प्रकार का व्यवहार करना आवश्यक है। इसका यह अर्थ है कि यदि कोई सदस्य किसी अन्य सदस्य को व्यापार सम्बन्धी कोई रियायत देता है तो गॉट के नियम के अनुसार वह रियायत गॉट के अन्य सभी देशों को भी स्वयं आप से आप प्राप्त होगी। इसी प्रकार एक अन्य नियम के अनुसार सदस्यों को व्यापार के क्षेत्र में परिमाणात्मक प्रतिबन्धों (quantitative restrictions) को लगाने की आज्ञा नहीं है। गॉट संसार के वाणिज्य राष्ट्रों का अधिवेशन स्थान है जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर विचार करने के पश्चात् आवश्यक निर्णय लिये जाते हैं।

गॉट का जन्म

एक प्रकार से गॉट का वर्तमान अस्तित्व मित्र राष्ट्रों द्वारा द्वितीय महायुद्ध में किये गये उन प्रयासों का फल है जिनका उद्देश्य संसार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा भुगतान की उदार प्रणाली को प्रोत्साहन प्रदान करना तथा उन सभी प्रतिबन्धों का अन्त करना था जिनको अपनाने के फलस्वरूप तीसा के काल में मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया था। तीसा की महान मन्दी के फलस्वरूप उत्पन्न विश्वव्यापी वाणिज्य मन्दी ने बहुत से देशों की सरकारों को व्यापार पर प्रतिबन्ध तथा आयात शुल्क लगाने को प्रोत्साहित किया था। बहुत से देशों में विनिमय नियंत्रण लागू किये गये थे। ब्रेटनवुडस अधिवेशन के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास को सम्भव बनाने के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गई थी। कोष का उद्देश्य संसार में बहुदेशीय भुगतान प्रणाली को जीवित रखना तथा उत्तेजित करना था।

नवम्बर १९४५ ई० में अमरीकी सरकार के राज्य विभाग ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा रोजगार का विस्तार करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव प्रकाशित किये थे। इन प्रस्तावों से बहुपक्षीय संगठन को स्थापित करने के सुझावों का आरम्भ हुआ था। इन प्रस्तावों पर विचार करने के हेतु एक सम्मेलन बुलाया गया था। संयुक्त राष्ट्र संगठन की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद ने मार्च १९४६ ई० में प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का अधिकारपत्र (charter) तैयार करने का कार्य भार अपने ऊपर लिया था। परिषद ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का चार्टर तैयार करने के लिये एक प्रावेशिक समिति की नियुक्ति की थी। जब चार्टर तैयार किया जा रहा था, उन सरकारों ने जो प्रावेशिक समिति में थी, प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के स्थापित होने की किये बिना आयात शुल्क तथा अन्य व्यापार प्रतिबन्धों को कम करने के सम्बन्ध में बातचीत करने प्रतीक्षा का समझौता किया था जिसके फलस्वरूप प्रथम प्रशुल्क बातचीत अधिवेशन १९४७ ई० में जिनेवा में हुआ था। वास्तव में प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन कभी भी स्थापित नहीं हो सका क्योंकि अमरीकी सरकार ने अमरीकी संसद को संगठन का चार्टर प्रस्तुत करने से इन्कार कर दिया था। जबकि एक ओर प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना की सम्भावना समाप्त हो गई थी, दूसरी ओर प्रशुल्क बातचीत अधिवेशन मे तय की गई प्रशुल्क छूटों को बहुपक्षीय प्रसंविदा, जो व्यापार तथा प्रशुल्क सामान्य समझौते के नाम से प्रसिद्ध है, में सम्मिलित किया गया था। इस प्रसंविदा पर ८ अक्तूबर १९४७ ई० को जिनेवा में हस्ताक्षर किये गये थे तथा यह पहली जनवरी, १९४८ ई० से लागू किया गया था। इसके परिणामस्वरूप अमरीकी आयात करों में, जो 'तीसा' के काल में बहुत अधिक हो गये थे, काफी कमी हो गई है।

लचीले नियम

सभी प्रकार[1] के देश गॉट के सदस्य हैं। वास्तव में गॉट की सदस्यता बहुत विस्तृत है। विकसित तथा अविकसित देश, कृषिप्रधान तथा औद्योगिक देश, अनुकूल तथा प्रतिकूल भुगतान-शेष वाले देश सभी के गॉट का सदस्य होने के कारण इस संस्था के नियम लचीले तथा सभी सदस्यों के भिन्न हितों के अनुकूल हैं। इस प्रकार गॉट का मूल उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास होने के साथ-साथ अविकसित सदस्य देशों को अपने शिशु उद्योगों का विकास करने के उद्देश्य से संरक्षण की नीति को अपनाने की स्वतन्त्रता प्रदान करना है। इसी प्रकार सदस्य देश अपने भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को समाप्त करने के उद्देश्य से आयातों पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

परन्तु इन कठिनाइयों के होते हुए भी गॉट ने सफलतापूर्वक कार्य किया है। इस संस्था के द्वारा सदस्यों को व्यापार नीति सम्बन्धी विचार स्पष्ट करने का उपयोगी अवसर प्राप्त हो जाता है तथा इसके द्वारा सदस्यों के बीच आपसी झगड़े तय हो जाते है। यद्यपि गॉट का अपना कोई सचिवालय नहीं है तथा न हो व्यय सम्बन्धी इसका कोई निश्चित बजट होता है परन्तु इन सीमाओं के होते हुए भी गॉट का कार्य विशेष रूप से प्रशंसनीय रहा है। सदस्यों का प्रतिवर्ष

---

1. संयुक्त राष्ट्र संगठन के प्रकाशन '*World Economic Survey*, 1962' में ससार के देशों को तीन श्रेणियों—विकसित देश; केन्द्रीय नियोजित देश तथा विकासशील देश—में विभाजित किया गया है। प्रथम श्रेणी मे उत्तरी अमरीका, पश्चिमी यूरोप, आस्ट्रेलिया, जापान, न्यूजीलैंड तथा दक्षिणी अफ्रीका को सम्मिलित किया गया है। केन्द्रीय नियोजित राष्ट्रों में पूरबी यूरोप, चीन, मंगोलिया, उत्तरी कोरिया तथा उत्तरी वीतनाम हैं। शेष संसार विकासशील देशों की तीसरी श्रेणी में आता है।

वार्षिक अधिवेशन होता है। इस अधिवेशन का नीति निर्णय करने की दृष्टि से एक विशेष महत्व है। यद्यपि गॉट का पाठ्य काफी कठिन है परन्तु इसके व्यापक नियम निम्नलिखित चार मूल सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

(१) सदस्यों के मध्य बिना किसी भेदभाव के व्यापार किया जाना चाहिए।

(२) घरेलू उद्योगों को केवल सीमा करों की नीति के द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, अन्य किसी वाणिज्य नीति के द्वारा नहीं।

(३) सदस्यों के मध्य बातचीत करने का उद्देश्य सदस्यों के हितों को हानि होने से बचाना होना चाहिए।

(४) गॉट उस ढाँचे का कार्य करता है जिसके अन्दर रह कर प्रशुल्क तथा अन्य व्यापार प्रतिबन्धों में कमी की जा सकती है।

झगड़ों का निबटारा

यद्यपि गॉट अपने कार्य में सभी क्षेत्रों में सफल सिद्ध हुआ है परन्तु सबसे अधिक सफलता इसको सदस्यों के आपसी झगड़ो का निबटारा करने में प्राप्त हुई है। कोई भी वह सदस्य जिसको किसी अन्य सदस्य के विरुद्ध कोई शिकायत होती है अथवा किसी सदस्य के विरुद्ध गॉट के नियमों का उल्लंघन करने का आरोप लगाया जाता है तो शिकायत करने वाला सदस्य इस सम्बन्ध में गॉट के वार्षिक अधिवेशन में परिवाद करता है। सर्वप्रथम झगड़े वाले पक्षों से झगड़े को आपस में तय करने के लिए प्रार्थना की जाती है। परन्तु ऐसा सम्भव न होने की स्थिति में एक कार्यकारिणी समिति नियुक्ति कर दी जाती है जो समस्या का अध्ययन करने तथा झगडे वाले पक्षों को सुनने के पश्चात् अपना निर्णय देती है जिसका नियमों का उल्लंघन करने वाले देश को पालन करना पड़ता है। यदि उल्लघन करने वाला देश कार्यकारिणी समिति की सिफारिश अथवा निर्णय का पालन नहीं करता है तो पीड़ित (aggrieved) देश उल्लंघन करने वाले देश को प्रदान की हुई सभी रियायतों को वापस ले सकता है। वास्तव में उल्लंघन करने वाले देशो ने समिति की सिफारिशों तथा निर्णयो का पालन किया है। उदाहरणार्थ, चाइल, जो संसार में प्राकृतिक शोरे का प्रधान निर्यातकर्ता देश है, द्वारा गॉट के वार्षिक अधिवेशन में यह शिकायत किए जाने पर कि आस्ट्रेलिया की सरकार द्वारा नकली शोरे (artificial nitre) के उत्पादन को उपदान दिये जाने के फलस्वरूप आस्ट्रेलिया ने चाइल द्वारा दी गई प्रशुल्क सम्बन्धी सभी रियायतों को निरर्थक कर दिया था गॉट के सदस्यों ने आस्ट्रेलिया से अपने उपदान सम्बन्धी नियमों में आवश्यक सुधार करने का सुझाव दिया था और आस्ट्रेलिया ने अपनी उपदान नीति में आवश्यक सुधार करके गॉट के सदस्यों की सिफारिशों को स्वीकार किया था। इस प्रकार की सफलता के अनेक उदाहरण हैं।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि गॉट सभी स्थितियों में अपने प्रयासों में सफल सिद्ध हुआ है। सदस्यों के बीच झगड़े निबटाने में असफलता का सबसे उत्तम उदाहरण अमरीका का है जिसने गॉट के लगातार कहने पर भी दूध तथा मक्खन से बनी हुई वस्तुओं के आयातों पर लगे प्रतिबन्धों को समाप्त नहीं किया यद्यपि आयातों पर इस प्रकार की लगाई गई रोके उन रियायतो के विपरीत थी जो अमरीका ने अन्य देशों को प्रदान कर रखी थीं। अमरीका को समझाने में असफल देखकर गॉट ने नेदरलैंडस को अमरीका से आयात किये जाने वाले गेहूँ के आटे पर आवश्यक मात्रा में रोक लगाने की आज्ञा प्रदान की थी। असफलता के ऐसे कुछ उदाहरणों को छोड़कर, गॉट अपने सदस्यो की अधिकांश समस्याओ का समाधान करने मे सफल सिद्ध हुआ है।

१६५३ ई० में सदस्यों ने झगड़ों को तय करने के उद्देश्य से एक मण्डल की नियुक्ति की थी जो सभी झगड़ों को तय करने के विषय में एक अनौपचारिक न्यायालय का कार्य करता है। यह मण्डल झगड़े वाले पक्षों को ध्यान से सुनता है तथा झगड़े सम्बन्धी अन्तर्हित प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात् झगड़े के विषय में अपना निर्णय देता है।

परिमाणात्मक प्रतिबन्धों में कमी

उन परिमाणात्मक प्रतिबन्धों के विषय में जिन्हें कोई देश अपने सीमित विदेशी विनिमय कोषों को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से लगाता है गॉट को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। बहुधा ऐसा देखने में आया है कि देश की भुगतान-शेष स्थिति में सुधार हो जाने के पश्चात् भी आयातों पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध पहले के समान विद्यमान रहते हैं। इस सम्बन्ध में गॉट की असफलता का मुख्य कारण यह है कि इसके पास शक्ति का कोई भी ऐसा हथियार नहीं है जिसका प्रयोग करके यह सदस्य देश को उसकी भुगतान-शेष स्थिति में सुधार हो जाने पर प्रतिबन्धों को समाप्त करने पर विवश कर सके। गॉट के पास इस समस्या को सुलझाने के लिए केवल समझाने का शक्तिहीन हथियार है जिसका प्रयोग कठिन स्थितियों में व्यर्थ सिद्ध होता है। जो देश परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को लगाने तथा उनको जीवित रखने पर तुला होता है उस पर समझाने तथा सुझाव देने के शक्तिहीन उपायों का अंशमात्र भी प्रभाव नहीं होता है। परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए इस क्षेत्र में भी गॉट को कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हुई है। यह बात भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है कि परिमाणात्मक प्रतिबंधों के प्रयोग का समय समय पर पुनर्निरीक्षण किया जाता है तथा इस प्रकार की क्रियाओं की सदा निन्दा की जाती है। उल्लंघन करने वाले सदस्यों को अपनी क्रियाओं की वांच्छनीयता को एक विस्तृत वाद सभा के सामने सिद्ध करना पड़ता है। इस भय के कारण सदस्य प्रतिबन्ध लगाने के समय विशेष सोच-विचार करने के पश्चात् कार्य करते हैं। परिमाणात्मक प्रतिबन्धों का अन्त करने के सम्बन्ध में गॉट के महत्व पर प्रकाश डालते हुए रेमण्ड वर्नन (Raymond Vernon) ने सुन्दर शब्दों में लिखा है कि "सारांश में परिमाणात्मक प्रतिबन्धों का प्रयोग करने के सम्बन्ध में गॉट ने न तो हार स्वीकार की है और न ही इसको सफलता प्राप्त हुई है। सौभाग्यवश गॉट सामान्य भुगतान-शेष कठिनाइयों के युद्ध-पश्चात् काल में इस मूल सिद्धान्त का कि इस प्रकार के प्रतिबन्धों का केवल उस सामान्य नियम के अपवाद के रूप में प्रयोग किया जा सकता है जो स्थिति अनुकूल होने पर तत्काल लागू किया जाना चाहिये, त्याग किये बिना जीवित रहा है।"[2]

कृषि नियम

गॉट के विधान में कृषि के विकास तथा सुधार के लिये कुछ विशेष छूट प्रदान की गई हैं। इन छूटों के अन्तर्गत सदस्य देश अपनी मूल्य अवलम्ब नीति (Price-Support Policy) को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से कृषि तथा मीन वस्तुओं के आयतों पर रोक लगा सकता है। गॉट द्वारा प्रदान की गई इस छूट द्वारा अमरीका के समान देश अपनी मूल्य अवलम्ब नीति को व्यावहारिक

---

2. "In sum the GATT has neither surrendered the field nor carried the day in negotiating the use of quantitative restrictions Fortuitously, it has succeeded in surviving the post-war period of general balance of payments difficulties without surrendering the principle that such restricitons were to be allowed only as exceptions to a general rule which itself should be applied as circumstances permitted" (Raymond Vernon: "*America' Foreign Trade Policy and the GATT*', *Essays in International Finance, No.* 21, Princeton University, October 1954.)

रूप प्रदान कर सकते हैं। परन्तु अमरीका ने इस छूट का दुरुपयोग किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि अमरीका के कृषि विधान में अधिक परिवर्तन होने के कारण कृषि का वह क्षेत्र जिस पर आयात प्रतिबन्ध लागू होते हैं काफी विस्तृत हो गया है। इस प्रकार छूट को जीवित रखने के लिए अमरीका की कृषि नीति में गॉट के मूल सिद्धान्तों के अनुसार परिवर्तन करने आवश्यक हैं।

प्रशुल्क समझौते

इस क्षेत्र में गॉट को अपने पिछले प्रशुल्क समझौते अधिवेशनों (Tariff Negotiating Sessions) में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। प्रत्येक अधिवेशन में गॉट ने सफलतापूर्वक सदस्यों को द्विपक्षीय बातचीत करने का अवसर प्रदान किया है। यद्यपि प्रशुल्क सम्बन्धी समझौतों में गॉट के अधिवेशनों के कार्य की सही प्रकार से माप नहीं की जा सकती है परन्तु यह होते हुए भी संसार का दो-तिहाई ($\frac{2}{3}$) से अधिक व्यापार लगभग ६,००० प्रशुल्क छूटों के द्वारा प्रशुल्क छूटों का विषय रहा है। गॉट द्वारा प्रोत्साहित प्रशुल्क रियायतों के कारण १९४७ ई० के पश्चात् अमरीका में प्रशुल्क दरों में काफी कमी हो गई है। गॉट द्वारा आयोजित प्रशुल्क छूट अधिवेशनों के सन्तोषजनक कार्य के कारण प्रशुल्क दरों में कमी होने के अतिरिक्त सदस्यों को प्रशुल्क दरों के स्थिर हो जाने से भी लाभ प्राप्त हुआ है। इस प्रकार यह कहना उचित है कि गॉट अपने प्रयासों द्वारा सदस्यों के बीच होने वाले विदेशी व्यापार के क्षेत्र में प्रशुल्क दरों में कमी करने तथा इन दरों को नीचे स्तर पर स्थिर रखने में सफल सिद्ध हुआ है तथा इस कार्य के द्वारा गॉट ने संसार में मुक्त व्यापार के हितों को सुरक्षित रखने में भारी सहयोग प्रदान किया है।

गॉट द्वारा आयोजित प्रथम प्रशुल्क समझौता अधिवेशन १९४७ ई० में जिनेवा में हुआ था। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध कनेडी वार्ता (Kennedy Round) का श्रीगणेश मई १९६४ ई० में हुआ था। सदस्यों के मन्त्रियों की मई १९६३ ई० में हुई बैठक में यह निर्णय लिया गया था कि १९६४ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में आयात निर्यात शुल्क सम्बन्धी व्यापक बातचीत होनी चाहिए तथा इस बातचीत में यथासम्भव अधिक सदस्यों को भाग लेना चाहिए। बातचीत में कृषि तथा प्राथमिक वस्तुओं सहित सभी वस्तुओं सम्बन्धी शुल्क तथा अशुल्क रुकावटों पर विचार किया जाना चाहिए। बातचीत का उद्देश्य कृषि पदार्थों के आयातों पर से प्रतिबन्धों को समाप्त करना तथा विकासशील देशों के निर्यातों पर से प्रतिबन्धों को समाप्त करना होना चाहिए। प्रशुल्क बातचीत तथा समझौते का उद्देश्य सभी प्रशुल्कों में ५० प्रतिशत की सामान्य कमी होना चाहिए।

जुलाई १९६७ ई० में छटे व्यापार तथा प्रशुल्क समझौते अधिवेशन—कनेडी वार्ता—में भाग लेने वाले सदस्यों ने विश्व व्यापार पर लगी प्रशुल्क रोकों में कमी करने सम्बन्धी व्यापक समझौते पर हस्ताक्षर किये थे। इस समझौते के अनुसार लगभग ४० बिलियन डालर मूल्य राशि के विश्व व्यापार पर आयात शुल्कों में ३५ प्रतिशत की कमी हो जावेगी। समझौते के अनुसार कुछ कृषि पदार्थों पर भी आयात करों में कमी होने पर सहमति व्यक्त की गई है।

गॉट की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार १९६८ ई० के प्रथम ६ मास में विश्व व्यापार में वृद्धि हुई थी। इस अवधि में विश्व के निर्यातों में ७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि १९६७ ई० के प्रथम ६ मास में केवल ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। विकासशील देशों के निर्यात व्यापार में विशेष रूप से वृद्धि हुई थी। इसका प्रमुख कारण अमरीका तथा जापान में आयातों में हुई अत्यधिक वृद्धि थी। इस अवधि में अमरीका के आयातों में २१ प्रतिशत तथा जापान के आयातों में १२ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। गॉट द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार १९६७-६८ ई० में, विशेष रूप

से मार्च १९६८ ई० से लेकर जून १९६८ ई० तक, विकासशील देशों के निर्यातों में सन्तोषजनक वृद्धि हुई थी। गॉट के सचिवालय के अनुमानों के अनुसार इन देशों के निर्यातों में १९६८ ई० के प्रथम ६ मास मे लगभग ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि १९६७ ई० की सी अवधि में यह वृद्धि २ प्रतिशत से भी कम थी। इसके दूसरी ओर विकासशील देशों के आयतों में केवल ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। यह प्रवृत्ति विकासशील देशों के लिये हितकर सिद्ध होगी तथा विकासशील देशों का आर्थिक विकास तीव्र गति से हो सकेगा।

गॉट तथा अर्धविकसित देश

गत वर्षो में गॉट की क्रियायें गॉट समझौते के पाठ्य से अधिक बढ़ गई हैं। इन वर्षो में गॉट के सदस्यों ने अपना अधिकांश समय व्यापार तथा आर्थिक विकास के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन करने मे व्यतीत किया है। हैबरलर रिपोर्ट के प्रकाशन के पश्चात् तीसरी समिति की स्थापना की गई थी यद्यपि समझौते के पाठ्य में इसके लिए व्यवस्था नहीं थी।

करॉची में १९६६ ई० के आरम्भ में गॉट के कार्यकारी मन्त्री ने अपने भाषण में समझौते के पाठ्य में व्यापार तथा विकास के विषय की चर्चा न होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुये बताया था कि "सामान्य समझौता जनेवा तथा हवाना बातचीत की गौण उत्पत्ति था। प्रशुल्क छूटों के महत्व को सुरक्षित रखने के हेतु वाणिज्य संहिता, जो हवाना चार्टर का केन्द्रीय अंग थी, को सामान्य समझौते में सम्मिलित किया गया। निःसन्देह यह आशा की जाती थी कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के स्थापित होने पर गॉट का अस्तित्व समाप्त हो ज वेगा। उस समय वाणिज्य नीति संहिता व्यापक समझौते, जिसमें रोजगार तथा आर्थिक क्रिया, आर्थिक विकास, अन्तर्राज्य वस्तु समझौते तथा प्रतिबन्धी व्यापार रीतियों पर भी अध्याय सम्मिलित हुए होते, का केवल एक अंग बनी होती। हवाना योजना के फेल हो जाने पर तथा गॉट के प्रधान अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में उपस्थित हो जाने पर निःसन्देह अर्धविकसित देशों की दृष्टि से गॉट के समझौते की धाराओं में सन्तुलन का भारी अभाव था।" गत १५ वर्षो मे गॉट ने अर्धविकसित देशों की विशेष व्यापार समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया है। इस सम्बन्ध में प्रथम, अर्धविकसित देशों के लिये समझौते के उत्तरदायित्वों को पूरा करने में अधिक लचीले दृष्टिकोण को अपनाया गया है तथा दूसरे, गॉट ने व्यापार विकास कार्यक्रम की भी विशेष व्यवस्था की है।

अर्धविकसित सदस्य देश आवश्यकतानुसार अपने भुगतान-शेषों की स्थिति को सुधारने अथवा इसको सन्तुलन में रखने के हेतु परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को लगा सकते है। इसके अतिरिक्त अर्धविकसित देश अपने निर्यातों में वृद्धि करने के हेतु उपदानो का भी प्रयोग कर सकते है। परन्तु उनके ऐसा करने का उद्देश्य अपने विदेशी व्यापार द्वारा अनुचित लाभ प्राप्त करना नहीं होना चाहिए।

मई १९६३ ई० में हुई बैठक में मंत्रियों ने समझौते में, गॉट के बढ़ते हुए कार्य तथा जिम्मेदारी को ध्यान में रखते हुए, विस्तार करने का सुझाव दिया था। इस कार्य के लिए एक समिति की नियुक्ति की गई थी। फरवरी तथा मार्च १९६४ ई० में हुई दूसरी तथा तीसरी बैठकों में व्यापार तथा विकास के विषय पर गॉट के सदस्यों द्वारा अनुमोदन के लिए एक अध्याय तैयार किया गया था। ८ तथा ९ फरवरी, १९६५ ई० को जनेवा में गॉट का एक विशेष अधिवेशन व्यापार तथा विकास सम्बन्धी नये अध्याय को स्वीकृति प्रदान करने के लिए हुआ था। भारत के प्रतिनिधि श्री मनुभाईशाह, जिन्होंने इस विशेष अधिवेशन मे भारत का प्रतिनिधित्व किया था, ने इस नये

अध्याय को क्रान्तकारी बताया था । इस नये अध्याय का उद्देश्य अविकसित देशों के निर्यात व्यापार का विस्तार करना है । स नये अध्याय के परिणामस्वरूप गॉट की प्रकृति मे, जो अब तक विकसित राष्ट्रों के क्लब के नाम से पुकारा जाता था, भारी परिवर्तन हो गया है ।

गॉट का भविष्य

यद्यपि गॉट के वर्तमान सफल कार्य को देखने से यह स्पष्ट होता है कि इसका भविष्य उज्जवल है परन्तु इस सम्बन्ध में अधिक आशावादी हुए बिना यह कहा जा सकता है कि इस संस्था का भविष्य मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर है कि गॉट किस अंश तक सदस्यों की विरोधी नीतियों का समाधान कराने तथा उनको अपने मूल उद्देश्यों के अनुकुल बनाने में सफल सिद्ध हो सकेगा । गॉट के अधिवेश· में जो १९४५ ई० मे जाडे की ऋतु में हुआ था गॉट के संगठन में सुधार करने के उद्देश्य से एक व्यापार सहयोग संगठन (Organisation for Trade Co-operation) को स्थापित करने का प्रस्ताव रखा गया था । इस नई संस्था की स्थापना इस सत्य का प्रमाण है कि गॉट के सदस्य गॉट को स्थायी रूप प्रदान करने के इच्छुक थे । व्यापार सहयोग संगठन को स्थापित करने का अर्थ यह है कि पुरानी अनौपचारिक तथा अस्थायी संस्था के स्थान पर एक नई स्थायी संस्था का स्थायी कर्मचारी तथा कार्यकारी समिति सहित निर्माण किया गया है। इस संगठन को कोई भी वे शक्तियाँ प्राप्त नही हैं जो इसके पूर्वाधिकारी गॉट को प्राप्त नही है । यह केवल उन्ही शक्तियो का प्रयोग करता है जो गॉट को प्राप्त है । इस संगठन की स्थापना होने से गॉट की कार्यक्षमता तथा महत्व मे वृद्धि हो गई है । यह संगठन गॉट के सदस्यों के बीच प्रशुल्क छूट सम्बन्धी बातचीत तथा उनके बीच होने वाले झगड़ों का निवारण करता है ।

गॉट की आवश्यकता उस समय तक रहेगी जब तक सदस्यों की मौद्रिक तथा व्यापार नीतियाँ मुक्त व्यापार के लक्ष्य से भिन्न रहेगी । परन्तु गॉट के सदस्यो की आवश्यकताओं तथा सदस्य देशो की अर्थव्यवस्थाओं के ढाँचे मे बड़ी तेजी के साथ परिवर्तन हो रहे हैं । संसार के अविकसित देश विकसित बनने का अत्यधिक प्रयास कर रहे है । अविकसित देशों के आर्थिक विकास की स्थिति में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप आयातो और निर्यातों के ढाँचे तथा आकार में भी परिवर्तन होंगे तथा इन परिवर्तनों के फलस्वरूप सदस्यों के भुगतान-शेषों की स्थिति में भी नि:सन्देह परिवर्तन होंगे । गॉट को इन सभी बातों को ध्यान में रखना पड़ेगा । भारत सरकार के भूतपूर्व वाणिज्य मन्त्री श्री नित्यानन्द कानूनगो ने गॉट के पन्द्रहवें अधिवेशन में अपने विचारो को स्पष्ट करते हुए कहा था कि वर्तमान समय मे अविकसित देशो के निर्यातों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है । यह सत्य भी है कि अर्धविकसित देशो के निर्यातों को विकसित देशो में स्थान प्राप्त होना चाहिए क्योकि जब तक ऐसा नही होगा तब तक गॉट मे अविकसित देशों को कोई स्थान प्राप्त नही हो सकता है । इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य में जिन समस्याओ का गॉट को समाधान करना होगा वे सरल नही है क्योकि गॉट के समान संस्था को, जिसके सदस्य विकसित तथा अविकसित, औद्योगिक दृष्टि से विकसित तथा कृषि प्रधान देश है तथा जिनके आर्थिक हित बहुधा परस्पर विरोधी है, अपनी नीतियों द्वारा भिन्न सदस्यों के भिन्न हितों के मध्य समन्वय स्थापित करना कठिन कार्य है । परन्तु गत २५ वर्षो के कार्य को देखते हुए कहा जा सकता है कि गॉट सदस्यों की आवश्यकताओं तथा उनके हितों के प्रति जागरूक है तथा कुशल अधिकारियों द्वारा अपनी नीतियो को कार्यान्वित करके सुन्तुलित विश्व व्यापार तथा आर्थिक विकास के कार्य में योगदान दे सकेगा ।

अध्ययन सूची

1.	Raymond Vernon	: America's Foreign Trade Policy and the GATT (1954)
2.	United Nations Organisation	: Conference on Trade and Employment (1948).
3.	GATT	: Trends in International Trade (The Haberler Report).
4.	GATT	: International Trade.
5.	GATT	: The Role of GATT in Relation to Trade and Development.
6.	Black J.D.	: Arguments for Tariffs (1959).
7.	J. Coppock	: International, Economic Instability ; The Experience After World War II (1962).

प्रश्न

1. Trace the genesis of the GATT. To what extent is it possible to regard the GATT as a substitute for the ITO ?
2. How are principles of the GATT affected by the development of economic planning in the underdeveloped countries ?

३६

यूरोपीय आर्थिक समुदाय
(European Economic Community)

यूरोपीय आर्थिक समुदाय, जिसका दूसरा नाम यूरोपीय सामान्य बाजार[1] (European Common Market) है, एक क्षेत्रीय योजना है जिस का उद्देश्य यूरोप के छ: देशों का आर्थिक एकीकरण करना है। यह समुदाय रोम की सन्धि, जिस पर मार्च १९५७ ई० में हस्ताक्षर किये गये थे, का परिणाम है। बेल्जियम तथा हॉलैंड के समान छोटे राष्ट्र तथा फ्रांस व पश्चिमी जर्मनी के समान बड़े देश योरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्य हैं। यूरोप के देशों की भूगोलिक स्थिति अमरीका, रूस, चीन तथा भारत के समान विशाल देशों से भिन्न है। अधिकांश यूरोपीय देशों का क्षेत्रफल इतना अधिक कम है कि इन देशों की घरेलू माँग के आधार पर वर्तमान बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली की किफायतों को प्राप्त करना कठिन है। इन देशों के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या के आधार पर इन देशों में अर्थक्षमता (economic viability) का भारी अभाव है। इन देशों का आन्तरिक बाजार इतना अधिक छोटा है कि इन देशों में इस्टतम बड़े पैमाने के उद्योग को सुचारु रूप से चलाना कठिन है। इस कारण योजना के निर्माताओं के दिमाग में यह विचार आया कि पश्चिमी यूरोप के छ: देशों का आर्थिक एकीकरण करके

---

[1] Following the example of European Common Market there have been formed regional groupings like the Latin America Free Trade Association (LAFTA) comprising of Bolivia, Argentina, Brazil, Chile, Columbia, Ecuador, Mexico, Paraguay, Peru, Uruguay and Venezuela ; the Centrgl American Common Market (CACM) whose members are El Salvador, Guatemala, Honduras, Nicaragua and Costa Rica ; the Eastern Caribean Common Market (ECCM) with five West Indian islands of Dominica, Grenadai Montserrat, St. Lucia and St. Vincent as members ; the Central African Economic and Customs Union (UDECA) consisting of Cameroon, Central Africau Republic,. Chad, Congo (Brazzavilde), and Gabon; The East African Economic Community and Common Market (AECCM) with Kerya, Tanzania ; Uganda ; Zambia, Ethiopia Malawi, Mauritius and Burundi as members, and the Arab Common Market comprising of Iraq, Jordon, Syrian Arab Republic and United Arab Republic. In fact, there are many more. How far these regional arrangements reflect threat to the balanced development of free world trade is a subject we need not go into presently.

समुदाय के बाजार के क्षेत्र का विस्तार होने से बड़े पैमाने के उद्योगों को सुचारु रूप से चला कर बड़े पैमाने की किफायतों के लाभ को प्राप्त किया जा सकता था तथा इससे सारे क्षेत्र में रहने वाले निवासियों के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो सकती थी। पश्चिमी यूरोप का आर्थिक एकीकरण करने की दिशा में प्रथम ठोस कार्य शुमेन योजना थी जिसके अन्तर्गत यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय (European Coal and Steel Community) की स्थापना की गई थी। इस योजना, जिसके सदस्य जर्मनी, फ्रांस, बैल्जियम, इटली, नेदरलैंड्स तथा लगजम्बर्ग हैं, का उद्देश्य इन देशों के कोयला तथा इस्पात साधनों का एकीकरण करके इन देशों के कोयला तथा इस्पात उद्योगों का सुधार करके बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली की किफायतों को प्राप्त करना था। इसी प्रकार की एक योजना यूरोपीय सामान्य बाजार के रूप में बनाई गई तथा प्रथम योजना के समान इस योजना के भी पश्चिमी यूरोप के वही छः देश सदस्य हैं।[2] यह योजना, जो मार्च १९५७ ई० में बनाई गई थी, प्रथम जनवरी १९५८ ई० से कार्यशील हुई थी।

उद्देश्य

यद्यपि योरोपीय आर्थिक समुदाय का अन्तिम लक्ष्य यूरोप के देशों का राज-संघ बनाना है परन्तु योजना का तत्कालीन लक्ष्य आर्थिक है। आर्थिक लक्ष्य के रूप में समुदाय बनाने का एक-मात्र लक्ष्य उत्पादन के क्षेत्र में बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली के द्वारा उत्पादन करके विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के लाभों को प्राप्त करना है। यह योजना इस आशा का परिणाम है कि छः देशों के व्यापक क्षेत्रफल में फैले बड़े बाजार में जहाँ २०० मिलियन से अधिक लोग रहते हैं बड़े पैमाने के उद्योगों को अधिक कुशल ढंग से चलाया जा सकता है तथा सम्पूर्ण क्षेत्र को आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया जा सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति हो जाने पर योरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्य देश आर्थिक दृष्टि से एक शक्तिशाली इकाई बन जावेंगे तथा सम्पूर्ण क्षेत्र में आर्थिक स्थिरता स्थापित हो जावेगी। इसके अतिरिक्त योजना की सफलता का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि सदस्य देशों में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर स्थाई रूप से ऊँचा हो जावेगा तथा सदस्यों के बीच अच्छे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे।

सीमाकर संघ की स्थापना

सदस्य देशों के बीच एक सीमाकर संघ (Customs Union) की स्थापना करना यूरोपीय सामान्य बाजार योजना का प्रमुख लक्ष्य है। सीमाकर संघ को स्थापित करने का एकमात्र उद्देश्य सदस्यों के बीच सीमा करों को समाप्त करना तथा अन्य सभी देशों के साथ समान सीमा कर दरों को स्थापित करना है। १ जनवरी, १९६० ई० से समुदाय के सदस्यों ने बाहर के अन्य देशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं के विरुद्ध एक सामान्य सीमाकर दीवार का निर्माण किया था। सदस्यों पर आश्रित समुद्रपार प्रदेश (Dependent Overseas Territories) भी योजना में सम्मिलित हैं। इसका अर्थ यह है कि समुदाय के सदस्य देशों में इन प्रदेशों से किये जाने वाले आयातों को भी वही स्थान प्राप्त है जो राजधानी देशों (Metropolitan Countries) के आयातों को प्राप्त है। इसी प्रकार समुद्र पार आश्रित प्रदेशों में भी यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्य देशों से किये जाने वाले आयात तथा राजधानी वाले देशों से किये जाने वाले आयात

---

२. इन ६ योरोपीय सदस्यों के अतिरिक्त १८ अफ्रीकी राज्य यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सहयुक्त सदस्य (associate members) हैं।

समान सीमाकर दरों के अधीन हैं। समुदाय के सदस्यों के मध्य व्यापार के क्षेत्र में वर्तमान सीमा करों को ४ वर्षीय तीन किश्तों में समाप्त किया गया है। प्रथम तथा द्वितीय ४ वर्षीय किश्तों में सीमा करों में ६० प्रतिशत की कमी तथा अन्तिम चार वर्षों में शेष ४० प्रतिशत की कमी की जावेगी। योजना के अनुसार १९७२ ई० तक सदस्यों के मध्य सीमा कर पूर्णतया समाप्त हो जावेंगे।

योजना की अन्य विशेषतायें

यूरोपीय आर्थिक समुदाय योजना, जो यूरोप के छ: देशों के बीच आर्थिक संयुक्तिकरुण का उत्तम उदाहरण है, कई कारणों से महत्वपूर्ण है। सदस्यों के बीच सीमाकर संघ का कार्य करने के अतिरिक्त, सदस्यों के बीच श्रम तथा पूँजी को पूर्ण गतिशीलता प्रदान करना भी योजना का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिये पूँजी तथा श्रम की गतिशीलता सम्बन्धी रुकावटें सदस्यों के बीच आपसी बातचीत तथा सहयोग के द्वारा समाप्त हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त योजना के अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य निर्धारण तथा सदस्यों के बीच प्रतियोगिता सम्बन्धी नियम भी बनाए गये हैं। योजना के कार्यकर्ता इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि आर्थिक समुदाय क्षेत्र में स्थित उद्योगों के बीच कंठछेदी प्रतियोगिता न होने पावे तथा कोई उद्योग सारे बाजार पर अपना प्रभाव स्थापित करके दूसरे उद्योगों को हानिकारक सिद्ध न होने पावे। भाड़े की दरों में प्रभेद की घातक समस्या को समाप्त करने के उद्देश्य से एकसमान परिवहन नीति बना दी गई है जो सभी सदस्यों पर लागू होती है।

योरोपीय समुदाय के प्रत्येक सदस्य देश में अवश्य कुछ ऐसे भी अभिरक्षित उद्योग हैं जिनको योजना के अन्तर्गत सदस्य देशों से आन्तरिक प्रशुल्क समाप्त हो जाने के कारण भारी हानि का अनुभव हुआ है। ऐसे उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की सहायता करने के उद्देश्य से एक विशेष सहायता कोष जिसको यूरोपीय सामाजिक कोष (European Social Fund) कहते हैं स्थापित किया गया है। इस कोष की सहायता से श्रमिकों को दूसरे स्थानों तथा उद्योगों में कार्य करने के योग्य बनाने के हेतु पुन: प्रशिक्षण सुविधायें प्रदान की जाती हैं।

सदस्य देशों के अर्धविकसित क्षेत्रों मे उद्योगपतियों को अपने उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति को सुधारने में सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से एक विशेष कोष, जिसको यूरोपीय विकास कोष (European Development Fund) कहते हैं, स्थापित किया गया है। यह कोष यूरोपीय महत्व वाले उन उद्योगों को भी सहायता प्रदान करता है जिनको चलाने के लिये अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होने के कारण व्यक्तिगत सदस्य देश सहायता देने के अयोग्य होता है। कोष उन उद्योगों की भी सहायता करता है जिनको पुन: परिवर्तन के लिए वित्त की आवश्यकता पड़ती है। कोष की पूँजी एक बिलियन डालर है जिसमें आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार से ऋण प्राप्त करके वृद्धि की जा सकती है। इन दो कोषों के अतिरिक्त योजना में समुद्रपार स्थित प्रदेशों में निवेश करने के उद्देश्य से एक विशेष कोष को स्थापित करने का भी प्रबन्ध है।[3] इस कोष की पूँजी लगभग ६०० मिलियन डालर है जिसमें फ्रांस तथा पश्चिमी जर्मनी प्रत्येक के चन्दे की मात्रा २०० मिलियन डालर है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से

---

3. The capital of the fund is $581,250,000. Belgium and Netherlands have each contributed $ 70 million, Italy $ 40 million, and Luxembourg $ $1\frac{1}{4}$ million. Belgiums' territories are to benefit from investment to the extent of $ 26 million, those of Netherlands to the tune of $ 35 million, and of Italy to the extent of $ 5 million.

उल्लेखनीय है कि इस कोष की स्थापना से फ्रांस को सबसे अधिक लाभ प्राप्त हुआ है क्योंकि केवल २०० मिलियन डालर चन्दा देने से फ्रांस के समुद्रपार स्थित प्रदेशों को ५११ मिलियन डालर राशि की सबसे अधिक सहायता प्राप्त हुई है।

भुगतान समस्या

योजना के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य देश आर्थिक नीतियों का इस प्रकार पालन करता है कि उसका अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-शेष सन्तुलन में रहे तथा देश में मूल्य स्थिरता व रोजगार का स्तर ऊँचा बना रहे। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सारे सदस्य देश अपनी नीतियों के बीच समपदीकरण करते हैं। नीतियों के बीच ठीक प्रकार से समपदीकरण करने के लिये एक मौद्रिक परामर्श समिति की नियुक्ति कर दी गई है। इस समिति का कार्य समुदाय के सदस्यों के भुगतान-शेषों की देखरेख करना तथा समुदाय के दो प्रमुख प्रशासकीय अंगों—परिषद् (Council) तथा यूरोपीय आयोग (European Commission)—को सलाह देना है। जब यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्यों के भुगतान-शेषों में प्रतिकूलता की समस्या विद्यमान होती है तो आयोग इस प्रतिकूलता के विद्यमान होने के कारणों का अध्ययन करता है तथा इस सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव देता है जिनका सदस्यों को पालन करना पड़ता है।

संगठन

यूरोपीय आर्थिक समुदाय आर्थिक मामलों में एक प्रकार की सरकार के रूप में कार्य करता है तथा किसी भी देश की सरकार के समान कार्य करने, नियम बनाने तथा झगड़ों को तय करने के लिए इसके विभिन्न अंग हैं। यूरोपीय आर्थिक आयोग समुदाय का प्रमुख प्रशासकीय अंग है। प्रत्येक सदस्य देश का एक प्रतिनिधि इस आयोग का सदस्य होता है। छः देशों के प्रतिनिधियों की परिषद् समुदाय के कार्यकारी अभिकर्ता का कार्य करती है तथा सदस्यों के सम्बन्ध में आचरण नियमों व विधान इत्यादि को बनाती है। परिषद् सदस्यों को समुदाय की मूल नीति का पालन करने के लिये भी प्रेरित करती है। परिषद् को अपने कार्य में सहायता देने के लिए यूरोपीय आयोग है जिसमें नौ सदस्य हैं। आयोग का मुख्य कार्य समुदाय की विशेष समस्याओं का अध्ययन करना, सदस्यों से संधि के नियमों का पालन कराना तथा परिषद् को सलाह देना है। इसके अतिरिक्त सलाह देने के लिए एक यूरोपीय आर्थिक तथा सामाजिक समिति भी है जिसमें जीवन के सभी क्षेत्रों (उद्योग, श्रम, व्यापार, कृषि इत्यादि) से सम्बद्ध सदस्य हैं। समुदाय के वैधानिक क्षेत्र में एक विधान सभा है जिसमें १४२ सदस्य हैं। विधान सभा में इन १४२ सदस्यों का वितरण इस प्रकार है : इटली, फ्रांस तथा पश्चिमी जर्मनी प्रत्येक देश के ३६ सदस्य; बेलजियम तथा नेदरलैंडस प्रत्येक देश के १४ सदस्य तथा लगजेम्बर्ग के ६ सदस्य। इस प्रकार कुल सदस्यों की संख्या १४२ है। विधान सभा परिषद् द्वारा की गई सिफारिशों पर अन्तिम निर्णय करती है। समुदाय का एक उच्च न्यायालय भी है जिसका कार्य सदस्यों की शिकायतों को तय करना है।

प्रथम जनवरी, १९६३ ई० को समुदाय के सदस्यों के मध्य औद्योगिक वस्तुओं पर से सभी परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया गया था। प्रथम जुलाई, १९६३ ई० को क्षेत्रीय व्यापार के क्षेत्र में औद्योगिक वस्तुओं पर सीमा करो में ४० प्रतिशत की कमी कर दी गई थी। जनवरी १, १९६५ ई० को इन सीमा करों में १० प्रतिशत की और कमी कर दी गई थी। जनवरी १९६६ ई० को इन करों की दरों में १० प्रतिशत की अतिरिक्त कमी करदी गई थी। सीमा करों को समाप्त करने के सम्बन्ध में सदस्यों का यह सुझाव कि प्रथम जनवरी १९७० ई० के स्थान पर सीमाकरों को ४ वर्ष पूर्व प्रथम जनवरी १९६७ ई० को समाप्त कर दिया जाना

चाहिये स्वीकार कर लिया गया था। १९६७ ई० में यूरोपीय आर्थिक समुदाय ने रोस की संधि के उद्देश्यों को प्राप्त करने की दिशा में आगे प्रगति की थी। संस्थानिक प्रबन्ध के रूप में यह प्रगति यूरोपीय समुदाय के लिये एक आयोग की स्थापना में व्यक्त हुई थी। ९ फरवरी, १९६७ ई० को योरोपीय आर्थिक समुदाय के मन्त्री परिषद् ने समुदाय के सदस्यों के मध्य बिक्री कर प्रणाली को अनुरूपता प्रदान करने के हेतु आदेशों को लागू किया थी। प्रथम जनवरी १९७० ई० से वर्तमान संचयी कर प्रणाली के स्थान पर विनिर्माण तथा वितरण की प्रत्येक अवस्था पर एक कर लागू कर दिया गया है। प्रथम जुलाई १९६७ ई० से यूरोपीय आर्थिक समुदाय के आयातों पर औद्योगिक तथा कुछ कृषि वस्तुओं पर आयात कर में क्रमः ५ प्रतिशत तथा १० प्रतिशत की कमी कर दी गई थी। प्रथम जुलाई, १९६८ ई० से योरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्यो ने अन्य सदस्य देशों से आयात होने वाली औद्योगिक वस्तुओ पर से शेष १५ प्रतिशत तथा कृषि वस्तुओं के आयातों पर से शेष २५ प्रतिशत आयात कर को समाप्त कर दिया है। इस प्रकार अब अन्तर्क्षेत्रीय आयात आयात करों से मुक्त हो गये हैं। प्रथम जुलाई, १९६८ ई० से सदस्यों द्वारा समुदाय के बाहर से होने वाले वस्तु आयातों पर समान आयात कर लगाया जाता है। इसी तिथि से खाद्यान्न का मूल्य भी सभी देशों मे समान हो गया है तथा खाद्यान्न, अंडों, मुर्गियों व बत्तखो तथा मांस आदि वस्तुओं का एक सामान्य मूल्य निर्धारित करके सदस्यों के क्षेत्र मे एक बाजार स्थापित कर दिया गया है। योरोपीय आर्थिक समुदाय ने कनेडी वार्ता के अन्तर्गत उष्णकटिबन्ध कृषि पदार्थों तथा कच्चे पदार्थों, जो विकासशील देशों के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है, के आयातों पर भी आयात करों मे कमी की थी।

सारांश

यूरोपीय आर्थिक समुदाय ने प्रशंसनीय प्रगति की है। समुदाय के सदस्यो के मध्य श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता में वृद्धि हो जाने से सदस्य देशों मे उत्पादन के दो महान सक्रिय साधनों का कुशल वितरण संभव हो गया है। पूँजी गतिशील होने के कारण सदस्य देशों में उत्पादन के इन दो महान साधनों का वितरण समान हो गया है। इसके फलस्वरूप उत्पादन साधनों का मितव्ययी संयोजन सम्भव हो सका है और फलस्वरूप समुदाय मे विनिर्मित वस्तुओ की उत्पादन लागत कम हो गई है। अधिक पूँजी प्राप्त होने के कारण इटली के उद्योग वर्तमान उत्पादन प्रविधियों के प्रयोग का लाभ प्राप्त कर रहे है। इसके अतिरिक्त उद्योगो का स्थानीयकरण हो जाने के कारण अनेक प्रकार की बाहरी किफायते भी प्राप्त हो सकी है तथा उद्योगो के आकार मे वृद्धि होने से बहुत प्रकार की भातरी किफायते प्राप्त हो सकी हैं। इसके अतिरिक्त समुदाय के सभी सदस्य देशों में वस्तुओ के मूल्यों तथा उत्पादन लागतो में समानता की प्रवृत्ति स्थापित हो गई है। परन्तु इन सब लाभो के प्राप्त होने की सम्भावना होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की योजनाये सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता तथा मुक्त व्यापार के हितो के लिए घातक होती है क्योंकि इनके कारण संसार भिन्न गुटों मे विभाजित हो जाता है जो कुछ समय पश्चात् एक दूसरे के शत्रु हो जाते है।

अध्ययन सूची

1. Jacob Viner : The Customs Union Issue (1950), Chapter V.
2. J. E. Meade : Problems of Economic Union.
3. J. E. Meade : The Theory of Customs Union.

4. Derek Curtis Bok : The First Three Years of Schuman Plan.
5. European Economic Community : Annual Reports.
6. William Diebold : The Schuman Plan.

प्रश्न

1. Discuss the economic justification of the European Common Market. Is such an arrangement conductive to the growth of free world trade ?

छठा भाग

भारतीय मुद्रा तथा बैंकिंग

३७

भारतीय मुद्रा का इतिहास
(History of Indian Currency)

भारतीय मुद्रा का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में कोई प्रमाणिक सिक्का नहीं था। १८३५ ई० के पूर्व अँग्रेजी भारत में अनेक प्रकार के स्वर्ण तथा रजत के ऐसे सिक्के संचलनशील थे जिनके मध्य कोई निश्चित वैध अनुपात निर्धारित नहीं था। इससे वाणिज्य तथा उद्योग को कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता था क्योंकि देश में उद्योग तथा वाणिज्य के विकास के लिये स्थिर मुद्रा मान का होना अत्यावश्यक है।

रजत मान की स्थापना तथा खण्डन

१८३५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अँग्रेजी भारत में पूर्णकाय रजत मान को स्थापित करने का प्रयास किया था। १८३५ ई० के मुद्रा अधिनियम के अनुसार १८० ग्रेन ११/१२ शुद्ध चाँदी के भार वाले चाँदी के रुपये को प्रमाणिक सिक्का घोषित कर दिया गया तथा टकसालों में चाँदी का मुक्त मुद्रण किया गया था। सरकारी राजकोषों में स्वर्ण की मोहरों को सरकारी करों के भुगतान में १ मोहर=१५ चाँदी के रुपये की दर पर स्वीकार किया जाने लगा। परन्तु १९वीं शताब्दी के मध्य १८४८ ई० से लेकर १८५१ ई० तक आस्ट्रेलिया तथा केलीफोर्निया में नई स्वर्ण खानों की खोज होने के कारण स्वर्ण के मूल्य में भारी गिरावट हो गई। इसके कारण सरकार को काफी हानि हुई तथा १ जनवरी, १८५३ ई० से सरकार ने स्वर्ण के सिक्कों को करों तथा अन्य सरकारी भुगतानों में स्वीकार करना समाप्त कर दिया।

१८७४ ई० तक रजत मान भारत में ठीक प्रकार कार्य करता रहा था। परन्तु १८७४ ई० के पश्चात् चाँदी के स्वर्ण मूल्य में भारी कमी हो जाने के कारण देश में रजतमान को विद्यमान रखना कठिन हो गया। चाँदी के स्वर्ण मूल्य में कमी होने के दो मुख्य कारण थे। प्रथम, चाँदी की पूर्ति में वृद्धि तथा इसकी माँग में कमी हो गई थी। दूसरे, स्वर्ण का उत्पादन कम हो गया था तथा इसकी माँग अधिक हो गई थी। फलस्वरूप बाजार में चाँदी का स्वर्ण मूल्य कम हो गया था। चाँदी का मूल्य जो १८७५ ई० में ५८ पेंस प्रति औंस था, १८७९ ई० में गिरकर ५२½ पैस प्रति औंस; १८८८ ई० में ४३ पेंस प्रति औंस; १८९२ ई० में ३७½ पेंस प्रति औंस तथा

१८९९ ई० में केवल २२ पेंस प्रति औंस हो गया था। चाँदी के मूल्य में अत्यधिक कमी होने के फलस्वरूप भारतीय रुपये के स्वर्ण मूल्य में भी कमी होने लगी थी तथा इसका मूल्य १८७१ ई० में लगभग २ शिलिंग से घटकर १८९२ ई० में केवल ½ शिलिंग रह गया था। स्वर्ण की अधिक माँग यूरोप के अधिकांश देशों द्वारा रजतमान के स्थान पर स्वर्ण मान को अपनाने के कारण उत्पन्न हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी की सातवीं दशाब्दी में परिस्थिति चाँदी के प्रतिकूल थी तथा संसार के बड़े देशों ने रजत अथवा द्विधातुमान का परित्याग करके स्वर्णमान को अपनाना आरम्भ कर दिया था। इसका यह परिणाम हुआ कि १९०० ई० के लगभग यूरोप के लगभग सभी देशों में रजतमान का खण्डन हो गया था।[1] परिणामस्वरूप चाँदी की माँग में अत्यधिक कमी हो गई थी। भारतीय मुद्रा प्रणाली रजत पर आधारित होने के कारण रजत के स्वर्ण मूल्य में गिरावट होने पर भारत सरकार को निम्नलिखित कारणों से काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

(१) भारत सरकार को प्रतिवर्ष इंगलैण्ड की सरकार को गृह व्यय (Home Charges) के रूप में काफी भुगतान करना पड़ता था। चाँदी का स्वर्ण मूल्य कम हो जाने के कारण भुगतान करने के लिए अधिक मात्रा में चाँदी का निर्यात करना आवश्यक हो गया तथा इस कारण सरकारी व्यय में काफी वृद्धि हो गई। सरकारी व्यय में वृद्धि होने के हेतु घाटे को पूरा करने के लिए करों में वृद्धि करना आवश्यक हो गया तथा जनता की आर्थिक कठिनाइयों में वृद्धि हो गई।

(२) चाँदी के बाजार मूल्य में निरन्तर कमी होते रहने के कारण रुपये की विदेशी विनिमय दर में उच्चावचन होने लगे। विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन होने के कारण देश का विदेशी व्यापार अनिश्चित हो गया। इससे देश के निर्यात व्यापार को गहरी हानि हुई।

(३) उन यूरोपीय अधिकारियों ने जो अपने परिवारों को यूरोप में रुपया भेजते थे, रुपये की विदेशी विनिमय दर में कमी होने के कारण होने वाली हानि की क्षति पूर्ति की भारत सरकार से माँग की।

(४) रुपये की विदेशी विनिमय दर गिरने तथा अनिश्चित हो जाने के कारण देश में विदेशी पूँजी का आयात कम हो गया।

(५) भारत सरकार को अँग्रेज अधिकारियों की सेवाओं को प्राप्त करना कठिन हो गया क्योंकि रुपये के स्टर्लिंग मूल्य में कमी हो जाने के कारण उनको भारतीय मुद्रा में अधिक वेतन देना आवश्यक हो गया।

हर्शल समिति (Herschell Committee)

लगभग २० वर्ष तक भारत सरकार इस सम्बन्ध में स्थिति में सुधार करने के लिये कुछ कार्य न कर सकी। २० वर्ष के इस समय में सरकार यह आशा करती रही कि संसार के देश द्विधातुमान को अपना लेंगे तथा रजत को पुनः संसार के देशों में मुद्रामान का स्थान प्राप्त हो सकेगा। परन्तु सरकार की यह आशा वास्तविक सिद्ध नहीं हुई। रजत मान का परित्याग कर देने के पश्चात् संसार के किसी भी देश ने द्विधातुमान को अपना कर रजत को मुद्रा मान का स्थान

1. इंगलैंड ने स्वर्णमान को उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में १८१६ ई० में अपना लिया था। अमरीका ने स्वर्णमान को १९०० ई० में अपनाया था। जर्मनी में स्वर्णमान को १८७३ ई० में अपनाया गया था। १८७४ ई० में लैटिन मौद्रिक संघ (Latin Monetary Union) के सदस्य देशों तथा नार्वे व स्वीडन ने भी रजत की मुक्त सिक्का ढलाई को समाप्त करके स्वर्णमान को अपना लिया था।

प्रदान नहीं किया। १८९२ ई० तक देश में चाँदी की मुक्त सिक्का ढ़लाई के विरुद्ध कड़ा आन्दोलन विद्यमान रहा। १८९२ ई० में ब्रुसल्स (Brussels) में हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन की असफलता के पश्चात् सरकार ने लार्ड हर्शल की अध्यक्षता में एक समिति देश की मुद्रा तथा विनिमय स्थिति पर, विशेष रूप से टकसालों में चाँदी की मुक्त सिक्का ढलाई को समाप्त करने के प्रश्न पर, विचार करने तथा सरकार को सुझाव देने के उद्देश्य से नियुक्त की।

हर्शल समिति को भारतीय मुद्रा प्रणाली सम्बन्धी निम्नलिखित तीन समस्याओं पर सुझाव देने थे।

(अ) चाँदी के स्वर्ण मूल्य में कमी होने के कारण भारत सरकार की वित्तीय कठिनाइयों को किस प्रकार समाप्त किया जाना चाहिये।

(ब) रुपये की विदेशी विनिमय दर में कमी होने के कारण देश में वाणिज्य को होने वाली हानि को रोकने के लिये क्या उपाय किये जाने चाहिए।

(स) रुपये की विनिमय दर गिरने से भारत में रहने वाले अँग्रेज अधिकारियों की कठिनाइयों के प्रश्न पर सुझाव देना।

हर्शल समिति ने उपरोक्त समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् सरकार को निम्नलिखित सुझाव दिये।

(अ) देश में टकसालों में रजत तथा स्वर्ण की मुक्त सिक्का ढलाई समाप्त की जानी चाहिये। परन्तु सरकार को जनता की माँग पर स्वर्ण के बदले में १ शिलिंग ४ पेंस की दर पर रुपयों के मुद्रण का अधिकार प्राप्त होना चाहिये। टकसालों में चाँदी की खुली सिक्का ढलाई को समाप्त करने का उद्देश्य रुपयों की पूर्ति को सीमित रखना तथा रुपये के विनिमय मूल्य में गिरावट को रोकना था।

(ब) देश में चाँदी का रुपया वैध मुद्रा होनी चाहिये।

भारत सरकार ने हर्शल समिति के सुझावों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से १८९३ ई० में नया मुद्रा अधिनियम बनाया। १८९३ ई० के मुद्रा अधिनियम के अनुसार टकसालों में जनता के लिये चाँदी की खुली सिक्का ढलाई समाप्त करदी गई। परन्तु सरकार को अपनी आवश्यकता के लिये रुपयों को मुद्रण करने का अधिकार प्राप्त था। इस समय सरकार ने तीन विज्ञप्तियाँ भी जारी कीं। प्रथम विज्ञप्ति के अनुसार सरकार की स्वर्ण के सिक्कों अथवा स्वर्ण के बदले में १६ पेंस प्रति रुपये की दर पर चाँदी के रुपये देने की जिम्मेदारी थी। दूसरी विज्ञप्ति के अनुसार लोक ऋण का भुगतान स्वर्ण मोहरों के द्वारा १६ पेंस प्रति रुपये की दर से किया जा सकता था। तीसरी विज्ञप्ति के अनुसार १६ पेंस प्रति रुपये की दर पर स्वर्ण के बदले में कागजी मुद्रा कार्यालय (Paper Currency Office) द्वारा कागजी मुद्रा का प्रचालन किया जा सकता था।

१८९३ ई० के मुद्रा अधिनियम तथा विज्ञप्तियों का प्रमुख उद्देश्य रुपये की पूर्ति को सीमित रखकर इसके स्टर्लिंग मूल्य को १६ पेंस पर स्थिर रखना था तथा इसके पश्चात् देश में स्वर्णमान को अपनाना था। उपरोक्त उपायों के निम्नलिखित चार उद्देश्य थे।

(१) रुपये के विनिमय मूल्य को गिरने से रोकना तथा इसे ऊपर उठाना।
(२) देश में विदेशी पूँजी के आयात को प्रोत्साहित कराना।
(३) देश में जनता को स्वर्ण मुद्रा से परिचित कराना।
(४) चाँदी के आयात को हतोत्साहित करना।

उपरोक्त सभी उपाय संक्रमिक थे तथा इन उपायों को अपनाने का मुख्य उद्देश्य देश में कुछ समय पश्चात् स्वर्णमान को अपनाना था ।

फाउलर समिति (Fowler Committee)

१८९३ ई० के पश्चात् देश में मुद्रा की स्थिति परिवर्तनीय तथा अस्थाई थी । कुछ वर्षों तक रुपये का स्वतन्त्र मुद्रण न होने तथा वाणिज्य व उद्योग का विस्तार होने के कारण देश मे रुपये के सिक्कों की पूर्ति दुर्लभ हो गई थी । टकसालों मे चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त हो जाने से मुद्रा बाजार में मुद्रा दुर्लभ होने तथा कौसिल पत्रों (Council Bills) की बिक्री स्थगित होने के कारण बट्टे की दर में वृद्धि हो जाने से व्यापारियो को कठिनाइयों का अनुभव होने लगा। फलस्वरूप व्यापारी वर्ग ने इन कठिनाइयों के सम्बन्ध में सरकार से आवेदन किया। इस समय रुपये के विनिमय मूल्य में भी वृद्धि हो रही थी तथा १८९८ ई० मे इसने १६ पेंस के स्तर को प्राप्त कर लिया था। यह समय भारतीय मुद्रा प्रणाली को स्वर्णमान पर आधारित करने के लिए अनुकूल था। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने अप्रैल १८९८ ई० में सर हैनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक समिति सरकार को देश में स्वर्णमान अपनाने के सम्बन्ध में सुझाव देने के उद्देश्य से नियुक्त की ।

फाउलर समिति देश में रजतमान के स्थायित्व के पक्ष में नही थी । समिति ने देश में मुद्रामान के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें की थी ।

(१) यद्यपि स्वर्ण मोहर देश में असीमित वैध मुद्रा होनी चाहिये परन्तु साथ-साथ रजत का रुपया भी असीमित वैध मुद्रा होनी चाहिये ।

(२) सरकार को स्वर्ण मोहरों तथा अर्ध-मोहरों का मुद्रण करने के लिए टकसाल स्थापित करनी चाहिए ।

(३) चाँदी के रुपये का मुद्रण उस समय तक नहीं होना चाहिए जब तक संचलनशील कुल मुद्रा में स्वर्ण की मात्रा काफी अधिक न हो जावे ।

(४) लन्दन में एक स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve) स्थापित किया जाना चाहिए ।

(५) सरकार को चाँदी के रुपयों तथा कागजी मुद्रा के बदले में स्वर्ण खरीदना चाहिए। परन्तु उस समय तक जब तक सरकार को काफी स्वर्ण कोष प्राप्त न हो जावे कागजी मुद्रा तथा चाँदी के रुपयों का स्वर्ण में विमोचन नहीं करना चाहिए ।

(६) रुपये का स्टर्लिंग मूल्य १ शिलिंग ४ पेंस निर्धारित होना चाहिए ।

सरकार ने समिति की उपरोक्त सिफारिशों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से उपयुक्त कानून बनाया। दुर्भाग्यवश अँग्रेज सरकार के देश में स्वर्ण सिक्कों का मुद्रण करने के लिए अलग टकसाल स्थापित करने के विरोध में होने के कारण तथा भारतीय जनता के स्वर्ण सिक्कों के प्रति उदासीन होने के कारण इन सिफारिशों को व्यावहारिक रूप प्रदान नही किया जा सका। भारत सरकार को इन आकस्मिक कठिनाइयों के कारण बड़ी निराशा हुई। देश के विदेशी व्यापार को स्थिर करने तथा गृह व्यय के भुगतान की समस्या को हल करने के उद्देश्य से भारत सरकार रुपये की विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पेंस पर स्थिर करने के लिये अतिइच्छुक थी। परिणामस्वरूप भारत में स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया गया। १८९३ ई० से लेकर १८९८ ई० तक का

भारतीय मुद्रा का इतिहास केवल इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि अनेक असफल प्रयोगों द्वारा भारत सरकार देश में स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने में सफल हो गई।

भारत में स्वर्ण विनिमय मान १९०० ई० से लेकर १९१७ ई० तक विद्यमान रहा। नई मुद्रा प्रणाली में देश में कागजी मुद्रा तथा चाँदी के रुपये संचलनशील थे। यद्यपि स्वर्ण विनिमय मान में स्वर्ण के सिक्के संचलनशील नहीं थे परन्तु रुपया स्टर्लिंग में १ शिलिंग ४ पेंस की दर पर परिवर्तनीय था। भारत सरकार ने लन्दन में कागजी मुद्रा रक्षितकोष (Paper Currency Reserve) तथा स्वर्णमान रक्षितकोष (Gold Standard Reserve) स्थापित किये।

भारत में स्वर्ण विनिमय मान की प्रमुख विशेषता यह थी कि रुपये की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेंस पर स्थिर कर दी गई। विनिमय दर को इस स्तर पर स्थिर रखने के उद्देश्य से इंगलैंड में नियुक्त भारत राजमन्त्री (Secretary of State for India) १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पेंस प्रति रुपये की दर पर असीमित मात्रा में कौंसिल पत्र (Council Bill) अथवा रुपया ड्राफ्ट बेचते थे। वे अंग्रेज आयातकर्ता जिनको भारतीय निर्यातकर्ताओं को भुगतान करने के लिये रुपयों की आवश्यकता होती थी इन कौंसिल पत्रों को खरीदकर अपने भारतीय ऋणदाताओं को भेज देते थे जो इनके बदले में सरकारी राजकोषों से रुपया प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार रुपया स्टर्लिंग विनिमय दर १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पेन्स से अधिक नहीं हो सकती थी। जो पौण्ड-स्टर्लिंग इंगलैण्ड में नियुक्त भारत राजमन्त्री को कौंसिल पत्र बेचने से प्राप्त होते थे उनसे वे अपने विभाग का खर्च पूरा करते थे तथा शेषराशि को भारत के खाते में लन्दन में स्थापित कागजी मुद्रा कोष तथा स्वर्णमान कोष में जमा कर दिया जाता था।

रुपये की विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पेन्स से नीचे गिरने से रोकने के लिये भारत में सरकार प्रतिकौंसिल पत्रों (Reverse Council Bills) अथवा स्टर्लिंग ड्राफ्टों को १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पैन्स प्रति रुपये की दर से बेचती थी। जिस प्रकार कौंसिल पत्रों अथवा रुपया ड्राफ्टों का भुगतान भारत में होता था इसी प्रकार भारत में सरकार द्वारा बेचे गये स्टर्लिंग ड्राफ्टों का भुगतान लन्दन में स्टर्लिंग में होता था। जिन भारतीय आयातकर्ताओं को लन्दन में अंग्रेज निर्यातकर्ताओं को भुगतान भेजना होता था वे इन प्रतिकौंसिल पत्रों को खरीदकर अपने अंग्रेज निर्यातकर्ताओं को भेज देते थे तथा वे लन्दन में राजकोष से इनके बदले में पौण्ड-स्टर्लिंग प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार रुपये की विनिमय दर में होने वाले उच्चावचनों की उच्चतम तथा निम्नतम सीमायें निर्धारित हो गई थीं। विनिमय दर न तो १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पैन्स से अधिक हो सकती थी तथा न १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पैन्स से कम हो सकती थी। इस प्रकार रुपये का विनिमय मूल्य १ शिलिंग ४ पैन्स की दर पर स्थिर हो गया। इसके कारण भारत के विदेशी व्यापार को स्थिरता प्राप्त हुई तथा सरकार को गृह व्यय के कारण जो भुगतान करने पड़ते थे उनका सही अनुमान लगाना सम्भव हो गया।

प्रति वर्ष भारत का व्यापार-शेष अनुकूल होने के कारण लन्दन में कौंसिल पत्रों को बेचना अतिआवश्यक था। यदि कौंसिल पत्रों को न बेचा जाता तो भारत में अनुकूल व्यापार-शेष का भुगतान स्वर्ण के आयातों द्वारा हुआ होता। दूसरी ओर भारत को गृहव्यय का भुगतान करने तथा भारत के लिये लन्दन में स्थापित स्वर्णमान रक्षित कोष व कागजी मुद्रा रक्षित कोष में स्वर्ण रखने के लिये स्वर्ण का निर्यात करना पड़ता। स्वर्ण का आयात तथा निर्यात करना काफी व्ययपूर्ण सिद्ध हुआ होता। लन्दन में कौंसिल पत्रों की नियमित बिक्री होने से भारत में लन्दन से स्वर्ण को आयात करने तथा इसे लन्दन को पुनः निर्यात करने की आवश्यकता समाप्त हो गई। ऐसा करने से रुपये की विदेशी विनिमय दर भी १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पैन्स पर स्थिर हो गई। दूसरी

ओर भारत मे प्रति कौसिल पत्रो की बिक्री द्वारा भारत से स्वर्ण का निर्यात करने की आवश्यकता समाप्त हो गई तथा रुपये की विदेशो विनिमय दर के १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पेन्स से नीचे गिरने की सम्भावना का भी अन्त हो गया ।

स्वर्ण विनिमय मान को चलाने के लिये देश मे कुशल मुद्रा अधिकारी का होना अत्यन्त आवश्यक है । भारत मे जो सरकारी अधिकारी इस मान का प्रबन्धन करते थे उनको बाजार तथा व्यापार के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त नही था । यदि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना कुछ समय पहले हो गई होती तो भारत में स्वर्ण विनिमय मान का अधिक परीक्षण किया जा सकता था । परन्तु यह होते हुए भी कीन्स ने, जो चेम्बरलैन[2] आयोग (Chamberlain Commission) के सदस्य थे, १९१४ ई० में इस मान की प्रशंसा की थी । वर्तमानशताब्दी में बीसा के काल में राष्ट्र संघ के आर्थिक आयोग ने भी छोटे देशों से स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने की सिफारिश की थी ।

---

2. चैम्बरलैन आयोग की नियुक्ति अप्रैल १९१४ ई० में सर जौसफ ऑस्टन चैम्बरलैन (Sir Joseph Austen Chamberlain) की अध्यक्षता में हुई थी । लार्ड कीन्स आयोग के सदस्य थे । आयोग रुपये की विनिमय दर को स्थिर रखने की रीतियों की जाँच करने तथा यह बताने के लिये कि प्रचलित मुद्रा मान देश के हित मे था अथवा नही, नियुक्त किया गया था । आयोग ने सरकार को निम्नलिखित सुझाव दिये थे ।

(१) आयोग के विचारानुसार स्वर्ण विनिमय मान देश के हितों के अनुकूल था । देश में स्वर्ण मुद्रा की न तो आन्तरिक उपयोग के लिये आवश्यकता थी तथा न ही भारतीय जनता इसकी इच्छुक थी । इस कारण आयोग ने सरकार को आन्तरिक संचलन में स्वर्ण के प्रयोग को हताश करने का सुझाव दिया ।

(२) यद्यपि देश मे स्वर्ण के मुद्रण के लिये किसी टकसाल की आवश्यकता नहीं थी परन्तु यदि भारतीय जनता की भावनाओं का आदर करने के लिये टकसाल स्थापित करना आवश्यक था तथा यदि भारत सरकार टकसाल सम्बन्धी व्यय का भार उठाने के लिये तैयार थी तो स्वर्ण मोहरों तथा अर्ध-मोहरों के मुद्रण के लिये टकसाल स्थापित की जा सकती थी । टकसाल का खोलना सम्भव न होने पर सरकार को अपनी उस विज्ञप्ति का जिसको १९०६ ई० मे वापस ले लिया गया था तथा जिसके अनुसार बम्बई की टकसाल में कागजी मुद्रा तथा रुपयों के बदले मे स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता था, पुनर्वलोकन करना चाहिये ।

(३) लन्दन मे स्थित स्वर्णमान रक्षित कोष मे स्वर्ण की मात्रा के विषय में आयोग के विचारानुसार यद्यपि स्वर्ण की कोई अधिकतम सीमा निर्धारित करने की आवश्यकता नही थी परन्तु आयोग ने सिफारिश की थी कि इसका अधिकांश भाग स्वर्ण मे होना चाहिये तथा यह कोष लन्दन में स्थापित होना चाहिए ।

(४) देश की मुद्रा प्रणाली मे स्थितिसापेक्षता लाने के लिये आयोग ने सरकार को ऋणपत्रों की आड़ के आधार पर नोटों का प्रचालन करने का सुझाव दिया था, देश की मुद्रा प्रणाली में कागजी मुद्रा (कागज के नोटो) का अधिक प्रयोग किया जाना चाहिये तथा ५०० रुपये के नोटों का व्यापक प्रयोग होना चाहिये ।

(५) भारत सरकार को लन्दन में भुगतान होने वाली हुण्डियों को १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पैन्स की दर पर बेचना चाहिए ।

(६) सरकार को स्वर्णमान रक्षित कोष की रजत शाखा को बन्द कर देना चाहिये । आयोग की रिपोर्ट फरवरी १९१४ ई० मे प्रकाशित की गई थी तथा जुलाई १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया । फलस्वरूप भारत सरकार आयोग की अधिकांश सिफारिशों पर अमल न कर सकी । परन्तु सरकार ने स्वर्णमान की रजत शाखा को बन्द कर दिया तथा आवश्यकता पड़ने पर आयोग द्वारा निर्धारित दर पर प्रति कौसिल पत्रों को बेचने का वायदा किया ।

स्वर्ण विनिमय मान का खण्डन

यद्यपि स्वर्ण विनिमय मान भारत में १९०० ई० से लेकर १९१७ ई० तक विद्यमान रहा था परन्तु १९१७ ई० के मध्य में इसका परित्याग कर दिया गया। भारत में स्वर्ण विनिमय मान की सफलता भारतीय रुपए की सांकेतिक विशेषता तथा १ शिलिंग ४ पैन्स की विनिमय दर स्थिरता पर निर्भर थी। प्रथम महायुद्ध की अवधि में भारत को अत्यधिक अनुकूल भुगतान-शेष का अनुभव होने के कारण अधिक मात्रा में रुपयों को मुद्रण करने की आवश्यकता थी। परन्तु इसी काल में चाँदी की अधिक माँग होने के कारण चाँदी की कीमत बढ़ गई थी। चाँदी की कीमत जो युद्ध के पूर्व २७ पैन्स प्रति औंस थी, १९१७ ई० में बढ़ कर ४३ पैन्स प्रति औंस हो गई थी। युद्ध की समाप्ति के समीप इसका मूल्य ५५ पैन्स तथा १९२० ई० में ८९ पैन्स प्रति औंस था। चाँदी की कीमत में वृद्धि होने के कारण रुपए का वास्तविक मूल्य इसके वैधानिक मूल्य से अधिक हो गया था तथा लोगों ने रुपए को पिघला कर धातु प्राप्त करना आरम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में सरकार ने यह अनुभव किया कि १ शिलिंग ४ पैन्स की दर पर कौंसिल पत्रों का बेचना सम्भव नहीं था। फलस्वरूप सरकार को अगस्त १९१७ ई० में रुपए की विनिमय दर में वृद्धि करनी पड़ी तथा विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पैन्स से बढ़ाकर १ शिलिंग ५ पैन्स कर दिया गया। ऐसा करने के कुछ ही समय पश्चात सरकार ने रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न करना छोड़ दिया।

चाँदी के मूल्य में वृद्धि होने तथा रूपए का वास्तविक मूल्य क्रमशः अधिक होने के साथ-साथ इसके स्टर्लिंग मूल्य में भी वृद्धि होती गई तथा १९२० ई० के आरम्भ में यह बढ़कर २ शिलिंग १०$\frac{१}{२}$ पेन्स हो गया। रुपए की स्टर्लिंग विनिमय दर अस्थाई होने पर देश में स्वर्ण विनिमय मान का खण्डन हो गया। स्वर्ण विनिमय मान के खण्डन होने तथा तत्पश्चात विनिमय दर के निरन्तर बढ़ने के कारण देश के वाणिज्य तथा उद्योग को बहुत बड़ा धक्का लगा तथा भारतीय मुद्रा का धातु रक्षित कोष जो १९१४ ई० में कुल मुद्रा के ७९ प्रतिशत के अनुपात में था, १९१९ ई० में घटकर केवल ५० प्रतिशत रह गया।

कौंसिल पत्रों तथा प्रति-कौंसिल पत्रों का संक्षिप्त विवरण

१९०० ई० में इंगलैण्ड में नियुक्त भारत राज्य मन्त्री ने लन्दन में भारत में भुगतान किए जाने वाले ड्राफ्टों को १ शिलिंग ४$\frac{१}{२}$ पेन्स प्रति रुपए की विनिमय दर पर बेचने का निर्णय किया था। वे सभी अंग्रेज आयातकर्ता जिनको भारतीय निर्यातकर्ताओं को भारत में भुगतान भेजना होता इस सुविधा का उपयोग कर सकते थे। उदाहरणार्थ, यदि किसी अंग्रेज आयातकर्ता को भारतीय निर्यातकर्ता को भारत में भुगतान भेजना होता था तो वह लन्दन में भारत राजमन्त्री से १ शिलिंग ४$\frac{१}{२}$ पेन्स प्रति रुपया की दर पर पौंड-स्टर्लिंग के बदले में रुपया-ड्राफ्ट अथवा कौंसिल पत्र खरीद लेता था जिसका भुगतान भारत में उसके ऋणदाता को रुपयों में प्राप्त हो जाता था। लन्दन में नियुक्त भारत के राजमन्त्री द्वारा बेचे गये ये सभी ड्राफ्ट जिनका भुगतान भारत में रुपयों में किया जाता था कौंसिल पत्र अथवा रुपया-ड्राफ्ट कहलाते थे।

कौंसिल पत्रों के कई लाभ थे। प्रथम, कौंसिल पत्रों को बेचकर भारत के राजमन्त्री को भारतीय सरकार की ओर से गृहखर्च का भुगतान करने के लिये काफी मात्रा में पौंड-स्टर्लिंग मुद्रा प्राप्त हो जाती थी। कौंसिल पत्रों की रीति को अपनाने के पूर्व भारत में अनुकूल व्यापार-शेष होने के कारण विदेशों से स्वर्ण तथा रजत का आयात होता था। तत्पश्चात इस स्वर्ण को गृहखर्च

का भुगतान करने के हेतु इंगलैण्ड को निर्यात किया जाता था। इस प्रकार स्वर्ण का क्रमशः आयात तथा निर्यात करने की रीति व्ययपूर्ण थी। कौंसिल पत्रों की रीति के द्वारा स्वर्ण का आयात तथा तत्पश्चात निर्यात करने की आवश्यकता समाप्त हो गई। इससे समय तथा व्यय में भारी बचत हुई। इसके अतिरिक्त गृहखर्च का भुगतान अधिक सुविधाजनक हो गया।

दूसरे, कौंसिल पत्रों की बिक्री के कारण रुपये की विनिमय दर को स्थिरता प्राप्त हो गई। असीमित मात्रा में १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पेन्स प्रति रुपए की दर पर कौंसिल पत्र बेचने के कारण रुपये का स्टर्लिंग मूल्य १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पेन्स से अधिक नहीं हो सकता था। इससे देश के विदेशी व्यापार को स्थिरता प्राप्त हो गई तथा वाणिज्य व उद्योगों का सन्तुलित विकास सम्भव हो गया।

१९०८ ई० के लगभग भारत में प्रतिकूल व्यापार-शेष होने के कारण देश में पौंड स्टर्लिंग की माँग लन्दन में विद्यमान रुपयों की माँग की अपेक्षा अधिक थी। फलस्वरूप भारत सरकार ने लन्दन में भुगतान प्राप्त होने वाले प्रति कौंसिल पत्रों अथवा स्टर्लिंग ड्राफ्टों की बिक्री आरम्भ की थी। इन ड्राफ्टों के द्वारा लन्दन में ऋणदाताओं तथा निर्यातकर्ताओं को भुगतान करना सुविधाजनक हो गया। उदाहरणार्थ, यदि किसी भारतीय आयातकर्ता को लन्दन में अपने निर्यातकर्ता अथवा ऋणदाता को पौण्ड-स्टर्लिंग का भुगतान करना होता था तो वह सरकारी राजकोष अथवा मुद्राअधिकारी से रुपयों के बदले में लन्दन में स्टर्लिंग भुगतान प्राप्त होने वाले प्रति कौंसिल पत्र अथवा स्टर्लिंग ड्राफ्ट को प्राप्त करके लन्दन में अपने निर्यातकर्ता व्यापारी अथवा ऋणदाता को भेज देता था। अंग्रेज व्यापारी लन्दन में राजकोष से इस ड्राफ्ट में लिखित स्टर्लिंग राशि को प्राप्त कर लेता था। सरकार इन ड्राफ्टों को १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पेन्स प्रति रुपये की विनिमय दर पर बेचती थी। इस रीति के द्वारा भुगतान करने के कारण भारत से इंगलैण्ड को स्वर्ण निर्यात करने की आवश्यकता समाप्त हो गई। इसके अतिरिक्त रुपये की विनिमय दर में उच्चावचनों की सीमा भी निर्धारित हो गई। देश में स्थिर विनिमय दर पर प्रति कौंसिल पत्र बेचे जाने के कारण विदेशी विनिमय दर कभी भी १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पेन्स से कम नहीं हो सकती थी। इस प्रकार कौंसिल पत्रों तथा प्रति कौंसिल पत्रों की रीति के द्वारा विनिमय दर के उच्चावचन १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पेन्स तथा १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पेन्स की सीमाओं के बीच सीमित हो गए। इससे देश के विदेशी व्यापार को स्थिरता प्राप्त हुई।

इस प्रकार भारत में स्वर्ण विनिमय मान का कार्य कौंसिल पत्रों तथा प्रति कौंसिल पत्रों की रीति के द्वारा सम्भव हुआ। दूसरे, रुपये की विदेशी विनिमय दर स्थिर हो गई। तीसरे, स्वर्ण के आयातों तथा निर्यातों की समस्या समाप्त हो गई।

बेबिंगटन स्मिथ समिति[3] (Babington Smith Committee)

अनेक कठिनाइयों को सहन करने के पश्चात भारत सरकार ने मई १९१९ ई० में सर हेनरी बेबिंगटनस्मिथ की अध्यक्षता में भारतीय विनिमय तथा मुद्रा प्रणाली पर युद्ध के प्रभावों

3. समिति अपनी सिफारिशों में एक मत नहीं थी। समिति के एक मात्र भारतीय सदस्य श्री डी० एम० दलाल ने अपने संक्षिप्त विमतलेख में बहुमत समिति की सिफारिशों से असहमत होते हुए भिन्न सिफारिश की थी। श्री दलाल ने अपने लेख में रुपये की विनिमय दर को २ शिलिंग के स्थान पर १ शिलिंग ४ पेन्स पर निर्धारित करने की सिफारिश की थी। उन्होंने यह भी सुझाव दिया था कि उस समय तक जब तक चाँदी का मूल्य ऊँचा रहता है कम चाँदी वाले दो रुपये के सिक्कों का प्रचालन किया जाना चाहिए। सरकार ने बहुमत समिति की रिपोर्ट को स्वीकार करते हुए रुपये की विदेशी विनिमय दर २ शिलिंग निर्धारित की थी।

का अध्ययन करने तथा देश में स्थिर मुद्रा मान स्थापित करने के सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देने के लिये एक समिति नियुक्त की थी। समिति ने सरकार को निम्नलिखित सुझाव दिये थे।

(१) समिति ने रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर को २ शिलिंग पर निर्धारित करने की सिफारिश की थी। इस ऊँची विनिमय दर की सिफारिश इस आधार पर की गई थी कि चाँदी का मूल्य तत्कालीन युद्ध-पश्चात् काल में ऊँचा रहेगा तथा यह दर देश में कीमतों को कम करने में सहायक सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त समिति के विचारानुसार रुपये की स्टर्लिंग विनिमय दर को इस ऊँचे स्तर पर रखने के कारण सरकार को गृहखर्च का भुगतान करने में काफी बचत होगी।

(२) रुपये के धातु भार तथा शुद्धता में परिवर्तन नहीं होना चाहिये तथा यह देश में असीमित वैध मुद्रा होना चाहिये।

(३) देश में जनता द्वारा स्वर्ण को मोहरों में मुद्रण कराने के लिये बम्बई में एक टकसाल स्थापित की जानी चाहिये।

(४) देश में स्वर्ण मोहर असीमित वैध मुद्रा होनी चाहिये तथा रुपये और स्वर्ण मोहर के मध्य १० : १ का अनुपात होना चाहिये।

(५) स्वर्ण का मुक्त निर्यात तथा आयात होना चाहिये।

(६) यद्यपि चाँदी के आयात पर सभी प्रतिबन्ध शीघ्र समाप्त कर देने चाहिए परन्तु देश में चाँदी कोषों की मात्रा को अधिक बनाये रखने के हित में चाँदी के निर्यात पर प्रतिबन्धों को जारी रखा जाना चाहिये।

(७) आवश्यकता पड़ने पर कौंसिल पत्रों तथा प्रतिकौंसिल पत्रों को असीमित मात्रा में बेचा जाना चाहिये।

(८) रुपये के मुद्रण द्वारा प्राप्त लाभ स्वर्णमान रक्षित कोष में जमा किया जाना चाहिये। स्वर्णमान रक्षित कोष में काफी अधिक मात्रा में स्वर्ण होना चाहिये जिसका ५० प्रतिशत से अधिक भाग भारत में नहीं रखा जाना चाहिये।

(९) कागजी मुद्रा की आड़ के रूप में कागजी मुद्रा रक्षित कोष में संचित धातु निधि की न्यूनतम राशि विधान द्वारा कुल मुद्रा राशि की ४० प्रतिशत निर्धारित होनी चाहिये। प्रत्ययी नोटों की अधिकतम राशि १२० करोड़ रुपये निर्धारित होनी चाहिये। भारत सरकार की प्रतिभूतियों में अधिकतम निवेश की राशि २० करोड़ रुपये से अधिक नहीं होनी चाहिये। व्यस्त समय में अधिक मुद्रा की माँग को पूरा करने के लिये ७ करोड़ रुपये की अतिरिक्त मुद्रा का प्रचलन किया जाना चाहिये। मुद्रा की यह अतिरिक्त राशि प्रेसीडेन्सी बैंकों को निर्यात विनिमय बिलों की प्रतिभूति की आड़ के आधार पर ऋण के रूप में दी जा सकती थी।

(१०) क्षणिक कार्यों के अतिरिक्त कागजी मुद्रा रक्षित कोष में रखा हुआ स्वर्ण तथा चाँदी भारत में रखना चाहिये।

सरकार ने समिति की बहुमत रिपोर्ट को स्वीकार करते हुए रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर को २ शिलिंग पर निर्धारित कर दिया। दुर्भाग्यवश स्थिति इस नई दर के प्रतिकूल सिद्ध हुई। प्रतिकूल व्यापार-शेष तथा क्रमश: अधिक मूल्यों के कारण भारत का भुगतान-शेष प्रतिकूल रहा तथा देश के विदेशी विनिमय साधनों की स्थिति काफी चिन्ताजनक हो गई। कुछ समय तक सरकार ने प्रति कौंसिल पत्रों को बेचकर विनिमय दर को २ शिलिंग पर स्थिर रखने का प्रयत्न किया।

परन्तु देश के भुगतान-शेष की स्थिति इतनी अधिक खराब थी कि प्रति कौसिल पत्रों को बेचने से स्थिति सुधरने के स्थान पर और अधिक खराब हो गई। २ शिलिंग की ऊँची विनिमय दर पर देश में रहने वाले उन अँग्रेज नागरिकों ने जिन्होंने युद्धकाल में लाभ प्राप्त किये थे अपने इन लाभों को इंगलैंड भेजना प्रारम्भ कर दिया। १९२२ ई० में स्थिति इतनी खराब हो गई कि सरकार को विवश होकर प्रति कौसिल पत्रों की बिक्री को समाप्त करना पड़ा तथा रुपये की विदेशी विनिमय दर को विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होने के लिये मुक्त छोड़ दिया गया।

विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ देने के पश्चात् यह काफी गिर गई। परन्तु १९२३ ई० के आरम्भ में व्यापार-शेष अनुकूल हो जाने के कारण विनिमय दर में कुछ वृद्धि हुई तथा अक्तूबर १९२४ ई० में यह बढ़ कर १ शिलिंग ६ पेन्स हो गई। यद्यपि इस समय सरकार से विनिमय दर को स्थिर करने के लिये कहा गया था परन्तु सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।

हिल्टन यंग आयोग (Hilton Young Commission)

बेबिंगटन स्मिथ समिति की सिफारिशों को स्वीकार करने तथा अपनी मुद्रा प्रबन्धन नीति में असफल सिद्ध होने के पश्चात् सरकार ने १९२५ ई० तक मुद्रा प्रबन्धन के क्षेत्र में निष्क्रिय (masterly inactivity) नीति का पालन किया था। १९२५ ई० में जब रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर १ शिलिंग ६ पेन्स हो गई तो सरकार ने रुपये की विनिमय दर को इस स्तर पर स्थिर करने का निर्णय किया। फलस्वरूप अगस्त १९२५ ई० में भारतीय विनिमय तथा मुद्रा प्रणाली की जाँच करने तथा इस में सुधार करने के लिये सुझाव देने के उद्देश्य से हिल्टन यंग आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग ने निम्नलिखित तीन प्रमुख विषयों पर सिफारिशें की थीं।

(१) देश में किस मुद्रा मान को अपनाया जाना चाहिये ?

(२) देश की मुद्रा प्रणाली पर नियन्त्रण रखने के लिये किस मुद्रा अधिकारी की नियुक्ति की जानी चाहिये ?

(३) रुपये की विदेशी विनिमय दर क्या होनी चाहिये ?

उपरोक्त तीनों विषयों पर आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप देश के मुद्रा इतिहास में प्रसिद्ध विवाद उत्पन्न हो गये।

(1) स्वर्ण धातुमान—देश में उपयुक्त मुद्रा मान को अपनाने के सम्बन्ध में आयोग ने स्वर्णमान के भिन्न रूपों का अध्ययन करने के पश्चात् स्वर्ण धातु मान को अपनाने की सिफारिश की थी। आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि यह मान साधारण मनुष्य की समझ के बाहर था तथा इसका कोई वैधानिक आधार नहीं था। इसके अतिरिक्त इस मान में स्थितिसापेक्षता का अभाव था तथा संचलन में मुद्रा का संकुचन व विस्तार करने में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त इस मान में देश की मुद्रा इकाई को विदेशी मुद्रा इकाई के साथ बाँध दिया जाता है जिसके कारण यह मान स्वतन्त्र मान न रहकर वास्तव मे एक आश्रित मान हो जाता है।

स्वर्ण मुद्रा मान को अस्वीकार करते हुए आयोग ने कहा था कि यूरोप के अधिकांश देशों ने इस मान का परित्याग कर दिया था। इसके अतिरिक्त यह मान खर्चीला था तथा इसको अपनाने के लिये स्वर्ण सिक्कों का मुद्रण करने के लिए स्वर्ण की अत्यधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। भारत के समान निर्धन देश के लिये स्वर्ण मुद्रा मान को अपनाना सम्भव नहीं था। संक्षेप में आयोग ने स्वर्ण मुद्रा मान तथा स्वर्ण विनिमय मान को अस्वीकार करने के पश्चात्

सरकार को देश में स्वर्ण धातु मान को अपनाने का सुझाव दिया था। भारत में स्वर्ण धातुमान को अपनाने के पक्ष में आयोग ने निम्नलिखित तर्क दिये थे ।

(१) इंगलैंड की मुद्रा प्रणाली इसी मान पर आधारित थी ।

(२) इस मान में स्वर्ण मूल्य मापक का कार्य करता था तथा मुद्रा इकाई पूर्णतया स्वर्ण में परिवर्तनशील थी ।

(३) इस मान में मुद्रा इकाई के विनिमय मूल्य को स्थिर रखने के लिये स्वर्ण का प्रयोग किया जा सकता था ।

(४) अमौद्रिक कार्यो में स्वर्ण के प्रयोग को वंचित रखने के लिये स्वर्ण को ४०० औंस की सिल्लियों के रूप में बेचा जाना चाहिये । ऐसा करने से स्वर्ण जनसाधारण को अमौद्रिक कार्यों के लिये प्राप्त नहीं हो सकेगा ।

(५) इस मान को अपनाने के कारण देश की मुद्रा प्रणाली में स्वयं संचालकता विद्यमान हो जावेगी ।

(६) यह मान सरल था तथा स्वर्ण विनिमय मान की अपेक्षाकृत इसके प्रति लोगों में अधिक विश्वास होगा ।

(७) यह मान मितव्ययी था क्योंकि इसके अन्तर्गत स्वर्ण केवल निधि के रूप में रखा जाता था ।

इस प्रकार स्वर्ण धातुमान को अपनाने के पक्ष में उपरोक्त तर्कों के आधार पर आयोग ने सरकार से देश में स्वर्ण धातुमान को अपनाने तथा स्वर्ण मोहरों तथा अर्द्ध मोहरों का विमुद्रीकरण करने की सिफारिश की थी ।

सरकार ने आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार किया तथा १९२७ ई० के मुद्रा अधिनियम के अनुसार देश में स्वर्ण धातु मान को अपनाया गया । १९२७ ई० के मुद्रा अधिनियम के अनुसार निम्नलिखित तीन मुख्य घोषणायें की गईं ।

(१) सरकार बम्बई में २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर पर १५ औन्स अथवा ४० तोले की छड़ों के रूप में असीमित मात्रा में सोना बेचेगी ।

(२) २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर पर ४०० औंस अथवा १,०६५ तोले की छड़ी के रूप में सोना लन्दन में भी प्राप्त हो सकता था ।

सरकार ने लन्दन में प्राप्त होने वाली स्टर्लिंग मुद्रा को भी बम्बई में १ शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पेन्स की स्टर्लिंग-रुपया विनिमय दर पर बेचने की घोषणा की ।

(३) स्वर्ण मोहरों तथा अर्ध-मोहरों का विमुद्रीकरण किया जावेगा । उपरोक्त घोषणाओं का उद्देश्य देश में स्वर्ण धातु मान की स्थापना करना था । परन्तु वास्तव में अधिनियम के दूसरे आदेश के अनुसार देश की मुद्रा को स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग में परिवर्तित किया जा सकता था । इस प्रकार देश में अपनाया गया मुद्रामान स्वर्ण धातु मान न होकर वास्तव में स्वर्ण धातु तथा स्टर्लिंग विनिमय मान (Gold-Bullion-cum-Sterling-Exchange Standard) था । २१ सितम्बर, १९३१ ई० को इंगलैंड में स्वर्ण धातु मान का खण्डन हो जाने के उपरान्त भारत का मुद्रा मान स्टर्लिंग विनिमय मान हो गया ।

आलोचकों ने आयोग की इन सिफारिशों तथा १९२७ ई० के मुद्रा अधिनियम की, जो आयोग की सिफारिशों पर आधारित था, कड़ी आलोचना की थी । आलोचकों के मतानुसार देश में स्वर्ण मोहरों का विमुद्रीकरण प्रतिगामी क्रिया थी । इसके अतिरिक्त मुद्रा को १५ औन्स भार वाली

स्वर्ण छड़ों के रूप में परिवर्तन करने का वास्तविक अर्थ यह था कि मुद्रा जनसाधारण के लिये अपरिवर्तनीय थी। इसके अतिरिक्त सरकार को स्वर्ण अथवा स्वर्ण के स्थान पर स्टर्लिंग बेचने का अधिकार प्राप्त होने के कारण व्यावहारिक रूप में यह मान स्वर्ण विनिमय मान के समान था।

(२) मुद्रा अधिकारी की नियुक्ति

आयोग के विचारानुसार देश में मुद्रा नियन्त्रण की प्रचलित पद्धति असन्तोषजनक थी। देश में मुद्रा नियन्त्रण का कार्य सरकारी मुद्रा नियंत्रक करता था। इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया देश में केवल साख मुद्रा का नियन्त्रण करती थी। फलस्वरूप देश की मुद्रा तथा साख मुद्रा नीतियों में कोई समन्वय नहीं था। आयोग की राय में देश के मुद्रा बाजार का संगठन भी दोष पूर्ण था। साख मुद्रा नीतियों में समन्वय स्थापित करने तथा भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से आयोग ने देश में 'एक केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया—स्थापित करने की सिफारिश की थी। इस केन्द्रीय बैंक को देश में मुद्रा तथा साख मुद्रा के सर्वोच्च नियन्त्रक का कार्य करना था। आयोग ने यह सिफारिश भी की थी कि यह केन्द्रीय बैंक अंशधारियों की बैंक के रूप में स्थापित की जानी चाहिये तथा विधान मण्डल के नियन्त्रण से मुक्त होनी चाहिये। भारत सरकार ने आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार किया था तथा इसको कार्यान्वित करने के उद्देश्य से विधानसभा में दो विधेयक प्रस्तुत किये गये थे। प्रथम विधेयक का उद्देश्य १९२० ई० के इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम में संशोधन करना तथा दूसरे विधेयक का उद्देश्य देश में केन्द्रीय बैंक को स्थापित करना था। उस समय देश में काफी संख्या में ऐसे व्यक्ति थे जो इम्पीरियल बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक बनाने के पक्ष में थे। इन व्यक्तियों के विचारानुसार देश में नई बैंक को स्थापित करना आवश्यक नहीं था। कुछ लोगों ने विधेयक का इस कारण भी विरोध किया कि नई बैंक पर विधान सभा का कोई नियंत्रण नहीं होगा। विधान सभा में विधेयक का कड़ा विरोध होने के कारण सरकार ने इस को वापिस ले लिया तथा फलस्वरूप हेल्टनयंग आयोग की इस सिफारिश को कुछ समय पश्चात् तक कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

(३) विनिमय दर का स्थिरीकरण—आयोग के विचारानुसार देश में रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को स्थिर करने की भारी आवश्यकता थी। आयोग ने रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को १ शिलिंग ६ पेन्स पर स्थिर करने की सिफारिश की थी। रुपये का मूल्य ८·४७५१२ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण तथा पौण्ड-स्टर्लिंग का मूल्य ११३·००१६ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण होने के कारण रुपये का स्टर्लिंग मूल्य $\frac{८\cdot४७५१२}{११३\cdot००१६}$ पौण्ड-स्टर्लिंग अथवा १ शिलिंग ६ पेन्स निर्धारित होना चाहिये।

सरकार ने आयोग की बहुमत रिपोर्ट की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया था तथा १९२७ ई० का मुद्रा अधिनियम पास करके इसको कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया था। १९२७ ई० के मुद्रा अधिनियम के अनुसार रुपया १ शिलिंग ६ पेन्स की विनियय दर पर स्टर्लिंग में तथा २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर पर स्वर्ण की छड़ों के रूप में परिवर्तनशील था। दुर्भाग्यवश आयोग की यह सिफारिश एकमत नहीं थी। आयोग के अल्पपक्ष सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपनी रिपोर्ट बहुमत रिपोर्ट की सिफारिश से असहमत होते हुए रुपये की विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पेन्स पर स्थिर करने की सिफारिश की थी।[4]

---

4. आयोग के एकमात्र भारतीय सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपने विमतलेख में रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को १ शिलिंग ६ पेन्स पर स्थिर करने की सिफारिश का विरोध किया था। उन्होंने देश की अर्थव्यवस्था के हित में रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पेन्स पर स्थिर रखने का अनुरोध किया था। आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित होते ही देश में विनिमय दर सम्बन्धी कड़ा विवाद उत्पन्न हो गया था।

आयोग के बहुसंख्यक सदस्यों ने १ शिलिंग ६ पेन्स की ऊँची विनिमय दर को प्राकृतिक दर स्वीकार किया था। उनके विचार मे इस दर पर रुपये की आन्तरिक तथा बाह्य क्रय शक्तियों में समायोजन स्थापित हो गया था। इस विनिमय दर पर गत वर्षों में देश के भुगतान-शेष में असन्तुलन का अनुभव नहीं हुआ था। आयोग ने इस दर के पक्ष में यह तर्क दिया था कि यदि इस दर पर रुपये का अधोमूल्यन हुआ होता तो देश के व्यापार-शेष में प्रतिकूलता उत्पन्न हो गई होती। इसके अतिरिक्त यदि इस दर पर रुपये का अधोमूल्यन हुआ होता तो अधिक निर्यात तथा कम आयात होने के कारण देश का व्यापार-शेष अनुकूल हुआ होता। परन्तु इस प्रकार के कोई चिह्न देश के व्यापार-शेष में विद्यमान नहीं थे। फलस्वरूप आयोग ने यह निष्कर्ष निकाला कि १ शिलिंग ६ पेन्स की प्रचलित विनिमय दर वास्तविक विनिमय दर थी तथा यह दर रुपये की वास्तविक क्रयशक्ति का मापक थी। इसके अतिरिक्त आयोग का यह भी विचार था कि यह ऊँची विनिमय दर भारत सरकार को गृहव्यय का स्टर्लिंग भुगतान करने मे सहायक सिद्ध होगी। अन्त मे ऊँची विनिमय दर समस्त देश के लिये हितकर थी क्योंकि इसके कारण भारत अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकता था। अधिकांश भारतीय निर्यात वस्तुओं की विदेशी माँग बेलोचदार होने के कारण ऊँची विनिमय दर के कारण देश के निर्यातों की मांग कम नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, ऊँची विनिमय दर का भारत के निर्यात व्यापार पर खराब प्रभाव नहीं पड़ेगा, ऐसा बहुमत आयोग का विचार था।

दूसरी ओर अल्पपक्ष का यह विश्वास था कि १ शिलिंग ६ पेन्स की ऊँची दर पर रुपए की आन्तरिक तथा बाह्य क्रय-शक्तियों में समायोजन सम्भव नहीं था। यह दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति का परिणाम न होकर सरकार द्वारा चालाकी से निर्धारित की गई थी। अल्पपक्ष के विचारानुसार रुपये की वास्तविक विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेन्स थी क्योंकि यह दर देश में १९०० ई० से लेकर १९१७ ई० तक विद्यमान रही थी यद्यपि तत्कालीन युद्ध-पश्चात् काल की स्थिति के कारण इसमें परिवर्तन कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त अल्पपक्ष के विचार में संसार के सभी देशों में स्वर्णमान को पुरानी समता दर पर पुनः अपनाया गया था, भारत में भी १ शिलिंग ४ पेन्स की पुरानी विनिमय दर का स्थिरीकरण होना चाहिए। अल्पपक्ष का रुपये की विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेन्स पर स्थिर करने के विरोध मे यह भी तर्क था कि इस दर पर रुपये का अधिमूल्यन होना एक आवश्यक बात थी। विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेन्स पर निर्धारित करने से देश के निर्यातों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा क्योंकि भारत के प्रतियोगी देशों को भारतीय निर्यात वस्तुओं के मूल्य पर लगभग १२½ प्रतिशत की जीत प्राप्त हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि यदि कभी मन्दी विद्यमान हुई तो देश के निर्यातों को भारी हानि पहुँचेगी।

भारत सरकार रुपये की ऊँची विनिमय दर निर्धारण के पक्ष में थी क्योंकि ऐसा करने से सरकार के गृह खर्च के भुगतानों का भार काफी कम हो जाता था। निःसन्देह अल्पपक्ष का यह तर्क नहीं था कि यदि विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेन्स पर स्थिर किया गया तो ऐसा करने से मन्दी काल में रुपए का अधिमूल्यन हो जावेगा।

सारांश में हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों ने देश में कड़े विवादों को जन्म दिया। देश में स्वर्ण धातु मान अपनाने के सम्बन्ध में आयोग की सिफारिश को पूर्णतया कार्यान्वित नहीं किया गया क्योंकि भारत सरकार ने पूर्ण स्वर्ण धातुमान को कभी नहीं अपनाया। इसके अतिरिक्त कड़ा विरोध होने के कारण आयोग की केन्द्रीय बैंक की स्थापना सम्बन्धी सिफारिश को भी

कार्यान्वित नही किया जा सका। केन्द्रीय बेंक के रूप मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना केवल १९३५ ई० मे हो सम्भव हो पाई। यद्यपि विनिमय दर सम्बन्धी सिफारिश अवश्य कार्यान्वित हुई परन्तु इसने देश मे विवाद को जन्म दिया।

द्वितीय युद्धकालीन स्थिति

द्वितीय महायुद्ध के काल मे देश मे मुद्रा के क्षेत्र मे कई नई बाते उत्पन्न हुई। अभी युद्ध को आरम्भ हुए केवल चार महीने ही हुये थे कि सिक्को का निसंचय होने के कारण देश मे रुपये के सिक्को की अत्याधिक माँग उत्पन्न हो गई तथा जून १९४० ई० मे स्थिति बहुत गम्भीर हो गई। लगभग ३ महीने के अल्प समय मे अगस्त १९४० ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया मे २१·९३ करोड रुपये के कागजी नोट सचलन से वापिस आ गये। १ सितम्बर, १९३९ ई० से लेकर २१ जून १९४० ई० तक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के प्रचालन विभाग मे रुपयो की मात्रा २२·७७ करोड कम होकर ५७·८७ करोड रुपये से घटकर केवल ३५·२ करोड रुपये रह गई।

सरकार ने इस असाधारण स्थिति का सामना करने के उद्देश्य से १९४० ई० मे एक विज्ञप्ति जारी की जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक रुपये रखने पर अपराधी घोषित किया जा सकता था। इस विज्ञप्ति का अच्छा प्रभाव हुआ तथा नोटो के बदले मे रुपये के सिक्को की मॉग मे कमी का अनुभव हुआ परन्तु साथ ही साथ छोटे सिक्को की मॉग मे वृद्धि हो गई। परिस्थिति पर काबू पाने के लिए विशेष कार्यवाही करना आवश्यक था। बम्बई तथा कलकत्ता मे छोटे सिक्को के प्रचालन मे कमी कर दी गई। बम्बई मे छोटे सिक्को की मॉग को पूरा करने के लिए छोटी खेरीज डिपो (Small-change Depots) खोले गए जहाँ से जनता को सीमित मात्रा मे छोटे सिक्के प्राप्त हो सकते थे।

जुलाई १९४० ई० मे एक रुपये के नोटो का प्रचालन किया गया। इससे स्थिति मे काफी सुधार हुआ। यद्यपि एक रुपये के नोट सर्वप्रथम १९३५ ई० मे छापे गये थे परन्तु १९४० ई० के पूर्व वे संचलनशील नही हुए थे। जुलाई १९४१ ई० के प्रथम सप्ताह मे इन नोटो का आकार बढा दिया गया तथा इनको अच्छे कागज पर छापा गया। फरवरी १९४३ ई० मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने दो रुपए के नोटो का प्रचालन किया।

एक रुपए के कागजी नोट का प्रचालन करने के अतिरिक्त २६ जुलाई, १९४० तथा २३ सितम्बर, १९४० ई० को जारी की गई विज्ञप्तियो के अनुसार रुपए तथा अर्धरुपए के सिक्को मे चॉदी की शुद्धता $\frac{११}{१२}$ से घटाकर केवल $\frac{१}{२}$ कर दी गई। ११ अक्तूबर, १९४० ई० को जारी किए गए अध्यादेश के अनुसार जनता को महारानी विक्टोरिया के रुपए तथा अर्ध-रुपए के सिक्को को १ अप्रैल, १९४१ ई० तक वापस लौटाने का आदेश दिया गया। ४ नवम्बर, १९४१ ई० की विज्ञप्ति के अनुसार एडवर्ड स्पतम (Edward VII) के रुपए तथा अर्ध-रुपए के सिक्को को संचलन से वापस ले लिया गया तथा १ जून, १९४२ ई० के पश्चात् ये सिक्के वैध मुद्रा नही रहे। १ अक्तूबर, १९४२ ई० को प्रकाशित सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार (यह विज्ञप्ति ३ मई, १९४३ ई० से लागू थी) जार्ज पञ्चम तथा जार्ज षष्टम के रुपए तथा अर्ध रुपए के सिक्को को भी संचलन से हटा दिया गया। १ मई, १९४३ ई० से रिजर्व बैंक ने भी अपने कार्यालयो मे महारानी विक्टोरिया तथा एडवर्ड स्पतम के रुपए तथा अर्धरुपए के सिक्को को स्वीकार करना बन्द कर दिया। १ नवम्बर, १९४२ ई० से जार्ज पञ्चम तथा जार्ज षष्टम के रुपये तथा अर्ध-रुपए के सिक्को को रिजर्व बैंक के कार्यालयो मे भी अस्वीकार किया जाने लगा। १९४० ई० से लेकर १९४२ ई० तक

जारी की गई इन अनेक विज्ञप्तियों तथा अध्यादेशों का परिणाम यह हुआ कि लगभग सभी रुपए तथा अर्ध-रुपए के सिक्कों का विमुद्रीकरण कर दिया गया।[5]

देश में छोटे सिक्कों की अधिक माँग को पूरा करने के उद्देश्य से अर्ध-आने का पीतल का नया सिक्का जनवरी १९४२ ई० में जारी किया गया। इसके अतिरिक्त क्रमशः ७ मार्च तथा २७ मार्च, १९४२ ई० को पीतल के एक आना तथा दो आने के नए सिक्कों का भी प्रचालन किया गया। ताँबे के पुराने पैसे संचलन से गायब हो जाने के कारण जनता को काफी असुविधा हुई। इस असुविधा को समाप्त करने के उद्देश्य से फरवरी १९४३ ई० मे कम भार तथा छोटे आकार के पैसों के सिक्कों का मुद्रण किया गया।

युद्ध काल में अक्तूबर तथा नवम्बर १९४२ ई० में छोटे सिक्कों की अत्याधिक कमी होने के कारण जनता को छोटी राशि के भुगतानों को करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। यद्यपि युद्ध के आरम्भ से ही देश में छोटे सिक्कों की कमी थी परन्तु १९४२ ई० के अन्त में परिस्थिति बहुत गम्भीर हो गयी थी। केवल १९४२-४३ ई० में ही लगभग ८ करोड़ रुपए की राशि के छोटे सिक्कों की माँग की पूर्ति की गई थी। देश मे छोटे सिक्कों की इस दुर्लभता का कारण जनता के प्रति सिक्को का निसंचय करना था। सरकार ने काफी अधिक मात्रा मे छोटे सिक्को का मुद्रण तथा प्रचालन करके इस कमी को पूरा करने का प्रयत्यन किया[6] था। परिणामस्वरूप युद्ध के अन्तिम वर्षो मे स्थिति मे कुछ सुधार हो गया था।

स्वर्ण समता मान

२१ सितम्बर, १९३१ ई० को इंगलैंड मे स्वर्ण धातु मान का खण्डन हो जाने के पश्चात् तथा १ मार्च, १९४७ ई०—जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बना था—के बीच रुपए का सम्बन्ध पौण्ड-स्टर्लिंग के साथ स्थापित रहा था। दूसरे शब्दों मे, लगभग १५ वर्ष तक भारतीय मुद्रा प्रणाली स्टर्लिंग विनिमय मान पर आधारित रही थी। १ मार्च, १९४७ ई० को भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन जाने पर भारतीय मुद्रा प्रणाली मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ तथा पुराने स्टर्लिंग विनिमय मान, जिस पर भारतीय मुद्रा प्रणाली गत १५ वर्षो से आधारित थी, की समाप्ति हुई।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन जाने के उपरान्त भारतीय रुपए का समता मूल्य स्वर्ण तथा अमरीकी डालर में निर्धारित किया गया है। आरम्भ मे रुपए का समता मूल्य ०·२६८०१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण तथा अमरीकी डालर मे ३०·२३ सेन्ट निर्धारित किया गया था। इस परिवर्तन के होने से रुपए का स्टर्लिंग के साथ पुराना गठबन्धन समाप्त हो गया है तथा देश की मुद्रा इकाई अब स्वतन्त्रता से संसार के अन्य सभी देशों की मुद्रा इकाइयों से सम्बन्धित है। इसके पूर्व यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप में स्टर्लिंग के द्वारा स्थापित था। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अब सभी विदेशी मुद्राओं का निर्धारित दरों पर क्रय-विक्रय करती है। सितम्बर १९४९ ई० में

---

5. १९३९ ई० से लेकर १९४६ ई० तक रुपए, अर्धरुपए, चार आने तथा दो आने के लगभग ९४ करोड़ रुपये की राशि के चाँदी के सिक्के संचलन से हटाए गए थे।

6. दिसम्बर १९४२ ई० में सरकारी टकसालों में लगभग ७२ मिलियन छोटे सिक्कों का प्रतिमास मुद्रण किया जाता था जब कि अगस्त १९३९ ई० में केवल १६ मिलियन सिक्कों का मुद्रण होता था। अगस्त १९४४ ई० में छोटे सिक्कों के मुद्रण की संख्या २१९ मिलियन मासिक थी।

रुपए का अवमूल्यन होने के कारण रुपये का समता मूल्य कम होकर ०·१८६६२१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण तथा २०·९४ सेन्ट हो गया था। ५ जून, १९६६ ई० को भारतीय रुपये का पुनः अवमूल्यन हो जाने से रुपये का स्वर्ण समता मूल्य जो ०·१८६६२१ ग्राम था घटकर ०·११८५१६ ग्राम शुद्ध स्वर्ण हो गया है। अमरीकी डालर के रूप में यह समता मूल्य अब १३·५ सेन्ट हो गया है। रुपए का स्टर्लिंग मूल्य अब १ शिलिंग १ पेन्स है।

देश की मुद्रा प्रणाली के अध्ययन मे नोट प्रचालन पद्धति के अध्ययन का भी महत्त्व होता है। एक रुपये के नोट को छोड़कर अन्य सभी मूल्यांक के नोटों का प्रचालन रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया करती है। इन नोटों का भुगतान भारत सरकार द्वारा प्रत्याभूत होता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का प्रचालन विभाग मुद्रा अधिनियम के अनुसार उचित रक्षित कोष के आधार पर कागजी मुद्रा का प्रचालन करता है। मुद्रा अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक के नोटों के प्रचालन के पीछे ४० प्रतिशत स्वर्ण व विदेशी ऋणपत्रों तथा शेष ६० प्रतिशत रुपया ऋण पत्रों को आड़ के रूप मे कोष में रखना पड़ता था। दूसरे शब्दों में, देश की मुद्रा प्रणाली आनुपातिक निधि प्रणाली (proportional Reserve System) पर आधारित थी। इस पद्धति का मुख्य दोष यह था कि इस देश की मुद्रा प्रणाली में स्थितिसापेक्षता का अभाव था तथा व्यस्त समय में आवश्यकतानुसार संचलन मे मुद्रा की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि नहीं की जा सकती थी। देश मे आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए देश की मुद्रा प्रणाली का स्थितिसापेक्ष होना अतिआवश्यक था। ऐसा होने से संचलन में मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता अनुसार बढ़ाया जा सकता था। अक्तूबर १९५६ ई० तथा १९५७ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम में आवश्यक संशोधन किये गये तथा अनुपाती निधि प्रचालन को समाप्त करके इसके स्थान पर न्यूनतम निधि प्रणाली को अपनाया गया। नोट प्रणाली की न्यूनतम निधि प्रणाली के अन्तर्गत यद्यपि निर्धारित न्यूनतम निधि को रखना आवश्यक होता है परन्तु अधिक कागजी मुद्रा का प्रचालन करने के पूर्व निधि को बढ़ाना आवश्यक नहीं होता है। १९५७ ई० के संशोधन अधिनियम के अनुसार न्यूनतम निधि की मात्रा २०० करोड़ रुपए निर्धारित की गई है। इसमें ११५ करोड़ रुपए की स्वर्ण निधि तथा शेष ८५ करोड़ रुपए की विदेशी प्रतिभूतियाँ होनी चाहिए।

इस प्रकार देश में वर्तमान मुद्रा प्रणाली का प्रबन्धन रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा किया जाता है। रिजर्व बैंक का देश के मुद्रा बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण है। वर्तमान मुद्रा प्रणाली अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रणाली पर आधारित है।

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त भारतीय मुद्रा प्रणाली की एक अन्य विशेषता यह है कि भारतीय मुद्रण (संशोधन) अधिनियम, १९५७ ई० के अनुसार १ अप्रैल, १९५७ ई० से देश में मुद्रण की दशमलवीय प्रणाली को लागू कर दिया गया है। इस प्रणाली के लागू हो जाने से पुराने पैसे, अर्ध आना, एक आना, दो आने, चार आने तथा आठ आने के सिक्कों के स्थान पर एक, दो, तीन, पाँच, दस, पच्चीस तथा पचास पैसे के सिक्के लागू किए गए हैं। नई प्रणाली में पुराने पाई के सिक्के को जो केवल हिसाब की मुद्रा थी, समाप्त कर दिया गया है। देश की प्रमाणिक मुद्रा रुपए को १०० भागों में बाँटा गया है। इस प्रणाली को अपनाने के कारण हिसाब-किताब करना काफी सरल हो गया है।

अध्ययन सूची

1. Jather and Beri : Indian Economics (Latest Edition) Chapters relating to Currency and Exchange.

2. Reserve Bank of India : Reports on Currency and Finance.
3. B.R. Ambedkar : History of Indian Currency and Banking.
4. D. K. Malhotra : History and Problems of Indian Currency (1960).

प्रश्न

1. Trace the history of Indian currency between 1892 and 1925.
2. What were the circumstances that led to the appointment of Hilton Young Commission ? Mention briefly the recommendations made by the Commission.
3. Give a brief review of the Indian paper currency system between 1927 and 1957.

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया
(Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना १ अप्रैल, १९३५ ई० को हुई थी। बैंक की स्थापना के पूर्व देश में केन्द्रीय बैंक की स्थापना करने के अनेक बार प्रयास किए गये थे। हिल्टन यंग आयोग ने देश की मुद्रा तथा साख-मुद्रा प्रणाली पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए एक अलग केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की सिफारिश की थी। सरकार ने आयोग की सिफारिश को स्वीकार किया था तथा रिजर्व बैंक को स्थापित करने के उद्देश्य से विधान सभा में एक विधेयक भी प्रस्तुत किया था जो दुर्भाग्यवश विरोध होने के कारण पास नहीं हो सका। १९३५ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना इन प्रयासों की सफलता की उदाहरण थी।

सर्वप्रथम देश में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की आवश्यकता १७७३ ई० में ब्रिटिश सरकार को लिखित लार्ड वार हेंस्टिगस की उस चिट्ठी में व्यक्त की गई थी जिसमें उन्होंने देश में General Bank of Bengal and Bihar को स्थापित करने की सिफारिश की थी। तत्पश्चात् समय समय पर इसी प्रकार के सुझाव दिए गए थे। परन्तु वर्तमान शताब्दी के 'बीसा' के काल में केन्द्रीय बैंक की स्थापना के पक्ष में निश्चित विचार स्पष्ट किए गये थे। १९२१ ई० में तीनों प्रेन्सीडेन्सी बैंकों का एकीकरण करने से इम्पीरियल बैंक की स्थापना के समय केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव किया गया था उस समय यह आशा की जाती थी कि इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया केन्द्रीय बैंक के कार्य सम्पन्न करने के फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् केन्द्रीय बैंक बन जावेगी। वास्तव में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया ने केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य संपन्न भी किये थे। यह बैंक सरकारी बैंकर का कार्य करती थी। इसके अतिरिक्त साख-मुद्रा की मात्रा पर भी बैंक का काफी नियंत्रण था। परन्तु नोट प्रचालन का कार्य स्वयं केन्द्रीय सरकार करती थी। १९२६ ई० में हिल्टन यंग आयोग ने देश में मुद्रा तथा साख-मुद्रा की प्रचलित प्रणाली के विषय में जिसके अन्तर्गत जिम्मेदारी इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया तथा भारत सरकार के बीच विभाजित थी तथा साख-मुद्रा व मुद्रा प्रणाली के बीच समायोजन का अभाव था, असन्तोष व्यक्त किया। आयोग ने देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। यह बैंक देश की मुद्रा तथा साख मुद्रा प्रणालियों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से स्थापित की जानी थी।

आयोग की सिफारिश को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से जनवरी १९२७ ई० में सरकार ने विधान सभा में एक विधेयक प्रस्तुत किया था जो कुछ कठिनाइयों के कारण पास नहीं हो सका था। १९३३ ई० में भारतीय संवैधानिक सुधारों के समय इस प्रश्न पर पुनः विचार किया गया तथा केन्द्रीय सरकार की जिम्मेदारी भारतीय हाथों में देने से पूर्व भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना आवश्यक समझी गई। इस कारण भारतीय विधान सभा में ८ सितम्बर, १९३३ ई० को एक नया विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसको विधान सभा की स्वीकृति प्राप्त हुई तथा ६ मार्च, १९३४ ई० को इस विधेयक को बड़े लाट (Governor General) की स्वीकृति प्राप्त हो गई।

बैंक ने प्रथम अप्रैल १९३५ ई० से कार्य आरम्भ किया था। अप्रैल १९३५ ई० में बरमा के भारत से अलग होने तथा १९४७ ई० में देश का विभाजन होने के कारण पाकिस्तान बन जाने से बैंक के कार्यक्षेत्र में काफी परिवर्तन हो गया। बरमा के अलग राज्य बन जाने के पश्चात् भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ५ जून, १९४२ ई० तक उस देश के मुद्रा अधिकारी तथा ३१ मार्च, १९४७ ई० तक बरमा सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करती रही थी। अगस्त १९४७ ई० में देश के विभाजन के उपरान्त बैंक ने ३० जून, १९४८ ई० तक पाकिस्तान के लिए भी केन्द्रीय बैंक का कार्य किया था।

आरम्भ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना अंशधारियों की बैंक के रूप में हुई थी। इसकी अंश पूँजी राशि ५ करोड़ रुपये थी जो १०० रुपये मूल्य के पूर्णतया चुकती ५ लाख अंशों में विभाजित थीं। आरम्भ में केवल २,२,००० रुपये की राशि के अतिरिक्त सभी पूँजी अंशधारियों की थी। बैंक के सार्वजनिक कार्यों को ध्यान मे रखते हुये बैंक के अधिनियम में अंशधारियों को दिये जाने वाले लाभाँश की मात्रा तथा अंशों की संख्या सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध निर्धारित कर दिये गये थे। बैंक के अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय संचालक मण्डल के ठीक प्रकार से कार्य न करने की स्थिति में केन्द्रीय सरकार को केन्द्रीय संचालन मण्डल को अलग अथवा रद्द करने का अधिकार प्राप्त था।

बैंक का राष्ट्रीयकरण

यद्यपि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा भारत सरकार की नीतियों में समानता तथा युग्मन स्थापित करने के उद्देश्य से द्वितीय महायुद्ध के समय से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक विचारा जा रहा था परन्तु १९४७ ई० में स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् जनमत विशेष रूप से रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था। देश में जनमत रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में होने के अतिरिक्त, रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का विचार अन्य देशों में हुये केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के अनुकूल था। बैंक ऑफ इंगलैण्ड, बैंक ऑफ फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों में युद्ध-पश्चात् काल मे केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था। फलस्वरूप सितम्बर १९४८ ई० में संसद ने रिजर्व बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम बनाकर सरकार को बैंक पर, बैंक के अंशधारियों को ११८ रुपये १० आने प्रति अंश की दर पर मुआवजे का भुगतान करके, प्रभुत्व स्थापित करने का अधिकार प्रदान किया था।

१९४८ ई० के राष्ट्रीयकरण अधिनियम को बनाने का उद्देश्य भारत सरकार की उस नीति को कार्यान्वित करना था जिसके अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को देश में एक राजकीय संस्था के रूप में कार्य करना था। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम का दूसरा उद्देश्य सरकार की

मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के बीच समन्वय स्थापित करना था। अधिनियम के अनुसार अंशधारियों को मुआवजा देने के पश्चात् बैंक के सम्पूर्ण अंश सरकार को प्राप्त होने थे। अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार के आदेश के अधीन, बैंक का प्रबन्धन केन्द्रीय तथा स्थानीय संचालक मण्डलों के द्वारा किया जाता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण संसार के लगभग सभी देशों में हुए केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की नीति के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त युद्ध काल के अनुभव से यह ज्ञात होता है कि अंशधारियों की बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की स्वाधीनता केवल काल्पनिक थी। वास्तव में बैंक पर काफी मात्रा में सरकार का नियन्त्रण था तथा एक प्रकार से बैंक एक सरकारी विभाग के समान थी। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया राष्ट्रीयकरण अधिनियम ने इस वास्तविक स्थिति को केवल एक वैधानिक रूप प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त बैंक के राष्ट्रीयकरण के कारण एक घटना की सम्भावना समाप्त हो गई है। राष्ट्रीयकरण के पूर्व यह सम्भावना सदा विद्यमान रहती थी कि व्यक्तिगत बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया कुछ ऐसी नीतियों का पालन कर सकती थी जो देश में किसी विशेष आर्थिक वर्ग के लिये हितकर सिद्ध होकर समस्त राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल हो सकती थी। लोकतन्त्रात्मक देश के राष्ट्रीय हित मे बैंक की सामान्य मौद्रिक नीति तथा सरकार की सामान्य आर्थिक नीति के मध्य समन्वय होना चाहिये। बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से सरकारी आर्थिक नीति तथा बैंक की मौद्रिक नीति के मध्य असमानता विद्यमान होने की सम्भावना समाप्त हो गई है।

बैंक का संगठन तथा प्रबन्धन

बैंक की सामान्य प्रबन्धन नीति तथा संचालन कार्य एक केन्द्रीय संचालन मण्डल द्वारा किया जाता है। केन्द्रीय संचालक मण्डल में २० सदस्य हैं जिनमें एक गर्वनर तथा चार उपगर्वनर केन्द्रीय सरकार द्वारा रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा ८ की उपधारा १ (अ) के अन्तर्गत नियुक्त किये जाते हैं। गर्वनर तथा उपगर्वनरों के अतिरिक्त चार संचालक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ८ की उपधारा १ (ब) के आधीन चारों स्थानीय संचालक मण्डलों द्वारा नामजद किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त १० संचालक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ८ की उपधारा (१) (स) के अन्तर्गत तथा एक सरकारी अधिकारी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ८ की उपधारा (१) (द) के अन्तर्गत मनोनीत किये जाते है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ८ (१) (स) के अन्तर्गत मनोनीत किये गये संचालकों की पद अवधि चार वर्ष होती है तथा यह चक्कर क्रम से निवृत होते है। केन्द्रीय संचालन मण्डल की बैठकें एक वर्ष में कम से कम ६ तथा प्रत्येक तीन महीने में एक अवश्य होनी चाहिए।

देश के प्रत्येक चार प्रादेशिक क्षेत्रों में स्थित चार स्थानीय कार्यालयों की देखभाल के लिये स्थानीय संचालक मण्डल नियुक्त है जिसके प्रधान कार्यालय क्रमशः बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा नई दिल्ली मे स्थित है। स्थानीय संचालक मण्डलों में केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये गये पाँच सदस्य होते हैं। स्थानीय संचालक मण्डलों का कार्य केन्द्रीय संचालक मण्डल को विशेष प्रादेशिक समस्याओं पर परामर्श देना तथा केन्द्रीय संचालक मण्डल के निर्देशन के अधीन केन्द्रीय संचालक मण्डल द्वारा प्रत्यायुक्त किये गये कार्यो को सम्पन्न करना है।

गवर्नर रिजर्व बैंक की केन्द्रीय संचालक मण्डल का अध्यक्ष तथा बैंक का प्रधान कार्यकारी होता है। केन्द्रीय संचालक मण्डल के नियमन के अधीन बैंक की समस्त शक्ति गर्वनर में

निहित होती है तथा वह बैंक के कार्यों का संचालन करता है। चार उपगवर्नर, जिनमें प्रत्येक की देख-रेख में बैंक के विभिन्न विभागों का कार्य होता है, बैंक के कार्य को ठीक प्रकार से चलाने में गवर्नर की सहायता करते हैं। गवर्नर तथा उपगवर्नरों की कार्य अवधि, जो एक समय में पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती है, उनकी नियुक्ति के समय केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है। रिजर्व बैंक के इन अधिकारियों की पुर्ननियुक्ति की जा सकती है। बैंकिंग, वित्त तथा आर्थिक अनुसंधान तथा परामर्श का कार्य बैंक के प्रमुख परामर्शदाता की देख-रेख में किया जाता है।

बैंक का प्रधान अथवा केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में स्थित है। केन्द्रीय कार्यालय में बैंक के प्रधान गाणनिक का कार्यालय, सचिव का कार्यालय, वैधानिक विभाग, कृषि साख विभाग, बैंकिंग विकास विभाग, औद्योगिक वित्त विभाग, विनिमय नियन्त्रण विभाग तथा अनुसंधान व संख्याशास्त्र विभाग स्थित हैं।

देश में केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों को सफलतापूर्वक करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में बैंकिंग तथा प्रचालन विभागों सहित स्थानीय कार्यालय तथा शाखायें स्थापित की हैं। बैंक के चार स्थानीय प्रधान कार्यालय नई दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थित हैं। बैंक के प्रचालन तथा बैंकिंग विभाग बम्बई, कलकत्ता, जयपुर, कानपुर, मद्रास, नई-दिल्ली, बाईकल्ला (बम्बई), बंगलौर तथा नागपुर में स्थित हैं। बैंक का एक कार्यालय लन्दन में भी स्थित है जिसका कार्य अभिकर्ता के कार्यों को करने के अतिरिक्त भारत के उच्च आयुक्त (High-Commissioner of India) का हिसाब रखना भी है।

बैंक के प्रमुख कार्य

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सरकार की सामान्य आर्थिक नीति के अनुसार भारतीय मुद्रा प्रणाली का इस प्रकार नियमन करना है कि आर्थिक स्थिरता के साथ देश की अर्थव्यवस्था का सन्तुलित विकास सम्भव हो सके। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम १९३४ ई० की प्रस्तावना (preamble) के अनुसार बैंक का "प्रमुख कार्य भारत में मौद्रिक स्थिरता स्थापित करने तथा सामान्यतः मुद्रा तथा साख मुद्रा प्रणाली को कार्यान्वित करने हेतु बैंक नोटों के प्रचालन तथा रक्षित कोषों का नियमन करना है।" मौद्रिक प्रणाली का सुचारु रूप से नियमन करने के लिये देश की मुद्रा, बैंकिंग तथा साख मुद्रा प्रणालियों का नियंत्रण करना भी आवश्यक है। इस नियंत्रण को संभव बनाने के लिये रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को देश में नोट प्रचालन का पूर्ण एकाधिकार प्राप्त है। नोट प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त होने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया वाणिज्य बैंकों, राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के प्रति बैंकर का कार्य भी करती है। यह उनकी नकदी को अपने पास सुरक्षित रखती है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनको ऋणों तथा अग्रिमों के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करती है। साख मुद्रा नियमन के कार्य को सफलतापूर्वक करने के लिए बैंक दर, न्यूनतम वैध निधि अनुपात, मुक्त बाजार में सरकारी हुण्डियों का क्रय-विक्रय करने इत्यादि साख मुद्रा नियंत्रण के सामान्य अथवा अप्रत्यक्ष यंत्रों के अतिरिक्त बैंक को १९४९ ई० के बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्यक्ष साख मुद्रा नियमन की व्यापक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। बैंक का एक अन्य कार्य, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे अधिक पुराना है, सरकार के बैंकिंग तथा वित्तीय कार्यों का प्रबन्धन करना है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के वित्तीय अभिकर्त्ता के रूप में रिजर्व बैंक इन सरकारों के द्वारा प्रचालन किये गये ऋणों का प्रबन्धन करती है, इन सरकारों के नाम में ऋण तथा करराशियाँ प्राप्त करती है तथा भुगतान

भी करती है। इसके अतिरिक्त बैंक का एक मुख्य कार्य देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य अथवा विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखना है। इन कार्यों के अतिरिक्त बैंक सार्वजनिक ऋण का प्रबन्धन भी करती है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों पर भी बैंक का नियंत्रण है।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक वर्तमान समय में अनेक विकास कार्यों को भी करती है। देश में व्यापार, कृषि तथा उद्योग की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से देश में बैंकिंग सुविधाओं का सन्तुलित विकास करना भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का एक आवश्यक कार्य है। बैंक ने देश में कृषि वित्त समस्या का समाधान करने हेतु कृषि वित्त के क्षेत्र में कृषि पुनर्वित्त निगम, राष्ट्रीय कृषि (दीर्घावधि कार्य) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि (स्थिरीकरण) कोष स्थापित किये गये हैं। देश में औद्योगिक वित्त की समस्या का समाधान करने के हेतु रिजर्व बैंक ने पुनर्वित्त निगम तथा औद्योगिक विकास बैंक आदि संस्थाओं को स्थापित करके प्रशंसाजनक कार्य किया है। इन सब कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में वाणिज्य तथा सहकारी बैंकों के कार्य, भुगतान-शेष, कम्पनी तथा सहकारी वित्त तथा हुण्डी बाजार सम्बन्धी सामग्री का भी संग्रह करती है। रिजर्व बैंक का अनुसन्धान तथा संख्याशास्त्र विभाग अनेक वार्षिक, मासिक तथा साप्ताहिक पत्रिकाओं को प्रकाशित करता है। ये पत्रिकायें देश की आर्थिक, वित्तीय तथा बैंकिंग सम्बन्धी स्थितियों पर पर्याप्त विश्वसनीय सूचना प्रदान करती हैं। संक्षेप में वर्तमान समय में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अनेक प्रकार के कार्यों को करती है। स्वाधीनता-पश्चात् युग में रिजर्व बैंक के कार्यों का विस्तार हो गया है तथा देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्य में उपयुक्त मौद्रिक तथा बैंकिंग नीतियों के द्वारा सहयोग देना बैंक का आवश्यक कार्य हो गया है। अब संक्षेप में बैंक के भिन्न प्रमुख कार्यों का अध्ययन किया जा सकता है।

१. मुद्रा का प्रचालन

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को देश में नोट प्रचालन का पूर्ण एकाधिकार प्राप्त है। नोट प्रचालन का कार्य बैंक का नोट प्रचालन विभाग करता है जो स्वर्ण तथा विदेशी ऋणपत्रों के आरक्षणों के आधार पर नोटों का प्रचालन करता है। रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा ३३ के अनुसार प्रचालन विभाग की परिसम्पत्ति में जिसको आधार मान कर बैंक का प्रचालन विभाग नोटों का प्रचालन करता है, स्वर्ण सिक्के तथा स्वर्ण धातु, विदेशी हुण्डियाँ, रुपये, भारत सरकार की रुपया हुण्डियाँ तथा भारत में भुगतान होने वाली विदेशी विनिमय हुण्डियाँ सम्मिलित हैं।

आरम्भ में अधिनियम के अनुसार नोटों का प्रचालन आनुपातिक आरक्षित प्रणाली (Proportional Reserve System) के अनुसार किया जाता था। अधिनियम के अनुसार कुल नोट प्रचालन राशि का ४० प्रतिशत स्वर्णधातु, स्वर्ण सिक्कों[1] तथा विदेशी हुण्डियों के रूप में तथा शेष ६० प्रतिशत भारत सरकार की रुपया हुण्डियों, सरकारी रुक्कों तथा रुपयों के रूप में रक्षित कोष में रखना आवश्यक था। नोट प्रचालन की आनुपातिक आरक्षित प्रणाली देश में लगभग २० वर्ष से अधिक समय तक प्रचलित रही थी।

१९५६ ई० में देश में योजना को सफल बनाने के कारण आरक्षणों में विदेशी हुण्डियों की मात्रा कम हो जाने के कारण आनुपातिक आरक्षित प्रणाली को विद्यमान रखना कठिन हो गया। आनुपातिक आरक्षित प्रणाली के अन्तर्गत अधिक मुद्रा का प्रचालन, जो योजना की पूर्ति के लिये आवश्यक था, आरक्षणों में स्वर्ण अथवा विदेशी ऋणपत्रों की मात्रा को बढ़ाये बिना सम्भव नहीं

स्वर्ण सिक्के तथा स्वर्ण धातु की मात्रा किसी भी समय ४० करोड़ रुपये के मूल्य से कम नहीं हो सकती थी।

था। एक ओर तो स्वर्ण प्राप्त करना कठिन था तथा दूसरी ओर विदेशी हुण्डियों के बढ़ने की कोई सम्भावना नही थी। वास्तव में विदेशों से अधिक आयात होने के कारण रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय आरक्षणों में निरन्तर कमी होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में आनुपातिक आरक्षित प्रणाली का परित्याग करना ही एक मात्र सम्भव उपाय था। फलस्वरूप अक्तूबर १९५६ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम में पर्याप्त संशोधन करके आनुपातिक आरक्षित प्रणाली का परित्याग करके इसके स्थान पर न्यूनतम आरक्षित प्रणाली को अपना लिया गया। १९५६ ई० के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम के अनुसार रक्षित कोष में ११५[2] करोड़ रुपये राशि के स्वर्ण सिक्के तथा स्वर्ण धातु तथा ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा न्यूनतम आरक्षण निर्धारित की गई थी। परन्तु विदेशी ऋणपत्रों की मात्रा कुछ ही समय पश्चात् ४०० करोड़ रुपये की न्यूनतम राशि से भी कम हो गई। ऐसी चिन्ताजनक स्थिति में रिजर्व बैंक अधिनियम में पुनः संशोधन करना आवश्यक हो गया तथा १६ अक्तूबर, १९५७ ई० को रिजर्व-बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) आर्डिनेंस प्रचालित किया गया जो कुछ समय पश्चात् रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, १९५७ ई० बन गया। इस संशोधित अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक के प्रचालन विभाग के आरक्षित कोष में स्वर्ण सिक्कों तथा धातु तथा विदेशी हुण्डियों की न्यूनतम राशि ४०० करोड़ रुपये से कम करके केवल २०० करोड़ रुपये निर्धारित कर दी गई। स्वर्ण आरक्षणों की न्यूनतम राशि ११५ करोड़ रुपये निर्धारित की गई। इस संशोधन अधिनियम के अनुसार आरक्षित कोष में विदेशी हुण्डियों की न्यूनतम राशि केवल ८५ करोड़ रुपये निर्धारित कर दी गई है। इतना ही नहीं बल्कि संशोधित अधिनियम में आवश्यकता पड़ने पर विदेशी हुण्डियों के कोष की राशि को समाप्त करने की व्यवस्था भी की गई है। रिजर्व-बैंक ऑफ इण्डिया (द्वितीय संशोधन) अधिनियम १९५७ ई० के अनुसार रिजर्व बैंक को आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से, विदेशी हुण्डियों सम्बन्धी आदेश का पालन न करने का अधिकार प्राप्त है।

२. साख मुद्रा का नियमन

वर्तमान युग में सभी देशों में साख मुद्रा का नियमन करना केन्द्रीय बैंक का एक अति आवश्यक कार्य है। भारत में साख मुद्रा नियमन का वैधानिक आधार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम तथा बैंकिंग नियमन अधिनियम द्वारा निर्धारित होता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक को बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाओं तथा परिवर्तनीय न्यूनतम वैध निधि अनुपात साख मुद्रा नियन्त्रण के सामान्य अथवा अप्रत्यक्ष यन्त्र प्राप्त हैं। बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को साख मुद्रा नियन्त्रण के प्रत्यक्ष यन्त्र प्राप्त हैं। ये दोनों अधिनियम रिजर्व बैंक को साख मुद्रा नियमन के क्षेत्र में देश की सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण करने की व्यापक शक्तियाँ प्रदान करते हैं।

१९४९ ई० के बैंकिंग नियमन अधिनियम का देश में बैंकिंग के इतिहास में एक विशेष महत्त्व है क्योंकि इस अधिनियम के पूर्व रिजर्व बैंक को देश में मुद्रा बाजार पर नियन्त्रण करने के लिए बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियाओं के केवल दो यन्त्र प्राप्त थे। परन्तु बैंकिंग नियमन अधिनियम के बन जाने के पश्चात् रिजर्व बैंक को देश में सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण करने की व्यापक प्रत्यक्ष शक्तियाँ भी प्राप्त है।

---

2. पुराने ४० करोड़ रुपये राशि के स्वर्ण आरक्षणों का पुर्नमूल्यन करके स्वर्ण आरक्षणों का मूल्य ११५ करोड़ रुपए निर्धारित कर दिया गया था।

(अ) **बैंक दर**

बैंक दर वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी तथा अनुमोदित हुण्डियों की जमानत के आधार पर वाणिज्य बैंकों को ऋण प्रदान करती है। बैंक दर द्वारा वाणिज्य बैंकों को प्रथम श्रेणी अथवा सरकारी हुण्डियों की जमानत पर केन्द्रीय बैंक से ऋण अथवा वित्तीय सहायता प्राप्त हो सकती है। बैंक दर अथवा बट्टा दर ब्याज अथवा बट्टे की वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को अनमोदित हुण्डियों की जमानत के आधार पर ऋण प्रदान करती है अथवा प्रथम श्रेणी की हुण्डियों को बट्टा करके वित्तीय सहायता प्रदान करती है। जिस ब्याज की दर पर वाणिज्य बैंक व्यापारी वर्ग को रक्षित कर्ज उधार देती है उस दर पर केन्द्रीय बैंक की बैंक दर का काफी प्रभाव पड़ता है। रिजर्व बैंक अपनी बैंकदर नीति के द्वारा साख मुद्रा की मात्रा तथा वित्तीय सहायता प्राप्त करने की लागत पर प्रभाव डाल कर देश में साख मुद्रा का नियमन करती है। केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि देश में वाणिज्य बैंक किस अंश तक ऋण सहायता के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित हैं। यदि देश में वाणिज्य बैंक ऋण सहायता के लिये केन्द्रीय बैंक पर आश्रित होती हैं तो केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति देश में साख मुद्रा नियमन के उद्देश्य को प्राप्त करने में अधिक सफल होती है। इसके विपरीत जब देश में वाणिज्य बैंकों की नकदी स्थिति अच्छी होती है तथा वे केन्द्रीय बैंक पर ऋण सहायता के लिये बहुत कम आश्रित होती हैं तथा केन्द्रीय बैंक दर नीति को साख मुद्रा नियमन के कार्य में अधिक सफलता प्राप्त नहीं होती है। संक्षेप में केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि देश में वाणिज्य बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थायें किस अंश तक केन्द्रीय बैंक को अपना ऋणदाता स्वीकार करती हैं।

भूतकाल में रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई थी क्योंकि काफी समय तक अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक से ऋण सहायता प्राप्त करने की विशेष सुविधायें प्राप्त नहीं थीं। १९३८-३९ ई० में रिजर्व बैंक के 'अन्य ऋण तथा अग्रिमों' की कुल राशि केवल दो लाख रुपये थी। १९४७-४८ ई० में भी रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित तथा राज्य सहकारी बैंक को दी गई कुल ऋण सहायता की राशि केवल २१ लाख रुपये थी। अनुसूचित तथा सहकारी बैंकों द्वारा इतनी कम ऋण सहायता प्राप्त करने के कई कारण थे। प्रथम, वाणिज्य बैंक रिजर्व बैंक के पास ऋण तथा अग्रिमों को प्राप्त करने के लिए जाना नहीं चाहती थीं। दूसरे, देश में रिजर्व बैंक की स्थापना के समय से लेकर युद्ध के समय तक मुद्रा बाजार में सुलभ मुद्रा स्थिति विद्यमान होने से रिजर्व बैंक से ऋण सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। युद्धोत्तर काल में बैंकों को काफी अधिक नकदी तथा सरकारी ऋणपत्र प्राप्त हुये थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि १९४७-४८ ई० तक देश की बैंकिंग प्रणाली रिजर्व बैंक पर ऋण सहायता के लिए विशेषरूप से आश्रित नहीं थी। ऐसी स्थिति में यद्यपि रिजर्व बैंक अपनी बैंक दर में परिवर्तन कर सकती थी परन्तु इसका मुद्रा बाजार में ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता था।

१९४७ ई० के पश्चात् देश में आर्थिक विकास कार्य आरम्भ होने के कारण तथा कोरिया युद्ध के परिणामस्वरूप विदेशों में तेजी होने से देश में अधिक निवेश होने के हेतु साख मुद्रा की माँग में वृद्धि हुई। साख मुद्रा की अधिक माँग होने तथा रिजर्व बैंक की उदार साख मुद्रा नीति के कारण बैंकों ने रिजर्व बैंक से अधिक मात्रा में उधार लेना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप बैंक अधिनियम की धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित तथा

सहकारी बैंकों को दिये गये अग्रिमों की कुल राशि जो १९४७ ई० में केवल ३ करोड़ रुपये थी, १९५१ ई० में बढ़कर ८२ करोड़ रुपये हो गई थी । स्वाधीनता-पश्चात् युग में वाणिज्य बैंकों के रिजर्व बैंक पर ऋण सहायता के लिए अधिक आश्रित होने से रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति को साख मुद्रा नियमन के कार्य में सफलता सम्भव हो गई ।

देश में साख मुद्रा का नियमन करने के लिए बैंक दर की नीति का प्रयोग सर्वप्रथम नवम्बर १९५१ ई० में किया गया था । १५ नवम्बर, १९५१ ई० को बैंक दर को जो १९३५ ई० से लगभग १६ वर्ष तक ३ प्रतिशत पर स्थिर थी, बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दिया गया । बैंक दर में यह वृद्धि रिजर्व की लचीली ब्याज दर नीति की सूचक थी । यह वृद्धि इस बात की भी सूचक थी कि भविष्य में रिजर्व बैंक देश की अर्थव्यवस्था का अधिक सफलता के साथ नियमन कर सकेगी । इस समय भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी केन्द्रीय बैंकों ने अपनी बैंक दरों में परिवर्तन किये थे । भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा बैंक दर में वृद्धि करने के पूर्व इंगलैण्ड में बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने बैंक दर को २० वर्ष तक २ प्रतिशत पर स्थिर रखने के पश्चात् बढ़ाकर २½ प्रतिशत कर दी थी । रिजर्व बैंक के अनुसार बैंक दर की वृद्धि स्फीति रोधक थी । बैंक दर में वृद्धि करने के समय देश की अर्थव्यवस्था स्फीति से पीड़ित थी । १९५० ई० के मध्य में कोरिया में युद्ध हो जाने के कारण यूरोप के देशों तथा अमरीका में युद्ध सम्बन्धी सामग्री की अधिक माँग होने से मूल्य स्तर में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी । देश में सामान्य मूल्य सूचनांक जो जून १९५० ई० में युद्ध आरम्भ होने के समय ३९६ था बढ़कर अप्रैल १९५१ ई० में ४६२ हो गया था । अक्तूबर १९५१ में भी यह ४३८ था ।

बैंक दर में वृद्धि करने का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि मुद्रा बाजार में साख मुद्रा मँहगी हो गई तथा बैंकों ने अपनी उधारदान दरों में वृद्धि कर दी । इसके अतिरिक्त बैंकों ने व्यापारियों को निसंचय कार्य के लिए अग्रिम देने समाप्त कर दिये । फलस्वरूप अक्तूबर १९५१ ई० से लेकर मार्च १९५२ ई० तक पाँच मास की व्यस्त अवधि में अनुसूचित बैंकों के अग्रिमों में कुल केवल ६२ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई जबकि इसके पूर्व वर्ष व्यस्त अवधि में अनुसूचित बैंकों के अग्रिमों में १८० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी । इसके अतिरिक्त १९५२ ई० की मन्दी अवधि में अनुसूचित बैंकों के अग्रिमों में १११ करोड़ रुपये की सन्तोषजनक कमी हुई जबकि इसके पूर्व वर्ष मन्दी की अवधि में बैंक अग्रिमों में केवल ८६ करोड़ रुपये की कमी सम्भव हो सकी थी । सामान्य मूल्य सूचनाँक में भी तेजी के साथ गिरावट हुई तथा जनवरी १९५२ ई० में यह ४८० से गिरकर फरवरी में ४१६; मार्च में ३७८ तथा मई १९५२ ई० में ३६७ हो गया ।

१५ नवम्बर, १९५१ ई० को बैंक दर में ½ प्रतिशत की वृद्धि करने के लगभग ५½ वर्ष तक बैंक दर में कोई परिवर्तन नहीं किया गया । १६ मई, १९५७ ई० को बैंक दर को ३½ प्रतिशत से बढ़ाकर ४ प्रतिशत कर दिया गया । बैंक दर में ½ प्रतिशत की यह वृद्धि ठीक केन्द्रीय सरकार द्वारा १९५७-५८ ई० का बजट प्रस्तुत करने के समय की गई थी । बैंक दर में की गई इस वृद्धि का बजट तथा मुद्रा बाजार के दृष्टिकोण से एक विशेष महत्व था । १९५७-५८ ई० के बजट का मुख्य उद्देश्य दूसरी पंचवर्षीय योजना की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना था । वास्तव में इस बजट को 'Krishnamachari's Save the Plan Budget of 1957-58' का उपनाम दिया गया था । बजट का उद्देश्य अप्रत्यक्ष करों तथा सरकार की अकर आय में वृद्धि करके सरकार के वित्तीय साधनों में १०० करोड़ रुपये की राशि की वृद्धि करना था । इस बार बैंक दर में वृद्धि करने का उद्देश्य स्फीतिरोधक राजकोषीय नीति को सफल बनाना था । वाणिज्य

बैंकों के न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में परिवर्तन करने की शक्ति[3] तथा चयनात्मक (Selective) साख मुद्रा नियन्त्रण[4] के शस्त्रों से सज्जित होकर रिजर्व बैंक का मुख्य उद्देश्य देश की अर्थव्यवस्था की स्थिरता को भंग किए बिना नियन्त्रित मुद्रा प्रसार करना था। इस कार्य में बैंक दर का विशेष महत्व था।

बैंक दर में वृद्धि करने का यह भी कारण था कि रिजर्व बैंक की हुण्डी बाजार योजना (Bill Market Scheme), जो जनवरी १९५२ ई० में लागू की गई थी, के अन्तर्गत मुद्दती हुण्डी दर बैंक दर की अपेक्षाकृत अधिक थी। आरम्भ में मुद्दती हुण्डी पर ब्याज की दर ३ प्रतिशत थी। यह दर बैंक दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम थी। मार्च १९५६ ई० में मुद्दती हुण्डी दर को बढ़ाकर ३$\frac{1}{4}$ प्रतिशत तथा नवम्बर १९५६ ई० में इसे ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त हुण्डियों पर स्टाम्प शुल्क में काफी वृद्धि कर दी गई थी। इस प्रकार वास्तविक मुद्दती हुण्डी दर ४ प्रतिशत के लगभग थी। बैंक दर को ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत से ४ प्रतिशत करने का वास्तविक अर्थ बैंक दर तथा मुद्दती हुण्डी दर में समानता स्थापित करके यथापूर्व स्थिति को स्थापित करना था।

बैंक दर में वृद्धि करने का तीसरा कारण यह था कि फरवरी १९५७ ई० से अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी हुण्डियों तथा मुद्दती हुण्डियों की जमानत पर दिये जाने वाले ऋणों तथा अग्रिमों पर रिजर्व बैंक की समर्थ उधारदान दर ४ प्रतिशत थी जबकि दूसरी ओर सरकार द्वारा रिजर्व बैंक को बेचे जाने वाले राजकोष पत्रों (Treasury Bills) पर ब्याज की दर केवल ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत थी। मई १९५७ ई० में बैंक दर में वृद्धि करके दोनों दरों में समानता स्थापित कर दी गई।

सितम्बर १९६० ई० में रिजर्व बैंक ने बैंक दर को ४ प्रतिशत पर स्थिर रखकर एक कोटिबद्ध उधारदान दरों (graded lending rates) की नई योजना चालू की। इस नई योजना के अन्तर्गत अनुसूचित बैंक रिजर्व बैंक से अपनी कुल वैधानिक जमाओं (Statutory Deposits) की ५० प्रतिशत राशि तक बैंक दर पर उधार ले सकती थीं। यदि कोई अनुसूचित बैंक अपने निर्धारित कोटे, जो बैंक की वैधानिक जमाओं का ५० प्रतिशत निर्धारित था, से अधिक ऋण रिजर्व बैंक से प्राप्त करती थी तो उस बैंक को रिजर्व बैंक से प्राप्त किये गये अधिक ऋण की राशि पर अतिरिक्त ब्याज देना पड़ता था। यदि अधिक ऋण राशि इस बैंक के मूल कोटे (Basic Quota) के २०० प्रतिशत तक अथवा इससे कम होती थी तो उस बैंक को कोटे से अधिक ऋण पर रिजर्व बैंक को बैंक दर के अतिरिक्त १ प्रतिशत अधिक ब्याज देना पड़ता था। यदि बैंक द्वारा रिजर्व बैंक से प्राप्त किये गये ऋण की अधिक राशि बैंक के मूल कोटे का २०० प्रतिशत से अधिक होती थी तो बेशी ऋण पर ऋणी बैंक को रिजर्व बैंक को बैंक दर के अतिरिक्त २ प्रतिशत अतिरिक्त ब्याज देना पड़ता था। इस योजना का प्रभाव यह हुआ कि रिजर्व बैंक की कोटिबद्ध उधारदान दर ४, ५ तथा ६ प्रतिशत हो गई। इस योजना को लागू करने के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को अपनी उधारदान दरों में $\frac{1}{2}$ प्रतिशत की न्यूनतम वृद्धि करने तथा न्यूनतम उधारदान दर को ५ प्रतिशत करने का आदेश दिया। ऐसा करने का उद्देश्य देश में साख मुद्रा को मँहगा

---

3. रिजर्व बैंक को यह शक्ति रिजर्व बैंक संशोधन अधिनियम, १९५६ ई० के अन्तर्गत प्राप्त हुई थी।
4. रिजर्व बैंक को 'ये यन्त्र' भारतीय बैंकिंग नियमन अधिनियम, १९४९ ई० के अन्तर्गत प्राप्त हुए थे।

बनाना था। इन उपायों के फलस्वरूप वाणिज्य बैंकों के अग्रिमों में काफी कमी हो गई थी तथा रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंकों को दिये गये ऋणों व अग्रिम भी काफी कम हो गए थे।

अपनी बैंक दर नीति को स्फीति रोधक उपायों में अतिउत्तम विचारने के फलस्वरूप रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया ने १९५१ ई० के पश्चात् बैंक दर में अनेक बार वृद्धि की है। मई १९५७ ई० के पश्चात् २ जनवरी, १९६३ ई० को बैंक दर में ½ प्रतिशत की वृद्धि करके इसको ४½ प्रतिशत कर दिया गया। इसके साथ-साथ वाणिज्य बैंकों द्वारा रिजर्व बैंक से उधार प्राप्त करने की प्रणाली में भी परिवर्तन कर दिया गया। हुण्डियों तथा सरकारी ऋणपत्र सम्बन्धी कोटा तथा उधारदान प्रणाली में भी निम्नलिखित परिवर्तन कर दिये गए।

उधारदान दर	उधार कोटा
४½ प्रतिशत	औसत वैधानिक आरक्षणों का ५० प्रतिशत तक
६ प्रतिशत	औसत वैधानिक आरक्षणों का अतिरिक्त ५० प्रतिशत तक

दूसरे शब्दों में, वैधानिक आरक्षणों की राशि तक अनुसूचित बैंकों के लिए रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने की समर्थ उधारदान दर अब ४½ प्रतिशत से बढ़कर ५¼ प्रतिशत हो गई। ऐसा होने से वाणिज्य बैंकों के लिए रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने की लागत में भारी वृद्धि हो गई।

वाणिज्य बैंकों को अपने औसत वैधानिक आरक्षणों की राशि से अधिक ऋण सहायता रिजर्व बैंक से बातचीत करने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकती थी तथा रिजर्व बैंक द्वारा किसी वाणिज्य बैंक को अधिक ऋण प्रदान करने को सहमत होने की स्थिति में इन ऋणों पर वाणिज्य बैंकों को अधिक ब्याज देना पड़ता था। बैंकों की उत्पादक ऋणों की उचित माँग की पूर्ति करने में सहायता देने के हेतु रिजर्व बैंक ने ३० अक्तूबर, १९६३ ई० को अपनी उधारदान नीति कुछ उदार बनाई तथा बैंकों के अधिकतम उधार कोटे को उनके औसत वैधानिक आरक्षणों का १०० प्रतिशत से बढ़ाकर १५० प्रतिशत कर दिया गया। वाणिज्य बैंक अपने औसत वैधानिक आरक्षणों का ७५ प्रतिशत तक रिजर्व बैंक से बैंक दर—४½ प्रतिशत—पर उधार ले सकती थीं तथा अतिरिक्त ७५ प्रतिशत ६ प्रतिशत ब्याज की दर पर उधार ले सकती थी। इस सीमा के पश्चात् उधार-प्राप्त करने के लिए ऋणी बैंक को रिजर्व बैंक से बातचीत करना आवश्यक था। बैंक से बात-चीत करने के पश्चात् यदि रिजर्व बैंक यह अनुभव करती थी कि बैंक को ऋण सहायता देना उचित था तब यह अतिरिक्त वित्तीय सहायता ६ प्रतिशत ब्याज की दर पर ही दी जाती थी जबकि ३० अक्तूबर के पूर्व इस अतिरिक्त वित्तीय सहायता को ऋणी बैंक को ६½ प्रतिशत की ऊँची दण्ड ब्याज दर पर प्रदान किया जाता था। इसके अतिरिक्त नई नीति में अनुसूचित बैंकों को लघु उद्योगों को ऋण सहायता प्रदान करने के लिए अधिक उदार शर्तों पर ऋण सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी।

१९५१ ई० से लेकर १९७१ ई० तक १७ वर्ष में बैंक दर में ६ बार वृद्धि तथा केवल १ बार कमी की गई है। अन्तिम दो वृद्धियाँ जो सितम्बर १९६४ ई० तथा फरवरी १९६५ ई० में हुई थीं, अधिक शीघ्र तथा घनी थीं। बैंक दर में की गई ये दोनों वृद्धियाँ रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति में मूल परिवर्तन का द्योतक थीं। 'पचासा' के युग में सुलभ मुद्रा नीति के स्थान पर तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दुर्लभ मुद्रा नीति को अपनाया गया। २५ सितम्बर, १९६४ ई० से बैंक दर में ½ प्रतिशत की वृद्धि करके इसे ४½ प्रतिशत से बढ़ाकर ५ प्रतिशत कर दिया गया। इस

वृद्धि का उद्देश्य देश में स्फीति को रोकना था। १९६३-६४ ई० में संचलन में मुद्रा की मात्रा तथा उत्पादन की मात्रा में भारी असन्तुलन विद्यमान हो जाने के कारण मूल्यों में तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी। १९६३-६४ ई० के व्यस्त समय में (अक्तूबर १९६३ ई० से लेकर अप्रैल १९६४ ई० तक) साख मुद्रा में ३७७·५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी जो १९६२-६३ ई० के व्यस्त समय में साख मुद्रा की मात्रा में हुई कुल वृद्धि की तुलना में १७४ करोड़ रुपए अधिक थी। साख मुद्रा का विस्तार अप्रैल के पश्चात् भी जारी रहा तथा ८ मई, १९६४ ई० को अनुसूचित बैंकों के अग्रिमों की राशि १,८५६·२ करोड़ रुपये थी जबकि इसके पूर्व वर्ष १२ अप्रैल १९६३ ई० को अनुसूचित बैंकों के कुल अग्रिमों की राशि केवल १,६०१·५ करोड़ रुपये थी।

बैंक दर में वृद्धि करने के साथ-साथ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने उधारदान की बहुश्रेणी प्रणाली को समाप्त करके इसके स्थान पर ब्याजदर की भेदात्मक प्रणाली लागू की जिसके अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया से प्राप्त ऋणों पर अरोही रूप में ऊँची ब्याज दर का भुगतान करना था। रिजर्व बैंक से प्राप्त की गई वित्तीय सहायता पर वाणिज्य बैंकों को जिस ब्याज दर का भुगतान करना था वह ब्याज दर इन बैंकों के नकदी अनुपात द्वारा निर्धारित की गई थी। इस कार्य के लिए शुद्ध नकदी बैंक की कुल नकदी, जिसमें बैंक की कुल नकदी, बैंक की वह नकदी जो रिजर्व बैंक के पास थी, बैंक द्वारा सरकारी तथा अनुमोदित हुण्डियों में किया गया निवेश सम्मिलित था (इस राशि में से वह धन राशि घटाई जानी थी जो बैंक विशेष ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा औद्योगिक विकास बैंक से उधार ली थी), तथा इसकी कुल चालू तथा मियादी जमाओं का अनुपात थी। कोई अनुसूचित बैंक रिजर्व बैंक से बैंक दर पर (५%) उस समय तक उधार प्राप्त कर सकती थी जब तक इसका शुद्ध नकदी अनुपात २८ प्रतिशत से कम नहीं था। बैंकों के शुद्ध नकदी अनुपात में प्रत्येक १ प्रतिशत की कमी होने पर इनको रिजर्व बैंक से प्राप्त ऋण सहायता पर ½ प्रतिशत अधिक ब्याज देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त अनुसूचित बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिए गए अग्रिमों, सहकारी बैंकों तथा कोयला खानों को दिए गये ऋणों सम्बन्धी छूटों को भी समाप्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों के लिए उनके द्वारा दिए जाने वाले अग्रिमों पर भी उच्चत्तम ब्याज दर निर्धारित कर दी थी। वे अनुसूचित बैंक जिनकी कुल चालू तथा मियादी जमाएँ ५० करोड़ रुपए अथवा इससे अधिक थी अपने अग्रिमों पर ९ प्रतिशत से अधिक ब्याज प्राप्त नहीं कर सकती थीं।

बैंक दर में वृद्धि हुए अभी पाँच मास भी नहीं हुए थे कि १७ फरवरी, १९६५ को बैंक दर में १ प्रतिशत की पुनः वृद्धि कर दी गई तथा बैंक दर को ५ प्रतिशत से बढ़ाकर ६ प्रतिशत कर दिया गया। बैंक दर में वृद्धि करने के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों के लिए निर्धारित २८ प्रतिशत न्यूनतम शुद्ध नकदी अनुपात में भी वृद्धि करके इसे ३० प्रतिशत कर दिया। इस अनुपात में ३० प्रतिशत से नीचे प्रत्येक एक प्रतिशत की कमी होने पर प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक से प्राप्त की हुई सम्पूर्ण ऋण सहायता पर ½ प्रतिशत अधिक ब्याज चुकाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों के लिए अधिकतम उधारदान दर को ९ प्रतिशत से बढ़ा कर १० प्रतिशत कर दिया। इन सब उपायों का उद्देश्य वाणिज्य तथा उद्योग के लिए बैंकों से ऋण प्राप्त करने की लागत में वृद्धि करना था।

रिजर्व बैंक ने गत १७ वर्षों में प्रथम बार २ मार्च, १९६८ ई० को बैंक दर में एक प्रतिशत की कमी करके इसे ६ प्रतिशत से घटाकर ५ प्रतिशत किया था। यह कमी देश में उत्पन्न

मन्दी की स्थिति में सुधार करने के उद्देश्य से की गई थी। ९ जनवरी, १९७१ को बैंक दर में १ प्रतिशत की वृद्धि करके इसे ५ प्रतिशत से बढ़ा कर ६ प्रतिशत कर दिया गया। यह वृद्धि बढ़ती हुई कीमतों पर रोक लगाने के उद्देश्य से की गई थी।

हुण्डी बाजार योजना

देश में वाणिज्य तथा उद्योग पर साख मुद्रा निरोधक नीति के पड़ने वाले खराब प्रभावों को रोकने तथा वाणिज्य व उद्योग की उचित वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के हेतु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने १६ जनवरी, १९५२ ई० से एक नई हुण्डी बाजार योजना चालू की। इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अनुसूचित बैंकों को उनके उन माँग रुक्कों (demand promissory notes) की जमानत पर जिनके साथ बैंकों के ग्राहकों की मुद्दती हुण्डियाँ भी संलग्न होती हैं, ऋण देती हैं। आरम्भ में जो ऋण रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को इस योजना के अन्तर्गत देती थी उन पर रिजर्व बैंक बैंक दर से ½ प्रतिशत कम ब्याज की दर लेती थी। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक हुण्डियों से सम्बद्ध स्टाम्प शुल्क के ५० प्रतिशत खर्चे का भी भुगतान करती थी। आरम्भ में यह योजना केवल उन्हीं अनुसूचित बैंकों तक सीमित थी जिनकी कुल जमा १० करोड़ रुपये अथवा इससे अधिक थी। आरम्भ में व्यक्तिगत हुण्डी का न्यूनतम मूल्य १ लाख रुपये निर्धारित किया गया था तथा प्रत्येक व्यक्तिगत बैंक को एक समय में २५ लाख रुपये का न्यूनतम अग्रिम लेना पड़ता था। यह योजना शीघ्र लोकप्रिय हो गई क्योंकि योजना के कारण अनुसूचित बैंक व्यस्त समय में रिजर्व बैंक से ऋण तथा अग्रिम प्राप्त करके अपने ग्राहकों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती थीं। हुण्डी योजना की लोकप्रियता इस बात से सिद्ध हो जाती है कि १९५३ ई० में वाणिज्य बैंकों ने इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक से ६१ करोड़ रुपये अग्रिमों के रूप में प्राप्त किए थे। १९५४ ई० के प्रथम ६ महीनों में योजना के अन्तर्गत प्राप्त हुए अग्रिमों की राशि १२२ करोड़ रुपये थी। १९५४ ई० में शराफ समिति (Shroff Committee) की सिफारिश पर रिजर्व बैंक ने योजना के अन्तर्गत उधार प्राप्त करने की सुविधा को उन सभी अनुसूचित बैंकों को भी प्रदान कर दी थी जिनको बैंकिंग नियमन अधिनियम, १९४९ ई० की धारा २२ के अनुसार लाइसेंस प्राप्त था। आरम्भ में जमा के आधार पर केवल कुछ बड़ी बैंक ही योजना का लाभ उठा सकती थीं क्योंकि जिन अनुसूचित बैंकों की जमा १० करोड़ रुपये से कम थी वे इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक से अग्रिम प्राप्त नहीं कर सकती थीं। इससे छोटी अनुसूचित बैंकों में काफी असन्तोष था। अब जमा के आधार को समाप्त कर दिया गया। इस छूट का प्रभाव यह हुआ कि प्रत्येक अनुसूचित बैंक को योजना से लाभ उठाने का अधिकार प्राप्त हो गया। इसके अतिरिक्त आरम्भ में व्यक्तिगत हुण्डी पर न्यूनतम अग्रिम प्राप्त करने की मात्रा एक लाख रुपया होने के कारण छोटे व्यापारी योजना का उपयोग नहीं कर सकते थे। छोटे व्यापारियों को भी योजना का लाभ प्राप्त करने के योग्य बनाने के उद्देश्य से व्यक्तिगत हुण्डियों पर न्यूनतम अग्रिम प्राप्त करने की राशि १ लाख रुपये से घटाकर ५०,००० रुपये कर दी गई। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत बैंक द्वारा न्यूनतम अग्रिम प्राप्त करने की राशि को भी २५ लाख रुपये से घटाकर ५ लाख रुपये कर दिया गया।

१९५५ ई० में मूल्यों में वृद्धि होने की प्रवृत्ति तथा १९५५-१९५३ ई० की व्यस्त अवधि में अनुसूचित बैंकों के अग्रिमों में अत्याधिक वृद्धि को ध्यान मे रखते हुए रिजर्व बैंक ने मार्च १९५३ ई० से मुद्दती हुण्डियों की जमानत पर दिये जाने वाले अग्रिमों पर अपनी उधारदान दर को ३ प्रतिशत से बढ़ा कर ३½ प्रतिशत कर दिया था। उधारदान दर में २१ नवम्बर, १९५५ ई० को

पुनः $\frac{1}{4}$ प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई तथा इसको बढ़ाकर ३$\frac{1}{4}$ प्रतिशत के स्थान पर ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया। ऐसा करने से योजना के अन्तर्गत उधारदान दर बैंक दर के समान हो गई। इसके साथ-साथ रिजर्व बैंक ने हुण्डियों से सम्बद्ध आधे स्टाम्प शुल्क का भुगतान करना भी समाप्त कर दिया। फरवरी १९५७ ई० से तीन महीने के मुद्दती रुक्कों पर स्टाम्प शुल्क के दो आने प्रति हजार से बढ़कर १ रुपया ४ आने प्रति हजार रुपये हो जाने से योजना के अन्तर्गत उधार प्राप्त करने की वास्तविक दर लगभग ४ प्रतिशत हो गई। उधार दर (borrowing rate) के ४ प्रतिशत हो जाने से व्यापारियों को काफी कठिनाई का अनुभव हुआ। इसके अतिरिक्त हुण्डी बाजार योजना के अन्तर्गत वास्तविक उधारदान दर (lending rate) तथा बैंक दर में असमानता आ गई। परन्तु मई १९५७ ई० में बैंक दर ४ प्रतिशत हो जाने पर यह असमानता समाप्त हो गई। योजना का विस्तार हो जाने से उन बैंकों की संख्या जो योजना का उपयोग कर सकती थी दुगुनी हो गई तथा मई १९५९ ई० में ऐसी बैंकों की संख्या ५१ थी।

निर्यातकर्ताओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने अक्तूबर १९५८ ई० से निर्यात हुण्डियों को भी हुण्डी बाजार योजना में सम्मिलित कर लिया। निर्यात हुण्डी बाजार योजना के अन्तर्गत केवल वे अनुसूचित बैंकें ही रिजर्व बैंक से अग्रिम प्राप्त कर सकती थीं जो विदेशी विनिमय में प्राधिकृत व्यापारी थीं तथा जो सामान्य हुण्डी बाजार योजना के अन्तर्गत भी अग्रिम प्राप्त करने योग्य थीं। छोटे निर्यातकर्ताओं को वित्तीय सहायता प्रदान के उद्देश्य से निर्यात हुण्डी बाजार योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक से व्यक्तिगत अनुसूचित बैंक द्वारा एक समय में प्राप्त किये जाने वाले अग्रिम की न्यूनतम राशि एक लाख रुपया तथा व्यक्तिगत हुण्डी पर प्राप्त होने वाले अग्रिम की न्यूनतम राशि केवल ५,००० रुपये निर्धारित की गई।

यद्यपि हुण्डी बाजार योजना के द्वारा व्यापारियों को काफी मात्रा में अग्रिम प्राप्त हुए हैं परन्तु यह योजना देश में एक पूर्ण हुण्डी बाजार की स्थापना करने में सफल नहीं हुई है। हुण्डी बाजार में हुण्डियों का निरन्तर क्रय विक्रय होता रहता है तथा हुण्डी बाजार में बहुत से व्यापारी होते हैं जो सभी हुण्डियों का लेन देन करते हैं। पूर्णतया संगठित हुण्डी बाजार में वाणिज्य बैंकों द्वारा स्वीकृति हुण्डियों को किसी भी मात्रा में हर समय बेचा अथवा बट्टा किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार का कोई बाजार रिजर्व बैंक द्वारा चालू की गई हुण्डी बाजार योजना के द्वारा देश में स्थापित नहीं हुआ है। हुण्डी बाजार योजना के द्वारा केवल बैंकों को सस्ती ब्याज दर पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने का साधन प्राप्त हो गया है। २० नवम्बर, १९६५ ई० को घोषित की गई साख मुद्रा नीति के अनुसार हुण्डी बाजार योजना के अन्तर्गत प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों, प्रतिरक्षा कार्य तथा खाद्य वसूली के लिये बैंकों द्वारा दी गई वित्तीय सहायता का रिजर्व बैंक से बैंक दर पर पुनः वित्तिकरण किया जा सकता था।

(ब) बाजार में हुण्डियों का क्रय विक्रय

रिजर्व बैंक मुद्रा बाजार में हुण्डियों के क्रय विक्रय द्वारा मुद्रा बाजार में सरकारी हुण्डियों का क्रय विक्रय करके मुद्रा बाजार तथा वाणिज्य बैंकों पर नियन्त्रण करती है। खुले बाजार में सरकारी हुण्डियों को बेचकर अथवा खरीद कर रिजर्व बैंक संचलन में मुद्रा तथा साख मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि करती है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा १७ के अनुसार रिजर्व बैंक को उन प्रामाणिक वाणिज्य हुण्डियों तथा रुक्कों को, जिनका भुगतान ९० दिन में भारत में प्राप्त हो सकता है तथा जिन पर दो अथवा दो से अधिक हस्ताक्षर होते हैं, (इनमें से एक हस्ताक्षर अनुसूचित अथवा सहकारी बैंक का होना चाहिए) खरीदने, बेचने

तथा बट्टा करने का अधिकार प्राप्त है। भारत में रिजर्व बैंक की मुद्रा बाजार में हुण्डियों का क्रय विक्रय करने सम्बन्धी क्रियायें मुख्यत: सरकारी बांडों के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित हैं। साख मुद्रा का नियमन करने की सामान्य परिस्थिति से प्रभावित होने के अतिरिक्त ये क्रियाएँ सरकार की उधार आवश्यकताओं से भी प्रभावित होती हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियायें अधिक विस्तृत नहीं थीं। युद्ध काल में रिजर्व बैंक की खुले बाजार में हुण्डियाँ क्रय विक्रय करने की नीति का मुख्य उद्देश्य मुद्रा बाजार में सरकारी कर्जों को चालू करना था। युद्ध-पश्चात् काल में रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं का प्रमुख उद्देश्य साख मुद्रा वितरण के लिए बैंकों की नकदी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए ऋणपत्रों को क्रय करना था। १९४८-४९ ई० तथा १९५०-५१ ई० में रिजर्व बैंक ने काफी अधिक राशि की हुण्डियों का क्रय किया था। परन्तु सरकारी हुण्डियों को उदारतापूर्वक क्रय करने की इस नीति में नवम्बर १९५१ ई० में संशोधन किया गया। यह संशोधित नीति नवम्बर १९५१ से लेकर नवम्बर १९५६ ई० तक लगभग ५ वर्ष तक प्रचलित रही थी। इस ५ वर्ष की अवधि में रिजर्व बैंक ने लगभग ५० करोड़ रुपये की राशि की सरकारी हुण्डियों को बेचा था। इसके विपरीत १९४८-५१ ई० के तीन वर्षों में रिजर्व बैंक ने लगभग २०० करोड़ रुपये राशि की हुण्डियों को खरीदा था। नवम्बर १९५६ ई० से रिजर्व बैंक ने मुद्रा बाजार में मुद्रा दुर्लभता की स्थिति का अन्त करने के उद्देश्य से समय-समय पर सरकारी हुण्डियों को खरीदने की नीति को अपनाया था। ऋणपत्रों का प्रत्यक्ष क्रय-विक्रय करने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक अन्तरण क्रियाओं (Switch Operations) के अन्तर्गत अपने निवेशों में सन्तुलन रखने तथा निवेशकर्ताओं की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से समय-समय पर एक श्रेणी की हुण्डियों को बेचकर दूसरी श्रेणी की हुण्डियों को खरीदती तथा बेचती थी। १९५७ ई० से बैंक की नीति में पुन: परिवर्तन हुआ था तथा बैंक ने हुण्डियों को अधिक मात्रा में बेचना प्रारम्भ कर दिया था। १९६० ई० में मुद्रा बाजार में साख मुद्रा की दुर्लभता के कारण बैंक की खुले बाजार की क्रियाएँ अधिक मात्रा में नहीं हो सकी तथा बेचने की अपेक्षाकृत बैंक ने अधिक मात्रा में हुण्डियों को खरीदा था। १९६२ ई० में रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं का उद्देश्य देश में विद्यमान स्फीति की स्थिति को समाप्त करना था। फलस्वरूप १९६२ ई० में रिजर्व बैंक ने १६·७ करोड़ रुपये राशि की हुण्डियों की बिक्री की थी जबकि १९६१ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने ५ करोड़ रुपए की राशि की हुण्डियों की खरीद की थी। १९६३-६४; १९६४-६५; १९६५-६६ तथा १९६६-६७ में रिजर्व बैंक ने अपनी खुले बाजार की क्रियाओं के अन्तर्गत सरकारी हुण्डियों की शुद्ध बिक्री की थी। १९६३-६४ ई० तथा १९६४-६५ ई० में रिजर्व बैंक ने क्रमश: ७२ करोड़ रुपये तथा ६१ करोड़ रुपये की राशि की सरकारी हुण्डियों का शुद्ध विक्रय किया था। १९६५-६६ ई० तथा १९६६-६७ ई० में बैंक ने ४२·३ करोड़ रुपये तथा ५३ करोड़ रुपये की राशि की सरकारी हुण्डियाँ बेची थीं। १९६७-६८; १९६८-६९; १९६९-७० तथा १९७०-७१ ई० में बैंक ने ४५·४ करोड़ रुपये; ५३·४ करोड़ रुपये; ३० करोड़ रुपये तथा ८४·१ करोड़ रुपये राशि की हुण्डियाँ बेची थी।

(स) परिवर्तनीय न्यूनतम आरक्षित अनुपात (Variable Reserve Ratio)

आरम्भ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ४ (१) के अन्तर्गत सभी अनुसूचित बैंकों को अपनी कुल चालू जमाओं तथा मियादी जमाओं का ५ प्रतिशत तथा २ प्रतिशत न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात के रूप में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास नकदी में जमा रखना पड़ता था। १९५६ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का देश में सभी बैंकों पर अधिक नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से इस अधिनियम में संशोधन किया गया।

१९५६ ई० के संशोधन अधिनियम का उद्देश्य इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को अधिक शक्तिशाली बनाना था। १९५६ ई० का संशोधन अधिनियम रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों के न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में परिवर्तन करने की शक्ति प्रदान करता है। अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को अनुसूचित बैंकों की माँग तथा मियादी जमाओं सम्बन्धी न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में क्रमशः ५ प्रतिशत से २० प्रतिशत तक तथा २ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक वृद्धि करने की शक्ति प्राप्त थी।[6] इसके अतिरिक्त परिवर्तनीय आरक्षित अनुपात के यन्त्र को अधिक शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक अपने पास अनुसूचित बैंकों को इनकी अतिरिक्त माँग तथा मियादी जमाओं पर अतिरिक्त नकद आरक्षित रखने के लिये भी आदेश दे सकती थी। परन्तु अनुसूचित बैंकों द्वारा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास जमा किये हुए आरक्षण इन बैंकों की कुल माँग तथा मियादी जमाओं का क्रमशः २० तथा ८ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकते थे।

अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया संशोधित अधिनियम १९६२ ई० के अनुसार जो १५ सितम्बर, १९६२ ई० से लागू हुआ है, न्यूनतम वैधानिक आरक्षित अनुपात को सभी प्रकार की जमाओं पर ३ प्रतिशत कर दिया गया है तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया आवश्यकतानुसार इस अनुपात को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर १५ प्रतिशत तक कर सकती है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने सर्वप्रथम मार्च १९६० ई० में देश में साख मुद्रा प्रसार का अन्त करने के उद्देश्य से साख मुद्रा नियन्त्रण के परिवर्तनीय आरक्षित अनुपात यन्त्र का प्रयोग किया था। ११ मार्च, १९६० ई० से प्रत्येक अनुसूचित बैंक को रिजर्व बैंक के पास इसकी अतिरिक्त माँग तथा मियादी जमाओं की न्यूनतम ३ प्रतिशत निधि के अतिरिक्त २५ प्रतिशत जमा करने का आदेश दिया गया था। तत्पश्चात् इसमें संशोधन किया गया तथा ६ मई १९६० ई० को अनुसूचित बैंकों को उनकी अतिरिक्त माँग तथा मियादी जमाओं पर रिजर्व बैंक के पास निम्न-लिखित प्रकार आरक्षण जमा करने का आदेश दिया गया था।

(i) प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी ११ मार्च, १९६० से लेकर ६ मई, १९६० ई० तक प्राप्त हुई कुल अतिरिक्त माँग तथा मियादी जमाओं को वैधानिक न्यूनतम आरक्षित अनुपात के आधार पर जमा आरक्षण के अतिरिक्त २५ प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास जमा के रूप में रखना आवश्यक था; तथा

(ii) प्रत्येक अनुसूचित बैंक को ६ मई, १९६० ई० के पश्चात प्राप्त अपनी कुल अतिरिक्त माँग तथा मियादी जमाओं का ५० प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास आरक्षण के रूप में जमा रखना आवश्यक था।

(द) **चयनात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण** (Selective Credit Control)

साख मुद्रा नियन्त्रण की उपरोक्त तीन सामान्य अथवा परिमाणात्मक रीतियों के अति-रिक्त साख मुद्रा नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ भी है। जब साख मुद्रा का नियमन किसी

---

6. बैंकिंग नियमन अधिनियम १९४९ ई० के अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों के अतिरिक्त अन्य बैंकों को भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अथवा स्वयं के पास अपनी कुल माँग तथा मियादी जमाओं का २ तथा ५ प्रतिशत नकद आरक्षणों के रूप में रखना पड़ता था। सितम्बर १९६२ ई० में बैंकिंग नियमन अधिनियम की धारा १८ का संशोधन हो जाने से अन-अनुसूचित बैंकों को भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास चालू खाते में अथवा स्वयं के पास अपनी कुल चालू तथा मियादी जमाओं का ३% न्यूनतम वैध निधि अनुपात के रूप में रखना पड़ता है।

विशेष कार्य अथवा अर्थव्यवस्था के किसी विशेष भाग तक ही सीमित होता है तो इस प्रकार का साख मुद्रा नियन्त्रण प्रत्यक्ष अथवा चयनात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण कहलाता है। प्रत्यक्ष साख मुद्रा नियन्त्रण का उद्देश्य देश में आवश्यक आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित तथा अनावश्यक क्रियाओं को हतोत्साहित करना होता है। अनेक विदेशी केन्द्रीय बैंकों के समान भारत में भी १९४९ ई० का बैंकिंग नियमन अधिनियम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को इन रीतियों का प्रयोग करने की शक्ति प्रदान करता है। बैंकिंग नियमन अधिनियम, १९४९ ई० की धारा ३६ (१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को देश में सभी बैंकों को सामान्यत. अथवा किसी विशेष बैंक को व्यक्तिगत प्रकार से किसी विशेष लेनदेन को न करने की चेतावनी देने अथवा करने से रोकने तथा सभी बैंकों को सामान्य सलाह देने की शक्ति प्रदान करती है। समय समय पर गत वर्षों में रिजर्व बैंक अपनी गश्ती चिट्ठियों के द्वारा बैंकों को उनकी उधारदान नीतियों में सामान्य रूप से तथा किसी विशेष वस्तु अथवा हुण्डी की जमानत के आधार पर उधार देने के सम्बन्ध में विशेष रूप से सावधान रहने का आदेश देती रही है। परन्तु १९५६ ई० के मध्य से रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने बैंकिंग नियमन अधिनियम १९४९ ई० के अन्तर्गत प्राप्त हुई निदेश शक्तियों (directive powers) का क्रमबद्ध रूप से उपयोग किया है। १९५५-५६ ई० के व्यस्त समय में जब बैंक ऋणों का प्रयोग सट्टा कार्यों के लिए किया जा रहा था तब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने देश में सब अनुसूचित बैंकों को, उन पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से, कुछ विशेष वस्तुओं की जमानत पर दिए गए अग्रिमों सम्बन्धी अर्धसाप्ताहिक विवरणपत्र प्रस्तुत करने का आदेश दिया था। मई तथा सितम्बर १९५६ ई० के बीच रिजर्व बैंक ने देश में सभी अनुसूचित बैंकों को धान तथा चावल पर अग्रिमों को कम करने तथा छूट-सीमा (Margin) के सम्बन्ध में कई आदेशपत्र जारी किये थे। ३ सितम्बर, १९५६ ई० को जारी किए गये आदेश पत्र के अनुसार चावल तथा धान के अतिरिक्त अनुसूचित बैंकों को अनाज, दाल, चना तथा सूती कपड़े की जमानत पर भी दिये गए अग्रिमों में कमी करने का आदेश दिया गया था। यद्यपि नई फसल को खरीदने के लिए ऋण प्रदान करने के उद्देश्य से नवम्बर १९५६ ई० में धान तथा चावल पर अग्रिम देने के सम्बन्ध मे लगाई गई रोकों को समाप्त कर दिया गया था परन्तु ९ फरवरी, १९५७ ई० को पुनः रोक लगा दी गई थी। सूती कपड़े की जमानत पर अग्रिम देने के सम्बन्ध में जो रोक लगाई गई थी उसको थोड़े समय के पश्चात् हटा दिया गया। जून १९५७ ई० में रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को एक नया आदेश जारी किया था जिसके अनुसार अनाज पर अग्रिम देने के सम्बन्ध में बैंकों के लिए ४० प्रतिशत की न्यूनतम छूट सीमा रखनी आवश्यक थी। इस आदेश के साथ-साथ एक दूसरे जारी किए गये आदेश के अनुसार रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों द्वारा चीनी पर अग्रिम देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। सितम्बर १९५८ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने एक अन्य आदेश जारी किया था जिसके अनुसार गेहूँ तथा अन्य अनाज पर दिए गये अग्रिमों की अधिकतम राशि अगले वर्ष के औसत अग्रिमों की क्रमशः ६६⅔ प्रतिशत तथा ८० प्रतिशत निर्धारित की गई थी। फरवरी १९५९ ई० में जारी किए गये आदेश पत्र के अनुसार मूँगफली पर अग्रिम देने पर अनुसूचित बैंकों को ४५ प्रतिशत की न्यूनतम छूट सीमा रखने का आदेश दिया गया। दिसम्बर १९५९ ई० से अन्य वस्तुओं पर अग्रिम देने पर भी रोक लगा दी गई थी।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की चयनात्मक साख नियन्त्रण क्रियायें १९६० ई० में भी प्रचलित रहीं। शेयर बाजार में सट्टा प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने ११ मार्च, १९६० ई० को एक आदेश पत्र जारी किया था जिसके अनुसार अनुसूचित बैंकों को साधारण अंशों की जमानत ५,००० रुपये से अधिक अग्रिम देने पर ५० प्रतिशत की न्यूनतम छूट सीमा रखने

तथा बैंकों को बदला सौदों के लिए प्रत्यक्ष वित्त सहायता न देने का आदेश दिया गया था। इसके साथ ही खुले अग्रिमों पर भी रोक लगा दी गई थी तथा १९६० ई० में खुले अग्रिमो तथा कुल अग्रिमों का अनुपात १९५९ ई० के अनुपात से अधिक नही हो सकता था। इसके अतिरिक्त प्रचलित चयनात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण नीतियों मे भी कुछ परिवर्तन किए गये थे। केन्द्रीय सरकार की खाद्य क्षेत्र (Food Zones) सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन होने के फलस्वरूप रिजर्व बैंक ने १६ जनवरी, १९६० ई० को एक आदेश पत्र जारी किया था जिसके अनुसार राज्य-अनुसार अग्रिमों की अधिकतम सीमा केवल मध्य प्रदेश तथा आन्ध्र प्रदेश के लिए निर्धारित की गई थी तथा मद्रास व उड़ीसा राज्यों के सम्बन्ध मे यह सीमा समाप्त कर दी गई थी क्योंकि इन दोनों राज्यों का अन्य राज्यों के साथ विलीनीकरण कर दिया गया था। अनुसूचित बैंकों को आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा अन्य राज्यों के सम्बन्ध में चावल तथा धान पर दिए जाने वाले अग्रिमों के सम्बन्ध मे अधिकतम सीमा, जो १९५८ ई० अथवा १९५९ ई० के ऋण से अधिक नहीं हो सकती थी, का पालन करने का आदेश दिया गया था।

देश मे गेहूँ की स्थिति सन्तोषजनक होने तथा PL ४८० समझौते के अन्तर्गत अमरीका से अतिरिक्त गेहूँ प्राप्त होने के आश्वासन के कारण रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने २० अगस्त, १९६० को एक आदेश पत्र जारी किया था। इस आदेशपत्र के अनुसार गेहूँ पर अग्रिम देने के लिए राज्यों का जो दो भागों मे वर्गीकरण किया गया था, उसको समाप्त करके देशानुसार आधार पर अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गई थो। ८ अक्तूबर १९६० ई० को जारी किए गए आदेश-पत्र के अनुसार, पंजाब सरकार की धान प्राप्त करने में सहायता करने के उद्देश्य से, पंजाब के मिलों तथा अनुज्ञप्ति प्राप्त व्यापारियों के लिए धान पर दिये जाने वाले अग्रिमों पर न्यूनतम छूट सीमा को घटा कर २५ प्रतिशत कर दिया गया था। देश में चीनी की पूर्ति में सुधार होने के कारण ९ दिसम्बर, १९६० ई० को व्यापारियों के लिए चीनी पर अग्रिमों की न्यूनतम छूट सीमा को ४५ प्रतिशत से घटाकर २५ प्रतिशत कर दिया गया था। कच्ची जूट तथा जूट की वस्तुओं की कीमत में हुई वृद्धि तथा कच्ची जूट व जूट की वस्तुओ पर अनुसूचित बैंकों के अग्रिमों मे हुई अत्यधिक वृद्धि को ध्यान मे रखते हुये रिजर्व बैंक ने १२ दिसम्बर, १९६० ई० को सब अनुसूचित बैंकों को जूट की वस्तुओं पर अग्रिम देने पर ४० प्रतिशत की न्यूनतम सीमा तथा कच्ची जूट पर अग्रिम देने पर मिलों के लिए २५ प्रतिशत तथा अन्य व्यापारियो के लिए ४० प्रतिशत की न्यूनतम छूट सीमा रखने का आदेश दिया था। इसके अतिरिक्त आदेश के अनुसार जनवरी १९६१ ई० से जूट की बनी वस्तुओं पर औसत कुल साख की मात्रा प्रत्येक दो महीने के समय मे पहले वर्ष मे उसी समय की कुल औसत साख का १३० प्रतिशत से अधिक नही हो सकती थी।

२३ जून, १९६१ ई० को रिजर्व बैंक ने एक आदेश जारी किया था जिसके अनुसार अनुसूचित बैंकों द्वारा जूट की बनी वस्तुओं पर दिये अग्रिमों पर से न्यूनतम छूट सीमा को समाप्त कर दिया गया था। जूट की पूर्ति की अच्छी स्थिति तथा जुलाई व अगस्त में जूट की कीमतों में हुई गिरावट को ध्यान में रखते हुए २९ अगस्त, १९६१ ई० को रिजर्व बैंक द्वारा एक आदेश जारी किया गया था जिसके अनुसार कच्ची जूट तथा जूट की बनी हुई वस्तुओ पर दिए जाने वाले बैंक अग्रिमों पर से सभी प्रतिबन्धों को हटा दिया गया था। ३१ अक्तूबर, १९६१ ई० को जारी किए गए आदेशपत्र के अनुसार पंजाब सरकार के प्रस्ताव पर धान तथा चावल प्राप्त करने के कार्यक्रम को सफल बनाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने धान तथा चावल पर पंजाब की मिलों तथा अनुज्ञप्ति प्राप्त व्यापारियों के लिए बैंक साख पर काफी छूट दे दी थी। १३ जनवरी, १९६२ ई०

के आदेश के अनुसार साधारण अंशों की जमानत पर अग्रिमों पर न्यूनतम छूट सीमा को ५० प्रतिशत से कम करके ४० प्रतिशत कर दिया गया था। देश में धान तथा चावल की पूर्ति सन्तोषजनक होने तथा इन वस्तुओं की कीमतें स्थिर रहने तथा मूँगफली के उत्पादन में वृद्धि होने के कारण रिजर्व बैंक ने एक आदेशानुसार इन वस्तुओं पर मार्च १९६२ ई० में अग्रिमों की सीमा को बढ़ा कर मार्च १९६१ ई० के स्तर का १०५% कर दिया था। १० मई, १९६२ ई० के आदेशपत्र के अनुसार उड़ीसा राज्य में धान तथा चावल की मिलों के पास इन वस्तुओं की बढ़ती हुई पूर्ति को ध्यान में रखते हुए इन वस्तुओं पर बैंक अग्रिमों की सीमा में वृद्धि करदी गई थी।

१९६३ ई० में रिजर्व बैंक ने जनवरी तथा फरवरी में आदेश पत्र जारी किये थे जिनके अनुसार चावल, धान तथा अन्य खाद्य वस्तुओं से सम्बद्ध भण्डारगृह रसीदों की जमानत पर अनुसूचित बैंकों द्वारा किये गये अग्रिमों पर पहले प्रदान की गई छूटों को समाप्त कर दिया गया था तथा इन अग्रिमों पर २५ प्रतिशत की छूट सीमा लागू कर दी गई थी। अप्रैल १९६३ ई० में जारी किये गये आदेश पत्र के अनुसार चीनी पर प्रदान किये गये अग्रिमों पर भी चयनात्मक साख मुद्रा लागू नियन्त्रण कर दिया गया था। १९६३ ई० में शेयरों की जमानत पर अग्रिमों पर से प्रतिबन्धों को हटा लिया गया तथा अब अनुसूचित बैंकों को शेयरों पर दिये जाने वाले अग्रिमों पर ४० प्रतिशत की न्यूनतम छूट सीमा का पालन करना आवश्यक नहीं था। परन्तु बदला सौदों पर वित्त सहायता देने पर प्रतिबन्धों को चालू रखा गया था।

१९६४ ई० तथा १९६५ ई० में चयनात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण को अधिक कड़ा कर दिया गया। मार्च १९६४ ई० में जारी किये गये आदेश के अनुसार मूँगफली पर अग्रिमों के सम्बन्ध में न्यूनतम छूट सीमा को ४५ प्रतिशत से बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया था तथा अधिकतम अग्रिम सीमा को भी, जो फरवरी में समाप्त कर दी गई थी, पुनः लागू कर दिया गया था। अप्रैल १९६४ ई० में जारी किए गए आदेश के अनुसार गेहूँ पर नियन्त्रण, जो मई १९६१ ई० में हटा लिया गया था, पुनः लागू कर दिया गया था। जुलाई १९६४ ई० में अनुसूचित बैंकों द्वारा वनस्पति तेलों पर दिए गए अग्रिमों पर ५० प्रतिशत की न्यूनतम छूट सीमा लागू कर दी गई थी तथा अन्य तेलों पर दिए जाने वाले अग्रिमों पर न्यूनतम छूट सीमा को ४० प्रतिशत से बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया था। अगस्त १९६४ ई० में जारी किए गए आदेश के अनुसार सभी खाद्यान्न पर दिए जाने वाले अग्रिमों पर छूट सीमा को बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया था। इनके अतिरिक्त चावल तथा धान पर नियन्त्रण लागू रहा था। २० नवम्बर, १९६५ ई० को घोषित की गई साख नीति के अनुसार अनुसूचित बैंक किसी एक ऋणी को १ करोड़ रुपए की राशि से अधिक ऋण अथवा अग्रिम देने से वर्जित कर दी गई थीं तथा ऐसा करने के पूर्व ऋणदाता बैंकों के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य था। २२ अप्रैल, १९६६ ई० के आदेशानुसार रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को महाराष्ट्र में धान तथा चावल, ज्वार तथा रागी पर अग्रिम न देने का आदेश दिया था।

सितम्बर, १९६५ ई० में देश पर पाकिस्तान का आक्रमण होने के समय रिजर्व बैंक ने अपनी चयनात्मक साख नियन्त्रण नीति को नरम किया था तथा बैंकों को सीमावर्ती क्षेत्रों में उद्योग तथा वाणिज्य को यथासम्भव ऋण सहायता प्रदान करने की आज्ञा दी गई थी। १२ नवम्बर, १९६५ ई० को पंजाब के ३ सीमावर्ती जिलों में स्थित बैंक शाखाओं के सम्बन्ध में खाद्यान्न पर साख नियन्त्रण को समाप्त कर दिया गया था। ६ जनवरी, १९६६ ई० को देशी बिनोले के तेल पर भी साख नियन्त्रण को समाप्त कर दिया गया था।

रिजर्व बैंक की १९६८ ई० की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार बैंक की चयनात्यक साख नियन्त्रण नीति में समय समय पर स्थिति अनुसार परिवर्तन किए जा रहे थे। गुड़ की कीमत में वृद्धि होने के हेतु इस पर प्रथम बार वाणिज्य बैंकों को अपने अग्रिमों में कमी करने का आदेश दिया गया। देश में खली के उत्पादन तथा निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से तेल निकालने वाली अधिक कुशल मिलों को अग्रिमों सम्बन्धी कुछ छूट दी गई। १९६७-६८ ई० मूँगफली की फसल अच्छी होने के कारण मूँगफली तथा वनस्पति तेल पर दिये जाने वाले अग्रिमों की राशि में वृद्धि कर दी गई। रूई की पूर्ति की स्थिति में सुधार होने तथा रूई के विपणन में अन्तक्षेत्रीय असमानताओं को ध्यान में रखते हुए रिजर्व बैंक ने रूई तथा कपास पर वाणिज्य बैंकों द्वारा दिए जाने वाले अग्रिमों की अधिकतम राशि तथा सीमा पुनः निर्धारित की थी। अग्रिमों की अधिकतम राशि आधार मास की ८५ प्रतिशत तथा छूट सीमा (margin) मिलों के लिए २५ प्रतिशत तथा अन्यों के लिए ३५ प्रतिशत निर्धारित की गई। वाणिज्य को अग्रिमों पर बैंक ने सीमा को सामान्य रूप से कम करके इसे सभी के लिए २५ प्रतिशत कर दिया गया। १९६७-६८ ई० में भी रिजर्व बैंक की नीति अन्य वर्षों के समान स्थिति सापेक्ष थी। १९६९-७० ई० तथा १९७०-७१ ई० में भी रिजर्व बैंक ने व्यक्तिगत वस्तुओं सम्बन्धी अपनी चयनात्मक साख नियंत्रण नीति में स्थितिनुसार संशोधन करके वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखने का प्रयास किया था।

(घ) **समझाना** (Moral Suasion)

साख मुद्रा नियंत्रण के उपरोक्त वर्णित प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष यन्त्रों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने समझाने की रीति का प्रयोग करके भी साख मुद्रा नियमन के कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है। सितम्बर १९४९ ई० में भारतीय रुपए के अवमूल्यन के पश्चात् रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के गवर्नर ने देश के प्रमुख बैंकों के प्रतिनिधियों को एक सभा में आमंत्रित किया था जहाँ गवर्नर ने अनुसूचित बैंकों के आमंत्रित प्रतिनिधियों से सट्टा अथवा फाटका क्रियाओं के लिए अग्रिम न देने तथा रिजर्व बैंक को सहयोग देने का अनुरोध किया था। इसके अतिरिक्त जून १९५७ ई० में रिजर्व बैंक के गवर्नर ने देश में सभी वाणिज्य बैंकों को गश्ती चिट्ठी के द्वारा अपने अग्रिमो में कमी करने का सुझाव दिया था। इसके पश्चात् जुलाई १९५७ ई० में फिर देश के प्रमुख बैंकों के प्रतिनिधियों को सम्मेलन में आमंत्रित किया गया जहाँ पर रिजर्व बैंक के गवर्नर ने सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्यों से अग्रिमों में, जो उस समय ९३७ करोड़ रुपए राशि के चिंताजनक स्तर को प्राप्त कर चुके थे, काफी कमी करने का अनुरोध किया था। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने यह आशा व्यक्त की थी कि बैंकों के सहयोग द्वारा अग्रिमों की मात्रा घट कर ८०० करोड़ रुपये हो जावेगी। १५ जून, १९५९ ई० तथा ८ मई, १९६० ई० को पत्रों द्वारा रिजर्व बैंक के गवर्नर ने सभी अनुसूचित बैंकों से साख मुद्रा में कमी करने की आवश्यकता पर जोर दिया था तथा उनसे रिजर्व बैंक के साथ बैंक साख को कम करने के कठिन कार्य में सहयोग देने का अनुरोध किया था। दिसम्बर १९६१ ई० में फिर एक गश्ती चिट्ठी के द्वारा रिजर्व बैंक के गवर्नर ने अनुसूचित बैंकों से अपने कोषों में वृद्धि करने का अनुरोध किया था। रिजर्व बैंक को साधारणतया अपनी पुनर्न्यायार्थनाओं में सफलता प्राप्त हुई है।

साख मुद्रा नियन्त्रण के उपरोक्त यन्त्रों के अतिरिक्त बैंकिंग नियमन अधिनियम १९४९ ई० के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को व्यापक प्रशासकीय तथा बैंकों के खातों का निरीक्षण करने, अनुज्ञापत्रों को प्रदान तथा रद्द करने, बैंकों को एकीकरण का आदेश देने तथा कमजोर बैकों को बन्द करने का आदेश देने की नियमन शक्तियाँ प्राप्त हैं तथा रिजर्व बैंक ने गत वर्षों में समय-समय पर इन शक्तियों का उचित उपयोग किया है।

३. सरकारी बैंकर

देश में मुद्रा प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त होने तथा साख मुद्रा का नियमन करने की शक्तियाँ प्राप्त होने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के प्रति बैंकर का कार्य भी करती है। यह सरकार को आर्थिक तथा मौद्रिक नीतियों सम्बन्धी मामलों में परामर्श भी देती है। सरकारी बैंकर होने के नाते रिजर्व बैंक का कार्य सरकारी ऋणपत्र बाजार में सरकार की उधार तथा भुगतान नीतियों को सफल बनाना होता है। यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की ओर से कर्जो को चालू करती है तथा उनको कर्जों की राशि तथा कर्जों को चालू करने के समय सम्बन्धी परामर्श भी देती है। यह सार्वजनिक ऋण का प्रबन्धन करती है। रिजर्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार की ओर से टेण्डर द्वारा साप्ताहिक नीलाम में राजकोष पत्रों को बेचती है। रिजर्व बैंक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को अल्पावधि ऋण भी देती है जिनका भुगतान ऋण देने की तारीख से तीन महीने के भीतर किया जाता है। सरकार बहुधा नये कर्जो को चालू करने, धन के निवेश, कृषिसाख, औद्योगिक वित्त तथा नियोजन व आर्थिक विकास सम्बन्धी वित्त समस्याओं आदि विषयों पर रिजर्व बैंक से परामर्श प्राप्त करती है।

४. मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य को स्थिर रखना

रिजर्व बैंक रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर रखती है। रुपए के विनिमय मूल्य को निर्धारित दर पर स्थिर बनाये रखने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार निर्धारित विनिमय दर पर विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करती है।

५. बैंकों की बैंक

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में अन्य बैंकों के प्रति बैंक का कार्य करती है। बैंको की बैंक के रूप में रिजर्व बैंक अन्य बैंकों के प्रति वे सब कार्य करती है जो कोई बैंक अपने ग्राहकों के प्रति करती है, अर्थात् यह बैंकों से जमा स्वीकार करती है, उनको कर्ज देती है, उनके प्रति शोधन-गृह का कार्य करती है तथा वित्तिय संकट के समय उनको अन्तिम ऋणदाता के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करती है। यह बैंकों को कठिनाई के समय में परामर्श भी देती है।

रिजर्व बैंक तथा औद्योगिक वित्त

देश में तीव्र औद्योगिक विकास को सम्भव बनाने के हेतु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया गत कुछ वर्षों से औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में प्रशंसाजनक कार्य कर रही है। देश में हुण्डी बाजार योजना को चालू करके, औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों की आंशिक पूँजी के भाग को खरीदकर, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की प्रारम्भिक पूँजी के ५० प्रतिशत भाग को खरीदकर तथा औद्योगिक विकास बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के द्वारा रिजर्व बैंक देश में उद्योगों को काफी अधिक मात्रा में वित्तीय सहायता दे रही है। इन सभी संस्थाओं का उद्देश्य देश में औद्योगिक वित्त व्यवस्था को दृढ़ बनाकर देश का औद्योगीकरण करना है। औद्योगिक विकास बैंक ऑफ इण्डिया, जिसकी अधिकृत पूँजी ५० करोड़ रुपये तथा जारी पूँजी १० करोड़ रुपये है तथा जिसकी स्थापना १ जुलाई, १९६४ ई० को हुई थी पूर्णतया रिजर्व बैंक की सहायक है। औद्योगिक विकास बैंक का उद्देश्य लोक तथा निजी क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। प्रथम जुलाई, १९६४ ई० से लेकर ३० जून, १९७१ ई० तक औद्योगिक विकास बैंक ने देश

में औद्योगिक इकाइयों की स्थापना तथा विकास के लिए ४६६ करोड़ रुपये राशि की वित्तीय सहायता की स्वीकृति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने उद्योगों को दीर्घावधि वित्तिय सहायता देने के हेतु एक राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घावधि कार्य) कोष १ जुलाई, १९६४ ई० से स्थापित किया है तथा अपने आरम्भिक अंशदान के रूप में रिजर्व बैंक ने १० करोड़ रुपये राशि का चन्दा दिया था। इस कोष का उपयोग रिजर्व बैंक औद्योगिक विकास बैंक द्वारा जारी किये गये बांडों तथा डिबेन्चरों को खरीदने तथा औद्योगिक विकास बैंक को अन्य वित्तीय संस्थाओं के शेयर, बांड तथा डिबेन्चर खरीदने के लिये ऋण देने के लिए कर सकती है। ३० जून, १९७१ ई० तक इस कोष की धन राशि १३५ करोड़ रुपए थी तथा इस राशि में से औद्योगिक विकास बैंक को ५५ करोड़ रुपये की राशि ऋणों के रूप में दी गई थी। लघु उद्योगों को सहायता प्रदान करने के हेतु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने सरकार की ओर से एक गारण्टी योजना चालू कर रखी है जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक एक अधिकतम निर्धारित राशि तक अन्य बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों के भुगतानों की गारण्टी करती है। यह योजना १९६० ई० में चालू की गई थी। यह योजना लघु उद्योगों की चालू पूँजी अथवा स्थिर परिसम्पत्ति तथा कच्चे माल के लिए दिये गये प्रत्येक ऋण, ओवरड्राफ्ट, माँग तथा मियादी ऋण पर लागू होती है। यह योजना एपेक्स सहकारी बैंकों (Apex Co-operative Banks) द्वारा लघु उद्योगों[7] को दिये गये सभी प्रकार के अग्रिमों पर लागू होती है। १९७०-७१ ई० तक इस योजना के अन्तर्गत ७९१ करोड़ रुपये की राशि के ऋणों के सम्बन्ध में गारन्टी दी गई थी। इसके अतिरिक्त १९६४ ई० के आरम्भ में यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना करने में भी रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। मई १९७१ ई० के अन्त तक यूनिट ट्रस्ट ने कुल १०५.१४ करोड़ रुपए की राशि के निवेश विभिन्न प्रकार के औद्योगिक अंशों में किये थे।

रिजर्व बैंक तथा कृषि वित्त

देश में कृषि के विकास के लिए सभी सम्भव सहायता देने के उद्देश्य से १९३५ ई० में आरम्भ से ही रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में एक कृषि साख विभाग को स्थापित किया गया था। कृषि को वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को कृषि हुण्डियों की जमानत पर १५ महीने तक के लिए बैंक दर से भी कम ब्याज की दर पर ऋण देती है। मौसमी कृषि क्रियाओं के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करने के हेतु रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को बैंक दर से २ प्रतिशत नीची ब्याज की दर पर १९७०-७१ ई० में ३९०·११ करोड़ रुपए की राशि की स्वीकृति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने १९७०-७१ ई० में १८·७६ करोड़ रुपये की राशि के राज्य सहकारी बैंकों को मध्यावधि ऋण भी प्रदान किये थे। यद्यपि गत कुछ वर्षों में रिजर्व बैंक द्वारा कृषि विकास कार्य के लिए सहकारी संस्थाओं के माध्यम द्वारा दी गई वित्तीय सहायता में काफी अधिक वृद्धि हुई है परन्तु व्यापक ग्रामीण ऋण समस्या को ध्यान में रखते हुए अभी भी यह पर्याप्त नहीं है।

रिजर्व बैंक की कृषि नीति के सम्बन्ध में दो बातें मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, अब तक रिजर्व बैंक ने कृषि को अधिकांशतः अल्पकालीन ऋण सहायता प्रदान की है। वैधानिक रूप से मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त सहायता रिजर्व बैंक के कार्य क्षेत्र से बाहर है। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से भूमिबन्धक बैंकों के ऋणपत्रों को खरीदकर (जिनका भुगतान राज्य

---

7. लघु उद्योग उन औद्योगिक इकाइयों को कहते हैं जिनकी पूँजी निवेश राशि ७·५ लाख रुपए अथवा इससे कम है।

सरकारों द्वारा गारण्टी किया गया है) रिजर्व बैंक कृषि को दीर्घकालीन वित्त सहायता प्रदान कर रही है। दूसरे, अब तक केवल मद्रास, आंध्र प्रदेश, मैसूर, गुजरात तथा बम्बई के पांच राज्यों ने, जहाँ सहकारी आन्दोलन का अधिक विकास हुआ है, रिजर्व बैंक की सुविधाओं का अधिकतम उपयोग किया है।

१९५४ ई० मे रिजर्व बैंक ने देश में अनुज्ञप्तियुक्त भंडारगृहों को स्थापित करने की एक योजना बनाई थी जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक कृषि को अधिक वित्त सहायता प्रदान करती है। मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा अन्य राज्यों में इस सम्बन्ध में आवश्यक कानून बनाकर माल गोदाम बनाये गये है। इन माल गोदामों में किसान अपनी उपज को रखकर रसीद प्राप्त कर लेते हैं। इस रसीद की जमानत पर किसानों को स्टैट बैंक ऑफ इण्डिया की शाखा से नियमानुसार अग्रिम प्राप्त हो जाते है। इससे किसानों को अपनी उपज को फौरन ही कम कीमतों पर बेचने के लिए विवश नही होना पड़ता है। माल गोदामों में उपज को रखकर किसान अपनी उपज को बेचे बिना वित्त प्राप्त कर लेते है तथा भविष्य में होने वाली कीमत वृद्धि का लाभ प्राप्त कर सकते है। योजना को सफल बनाने के उद्देश्य से एक केन्द्रीय भंडारगृह मंडल (Central Warehousing Board) तथा सभी राज्यों मे राज्य भंडारगृह मंडल (State Warehousing Board) स्थापित किये गये हैं। १९७१ ई० में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने भंडारगृह रसीदों की जमानत पर १.९ करोड़ रुपये की राशि के अग्रिम प्रदान किये थे।

गत वर्षो में कृषि साख के क्षेत्र में और भी अन्य महत्वपूर्ण सुधार हुए है। अगस्त १९५१ ई० में रिजर्व बैंक ने श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Commitee) की ग्रामीण साख का सर्वेक्षण करने तथा इसमें सुधार सम्बन्धी सुझाव देने के उद्देश्य से नियुक्ति की थी। समिति ने अपनी रिपोर्ट में कृषि साख की स्थिति में सुधार करने के लिए अनेक सुझाव दिये थे। केन्द्रीय सरकार ने समिति की लगभग सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया था। अन्य सिफारिशों के अतिरिक्त समिति ने यह सिफारिश भी की थी कि देश में दीर्घकालीन कृषि साख समस्या का समाधान करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष [National Agricultural Credit (Long Term Operations) Fund] तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] की स्थापना करनी चाहिए तथा प्रथम कोष का आरम्भ ५ करोड़ रुपए तथा दूसरे कोष का आरम्भ १ करोड़ रुपए राशि के पूँजी साधनों से होना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँच वर्ष तक रिजर्व बैंक को प्रतिवर्ष प्रथम कोष मे ५ करोड़ रुपए तथा दूसरे कोष में १ करोड़ रुपये की राशि को अपने वार्षिक लाभ में से जमा करना चाहिए। समिति ने सिफारिश की थी कि राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घावधि कार्य) कोष में से रिजर्व बैंक को राज्य सरकारों को सहकारी साख संस्थाओं की अंश पूँजी (share capital) में हिस्सा प्राप्त करने के लिए दीर्घकालीन ऋण तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष में से राज्य सहकारी बैंकों को अल्प तथा मध्यकालीन ऋण देने के लिए ऋण देने चाहिए। समिति की सिफारशों को स्वीकार करते हुए रिजर्व बैंक ने इन दोनों राष्ट्रीय कोषों को स्थापित किया है। इन दोनों राष्ट्रीय कोषों को क्रमशः फरवरी तथा जून १९५६ ई० में स्थापित किया था। ३० जून, १९७१ ई० तक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घावधि कार्य) कोष में १९० करोड़ रुपये की पूँजी राशि थी तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष में ३९ करोड़ रुपये की पूँजी राशि थी। ३० जून, १९७१ ई० तक रिजर्व बैंक ने राज्य सरकारों तथा राज्य सहकारी बैंकों को क्रमशः ४२.०३ करोड़ रुपये तथा २४·३१ करोड़ रुपये राशि के ऋण राष्ट्रीय

कृषि साख (दीर्घावधि कार्य) कोष में से प्रदान किये थे । राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष में से रिजर्व बैंक ने ३० जून, १९७१ ई० तक १३·६६ करोड़ रुपये की राशि के ऋण राज्य सहकारी बैंकों को प्रदान किये थे । इसके अतिरिक्त प्रथम जुलाई, १९६३ ई० से रिजर्व बैंक ने कृषि पुन: वित्त निगम (Agricultural Refinance Corporation) की स्थापना की है । कृषि पुनर्वित्त निगम का उद्देश्य कृषि विकास योजनाओं के लिए वित्तीय संस्थाओं के द्वारा दी गई ऋण सहायता का पुनर्वित्तिकरण करके कृषि विकास के लिए ३ वर्ष से लेकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिए मध्यावधि ऋण तथा १५ वर्ष की अवधि के लिए दीर्घावधि ऋण सहायता प्रदान करना है । ३० जून, १९७१ ई० तक ८ वर्ष की अवधि में निगम ने देश के विभिन्न भागों में स्थित ४५८ कृषि विकास योजनाओं के लिए २९३ करोड़ रुपए की राशि की वित्तीय सहायता प्रदान की थी ।

उपरोक्त योजनाओं के अन्तर्गत कृषि को वित्त सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने फोर्ड संस्थान कृषि टोली की सिफारिशों के अनुसार कृषि साख सम्बन्धी नई योजना चालू की है । यह योजना पैकेज योजना (Package Scheme) कहलाती है । इस कार्यक्रम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने आरम्भ में सात राज्यों के सात जिलों में किसानों की बीज, खाद, खेती के यन्त्रों तथा कृषिहत्या सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की थी । आरम्भ में यह योजना प्रयोग के रूप में उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश तथा मद्रास राज्यों के केवल एक स्वीकृत जिले में चालू की गई थी । अब इस योजना को देश के अन्य राज्यों में भी चालू किया गया है । यह योजना काफी सफल सिद्ध हुई है तथा योजना के कारण स्वीकृति जिलों में कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है । संक्षेप में, गत वर्षों में रिजर्व बैंक ने कृषि वित्त के क्षेत्र में प्रशंसा-जनक कार्य किया है । रिजर्व बैंक अब अन्य विदेशी केन्द्रीय बैंकों के समान देश के आर्थिक विकास कार्य में काफी अधिक मात्रा में सक्रिय योगदान प्रदान कर रही है ।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में वाणिज्य तथा सहकारी बैंकों के अधिकारियों को अपने कर्मचारी कालेज में बैंकिंग कार्यों सम्बन्धी प्रशिक्षण भी प्रदान करती है । वाणिज्य बैंकों के प्रबन्धक अधिकारियों को कृषि वित्त के क्षेत्र में प्रशिक्षण प्रदान करने के हेतु १९७०-७१ में बैंक द्वारा बम्बई में स्थापित Bankers' Training College में आठ कोर्स आयोजित किये गये थे । १९५४ ई० में स्थापना के समय से लेकर ३० जून, १९७१ ई० तक इस कालेज द्वारा आयोजित विभिन्न कोर्सों द्वारा वाणिज्य बैंकों के ४,४४७ अधिकारी प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं ।

अध्ययन सूची

1. Reserve Bank of India : (1) Annual Reports of Central Board of Directors
   (2) Functions and Working.
   (3) Reports on Currency and Finance.
   (4) Monthly Bulletins
2. K. N. Raj : Monetary Policy of the Reserve Bank of India.
3. Bhatser and Sheo Kessan : The Reserve Bank of In and Functions.

प्रश्न

1. Evaluate the working of the Reserve Bank of India since 1949.
2. 'The relationship between the central bank and the whole organisation of agricultural credit raises difficult problems'.

   In the light of your discussion, examine the steps taken by the Reserve Bank of India in this sphere.
3. What do you consider to be the position of the Reserve Bank of India as a true central bank ?
4. Discuss the steps taken by the Reserve Bank of India to establish a bill market in India. How far has this scheme been successful ?

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया
(State Bank of India)

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना १ जुलाई, १९५५ ई० को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके की गई थी। यह बैंक अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति, जिसकी स्थापना रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा अगस्त १९५१ ई० में देश में ग्रामीण साख की स्थिति की जाँच करने तथा उसमें सुधार करने सम्बन्धी सुझाव देने के उद्देश्य से की गई थी, की सिफारिशों का परिणाम हैं। देश में ग्रामीण साख अवस्था मे सुधार करने तथा देश में व्यापार तथा उद्योग के विकास के लिए अधिक प्रेषण सुविधायें प्रदान करने के उद्देश्य से समिति ने अपनी रिपोर्ट में देश में एक ऐसी शक्तिशाली सरकारी बैंक स्थापित करने की सिफारिश की थी जिसकी शाखायें सारे देश में होनी चाहिये। समिति ने सुझाव दिया था कि ऐसी बैंक की स्थापना पुरानी इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य राजकीय बैंकों का एकीकरण करके की जा सकती थी। फलस्वरूप स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, १९५५ ई० के अन्तर्गत इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की समस्त परिसम्पत्ति तथा देयताओं को प्राप्त करके इसके स्थान पर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण किया गया।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की अधिकृत पूँजी बीस करोड़ रुपये हैं जो १०० रुपये मूल्य के २०,००,००० अंशों में विभाजित है। बैंक की जारी, स्वीकृत तथा चुकती पूँजी ५·६२५ करोड़ रुपये है जो १०० रुपये के मूल्य के ५,६२,५०० पूर्णतया चुकती अंशो मे विभाजित है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को स्टेट बैंक के ९२ प्रतिशत अंश प्राप्त है। शेष ८ प्रतिशत अंश व्यक्तिगत अंशधारियों को प्राप्त है।

बैंक का प्रबन्धन

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का प्रबन्धन २० सदस्यों के एक केन्द्रीय संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। संचालक मण्डल में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष तथा एक प्रबन्धक संचालक होता है। इनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की अनुमति से करती है। केन्द्रीय संचालक मण्डल के ७ संचालक रिजर्व बैंक के अतिरिक्त, अन्य अंशधारियों द्वारा निर्वाचित

किये जाते हैं। संचालक मंडल के ७ सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा रिजर्व बैंक की सलाह से मनोनीत किये जाते हैं। ये संचालक देश के आर्थिक तथा प्रादेशिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य संचालक केन्द्रीय सरकार मनोनीत किया जाता है। इनके अतिरिक्त एक संचालक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा मनोनीत किया जाता है।

केन्द्रीय संचालक मण्डल के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा प्रबन्धक संचालक की कार्य अवधि, जो पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती है, केन्द्रीय सरकार द्वारा इनकी नियुक्त के समय निश्चित की जाती है। कार्य अवधि काल की समाप्ति पर इनकी पुनः नियुक्ति की जा सकती है। वे संचालक जो अंशधारियों द्वारा निर्वाचित किये जाते है तथा वे संचालक जिनका मनोनयन प्रादेशिक तथा आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है उनके कार्यकाल की अवधि चार वर्ष होती है। इनका पुनः निर्वाचन तथा मनोनयन किया जा सकता है। अन्य मनोनीत संचालकों की कार्य अवधि मनोनयन प्राधकारी की इच्छा पर निर्भर होती है।

जिन स्थानों[1] पर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के स्थानीय प्रधान कार्यालय स्थित हैं वहाँ पर उस क्षेत्र तथा कार्यालय के कार्य के निर्देशन के लिए स्थानीय संचालक मंडल होता है। केन्द्रीय संचालक मण्डल का अध्यक्ष इन स्थानीय संचालक मण्डलों का अध्यक्ष भी होता है। अध्यक्ष के अतिरिक्त स्थानीय संचालक मण्डल का एक सभापति तथा एक उपसभापति होता है। इनके अतिरिक्त एक मंत्री तथा कोषाध्यक्ष भी होता है। केन्द्रीय संचालक मण्डल के वे सभी संचालक जो अंशधारियों द्वारा निर्वाचित तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा आर्थिक व पादेशिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मनोनीत किए जाते है तथा जो स्थानीय प्रधान कार्यालय के सीमा क्षेत्र में साधारण रूप से रहते हैं, स्थानीय मण्डल के सदस्य होते हैं। इन संचालकों की संख्या चार से अधिक नहीं हो सकती है। स्थानीय संचालक मण्डल केन्द्रीय संचालक मण्डल से आदेश प्राप्त करता है। कोई भी सरकारी कर्मचारी तथा वह व्यक्ति जो किसी अन्य बैंक का संचालक अथवा प्रबन्धक है स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के केन्द्रीय संचालक मण्डल अथवा स्थानीय संचालक मण्डल का सदस्य नहीं बन सकता है।

बैंक के कार्य

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया उद्योग तथा वाणिज्य को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के समान साख सुविधाएँ प्रदान करती है। स्टेट बैंक का मुख्य कार्य ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे मण्डी कस्बों में नई शाखाएँ स्थापित करके देश में बैंकिंग का सन्तुलित विकास करना है। इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के हेतु स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने ३१ दिसम्बर, १९६८ ई० तक अपने जीवन के १३ वर्ष ६ मास के अल्प समय में देश में विभिन्न स्थानों पर १०४८ नई शाखाएँ खोल कर देश में बैंकिंग के विकास में एक महत्वपूर्ण भाग लिया है तथा देश में संगठित बैंकिंग प्रणाली के सन्तुलित विकास को सम्भव बनाया है। इसके अतिरिक्त बैंक का कार्य अधिक प्रेषण सुविधाएँ प्रदान करना तथा ग्रामीण क्षेत्रो में बचत को गतिशीलता प्रदान करना है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के सहयोग के साथ ग्रामीण साख सम्बन्धी सहायता प्रदान करना भी बैंक का एक प्रमुख कार्य है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अभिकर्ता का कार्य भी करती है।

1. स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के स्थानीय प्रधान कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नई देहली, कानपुर, अहमदाबाद तथा हैदराबाद में स्थित हैं।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, १९५५ ई० के अनुसार स्टेट बैंक को निम्नलिखित कार्यों को करने का अधिकार प्राप्त है।

(१) उन सभी स्थानों पर जहाँ स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की शाखायें हैं परन्तु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के बैंकिंग विभाग की शाखायें नहीं है, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अभिकर्ता का कार्य करना तथा भारत सरकार की ओर से रुपया, स्वर्ण तथा प्रतिभूतियाँ देना, लेना तथा अन्य भुगतान करना। इसके अतिरिक्त समय समय पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के आदेशानुसार अन्य कार्य भी करना।

(२) माल, सीमित देयता वाली कम्पनियों के अंशों तथा ऋणपत्रों, नगर पालिकाओं तथा जिला बोर्डों के डिबेंचरों तथा कम्पनियों के पूर्णतया प्राप्त अंशों की जमानत के आधार पर ऋण प्रदान करना।

(३) हुण्डियों तथा अन्य बेचनीय उधार प्रपत्रों को स्वीकार करना, बट्टा करना, बनाना बेचना, खरीदना इत्यादि।

(४) बैंक की पूँजी की सरकारी ऋणपत्रों, अंशों, डिबेंचरों इत्यादि में निवेश करना।

(५) सोना तथा चाँदी बेचना तथा खरीदना।

(६) सभी प्रकार के बॉण्डों, प्रमाणपत्रों तथा स्वत्वाधिकार पत्रों (Title Deeds) को जमा के रूप में तथा सुरक्षित रखने के लिए स्वीकार करना।

(७) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम के अनुसार किसी भी पंजीकृत सहकारी बैंक के अभिकर्ता का कार्य करना।

(८) हुण्डियों का बनाना तथा भारत से बाहर भुगतान होने वाले साखपत्रों को प्रदान करना।

(९) पूँजी, अंशों तथा डिबैंचर आदि की हामी (underwrite) करना।

(१०) बैंक के साधारण कार्य को चलाने के लिए रुपया उधार लेना तथा इस प्रकार से ऋण प्राप्त करने के लिए बैंक की परिसम्पत्ति को आड़ करना।

(११) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की अनुमति से बैंकिंग कम्पनियों की पूँजी में हिस्सा प्राप्त करना तथा इनके अंशों को खरीदना।

(१२) जमा के रूप में नकदी प्राप्त करना तथा नकद लेखे खोलना।

(१३) समय समय पर निवृत्ति-वेतन कोषों को अर्थ-सहायता से पोषित करना।

(१४) किसी भी उस अन्य कार्य को करना जिसकी आज्ञा केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा बैंक का केन्द्रीय संचालक मण्डल प्रदान करे।

(१५) भारत के बाहर भुगतान होने वाली उन मुद्दती हुण्डियों को खरीदना जिनकी मुद्दत कृषि सम्बन्धी हुण्डियों के विषय में १५ मास तथा अन्य हुण्डियों के विषय में ६ मास से अधिक नहीं है।

(१६) अन्य उन सभी कार्यों को करना जो स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम तथा किसी अन्य अधिनियम के अनुसार करना आवश्यक है।

(१७) अन्य उन कार्यों को करना जो मुख्य कार्यों को करने के लिए आवश्यक हैं तथा जो मुख्य कार्यों के सहायक हैं।

वर्जित कार्य

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, १९५५ ई० की धारा ३४ के अनुसार स्टेट बैंक अपने अंशों तथा अचल सम्पत्ति की जमानत के आधार पर ६ महीने से अधिक की अवधि के लिए ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकती है। बैंक किसी भी ऐसे विनिमय साध्य साखपत्र (Negotiable Instrument) को जिसकी अवधि १५ महीने से अधिक है बट्टा अथवा खरीद नहीं कर सकती है तथा ऐसे साखपत्रों की जमानत पर ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकती है।

बैंक की कार्य नीति

इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के समान स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का कार्य वाणिज्य बैंकों के समान है। परन्तु अन्य वाणिज्य बैंकों तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में प्रमुख अन्तर यह है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का प्रमुख उद्देश्य देश में, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग का विकास करना तथा देशवासियों में, विशेष रूप से ग्रामीण जनता में ग्रामीण क्षेत्रों मे नई शाखाएँ खोलकर बचत करने की आदत को प्रोत्साहन प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त सहकारी संस्थाओं को वित्त सहायता प्रदान करना तथा लघु उद्योगों को ऋण प्रदान करना भी बैंक के आवश्यक कार्य हैं। बैंक को दिन प्रतिदिन के कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है तथा केन्द्रीय सरकार बैंक की साधारण नीति सम्बन्धी मामलों में कोई हस्तक्षेप नही करती है।

बैंक की प्रगति

१ जुलाई, १९५५ ई० से लेकर १९७१ ई० के अन्त तक १५ वर्ष के अल्प समय में बैंक ने सभी क्षेत्रों मे सन्तोषजनक प्रगति की है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने, जिसकी सिफारिशों का स्वयं स्टेट बैंक परिणाम है, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के लिये प्रथम पाँच वर्ष की अवधि में ४०० नई शाखाएँ खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया था। इस विषय में बैंक का कार्य प्रशंसनीय रहा है क्योंकि समय से पूर्व १ जून, १९६० ई० को बैंक ने ४०० वीं शाखा उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिला मे काँधला नामक कस्बे में स्थापित करके समिति के लक्ष्य को पूरा कर दिया था। वास्तव में अपने प्रथम शाखा विस्तार कार्यक्रम के पाँच वर्ष की अल्प अवधि (१-७-५५ ई० से लेकर ३०-६-१९६० ई० तक) में स्टेट बैंक ने देश के विभिन्न भागों में, विशेष रूप से उन स्थानों पर जहाँ पहले किसी प्रकार की बैंकिंग सुविधायें प्राप्त नहीं थीं, ४१६ नई शाखायें स्थापित करके देश में बैंकिंग का सन्तुलित विकास करने में भारी योगदान प्रदान किया है। यह बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण है कि इन ४०० नई शाखाओं मे केवल २४ को छोड़ कर शेष ३७६ शाखायें ५०,००० से कम जनसंख्या वाले नगरों में खोली गई थीं। इनमें से ९० शाखायें २५ हजार से लेकर ५० हजार तक की जनसंख्या वाले स्थानों पर; २०९ शाखायें १० हजार से लेकर २५ हजार तक की जनसंख्या वाले स्थानों पर तथा शेष ७७ शाखायें १० हजार से कम जनसंख्या वाले स्थानों पर स्थापित की गई थीं। जिन स्थानों पर नई शाखायें स्थापित की गई थीं, उनमें से ६४ स्थानों पर शाखायें स्थापित करने के पूर्व किसी प्रकार की बैंकिंग सुविधा प्राप्त नहीं थी। बैंक की लगभग ५० शाखायें उन स्थानों पर स्थापित की गई थी जहाँ पर २० मील के घेरे में कोई बैंकिंग सुविधा उपलब्ध नहीं थी। संक्षेप में, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का नई शाखायें स्थापित करने का कार्यक्रम देश के ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान करने की नीति के अनुसार है।

बैंक के प्रथम शाखा विस्तारण कार्यक्रम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने प्रथम जुलाई, १९५५ ई० से ३० जून १९६० ई० तक पाँच वर्ष के काल में ४५२ केन्द्रों पर शाखायें स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया था। बैंक ने पहली जुलाई, १९५५ से लेकर ३० जून १९६० ई० तक ४१६ नई शाखायें स्थापित की थीं। इस प्रकार शेष ३६ को बैंक के द्वितीय शाखा विस्तार कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया था। जुलाई १९६० ई० में बैंक ने स्वर्गीय प्रोफेसर डी० जी० कर्वे की अध्यक्षता में एक उपसमिति बैंक को इसकी भविष्य शाखा विस्तार नीति सम्बन्धी सुझाव देने के उद्देश्य से नियुक्त की थी। उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट मई १९६१ ई० मे प्रस्तुत की थी। अपनी रिपोर्ट में समिति ने स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंकों को द्वितीय पंचवर्षीय शाखा विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत केवल ३०० नई शाखायें खोलने का सुझाव दिया था। समिति ने यह सुझाव दिया था कि नई शाखाओं की कार्य-स्थिति को दृढ़ बनाने के हित में द्वितीय पंच-वर्षीय कार्यक्रम की अवधि के प्रथम दो वर्षों में नई शाखायें खोलने का कार्यक्रम धीमा रखा जाना चाहिए। द्वितीय शाखा विस्तारण कार्यक्रम के अनुसार स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की सहायक बैंकों को १५५ तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को १४५ नई शाखायें १ जुलाई, १९६० ई० से लेकर ३० जून, १९६५ ई० तक खोलनी थीं। तत्पश्चात यह निर्णय किया गया था कि इस ५ वर्ष की अवधि में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को १४५ के स्थान पर १५४ नई शाखायें खोलनी चाहिए। तत्पश्चात् द्वितीय शाखा विस्तार कार्यक्रम की अवधि को बढ़ा कर दिसम्बर १९६८ ई० तक कर दिया गया था तथा स्टेट बैंक के लिये शाखाओं की निर्धारित संख्या १५४ से बढ़ा कर १६५ कर दी गई थी।

१९७१ ई० के अन्त में बैंक के कार्यालयों की कुल संख्या २,४७७ थी। जनसंख्या के आधार पर देश में इन कार्यालयों का वितरण निम्नलिखित प्रकार था।

जनसंख्या	कार्यालयों की संख्या	कुल संख्या प्रतिशत
१० लाख तथा अधिक	१७८	७
५ लाख से लेकर १० लाख से कम तक	६२	३
१ लाख से लेकर ५ लाख से कम तक	२७१	११
५०,००० से लेकर १ लाख से कम तक	१६०	७
२५,००० से लेकर ५०,००० से कम तक	२७३	११
१०,००० से लेकर २५,००० से कम तक	६००	२४
५,००० से लेकर १०,००० से कम तक	४७८	१९
५,००० से कम	४५५	१८
योग	२,४७७	१००

बैंक ने १९७१ ई० में ३६६ नये कार्यालय खोले थे। इनमें से ६० प्रतिशत कार्यालय ग्रामीण केन्द्रों पर स्थित थे। 'नेता बैंक योजना' के अन्तर्गत बैंक को ८९ जिले आवंठित किये गये हैं तथा इनमें से बैंक ने ८७ जिलों में सर्वेक्षण पूरे कर लिये है।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को देश में अनुसूचित बैंकों में एक विशेष स्थान प्राप्त है। ३१ दिसम्बर, १९७१ ई० को भारत में बैंक की कुल जमाओं की राशि १,७४८ करोड़ रुपये थी। ३१ दिसम्बर, १९७१ ई० को समाप्त हुये वर्ष में बैंक ने लघु उद्योगों तथा कृषि को क्रमशः १७६.९ तथा ८८.८ करोड़ रुपये अग्रिमों के रूप में प्रदान किए थे। निम्नांकित सारिणी में १९७१ ई० में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा विशेष क्षेत्रों को प्रदान किए गये अग्रिमों के कार्यानुसार वितरण तथा इनकी बैंक द्वारा १९७० ई० में प्रदान किए गए अग्रिमों से तुलना की गई है।

कार्य	१९७०	१९७१
	कुल अग्रिम	कुल अग्रिम
लघु उद्योग	१५१.८	१७६.९
कृषि	११२.४	८८.८
निर्यात वित्त	९२.९	१०८.१

१९७१ ई० में बैंक द्वारा देश में विभिन्न कार्यों के लिये दिये गये कुल अग्रिमों की राशि १,१३८.४ करोड़ रुपये थी जबकि १९७० ई० में प्रदान किये गए कुल अग्रिमों की राशि १,११४.५ करोड़ रुपए थी।

भारतीय बैंकिग प्रणाली में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंकों को एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ३१ दिसम्बर, १९७१ ई० को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंको का सम्पूर्ण अनुसूचित बैंकों में जो स्थान था उसको निम्नलिखित तालिका में व्यक्त किया गया है।

(राशि करोड़ रुपयों मे)

	कुल अनुसूचित बैंक	स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	सहायक बैंक	३+४ की योग राशि २ का %
१	२	३	४	५
कुल जमा	६,८५६	१,५०२	४०६	२८.०
कुल अग्रिम	४,९६६	१,११४	३१७	३०.०
कुल निवेश (सरकारी हुण्डियों में)	१,६३३	४१५	८९	३१.०

देश में लोगों में बैंकिग की आदत को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से स्टेट बैंक ने १ जनवरी, १९६२ ई० से विशेष साख अन्तरण योजना (Special Credit Transfer Scheme)

चालू की है। यह योजना निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इस नवीन योजना के अन्तर्गत बैंक के वे ग्राहक जिनका बैंक की किसी भी शाखा में हिसाब है देश में किसी भी उस स्थान से जहाँ पर बैंक की शाखा है, अपने हिसाब में जमा करने के लिये १,००० रुपये तक की राशि को बिना किसी खर्च के अन्तरण कर सकते हैं। यह योजना भारतीय बैंकिंग के इतिहास में एक नवीन विशेषता है।

कृषि साख के क्षेत्र में भी बैंक की प्रगति सन्तोषजनक रही है। १९७० ई० में बैंक ने २ लाख कृषकों को ४८ करोड़ रुपये राशि की वित्तीय सहायता प्रदान की थी।

१९७१ ई० में स्टेट बैंक ने लघु उद्योगों को भी घनी धनराशि की वित्तीय सहायता प्रदान की थी। गत १६ वर्षों में इस क्षेत्र में काफी सन्तोषजनक प्रगति हुई है। १९७१ ई० में लघु उद्योगों को बैंक की अपनी उधार ऋण योजना के अन्तर्गत दी गई कुल वित्तीय सहायता की राशि १७७ करोड़ रुपये थी तथा ऋणी औद्योगिक इकाइयों की संख्या ४०,००० थी।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (सहायक बैंक) अधिनियम, १९५९ ई० के अनुसार आठ राजकीय बैंक स्टेट बैंक की सहायक बैंक बन गई हैं। १ अक्तूबर, १९५९ ई० को स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद स्टेट बैंक की पहली सहायक बैंक बनी थी। तत्पश्चात् बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ इन्दौर: बैंक ऑफ बीकानेर तथा बैंक ऑफ ट्रावनकोर भी १ जनवरी, १९६० को स्टेट बैंक की सहायक बैंक बन गई थीं। बैंक ऑफ मैसूर, बैंक ऑफ पटियाला, बैंक ऑफ सौराष्ट्र भी क्रमश: १ मार्च, १ अप्रैल तथा २ मई १९६० ई० को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की सहायक बन गई थीं। गत १० वर्षों में इन आठ सहायक बैंकों की प्रगति सन्तोषजनक रही है। ३१ दिसम्बर, १९७१ ई० को इन बैंकों की कुल जमा तथा अग्रिम क्रमश: ४०६ करोड़ तथा ३१७ करोड़ रुपये थी। १९७१ ई० में सहायक बैंकों ने १५२ नई शाखायें खोली थीं। १ अक्तूबर १९५९ ई० से लेकर ३१ दिसम्बर, १९७१ ई० तक इन बैंकों ने कुल ९२० नई शाखायें खोली थीं। इसके अतिरिक्त संगठन में सुधार करके तथा बैंकिंग सेवाओं का समन्वय करके खर्च में बचत करने के उद्देश्य से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (सहायक बैंक) अधिनियम की धारा ३८ के अन्तर्गत स्टेट बैंक ऑफ जयपुर तथा स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर को १ जनवरी, १९६३ ई० से मिलाकर एक कर दिया गया है। १९७१ ई० में इन बैंकों ने १७,००० लघु उद्योग इकाइयों को ५० करोड़ रुपये की ऋण-सीमाओं की स्वीकृति प्रदान की थी। १९७१ ई० में ग्रामीण क्षेत्र के विकास से लिये प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष ऋण सहायता भी ६८·९ करोड़ रुपये राशि की ऋण सीमाओं को प्रदान करके दी गई थी। ग्रामीण क्षेत्रों में बचत उपलब्ध करने के हेतु सहायक बैंकों ने गाँवों में एक व्यक्ति शाखाओं को भी खोला है।

बैंक ने अपने परीक्ष्यमाण अधिकारियों (Probationary Officers) तथा अन्य कर्मचारियों को बैंकिंग प्रशिक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से हैदराबाद में एक कर्मचारी प्रशिक्षण, कालेज स्थापित किया है। इस कालेज का उद्घाटन प्रोफेसर डी० आर० गाडगिल ने २ दिसम्बर १९६१ ई० को किया था। १९७१ ई० के अन्त में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के कर्मचारियों की कुल संख्या ७५,०२१ तथा सहायक बैंकों के कर्मचारियों की संख्या २२,४६४ थी।

बैंक के आर्थिक तथा संख्याशास्त्र अनुसंधान विभाग का कार्य भी संतोषजनक रहा है। समय समय पर यह विभाग आर्थिक तथा वैत्तिक समस्याओं सम्बन्धी पुस्तिकायें प्रकाशित करता रहा है। इस विभाग में कुशल कार्यकर्त्ता हैं तथा विभाग ने (a) Survey of New Branches; (b) Evaluation of the Financing of Small Scale Industries; तथा (c) Investigation into the Working of Some Co-operative Marketing Societies से सम्बन्धित तीन अनुसंधान योजनायें तैयार की हैं। बैंक एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित करती है।

स्टेट बैंक के कार्य तथा इसकी प्रगति की उपरोक्त संक्षिप्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंक भविष्य में बैंकिंग उद्योग के सन्तुलित विकास तथा देश के आर्थिक विकास में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी।

अध्ययन सूची

1. State Bank of India ; Annual Reports.
2. State Bank of India ; Monthly Reviews.

प्रश्न

1. Evaluate the working of the State Bank of India. How far has the Bank been successful in extending banking facilities in the rural areas in the country ?

को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करके उसको गाँव के महाजन के पंजों से मुक्त कर सके। परिणाम-स्वरूप १९२० ई० में पंजाब में झंग (Jhang) नामक स्थान पर प्रथम भूमि बन्धक बैंक को स्थापित करके देश में भूमि बन्धक बैंकों का आरम्भ हुआ। १९२८ ई० में कृषि राजकीय आयोग तथा १९३० ई० में बैंकिंग जाँच समिति ने देश में सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार भूमि बन्धक बैंकों को स्थापित करने की सिफारिश की थी। १९२९ ई० में मद्रास में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक की स्थापना के उपरान्त देश में भूमि बन्धक बैंकों को स्थापित करने के कार्य में अधिक प्रगति हुई।

भूमि बन्धक बैंक का मुख्य कार्य भूमि तथा अन्य सम्बन्धित सम्पत्ति के प्रथम बन्धक की जमानत के आधार पर कृषकों को कुल ऋणाधार के मूल्य के दो तिहाई मूल्य तक दीर्घ-कालीन ऋण प्रदान करना है। ऋण देने के पूर्व भूमि तथा अन्य सम्बन्धित सम्पत्ति की अच्छी तरह से जांच की जाती है। इसके अतिरिक्त धोखे की सम्भावना से बचने के लिए भूमि के स्वत्वाधिकारपत्रों की भी पूरी तरह से बैंक के विशेषज्ञों के द्वारा जांच की जाती है। भूमि बन्धक बैंकों द्वारा ऋण की न्यूनतम तथा अधिकतम सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती हैं। भारत में यह न्यूनतम सीमा ४०० रुपये तथा अधिकतम सीमा १०,००० रुपये से लेकर १५,००० रुपये तक है। इन ऋणों पर ब्याज की दर ४ प्रतिशत से ६ प्रतिशत तक होती है। ये ऋण पुराने ऋणों का भुगतान करने भूमि पर सिंचाई के साधनों में सुधार करने, बाड़ लगाने, खेत में कुआं तथा इमारत बनाने, कृषि में स्थाई सुधार करने, मवेशी तथा ट्रैक्टर इत्यादि कृषि यन्त्रों को खरीदने के लिए दिए जाते हैं। इन ऋणों का भुगतान वार्षिक किश्तों के रूप में किया जाता है। भूमि बन्धक बैंकों के अन्य कार्य भूमि तथा खेती करने की रीति में सुधार करना, कृषकों के प्रति भूमि का क्रय करना तथा कृषकों के लिए भवनों का निर्माण करना है।

यद्यपि भारत में प्रथम भूमि बन्धक बैंक को अब से लगभग ५० वर्ष पूर्व स्थापित किया गया था परन्तु फिर भी देश में बैंकिंग की इस प्रणाली की प्रगति बहुत धीमी रही है। आंध्र प्रदेश, मद्रास, महाराष्ट्र तथा गुजरातर ाज्यों को छोड़ कर, जहाँ पर भूमि-बन्धक बैंकों की स्थिति अन्य राज्यों की अपेक्षाकृत दृढ़ है अन्य सभी राज्यों में भूमि बन्धक बैंकों, जिनकी संख्या देश में बहुत कम तथा स्थिति बहुत खराब है, का तो कहना ही क्या, बल्कि प्राथमिक भूमि बन्धक बैंकों की प्रगति भी देश में अत्यधिक असन्तोषजनक रही है। १९६८-६९ ई० में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों की संख्या १९ थी तथा ३० जून, १९६९ ई० को इनकी कुल सदस्यता संख्या ११,७१,३५७ थी जिसमें ९३१ प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक तथा अन्य सहकारी संस्थाएँ तथा ११,७०,४२० व्यक्ति सम्मिलित थे। इन बैंकों की अंश पूँजी ३०.८ करोड़ रुपये थी। ३० जून, १९६९ ई० को इन बैंकों के कुल उधारों की राशि १४३.७ करोड़ रुपये थो। ३० जून, १९६९ ई० को इनके अप्राप्य ऋणों की राशि ४२६.१ करोड़ रुपए थी। अधिकांशतः केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों ने प्राथमिक बन्धक बैंकों के माध्यम द्वारा, जो जिला अथवा तालुका स्तर पर स्थापित थे कृषकों को ऋण दिये थे। ३० जून, १९६९ ई० के अन्त में प्राथमिक भूमि बन्धक बैन्कों की कुल संख्या ७४० थी। ३० जून, १९६९ ई० को प्राथमिक भूमि बन्धक बैंकों की कुल सदस्यता तथा कार्यकर पूँजी क्रमशः २८,४१,७४७ तथा ३०९.८ करोड़ रुपये थी। ३० जून, १९६६ ई० को इन बैंकों के अप्राप्य ऋणों की राशि २८५.६ करोड़ रुपये थी। ३० जून, १९६९ ई० को अविलम्बित ऋणों की राशि ७.१ करोड़ रुपए थी। ७४० कुल बैंकों में से ४५६ प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक केवल आंध्र प्रदेश, मैसूर तथा तमिलनाडु में संकेद्रित थीं।

देश में प्राथमिक तथा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैन्कों की स्थिति समान्य रूप से असन्तोष-जनक है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के विषय में तो स्थिति और भी खराब है। भारत के सामान विशाल तथा गरीब देश में केवल १९ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैन्कों का होना सरोवर में पानी की बूँद के समान है। इस सम्बन्ध में स्वयं रिजर्व बैंक के उस कथन को जो आज भी पहले के समान उपयुक्त है, दुहराना अनुचित न होगा। देश में भूमि बन्धक बैंकों की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ समय पूर्व रिजर्व बैंक की रिपोर्ट में लिखा गया था कि "केवल मद्रास तथा कुछ अंश तक बम्बई तथा मैसूर राज्यों को छोड़कर भूमि बन्धक बैंकों ने देश में अधिक प्रगति नहीं की है। भारत के सभी राज्यों में इन बैंकों के संगठत तथा विकास की, विशेषरूप से देश में भूमि पर जनसंख्या की निर्भरता तथा खाद्यान्न की कमी को देखते हुए जिसके कारण देश के प्राप्त साधनों का अधिकतम उपयोग आवश्यक हो जाता है, अधिक आवश्यकता है। देश में खेती में सुधार करने; अधिक भूमि को खेती के योग्य बनाने तथा किसानों को भूप्रधान व श्रम प्रधान खेती की रीतियों का प्रयोग करने के योग्य बनाने के लिए भूमि बन्धक की जमानत के आधार पर कृषकों को वित्त सहायता प्रदान करना आवश्यक है। यह कार्य भूमि बन्धक बैंकों के द्वारा ही किया जा सकता है। यह आशा की जाती है कि प्रशासकों तथा सहकारिता के सभी हितैषियों का ध्यान इस आवश्यक तथा महत्वपूर्ण समस्या की ओर आकर्षित होगा"[1]। प्रोफेसर कुरेशी ने रिजर्व बैंक के उपरोक्त कथन का समर्थन करते हुए लिखा है कि "भूमि बन्धक बैंकों ने कृषकों की दीर्घकालीन ऋण आवश्यकताओं की न तो पूर्ति की है तथा न ये पूर्ति करने के योग्य ही हैं।"[2] इसी प्रकार अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने, जिसकी नियुक्ति रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने १९५१ ई० में की थी, अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि "भारत में भूमि बन्धक बैंकिंग प्रणाली इस प्रकार से अपर्याप्त मात्रा में पूँजी प्राप्त करती है जिसका इसकी माँग से कोई सम्बंध नहीं है तथा इसको इस प्रकार से उधार देती है कि इसका विकास से कोई समन्वय नहीं है। यह इस प्रकार से कार्य करती है जिससे यह सिद्ध होता है कि पुराने कर्ज के भुगतान की समस्या पर उत्पादन की अपेक्षाकृत ध्यान दिया जाना चाहिये। यह प्रणाली केवल बड़े किसानों तक ही पहुँचती है तथा उन तक भी काफी देर के पश्चात् पहुँच पाती है।"[3]

भारत में भूमि बन्धक बैंकों की धीमी प्रगति के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं।

१. निम्न ब्याज की दर पर पर्याप्त मात्रा में पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई—भूमि बन्धक बैंक अपने उद्देश्यों में तभी सफल सिद्ध हो सकती है जब वे कम ब्याज की दर पर

---

1. "Barring Madras and to some extent Bombay and Mysore, land mortgage banks have not made much headway. Their organisation and development in all states of the Indian Union would be very desirable, particularly in view of the pressure on land and shortage of foodstuffs in the country which calls for fuller utilisation of all available resources. To improve cultivation, to bring under the plough more land which now is lying idle and to help people attempt intensive as well as extensive cultivation, land mortgage financing is very necessary. It is hoped, therefore, that co-operators and state administration will pay increasing attention to this very important matter." (Reserve Bank of India Report).
2. "......have not catered for long term credit needs of the farmers and are not capable of doing so." (Professor Qureshi)
3. "It may be said of the land mortgage banking system in India that at best it raises inadequate funds in a manner ill-related to demand and usually lends them in a manner unco-ordinated with development, acts as if prior debts, and not production, had prior claim on its attention,reaches mainly the large cultivator and reaches him late" (All India Rural Credit Survey Committee).

कम थीं तथा ९५ बैंकों की जमा राशि १ करोड रुपये से अधिक थी। ५७ बैंकों की जमाएं ५० लाख तथा १ करोड़ रुपये के बीच में थीं। इन बैंकों की कार्यकर पूँजी ८३०·५ करोड़ रुपये थीं जो गत वर्ष की तुलना में १२४·५ करोड़ रुपये अधिक थी। इन बैंकों की कुल जमाएं ३५०·८ करोड़ रुपये थीं तथा योजनाएँ इन बैंकों की कार्यकर पूंजी का ४२·२ प्रतिशत थी। १९६८-६९ ई० में इन बैंकों की अग्रिम राशि ८२३·१ करोड़ रुपये थी। अप्राप्य ऋणों की राशि ६४१·१ करोड़ रुपये थी जो पूर्व वर्ष की तुलना में ९१·२ करोड़ रुपये अधिक थीं।

अन्न बैंक

३० जून, १९६६ ई० को देश में अन्न बैंकों की कुल संख्या ५,५७० थी। इनमें से ५२ प्रतिशत से अधिक बैंक सक्रिय नहीं थी। इनकी कुल कार्यकर पूँजी ६·७४ करोड़ रुपये थी। ये बैंक अधिकांशतः उड़ीसा, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा मैसूर राज्यों में स्थित थीं। ३० जून, १९६६ ई० को अन्न बैंकों के अप्राप्य ऋणों की राशि ५·५४ करोड़ रुपये थी जिसमें से ३·०० करोड़ रुपये राशि के ऋणों का भुगतान विलम्बित था।

देश में सहकारी बैंकों तथा रिजर्व बैंक के सम्बन्ध में गत वर्षों में अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट का एक विशेष महत्व है। समिति की रिपोर्ट के अनुसार सहकारी बैंक कृषकों की कर्ज आवश्यकताओं का केवल ३ प्रतिशत पूर्ति करती हैं। अपनी शेष ९७ प्रतिशत आवश्यकता के लिये कृषकों को अधिकतर महाजनों पर आश्रित होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त विशेष असन्तोषजनक बात यह है कि देश के कुछ भागों में सहकारी बैंक इतना कम (३ प्रतिशत) ऋण प्रदान करने में भी असमर्थ रही हैं। देश के उन भागों में भी जहाँ सहकारी आन्दोलन का विकास हो पाया है, अधिकांश कृषि जनसंख्या सहकारी आन्दोलन के प्रभाव से मुक्त रही है। जो लोग सहकारी कृषि साख समितियों के सदस्य हैं उनको भी अपनी अधिकांश ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सहकारी साख समितियों के अतिरिक्त बाहर के अन्य साधनों पर आश्रित होना पड़ता है। कृषि साख की इस असन्तोषजनक स्थिति को ध्यान में रखते हुए समिति ने देश में ऐसी समितियों को स्थापित करने की सिफारिश की थी जो कृषकों की दीर्घ, मध्य तथा अल्पावधि ऋण आवश्यकताओं की १०० प्रतिशत पूर्ति कर सकें। समिति ने सभी राज्यों में राज्य सरकारों द्वारा सहकारी आन्दोलन के पुर्नसंगठन की सिफारिश की थी। सहकारी बैंकों तथा सहकारी साख समितियों की आंशिक पूँजी तथा प्रबन्धन में राज्य सरकार का भी हिस्सा होना चाहिए। शिखिर, जिला तथा प्राथमिक स्तरों पर राज्य सरकार का इन समितियों की अंश पूँजी के अधिकांश भाग में हिस्सा होना चाहिये। इसके अतिरिक्त इन समितियों के मुख्य पदों पर राज्य द्वारा प्रशिक्षित व्यक्तियों की नियुक्त की जानी चाहिए। राज्य सरकारों को सहकारी साख समितियों की अंश पूँजी में हिस्सा लेने के योग्य बनाने के लिये राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष (National Co-operative Development Fund) में से दीर्घ कालीन ऋण दिये जाने चाहिये। इसके अतिरिक्त कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देने के उद्देश्य से सभी राज्यों में भूमि बन्धक बैंकों को स्थापित किया जाना चाहिए। सभी भूमि बन्धक तथा सहकारी बैंकों के सम्मिलित प्रशासक कर्मचारी होने चाहिए तथा यदि सम्भव हो सके तो संचालक मण्डल भी सम्मिलित होना चाहिए। सहकारी समितियों को कृषकों के लिए वास्तविक रूप में लाभप्रद बनाने के लिये विपणन (marketing), दुग्धालय (dairying) तथा प्रक्रियण (processing) के क्षेत्रों में सहकारी समितियों को संगठित किया जाना चाहिए तथा साख समितियों के समान इन समितियों की अंश पूँजी में भी राज्य सरकारों का अधिक हिस्सा होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देश में भिन्न राज्यों में भिन्न स्थानों पर भंडारगृह बनाकर किसानों को माल रखने की सुविधा प्रदान करने के लिए देश में एक अखिल भारतीय भंडार गृह निगम तथा प्रत्येक राज्य में राज्य भंडारगृह निगमों की स्थापना होनी चाहिए। इन संस्थाओं के अतिरिक्त राजकीय संस्था के रूप में स्टेट बैंक आफ इंडिया की स्थापना भी होनी चाहिए। इस बैंक को समिति की सिफारशों के अनुसार स्थापित किया गया है तथा बैंक ने देश में भिन्न मण्डी नगरों मे शाखाएँ खोलकर सहकारी बैंकों को दृढ़ बनाने में सहयोग दिया है। इसके अतिरिक्त अव रिजर्व बैंक भी सहकारी बैंकों के प्रति उदार नीति अपना रही है। राज्य सरकारों को सहकारी तथा भूमि बन्धक बैन्कों के अंश तथा डिबेंचर खरीदने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया राष्ट्रीय कृषि (दीर्घावधि कार्य) कोप में से ऋण सहायता प्रदान करती है। देश मे एक केन्द्रीय भंडारगृह मण्डल तथा सभी राज्यों में राज्य भंडारगृह मण्डलों की स्थापना को जा चुकी है। ये मण्डल देश मे भंडारगृहों को खोलकर कृषकों को अन्न रखने में सुविधा प्रदान करते है। स्टेट बैंक व इसकी सहायक बैंक भंडारगृहों की रसीदों की जमानत के आधार पर कृपकों को ऋण प्रदान करती है। रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी बैंकों को दिये गये ऋणों की राशि में गत वर्षों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। यह इस सत्य से भली प्रकार ज्ञात है कि राज्य सहकारी बैंकों पर १९५५-५६ ई० में रिजर्व बैंक के अप्राप्य ऋणों की राशि केवल १३ करोड़ रुपये थी। परन्तु १९७०-७१ ई० में यह राशि ११८९ करोड़ रुपये थी। १९५६ ई० में रिजर्व बैंक ने राज्य-सहकारी बैंकों तथा सरकारों को भूमि बन्धक बैंकों के अंश तथा साधारण डिबेचर खरीदने तथा सहकारी संस्थाओं की अंश पूँजी में हिस्सा खरीदने के लिए मध्यावधि ऋण सहायता प्रदान करने के हेतु राष्ट्रीय कृषि (दीर्घावधि कार्य) कोष को स्थापित किया था। ३० जून, १९७१ ई० तक रिजर्व बैंक ने इस कोष में १९० करोड़ रुपए की धनराशि अंश-दत्त की थी। इस कोप के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष, जो राज्य सहकारी बैंकों को उनके अल्पावधि ऋणों को मध्यावधि ऋणों में परिवर्तित करके वित्तीय सहायता देने के हेतु स्थापित किया गया है, में ३९ करोड़ रुपये अंश-दत्त किये थे। इसके अतिरिक्त उत्पादक कृषि विकास योजनाओं को दीर्घावधि वित्त सहायता प्रदान करने के हेतु रिजर्व बैंक ने १ जुलाई, १९६३ ई० से कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना भी की है। अब रिजर्व बैंक के अधिकारी भिन्न राज्यो मे सहकारी आंदोलन का अध्ययन करने के हेतु गहन अध्ययन यात्रा करते है तथा गत वर्षों में इन अधिकारियों की सिफारिशों पर उन स्थानों तथा राज्यों में सहकारी बैंक स्थापित की गई है जहाँ पहले कोई सहकारी बैंक नहीं थी। सहकारी बैंकों में जमाकर्ताओं का विश्वास करने के हेतु अब रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों पर भी जमा बीमा योजना लागू कर दी गई है। इस योजना के लागू हो जाने के फलस्वरूप सहकारी बैंक जमाओं को प्राप्त करने में वाणिज्य बैंकों से प्रतियोगिता कर सकेंगी। देश में सम्पूर्ण सहकारी साख प्रणाली को दृढ़ बनाने के हेतु अब एक अखिल भारतीय राज्य सहकारी बैंक संघ भी स्थापित किया गया है। अब सहकारी साख समितियाँ लगभग २२ प्रतिशत ग्रामीण वित्त प्रदान करती हैं। यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही आगामी वर्षों में सहकारी बैंकों को देश की संगठित बैंकिंग प्रणाली में एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकेगा।

भूमि बन्धक बैंक

भारतीय किसानों की दीर्घ कालीन ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से भूमि बन्धक बैंक स्थापित करने के विचार का आरम्भ सर्वप्रथम वर्तमान शताब्दी के बीसा के काल में हुआ था। देश के कृषकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने मे रुचि रखने वाले सभो व्यक्तियों का यह समान मत था कि देश में एक ऐसी संस्था की स्थापना होनी चाहिए जो कृपक

४०

सहकारी तथा भूमि बंधक बैंक

(Co-operative and Land Mortgage Banks)

भारत में सहकारी बैंकों को आज से लगभग ६५ वर्ष पूर्व कृषकों को उत्पादक कृषि कार्यों के लिए अल्पकालीन ऋण पूँजी को कम ब्याज की दर पर प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। यह एक स्वयं सत्य है कि भारतीय कृषक सदा ऋण के भार के कारण गाँव के महाजन के चंगुल में फँसा रहता है। गाँव का महाजन कृषक को दिए हुए ऋण पर अधिक ब्याज लेने के अतिरिक्त भारतीय गरीब कृषकों के साथ बेईमानी तथा अन्य अनुचित क्रियाओं का प्रयोग भी करता है। सदा ऋण ग्रस्त रहने के कारण भारतीय कृषक अपनी खेती में स्थाई सुधार करने में असमर्थ रहता है। कृषक को गाँव के महाजन के पंजे से मुक्त करने तथा उसमें बचत व स्वयं सहायता करने का उत्साह उत्पन्न करने के उद्देश्य से गाँवों में प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियों की स्थापना की गई थी। प्राथमिक सहकारी साख समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के हेतु केन्द्रीय सहकारी बैंक स्थापित की गयीं थीं। आज देश के प्रत्येक राज्य में सहकारी बैंक हैं। यद्यपि कुछ राज्यों में सहकारी बैंकों को अपने कार्य में काफी सफलता प्राप्त हुई है परन्तु सामान्यतः सहकारी बैंकों के कार्य में आज भी काफी कमियाँ पाई जाती हैं। प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियों के पास पर्याप्त पूँजी का अभाव होने के कारण कृषक आज भी सदा के समान ऋण सहायता के लिये गाँव के महाजन पर, जिसके हाथों द्वारा उसका सदैव शोषण हुआ है, आश्रित है। इसी प्रकार केन्द्रीय सहकारी बैंक भी पर्याप्त पूँजी के अभाव के कारण भारतीय कृषक को उचित समय पर पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान करने में असफल सिद्ध हुई हैं।

रिजर्व बैंक द्वारा देश में प्रकाशित सहकारी आन्दोलन सम्बन्धी १९६८-६९ ई० के संख्या-शास्त्रीय पुनरावलोकन के अनुसार ३० जून, १९६९ ई० को समाप्त होने वाले वर्ष में सभी प्रकार की सहकारी बैंकों तथा प्राथमिक सहकारी साख समितियों की कुल संख्या १,८९,३३० थी तथा इनकी कुल सदस्यता ४२.१ मिलियन थी, जो इसके पूर्व वर्ष की तुलना में १.९ मिलियन अथवा ५ प्रतिशत अधिक थी। इस वर्ष प्राथमिक साख समितियों के साधनों तथा कार्यों में भी वृद्धि हुई थी। सब प्राथमिक साख समितियों के निजि कोष तथा कार्यकर पूँजी जो ३० जून, १९६८ ई०

को क्रमशः ५४८.० करोड़ रुपये तथा २,७८०·७ करोड़ रुपये थीं ३० जून, १९६९ ई० को बढ़कर क्रमशः ६२७·४ करोड़ तथा ३,३९३·७ करोड़ रुपये की राशि को प्राप्त हो गई थी। १९६८-६९ ई० में इन समितियों ने २,५८८·३ करोड़ रुपये के ऋण प्रदान किए थे। ३० जून, १९६९ ई० को इन समितियों के कुल अप्राप्य ऋणों की राशि २,६८४.२ करोड़ रुपये थी। १९६८-६९ ई० में सहकारी साख समितियों की संख्या १९६७-६८ ई० की तुलना में ४०९८ कम थी। प्राथमिक साख समितियों की संख्या में हुई यह कमी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा भारत सरकार के उन प्रयासों की सफलता के हेतु हुई थी जिनका उद्देश्य बेकार प्राथमिक समितियों की संख्या में कमी करना था।

प्राथमिक कृषि साख समितियाँ

१९६८-६९ ई० में प्राथमिक कृषि साख समितियों की कुल संख्या १,६७,७०६ थी जो पहले वर्ष की तुलना में ४,०४४ कम थी। ३० जून, १९६९ ई० को प्राथमिक कृषि समितियों की कार्यकर पूँजी मे पहले वर्ष की तुलना में १०३ करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई थी तथा इस पूँजी की राशि ८१२.२ करोड़ रुपये थी। इन समितियों की चुकती अंश-पूँजी ११५·१२ करोड़ रुपये थी। इनकी कुल जमाओं की राशि ३४४·९ करोड़ रुपये थी जो इन की कार्यकर पूँजी का केवल ६३ प्रतिशत थी। इनके कुल उधार ऋणों की राशि, जो इन समितियों ने मुख्यता केन्द्रीय सहकारी बैंकों से प्राप्त किये थे, ३६४·१५ करोड़ रुपये थी जो इनकी कुल कार्यकर पूँजी का ६६·४ प्रतिशत थी। नकदी तथा बैंकों में जमाओं की राशि केवल ४४.६९ करोड़ रुपये थी। इनके कुल ऋणों तथा अग्रिमों की राशि ५०३·९ करोड़ रुपये थी तथा कुल विनियोगों की राशि ८०·५२ करोड़ रुपये थी। ३० जून, १९६९ ई० को अल्पावधि अप्राप्य ऋणों की कुल राशि ३५६·५३ करोड़ रुपये तथा मध्यावधि ऋणो की कुल बाकी राशि ७०·३७ करोड़ रुपये थी। विलम्बित ऋणों की कुल राशि १२५·३६ करोड़ रुपये थी जो कुल अप्राप्य (outstanding) ऋणो का २९·४ प्रतिशत थी।

१९६८-६९ ई० में कुल १०,८७१,००० सदस्यों ने ऋण प्राप्त किए थे जो कुल सदस्यों के ४२ प्रतिशत थे। १९६४-६५ ई० में कुल १०,९५९,००० सदस्यों ने, जो कुल सदस्यों के ४३ प्रतिशत थे, ऋण प्राप्त किये थे। परन्तु मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब तथा मैसूर राज्यों में ऋण प्राप्त कर्ता सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की संख्या का क्रमशः ६२;६०;५५;५२ तथा ५० प्रतिशत थी जबकि अन्य कुछ राज्यों—उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, उड़ीसा तथा बिहार—में यह संख्या कुल सदस्यों की संख्या का ५० प्रतिशत से कम थी।

राज्य सहकारी बैंक

३० जून, १९६९ ई० को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में देश में २५ राज्य सहकारी बैंक थीं। ३० जून, १९६९ ई० को इन बैंकों की सदस्यता में १२,७११ सहकारी बैंक तथा समितियाँ तथा ८,५५८ व्यक्ति सम्मिलित थे। इन बैंकों की कार्यकर पूँजी में १२२·९ करोड़ रुपये की राशि की वृद्धि हुई थी तथा यह ५६६·५ करोड़ रुपये थी। ३० जून, १९६९ ई० को इन बैंकों की कुल जमाएँ २१५·६ करोड़ रुपये थी जो इन बैंकों की कुल कार्यकर पूँजी का ३८·१ प्रतिशत था।

केन्द्रीय सहकारी बैंक

३० जून, १९६९ ई० को इन बैंकों की संख्या ३४१ थी तथा इन बैंकों ने २७५ नये कार्यालय खोले थे। ३४१ केन्द्रीय सहकारी बैंकों में से १८६ बैंकों की जमाएं ५० लाख रुपये से

कृषकों को पर्याप्त मात्रा में ऋण प्रदान करती हैं। भूमि बन्धक बैंक ऐसा करने के योग्य केवल उसी समय बन सकती हैं जब स्वयं इनको भारतीय मुद्रा बाजार से पर्याप्त मात्रा में कम ब्याज की दर पर पूँजी प्राप्त हो सकती है। देश में एक संगठित हुंडी तथा मुद्रा बाजार का अभाव होने के कारण भूमि बन्धक बैंक सस्ती ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त करने में असफल रहती हैं। शायद ही भूमि बन्धक बैंकों के जीवन में कोई ऐसा समय आया है जब इन बैंकों ने पूँजी की कमी का अनुभव नहीं किया है।

२. **रिजर्व बैंक आॅफ इण्डिया की उदासीनता**—गत कुछ वर्षों को छोड़कर रिजर्व बैंक सदा ही कृषि की वित्तीय समस्याओं के प्रति उदासीन रही है। रिजर्व बैंक आॅफ इण्डिया अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक प्रतिभूतियों की जमानत पर ९० दिन से अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकती थी। फलस्वरूप भूमिबन्धक बैंकों को रिजर्व बैंक से दीर्घकालीन साख सहायता प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं होता था।

३. **विदेशी सरकार की उदासीनता**—देश में एक संगठित हुण्डी तथा मुद्रा बाजार का अभाव होने तथा रिजर्व बैंक आॅफ इन्डिया की उदासीनता के अतिरिक्त १९४७ ई० तक देश में विदेशी सरकार होने के कारण भी भूमि बन्धक बैंकों की प्रगति की भारी क्षति हुई थी। अंग्रेज सरकार भारतीय कृषि की प्रगति के प्रति सदा उदासीन रही थी। परिणामस्वरूप कृषि की वित्त समस्याओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित न होने के कारण देश में भूमि बन्धक बैंकों की प्रगति सम्भव नहीं हो पाई।

४. **सहकारिता राजकीय विषय था**—सहकारिता को राज्य सरकारों के अधीन कर दिया गया। राज्य सरकारों की वित्तीय स्थिति अच्छी न होने के कारण भूमिबन्धक बैंकों की वित्तीय स्थिति भी सदा असन्तोषजनक रही।

५. **भारतीय कृषकों की निरक्षरता**—भारतीय कृषकों के निरक्षर होने का भी भूमि बन्धक बैंकों की प्रगति पर बुरा प्रभाव पड़ा। निरक्षर होने के कारण भारतीय कृषक बैंकों से ऋण प्राप्त करने की रीति तथा भूमि बन्धक की वैधानिक समस्याओं को समझने में असमर्थ थे तथा अब भी हैं।

६. **गाँव के महाजनों की मजबूत पकड़**—एक ओर तो भारत में भूमि बन्धक बैंकों के पास पर्याप्त पूँजी का सदा अभाव था जिसके कारण वे भारतीय कृषकों की ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति करने के योग्य नहीं थीं तथा दूसरी ओर इनको गांव के महाजनों के साथ प्रतियोगिता लेनी पड़ती थी। महाजनों की उपस्थिति सभी प्रकार से भूमि बन्धक बैंकों के हित के लिए घातक थी।

देश में प्राथमिक तथा केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों की स्थिति में सुधार करने के लिए अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे।

१. केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक

(अ) देश में प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक होनी चाहिए।

(ब) भूमि अधिकार सम्बन्धी उस कानून में सुधार होना चाहिए जो भूमि बन्धक बैंकों की उन्नति में बाधक है।

(स) बन्धकों के पंजीयन की विधि सरल, सस्ती तथा तीव्र होनी चाहिए।

(द) प्रत्येक भूमि बन्धक बैंक की पूँजी में राज्य का ५१ प्रतिशत न्यूनतम हिस्सा होना चाहिए।

(क) केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों का संविधान इस प्रकार होना चाहिए कि ये बैंक प्राथमिक भूमिबन्धक बैंकों की अंश पूँजी में हिस्सा प्राप्त कर सकें।

(ख) भूमि बन्धक बैंकों की ऋण नीति ऐसी होनी चाहिए कि उत्पादक कृषि कार्यों के लिए दिए जाने वाले ऋणों को प्राथमिकता प्राप्त हो सके।

(ग) भिन्न कार्यों के लिए दिए गए ऋणों की भुगतान अवधि भी कार्यों की प्रकृति के अनुसार भिन्न होनी चाहिए।

(ब) एक बन्धक की जमानत पर दूसरा तथा तीसरा ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए दिया जाना चाहिए।

(म) ऋणों के कार्यों के अनुसार केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों को भिन्न समय के लिए ऋणपत्रों का प्रचालन करना चाहिए। ग्रामीण ऋणपत्रों का भी प्रचलन किया जाना चाहिए।

(न) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को देश में ऋणपत्र बाजार स्थापित करना चाहिए।

(र) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को भूमि बन्धक बैंकों द्वारा प्रचलित किए गए विशेष विकास ऋणपत्रों को खरीदना चाहिए।

(ल) राज्य सरकारों को भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों के मूलधन तथा इन पर प्राप्त होने वाले ब्याज के भुगतान की गारंटी करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्र मुद्रा बाजार में आसानी तथा शीघ्रता से बिक सकेंगे।

२. प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक

(अ) इन बैंकों को क्षेत्र विशेष में वाणिज्य तथा भूधारण सम्बन्धी स्थितियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् स्थापित किया जाना चाहिए।

(ब) इन बैंकों का कार्य-क्षेत्र सीमित तथा आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त होना चाहिए।

(स) इनकी स्थापना राज्य की साझेदारी में होनी चाहिए।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जब तक केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया सब एक साथ मिल कर भूमि बन्धक बैंकों की वैत्तिक स्थिति को नहीं सुधारेंगे तब तक भूमि बन्धक बैंकों का सुधार होना एक कठिन कार्य रहेगा। देश के आर्थिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि समिति के उपरोक्त सुझावों को शीघ्र कार्यान्वित किया जाना चाहिए। देश में जटिल खाद्य समस्या को हल करने के लिए कृषकों को अपनी भूमि पर सुधार करने के लिए दीर्घकालीन ऋण दिया जाना बहुत आवश्यक है। परन्तु यह उसी समय सम्भव हो सकेगा जब देश में भूमि बन्धक बैंकों का संगठन ठीक हो तथा उनके पास कृषकों को ऋण देने के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी हो। संक्षेप में, भूमि बन्धक बैंकों की प्रगति होना कठिन कार्य है तथा केन्द्रीय सरकार व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को इस ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

अध्ययन सूची

1. Reserve Bank of India : (1) All India Rural Credit Survey Committee Report.
(2) Land Mortgage Banks (1950)

बैंक के विचारानुसार नयी शाखायें खोलने का प्रधान उद्देश्य देश में ग्रामीण तथा अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में, जहाँ लोगों को बैंकिग सुविधायें प्राप्त नहीं हैं, बैंकिग सुविधायें प्रदान करके देश में नियोजित आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाना होना चाहिए। १९६१ ई० की मरदुमशमारी के अनुसार मार्च १९६२ ई० के अन्त तक देश में २,६९० कस्बों में कोई बैंक नहीं थी। यह स्थिति अत्यधिक चिन्ताजनक थी तथा इस सत्य का द्योतक थी कि जब तक बैंकिंग सुविधाओं का देश के सभी भागों में समान रूप से विकास नहीं किया जावेगा तब तक आर्थिक विकास कार्य में बैंकिग उद्योग का कोई विशेष स्थाई योगदान सम्भव नहीं हो सकेगा। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए जुलाई १९६२ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने सभी अनुसूचित बैंकों को, जिनमें स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंक भी सम्मिलित थीं, आगामी ३ वर्षों के लिए अपना शाखा विस्तारण कार्यक्रम बनाने का आदेश दिया था। यह तीन वर्षीय कार्यक्रम १ अगस्त, १९६२ई० से आरम्भ हुआ था ३१ जुलाई, १९६५ ई० को समाप्त हुआ था। शाखा विस्तारण योजनाओं को बनाते समय बैंकों से निवेदन किया गया था कि वे उन कस्बों में नई शाखाओं को खोलने की आवश्यकता पर विशेष ध्यान दें जहाँ बैंकिग सुविधायें प्राप्त नहीं थीं। रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया ने वाणिज्य बैंकों की सूचना के लिए प्रत्येक बैंक को इन कस्बों की एक सूची भी प्रस्तुत की थी। प्रस्तावित नयी शाखाओं की सूची तैयार करने के पश्चात प्रत्येक बैंक को अपनी इस सूची को रिजर्व बैक ऑफ इण्डिया के पास इसकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिये भेजनी थी।

गत शताब्दी में वाणिज्य बैंकों ने २५० प्रति वर्ष की दर पर नयी शाखाओं को खोला है। १९६६ ई० में इन बैंकों ने ४६१ नये कार्यालय खोले थे जबकि १९६५ ई० में खोले गए नये कार्यालयों की कुल संख्या ३७२ थी। १९६७ ई० में रिजर्व बैंक ने वाणिज्य बैंकों को २७९ नये कार्यालय खोलने की अनुमति प्रदान की थी। इनमें से १३५ कार्यालय उन स्थानों पर खोले जाने थे जहाँ पहले कोई बैंक नहीं थी। परन्तु वाणिज्य बैंकों ने कुल ४०५ नए कार्यालय खोले थे। इनमें से २२३ कार्यालय उन केन्द्रों पर खोले गये थे जहाँ पर बैंकिग सुविधायें पहले से प्राप्त थीं तथा १८२ कार्यालय उन केन्द्रों पर स्थापित किए गए थे जहाँ पहले कोई बैंक नहीं थी। इसकी तुलना में १९६६ ई० में २८९ कार्यालय प्रथम श्रेणी के केन्द्रों पर तथा १८९ कार्यालय द्वितीय श्रेणी के केन्द्रों पर खोले गए थे। १९६७ ई० में अनुसूचित बैंकों द्वारा खोले गये नये कार्यालयों की कुल संख्या ४०२ थी तथा शेष ३ कार्यालय अन-अनुसूचित बैंकों के द्वारा खोले गए थे। इसकी तुलना में १९६६ ई० में अनुसूचित तथा अन-अनुसूचित बैंकों द्वारा खोले गए नये कार्यालयों की संख्या क्रमशः ४६१ तथा १७ थी।। १९६७ ई० में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंकों द्वारा स्थापित नये कार्यालयों की कुल संख्या १३४ थी।

३० जून, १९७१ को देश में वाणिज्य बैंकों के कार्यालयों की कुल संख्या १२,०१३ थी तथा इन में से ४,२७९ कार्यालय अथवा ३५·६ प्रतिशत कार्यालय ग्रामीण क्षेत्र में स्थित थे। गत तीन वर्षों में (१९६९-७१) में क्षेत्रानुसार वाणिज्य बैंकों के कार्यालयों के विकास में जो प्रगति हुई है उसे निम्नलिखित तालिका द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

वाणिज्य बैंकों की शाखाओं का केन्द्रानुसार वितरण

क्षेत्र	जून १९६९		जून १९७०		जून १७१	
	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%
ग्रामीण	१,८३२	२२·४	३,७६६	३३·६	४,२७९	३५·६
अर्धशहरी	३,३२२	४०·१	३,८८०	३४·६	४,०१६	३३·४
शहरी	१,४४७	१७·५	१,६७३	१५·०	१,७७८	१४·८
राजधानी/बन्दरगाह शहर	१,६६१	२०·०	१,८६५	१६·८	१,९४०	१६·२
योग	८,२६२	·१००	११,१८४	१००	१२,०१३	१००

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की देश में बैंकिंग सुविधाओं का नियोजित रूप में विकास करने की नीति का सामान्यतया वाणिज्य बैंकों ने स्वागत किया है तथा वाणिज्य बैंको ने नई शाखाएँ खोलने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के आदेशों का पालन किया है। परन्तु देश में नयी शाखाओं को शीघ्र स्थापित करने के कार्यक्रम को कार्यरूप प्रदान करने के सम्बन्ध में वाणिज्य बैंकों को संगठन तथा प्रबन्धन से सम्वद्ध अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। नई शाखा स्थापित करने के लिए बैंकों को कुशल तथा पूर्णनया प्रशिक्षित कर्मचारियों को प्राप्त करने में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त छोटे मण्डी कस्बों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में, जहाँ पर पहले किसी प्रकार की बैंकिग सुविधाएँ प्राप्त नही है, नई शाखाएँ स्थापित करने के लिए बैंकों को उपयुक्त प्रकार की इमारतें प्राप्त करने में बहुत कठिनाई होती है। यदि ठीक प्रकार की इमारत मिलती भी है तो उस इमारत का मालिक बैंकों से अत्यधिक किराये की माँग करता है। तीसरे, बैंक के कर्मचारी छोटे कस्बों में जाना नहीं चाहते है क्योंकि वहाँ पर उनको तथा उनके परिवार के सदस्यों को सामान्य सुख-सुविधाएँ प्राप्त नही हो पाती है। अपने बच्चों की शिक्षा पर भी कर्मचारियों को अधिक खर्चा करना पड़ता है क्योंकि छोटे कस्बों मे आज भी महाविद्यालयों तथा तकनीकी कालिजों का अभाव है। इन सब कारणों से वाणिज्य बैकों को नयी शाखाओं पर नियुक्त कर्मचारियों को अधिक वेतन का प्रलोभन देने पर विवश होना पड़ता है। इन सब बातो का प्रभाव यह होता है कि नई शाखा को खोलने तथा चलाने में बैंक को काफी अधिक खर्च करना पड़ता है तथा परिणामस्वरूप आरम्भिक कुछ वर्षो तक नई शाखा द्वारा लाभ प्राप्त करने की आशा पूर्णतया समाप्त हो जाती है। वाणिज्य बैंको को छोटे केन्द्रों पर नयी शाखाये खोलने के लिए उत्साह प्रदान करने के लिए सरकार को उन वाणिज्य बैंको को जो छोटे केन्द्रों पर शाखायें खोलती है, करों में कुछ छूट देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को एक वाणिज्य बैंक शाखा विस्तारण सहायता कोष स्थापित करना चाहिये तथा इस कोष में से वाणिज्य बैंकों द्वारा खोली गयी नयी शाखाओं के नुकसान का भुगतान किया जाना चाहिए। भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक को यह कदापि नही भूलना चाहिए कि वाणिज्य बैंक अंशधारियों की बैंक हैं तथा इस नाते ये बैंक नयी शाखा खोलकर अधिकतम लाभ प्राप्ति के उद्देश्य को नहीं भुला सकती है।

में विभाजित हैं। जिन बैंकों की चुकती पूँजी तथा आरक्षण ५ लाख रुपये से कम है वे बैंक अन-अनुसूचित बैंक कहलाती हैं। वाणिज्य बैंक जमाकर्त्ताओं, से जिनमें व्यक्ति, उद्योग, वाणिज्य तथा अन्य संस्थाएँ सम्मिलित हैं, चालू, मियादी तथा बचत जमा स्वीकार करती हैं। ये बैंक अधिकांशत: वाणिज्य तथा उद्योग को अल्पकालीन ऋण तथा अग्रिम प्रदान करती हैं। कुछ भारतीय वाणिज्य बैंक विदेशी विनिमय का लेनदेन भी करती हैं तथा इन बैंकों की विदेशों में भी शाखाएँ हैं। गत वर्षों में कुछ बड़ी वाणिज्य बैंकों ने हामीदार के रूप में कार्य करके उद्योगों के साधारण अंशों की हामीदारी भी की है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य वाणिज्य बैंक गत कुछ वर्षों से भारत सरकार की गारन्टी योजना के आधीन लघु उद्योगों को भी ऋण सहायता प्रदान करती हैं। १९७१ ई० के अन्त में अनुसूचित वाणिज्य बैंकों के कुल कार्यालयों की संख्या १२,९८५ थी जिसमें से २,४७७ कार्यालय स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा १,३०४ कार्यालय इसकी ७ सहायक बैंकों के थे। निम्नलिखित सारिणी भारत में १९५५ ई० से लेकर १९७१ ई० तक १३ वर्ष की अवधि में अनुसूचित बैंकों की प्रगति को व्यक्त करती है।

(राशि करोड़ रुपयों में)

वर्ष (दिसम्बर का अंन्तिम शुक्रवार)	अनुसूचित बैंकों की संख्या	माँग जमा (अन्तर-बैंक जमाओं के अतिरिक्त)	मियादी जमा (अन्तर-बैंक जमाओं के अतिरिक्त)	कुल जमा	कुल बैंक अग्रिम	अग्रिम-जमा अनुपात
१	२	३	४	५	६	७
१९५५	८९	५७१·८	४०३·९	९७५.७	५९३·९	६०·८
१९५६	८९	६०३·४	४४९·१	१,०५२·५	७४४·६	७०·८
१९५७	९१	६५८·९	६३८·७	१,२९७·५	८१९·५	६६·२
१९५८	९३	६४९:८	८६६·८	१,५१६·२	८३०·६	५४·८
१९५९	९४	६६८·९	१,०९७·९	१,७६६·८	९२१·९	५२·२
१९६०	९३	७२१·०	१,०८६·४	१,८०७·३	१,१३०·०	६२·५
१९६१	८२	७३२·६	१,१०२·१	१,८३४·७	१,२७७·०	६९·६
१९६२	८०	८१६·९	१,२२२·०	२,०३८·९	१,४२१·८	६९·७
१९६३	७९	९९७·२	१,२५६·३	२,२५२·८	१,५८०·९	७०·२
१९६४	७६	१,१७८·३	१,३४५·७	२,५२४·०	१,८११·०	७१·८
१९६५	७६	१,३६७·२	१,५१९·८	२,८८७·०	२,१०५·६	७२·९
१९६६	७६	१,५८२·६	१,७९५·८	३,३७८·४	२,४३४·२	७२·१
१९६७	७३	१,७८१·२	१,९८१·९	३,७३३·१	२,७२७·३	७२·५
१९६८	७३	१,८७४·८	२,०९४·२	३,९६९·०	३,१०२·९	७८·२
१९६९	७३	२,१०३·५	२,५४२·३	४,६४५·८	३,५९८·८	७७·५
१९७०	७२	२,३२८·८	२,९४५·७	५,२७४·५	४,२१२·७	७९·९
१९७१	७४	२,७२५·१	३,४६४·८	६,१८९·९	४,७७५·८	७७·२

उपरोक्त सारिणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गत १६ वर्ष में अनुसूचित बैंकों की कुल जमाओं में सामान्य रूप से वृद्धि हुई हैं। वाणिज्य बैंकों की कुल जमाएँ १९५५ ई० में ९७५·७ करोड़ रुपये से बढ़कर १९७१ ई० में ६,१९० करोड़ रुपये को प्राप्त हो गई थीं। इसके अतिरिक्त

मियादी जमाओं में माँग जमाओं की तुलना में अधिक वृद्धि हुई है। १९७१ ई० के अन्त में मियादी जमा कुल जमाओं का ५२·६ प्रतिशत थीं जबकि १९५५ ई० में यह प्रतिशत केवल ४२ था।

निवेश तथा अग्रिम

अनुसूचित बैंकों द्वारा १९५५ ई० से लेकर १९७१ ई० तक गत १७ वर्षों में सरकारी ऋणपत्रों में किये गये कुल निवेशों की स्थिति के सम्बन्ध में निम्नलिखित सारणी के अध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है।

(राशि करोड़ रुपयों में)

वर्ष (दिसम्बर के अन्तिम शुक्रवार को	बैंकों की संख्या	सरकारी ऋणपत्रों में निवेश	निवेश-जमा अनुपात
१	२	३	४
१९५५	८९	३८२·८	२९·२
१९५६	८९	३६४·२	३४·६
१९५७	९१	४३२·९	३३·४
१९५८	९३	६३७·०	४२·०
१९५९	९४	७८७·४	४४·६
१९६०	६३	६३०·३	३४·९
१९६१	८२	५७७·०	३१·४
१९६२	८०	६४६·२	३१·७
१९६३	७९	७०७·२	३१·४
१९६४	७६	७६४·४	३०·३
१९६५	७६	८२६·२	२८·६
१९६६	७६	९५२·०	२८·३
१९६७	७३	१,००६·९	२६·७
१९६८	७३	९७५·६	२४·६
१९६९	७३	१,१२६·३	२४·२
१९७०	७२	१,१८६·१	२२·५
१९७१	७४	१,३६९·४	२२·१

शाखा विस्तारण कार्यक्रम

यद्यपि पाँच वर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास होने के हेतु १९५७ ई० से वाणिज्य बैंकों के शाखा विस्तारण कार्यक्रम की गति तेज हो गई थी परन्तु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया इस गति से संतुष्ट नहीं थी। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक के विचार में देश के ग्रामीण भागों में बैंकिंग सुविधाओं को उपलब्ध करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए वाणिज्य बैंकों की शाखा विस्तारण नीति में भी सुधार करने की आवश्यकता थी। रिजर्व

(3) Reports of Co-operative Movement in India.
(4) Statistical Statements Relating to the Co-operative Movement in India 1968-69.
(5) Co-operative News Digest, May 1968.

प्रश्न

1. Describe the reasons for the slow growth of land mortgage banks in India. Suggest remedies.
2. Discuss the role played by the co-operative credit agencies in meeting the credit needs of the farmer in India.
3. Evaluate the working of the co-operative credit societies in India. What, in your opinion, are their shortcomings and how can these be remedied ?

४१

वाणिज्य बैंक
(Commercial Banks)

भारत में आधुनिक वाणिज्य बैंकिंग का आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पुराने नौकरों द्वारा स्थापित अभिकर्तागृहों से हुआ था जो बैंकिंग तथा व्यापार कार्य सम्पन्न करते थे। प्रथम मिश्रित पूँजी बैंक, जिसका नाम बैंक ऑफ हिन्दुस्तान था, यूरोपीय प्रबन्धन के आधीन स्थापित हुई थी तथा प्रथम पूर्णतया भारतीय मिश्रित पूँजी बैंक, जिसका नाम अवध कामर्शियल बैंक था, १८८१ ई० में स्थापित हुई थी। इस बैंक की स्थापना के शीघ्र पश्चात् १८९४ ई० में पंजाब नेशनल बैंक, जो आज देश की प्रथम पाँच बड़े बैंकों में है, की स्थापना हुई थी। १९०१ ई० में पीपल्स बैंक को स्थापित किया गया था।

स्वाधीनता आन्दोलन, जो १९०५ ई० में प्रारम्भ हुआ था, ने भारत में भारतीय बैंकों की स्थापना को विशेष रूप से अनुकूल स्थिति प्रदान की थी क्योंकि आन्दोलन के प्रभाव के आधीन व्यापारी तथा उद्योगपति अपनी जमाओं को तथा वाणिज्य लेनदेन को विदेशी बैंकों के साथ न करके भारतीय बैंकों के साथ करने लग गये जिसके फलस्वरूप भारतीय बैंकों का भारतीय वाणिज्य के विकास के साथ साथ विकास सम्भव हो सका। परन्तु प्रगति के पथ पर समय समय पर बाधायें भी विद्यमान होती हैं तथा भारतीय वाणिज्य बैंकिंग का विकास भी इन बाधाओं से मुक्त नहीं है। १९१३ ई० के बैंकिंग संकट में कई भारतीय बैंक फेल हो गई थीं। तत्पश्चात 'बीसा' के बैंकिंग संकट काल में भी कई भारतीय बैंकों को कार्य समाप्त करने पर विवश होना पड़ा। उदाहरणार्थ, बैंक ऑफ अपर इण्डिया, जिसका प्रधान कार्यालय मेरठ में स्थित था, एलायेंस बैंक ऑफ शिमला तथा ट्रावनकोर नेशनल तथा क्वीलन बैंक क्रमशः १९१४ ई०, १९२३ ई० तथा १९३८ ई० में फेल हो गई थीं।

वर्तमान वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली अनुसूचित तथा अन-अनुसूचित बैंकों में विभाजित हैं। जिन बैंकों की चुकती पूँजी तथा कुल आरक्षण मिला कर ५ लाख रुपये अथवा इससे अधिक हैं वे बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की दूसरी अनुसूची में सम्मिलित बैंक कहलाती हैं। अनुसूचित बैंक चुकती पूँजी तथा आरक्षणों की राशि के आधार पर 'अ' 'ब' तथा 'स' श्रेणियों

एकीकरण

जिस प्रकार कि बैंकिंग उद्योग को दृढ़ तथा आर्थिक संकट का सामना करने योग्य बनाने के लिये बैंकों की नकदी स्थिति को दृढ़ बनाना आवश्यक है उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि देश की बैंकिंग प्रणाली में कमजोर तथा छोटी बैंक नहीं होनी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि जो बैंक कमजोर हैं तथा वित्तीय संकट को सहन करने के अयोग्य हैं उन बैंकों को फेल होने की संभावना से बचाने के लिए उनका बड़ी बैंकों के साथ एकीकरण कर देना चाहिए। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को इस सम्बन्ध में घनी शक्तियाँ प्राप्त हैं। १९६० ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को कमजोर बैंकों का अनिवार्य रूप से एकीकरण करने की शक्ति प्रदान की गई थी। १९६० ई० से लेकर १९७१ ई० तक ११ वर्ष की अवधि में २०४ बैंकों का अन्य बैंकों के साथ एकीकरण किया गया है। निम्नाङ्कित सारिणी में कुल बैंक एकीकरणों को व्यक्त किया गया है।

वर्ष	बैंकिग नियमन अधिनियम, १९४९ की धारा ४४ (अ) के आधीन किये गये ऐच्छिक एकीकरण	बैंकिग नियमन अधिनियम, १९४९ की धारा ४५ के आधीन किए गए अनिवार्य एकीकरण	अन्य एकीकरण	कम्पनीज अधिनियम, १९५६ की धारा २९३ (१) (अ) के अन्तर्गत परिसम्पत्ति तथा देयताओं का अन्तरण	जोड़
१९६०	२	—	—	५	७
१९६१	१	३०	२	३	३६
१९६२	३	१	२	५	११
१९६३	२	१	४	१५	२२
१९६४	७	९	१	६२	७९
१९६५	५	४	३	२१	३३
१९६६	—	—	२	५	७
१९६७	—	—	३	६	९
१९६८	१८	६	—	—	२४
१९६९	—	—	—	—	—
१९७०	—	२	—	२	४
१९७१	—	—	—	१	१
जोड़	३८	५३	१७	१२५	२३३

जमाकर्ताओं की जमाओं का संरक्षण—जमा बीमा योजना

यद्यपि भारत में वाणिज्य बैंक समय समय पर फेल होती रही हैं तथा इनके फेल होने के फलस्वरूप जमाकर्ताओं को काफी हानि का शिकार होना पड़ा है परन्तु १९६२ ई० में पलाई सेन्ट्रल बैंक लिमिटेड तथा लक्ष्मी बैंक लिमिटेड के फेल होने के फलस्वरूप सरकार का ध्यान बैंकिंग प्रणाली को दृढ़ बनाने की आवश्यकता की ओर आकर्षित हुआ। इस समय रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

की भी काफी आलोचना की गई तथा रिजर्व बैंक को इन बैंकों की खराब वित्तीय स्थिति की ओर पर्याप्त ध्यान न देने का दोषी ठहराया गया। वाणिज्य बैंकों में जमा की गई जमाकर्ताओं की जमाओं को संरक्षण प्रदान करने के हेतु जमा बीमा अधिनियम, १९६१ ई० के अन्तर्गत प्रथम जनवरी १९६२ ई० को जमा बीमा निगम की स्थापना की गई। बैंकों को बीमा निगम के साथ अपनी जमाओं का बीमा कराना अनिवार्य घोषित किया गया। प्रत्येक जमाकर्त्ता की जमा राशि १०,००० रुपये तक जमा बीमा योजना के अन्तर्गत सुरक्षित है। यद्यपि आरम्भ में यह योजना केवल वाणिज्य बैंकों की जमाओं पर लागू की गई थी परन्तु अब सहकारी बैंकों की जमाओं का भी इस योजना के अधीन अनिवार्य रुप से बीमा किया जाता है। जमा बीमा निगम की एक करोड़ रुपये की पूँजी राशि पर पूर्णतया रिजर्व बैंक आफ इंडिया का स्वामित्व है। १९७१ ई० में देश में ८२ बैंकों की जमाओं का बीमा था। सितम्बर १९७१ ई० के अन्त तक बीमा प्राप्त बैंकों के ९६·४ जमा लेखों का जमा बीमा योजना के अधीन बीमा था। आरम्भ से १९७१ ई० तक जमा बीमा निगम ने १४ बैंकों से सम्बन्धी ११४ लाख रुपये की राशि की जमाओं का भुगतान किया था।

वाणिज्य बैंक तथा भारत में आर्थिक विकास

स्वाधीनता-पश्चात दो दशाब्दियों की अवधि देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से अत्याधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इस अवधि में बैंकिग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा सहायक बैंकों की स्थापना, रिजर्व बैंक द्वारा जमा बीमा निगम तथा औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना आदि बैंकिग के क्षेत्र में हुये अनेक परिवर्तनों के कुछ उदाहरण हैं।

गत वर्षों में वाणिज्य बैंकों का कार्य अनेक स्तरों पर आलोचनाओं का विषय रहा है तथा सत्ताधारी कांग्रेस दल में वाँमपन्थियों ने वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग की है। बैंकों पर नियंत्रण करने सम्बन्धी सामाजिक नियंत्रण अधिनियम प्रथम फरवरी १९६९ ई० से लागू हो गया था तथा राष्ट्रीय साख परिषद को बैंकों के लिए ऋण सम्बन्धी सामान्य नीति को निर्धारित करने के उद्देश्य से स्थापित कर दिया गया था। इन आलोचनाओं की पृष्ठभूमि में वाणिज्य बैंकों के कार्य का परीक्षण करना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है कि वाणिज्य बैंकों का नियोजित आर्थिक विकास में क्या योगदान रहा है।

इस सम्बन्ध में यद्यपि वाणिज्य बैंकों का देश के विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में समान योगदान नहीं रहा है—यह इस सत्य से स्पष्ट है कि जब कि वाणिज्य बैंकों ने अत्यधिक ऋण प्रदान करके देश के औद्योगीकरण में भारी योग दान दिया है कृषि तथा लघु उद्योगों की ओर सामान्य रूप से वाणिज्य बैंकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है—परन्तु उन्होंने देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

वाणिज्य बैंकों ने बड़े उद्योगों को भारी ऋण सहायता प्रदान करके देश के औद्योगीकरण में प्रशंसनीय कार्य किया है। तीनों योजनाओं की अवधि में वाणिज्य बैंकों के कुल अग्रिमों में लगभग ४०० प्रतिशत की वृद्धि हुई थी तथा ये १९५१ के आरम्भ में ४७५·६३ करोड़ रुपये से बढ़कर मार्च १९६६ ई० के अन्त में २,३४६·८० करोड़ रुपये हो गये थे। वाणिज्य बैंकों के कुल औद्योगिक अग्रिम जो १९५१ ई० के आरम्भ में केवल १५२·३६ करोड़ रुपये थे १९६६ ई० के अन्त में बढ़कर १,५०९·७९ करोड़ रुपये हो गये थे। कुल अग्रिमों के प्रतिशत रूप में वाणिज्य बैंकों के औद्योगिक अग्रिम १९५१ ई० में ३२·०% से बढ़कर १९६६ ई० में ६४·३% प्रतिशत हो गये थे।

गत तीन पंच वर्षीय योजनाओं की अवधि में वाणिज्य बैंकों ने देश के औद्योगिक ढांचे को शक्तिशाली बनाने के अतिरिक्त इसका विस्तार भी किया था। वास्तव में प्रत्येक पश्चावर्ती पंचवर्षीय योजना अवधि में बैंकों द्वारा उद्योगों को बढ़ती हुई मात्रा तथा अनुपात में ऋण प्रदान किये गये थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में वाणिज्य बैंकों के कुल अग्रिमों में हुई १८५.६ करोड़ रुपये की वृद्धि में से ८२.४ करोड रुपये की राशि अथवा ४४.४ प्रतिशत वृद्धि औद्योगिक अग्रिमों में वृद्धि होने के कारण हुई थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में वाणिज्य बैंकों के अग्रिमों में ५३६.० करोड़ रुपये की कुल वृद्धि हुई थी जिसमें ७६.० प्रतिशत अथवा ४०७.१ करोड़ रुपये की राशि की वृद्धि वाणिज्य बैंकों के औद्योगिक अग्रिमों में हुई थी। इसी प्रकार तीसरी पंचवर्षीय योजना में अग्रिमों में हुई कुल १,०४०.६ करोड़ रुपये की राशि की वृद्धि में ७९.२ प्रतिशत अथवा ८२४.२ करोड़ रुपये की वृद्धि वाणिज्य बैंकों के औद्योगिक अग्रिमों में हुई थी।

वाणिज्य बैंकों ने देश में औद्योगिक क्षेत्र के विकास में घनी मात्रा में वित्तिय सहायता प्रदान करके देश के आर्थिक विकास में प्रशंसनीय कार्य किया है। पुराने उद्योगों को उनके विस्तारण कार्यक्रम में वित्तिय सहायता देने के अतिरिक्त वाणिज्य बैंकों ने देश में नये बड़े उद्योगों को स्थापित करने में भी सहायता दी है। कागज, रबर, रसायन, सीमेंट, होटल आदि उन उद्योगों के उदाहण हैं जिनको वाणिज्य बैंकों द्वारा अग्रिम राशि में वृद्धि हुई थी।

परन्तु जहाँ वाणिज्य बैंकों का देश में बड़े उद्योगों के विकास में सराहनीय योगदान रहा है इसके दूसरी ओर लघु उद्योगों तथा कृषि के प्रति वाणिज्य बैंकों ने उदासीनता व्यक्त की है। देश में १५ वर्ष के नियोजित आर्थिक विकास के पश्चात भी मार्च १९६६ ई० में वाणिज्य बैंकों ने लघु उद्योगों को कुल केवल ९०.७६ करोड़ रुपये की राशि के अग्रिम प्रदान किये थे जो इन के कुल अग्रिमों के केवल ३.९ प्रतिशत थे।

१९६० ई० से लेकर १९६६ ई० तक ६ वर्ष की अवधि में राशि के रूप में वाणिज्य बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये अग्रिमों में ७० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी। परन्तु कुल अग्रिमों के प्रतिशत के रूप में यह वृद्धि अधिक असन्तोषजनक थी तथा ये अग्रिम कुल अग्रिमों के १.९ प्रतिशत से बढ़कर केवल ३.९ प्रतिशत हो गये थे। दूसरे शब्दों में, यद्यपि राशि के रूप में लघु उद्योगों को दिये गये अग्रिमों में लगभग ३५० प्रतिशत की वृद्धि हुई थी परन्तु प्रतिशत के रूप में यह वृद्धि केवल १०० प्रतिशत थी। यह स्पष्ट है कि वाणिज्य बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को अब तक दी गई वित्तीय सहायता की राशि अत्यधिक कम रही है तथा देश में बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या को ध्यान में रखते हुये इन उद्योगों का तीव्र विकास करने की आवश्यकता है। बैंक राष्ट्रीयकरण के पश्चात वाणिज्य बैंकों ने लघु उद्योगों का काफी घनी मात्रा में वित्तिय सहायता प्रदान की है। जून ११७० में वाणिज्य बैंकों ने ४४५.६ करोड़ रुपये तथा मार्च १९७१ ई० में ५४३.८ करोड़ रुपये राशि की ऋण सहायता प्रदान की थी।

लघु उद्योगों के अतिरिक्त वाणिज्य बैंकों ने देश की कृषि अर्थव्यवस्था के विकास में भी नग्न वित्तिय सहायता प्रदान की है। वास्तव में एक दृष्टि से यह खेदजनक बात है कि कृषि प्रधान देश में देश के आर्थिक विकास में कृषि के विकास पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।जहाँ तक वाणिज्य बैंकों की वित्तिय सहायता का प्रश्न है तीनों योजनाओं की अवधि में कृषि को दी गई प्रत्यक्ष ऋण सहायता राशि तथा प्रतिशत के रूप में कम हो गई। थी कृषी को प्रदान की गई सहकारी साख संस्थाओं के माध्यम द्वारा अप्रत्यक्ष अग्रिम राशि में भि विशेष मात्रा में वृद्धि नहीं हुई थी। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष ऋण सहायता में कुल अग्रिम राशि के तप्रिशत

के रूप में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। परन्तु राष्ट्रीयकरण के पश्चात वाणिज्य बैंकों ने कृषि वित्त के क्षेत्र में सराहनीय योगदान दिया है तथा अब वाणिज्य बैंकों के कृषि अग्रिमों की राशि ४०० करोड़ रुपये से अधिक हो गई है। निम्नलिखित तालिक राष्ट्रीयकरण के पश्चात बैंकों द्वारा कृषि कार्यों, लघु उद्योग क्षेत्र तथा निर्यातों के लिये प्रदान की गई वित्तिय सहायता को व्यक्त करती है।

अनुसूचित बैंकों के कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यातों की अग्रिम

(अग्रिम राशि करोड़ रुपयों में)

	स्टेट बैंक तथा इसकी सहायक	१४ राष्ट्रीयकृत बैंक	अन्य अनुसूचित वाणिज्य बैंक	योग
कृषि कार्यों के लिए				
जून १९७० ई०	१४१·९१	१५९·७३	४०·१३	३११·७७
मार्च १९७१ ई०	१४२·९७	१९४·५७	४०·९८	३७८·५२
लघु उद्योग				
जून १९७० ई०	१६७·७९	२२६·९६	५०·८३	४४५·५७
मार्च १९७१ ई०	२०४·८३	२७८·१३	६०·८१	५४३·७७
निर्यात				
जून १९७० ई०	९२·०२	१५८·०४	७०·४४	३२०·४९
मार्च १९७१ ई०	१०३·३७	१७३·५८	८६·४६	३६३·४१

उपरोक्त सारिणी से यह स्पष्ट होता है कि देश में कृषि तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास की ओर वाणिज्य बैंकों का ध्यान आकर्षित हो पाया है तथा इस सम्बन्ध में स्थिति में सुधार हुआ है। इस संबन्ध में वाणिज्य बैंकिग के क्षेत्र में हो रहे परिवर्तन महत्वपूर्ण हैं। बैंकिग आयोग की नियुक्त की जा चुकी है तथा यह आशा की जाती है कि आयोग समस्या पर पूर्ण विचार करके अपनी रिपोर्ट में कृषि तथा ग्रामीण वित्त के क्षेत्र मे वाणिज्य बैंकों के योगदान के संबन्ध में ऐसे ठोस सुझाव देगा जिनको कार्यान्वित करना सभी पक्षों—वाणिज्य बैंकों, कृपक, सहकारी साख संस्थाओं—के हितों के अनुकूल होगा। वाणिज्य बैंकों ने एक कृषि वित्त निगम को स्थापना की है। यह निगम कृषि यंत्रों, कृषि आदानों, मुर्गीपालन, दुग्धशाला उद्योग आदि के लिए ऋण दे रही है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी वाणिज्य बैंकों ने कृषि को ऋण सहायता देने के हेतु नये कृषि साख विभागों को स्थापित किया है। इन में कृषि सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति की जा रही है। चौथी पंच वर्षीय योजना की अवधि में वाणिज्य बैंक कृषि को काफी अधिक राशि की वित्तिय सहायता प्रदान करके देश की कृषि अर्थव्यवस्था के विकास में अपना योगदान देंगी।

अध्ययन सूची

1. Reserve Bank of India : Trend and Progress of Banking in India, Annual Report 1971.

: Statistical Tables Relating to Banks in India.

2. S. G. Panandikar : Banking in India, Chapter VII.
3. S. K. Muranjan : Modern Banking in India, Chapters VI and IX.

प्रश्न

1. Discuss the progress of commercial banking in India in the post-independence period.
2. Discuss the role of commercial banking in the economic development of cout thenry during the period of three Plans.

४२

बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण
(Social Control and Nationalisation of Banks)

गत वर्षों में देश में वाणिज्य बैंकों के भविष्य के सम्बन्ध में काफी अनिश्चितता उत्पन्न हो गई है। बेंक राष्ट्रीयकरण के पूर्व सत्ताधारी कांग्रेस दल के वॉमपन्थी सदस्यों ने वाणिज्य बैंकों के कार्य की आलोचना की थी। दल के जबलपुर अधिवेशन में, जो नवम्बर १९६७ ई० हुआ था, वाम पन्थी कांग्रेस सदस्यों ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण की कड़ी माँग की थी। सरकार द्वारा वाणिज्य बैंकों का प्रस्तावित सामाजिक नियन्त्रण, जिसके अनुसार राष्ट्रीय साख परिषद् (National Credit Council) की स्थापना बैंकों की साख नीति को निर्धारित करने तथा इनके प्रबन्धन का नियमन करने के उद्देश्य से की गई थी, सत्ताधारी कांग्रेस दल के द्वारा अपने वामपन्थी सदस्यों को शान्त करने के उद्देश्य से किया गया था। उपप्रधान मन्त्री श्री मुरारजी देसाई ने जबलपुर अधिवेशन में दल के सदस्यों को यह आश्वासन दिया था कि यदि सामाजिक नियन्त्रण योजना सफल सिद्ध नहीं हुई तो सरकार वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर देगी। इस सम्बन्ध में कांग्रेस संसदीय दल के मन्त्री श्री चन्द्रशेखर, जो दल के वॉमपन्थी प्रभावकारी सदस्य थे, के आदेश पर चार अर्थशास्त्रियों[1] द्वारा बैंकों के कार्य की आलोचनाओं तथा भविष्य में उनका राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष में एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की गई थी।

आलोचकों द्वारा वाणिज्य बैंकों पर समाज विरोधी क्रियाओं मे व्यस्त रहने का आरोप लगाया गया है। यह कहा गया है कि भारत के समान कृषि प्रधान देश में वाणिज्य बैंकों ने कृषक की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने की ओर उदासीनता दिखलाई है। बैंकों ने एकाधिकारी प्रवृत्तियों को उत्तेजित किया है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान करने की ओर वाणिज्य बैंकों ने कोई रुचि व्यक्त नहीं की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि गाँव का गरीब कृषक आज भी महाजन की जकड़ में जकड़ा हुआ है तथा भारतीय कृषि का विकास नहीं हो पाया है। इसके अतिरिक्त वाणिज्य बैंक देश में सहकारी संस्थाओं तथा लघु उद्योगों को भी साख सहायता प्रदान

---

1. वे चार अर्थशास्त्री जिन्होंने रिपोर्ट बनाई थी प्रोफेसर एच० के० मनमोहनसिंह, डा० वी० बी० सिंह, डा० एस० के० गोयल तथा डा० एस० सी० गुप्ता थे।

करने में असमर्थ रही है। वाणिज्य बैंकों ने योजना की प्राथमिकताओं का अनादर करके केवल कुछ बड़े उद्योगपतियों को ऋण सहायता प्रदान की हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक सत्ता का केवल कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में संकेन्द्रण हो गया है तथा देश के औद्योगिक ढांचे का असन्तुलित विकास हो गया है। गाँव की बचत का बड़े नगरों के बड़े उद्योग-पतियों को लाभ प्राप्त हुआ है। वाणिज्य बैंकों ने अधिकांश ऋण तथा अग्रिम उन उद्योगों को दिये हैं जिनमें बैंक के संचालकों का आर्थिक हित निहित होता है। अधिकांश वाणिज्य बैंक केवल बड़े नगरों में संकेन्द्रित हैं। कृषि को ऋण सहायता प्राप्त न होने से देश का नियोजित आर्थिक विकास पूर्ण रूप से सम्भव नहीं हो सका है। नियोजित अर्थव्यवस्था तथा व्यक्तिगत बैंकिंग प्रणाली दो परस्पर असंगत बातें हैं।

अपनी रिपोर्ट में चार अर्थशास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया है कि वाणिज्य बैंकों द्वारा दिये गये ऋण आर्थिक विकास योजनाओं में निर्धारित प्राथमिकताओं के अनुसार नहीं थे। उपप्रधान-मन्त्री श्री मुरारजी देसाई ने भी संसद में १४ दिसम्बर, १९६७ ई० को बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण विधेयक प्रस्तुत करते हुए अपने भाषण में कहा था कि बैंकों द्वारा केवल बड़े उद्योगों को ऋण देने की नीति में मूल परिवर्तन करने की भारी आवश्यकता थी। श्री देसाई के विचारानुसार बैंकिंग प्रणाली एक ऐसे महत्वपूर्ण मध्यम का कार्य करती है जिसके माध्यम द्वारा समुदाय की कुल बचत का संग्रह होता है तथा इसका उत्पादक कार्यों में उपभोग किया जाता है। इससे किसी को इन्कार नहीं हो सकता है कि देश की सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की नीतियों तथा प्रथाओं का लक्ष्य मौलिक सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति होना चाहिये। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाणिज्य बैंकों तथा कुछ बड़े उद्योगपतियों के बीच एक इस विशेष प्रकार की भारी सांठगांठ रही हैं जिसके कारण बैंक ऋणों का एक संकुचित औद्योगिक क्षेत्र में संकेन्द्रण हो गया है जो देश के नियोजत आर्थिक विकास के लिए हितकर नहीं है। इन कारणों से बैंकों के कार्य पर सामाजिक नियन्त्रण करना आवश्यक है। भविष्य में बैंक साख का अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागों के मध्य, विशेष रूप से कृषि, लघु उद्योगों तथा निर्यात व्यापार के विकास के लिए, समान रूप से वितरण करने के लिए बैंकों की ऋण प्रदान करने सम्बन्धी नीति पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।

वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए चार अर्थशास्त्रियों की रिपोर्ट में यह कहा गया था कि राष्ट्रीयकृत बैंकों का शाखा विस्तारण कार्यक्रम इस विशेष प्रकार का हो सकेगा कि देश में ग्रामीण तथा अर्धग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिग सुविधाओं का अतिशीघ्र विकास संभव हो सकेगा तथा ऐसा होने से राष्ट्रीय विकास कार्य के लिये पर्याप्त जमा साधन प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक बैंकों की साख वितरण नीति लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से प्रेरित न होकर प्राथमिकता-प्राप्त उद्योगों को अधिक ऋण सहायता देने के अनुसार निर्धारित होगी। तीसरे, योजनाओं को उत्तम कार्यरूप प्रदान करने के द्वारा अधिक आर्थिक विकास को संभव बनाने के अतिरिक्त राष्ट्रीयकृत बैंक अर्थव्यवस्था के अन्तर्क्षेत्रीय आर्थिक विकास को भी संभव बना सकेंगी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में यह भी तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यदि बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने के फलस्वरूप बैंकिंग के क्षेत्र में एकाधिकार उत्पन्न हो जावेगा तो भी इससे भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सार्वजनिक एकाधिकार व्यक्तिगत एका-धिकार की तुलना में उत्तम होता है तथा यह अपनी सभी नीतियों के लिए संसद तथा सरकार के समक्ष उत्तरदायी होता है। परिणामस्वरूप इसके कारण सामाजिक हितों की कोई क्षति नहीं होगी।

वाणिज्य बैंकों के कार्य सम्बन्धी उपरोक्त आलोचनाओं तथा इनके राष्ट्रीयकरण के पक्ष में प्रस्तुत किये गये उपरोक्त तर्कों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमें से काफी आलोचनाएं तथा तर्क वास्तविकता से दूर हैं।

हमारे लिये चार अर्थशास्त्रियों के इस तर्क से सहमत होना कठिन है कि नियोजन तथा व्यक्तिगत वाणिज्य बैंक परस्पर विरोधी अथवा असंगत संस्थाएं हैं। यद्यपि रूस, चीन, रूमानिया, चेकोसलोवाकिया आदि कुछ ऐसे देश हैं जहाँ नियोजित आर्थिक विकास के लिए व्यक्तिगत बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक विचारा गया था परन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता है कि नियोजित आर्थिक विकास देश में व्यक्तिगत बैंकिंग प्रणाली के अस्तित्व से टक्कर खाता है। वास्तव में इन देशों में बैंकों का राष्ट्रीयकरण समाजवादी विचारधारा के प्रभाव के आधीन किया गया था। संसार के देशों के आर्थिक विकास के इतिहास का अध्ययन करने से यह भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि व्यक्तिगत बैंकिंग प्रणाली की उपस्थिति में भी आर्थिक विकास हुआ है। आज भी मेक्सीको, नाइजीरिया तथा पाकिस्तान के समान ऐसे अनेक देशों के उदाहरण दिए जा सकते हैं जहाँ व्यक्तिगत बैंकिंग प्रणाली को समाप्त किये बिना नियोजित आर्थिक विकास कार्य को सफल बनाया गया है।

वाणिज्य बैंकों पर यह आरोप लगाना भी उचित नहीं हैं कि वे देश के औद्योगिक ढांचे का असन्तुलित विकास करने के लिए मूल रूप से जिम्मेदार है। हम को इस सत्य को कदापि नहीं भुलाना चाहिए कि बैंक केवल ऋण सहायता प्रदान करती हैं। परन्तु ऋण सहायता तभी दी जाती है जब पुराने उद्योगों का विस्तार करने अथवा नये उद्योगों को स्थापित करने के लिये उद्योगपतियों को भारत सरकार से अनुज्ञापत्र प्राप्त हो जाते हैं। असन्तुलित औद्योगिक विकास की जिम्मेदारी भारत सरकार की दोषयुक्त अनुज्ञापत्रदायक नीति की है वाणिज्य बैंकों की कदापि नहीं है।

यद्यपि वाणिज्य बैंक अनेक कारणों से ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास करने में असमर्थ रही हैं परन्तु आश्चर्य की बात है कि आज तक इस विषय पर कोई विशेष अध्ययन नहीं किया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों से कुल कितनी बचत प्राप्त हो सकती है। एक ओर तो यह स्पष्ट सत्य है कि ग्रामीण जनता गरीबी के भार से दबी हुई है तथा दूसरी ओर वाणिज्य बैंकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि ये ग्रामीण बचत को संचय करने में असफल रही हैं। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि गाँवों मे बेशी नकदी उपलब्ध है तो सहकारी साख संस्थाओं के अविलम्ब ऋणों की राशि में प्रति वर्ष वृद्धि क्यों होती जा रही है? यद्यपि इससे किसी को भी इन्कार नहीं हो सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास करना वाणिज्य बैंकों की एक आवश्यक सामाजिक जिम्मेदारी है परन्तु वाणिज्य बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोलने सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिये।

वाणिज्य बैंकों पर यह आरोप लगाया गया है कि इन्होंने कृषि तथा लघु उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने की ओर ध्यान नहीं दिया है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य बात है कि वाणिज्य बैंकों को कभी यह नहीं कहा गया था कि उनका यह कर्त्तव्य है कि वे इन क्षेत्रों की ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति करें। व्यक्तिगत क्षेत्र में वाणिज्य बैंक ही नहीं बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंकों का भी ऐसा विचार था कि कृषि साख समस्या का समाधान करना सहकारी साख संस्थाओं की जिम्मेदारी थी। उदाहरणार्थ, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के प्रबन्धक संचालक श्री एन. रामानन्द राव

के मतानुसार कृषि को प्रत्यक्ष वित्त सहायता प्रदान करना सहकारी संस्थाओं तथा रिजर्व बैंक की जिम्मेदारी थी क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता था कि वाणिज्य बैंकों के कृषि साख के क्षेत्र में प्रवेश करने से सहकारी आन्दोलन को गहरा धक्का लगेगा। ऐसा ही मत रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर श्री एच० वी० आर० आयंगर का है। जहाँ तक लघु उद्योगों को ऋण सहायता प्रदान करने का प्रश्न है यद्यपि वाणिज्य बैंक इस क्षेत्र की ओर आकर्षित नहीं हुई है परन्तु काफी अंश तक इसके लिए सरकारी योजनाएँ भी जिम्मेदार है। तीनों योजनाओं में कुल मिलाकर लघु उद्योगों पर लगभग १७५ करोड़ रुपये व्यय किये गये थे जो कुल योजना व्यय का एक प्रतिशत से भी कम था। ऐसी स्थिति में जबकि नियोजित विकास में लघु उद्योगों के आर्थिक महत्व को भुला दिया गया था वाणिज्य बैंकों की उदासीनता एक स्वाभाविक बात थी।

वाणिज्य बैंकों पर यह आरोप भी लगाया गया है कि इनकी ऋणदान नीति इन बैंकों के संचालकों के हितों द्वारा निर्धारित होती है तथा अधिकांश ऋण उन औद्योगिक इकाइयों को दिये जाते हैं जिनमें बैंक के संचालकों का आर्थिक हित होता है। इस विशेष दृष्टि से देखा जावे तो सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक व्यक्तिगत क्षेत्र के बैंकों की तुलना में अधिक अपराधी हैं जब तक कि यह सिद्ध न किया जावे कि सार्वजनिक वाणिज्य बैंकों के संचालक व्यक्तिगत वाणिज्य बैंकों के संचालकों की तुलना में अधिक दूरदर्शी तथा समाज कल्याण की भावना से प्रेरित होते हैं। १९६६ के अन्त में १५ बड़े व्यक्तिगत वाणिज्य बैंकों की कुल ऋण राशि (१,४७१ करोड़ रुपये) का केवल १०·१ प्रतिशत भाग (१४९ करोड़ रुपये) ऋणों के रूप में उन औद्योगिक इकाइयों को दिया गया था जिनमें इन बैंकों के संचालकों का कुछ हित था। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकों (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंक) की कुल ऋण राशि (६६१ करोड़ रुपये) का लगभग २४ प्रतिशत भाग (१७५ करोड़ रुपये) उन औद्योगिक इकाइयों को ऋणों के रूप में दिया गया था जिनमे इन बैंकों के संचालकों तथा स्थानीय मण्डलों के सदस्यों का हित था।

इसके अतिरिक्त कुल ऋणों के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य विभाजन के सम्बन्ध में भी सार्वजनिक क्षेत्र की बैंक व्यक्तिगत क्षेत्र में वाणिज्य बैंकों की तुलना में अधिक दोषी हैं। १९६६ ई० में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंकों के कुल ऋणों का ८० प्रतिशत भाग औद्योगिक विकास के लिये उद्योगों को दिया गया था। लघु उद्योगों को कुल ऋणराशि का केवल ३ प्रतिशत तथा सहकारी संस्थाओं को केवल ४ प्रतिशत ऋणों के रूप में प्रदान किया गया था। जहाँ तक कृषि को प्रत्यक्ष ऋण सहायता प्रदान करने का प्रश्न है १९६६ ई० में इसकी कुल राशि केवल ४ करोड़ रुपये थी जो कुल ऋण राशि का केवल ०.५ प्रतिशत के लगभग थी। इससे स्पष्ट होता है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंक भी कृषि, सहकारी संस्थाओं तथा लघु उद्योगों को पर्याप्त ऋण सहायता देने में असमर्थ रही हैं। यदि वाणिज्य बैंकों पर, जिनके औद्योगिक ऋण कुल ऋण राशि के केवल ६० प्रतिशत थे, यह आरोप लगाया जाता है कि ये देश के असन्तुलित औद्योगिक विकास के लिये जिम्मेदार हैं तो यह आरोप सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकों पर और भी अधिक उपयुक्त है क्योंकि इन बैंकों के औद्योगिक ऋण इनकी कुल ऋण राशि के ८० प्रतिशत थे। वास्तविकता तो यह है कि गत बारह वर्षों का कार्य यह सिद्ध करता है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसकी सहायक बैंकों की ऋण नीति वाणिज्य बैंकों की ऋण नीति के समान ही रही है तथा सार्वजनिक बैंकों के कार्य के अध्ययन के आधार पर व्यक्तिगत वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने के तर्क को कोई विशेष बल प्राप्त नहीं होता है। यदि ग्राहकों को साधारण

सुविधाएँ प्रदान करने के प्रश्न पर विचार किया जावे तो सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकों का कार्य बहुत ही असन्तोषजनक रहा है।

वाणिज्य बैंकों के कार्य सम्बन्धी उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से यह व्यक्त होता है कि इन बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने से लाभ प्राप्त होने के स्थान पर हानि हो सकती है तथा बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग आर्थिक आधार पर न की जाकर वामपन्थी राजनीतिक विचारों से प्रभावित हो कर की जा रही है।

परन्तु देश के आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को देखते हुए निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत वाणिज्य बैंकों की ऋण वितरण नीति का सामाजिक नियन्त्रण होना उचित है। कृषि का विकास होना आवश्यक है। तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्यान्न आवश्यकताओं की पूर्ति तथा औद्योगिक विकास कृषि के तीव्र विकास के बिना सम्भव नहीं हो सकता है। कृषि की ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यक है। कृषि-प्रधान देश में कृषि के अविकसित होने से अधिक अन्य कोई और शाप नहीं हो सकता है। सरकार ने बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी जो अधिनियम बनाया है आशा है इसके द्वारा वाणिज्य बैंकों का कार्य सामाजिक हितों के अनुकूल हो सकेगा। सामाजिक नियन्त्रण की योजना के अनुसार प्रत्येक वाणिज्य बैंक के संचालक मण्डल में अब कृषि तथा लघु उद्योगों सम्बन्धी विशेषज्ञ तथा अर्थशास्त्री होंगे जो वाणिज्य बैंक की ऋण नीतियों का इस प्रकार निर्धारण करेंगे कि प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को बैंकों से अधिक ऋण प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय साख परिषद सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली के लिये साख नीति को निर्धारित करेगी तथा प्रत्येक बैंक की साख नीति परिषद द्वारा निर्धारित साख नीति के अनुकूल होगी। वाणिज्य बैंकों को भविष्य में ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक संख्या में नई शाखाएँ स्थापित करनी होंगी।

बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण सम्बन्धी बैंकिंग कानून संशोधन अधिनियम १९६८ ई० प्रथम फरवरी १९६९ ई० से लागू कर दिया गया था। यह अधिनियम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को बैंकों पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से व्यापक सत्ता प्रदान करता है। अधिनियम के अनुसार बैंकों के प्रबन्धन, कार्य, निवेश, जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा, सन्तुलित आर्थिक विकास तथा बैंकिंग प्रणाली में सुधार करने सम्बन्धी रिजर्व बैंक को व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं। यह अधिनियम प्रथम बार रिजर्व बैंक को बैंकों के लिए उस नीति को निर्धारित करने का अधिकार प्रदान करता है जो यह वाणिज्य बैंकों द्वारा कार्यान्वित कराना चाहेगी। नये अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित प्रकार हैं।

(१) अधिनियम के अनुसार सरकार को किसी भी उस बैंक का अधिगमन (acquire) करने का अधिकार प्राप्त है जो रिजर्व बैंक के आदेशों का उल्लंघन करती है। अधिनियम में अधिगमन की गई बैंक के अंशधारियों को मुआवजा देने सम्बन्धी रीति की व्यापक विवेचना की गई है।

(२) प्रत्येक बैंक के संचालक मण्डल में कम से कम ५१ प्रतिशत सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिनको लेखाङ्कन, कृषि तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था, सहकारिता, बैंकिंग, वित्त, अर्थशास्त्र, कानून तथा लघु उद्योग सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त है। इनमें से कम से कम दो संचालक कृषि तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था, सहकारिता तथा लघु उद्योगों का प्रतिनिधित्व करेंगे। इन संचालकों का बड़े तथा मध्यम पैमाने के उद्योगों में कर्मचारी, प्रबन्धक, प्रबन्धक अभिकर्ता आदि के रूप में कोई व्यापक हित नहीं होगा। प्रत्येक विदेशी बैंक को भी अधिनियम की इस धारा के अन्तर्गत

एक इसी प्रकार की परामर्श परिषद नियुक्त करनी होगी जिस के सदस्य (केवल बैंक के प्रमुख कार्यकारी अधिकारी को छोड़ कर) भारतीय होंगे। प्रत्येक भारतीय बैंक का अध्यक्ष बैंकिंग का व्यावसायिक ज्ञान प्राप्त व्यक्ति होगा जो बैंक का पूर्णकालिक अधिकारी होगा। बैंक के अध्यक्ष की नियुक्ति करने तथा उसे सेवा मुक्त करने के पूर्व रिजर्व बैंक की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होगा।

(३) अधिनियम के अनुसार बैंक कर्मचारी बैंक के कार्यालय में प्रदर्शन अथवा अन्य किसी प्रकार की हिंसात्मक कार्यवाही करने से वर्जित किये गये हैं।

(४) अधिनियम के अनुसार बैंक किसी भी संचालक को अथवा किसी भी उस कम्पनी को जिसमें बैंक के संचालक का हिस्सेदार, संचालक, प्रबन्धक, प्रबन्धक अभिकर्ता, कर्मचारी, हामीदार अथवा अन्य किसी रूप में हित निहित है नये ऋण अथवा अग्रिम नहीं देगी तथा पुराने ऋणों का भुगतान भी अधिनियम के लागू होने के एक वर्ष पश्चात की अवधि तक करना होगा।

(५) अधिनियम में रिजर्व बैंक द्वारा वाणिज्य बैंकों के संचालक मण्डलों में अपने संचालकों अथवा अवलोककों की नियुक्ति करने सम्बन्धी शक्तियों को अधिक व्यापक बना दिया गया है। बैंकिंग नीति के हितों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से भी रिजर्व बैंक इनकी नियुक्ति कर सकती है।

(६) अधिनियम में बैंकिंग नीति की व्यापक परिभाषा की गई है। यह रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा वाणिज्य बैंकों की निवेश, अग्रिम तथा प्रबन्धन नीतियों पर अधिक नियन्त्रण स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया है।

इसके अतिरिक्त नये परिवर्तनों के अनुसार अखिल भारतीय उच्च स्तर पर साख की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं का अध्ययन करने के हेतु सरकार ने २२ दिसम्बर, १९६७ ई० को राष्ट्रीय साख परिषद की स्थापना भी की थी। उपप्रधान मन्त्री परिषद के अध्यक्ष तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के गवर्नर परिषद के उपाध्यक्ष हैं। परिषद के सदस्यों की संख्या २५ से अधिक नहीं हो सकती है। इनमें से ५ सदस्य स्थाई सदस्य है। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के अतिरिक्त तीन अन्य स्थाई सदस्यों में योजना आयोग के उपाध्यक्ष, वित्त मन्त्रालय में आर्थिक मामलों के विभाग के सचिव तथा कृषि पुन: वित्त निगम के अध्यक्ष सम्मिलित हैं। अन्य बीस अस्थाई सदस्य, जिनकी नियुक्ति अवधि तीन वर्ष से अधिक की नहीं होती है, वाणिज्य बैंकों, सहकारी क्षेत्र, बड़े, मध्यम तथा लघु उद्योग, कृषि, वाणिज्य, निर्यात व्यापार तथा अर्थशास्त्रियों सहित विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। परिपद के प्रमुख कार्य निम्नलिखित प्रकार है :

(१) अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में बैंक साख की माँग को कूतना।

(२) बैंकों द्वारा ऋण तथा अग्रिम प्रदान करने सम्बन्धी, वित्तीय साधनों की उपलब्धि तथा विभिन्न क्षेत्रों द्वारा बैंक साख की मांग की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, प्राथमिकताओं को निर्धारित करना।

(३) सीमित साधनों का इष्टतम उत्पादक उपयोग करने हेतु वाणिज्य बैंकों, सहकारी बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं की ऋण तथा निवेश नीतियों के मध्य समन्वय स्थापित करना।

(४) परिषद के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के आदेशानुसार अन्य किसी सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करना तथा परामर्श देना।

१४ बड़ी वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण

भारतीय वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली को प्रभावित करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण घटना १९ जुलाई, १९६९ ई० को देश की १४ बड़ी बैंकों का राष्ट्रीयकरण था। १४ बड़ी बैंकों का राष्ट्रीयकरण १ जुलाई, १९५५ ई० में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। १४ बड़ी वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाने के फलस्वरूप देश की ९४ प्रतिशत से अधिक वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली सार्वजनिक क्षेत्र को प्राप्त हो गई है। प्रत्येक वह बैंक जिसकी कुल जमा राशि ५० करोड़ रुपये अथवा इस राशि से अधिक थी सरकारी अधिकार में आ गई है। जिन १४ बड़ी बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया है वे निम्नलिखित प्रकार हैं :

The Central Bank of India Ltd.,
The Bank of India Ltd.,
The Bank of Baroda Ltd.,
The United Commercial Bank Ltd.,
Canara Bank Ltd.,
United Bank of India Ltd.,
Dena Bank Ltd.,
Syndicate Bank Ltd.,
The Union Bank of India Ltd.,
Allahabad Bank Ltd.,
The Indian Bank Ltd.,
The Bank of Maharashtra Ltd., and
The Indian Overseas Bank Ltd.,

यद्यपि आरंभ में बैंकों के राष्ट्रीयकरण संबन्धी राष्ट्रपति के आदेश की वैधता को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई थी परन्तु अन्त में संसद ने अपने अधिकार का प्रयोग करके संविधान में संशोधन करके बैंक राष्ट्रीयकरण विधेयक पारित कर दिया था। बैंक राष्ट्रीयकरण का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय नीति तथा उद्देश्यों के अनुसार अर्थव्यवस्था के विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। वाणिज्य बैंकों के विरुद्ध यह शिकायत आम थी कि कृषि, लघु उद्योगों तथा निर्यातों के विकास की ओर बैंक साधनों का प्रयोग नहीं किया है तथा बैंकों ने ऋण सुविधा प्रदान करने में इन क्षेत्रों की उपेक्षा की है। फलस्वरूप साख-द्रव्य का संकेन्द्रीकरण बड़े उद्योगों की ओर होकर आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रीकरण करने में बैंकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने, देश की खाद्यान्न आयातों पर निर्भरता को कम करने तथा बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिये कृषि तथा लघु उद्योगों का तीव्र विकास आवश्यक था। इसके लिये कृषकों तथा लघु उद्योगों को साख-द्रव्य सुविधाएँ प्रदान करना आवश्यक था। ऐसा विश्वास था कि यह बैंकिंग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण करके ही संभव था।

बैंक राष्ट्रीयकरण के पश्चात राष्ट्रीयकृत बैंकों की कार्यविधि सामान्यतः बैंक राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यों के अनुसार रही है। गत २ वर्ष की अल्पावधि में १४ राष्ट्रीयकृत बैंकों ने कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात के विकास के लिये भारी ऋण सहायता प्रदान की है जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

(राशि करोड़ रुपयों में)
(खातों की संख्या हजार में)

कार्य	जून १९७० ई०		मार्च १९७१ ई०	
	खातों की संख्या	राशि	खातों की संख्या	राशि
१. कृषि को कुल सहायता	३९२	१५९·७३	५२१	१९४·५७
इसमें से किसानों को प्रत्यक्ष वित्त	३७४	१०४·८७	५०५	१३४·७२
२. लघु उद्योग क्षेत्र	४५	२२६·९६	६०	२७८·१३
(i) सड़क व जल परिवहन परिचालक	९	१९·८६	१६	३१·४८
(ii) लघु उद्योग	३६	२०२·३२	४४	२४३·५५
(iii) औद्योगिक एस्टेट स्थापना	—	०·७७	—	३·१०
३. निर्यात	—	१५८·०४	—	१७३·५८

कृषि, लघु उद्योगों तथा निर्यातों के विकास के लिये वित्तिय सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त राष्ट्रीयकृत बैंकों ने अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के विकास के लिये भी ऋण प्रदान किये हैं। छोटे व्यापारियों; खुर्दा व्यापारियों, डाक्टरों, विद्यार्थियों इत्यादि को भी इन बैंकों द्वारा ऋण सहायता प्रदान की गई है। निम्नलिखित तालिका में १४ राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा १९७० ई० तथा १९७१ ई० में प्रदान की गई ऋण सहायता को व्यक्त किया गया है।

राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा अन्य क्षेत्रों को दिये गये अग्रिमों का विवरण

(राशि लाख रुपयों में)
(खातों की सख्या हजार में)

क्षेत्र-कार्य	जून १९७० ई०		मार्च १९७१ ई०	
	खातों की संख्या	अग्रिम राशि	खातों की संख्या	अग्रिम राशि
खुर्दा व्यापार तथा छोटा व्यापार	८८	४,२८२	१०७	५,२७९
व्यावसायिक तथा स्वयं रोजगार प्राप्त व्यक्ति	२८	६१७	३८	८१८
शिक्षा	५	२०५	७	३७२

राष्ट्रीयकृत बैंकों ने 'नेता बैंक योजना' के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में आवंठित जिलों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में विशेष योगदान देकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था के तीव्र सन्तुलित विकास में अपना महत्त्व सिद्ध किया है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् राष्ट्रीयकृत बैंकों ने जो नये कार्यालय खोले हैं उनमें से अधिकांश कार्यालय उन स्थानों पर स्थापित किए गये हैं जहाँ पहले किसी प्रकार की बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं। निम्नलिखित तालिका १४ राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा खोले गये कार्यालयों की संख्या को व्यक्त करती है।

अवधि	नये कार्यालयों की संख्या	उन स्थानों पर खोले गये कार्यालयों की संख्या जहाँ पहले कोई बैंक नहीं थी
जुलाई-दिसम्बर १९६९ ई०	५०८	३१३
जनवरी-जून १९७० ई०	६७७	५१७
जुलाई-दिसम्बर १९७० ई०	६०८	४१३
जनवरी-जून १९७१ ई०	४४४	२४५

बैंकिंग के क्षेत्र में हुये ये परिवर्तन महत्त्वपूर्ण सुधारों के द्योतक हैं तथा यह आशा की जा सकती है कि आगामी पाँच वर्ष की अवधि में वाणिज्य बैंकों के कार्य में देश में आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल परिवर्तन होंगे।

अध्ययन सूची

1. Four Economists' Report : Banking Institutions and Indian Economy (1967).
2 'Hindustan Times' of October 14, 26 and 28, 1967.
3. State Bank of India : Monthly Review, July 1968.
4. Indian Banks' Association : Statement at the Press Conference on July 10, 1967.
5. Reserve Bank of India : Trend and Progress of Banking in India and Annual Reports.

प्रश्न

1. Discuss the contribution which commercial banks have made to the growth of the Indian economy. Do you favour their nationalisation ? Give reasons in support of what you say.
2. Discuss the salient features of development of commercial banking after nationalisation.